

कबीर ग्रन्थावली

[डा० श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित कबीर ग्रन्थावली के अनुसार।]

भूमिका-लेखक

डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित

एम० ए०, एम० एड०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०
रीडर, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

टीकाकार

डा० सावित्री शुक्ल

एम० ए०, एम० एड०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०
हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय
(केवल साखी विभाग)

डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी

बी० ए०, बी० एस-सी०, एम० ए०, साहित्यरत्न,
पी-एच० डी०, डी० लिट्०

हिन्दी विभाग राजा बलवन्तसिंह कॉलेज, आगरा
(पद एवम् रमैणी)

मूल्य : पन्द्रह रुपये



प्रकाशन केन्द्र

न्यू विल्डिंग्स, अमीनाबाद, लखनऊ

प्रकाशक
प्रकाशन केन्द्र
न्यू बिल्डिंग्स, अमीनाबाद, लखनऊ

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रियवदा प्रेस, आगरा-२

पाठकों के प्रति

कवीर की कथा अकथ है। उनका साहित्य अथाह है। प्रस्तुत पुस्तक इसी अथाह की थाह लेने का एक विनम्र प्रयास है।

कवीरदास की रचनाओं को लेकर कई ग्रन्थों का संपादन किया गया है। डा० श्यामसुन्दरदास द्वारा संपादित 'कवीर ग्रन्थावली' में हमको कवीरदास के काव्य का सर्वाधिक प्रामाणिक स्वरूप प्राप्त होता है। प्रस्तुत पुस्तक को लिखते समय उक्त 'कवीर ग्रन्थावली' को ही आधार माना गया है।

कवीरदास और कवीर साहित्य को लेकर बहुत कुछ लिखा जा चुका है और आगे भी लिखा जाएगा। उनकी ग्रन्थावली पर टीकाएँ, 'सजीवन भाष्य' आदि कई ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। सबमें कवीर के काव्य को समझने-समझाने का प्रयत्न किया गया है। इनमें प्रत्येक का अपना निजी महत्व है।

कवीर के काव्य पर लिखी गई अधिकांश टीकाओं में प्रायः छन्दों के भावार्थ ही दिए गए हैं। अप्रचलित शब्दों तथा दुरूह पदावली को या तो छोड़ दिया गया है अथवा भावार्थ लिखकर विषय को चलता कर दिया गया है। इससे न तो पूरे छन्द की सगति ही बैठती है और न उसका अर्थ ही स्पष्ट होता है। ऐसी स्थिति में जिज्ञासु पाठक की सतुष्टि नहीं हो पाती है और कवीर का काव्य कठिन, दुरूह, नीरस एवं अटपटा कह दिया जाता है।

मेरी धारणा है कि कवीर को जीवन और जगत का व्यापक अनुभव था। उनकी आध्यात्मिक अनुभूति अत्यन्त गहरी थी। अनुभूतिजन्य पारलौकिक ज्ञान को देश-काल द्वारा आवद्ध लौकिक भाषा में व्यक्त करना यदि अनम्भव नहीं, तो दुष्कर अवश्य है। इसी कारण विश्व-चेतना प्रसूत ज्ञान को जय वैयक्तिक चेतनापरक मन ग्रहण करता है, तो उनमें रहस्यात्मकता का समावेश स्वभावतः हो जाता है। फलतः अभिव्यक्ति भी रहस्यात्मक हो जाती है, और बौद्धिकता की कसौटी पर कम्बने पर वह प्रायः अपूर्ण ही प्रतीत होती है। कवीर का काव्य बहुत कुछ इसी प्रकार का है। उनके काव्य को समझने के लिए हृदय की आन्ते आवश्यक है। उनका काव्य बुद्धि-विज्ञान की नग्न न होकर ध्यान और अनुभव का विषय है। कवीर का कहना चाहने है— इस

प्रश्न का उत्तर खोजने पर ही उनकी वाणी का अर्थ खुलता है, अन्यथा वह अकथ कथा ही बना रहता है। अर्थ खुल जाने पर अध्येता चमत्कृत हो उठता है और काव्य के उपकरणों की भंकार अनहद नाद के समान उसके कानों में गूँजने लगती है। मैंने कबीर के काव्य को इसी रूप में देखने दिखाने का प्रयास किया है। यह बात दूसरी है कि मैं अपने पात्र को लघुता के अनुरूप ही उनके साहित्य-सागर का रस प्राप्त कर सका हूँ।

मैंने प्रत्येक शब्द का अर्थ दिया है, प्रत्येक छन्द का सदर्थ दिया है और तब भावार्थ लिखा है, जिससे पाठक के सम्मुख अथ सम्बन्धी किसी प्रकार की उलझन न रह जाये। कबीर ज्ञानी भक्त और भक्त योगी थे। इसी मान्यता के आधार पर मैंने उनके द्वारा प्रणीत प्रत्येक छन्द के अर्थ की आद्यन्त सगति स्थापित करने की चेष्टा की है। आशा है सहृदय पाठको को अर्थ समझने में विशेष कठिनाई नहीं होगी।

भावार्थ के पश्चात् अलंकारों का निर्देश कर दिया गया है और उसके नीचे कबीर के मन्तव्य एवं उनकी चिन्तन-पद्धति को स्पष्ट करते हुए 'विशेष' के अन्तर्गत आवश्यक टिप्पणियाँ दे दी गई हैं।

मुझे विश्वास है कि इस टीका को पढ़ने के बाद कबीर का काव्य दुरूह और अटपटा नहीं लगना चाहिए। वह वाणी के लिए अकथ रहा है और आगे भी रहेगा। मेरी क्या सामर्थ्य है, जो उसको कथनीय बना सकूँ ?

प्रकाशन केन्द्र लखनऊ के स्वामी श्री पद्मधर मानवीय के प्रति मैं विशेष आभारी हूँ जिनकी कृपा के फलस्वरूप इस पुस्तक का प्रकाशन सम्भव हो सका है।

इस समय मैं केवल कबीर के पदों और उनकी रमैणियों पर ही लिख सका हूँ। उनकी "साखियों" को लेकर फिर कभी विज्ञ पाठको के सम्मुख उपस्थित होऊँगा।

कबीर की अकथ कथा को अपनी सामर्थ्य के अनुसार वर्णन करके मैंने आत्म-सतोष का अनुभव किया है। आशा है हमारे सुवी पाठक भी इसको पढ़ कर सतुष्ट होंगे।

आगरा
कार्तिक पूर्णिमा
संवत् २०२८

विनीत—
राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी

शुद्धेय ब्बानु जी

के

अदृश्य चरणों

पर

सादर, सविनय, सप्रेम

समर्पित

प्राक्कथन

कवीर साहित्य अपनी विभिन्न विशेषताओं के कारण हिन्दी-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सहजता, सरलता, स्वाभाविकता की दृष्टि में यह अद्वितीय है। कवीर अपने युग के सर्वाधिक चेतनशील प्राणी थे। उनको वाणी में युग की प्रवृत्तियों की प्रतिध्वनि और समस्याएं मुखरित हैं। उनका साहित्य, उनके समाज सुधारक, धर्म सुधारक, क्रान्तिकारी और अद्भुत समन्वयकारी रूप को प्रस्तुत करता है। कवियों के आलोचक और निन्दक कवीर स्वतः महाकवि, अद्भुत काव्य शक्ति से सुसम्पन्न, सम्वेदनशील महाकवि थे। कवीर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे जितने बड़े महाकवि थे, उतने बड़े महामानव भी। अन्तस और मानसिक परिस्थितियों को प्रभावित करने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। वे समाज के उन्नायक सत्य के गायक और उच्चकोटि के आत्मदर्शी थे। उनकी अभिव्यजना शक्ति बड़ी शक्तिशाली और प्रबल थी। वे सन्तमत के प्रवर्तक थे और दलित वर्ग के सबसे बड़े हिमायती थे। उनके साहित्य की उपयोगिता इसी बात से अनुमानित हो सकती है कि आज का युग पुरुष, जननायक, महामना, उदारचेता मनस्वी गांधी भी उनसे प्रभावित था।

कवीर-साहित्य, कवीर-दर्शन और कवीर की साखियाँ की विवेचना और टीका अनेक विद्वानों ने की हैं। इस दिशा में यह एक और अभिनव प्रयास है। महाकवि तुलसीदास ने सत्य ही कहा है कि—

“सब जानत प्रभु प्रभुता सोई ।
तदपि कहे विनु रहा न कोई ॥”

इस टीका या भाष्य में लेखिका ने कवीर-साहित्य के सम्बन्ध में अपनी अनुभूति और प्रतिक्रिया को व्यक्त करने की चेष्टा की है और इस बात का प्रयत्न किया है कि पाठकों को कवीर की आत्मा के दर्शन सही रूप में कराये जा सकें।

लेखिका ने अनुभव प्राप्त जिन विद्वान लेखकों, आलोचकों की रचनाओं का उपयोग किया है, उनके प्रति हृदय से कृतज्ञता प्रकट करती है।

विषय-सूची

भूमिका				पृष्ठ
विषय				
	कबीर का युग	१-६४
(१)	गुरुदेव कौ अंग	६५
(२)	सुमिरन कौ अंग	८३
(३)	बिरह कौ अंग	१०६
(४)	ग्यान विरह कौ अंग	११८
(५)	परचा कौ अंग	१२१
(६)	रस कौ अंग	१३३
(७)	लावि कौ अंग	१३६
(८)	जर्ण कौ अंग	१३७
(९)	हैरान कौ अंग	१३९
(१०)	लै कौ अंग	१४०
(११)	निहकर्मि पतिव्रता कौ अंग	१४१
(१२)	चित्तावणी कौ अंग	१४६
(१३)	मन कौ अंग	१६६
(१४)	सूपिम मारग कौ अंग	१७५
(१५)	सूपिम जनम कौ अंग	१७८
(१६)	माया कौ अंग	१७९
(१७)	चाणक कौ अंग	१८८
(१८)	करणी विना कथणी कौ अंग	१९५
(१९)	कथणी विना करणी कौ अंग	१९६
(२०)	कामी नर कौ अंग	१९८
(२१)	सहज कौ अंग	२०५
(२२)	नाच कौ अंग	२०७
(२३)	भ्रम विधौसण कौ अंग	२१२
(२४)	भेव कौ अंग	२१५
(२५)	कुसंगति कौ अंग	२२३
(२६)	संगति कौ अंग	२२५
(२७)	असाध कौ अंग	२२८
(२८)	साध कौ अंग	२२९

			पृष्ठ
(२९)	साध साषीभूत कौ अंग	...	२३२
(३०)	साध महिमां कौ अंग	...	२३८
(३१)	मधि कौ अंक	...	२४१
(३२)	सारग्राही कौ अंग	...	२४४
(३३)	विचार कौ अंग	...	२४५
(३४)	उपदेश कौ अंग	...	२४८
(३५)	वेसास कौ अंग	...	२५१
(३६)	पीव पिछ्छाणन कौ अंग	...	२५६
(३७)	बिकंताई कौ अंग	...	२५७
(३८)	सम्प्रथाई कौ अंग	...	२६०
(३९)	कुसवद कौ अंग	...	२६३
(४०)	सुवद कौ अंग	...	२६४
(४१)	जीवन मृतक कौ अंग	...	२६७
(४२)	चित कपटी भेष कौ अंग	...	२७२
(४३)	गुरसिष हेरा कौ अङ्ग	...	२७३
(४४)	हेत प्रीति सनेह कौ अङ्ग	...	२७७
(४५)	सूरा तन कौ अङ्ग	...	२७९
(४६)	काल कौ अंग	...	२९२
(४७)	जीवनी कौ अंग	...	३०२
(४८)	अपारिष कौ अंग	...	३०४
(४९)	पारिष कौ अंग	...	३०६
(५०)	उपजणि कौ अंग	...	३०७
(५१)	दया निरबैरता कौ अंग	...	३१०
(५२)	सुन्दरि कौ अंग	...	३११
(५३)	कस्तूरिया मृग कौ अंग	...	३१३
(५४)	निद्या कौ अंग	...	३१५
(५५)	निगुणां कौ अंग	...	३१८
(५६)	वीनती कौ अंग	...	३२१
(५७)	साषीभूत कौ अंग	...	३२४
(५८)	वेली कौ अंग	...	३२५
(५९)	अविहड़ कौ अंग	...	३२७

भूमिका

वीरगाथा काल के अवसान काल में हिन्दी काव्य-धारा की दिशा में अभिनव परिवर्तन के लक्षण परिसूचित होने लगे। मुसलमानों की तलवार के पानी में हिन्दू जनता निमग्न होती जा रही थी। मुसलमानों की प्रबल पराक्रम, आतंक, और ध्वंसात्मक प्रतिभा के समक्ष हिन्दू जनता का ठहर पाना दुस्तर हो रहा था। महमूद गज़नवी के सत्रह हमलों ने ध्वंस सोमनाथ की छिन्न-भिन्न मूर्ति के समक्ष हिन्दुओं का विश्वास, आस्थाएँ और धार्मिक भावनाएँ शतशः खण्डों में विच्छिन्न होकर धूल धूसरित हो रही थी। मुसलमानों की बढ़ती हुई शक्ति, फहराती हुई इस्लाम की ध्वजा और विनाशकारी गति के समक्ष हिन्दुओं के अस्तित्व पर प्रश्न-वाचक चिन्ह अंकित हो गया। उत्तर-पश्चिम से आक्रमणकारियों की बढ़ती हुई फौजों ने हिन्दू-राष्ट्र, हिन्दू जाति, और हिन्दू धर्म के अस्तित्व को धूल-धूसरित कर डाला। हिन्दुओं के पास न जन-बल था, न आत्मबल न सघबल वे किस साहस पर और किस आधार पर मुसलमानों की केन्द्रीभूत सत्ता का सामना करते। मुसलमानों के शौर्य और संगठन के समक्ष हिन्दुओं का जन-बल और आत्म-बल क्षीण पड़ता जा रहा था, उनकी स्थिति व परिस्थिति न केवल शोचनीय थी वरन् अनिश्चित भी थी। अलाउद्दीन खिलजी के उद्भव, विकास और उत्कर्ष होते-होते उत्तरो-भारत मुसलमानों के अधिपत्य में आ चुका था। और दक्षिण-भारत की स्थिति भी सुरक्षित नहीं थी। देवगिरि के शासक रामचन्द्र को पददलित करके उसके राज्य को अपनी सीमा में मिला लिया। वारंगल, होयसिल, महाराष्ट्र, कर्नाटक की राज्य सीमाओं को अलाउद्दीन ने अपनी सीमा में सम्मिलित कर लिया। दक्षिण में कृष्ण और तुंगभद्र के मध्यस्थ सीमा पर अधिकार सम्प्राप्त करने के लिए विजय नगर और बहमनी राज्यों में सघर्ष चलता रहता था। सिन्धु-प्रदेश यद्यपि राजपूतों के अधिकार में था, फिर भी मुसलमानों की आतंक पूर्ण छाया से उन्मुक्त नहीं थी। समस्त देश पर मुसलमानों का प्रभाव क्रमशः बढ़ता जा रहा था। हिन्दुओं के हृदय में भय की भावना बढ़ती जा रही थी और वे मुसलमानों से लोहा लेने की अवस्था में दूर होते जा रहे थे। चारणों के स्वर क्रमशः क्षीण होते जा रहे थे और उनके स्थान पर भारतीय जनता निबंल के बल राम को धरण में घली जा रही थी। क्रमशः वीरगाथा काल की उत्तेजना पूर्ण ओज से समथित घुनौती के स्वर क्षीण होते गए और उनका स्थान खंजरी और भाला ने लिया। हिन्दुओं की अपस्था,

विवशता से पूर्ण और असहाय अवस्था से अभिशप्त थी वे वर्तमान और समक्ष विद्यमान अभिशापों से मुक्ति पाने के लिए 'अशरण-शरण' निर्गुण, निर्विकार, निर्विकल्प ब्रह्म की शरण में पहुँचने की चेष्टा कर रहे थे। क्रमशः हिन्दुओं का जीवन परिवर्तित होता जा रहा था। उनके मन्दिर मूर्तियों के ध्वंस हो जाने के कारण शून्य और छिन्न-भिन्न अवस्था में पड़े थे। वे किस भावना को लेकर मन्दिरों में प्रवेश करते ? हिन्दुओं की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर बहुमुखी प्रतिबन्ध लगा दिए गए थे। उनकी रसमयी जीवनधारा नीरस और शुष्क होने लगी थी। उनका राजनीतिक दृष्टिकोण निराशा के तिमिर से आच्छादित होता जा रहा था। जब बीर ही न रहे तो चारण किसकी गाथा गाते और किसको सुनाते ? राजनीतिक वातावरण क्रमशः शान्त होता चला जा रहा था। ऐसे वातावरण में हिन्दू जनता निर्गुण ब्रह्म की शरण में जाने का प्रयास करने लगी। निर्गुण ब्रह्म की कल्पना बड़ी उदात्त, उदार, विशाल थी। मुसलमानों का शासन, मूर्ति-उपासना के विल्कुल विरुद्ध था। इसलिए देश की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों को देखते हुए निर्गुण ब्रह्म की उपासना ही इस जटिल समस्या का हल था। कबीरदास संतमत के प्रवर्तक थे। उन्होंने हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्तों को इस्लाम धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों के साथ समान स्तर पर रखकर एक नए मत, एक नए पंथ की कल्पना की जिसमें ईश्वर एक अद्वैत, सगुण-निर्गुण से परे, निराकार, निर्विकार, निर्विकल्प और अनादि था। इस प्रकार के ब्रह्म की कल्पना न हिन्दुओं के लिए नई थी और न मुसलमानों के लिए। उपनिषदों में ऐसे ही ब्रह्म की उपासना का उपदेश दिया गया है। इस्लाम भी इस प्रकार के ब्रह्म की कल्पना से सर्वथा परिचित था दोनों ही धर्मों के मिश्रण से एक अभिनव पंथ का स्वरूप प्राप्त हुआ, जो संतमत के नाम से भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में, और हिन्दी-साहित्य के इतिहास में परिचित और विख्यात हुआ। सच बात यह है कि संतमत के विकसित होने, फूलने-फलने और प्रचारित होने का बहुत कुछ श्रेय इस्लाम धर्म को है। इस मत में साधना का सच्चा, सरल, शुद्ध और कल्याणकारी स्वरूप, भारतीय जनता को दृष्टिगत हुआ। इस मत के कल्याणकारी सीमा में बाह्याचार, काया-प्रक्षालन, मूर्ति-पूजा, व्रत, तीर्थ याग-नमाज सब कुछ हराम है, निषिद्ध है, और प्रसन्नता की बात यह है, कि यह मत हिन्दू-मुसलमान दोनों को ही सुमाध्य और सरल प्रतीत हुआ। कर्मकाण्ड की वे दुरुहताएँ, जटिलताएँ और विषमताएँ जो हिन्दू और इस्लाम धर्म में विद्यमान थी यहाँ पर मान्यता न प्राप्त कर सकी। संतमत में दोनों धर्मों के सार तत्वों को सिद्धान्त के रूप में ग्रहण कर लिया गया।

संतमत में ब्रह्म की कल्पना बड़ी स्पष्ट है। वह एक, अद्वैत, निर्गुण, निर्विकार, निर्विकल्प, अनादि, अनन्त, अजन्म, अजात, अमर, अनाम और अभेद

है। वह मगुण और निर्गुण से परे है। वह अनिर्वचनीय है, वह अलख और निरजन है। संसार के कण-कण में वह परिव्याप्त है। ब्रह्म की अनुभूति सद्गुरु की कृपा से ही होती है। संतमत में माया त्रिगुणात्मक है वह साधना में बाधक है। माया दो प्रकार की मानी गई है, एक विद्या और दूसरी अविद्या। अविद्या माया से ग्रमित प्राणी सासारिक भोग विलासों में अनुरक्त रहता है। और विद्या सृष्टि की सृजनात्मक शक्ति है, ईश्वर प्राप्ति में सहायक है। अविद्या माया 'खाड' के समान मधुर है।

जगत—सन्त काव्य में जगत का जो स्वरूप विकसित हुआ है वह अणु-भंगुरता से परिपूर्ण है। यह जीवन नश्वर है और संसार अस्थिर है। संसार के कण-कण में ब्रह्म व्याप्त है और संसार उस ब्रह्म में पूर्णतया परिव्याप्त है। कवीर ने स्वतः कहा है--

खालिक खलक खलक मैं खालिक।

सब घट रह्यो समाई।

लोक जानि ना भूलो भाई ॥

सन्त साहित्य में इसी जगत की प्रस्थापना हुई है।

सन्त मत के प्रवर्तक कवीर थे कवीर का व्यक्तित्व युग प्रवर्तक और महान था कवीर जिस युग में अवतरित हुए थे वह विडम्बनाओं, विपमताओं और विविध प्रकार के पारस्परिक विरोधों का युग था।

कबीर का युग

कबीर का आविर्भाव-काल एक संदिग्ध विषय है। इस सम्बन्ध में स्पष्ट अन्तर्साक्ष्य प्रमाण नहीं उपलब्ध है। कबीर के पदों में केवल दो स्थानों पर तत्कालीन आविर्भावकाल—शासक सिकन्दर लोदी के अत्याचार का उल्लेख मिलता है।

प्रथम संकेत राग गौँड के चतुर्थ पद में हुआ है और द्वितीय राग भैरव^१ के अट्ठारहवें पद में। इन पदों में काजी द्वारा कबीर पर हाथी चलवाने तथा जंजीर में बाँध कर गंगा में डुबाने के प्रयत्न का वर्णन है। परन्तु इन दोनों पदों में सिकन्दर लोदी के नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है। परची आदि ग्रंथों में सिकन्दर लोदी ने जो-जो अत्याचार किए थे, उनमें उपर्युक्त दोनों घटनाएँ सम्मिलित हैं। अतः

१—मुजा बाँधि मिलाकर डारिओ । हसती क्रोपि मूँड महि मारिओ ॥
हसती भागि कै चीसा मारै । इआ मूरति कै हउ बलिहारै ॥
आहि मेरे ठाकुर तुमरो जोरु । काजी बक्रिवो हसती तोरु ॥१॥
रे महावत तुमु डारउ काटि । इसहि तुरावहु घालहु साटि ॥
हसती न तोरै घरै धिआनु । बाकै रिदै वसै भगवानु ॥२॥
किया अपराधु संत है कीन्हा । बाँधि पोटि कुंचर कउ दीन्हा ॥
कु चरु पोट लै लै नमसकारै । वूझी नहीं काजी अधियारै ॥३॥
तीनि वार पातोआ भरि लीना । मन कठोरु अजहू न पतीना ॥
कहि कबीर हमरा गोविन्दु । चउथे पद महि जनका जिन्दु ॥४॥
(राग गौँड ४)

तथा—

गग गुसाइनि गहरि गम्भीर । जंजीर बाँधि करि खरे कबीर ॥
मनु न डिगै तनु काहे कउ डराइ । चरन कमलचित रहियो समाइ ॥१॥
गंगा की लहरि मेरी टुटी जंजीर । मृगछाला पर बैठे कबीर ॥
कहि कबीर कोउ सग न साथ । जल थल राखन है रघुनाथ ॥
(राग भैरव १८)

—सन्त कबीर

— डा० रामकुमार वर्मा

यहाँ पर इन दोनों घटनाओं को सिकन्दर लोदी के अत्याचारों के अन्तर्गत मानने में अनुमान किया जा सकता है। 'आहि मेरे ठाकुर तुमरा जोरू' और 'गंगा की लहरि मेरी टुटी जंजीर' जैसी पंक्तियों से ज्ञात होता है कि कबीर ने अपने अनुभवों का वर्णन स्वयं ही किया है।^१ यदि उपर्युक्त दोनों पदों (राग गौँड ४ तथा भैरव, १८) को प्रामाणिक मान लिया जाय तो कबीर को सिकन्दर लोदी का समकालीन माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त कोई भी अन्तर्साक्ष्य नहीं उपलब्ध होता है।

कबीर को सिकन्दर लोदी का समकालीन सिद्ध करने वाले कुछ बहिर्साक्ष्य प्रमाण भी हैं। रेवरेन्ड के, वील, फर्कहर, मेकालिफ, बेसकट, स्मिथ, भण्डारकर, ईश्वरी प्रसाद^२, तथा रामकुमार वर्मा^३ आदि विद्वान भी इस मत से सहमत हैं कि कबीर और सिकन्दर लोदी समकालीन हैं। इनके अतिरिक्त प्रियादास जी^४ ने भी कबीर और सिकन्दर को समकालीन माना है। अतः कबीरदास का युग पन्द्रहवीं शताब्दी मानना असंगत न होगा। इस समय लोदी वंश के शासक सिकन्दर का राज्य था। लोदी वंश से पूर्व भारतवर्ष पर गुलाम, बलवन, खिलजी, तुगलक, तथा सैयद वंश राज्य कर चुके थे। कबीरदास से पूर्व प्रायः तीन सौ वर्षों तक मुसलमान इस देश पर राज्य कर चुके थे। राजनीतिक क्षेत्रों में मुसलमानों का ही प्रभुत्व रहा। इन तीन सौ वर्षों के मुसलमानी शासन काल में भारतवर्ष की धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दशा का ह्रास हो गया था। मुसलमानों की विकास शक्ति और धर्म ने देश का दृष्टिकोण ही बदल दिया। मध्य देश में भी मुसलमानी तलवारों का पानी अनेक हिन्दू राज्यों के सिंहासन डूबो चुका था। हिन्दू राजाओं के पास न बल था, न साहस और न ऐक्य।

सिकन्दर की शक्ति, अधिकार और महत्वाकांक्षा निःसीम थी। उसके लिए कोई नियम नहीं था। देश का राज्य उसकी इच्छा और मन पर विभर था। देश की जनता और विशेष रूप से हिन्दू उसकी कृपा-कोर के आकांक्षी बने रहे। जनता के अधिकारों का कोई अस्तित्व नहीं था। उसके जीवन की सब से बड़ी सार्थकता थी शासक की आज्ञा पालन करना। सिकन्दर की राजनीति पर भी धार्मिक आदर्शों का प्रभाव था। जहाँ भी हिन्दुओं का कोई विद्रोह होता था वहाँ हिन्दुओं को जो दण्ड

१-हिन्दो साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ० रामकुमार वर्मा, पृ० ३३४।

२-हिन्दो साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ३३५।

३-सन्त कबीर पृ० ३८।

४-भक्तमाल की टीका, प्रियादास।

मिलता था वह तो था ही साथ ही उस क्षेत्र के सभी मन्दिर नष्ट करा दिए जाते थे। बात यहीं नहीं समाप्त हो जाती थी वरन् मन्दिरों के स्थान पर मसजिदों का निर्माण करा दिया जाता था।

सक्षेप में कबीर के युग की राजनीतिक परिस्थिति, अस्थिरता, विश्वासघात, धार्मिक संकीर्णता तथा अमानुषिक अत्याचारों की कथा है। राजनीतिक विद्रोह, अशांति और प्रतिहिंसा की छाप सर्वत्र अंकित है। कबीर एक सहृदय व्यक्ति थे। इनके राजनीतिक प्रपंचों ने कबीर को संसार विषयक क्षणभंगुरता की भावना को और भी दृढ़ कर दिया। उन्होंने तत्कालीन शूरवीरों को सम्बोधित करके कहा कि तीर तोप से लड़ना शौर्य नहीं, शूर धर्म का निर्वाह वह व्यक्ति करता है जो माया के बन्धनों से मुक्त होकर आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर हो। तत्कालीन जनता की भौतिकता भी कबीर को पसन्द नहीं आई। वे तत्त्वदर्शी थे। जानते थे कि जो कुछ भी भौतिक है वह क्षणिक है और इसीलिए उन्होंने भौतिकता और माया से दूर रहने के लिए बार-बार सचेत किया। कबीर ने अपने युग में जनता की स्वार्थपरता और धनलिप्सा की भी बड़ी निन्दा की है। उन्होंने उदार वृत्ति और सन्तोष धारण करने की आवश्यकता पर भी जोर दिया।

कबीर से पूर्व भारतवर्ष की राजनीतिक दशा पर ऊपर विचार हो चुका है। विगत पृष्ठों को देखने से प्रकट हो जाता है कि १२०० से १३०० ई० तक देश की दशा कितनी विषम बनी रही। हिन्दू समाज, हिन्दू धार्मिक परिस्थिति सस्कृति पर निरन्तर आक्रमण हो रहे थे। हिन्दू धर्म को नष्ट कर देने के लिए साम, दाम, दंड और भेद आदि सभी उपायों से प्रयत्न किया गया। हिन्दुओं की इस गम्भीर, विषम शोचनीय और निर्व्य ही परिवर्तनशील दशा में हिन्दुओं का धर्म संकट में पड़ चुका था। उनके राम जनता के हृदय और मस्तिष्क से विलग हो चले थे। परिस्थिति इस बात की द्योतक थी कि मूर्ति-उपासक कितने निर्वल, अशक्त और सकट में थे और दूसरी ओर मूर्ति-भजक कितने बलवान और कितने ऐश्वर्यवान् हैं। मूर्तिभंजकों को सुख और ऐश्वर्य के पालने में मग्न देख कर हिन्दुओं का मूर्ति-पूजा से विश्वास उठ रहा था। वे उसकी निःसारता स्पष्ट रूपेण नमस्कृत चुके थे। फलतः महान् संघर्ष और क्रान्ति के इस युग में एक ऐसे धार्मिक आन्दोलन की आवश्यकता थी जो देश के निवासियों को अन्धकार में प्रकाश दिखा सके। निराशा में आशा का संचार कर सके। इस आवश्यकता की पूर्ति वैष्णव आन्दोलन ने की। इस आन्दोलन में परब्रह्म के लोक रक्षक लोक-पालक स्वरूप श्री विष्णु के रूप में प्रतिष्ठा करके, उनकी सरल भक्ति का मार्ग निराश हृदयों को प्रदर्शित किया गया।

प्रस्तुत वैष्णव आन्दोलन की प्रेरणा और प्रयत्न से निराश हिन्दुओं में एक बार पुनः धार्मिक जाग्रति उत्पन्न हुई। समय-समय पर इस आन्दोलन के भी उपास्य देवों के स्वरूप में परिवर्तन होता रहा। फिर भी इसके मूल में एक भावना बराबर रही और वह भावना थी परब्रह्म के सर्वव्यापी एवं अन्तर्यामी स्वरूप की।

रामानन्द ने लोक-रक्षक 'राम' की प्रतिष्ठा की। रामानन्द की इस 'राम' भक्ति के महान् स्रोत से दो धाराएँ फूट निकलीं। प्रथम धारा थी 'राम' के सगुण रूप की, इस धारा में नाभादास, तुलसीदास आदि प्रतिभावान् व्यक्ति हुए और द्वितीय धारा में 'राम' के निगुण रूप की उपासना हुई जिसके प्रचारक नामदेव, कबीर आदि सत हुए। इन सन्तों ने अपने सम्प्रदाय में योग की क्रियाओं को भी स्थान दिया पर सामान्य जनता ने इनके सरल उपदेशों को ग्रहण किया। इन सन्तों ने उपासना के लिए निर्माण 'ब्रह्म' का आश्रय ग्रहण किया और इस भावना ने जातीय, सांस्कृतिक तथा धार्मिक मतभेद के लिए अवशेष अवसर भी समाप्त कर दिये।

हिन्दू धर्म में बाह्य प्रभावों के अतिरिक्त दोष भी व्याप्त हो गये थे। धर्म के पवित्र रूप को बाह्याडम्बरो ने आच्छादित कर लिया। सद्-विश्वासों का स्थान अन्धविश्वासों ने ग्रहण कर लिया। अहिंसा, त्याग और सत्य का स्थान बलिदानों के रूप में हिंसा तथा ढोंग ने ले लिया। संक्षेप में कबीर के युग तक हिन्दू धर्म अनेक दोषों से पूर्ण था। साधना के स्थान पर बाह्याचार की प्रतिष्ठा हो रही थी। कबीर तथा अन्य कवियों ने इन दोषों की कड़ी आलोचना की है। उन्होंने अपने व्यङ्ग्य वाणियों के द्वारा तत्कालीन जनता की मनोवृत्ति और धर्म के अंधकारपूर्ण पक्ष का चित्रण किया है।

समाज में बाह्याडम्बर बढ़ रहे थे। जनता की अंध-विश्वासों पर अत्यधिक श्रद्धा थी। भूत-प्रेतों पर विश्वास की भावना का प्रसार जनता में हो रहा था।

संक्षेप में कबीर के समय में भारतीय समाज अनेक प्रकार सामाजिक परिस्थिति के दोषों से युक्त था। कबीर ने जिस प्रकार धार्मिक

विश्रृंखलाओं को दूर करने का प्रयत्न किया उसी प्रकार सामाजिक रुढ़ियों और दोषों को निकाल फेंकने के लिए प्रयत्न किया। समाज में व्याप्त हिन्दू, मुसलमानों की भेद भावना के विरोध में कबीर ने बार-बार समता और एकता का उपदेश दिया। कबीर ने तत्कालीन जनता को समझाया कि हिन्दू मुसलमान एक ही कर्ता की दो कृतियाँ हैं, उनमें भेद नहीं है। इसी प्रकार 'राम' 'रहीम' एक ही ईश्वर के दो नाम हैं। केवल नामों का भेद

अनादि शक्ति को द्वैत नहीं सिद्ध कर सकता है। इस प्रयत्न से कबीर ने दोनों धर्मावलम्बियों के हृदयस्थ भेद भाव की संकीर्णता दूर करने का प्रयत्न किया। तत्कालीन जनता में व्याप्त असंतोष तथा प्रतिहिंसा की प्रवृत्ति के विरुद्ध भी कबीर ने सन्तोष और क्षमा का उपदेश दिया। उन्होंने क्षमावान् को परब्रह्म की रूप बताया। तत्कालीन यवनो की हिंसा-प्रधान प्रवृत्ति का विरोध करते हुए कबीर ने जनता को अहिंसा और दया का उपदेश दिया। जब सभी एक ही 'साई' की सन्तान हैं तो किस पर दया की जाय और किस पर निर्दयता। विजेता वर्ग के अत्याचारों से उत्पीड़ित हिन्दू जनता को भी कबीर ने धैर्य रखने का उपदेश दिया। उन्होंने शब्दों में कहा 'धीरे-धीरे मना धीरे सब कुछ होय।' इसी प्रकार कबीर ने अपने समकालीन समाज को उदारता की भी उपयोगिता बताई। कबीर ने जनता के लोभ, क्रोध, मोह, कपट तृष्णा आदि विषयों पर विचार प्रकट किये हैं। वास्तव में कबीर समाज को परिष्कृति और दोषरहित रूप में देखना चाहते थे।

कबीर से पूर्व और कबीर के युग में नारी का जो चित्र हमें साहित्य, धर्म तथा इतिहास में मिलता है वह अत्यन्त विवशता का चित्र है। तत्कालीन जनता की भोग-लिप्सा देख कर कबीरदास ने वारम्बार भोग-विलास नारी से दूर रहने का उपदेश दिया। उन्होंने कहा कि पंडित और मूर्ख दोनों 'काम' में लिप्त हैं। 'काम में लिप्त मनुष्य कभी भी 'हरि नाम' की साधना नहीं कर सकता है जिस प्रकार सूर्य और अवनार एक स्थान पर नहीं एकत्रित हो सकते^१ हैं। इस प्रकार मानव को भोग-लिप्सा और कामुकता की बड़ी आलोचना की। अपनी पतिव्रता स्त्री का परित्याग कर स्त्री से प्रेम करने वालों का सम्बोधित कर कबीर कहते हैं कि 'दूसरे की स्त्री, चाहे वह सोने की क्यों न हो, उससे दूर रहना चाहिए, नहीं तो रावण के समान विनाश अवश्यम्भावी है^२। इसी प्रकार बड़े प्रभावशाली शब्दों में कबीर ने इस प्रवृत्ति की आलोचना की। कबीर के युग में नारी भोग-विलास को वस्तु बन गई

१—काम क्रोध मद लोभ की जब लग तट में खान ।

कहाँ मूर्ख कहीं पंडिता दोनों एक समान ।

२—जहाँ काम तहाँ नाम नहीं जहाँ नाम नहीं काम ।

दोनों कवहूँ ना मिनै रवि रजनो एक ठाम ॥ कबीर व० पृ० ४८

३—परनारी पैनी छुरी विरला वाचै कोय ।

ना वहि पेट नचारिये सर्वे तोन को होय ॥

रावन के दस सिर गए पर नारी के संग । कबीर व०, प० ५५-५६

थी । इसलिए उन्होंने नारी के भोगमय स्वरूप की बड़ी निन्दा की है । आध्यात्मिक पथ से अष्ट करने के कारण कबीर ने स्त्री को सर्पिणी के समान भयंकर^१ व्याध्र के समान घातक^२ तथा भक्ति एवं मुक्ति से पतित करने वाली^३ कहा है । स्थान-स्थान पर कबीर ने नारी को माया आदि शब्दों से भी सम्बोधित किया है । परन्तु साथ ही कबीर ने नारी के कल्याणकारी रूप का समर्थन भी किया है । कबीर ने सती स्त्री की प्रशंसा की^४ है कारण कि उसका हृदय और मन पवित्र रहता है । यह पति के साथ अपनी जीवन लीला समाप्त कर देती है । इसी प्रकार कबीर ने पतिव्रता नारी का भी बड़ा समर्थन किया है । कबीर के लिए मैली-कुचैली पतिव्रता भी वन्दनीय है ।^५ पतिव्रता नारी को कबीर ने शूर और दोनों के समान उच्च और अभिनन्दनीय माना है^६ । संक्षेप में कबीर ने नारी के उस स्वरूप की निन्दा की जो मानव को आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होने में रोकता है । यदि वह इस दोष से रहित है तो वह सर्वथा वन्दनीय है ।

मुसलमानों के आक्रमण, अकाल, अनावृष्टि, लुटेरों तथा विजेता वर्ग के शोषण ने कबीर के समय तक देश को नितान्त कंगाल बना दिया था । इसका प्रभाव मध्यवर्ग, निम्नवर्ग और किसान तथा मजदूरों पर आर्थिक परिस्थिति विशेष रूप से पडा । आर्थिक विनाश और अन्ताभव के कारण जनता के लिए जीवन का प्रश्न अत्यन्त विषम बन गया । जनता के इन वर्गों के लिए ईश्वर के अतिरिक्त और किसी का सहारा नहीं था । इसलिए कबीर ने तत्कालीन जनता को सन्तोष धारण करने का उपदेश

१—कामिनी सुन्दर सर्पिणी जो छेड़ै तेहि खाय ।

जो गुरुचरन न राचिया तिनके निकट न जाय ॥

२—नैनो काजर पाइ कै गाढै बाघे केस ।

हाथो मेहदी लाइ के बाघिनि खाया देस ॥

३—नारि नसावै तीन गुन जो नर पासे होय ।

भक्ति-मुक्ति निज ध्यान में पैठि न सकै कोय ॥

४—सती न पीसै पीसना जो पीसै सो राड ।

साधू भीख न मांगही जो मांगै सो भाड ॥

५—पतिव्रता मैली भली काली कुचित फुरूप ।

पतिव्रता के रूप पर वारो कोटि सरूप ॥

६—सूरा के तो सिर नहीं दाता के धन नाहि ।

पतिव्रता के तन नहीं, सुरति वसै पिउ माहि ॥

दिया । कारण कि, सन्तोष गजधन, वाजिधन और रत्नधन आदि सभी धनो से श्रेष्ठ है^१ । कवीर ने मानव-सुलभ तृष्ण की भी आलोचना की, क्योंकि तृष्णा ही मनुष्य का वास्तविक काल है^२ । तृष्णावान् मानव कही भी शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता है । शोषण के विरुद्ध भी कवीर ने जनता को उपदेश दिया ।^३ कवीर ने स्थान-स्थान पर गरीबी की सराहना की है । उन्होंने गरीब को “दुतिया के चन्द्र के समान” वन्दनीय बताया है^४ । कारण कि गरीब स्वयं सभी के उत्पीडन को सहन करता है और प्रतिकार में किसी को कष्ट नहीं पहुँचाता है । वह स्वयं अपने ठगाने में सुख का अनुभव करता है । गरीबी सबसे अच्छी है कारण कि लघुता से ही मनुष्य महत्ता की ओर अग्रसर होता है । कवीर ने उस धन को अभिशाप माना है जिससे ईश्वर के भजन में बाधा पड़े । इस प्रकार समय की आवश्यकतानुसार कवीर ने सन्तोष और दीनता का महत्व प्रदर्शित करके दीन और भुक्तभोगी जनता को अपनी स्थिति में ही स्थिर रहने और ईश्वर प्रेम में रत रहने का उपदेश दिया ।

साहित्य में धार्मिक स्थिति के चित्रण की परम्परा सरहपा से आरम्भ होती है । सरहपा के समय में पाखंड और वाह्याडम्बरो की अधिकता थी । उन्होंने ब्राह्मण, वेद, साहित्य दण्डी, यज्ञ, यन्त्र मन्त्र आदि की आलोचना की है ।

जिससे ज्ञात होता है कि आठवीं शताब्दी में ही धर्म के क्षेत्र में वाह्याडम्बर और पाखण्ड समाविष्ट हो गए थे । सरहपा के पश्चात् दसवीं शताब्दी के कवियों में से तिलोपा काव्य में तत्कालीन धार्मिक स्थिति का चित्रण उपलब्ध होता है । तिलोपा के समय में धर्म के मूल सिद्धान्तों को त्यागकर जनता तीर्थ, तप, बहुदेवोपासना में लग रहे थे तथा साधक भोगी हो रहे थे । योगीन्दु (१००० ई०) के समय तक ये दोष कुछ और भी बढ़ गए । इस समय की जनता विभिन्न ‘पंथों’ और

(१) गोधन गजधन वाजिधन और रत्न धन खान ।

जब आवै सन्तोष धन सब धन धूरि नमान ॥

(२) को विस्ना है डाकिनी की जीवन का काल ।

और और निम दिन चहै जीवन करै मिहान ॥

(३) कबिरा आप ठगाइये और न ठगिए कोय ।

आप ठगे सुख ऊपजै और ठगे दुख होय ॥

(४) सब ते लघुताई भनी लघुता से नव होय ।

जस दुतिया को चन्दमा सीस नवै नव कोय ।

'सम्प्रदायो' में भटक रही थी। शिक्षित समुदाय मानवता के धर्म को विसार कर 'पोथी पत्र' को ही धर्म समझ बैठा था। रामसिंह, योगीन्दु के समकालीन थे। इन्होंने भी पाखंड के उन बहुत से चित्रों की अभिव्यक्ति अपने काव्य में की है जो तत्कालीन धर्म और समाज में व्याप्त थे। उन्होंने उन 'मुण्डियों' का वर्णन किया है जो मुक्ति की आशा में सिर मुंडाए हुए घूमघूमकर जगत् को घोखा देने के साथ ही अपनी आत्मा को भी घोखा देते फिरते थे। कवि रामसिंह ने इन व्याप्त दोषों को बहुत निकट से देखा था। इन उपर्युक्त कवियों के समान ही नाथ सम्प्रदाय के प्रसिद्ध कवि गोरखनाथ के काव्य में भी तत्कालीन धर्म में व्याप्त दोषों तथा पाखण्डों का अच्छा चित्रण मिलता है। गोरखनाथ के समय में ब्राह्मण बहुपठित तो थे पर उन्हें सार-ज्ञान नहीं था, योगी माया में लिप्त तथा धूर्त, साधक निद्रा, मैथुन और माया में लिप्त थे, मन्त्र देने वाले गुरु अहंकारी थे। समय के साथ धर्म में व्याप्त दोषों में भी वृद्धि होती गयी। कबीर के समय तक जनता नितांत पथभ्रष्ट हो चुकी थी। बड़े-बड़े योगी माया में लिप्त थे। योगी, पंडित, संन्यासी, मौलाना, काजी सब 'मदमाते' हो रहे थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सत धर्म के भ्रष्ट होकर भटक रहे थे। पीर और लिया हिंसा में प्रवृत्त थे। हिन्दू मुसलमान दोनों ही ब्रह्म के विषय को लेकर परस्पर एक दूसरे के शत्रु बने हुए थे। हिन्दू लोग पत्थरों की पूजा में ही कर्तव्य पूर्ति समझते थे। साधु लोग बाह्याडम्बरों में प्रवृत्त होकर धन एकत्रित करते फिरते थे। सोना चांदी के आभूषण पहनते थे। घोड़ा घोड़ियों पर सवारी करके विचरते थे। इस प्रकार साधु-समाज माया का दास हो रहा था। साधुओं की भाँति मुल्ला भी पथ भ्रष्ट हो चुके थे। पीर कर्तव्यच्युत हो गए थे। उनमें विवेक बुद्धि नष्ट हो गई थी। वे अहिंसा में प्रवृत्त थे। इन पीरों और मुल्लाओं का प्रभाव तत्कालीन मुसलमान जनता पर गम्भीर पड़ा। अपने-अपने धार्मिक नेताओं की भाँति हिन्दू और मुसलमान सभी आचरण कर रहे थे। हिन्दुओं में महन्तों के आदर्शों का अनुकरण हो रहा था। और मुसलमानों में इन पीरों और मुल्लाओं का अध्यानुकरण। धर्म के नाम पर अधर्म, आचार के नाम पर अनाचार कबीर जैसे उदार दृष्टिकोण वाले व्यक्ति के लिए असह्य था। उन्होंने दोनों को खूब फटकारा।

१—सावु भया तो क्या भया माना पहिरी चारि ।

बाहर भेष बनाइया भीतर भरी भगारि ॥

भक्त विरक्त लोभ मन ठाना, सोना पहिरि लजावै वाना ।

घोरी घोरा कीन्ह बटोरा, गाँव पाय जस चले करीरा ॥

धर्म में व्याप्त विकारों तथा बाह्याडम्बरों की निन्दा करके कबीर पथ-भ्रष्ट तथा लक्ष्यच्युत जनता को धर्म के राजमार्ग अथवा उचित मार्ग पर लाना चाहते थे। धर्म और साधना में कबीर को ऐंजातानी पसन्द नहीं थी। साधना तो अत्यन्त प्रिय विषय है। साधना के क्षेत्र में दैनिक औचित्य के मध्यस्थ कोई भी विरोधी भावनाएं नहीं हैं। कबीर इस सत्य से परिचित थे। इसी कारण कबीर धर्म और साधना के सहज पथ को ग्रहण करने के लिए अपनी समकालीन जनता को उपदेश दिया। कबीर ने जनता को बताया कि समस्त दुःखताओं और दाँव-पेचों की क्या निःसारता है और सहज पथ ही सत्य पथ है जिसके द्वारा कोई भी व्यक्ति मुक्ति प्राप्त कर सकता है।^१ सहज पथ सबके लिए खुला है। उपमे जात-पाँति वर्ग कुन आदि का प्रतिबन्ध नहीं है। सम्प्रदाय और मत-मतांतरों को भाँति इसमें बाह्याडम्बर की आवश्यकता नहीं है।

धर्म के अन्तर्गत बाह्याडम्बरों का कोई अस्तित्व नहीं है, फिर भी हिन्दू और—इस्लाम दोनों ही धर्मों में यह दोष समान रूप से वर्तमान है। कबीर ने देखा कि धर्म के वास्तविक रूप को बाह्याडम्बरों ने आच्छादित कर रखा है। अतः उन्होंने मतवाद, शास्त्र, कतेव, तीर्थ, व्रत, नमाज आदि की व्यर्थता जनता के समक्ष चारम्बार रखी। सबसे पहले कबीर ने हिन्दू और मुसलमानों के धार्मिक ग्रन्थों की आलोचना की। उन्होंने बताया कि ये ग्रन्थ सभी को भ्रम में डालने के लिए रचे गए हैं।^२ कबीर ने

१—सहज सहज सब को कहै सहज न चीन्है कोइ ।
जिन्ह सहजैविषया तजी सहज कहीजै सोइ ॥
सहज सहज सबको कहै सहज न चीन्है कोइ ।
पाँचु राखै परसतौ सहज कहीजै सोइ ॥
सहजै सहजै सब गए सुत विन कामणिकाम ।
एक मेक ह्वै मिलिरथा दास कबीरा राम ॥

२—हिन्दू मुसलमान दो दोन सरहद वने वेद कतेव परपच साजी ।

—ज्ञानगुदरी पृ० १६

वेद कितान दीय फंद सवारा । ते फंदे पर आप विचारा ॥

—बीजरु पृ० २६६

चार वेद ब्रह्मा निज ठाना । मुक्ति का मर्म उनहु नहि जाना ॥

हवीवी और नवी कै कामा । जिनने अमन सौ नवे तराना ॥

—बीजरु १०४, १२४

मूर्ति-पूजा के विरोध में भी बहुत कुछ लिखा है।^१ कबीर तो मन्दिर की नींव को ही अस्थिर मानते हैं।^२ इसी प्रकार उन्होंने मुसलमानों की 'बाग' और मस्जिद की व्यर्थता बताई।^३ हिन्दुओं की एकादशी और मुसलमानों के तीस रोजा की भी कबीर ने आलोचना की।^४

हिन्दू मुसलमानों की 'राम' 'रहीम' सम्बन्धी भेद-भावना को मिटाने के लिए कबीर ने ब्रह्म के अद्वैत स्वरूप का उपदेश दिया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा 'साहेब मेरा एक है दूजा कहा न जाय।'^५ इतना ही नहीं 'साहब' को द्वैत बताने वाले को कबीर 'दूजा कुल को हाय' कहने तक का साहस रखते हैं।^६ कबीर ने बताया कि हिन्दू और मुसलमानों की एक ही राह है।^७ दोनों ही एक ही कलाकार की कृतियाँ हैं। उनमें दृष्टिगत भेद मानवकृत है।

कबीर ने भेष बनाकर घूमने की प्रकृति की भी तीव्र आलोचना की है। माला, तिलक, छाप, गेरुआ वस्त्रो आदि की निःसारता पर उन्होंने बार-बार जोर दिया है।^८

१—पाहन पूजे हरि मिलै तौ मैं पूजूं पहार ।

ताते यह चाकी भली पीस खाय संसार ॥

२—नीव विहूणा देहुरा देह विहूणा देव ।

कबीर तहाँ विलंबिया करे अलष की सेव ॥

३—काकर पाथर जोरि के मसजिद लई चुनाय ।

ता चढि मुल्ला वाग देक्या बहिरा हुआ खोदाय ॥

४—हिन्दू एकादसि चौबिस रोजा मुसलिम तीस बनाए ।

ग्यारह मास कहो किन टारौ ये केहि माहि समाये ॥

--बीजक पृ० ३८८

५—कबीर वचनावली, पृ० १

६—"जो साहब दूजा कहै दूजा कुल को होय ।" २/९

७—हिन्दू तुरुक की एक राह है सतगुरु इहै बताई ।

कहहि कबीर सुनहु हो सन्तो राम न कहेउ खुदाई ॥

--बीजक शब्द १०

८—कर सेती माला जपै, हिरदै वहै डहल ।

पग तौ पाला मैं गिल्या भाजण लागी सूल ॥

कर पकरै अंगुरी गिनै मन धावै चहुँ ओर ।

जाहि फिरायी हरि सो भया काठ की ठौर ॥

मूँड मुडावत दिन गए अजहूँ न मिलिया राम ।

राम नाम कहु क्या करै जे मन के औरे काम ॥

कवीर के युग में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही के धर्म में 'हिंसा' वृत्ति समाविष्ट हो गई थी। कवीर ने काजी सैय्यद, औलिया और पीर आदि को डाँटते हुए पूछा कि 'बकरी मुर्गी का तुम किसकी आज्ञा से हनन करते हो। दिन भर तो रोजा रहते हो और रात में गाय खाते हो। भला तुम्हारा खुदा किस प्रकार से इस आचरण पर प्रसन्न होगा।' इसी प्रकार उन्होंने हिन्दू योगियों से पूछा कि "कब नारद बन्दूक चलाया।"

इस प्रकार कवीर ने तत्कालीन हिन्दू तथा मुसलमानों के धर्म में व्याप्त दोषों तथा बाह्याडम्बरो को दूर करने का प्रयत्न किया। उन्होंने दोनों विरोधी वर्गों की एकता और प्रेम का मार्ग प्रदर्शित किया और पारस्परिक विरोधी भावनाओं को शान्त करने का प्रयत्न किया।

रामानन्द के पश्चात् सन्त कवियों ने अपने उपदेशों का माध्यम हिन्दी भाषा बनाया। वे इस बात को समझ गये थे कि यदि अधिक से अधिक जनता में स्वमत का प्रचार करना है, तो हिन्दी का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा। भाषा फलतः उन्होंने हिन्दी में ही अपने विचारों को प्रकट किया। सन्तों ने विद्वत्समाज की स्तुतनिन्दा, अथवा योग्यता-प्रदर्शन की आवश्यकता न समझ कर जनता की भाषा में ही उपदेश किया। रामानन्द ने संस्कृत के विद्वान् होते हुए भी जन-हितार्थ हिन्दी में उपदेश दिये। परन्तु बाद के कवियों ने संस्कृत के विपक्ष और भाषा की सराहना भी की जिनमें से कवीर विशेष उल्लेखनीय हैं। कवीर ने स्पष्ट शब्दों से संस्कृत को 'कूपजल' कहा और भाषा की बहते हुए नीर से तुलना की। इससे कवीर के भाषा विषयक आदर्श प्रकट होते हैं।

देश की संघर्षमयी परिस्थिति का कवीर पर प्रभाव पड़ा। मानव की निम्न तथा द्वेष प्रवृत्तियों के विरुद्ध कवीर दास ने अपने शांत एवं प्रभावशाली स्वर में क्षमा, दया, विश्ववन्धुत्व,

एकता तथा समता का संदेश दिया और अपने युग उपसंहार को सही मार्ग पर अग्रसर करने का प्रयत्न किया।

उम युग की हलचल, अशांति, आडम्बर और विडम्बना का मापदण्ड कवीर का स्वर और उनका 'सहज' संदेश है।

कबीर-व्यक्तित्व

किसी भी साहित्याकार का व्यक्तित्व उसकी रचना में प्रतिबिम्बित होता है। लेखक के व्यक्तित्व से उसके साहित्य का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। कोई भी मनुष्य किसी रचना से उसके लेखक के व्यक्तित्व का अनुमान लगा सकता है। कबीर (१५ वीं शताब्दी) का साहित्य उनके व्यक्तित्व का सबसे अधिक परिचायक है। कबीर के साहित्य को देखने से ज्ञात होता है कि वे सत्य (दोनों, व्यवहार और साधना) प्रिय थे। उनमें चरित्रबल था जिसके कारण स्पष्टोक्तियाँ उनकी वानियों में लहरे ले रही हैं। वे मान और अपमान के स्तर से ऊपर उठ चुके थे। उन्हें द्रोह, विद्रोह, अशान्ति, वैमनस्य, प्रतिहिंसा की भावना से घृणा थी। वे शान्ति प्रिय थे। अहिंसा और सरलता के वे समर्थक थे। करनी और कयनी में वे भेद नहीं मानते थे। लौकिक जीवन से ऊपर उठने की उनमें साध थी। वे प्रेमी, भक्त, साधक योगी और विश्वासी थे। दुर्विधा से वे घृणा करते थे। भेष और वस्त्राचार तथा सत्य के नाम पर अनाचार देख कर वे जल उठते थे। समदृष्टि और सहज को जीवन में वे कार्यान्वित करना चाहते थे। उदारता, विश्र्वन्धुत्व, दीनता, धैर्य, संतोष, सहनशीलता और क्षमा उनकी चरित्रगत विशेषताएँ थीं। सत्य-प्रियता के कारण उन्हें जीवन में विरोधों के अनेक तूफानों का सामना करना पड़ा। कबीर स्वतन्त्र विचार के व्यक्ति थे। उनमें प्रतिभा थी, मौलिकता थी। उनकी वाणी में बल और हृदय में साहस था। अप्रिय सत्य कहने में भी उन्हें कोई संकोच नहीं था। मुरौंभन और रियायत की भावना उनमें स्थान नहीं पा सकी थी।

लेखक के व्यक्तित्व के अध्ययन का दूसरा साधन है उनके समकालीन और परिवर्ती लेखकों का उसके विषय में कथन। कबीर सत मत के प्रवर्तक और एक विशेष परम्परा के संस्थापक थे। साहित्य और धर्म के क्षेत्र में एक नवीन क्रान्ति के जनक थे। आलोचना की एक नवीन शैली के जन्मदाता थे। १५ वीं शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि और समाज सुधारक थे। समकालीन शासक उनसे अत्यधिक प्रभावित थे। (यदि किवदंतियों में जरा भी विश्वास कर लिया जाय) वे एक नवीन समाज के निर्माता थे। निश्चय ही उन्होंने अपने युग की जनता को प्रभावित किया होगा और निश्चय ही उनके सिद्धान्तों को पुण्य गंगा में अवगाहन कर उनके पश्चात् नानक,

दादू, मलूक, जगजीवन, शिवनारायण, दरियाद्वे, मीरा, सहजोदयावाई, धनीदास, गरीबदास, केशवदास, तुलसी (साहब) चरनदास, सुन्दरदास आदि ने भारतीय जनता में समय-समय पर प्रकाश फैलाया। आज इस युग का महापुरुष गांधी भी उनके सिद्धान्तों से अनुप्राणित प्रतीत होता है। कबीर के विषय में लिखित इन सन्तों की वानियों से कबीर के व्यक्तित्व का अनुमान बड़ी सरलता से लग सकता है। अतिशयोक्तियों को छान कर निकाले हुए तथ्यों से कबीर का व्यक्तित्व प्रकाश में लाया जा सकता है।

कबीर के पश्चात् धर्म और समाज के विषय में अभिहित रखने वाले सभी कवियों और इतिहासकारों ने कबीर की प्रशंसा की है—चाहे वे मुसलमान हो या हिन्दू दोनों जातियों में उनका आदर था, सम्मान था। उनकी वाणी में प्रभावित करने की शक्ति थी। उनकी वाणी ने समय, वर्ण वर्ग, जाति और समाज के सभी स्तरों को लाघ कर एक रूप से जनता को प्रभावित किया।

साम्प्रदायिक कवियों का काव्य अतिशयोक्ति एवं अतिरजना से पूर्ण होता है। फिर भी उन अतिरजनों के मूल में तथ्य बीज-रूप में वर्तमान अवश्य रहता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। धरमदास (स० १४७५) कबीर के प्रधान शिष्य थे। कबीर के पश्चात् यही गद्दी पर आसीन हुए। इनके शब्दों में कबीर अजर-अमर व्यक्ति हैं। प्रत्येक युग में एक भिन्न-भिन्न नाम धारण करके अवतार ग्रहण करते हैं। सतयुग में सतसुकृत नाम था, त्रेता में मुनीन्द्र, द्वापर में करुणा तथा कलियुग में कबीर। कबीर सभी युगों में माया रहित होकर विराजमान रहे हैं—

जुगन जुगन लीन्हा अवतारा । रहौं निरन्तर प्रगट प्रसारा ॥
सतयुग सतसुकृत कह देरा । त्रेता नाम मुनेन्दहि मेरा ॥
द्वापर में करुना मय कहाये । कलियुग नाम कबीर रखाये ॥
चारो युग में चारो नाऊँ । माया रहित रहै तिहि ठाऊँ ॥
जो जाघा पहुँचे नहीं कोई । सुर नर नागर रहै सुख गोई ॥

(ग्रन्थ अवतारण पृ० ३१-३२)

धर्मदास के अनुसार कबीर एक दिव्य पुरुष के रूप में दृष्टिगत होते हैं। परन्तु इस उद्धरण को अन्तिम दो पंक्तियों विशेष ध्यान देने योग्य हैं। इनसे ज्ञान होता है कि कबीर माया मोह के पाग से उन्मुक्त थे। “जो जाघा पहुँचे नहीं कोई” और “सुर नर नागर रहै सुख गोई” वहाँ पर कबीर “माया रहित रहै तिहि ठाऊँ” कबीर ने जीवन पर्यन्त माया के बन्धनों से दूर रहने का उपदेश दिया है। उनकी

वाणियो मे अनेक ऐसे कथन हैं । इस लिए कबीर के विषय मे धरमदास को अंतिम दो पंक्तियाँ मान्ह हैं । नाभादास जी ने भक्तमाल मे लिखा है—

(१)

कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट दरस की ।
भक्ति विमुख जो धर्म सो अधरम कर्म गायो ।
जोग जस्य ब्रतदान भजन विनु तुच्छ दिखायो ॥
हिन्दू तुरक प्रमान रमैनी शब्दी साखी ।
पक्षपात नहिं बचन, सब ही के हित की भाखी ॥
आरूढ़ दसा ह्वै जगत पर मुख देखी नाहिन भनी ।
कबीर कर्म न राखी नहीं वर्णाश्रम षट दरसनी ॥
(३२७ छप्पय)

(२)

अति ही गंभीर मति सरस कबीर हियो ।
लियो भक्ति भाव जाति पाँति सब टारियै ॥
(कवित्त ५१५)

(३)

बीनै लानौ बानौ, हियै राम मंडरानौ ।
कहि कैसे कै बखानौ, वह रीति कछु न्यारियै ॥

(४)

उतनोई करै जामै तन निरवाह होय ।
भाय गयी और बात भक्ति लागी प्यारियै ॥
(कवित्त ५१३)

इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि (१) कबीर ने चार वर्ण चार आश्रम छः दर्शन किसी की भी "आनि कानि" नहीं रखी । केवल भक्ति को ही दृढ़ किया । भक्ति से विमुख धर्मों को अधर्म कहा । सतभक्ति से रहित तप, योग, दान ब्रतादि तुच्छ बताए । आर्य और अनार्य, हिन्दू और मुसलमान को सिद्धान्त की बातों का ज्ञान कराया । (२) उनकी मति गंभीर और अन्तःकरण भक्ति से सरस था । वह भजव भाव मे संलग्न रहते थे और जाति पाँति एवं वर्णाश्रम मे आस्था नहीं रखते थे । (३) वे कपड़ा बुनने का उद्यम करते थे । यद्यपि बाल्य रूप से ताना-बाना का काम करते थे, पर अन्तःकरण से ब्रह्म मे ही लीन रहते थे । (४) उद्यम तो

केवल उत्तना करते थे जितने से उनकी जीविका चल जाय । इसके सिवाय उनका चित्त पूर्ण रूपेण ब्रह्म में ही लगा रहता था । (५) कबीर अपने सिद्धान्त का समर्थन करना जानते थे । सिकन्दर द्वारा उत्पीड़ित और पाखंडियों द्वारा अपमानित होने पर भी वे अपने सिद्धान्तों से अडिग रहे । उन्हें सिद्धान्तों से विचलित करने के अनेक उपाय हुए पर वे सभी विफल हो गए । भक्तमाल की इन पवित्रियों से कबीर के व्यक्तित्व पर अच्छा प्रभाव पड़ता है । नाभादास के इस कथन में कहीं भी कोई अतिशयोक्ति नहीं उपलब्ध होती है । कबीर के सभी स्वाभाविक गुणों का परिचय इन उद्धरणों से प्राप्त होता है ।

अकबर के समय में अबुल फजल अल्लामी ने आइन-ए-अकबरी की रचना की । इस ग्रंथ में कबीर के लिए "मुवाहिद" अर्थात् "एकता प्रेमी" शब्द का प्रयोग हुआ है । इस ग्रंथ में कबीर के विषय में लेखक ने दो बार उल्लेख किया है । १२६ पृष्ठ पर उनका परिचय देते हुए लेखक का कथन है कि "कबीर मुवाहिद यहाँ विश्राम करते हैं और आज तक उनके कारण और कृत्यों के सम्बन्ध में अनेक विश्वस्त जनश्रुतियाँ कही जाती हैं । वे हिन्दू और मुसलमान दोनों के द्वारा अपने उदार सिद्धान्तों और पवित्र जीवन के कारण पूज्य थे । "पृष्ठ १७१ पर लेखक का कथन है कि "कोई कहते हैं कि रतनपुर (सूत्रा अवध) में कबीर की समाधि है जो ब्रह्मक्य का मण्डन करते थे । आध्यात्मिक दृष्टि का द्वार उनके सामने अशतः खुला था । उन्होंने अपने समय के सिद्धान्तों का भी प्रतिकार कर दिया था ।" आइन-ए-अकबरी के इन कथनों से ज्ञात होता है कि कबीर समदृष्टिमान व्यक्ति थे । वे दोनों ही वर्गों में पूज्य थे और उदार सिद्धान्तों के पोषक और प्रचारक थे ।

कबीर के गुरु भाई पीपा और रैदास ने प्रायः एक से ही शब्दों में कबीर का यशोगान करते हुए कहा है :—

जाकै ईद बकरीद नित गडरे बध करै मानिये सेप सहीद पीराँ ।
बापि वैसी करी पूत ऐसी धरी नाव नवखंड परसिध कबीरा ॥

—पीपा

जाकै ईद बकरीदि कुल गडरे बधि करहि,
मानियहि सेल सहीद पीरा ॥
बापि वैसी करी पूत ऐसी सरी तिहुरे,
लोक परसिधा कबीरा ॥

(रैदास)

दोनो का एक ही कथन है कि मानव का भला और बुरा होना उसके कुल या जाति पर निर्भर नहीं हैं। कुलीनता और अभिजात्य का गर्व भूठा है। जिसके कुल में गोवध होता था, लोग बाह्यआडम्बरो में लीन थे, उसी कबीर ने ऐसा आचरण किया कि तीन लोक नौ खंड में प्रसिद्ध हो गया। इन पंक्तियों से कबीर का विद्रोहात्मक आचरण प्रकट होता है। पीर शहीद, शेख के गुलाम, ईद बकरीद में ब्रह्म का रूप देखने वाले परिवार में उत्पन्न होकर कबीर ने भिन्न आचरण किया। इसके अतिरिक्त पीपा ने अनेक स्थलों पर कबीर की बड़ी प्रशंसा की है। उनकी वाणी का एक पद उद्धृत किया जाता है :--

जो कलिमांभ कबीर न होते ।

तौ लै—वेद अरु कलिजुग मिलिकरि भगति रसातलि देते ॥
 अगम निगम की कहि काहै पाउँ फला भामोत लगाया ।
 राजस तामस स्वावक कथिकथि इनही जगत भुलाया ॥
 सागुन कथिकथि मिला पनाया काया रोग बढ़ाया ।
 निरगुन नीक पियौ नहीं गुरुमुप तातै हाटै जीव निराया ॥
 बहता स्रोता दोऊ भूले दुनियां सबै भुलाई ।
 कलि विद्धकी छाया बैठा क्यूँ न कल्पना जाई ॥
 अंध लुकटिया गही जु अंध परत कूप थित थोरै ।
 अबरन बरन दोऊ से अंजन आपि सवन की कोरै ॥
 लसे पतित कहा कहि रहेते थे कौन प्रतीत मन धरते ।
 नांनां वानी देवि सुनि स्रवन बहौ मारग अणसरते ॥
 त्रिगुण रहत भगति भगवंत कीतिरि, विरला कोई पावै ।
 दया होइ जोई कृपानिधान की तौ नाम कबीरा गावै ॥
 हरि हरि भगति भगत कबलीन त्रिविधि रहत थित मोहै ।
 पाखंड रूप भेष सब कंकर ग्यान सुपले सोहै ॥
 भगति प्रताप राण्य वेकारन निज जन-जन आप पठाया ।
 नाम कबीर साम साम पर करिया तहां पीपै कल्यु पाया ॥

भारतवर्ष में धर्म के नाम पर कौन से अनाचार और दुराचार नहीं हुए ।
 कबीर के समय तक धर्म का स्वच्छ सहज रूप अत्यन्त विकृत और विस्मृत हो गया

था। ऐसी दशा में कबीर ने जनता को साधना का जो मार्ग प्रदर्शित किया, वही सब से अधिक कल्याणप्रद था, साथ ही समय की मांग पूर्ण करता था। कबीर का व्यक्तित्व इस दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। तथ्य तो यह है कि पीपा की प्रथम दो पक्तियाँ कबीर के समस्त महत्व को प्रकाश में ला देती हैं।

मिर्जा मोहसिन फानी ने 'दविस्ताने मजाहिव' में लिखा है कि—

“कबीर जुलाहानजादकि अज् मोवह्विदान मशहूर हिन्द अस्त।

मदुर्म वारामानन गुफतन्द दरीशहर जुलाहान जादेस्त ॥”

अर्थात् “भारतवर्ष के जुलाहों में कबीर प्रसिद्ध अद्वैत ब्रह्म का उपासक था। लोग रामानन्द से कहते हैं कि इस प्रकार के एक जुलाहे का लड़का है जो अपने को आपका शिष्य कहता है।”

गुरुग्रंथ साहब में सिद्ध सन्तों के साथ कबीर का भी कई बार उल्लेख हुआ है। उदाहरणार्थ :—

(१)

नाम छीवा कबीर जुलाहा पूरे गुरते गति पाई।

(पृ० ५६)

(२)

हरि के नाम कबीर उजागर जनम जनम के काटे कागर।

(पृ० २६४)

(३)

नाम देव कबीर विलोभनु सधन्त रैनु तरै।

कहि रविदास सुनहु से सबहु हरि जी उते समै सरै ॥

(पृ० ५६८)

इन सभी पक्तियों से कबीर की भक्ति भावना पर प्रकाश पड़ता है। इसमें कोई शका की बात नहीं है कि कबीर ने सर्वप्रथम भारतीय समाज में साधना के सब पथ और वाधाचार के भेद दिखा कर जनता को निःसार बातों से दूर रहने के लिये उपदेश दिया था। ज्ञात होना है कि वे दोन दुखियों की निरन्तर सेवा किया करते थे। कितने ही व्यक्तियों को वे अपने घर का नामान उठाकर दे देते और उन्हें संकट से उन्मुक्त करते थे। चरणदास की निम्नलिखित पक्तियाँ कबीर के चरित्र के उज्ज्वल पक्ष की उद्घाटिका हैं :—

दास कबीरा जाति जुलाहा, भये संत हितकारी।

एक स्थल पर चरणदास ने उन्हें आध्यात्मिक क्षेत्र के सूरमो में विशिष्ट स्थान प्रदात किया—

कबीर दादू घने पहिर बक्तर बने ।
 नामदेव सारिखे बहुत कूदे ॥
 सैनसदना वली भक्त पीपा बड़ो ।
 राम की ओर कूं चले सूधे ॥

माया से युद्ध करते हुए राम की ओर कूं सूधे चलने वालों में कबीर का वास्तविक विशिष्ट स्थान है दयाबाई और चरणदास ने कबीर को श्रेष्ठ भक्त और साधक माना है। उद्धरण के लिए उनकी वानियों के संग्रहों के क्रमशः पृ० २२ तथा पृ० १३, ३३ को देखा जा सकता है।

ऐसा अनुभव होता है कि गरीबदास और घनी घर्मदास कबीर से विशेष प्रभावित थे। गरीबदास ने कबीर और उनके स्वभाव तथा व्यक्तित्व के विषय में बड़ी श्रद्धा और आदर के साथ उल्लेख किया है। बात यह है कि कबीर को गरीबदास अपना गुरु मानते थे और इसलिये उनकी दृष्टि में कबीर का बड़ा ऊंचा स्थान था। गरीबदास की वानी (पृ० १० से १६ तक) में कबीर के सतजुगणों का उल्लेख हुआ है। गरीबदास के अनुसार कबीर माया से रहित, स्वच्छ हृदय वाले ज्ञानवान शून्य का तत्व समझने वाले गगन मण्डल में विचरने वाले सुरत सिन्धु के गीत रचने वाले, आनन्द के उद्गम, ज्ञान और भक्ति की साकार मूर्ति मनुष्यों में हंस, जीवित जगदीश, चार वेद छँ शस्त्र और १८ बोध के प्रकाण्ड पंडित, न्यायप्रिय जगद्गुरु शांति प्रिय, मोह और माया के विनाशक, कर्म की रेख मिटाने वाले, भक्तों के सरदार, अलख को लखने वाले, सुन्नीशाखा पर निवास करने वाले और भंवर गुफा में रमने वाले थे। गरीबदास की दृष्टि में कबीर समस्त सन्तों में श्रेष्ठ हैं—

ऐसा सतगुरु हम मिला सुरत सिन्धु के तीर ।

सब संतन सिरताज है सतगुरु अदल कबीर ॥

गरीबदास ने कबीर के स्तवन में प्रायः सौ साखियों की रचना की है और इन साखियों में कबीर को बड़ा सम्मान और गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया है। शायद ही किसी ने कबीर के विषय में इतने विस्तार से लिखा हो। कबीरदास का अपने निरालेपन और फक्कड़पन के कारण, स्पष्टवादिता और अप्रिय सत्य कथन के कारण बड़ा विरोध हुआ। संत कवि मलूकदास भी इन से बहुत प्रभावित थे। इन की धार्मिक विचारधारा और सिद्धान्तों में कबीर की वाणी लहरें ले रही हैं। उन

की वाणियो मे कवीर के प्रति बडे ही सम्मानसूचक शब्दो का प्रयोग हुआ है । सुमीरन प्रकरण मे मलूक कवीर का आदर्श जनता के लिए प्रस्तुत करते हैं—उनका कथन है कि “सुमिरन ऐसा कीजिए जैसे दास कवीर ।” यह इस बात का द्योतक है कि कवीर ने साधना बडी लगन से की । साधना मे लगन और तत्परता के लिए कवीर मध्ययुगीन सन्तो मे सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं । इसलिए मलूकदास का उन्हें इस दिशा मे आदर्श मानना असंगत नहीं प्रतीत होता । मलूक को कवीर की सिद्धि पर विश्वास सा-था जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियो से ज्ञात होता है—

हमारा सतगुरु विरले जानै ।

सुई के नारे सुमेर चलावै सो यह रूप बखानै ॥

कीवौ जानै दास कधीरा कि हरिनावस पूता ।

की तौ नामदेव और नानक की गोरख अवुधता ॥

इन पंक्तियो के कवीर को प्रह्लाद और गोरखनाथ आदि साधको के समान पद पर व्यक्त किया गया है । यह भी उनके गौरव का द्योतक है ।

दुखहरनदास मलूक पथी थे । पर कवीर से वे भी कम प्रभावित नहीं थे । ससार की विधिताओ को शान्त करने वाले मे जहाँ उन्होने गोरखनाथ, नानक और मलूक के नाम गिनाये हैं, वही उन्होने कवीर के महत्व को भी अंकित किया है । देखिए—

जस कवीर जस गोरख जस नानक जस व्यास ।

तास कलीमल जग हरन को प्रगटे मलूकदास ॥

(कृपावती'—एक अप्रकाशित ग्रंथ से)

इन पंक्तियो मे मलूक को कवीर के समान व्यक्त करके उन्हें भी महान् सिद्ध किया गया है । फिर भला कवीर के महान् व्यक्तित्व के लिये क्या कहा जाय ।

कवीर को ध्रुव, प्रह्लाद और विभीषण के समान, हनुमान और अंगद के समान दास तथा रामानन्द और नानक के समान भक्त मानने वालो मे शिवनारायण साहब विशेष उल्लेखनीय हैं । उनकी निम्नांकित पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं :—

ध्रुव प्रह्लाद विभीषण धीरा । पांडव पांचव धरे शरीरा ॥

हनुमान, अंगद और आनी । यही विधि प्रीति करे सय जानी ॥

रामानन्द कवीर गुसाईं । नानक नाम जान एक साईं ॥

एक से एक समान भये, भगत यही संसार ।
गुरु अन्यास सुनायहु, जो मोहि भक्ति पियास ।

(गुरुन्यास—एक अप्रकाशित रचना से)

आध्यात्मिक पक्ष में कबीर की महता को स्वीकार करने वाले चरणदास ने नागरिकता के उज्ज्वल पक्ष का चित्रण भी किया है । कबीर उपकारी, परोपकारी व्यक्ति थे । उनके जीवन-चरित्र से मुक्ति का मार्ग खोजने वाले पंडितों और मुल्लाओं को कबीर का यह नया प्रकाश कभी भी स्वीकार नहीं था । कबीर के सत्यावर्णों, उच्चादर्शों का उच्च वर्ग ने बड़ा उपहास किया । देखिये गरीब दास की ये पंक्तियाँ इस बात को स्पष्ट करती हैं :--

याभी मर्द कबीर है जगत करै उपहास ।

कैसो वनिजारा भाया, भगत बड़ाई दास ॥

गरीबदास कबीर को धर्म, समाज और आध्यात्मिक क्षेत्र में एक महान् क्रांतिकारी मानते थे । इतना ही नहीं वे कबीर को ज्ञान के क्षेत्र में चक्रवर्ती मानते थे :--

ऐसा निरमल नाम है, निरमल करै सरीर ।

और ज्ञान मंडलीक है, चकवै ज्ञान कबीर ॥

इसके पश्चात् कबीर के विषय में कहने के लिये क्या कुछ और रह जाता है ।

घनी घमंदास ने कबीर को अपने युग का महापुरुष माना है । उनके अनुसार ऐसे महापुरुष बड़े सौभाग्य से मिलते हैं । उनका संसर्ग आवागमन से मुक्त होने वाला है । (पृ० ४३) सामान्य रूप से घमंदास ने कबीर को एक महान् संत माना है ।

कबीर के विषय में सतों के उपयुक्त कथनों को पढ़ जाने के पश्चात् कबीर के चरित्र और व्यक्तित्व की समस्त विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं । समस्त सतों का कबीर के व्यक्तित्व के विषय में मत साम्य है । सभी का मत है कि वे युग के श्रेष्ठ साधक थे और उन्होंने उस मधुर ज्योति के दर्शन कर लिये थे कि जिससे समस्त समार आलोकित है । प्रायः सभी संत कवियों ने कबीर को गोरखनाथ और रामानन्द के समकक्ष स्थान दिया है । कबीर की लोकप्रियता पर सभी का एक मत है ।

कबीर का आविर्भाव काल—भारतीय जन-जीवन की परम्परा बड़ी महान् रही है । हमारे देश के महाकवियों ने सहस्रों पदों, छन्दों और पृष्ठों की रचना कर टाने के बाद भी अपने विषय में एक भी शब्द का उल्लेख नहीं किया । समस्त

रचना को कृष्णापरा करके निवृत्त हो जाने वाले कवियों ने अपने सम्बन्ध में किंचित मात्र भी उल्लेख नहीं किया। कवीर इसी परम्परा के अनुयायी थे। कवीर की कविता में अन्तःसाक्ष्य बहुत कम प्राप्त होता है अन्तः साक्ष्य के आधार पर वे सिकन्दर लोदी के समकालीन प्रतीत होते हैं।

निम्नलिखित विद्वानों ने कवीर को सिकन्दर लोदी का समकालीन माना है।

लेखक का नाम	कवीर का समय	सिकन्दर लोदी का समय
(१) वील	जन्म सन् १४६० (संवत् १५४७)	यही समय
(२) फरकहार	सन् १४००-१५१७ (संवत् १४५७-१५७५)	सन् १४८६-१५१८ (संवत् १५४६-१५४७)
(३) हंटर	सन् १३०३-१४२० (संवत् १३५७-१४७७)	नहीं दिया।
(४) त्रिम्स	नहीं दिया	सन् १४८८-१५१७ (संवत् १५४५-१५७४)
(५) मेकालिक	सन् १३६८-१५१८ (संवत् १४५५-१५७५)	सिंहासनासीन सन् १४८८ (संवत् १५४५)
(६) वेसकट	सन् १४४०-१५१८ (संवत् १४६०-१५७५)	सन् १४६६ (संवत् १५५३) (जौनपुर गमन)
(७) स्मिथ	सन् १४४०-१५१८ (संवत् १४६७-१५७५)	सन् १४८६-१५१७ (संवत् १५४६-१५७४)
(८) भडारकर	सन् १३६८-१५१८ (संवत् १४५५-१५७५)	सन् १४८८-१५१७ (संवत् १५४५-१५७४)
(९) ईश्वरी प्रसाद	ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी	सन् १४८६-१५१७ (संवत् १५४६-१५७४)

इस प्रकार कवीर का जन्म संवत् तेरहवीं शताब्दी के अन्त या चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर संवत् १४८२ के मध्य में होना चाहिए। कवीर की जन्म तिथि के सम्बन्ध में निम्नलिखित मत हैं :—

(१) कवीर चरित्र बोध १४५५ विक्रमी जेठ सुदी पूर्णिमा दिन सोमवार ।

(२) डा० श्याम सुन्दर दास का विश्वास है कि कवीर की जन्म तिथि के सम्बन्ध में कवीर पंथियों में प्रचलित यह दोहा सत्य है ।

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार इक ठाट ठए ।

जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भए ॥

कवीर रामानन्द के शिष्य थे । डॉ० मोहन सिंह, डॉ० राम कुमार वर्मा, डॉ० श्याम सुन्दर दास इस सम्बन्ध में भक्त माल से मत साम्य रखते हैं । रामानन्द का जन्म समय सवत् १३७५ निश्चित किया गया है ।

कवीर की मृत्यु—कवीर का निधन कब हुआ यह भी रहस्य बना हुआ है । धर्मदास के अनुसार उनका महा प्रयाण काल १५६६ भक्तमाल की टीका के अनुसार उनका मृत्यु समय सवत् १५४६ है और जनश्रुति के अनुसार कवीर १५७५ में दिवगत हुए ।

कवीर की रचनाएँ—कवीर के नाम पर निम्नलिखित एकसठ रचनाएँ उपलब्ध हैं :—

- (१) अगाध मंगल ।
- (२) अठपहरा ।
- (३) अनुराग सागर ।
- (४) अमर मूल ।
- (५) अजंनाम कवीर का ।
- (६) अलिफनामा ।
- (७) अक्षर खंड की रमैनी ।
- (८) अक्षर भेद की रमैनी ।
- (९) आरती कवीर कृत ।
- (१०) उग्र गीता ।
- (११) उग्र ज्ञान मूल सिद्धान्त-दश मात्रा ।
- (१२) कवीर और धर्म दास की गोष्ठी ।
- (१३) कवीर की वानी ।
- (१४) कवीर अष्टक ।
- (१५) कवीर गोरख की गोष्ठी ।
- (१६) कवीर की साखी ।
- (१७) कवीर परिचय की साखी ।
- (१८) धर्म काण्ड की रमैनी ।

- (१६) काया पंजी ।
- (२०) चौका पर की रमैनी ।
- (२१) चौतीसा कबीर का ।
- (२२) छप्पय कबीर का ।
- (२३) जन्म बोध ।
- (२४) तीसा जन्त्र ।
- (२५) नाम महात्म की साखी ।
- (२६) निर्भय ज्ञान ।
- (२७) पिय पहचानवे को अग ।
- (२८) पुकार कबीर कृत ।
- (२९) बलख की फ़ैज ।
- (३०) वारामासी ।
- (३१) बीजक ।
- (३२) ब्रह्म निष्पण ।
- (३३) भक्ति का अग ।
- (३४) भाषो षंड चौतीस ।
- (३५) मुहम्मद बोध ।
- (३६) मगल बोध ।
- (३७) रमैनी ।
- (३८) राम रक्षा ।
- (३९) राम सार ।
- (४०) रेखता ।
- (४१) विचार माला ।
- (४२) विवेक सागर ।
- (४३) शब्द अलह टुक ।
- (४४) शब्द राग काफी और राग फगुआ ।
- (४५) शब्द राग गौरी और राग भैरव ।
- (४६) शब्द वंशावली ।
- (४७) शब्दावली ।
- (४८) संत कबीर वंदी छोर ।
- (४९) सतनामा ।
- (५०) मत्संग का अग ।

- (५१) साधो को अंग ।
(५२) सुरति सम्वाद ।
(५३) स्वास गुञ्जार ।
(५४) हिडोरा वा रेखता ।
(५५) हस मुक्तावली ।
(५६) ज्ञान गुदड़ी ।
(५७) ज्ञान चौँतीसी ।
(५८) ज्ञान सरोदय ।
(५९) ज्ञान सागर ।
(६०) ज्ञान सम्बोध ।
(६१) ज्ञान स्तोत्र ।
-

कबीर की भावभूमि

विश्व साहित्य के श्रेष्ठ कवियों में, महाकवियों में प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकारों में, और उत्कृष्ट क्रान्तिकारी धार्मिक एवं सामाजिक नेताओं में, काव्य जगत में नाना प्रकार के अभिनव, प्रतिमान संस्थापकों में, तथा मानव-जीवन के सूक्ष्म पर्यलोचकों में कबीर पंथ के प्रवर्तक, प्रबल आलोचक, प्रकाण्ड दार्शनिक, प्रशिष्ट स्पष्टवादी, तथा युग प्रवर्तक मानव, महामानवकवि महाकवि, और असाधारण जनवादी, विचारक तथा समाज सुधारक कबीर का स्थान विशिष्ट है। कबीर की कविता, रचना, प्रतिपाद्य काव्य की आत्मा अप्रस्तुत योजना, भावपक्ष, कला पक्ष, हृदय पक्ष, मस्तिष्क पक्ष सभी कुण अति यथार्थ, अतिवास्तविक, और अति सुपरिचित प्रतीत होता है। कबीर के काव्य में सहजता, सरलता, स्पष्टता, सुलभता और संवेदनात्मकता सहसा, शिक्षित, अशिक्षित, अर्द्धशिक्षित सभी के हृदय और मस्तिष्क को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। जीवन और जगत को कबीर ने बहुत निकट, बहुत गहराई, बहुत गम्भीरता और बहुत गौर से देखा था। आत्मानुभूति, आत्म चिन्तन, आत्म-मनन के आधार पर प्रस्तुत किये हुए कबीर आत्म कथन इसलिए अति प्रभावशाली, अधिक प्रवाहशाली, अधिक मर्मस्पर्शी और अधिक सजीव हैं। कबीर ने जो कुछ देखा, उसे वाणी के माध्यम से यथातथ्य रूप में व्यक्त कर दिया। और इसीलिए कबीर ने रूढ़िवादी पंडितों, प्रदर्शन प्रिय साहित्यकारों, प्रचारकों और कवियों को चुनौती देते हुए कहा "तू कहता है कागद देखी, मैं कहता हूँ आँखों देखी" स्पष्ट है कि कबीर की कविता रचना, विचारधारा चिन्तन और प्रकाशन का आधार सत्य है, चिरन्तन सत्य है, शाश्वत है। क्योंकि कबीर सत्य को जीवन का आधार मानते हैं कबीर की दृष्टि में "साँच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप। जाके हिरदे साँच है ता हिरदे गुरु आप।"

कबीर ने इसी सत्य को नीव पर जीवन, जगत और साहित्य की जिन भित्तियों का निर्माण किया वे वही ही लोककल्याणकारी, आत्हादकारी और समन्वयकारी हैं। कबीर की कविता का हेतु, प्रयोजन, वर्ण्य विषय अथवा प्रतिपाद्य मानव है। काव्य की भूमिका में उतर कर कबीर ने मानव-जीवन और समाज का चित्रण, विवेचन और विश्लेषण किया है वह बहुत ही विपण्ण है। कबीर के

सम्पूर्ण काव्य का परायण कर जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे आलोचक कवि ने मानव-जीवन को बहुत ही निकट से देखा था। मनुष्य की सामर्थ्य, अभावो, हीनताओ से कबीर भली भाँति परिचित थे। उनके वर्ण्य विषय विश्वास, धैर्य, मे औदार्य, दैन्य, शील, विवेक, सन्तोष विचार जैसी प्रवृत्तियो मानवीय भावो पर सविस्तारविचार प्रकट किए गए हैं। मनुष्य क्या है, वैसा है, उसका वास्तविक रूप कैसा है, इस सम्बन्ध मे कवि ने अपने विचारो को चेतावनी, भेष, कुसंग, माया, मन, कपट, तृष्णा, अहं, लोभ, परनिन्दा, भेदभाव, और असत्य आदि शीर्षको मे व्यक्त किया है। इन विषयो पर अभिव्यक्त भावो और विचारों का अध्ययन और विश्लेषण करने पर प्रतीत होता है कि मानव कितना हीन और अपदस्य है। मानव पच महाविकारो, आशाओ और तृष्णाओ से प्रपीडित है। मानव सुलभ दुर्बलतायें, प्रत्येक मानव को दिग्भ्रान्त किए हुए हैं। इस प्रकार कबीर का सम्पूर्ण काव्य मानवीय प्रवृत्तियो का रोचक लेखा-जोखा है। कबीर की कविता जल-जीवन, मानव-जीवन के घरातल को प्रत्येक स्तर-पर संस्पर्श करती है। चाहे वह सामाजिक वर्ण्य विषय हो अथवा आध्यात्मिक, दार्शनिक हो अथवा रहस्यवाद से सम्बन्धित हो, सभी क्षेत्रो मे कबीर मानव को हीनताओ, क्षुद्रता और निम्न प्रवृत्तियो से ऊपर उठाकर आध्यात्मिकता, सामाजिकता एवं वृहत्तर मानवता के उच्च घरातल पर प्रतिष्ठित और आसीन करने के लिये प्रयत्नशील है। मानवता के इतिहास मे मानव समाज के कितने भी हिमायती उत्पन्न हुए हैं उनमे से कबीर का स्थान बडा उच्च और स्मृहणीय है। इसका कारण यह है कि कबीर ने जिन अनुभवो को हृदयगम किया वे सब यथार्थ और वास्तविक है। इसीलिये कबीर ने दया, विश्वबन्धुत्व और प्रेम की भावना पर विशेष जोर दिया है। कबीर ने मानवतावादी भावो से अनुप्राणित होकर कहा :—

दया दिल में राखिये, तू क्यों निरदयी होय ।

साई के सब जीव है, कीडी कुंजर सोय ।

दया, उदारता और क्षमा के सम्बन्ध मे कबीर ने अनेक युक्तपूर्ण उक्तियो को जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। कबीर ने दान और क्षमा इन दो उदान्त अलौकिक गुणो के सम्बन्ध मे जाने कितनी साखियो की रचना की जिनमे मे दो यहाँ उद्धृत की जाती है।

(१)

दान दिये धन ना घटे, नदी न घटे नीर ।

आपनी आँखों देखिये, यों कीत कहे कबीर ।

(२७)

(२)

जहाँ दया तहाँ धर्म है, जहाँ लोभ तहाँ पाप ।

जहाँ क्रोध तहाँ काल, जहाँ क्षमा तहाँ आप ।

इन पंक्तियों में धर्म का बड़ा उदान्त, व्यापक और जन कल्याणकारी रूप व्यक्त हुआ है । दया कबीर के समस्त दर्शन सिद्धान्तों और उपदेशों का सार तत्व है । कबीर को कविता की भावभूमि की एक झलक उपयुक्त उद्धरणों से प्राप्त होती है । इसी प्रकार के महान विचार, महान सन्देश, और तत्व एव तथ्य पूर्ण कथन कबीर की कविता की विशेषताये है । कबीर की कविता में महान सन्देशों की अभिव्यक्ति हुई है । सभ्यता, संस्कृति वैज्ञानिक प्रगति, सामाजिक मान्यताओं और लौकिक जीवन के मानदण्डों में कितने ही परिवर्तन समुपस्थित हो जाय परन्तु कबीर के सन्देश अनभूतिपूर्ण कथन कभी भी जूठे नहीं पड़ेगे । यह अभिनवता वर्ण्य विषय की यह शाश्वतता इसलिये है कि कबीर की अनुभूति जीवन सत्य और प्रत्यक्ष जगत से ग्रहीत हुई है । कबीर के यह शब्द कभी फीके नहीं पड़ेगे और इनका प्रभाव सीधे मानवीय हृदय पर पड़ता है ।

कबीर की भाव भूमि मानव के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्धित है कबीर समाज के सूक्ष्म पर्यलोचक थे । उनके लिए समाज और धर्म मानव-जीवन के दो अभिन्न पक्ष हैं । समाज, धर्म का आधार लेकर ही फूलता फलता और आगे बढ़ता है, और धर्म समाज का पूरक है । तात्पर्य यह है कि दोनों अन्योन्याश्रित हैं । सत्य, सामाजिक और धार्मिक गुण हैं । विश्वास, धैर्य दया, क्षमा, सन्तोष, दैन्य, शील, विवेक आदि जितने सामाजिक गुण हैं उतने ही धार्मिक । कबीर ने इसीलिए इन पर बड़े विस्तार के साथ विचार प्रगट किया है । सम दृष्टि और समता मानव के लिये बड़े वरदान हैं । और कुसंग मानव क्या वनस्पति व पशु जगत के लिये भी सतत रूप से दुःखप्रद है । जनसुलभ अप्रस्तुत योजना के द्वारा कबीर ने अपने समय के कुसंग से अभिषक्त मानव समाज को सम्बोधित करते हुए कहा—

(१)

केला तवहि न चेतिया, जब ढिंग जागी वेरि ।

अधके चेतै क्या भया, कांटों लीन्हा घेरि ।

(२)

बुद्धि धिहूवा आदमी जाने नहीं गंवार ।

जैसे कपि परवस परयो नाचै घर-घर धार ।

और व्यर्थ ही सतर्क गये रत कठोर हृदय वाले व्यक्तियों को सम्बोधित करते हुए कबीर ने 'संगति भई तो क्या भया, हिरदा भया कठोर । नौ नेजा पानो चढ़ै तऊ न भोजै कोर ।' भेष बाह्याडम्बर, दुविधा, असत्य, अन्तोष जैसे 'दुर्गणो' जो सामाजिकता के लिये अभिशाप है, की कबीर ने कटु निन्दा की । कबीर "जस की तस धरि दीनी चदरिया" में विश्वास करते थे । यह मानव शरीर रूपी चदरिया का उपयोग यत्न पूर्वक ही करना चाहिए और इस चदरिया का यत्न पूर्वक प्रयोग करना ही सबसे बड़ा सामाजिक गुण है । कबीर का काव्य मानव जीवन, मानव समाज और व्यक्ति की प्रत्येक दिशा का स्पर्श करता है । तभी तो आलोचकों ने कहा कि कबीर मानव जीवन के सूक्ष्म पर्यावलोकक थे । वास्तव में कबीर की कविता में मानव जीवन के विविध पक्ष, प्रवृत्तियाँ, भावनाएँ व्यक्त हुई हैं । मनुष्य कैसा है और उसे कैसा होना चाहिये यह कबीर की कविता में बहुत ही स्पष्ट रूप से, बहुत ही सूक्ष्म रूप से चित्रित हुआ है । कबीर मानव के बड़े हिमायती और सवेदनशील थे । उनकी कविता में समाज की असंगतियों मानव जीवन को कुरूपताओं, धर्मगत विषमताओं और चतुर्दिक व्याप्त विडम्बनाओं का व्यापक चित्रण हुआ है । कबीर ने अपने काव्य का विषय इन्हीं के आधार पर चित्रित किया है और इसीलिए मानव जीवन और परिस्थितियों के चित्तरे कबीर का चित्रपट बहुत व्यापक है । इन समस्त असंगतियों के मध्य में कबीर ने समन्वय संस्थापित करने की चेष्टा की । कबीर का समन्वय अद्भुत, अनोखा और अद्वितीय है । यह समन्वय न तो विभिन्न वादों मतमतान्तरों और दर्शनों से संग्रहित विचार धारा के सुन्दर सुमनों का समुच्चय है न वह किसी प्रकार का समझौता है और न किसी यथार्थ से पलायन है । यह समन्वय तत्कालीन परिस्थितियों और विषमताओं से अनुप्राणित होकर संस्थापित किया गया है । युगों से कुलीन और अन्त्यज, हिन्दू और मुसलमान वर्गों और वर्गों के मध्य में विषमताएँ चली आ रही थी । कबीर ने इनके मध्य में समन्वय संस्थापित करने की चेष्टा की । कबीर के समन्वयवाद का मूलाधार परम तत्त्व है । यही परमतत्त्व समस्त मानव समाज का कर्ता है । मनुष्य दर्शनों और वर्गों के भ्रमों में भटकता फिरता है । परन्तु वास्तविकता कुछ दूसरी है ।

जोगी गोरख गोरख करे,

हिन्दू राम नाम उच्चारि ।

मुसलमान कहै एक खुदाई,

अलह राम सति सोई ।

इसी प्रकार साधनात्मक जीवन की विपमताओं की ओर भी कबीर ने समन्वयात्मक दृष्टि से देखा। ब्रह्म के सम्बन्ध में कबीर ने इसी प्रकार जो चित्र अंकित किया वह समन्वयात्मक है।

वो है तैसा वोही जाने, ओही आहि आहिनीही आने।

नैनां बैन अगोचरी, अबनां करनी सार।

बोलन के सुख कारने, कहिये सिरजनहार ॥

समन्वय की भावना से ही प्रेरित होकर कबीर ने कहा कि—

हंसा पय को कढि ले, और नीर निखार।

ऐसे गई जो सार को, सो जन उत्तरे पार।

कबीर की भाव भूमि में दार्शनिकता का प्रखर रंग और प्रभाव परिलक्षित होता है। अद्वैत ब्रत, अनश्वर आत्मा अतिशय नश्वर ससार क्षणिक जीवन ये सब एक एक कर कबीर की कविता में व्यक्त हुए हैं।

कबीर का वर्ण्य विषय सत्य, वास्तविकता और यथार्थ से परिपोषित हैं। उनकी साधनात्मक सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक उक्तियाँ अत्यन्त यथार्थ हैं और उनका आधार प्रस्तुत अथवा प्रत्यक्ष है। दार्शनिक, और आध्यात्मिक का विश्लेषण भी कबीर ने बड़ी रोचक और प्रभावशाली में किया है। उदाहरण के लिए यहाँ पर कतिपय साखियाँ उद्धृत की जाती हैं।

(१)

यह तन काचा कुम्भ है, लिया फिरै या साथि।

डबका लागे फूटि गया, कछू न आया हाथि।

(२)

करतूरी कुंडलि वसे मृग हूँडे वन माहिं।

ऐसे घट घट राम हैं, दुनियाँ देखे नाहिं।

(३)

पानी केरा बुदबुदा अस मानस की जाति,

एक दिन छिप जाहिंगे, तारे ज्युं परिभात।

कबीर की कविता का वर्ण्य विषय स्पष्ट और हृदयग्राही है ज्ञान, विज्ञान जिन बातों का उल्लेख कबीर ने किया है वे बड़ी ही स्पष्ट हैं और स्पष्ट होने के कारण उनका वर्ण्य विषय हमारे हृदय और मस्तिष्क को स्पर्श कर लेने में पूर्ण रूप से सक्षम है। कबीर ने अपने काव्य की रचना जनता के निम्न वर्गों के लिए की थी

और इस वर्ग के लिए कबीर ने जिस अभिव्यंजना माध्यम को चुना वह बड़ा ही सहज है । कतिपय उलट वासियो को छोड़ कर उनका समस्त काव्य बहुत सरल और सहज है । शृंगार नश्वरता, विरह और संयोग जैसे विषयो को कबीर ने बड़ी सरलता के साथ सरल भाषा के माध्यम से जनता के समक्ष उपस्थित किया ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से सुस्पष्ट हो जाता है कि कबीर की कविता की भावभूमि में जनकल्याणकारी और लोक रंजनकारी है । कबीर की कविता में कला पक्ष नगण्य है जो कुछ महत्वपूर्ण है वह हैं कबीर की भाव भूमि, कबीर का भावपक्ष, कबीर का वर्ण्य विषय अथवा कबीर का सदेश । और इसमें सन्देह है कि कबीर अपने भावभंग के साथ पाठक अथवा श्रोता को सफलतापूर्वक बाहर ले जाते हैं । झंझ, मंजीरा अथवा एकतारे पर गाये जाते हुए कबीर के पद हमें आत्म-विभोर कर देते हैं और यही कवि की सफलता है । कवि का सौभाग्य है या कवि का गौरव है ।



कवीर की काव्य कला

सन्त कवीर सन्तमत प्रवक्तकं एवं संस्थापक थे। सन्तमत के अन्तर्गत हृदय उदात्त भावना भक्ति एवं साधना की चरम अभिव्यक्ति हुई है। उसमें हृदय की स्वाभाविक प्रेरणा की झलक विद्यमान है। सन्तमत बहुजन हिताय, स्वच्छन्द एवं नैर्गमिक है। सन्तमत के सम्बन्धित साहित्य में कृतिमत्ता का अभाव है। काव्य की सरलता एवं सहजता ही उसकी विशेषता है। इस साहित्य में सन्तों के महान् व्यक्तित्व, निर्मल हृदय तथा उनकी जनहित की भावना प्रतिबिम्बित होती है। मध्ययुगीन साहित्य की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए डॉ० रवीन्द्रनाथ टैगोर ने लिखा है कि "मध्य युगेर साधक कवीरा हिन्दी भाषाएं जे भाव रसेर ऐश्वर्य विस्तार करियाद्देन ताहर मध्ये असमान्य विशेषत्व आछे। सेई विशेषत्व एइ जे ताहादेर रचनाय उच्च अगरे साधक एवं उच्चे अगेर कवि एकत्र मिलित होइयाद्देन एमन मिलन सर्वत्र दुर्लभ।" (सुन्दर ग्रन्थावली प्राक्कथन-सम्पादक पुरोहित हरिनारायण शर्मा) अर्थात् मध्य युग के साधक एवं कवियों ने जो भाव एवं रस का विस्तार किया है उसमें असामान्य विशेषता अंकित है। वह विशेषता यह है कि उस रचना में उच्च श्रेणी के साधक तथा उच्च श्रेणी के कवि का सम्मिलन है इस प्रकार का सम्मिलन सर्वत्र दुर्लभ है। सन्तमत का काव्य-साहित्य बहुत स्वतन्त्र तथा प्रभावशाली है। सन्तमत के समस्त कवियों में कवि कवीर सबसे अधिक प्रतिभाशाली एवं मौलिक थे। मौलिकता तथा प्रतिभा में तो कवीर हिन्दी साहित्य के सूर्य एवं चन्द्र, सूरदास तथा तुलसीदास से कहीं अधिक बड़े हुए धनी हैं। कवीर जिस कुल में उत्पन्न हुए या कवीर का जिस कुल में पालन-पोषण हुआ वहाँ न कोई सांस्कृतिक परम्परा विद्यमान थी न अध्ययन का वातावरण था न वेदशास्त्र की चर्चा। कवीर ने स्वयं कहा है कि "मसि कागद छूयां नही कलम गद्यो नहि हाय" ऐसे वातावरण में उद्भूत होकर, परिपालित होकर कवीर धर्म सुधार, समाज परिष्कार तथा काव्य रचना के क्षेत्र में अवतरित होकर, अपनी मृत्यु के अनन्तर ५०० वर्षों तक चर्चा मनन, अध्ययन, आलोचना और अनुसन्धान के विषय बने रहे यह कवीर की अतिशय प्रतिभा तथा मौलिकता का परिचायक है। कवीर ने काव्य रचना का व्रत नहीं लिया था, न कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके उन्होंने कहीं पर कुछ लिखा है। फिर भी पाँच सौ वर्षों से कवि या महाकवि के रूप में अध्ययन के विषय बने हैं। कवीर को, रीति

कालीन कवियों की भाँति पिंगल और अलंकारों का ज्ञान नहीं था न इनके आधार पर उन्होंने काव्य रचना ही की तथापि उनमें काव्यानुभूति इतनी प्रबल एवं उत्कृष्ट थी कि वे सरलता के साथ महाकवि कहलाने के अधिकारी हैं। सत्य यह है कि कविता में छन्द, अलंकार, शब्दशक्ति आदि गौण हैं, और सन्देश प्रधान है। यही सन्देश कबीर की कविता की विशेषता है। कबीर की कविता में महान् सन्देशों की अभिव्यक्ति हुई है। सम्यक्ता और संस्कृति चाहे कितनी ही विकसित हो जाय पर कबीर के ये सन्देश कभी न फीके पड़ेगे न समय की गति में पुराने (या आउट ऑफ डेट) पड़ेगे। इन सन्देशों में आनेवाली पीढ़ियों के लिये प्रेरणा, पथ प्रदर्शन तथा संवेदना की भावना सन्निहित है। महाकवि का यही दायित्व है कि वह अपनी सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा आने वाली पीढ़ियों को भावी मनोवृत्ति का आसानी के साथ अनुमान लगा ले और तदनुकूल साहित्य की रचना करे। कबीर में यह शक्ति विद्यमान थी। अलंकारों से सुसज्जित न होते हुए भी कबीर के सन्देश काव्य-मय हैं। सच यह है कि काव्य की मर्यादा जीवन की भावात्मक एवं कल्याणात्मक विवेचना में है, पिंगल में नहीं। इस दृष्टि से कबीर एक अत्यधिक सफल कवि हैं। कबीर भावना की अनुभूति से मुक्त, उत्कृष्ट रहस्यवादी, जीवन का संवेदनशील सस्पर्श करने वाले और मर्यादा के रक्षक कवि थे। कबीर की काव्य कला का मूल्यांकन परम्परागत पिटी-पिटार्ई रस, छन्द, अलंकार की कसौटी पर नहीं होना चाहिए। उन्होंने स्वतः कहा है "तुम जिन जानो गीत है, यह निज ब्रह्म विचार 'तथा' कवि कवी ने कविता मुये। उनकी कविता का लक्ष्य मानव है। पथ-भ्रष्ट, मार्ग-विभ्रान्त जनता तथा समाज को उचित मार्ग पर लाना ही कबीर के काव्य का हेतु है। संक्षेप में उनकी काव्य धारा का धरातल मानव है। वह मानव की पूरी पूरी विवेचना हमारे समक्ष प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं। कवि के रूप में कबीर जीवन के अत्यन्त निकट हैं। उनके काव्य में रीतिकालीन आचार्यों जैसी कलावाजी तो नहीं है पर निश्चय ही उनकी कला उनकी स्पष्टवादिता तथा स्वाभाविकता में है। स्वाभाविकता कबीर के काव्य की सबसे बड़ी शोभा और कला की सबसे बड़ी विशेषता है। कबीर के काव्य का आधार स्वानुभूति या यथार्थ है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि "मैं कहता हूँ आंखिन देखी ? तू कहता है कागद की लेखी।" कबीर अत्यधिक प्रगतिशील कवि थे। कवि, चिन्तक, दार्शनिक, समाज सुधारक, धर्म सुधारक तथा रहस्यवादी के रूप में वे अपने समय से बहुत आगे और सक्रिय थे। क्षमता, विद्रोह, विश्व-वन्द्यत्व की भावना ने हमारे कवि को बड़ा उदार और जनप्रिय बना दिया था। सारांश यह कि कबीर जन्म से विद्रोही, प्रवृत्ति से समाज-सुधारक कारणों से प्रेरित होकर धर्म-सुधारक, प्रगतिशील दार्शनिक और आवश्यकतानुसार कवि थे। मरत

जीवन, सत्यता एवं स्पष्ट व्यवहार उनके अन्तरंग एवं बहिरंग का सार तत्व था । उनके व्यक्तित्व का पूरा-पूरा प्रतिबिम्ब उनके साहित्य में विद्यमान है । कवीर की सूक्तियाँ आज भी जनता में वारम्बार उद्धृत होती हैं, उनकी पदावली का प्रसार आज भी आकाशवाणी के द्वारा होता है । यह सब इस बात का द्योतक है कि कवीर के काव्य में कुछ ऐसी विशेषता एवं गुण हैं जिनकी समानता हिन्दी का कोई अन्य कवि नहीं कर पाता है । उनमें ऐसा अनूठापन है जिसके कारण वे किसी एक श्रेणी विशेष के कवियों में परिगणित नहीं होते । उनमें कुछ ऐसा आकर्षण है जो हृदय को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है ।

कवीर की कविता प्रतिपाद्य मानव है । काव्य की भूमिका में उतर कर कवीर ने मानव की खूबियों और खामियों का सूक्ष्म पर्यालोचन किया है । अपने युग में और आज भी कवीर एकता के प्रतीक और अनाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार के शत्रु माने जाते हैं । कवीर का प्रतिपाद्य स्थूल रूप से दो भागों में विभाजनीय है । इनमें से प्रथम है रचनात्मक तथा द्वितीय आलोचनात्मक है । रचनात्मक विषयों के अन्तर्गत हमारे आलोच्य कवि ने सतगुरु नाम, विश्वास, धैर्य, दया, विचार, औदार्य, क्षमा, संतोष, दैन्य, भक्ति, मुक्ति, ज्ञान, वैराग्य, शील, विवेक, विचार, जैसे अनेक विषयों पर अपने विचारों को क्रियात्मक शैली में व्यक्त किया है । यहाँ उनकी खण्डनात्मक प्रतिभा या विशेषता के दर्शन नहीं होते हैं । अपने काव्य में उन्होंने इन विषयों की महत्ता पर ही प्रकाश डाला है और प्रेम, विश्वास एवं भक्ति के उच्चादर्शों के प्रचार एवं प्रसार के लिए प्रयत्न किया है । इन विषयों के प्रतिपादन में जीवन को उदात्त भावों की ओर ले जाने का संकेत है । ये प्रसंग उनके काव्य की उच्च भूमिका हैं । यहाँ मानव की हीनताओं का दिग्दर्शन नहीं कराया गया है । अब प्रतिपाद्य के दूसरे पक्ष पर आइए । यहाँ कवि कवीर की आलोचनात्मक प्रतिभा का व्यापक प्रदर्शन हुआ है । यहाँ कवि के अतिरिक्त वे आलोचक, सुधारक, पथ-प्रदर्शक और समन्वयकर्त्ता के रूप में भी दृष्टिगत हुए हैं । इस पक्ष में विशेष परिगणनीय विषय है चेतान्वी, मेघ, कुसुम, माया, मन, कपट, कनक-कामिनी, आशा, तृष्णा, अहं, लोभ, परनिन्दा, भेदभाव, जातिवर्णदि । इन प्रसंगों का अध्ययन करते ही आभासित हो जाता है कि मानव कितना हीन प्राणी है । वह काम-क्रोध मद, लोभ, अहंकार से प्रदीडित है । आशा एवं तृष्णा जीवन के लिए बड़े अभिशाप हैं । ये नित्य मानव को दिग्भ्रान्त किये रहते हैं । कवीर के काव्य का यह पक्ष यह स्थापित करता है कि मानव बड़ा हीन है । सन्तकाव्य में इन्हीं विषयों को लेकर कवियों ने अपने विचारों

को प्रकट किया। देखने में विषय लघु है पर ये मानव जीवन का व्यापक रूप से स्पर्श करते हैं।

कवि कबीर की अभिव्यंजना शैली बड़ी शक्तिशाली, समर्थ और प्रभावशाली, है। प्रतिपाद्य के एक-एक अंग को लेकर अशिक्षित, निरक्षर, संस्कारविहीन, पर परम्पराओं के प्रभाव से विहीन इस कवि ने सैकड़ों साखियों की रचना की है। आश्चर्य की बात यह है कि प्रत्येक साखी में अभिनवता है, यद्यपि प्रतिपाद्य वही है।

साखियों में समान रूप से विद्यमान है। रमणीयता और अभिनवता जो काव्य की परिभाषा के अंग है कबीर के काव्य में सर्वत्र विद्यमान है। कबीर ने ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, योग, हठयोग, जैसे दुरुह्तम विषयों को अपनी अभिव्यंजना शैली के माध्यम से बड़े सुबोध एवं सरल रूप में व्यक्त कर दिया है। माया, आशा, तृष्णा आदि विषयों का बड़े रोचक ढंग से रहस्योद्घाटन किया है। चैतावनी को अग "अध्ययन करते जीवन और मृत्यु, सृष्टि और विनाश, ब्रह्म और जीव जैसे विषयों को कबीर ने अपनी अभिव्यंजना शैली के द्वारा इतना सुबोध बना दिया है कि शिक्षित और अशिक्षित समान रूप से उनके उपदेश और संकेतों को ग्रहण कर सकता है। लगभग ५०० वर्षों से जो कवि निम्न और अशिक्षित वर्ग का पथ प्रदर्शक और धर्म सुधारक माना जाता था आज उच्चतम उपाधियों के लिए अनुसंधान का रहस्य बना हुआ है। कबीर की अभिव्यंजना शक्ति की विशेषताएँ हैं सरलता, सुबोधता, सहजता, अभिनवता और प्रभावित करने की अद्वितीय शक्ति उनकी वाणियों में साहित्यिक अभिव्यक्ति हुई है। उदाहरणार्थ कतिपय साखियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं —

(१)

बुरा जो देखन मैं चला जग में बुरा न कोय ।
जो दिल खोजा आपना मुझ सा बुरा न कोय ॥

(२)

चुन चुन चिड़िया महल बनाया लोग कहें घर मेरा है ।
न घर मेरा न घर तेरा चिड़िया रैन बसेरा है ॥

(३)

देखन के सबको भले जिसे सीत के कोट ।
रवि के बदे न दीसही, बँधे न जल की पोट ॥

तन सराय मन पाहरू मनसा डतरी आय ।

कोउ काहू का है नही, देखा ठोंकि बजाय ॥

इन साखियों में अभिव्यक्ति सत्य सबको प्रभावित करता है । कवीर को 'हाड जरै ज्यो लाकडी, केस जरै ज्यो घास,' 'पानी फेरा बुलबुला जस मानुष को जाति । 'तथा' यह तन काचा कुंभ है लिये फिरै था साथ । 'टयका लागा फूटिया, कछु नहि आया हाथ 'आदि साखियों में अभिव्यंजना शक्ति विशेष रूप से प्रभाव-शाली है कि उनमें सत्य की अभिव्यक्ति हुई है । उपनिषदों की दुर्लभ उक्तियों को कवीर ने बड़ी सरलतम भाषा में व्यक्त किया है ।—

पानी ही थे हिम भया हिम ह्वे गया विलाय,

जो कुछ था सोई भया अब कछु कहा न जाय ॥

तथा

हेरत हेरत हे सखी रहा कवीर हेराय ।

बूँद समान समुद्र में सोकत हेरा जाय ॥

ये तत्व और रहस्य की अभिव्यक्ति हुई है । निम्नलिखित दो साखियों में कवीर का अभिव्यंजना कौशल दर्शनीय है :—

पिय का मारग सुगम है तेरा भजन अवेड़ा ।

नाच न जानै वापुरी कहँ आगना टेढ़ा ॥

तथा

पिय का मारग कठिन है खाँडा हो जैसा ।

नाचत निकसी वापुरी फिर घूँघट कैसा ॥

किंचित शब्दों के हेर-फेर से साखियों के प्रतिपाद्य में कितना अन्तर पड़ गया है । कवीर प्रमुख रूप से अनाचारों के विरुद्ध आवाज उठाने वाले दार्शनिक कवि थे । उनकी अभिव्यंजना शैली की शक्तिमत्ता "चेतावनो" प्रसंग में दृष्टिगत होती है । दो एक उद्धरणों से कथन स्पष्ट हो जायगा —

आछे दिन पाछे पाछे गए, गुरुसे कित्त न हेत ।

अब पछताया क्या करे जब चिड़िया चुग गई खेत ॥

तथा

मनुष जन्म दुर्लभ अहँ होय न वारन्वार ॥

तरवर से पत्ता भरे, घटुरि न लागै डार ॥

सारांश यह कि कवि कवीर ने अभिव्यंजना शक्ति उनके व्यतिरेक के अनु-कूल तथा अनुपम है । जिस प्रकार उसको दृष्टि में तीक्ष्णता तथा तीव्रता थी उन्नी

प्रकार से उनकी अभिव्यञ्जना प्रतिभा भी प्रखर थी। अन्य सन्तों की वानियों में कबीर की रचनाएँ मिलाकर रख दीजिए परन्तु विशिष्टता के कारण वे कबीर की रचनाएँ कहलाकर रहेगी। निम्नलिखित साखी से उनके व्यक्तित्व की किञ्चित् थाह और अभिव्यञ्जना शक्ति का लेश परिचय मिल जायगा।

खुली खेलो संसार में, बाँधि न सकै कोय ।

घाट जगाती क्या करे, सिर पर पोठ न होय ॥

यहाँ पर जिस पोठ की ओर कबीर का संकेत है वह दुष्कर्म की पोठ है और खुली खेलो से तात्पर्य है सच्चाई या ईमानदारी का व्यवहार। कबीर ने उपनिषदों की परम्परा से ब्रह्म का वर्णन बड़ी सरल शैली में किया है—

जाके मुँह माथा ही नहीं रूपक रूप ।

पुहुपवास से पतला ऐसा तत अनूप ॥

जाति पाँति की निन्दा करते हुए बड़े संक्षेप में कबीर ने तत्व की बात कह दी है —

एक वूँद एकै मलमूतर, एक चाँम एक गूदा ।

एक जाँति थे सब उतपना कौन बाह्मन कान सुदा ॥

तथा

एकै पवन एक ही पानी एक जोति संसारा ।

एक ही खाक घड़े सब भाँड, एक ही सिरजन हारा ॥

ब्रह्म, जीव, माया आदि के रहस्यों को भी कबीर ने प्रभावशाली एवं स्पष्ट शैली में व्यक्त कर दिया है। कबीर की अभिव्यञ्जना शक्ति बेजोड़ थी।

कबीर के काव्य में बुद्धि तत्व की प्रधानता है। पाश्चात्य काव्य शास्त्रियों के अनुसार काव्य के लिए बौद्धिकता या बुद्धि-तत्व आवश्यक है। जिस रचना में बुद्धि तत्व विद्यमान माना जाता है वह रचना शायी महत्व को प्राप्त करती है। ऊपर कहा जा चुका है कि कबीर के काव्य में इस तत्व की प्रधानता है। कबीर का बुद्धि तत्व सरस तथा रोचक है उसमें शुष्कता या नीरसता का स्पर्श नहीं होने पाया। निश्चय ही आत्मा, परमात्मा, जीव, जगत आदि नीरस विषय हैं परन्तु कबीर ने इन बौद्धिक समस्याओं का समाधान करने के लिए सरल भाषा, भावमयी अनुभूतियों तथा मधुर कल्पनादि का सहारा लिया है। बात यह है कि कबीर अपने प्रतिपाद्य को जनता के उस स्तर के लिए प्रस्तुत करने जा रहे थे जो निरक्षर या, अशिक्षित

था। ऐसे वर्ग के लिए बौद्धिक समस्याओं को रोचक एवं सरल ढंग से प्रस्तुत करना ही उचित था। कबीर ने यही किया। उग्रयुक्त समस्याओं तथा विषयों को लेकर कबीर ने अनेकानेक ऐसे पदों की रचना की है जो अपनी मौलिकता को खोये बिना रोचकता के रंग में अनुरंजित हैं। बुद्धितत्व प्रधान होते हुए भी कबीर वादों के पीछे नहीं लगे। केशवदास के समान न उन्होंने अपने को भक्त कवि प्रमाणित करने के लिए विज्ञान गीता की रचना को न देव के समान भक्ति के रग-पुंहु में पगडो रगने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। उनकी दार्शनिक तत्व विवेचना में हृदय का योग है। सत्य यह है कि कबीर की तुलना में इतनी सरसता, सरलता तथा भावपूर्ण शैली में दार्शनिक एवं आध्यात्मिक तत्वों की विवेचना और अभिव्यक्ति और कोई कवि कर ही नहीं सका। कबीर ने बुद्धि की तकभूण कसौटी पर भावना को कसा। प्राचीन परम्पराओं, बहुदेवोपासना, मूर्ति पूजा, जप, तप, तिलक, माला आदि की उपयोगिता पर कबीर ने तकभूण शैली में विचार किया। कबीर की निम्न-लिखित सखियों पर ध्यान दीजिए—

(१)

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी ।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तत कथा गियानी ॥

(२)

हेरत हेरत हे सखी रहा कबीर हेराइ ।
समुन्द समाना वूँद में सो कत हेरा जाइ ॥

(३)

भल उठी भोली जली, खपरा फूटिम फूति ।
जोगी था सो रमि गया आसणि रही विभूति ॥

(४)

जल भर कुम्भ जलै विच परिया बाहर भीतर सोई ।
तको नाम कहन को नाहीं दूजा भोखा होई ॥

(५)

पंच तत्व का पुतरा जगति, रची में कीव ।
में तोहि पूछो पंडिता, शब्द बड़ा की जीव ॥

कबीर के काव्य में बौद्धिक तत्व किन कोटि का है इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जायगा। स्मरण रखना चाहिए इस नाहित्य की रचना निम्न वर्गों के लिए हुई थी जो साहित्यकारों की संवेदना की परिधि से सर्वद्व ही वंचित रहे हैं। ऐसे ही व्यक्तियों से कबीर कहते हैं कि :—

मूँड़ मुँडाए हरि मिलै तो कौन न लेय मुड़ाय ।

बार बार के मूड़ते भेड़ न बैकुण्ठ जाय ॥

बुद्धितत्व के सम्बन्ध में दो उद्धरण देकर दूसरे प्रसंग में कबीर के काव्य पर विचार करेंगे :—

(१)

हरती चढ़िए ज्ञान को, सहज दुलीचा डारि ।

स्वान रूप संसार है भूकन दे भक मारि ॥

(२)

पाणी केरा पृतला राखा पवन संवारि ।

नांनां वाणी बोलिया, ज्योति घरी करतारि ॥

बुद्धितत्व के समान कबीर के काव्य में भावना-तत्व की भी प्रचुरता है । यदि कबीर कोरे बुद्धिवादी होते तो उनकी रचनाओं में भावना पक्ष का अभाव होता । कबीर के काव्य में जो रसात्मकता है उसका प्रमुख कारण भावना-तत्व का विद्यमान होना है । शृंगार रस की जो निर्मल धारा कबीर में उपलब्ध होती है वह भी प्रस्तुत कथन की पुष्टि करती है । कबीर की रचनाओं में उपलब्ध यह शृंगार रस और भावना तत्व मानव को वासना के पाप पंक से निकाल कर निर्मलता के सच्चे रूप के दर्शन कराने में सहायक है । इस भावना में सत्य की अनुभूति और ज्ञान की गम्भीरता समन्वित है । उदाहरणार्थ यहाँ कतिपय साखियाँ उद्धृत की जाती हैं । इनमें भावनातत्व की गम्भीरता देखिए :—

(१)

नैनो की कोठरी पुतरी पलंग बिछाय ।

पलकों की चिक डारि कै पिय को लिया रिभाय ॥

(२)

प्रीतम को पतियाँ लिखूँ, जो कहूँ होय विदेस ।

तन में, मन में, नैन में, ताको कहाँ संदेस ॥

(३)

प्रीति जो लागी घुल गई, पैठि गई मन माँहि ।

रोम रोम पिड पिड करै मुख की सरधा नाहिं ॥

(४)

प्रेम छिपाया ना छिपै जा घट परगट होय ।

जो पै मुख बोलै नहीं तो नैन देत हैं रोय ॥

कवीर की साखियाँ, पदो एवं अन्य रचनाओं से ऐसी ही न जाने कितनी पंक्तियाँ निकाली जा सकती हैं जो भावना-तत्त्व से ओत-प्रोत हैं। दुलठिन गावहू मगल चार 'इसी कोटि का पद है। सत्रकी आलोचना करने वाला, सत्रको डाट फटकार कर दोष निर्दशन करने वाला कवीर, फक्कड, अक्खड़, मस्त कवीर इतना रससिक्त होगा, यह आश्चर्य की बात प्रतीत होती है। इतनी बाह्य कठोरता के बावजूद भी कवीर अन्तस बड़ा कोमल था इसलिए वह कहता है :—

(१)

सन घट रमता सांझ्या सुनी सेज न कोय ॥

(२)

लागी लगन छूटै नहीं जीभ चोंच जरि जाय ।
मीठा कहा अंगार में जाहि चकोर चवाय ॥

(३)

कहै कवीर मुख कहा न जाई, ना कागद पर अंक चढ़ाई ।
मानो मुंगेसम गुड़ खाई, कैसे बचन उचारा हो ॥

संगीत मे राग का जो महत्व और उपयोगिता होती है वही काव्य जगत के अन्तर्गत कल्पना का स्थान है। शब्द जगत मे राग जिस दायित्व की पूर्ति करता है। उसी दायित्व को भाव जगत मे कल्पना का उद्भव, विधान एवं विकास होता है। कल्पना-शक्ति एवं प्रकार का सौन्दर्य-बोधात्मक एव चेतनता से सम्पन्न व्यापार है। कल्पना काव्य सौन्दर्य के विकास मे विशेष सहायक होनी है। कवि के सौन्दर्य त्रय को शक्ति देने का बहुत कुछ श्रेय इसी कल्पना को है। कल्पना के समागत से कविता रुचिर मनोव्रेगो के हेतु रमणीयता का सर्जन करती है। कल्पना का क्षेत्र व्यापक, व्यापार अद्भुत तथा कार्य महत्वपूर्ण है। संस्कृत के आचार्यों ने कल्पना के स्थान पर शक्ति का प्रतिभा की स्थितप्रतिपादन किया है। आचार्य मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' मे शक्ति को विशेष सहायको के फलस्वरूप कविता बीज रूप नमुद्रपन्न माना है। उनका कथन है 'शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कार विशेष कश्चित् अर्थात् काव्य निर्माण के मूल-मे प्रतिभा या शक्ति ही हैं तथा यह एक संस्कार विशेष है जो केवल कवि में ही उत्पन्न लब्ध होता है। कवीर की कविता मे कल्पना या कवित्व या प्रतिभा के दर्शन स्पष्ट होते हैं। व्यर्थ की कल्पनाओं के पीछे दौड़ना कवीर का लक्ष्य नहीं था। कवीर ने अपने काव्य मे केवल उन्हीं विषयों को लिया है जिनकी कल्पना रसानुभूति मे बाधक न सिद्ध हो। इसलिए यह सत्यता और विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि कवीर के साहित्य मे कल्पना का स्वाभाविक विराग सिद्ध है। कवीर ही नहीं हिन्दी के अन्य अनेक कवि भी कल्पना के घनी थे। इनकी कल्पनाएँ मस्तिष्क का

उद्भावना है। उनकी कल्पनाशक्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें व्यावहारिकता तथा कलात्मकता का सुन्दर समन्वय है। सन्तो ने भाव या वर्ण्य विषय को ही काव्य की आत्मा या सब कुछ मानकर ब्राह्म्यावरण एवं कलात्मक उपकरणों को जुटाने का प्रयास नहीं किया है। अन्होंने भावों को अभिव्यक्ति के लिए जिन-जिन उपकरणों को स्वीकार किया है वे सब अत्यन्त स्वाभाविक एवं सहज हैं। कबीर एवं अन्य सन्तो ने कल्पना को काव्य में इस लिए स्थान दिया कि उनका वर्ण्यविषय अधिकाधिक प्रभावशाली, स्पष्ट तथा चमत्कारपूर्ण बन सके। अब यहाँ पर कबीर की कविता से कल्पना के सम्बन्ध में कुछ उद्धरण देंगे :—

(१)

गुरु तुम्हारा शिष कुम्भ है गढ़ि-गढ़ि काढै खोट ।
अन्तर हाथ सहार दे बाहर बाहै चोट ॥

(२)

मन ताजी चेतन चढ़ै लहौकी करै लगाम ।
सबद गुरु का ताजना कोई पहुँचे साधु सुजान ॥

(३)

हरिहै खांड रेत महि विखरी हाथी चुनि ना जाय ।
कहि कबीर गुरु भली बुझाई कीटी होई के खाय ॥

(४)

हाड़ जरै ज्यों लाकड़ी केस जरै ज्यों घास ।
सबका जरता देखिकर भये कबीर उदास ॥

(५)

पिया ऊँची रे अटरिया तोरी देखन चली ।
ऊँची अटरिया जरदकिनरिया, लागी नाम की डोरी ।
चाँद सुरज सम दियना वरतु है ता विचु भूल डगरिया ।
आठ मर्रातिव दस दरवाजा नौ में लागी क्वरिया ।
खिरकी बैठ गोरी चितवन लागी, उपरा भाँप भोपरिया ॥

इन पाँच उद्धरणों की तरह पंक्तियों में कबीर की कल्पनाशक्ति, उस कल्पनाशक्ति को विविधता और शक्तिमत्ता सरलता के साथ मूल्यांकन किया जा सकता है। सतगुरु को अंग, माया को अंग, चेनावनी को अंग आदि प्रसंगों में कवि की कल्पनाशक्ति का वैभव दर्शनीय है। शब्द, साखी और पदों में समान रूप से कबीर की

कल्पना शक्ति बिलरी पढी हुई है । उसे 'कीटी होइ कै' खाना और खोजना पड़ेगा । कबीर की कल्पना का उत्कर्ष उन पत्तियों में विशेष रुचिकर है जहाँ वे संसार का वर्णन करते हैं ।

सुगवा पिंजरवा छोरि कर भागा ॥

इस पिंजरे में दस दरवाजा, दसौ दरवाजौ किवरवा लागा ।

अखियन सेती नीर बहन लाग्यौ

अब कस नाही तुं बोलत अभागा ।

कहत कबीर सुना भाई साधो, उड़िगे हंस टूटि गया तागा ।

तथा

कौन ठगवा नगरिया लूटल हो^१

सतगुरु है रंगरेज चुनरि मोरी रंग डारी^२

ह सा करो नाम नौकरी^३

आई गवनवां की सारी,^४

उमिरि अबहि मोरी घोरी^५

आदि कल्पना के पारखी द्वार विशेष रूप से पठनीय है । इन कबीर की कल्पना शक्ति की विविधता और स्पष्टता दिखाई पड़ती है । कबीर ने कल्पना के चुनाव में औचित्य पर भी ध्यान दिया है यह उनकी मनोवैज्ञानिकता का परिचायक है । किसी वस्तु या व्यापार का वर्णन या कल्पना करते समय प्रत्यक्ष एवं कल्पित के साथ उसके साम्य तथा सम्बन्ध को ध्यान में रखना नितान्त आवश्यक है । प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के साम्य पर ही कल्पना का औचित्य निर्भर माना जाता है । कबीर तथा अन्य सन्तों ने इस बात पर विशेष ध्यान दिया है । वे न हवाई किलो के निर्माण में विश्वास करते थे, न फालतू वानों का प्रतिपादन ही करते थे । निम्नलिखित उद्धरणों से इस कथन की पुष्टि होगी ।—

(१)

बडा हुआ तो क्या हुआ जैसे पेड़ खजूर ।

पंथी को छाया नहीं फल लागे अति दूर ॥

१—सतवानो मंत्रह भाग २ पृ० ४ ।

२—वही पृ० २ ।

३—वही पृ० ३ ।

४—वही

५—वही

(४२)

(२)

सौना सज्जन साधु जन, टूटि जरै सौ बार ।
दुर्जन कुम्भ कुंमार का एकै धका दरार ॥

(३)

मूरख से क्या बोलिये सठ से कहाँ बसाय ।
पाहन में क्या मारिये चोखा ती र नसाय ॥

(४)

लिखा लिखी की है नहीं देखा देखि की बात ।

दुल्हा दुलहन मिलि गये फीकी पड़ी बरात ॥

इन साखियो मे कल्पना औचित्यपूर्ण प्रतीत होती है ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भाव समन्वित कल्पना को सच्ची कवि कल्पना माना है । सच्ची कल्पना वही है जो अन्तस के शुद्ध भावो को जाग्रत कर दे तथा तत्सम्बन्धित भावी को पूर्णतया व्यंजित कर दे । सन्तो की कल्पना अनुभूति और भावुकता के आधार पर सृजित है, इसलिए वह प्रभावित करने की शक्ति और भाव-व्यंजकता से सम्पन्न है । उनकी कल्पना और वर्ण्य विषय जन जीवन से ग्रहण किए गए हैं । इसीलिए उनमे भाव व्यंजकता है । कवीर की भाव व्यंजकतापूर्ण कल्पना के कतिपय उदाहरण यहा दिये जाते हैं ।

(१)

माली आवत देखकर कलियन करी पुकार ।
फूलेर फूले चुन लिए काल्ह हमारी बार ॥

(२)

पानी केरा बुदबुहबुदा अस मानुस की जात ।
देखत ही छिप जायगा ज्यों तारा परभात ॥
साहिव तुमहि दयाल हौ, तुम लगि मेरी दोर ।
जैसे काग जहाज को, सूभे और न ठौर ॥

इन साखियो मे नश्वरता तथा आत्म समर्पण का भाव व्यंजित हो उठता है । यही है कवि की कल्पना की सफलता । कवीर की कल्पना शिक्षित अशिक्षित को प्रभावित करने मे समर्थ है ।

मानव के हृदय एवं मस्तिष्क मे ऐसी अनेक बातें जन्म ग्रहण करती रहती है । जिनकी अभिव्यक्ति वह सामान्यतया व्यवहृत भाषा के माध्यम से नहीं कर सकता है । ऐसी हृदयानुभूति विम्बो या संकेतो द्वारा भी नहीं अभिव्यक्त हो सकती है । इसी-

लिए सूक्ष्म एवं अदृष्ट स्पष्ट भावों की अभिव्यक्ति के लिए मानव ने प्रतीकों की कल्पना की और उन्हें जन्म दिया। विद्वानों का कथन है कि मानव सभ्यता के विकास में प्रतीकों का उतना ही योग है जितना हमारे जीवन के विकास में वायु या प्रकाश का। प्रतीकों का जन्म उद्भव या विकास यथार्थ वस्तुओं के आधार पर होता है। काल्पनिक वस्तुएं या वे वस्तुएं जो निराकार हैं, उन्हें प्रतीकों के माध्यम से नहीं व्यक्त किया जा सकता है और यदि वे मानव की विकसित चिंतन शक्ति के आधार पर व्यक्त भी कर डाली गईं तो सत्य से दूर, यथार्थ से परे और प्रभावित करने की शक्ति से विहीन होंगी। प्रतीकों का जन्म जगत तथा जीवन की अर्थ भूमि से होता है। जीवन के साहचर्य से प्रतीकों के अर्थ और प्रतीक का महत्व बढ़ता है। माननीय अनुभवों से निकट रहकर प्रतीकों में सजीवता, अर्थ व्यक्तित्व की स्थापना होती है।

यथार्थ रूप से समक्ष विद्यमान रहने वाले पदार्थों के अतिरिक्त प्रत्यक्ष जगत में विद्यमान रहने वाले अनेक पदार्थ हैं, जो इन्द्रियगत नहीं होते हैं फिर भी उनकी कल्पना तर्क विश्वास, एवं अनुमान द्वारा कर ली जाती है। आत्मा और परमात्मा ऐसे ही विषय हैं। इनके अगोचर होने के कारण विभिन्न मतवादियों में भाँति-भाँति की धारणाएँ प्रचलित हैं। ब्रह्मविद्या के विशेषज्ञ आत्मा को परमात्मा का अंश मानते हैं पर मनोविज्ञान स्वयं परमात्मा का आत्मा की सत्ता पर सिद्ध करना चाहता है। इनका वर्णन करना हमारी भाषा और सामर्थ्य के बाहर है। सन्तों के इन अकथनीय विषयों को काल्पनिक प्रतीकों के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। प्रतीक केवल साहित्य की ही शक्ति नहीं होते हैं, वरन् वे जातीय एवं सांस्कृतिक अनुभव की शक्ति हैं। हर पीढ़ी आवश्यकतावश नये प्रतीकों को गढ़ लेती है और प्राचीन प्रतीकों को नये अर्थ और दृष्टि से देखती है। प्रतीक अपने व्यक्तित्व में अनेक प्रकार के रहस्यों को समाहित रखता है। उसका कर्तव्य है उन रहस्यों को मधुर ढंग से व्यक्त कर देना। प्रतीक भावुकता तथा अनेक प्रकार के ज्ञान के सार तत्व है। प्रतीक रहस्य नहीं है न रहस्य प्रतीक बन सकते हैं फिर भी दोनों में अविच्छिन्न सम्बन्ध नहीं है। प्रतीकों के माध्यम से निरपेक्ष सत्य की प्राप्ति को रहस्यवाद मानना चाहिए। रहस्यवाद प्रत्यक्ष जीवन की अन्तमूर्त चेतना को प्राप्त करना चाहता है और प्रतीक उसका आभास मात्र देने का प्रयत्न करता है। प्रतीक प्रणाली बड़ी प्राचीन है। दार्शनिक विचारों की व्यञ्जना के लिए वैदिक ऋषियों ने भी प्रतीकों को माध्यम बनाया था। ऋषियों ने उपनिषदों में ब्रह्म का वर्णन, सूर्य, चन्द्रादि प्रतीकों के माध्यम से किया था। मुण्डकोपनिषद् में भी एक स्थान पर प्रतीकों के माध्यम से विचार स्पष्ट करते हुए कहा गया है 'ह्यामुपस्था सृष्ट्या सत्तया स्मनिवक्ष्य परिस्वजाते' एतौ परम्परा में सन्तों ने भी प्रतीकों के माध्यम से अपनी रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति

की है। संत साहित्य में दाम्पत्य एवं वात्सल्य प्रतीको का प्रचुर प्रयोग हुआ है। कभी-कभी प्रतीकात्मक पदों का अर्थ स्पष्ट करने के लिए संतो ने पंडित, पण्ड, मुल्ले और मौलवियों तक को चुनौती दे डाली है। कबीर का तो विश्वास है कि जो उनके प्रतीको को नहीं समझता है उससे वार्तालाप करने से कोई लाभ ही नहीं है :—

जो कोई समझे सैन में, तासे कहिये बैन ।

सैन बैन समझे नहीं, तासे कहुनहि कहन ॥

सन्तबानी संग्रह भाग १, पृष्ठ ४३।१३०)

कबीर की कविता में प्रतीको का बाहुल्य है। कबीर के दाय्य भाव के प्रतीको में दास तथा ब्रह्म की एकात्मकता का भाव बड़ा आकर्षक बन पडा है :—

मैं गुलाम मोहि बेचि गुंसाई । तन मन धन मेरा राम जी के ताई ॥

आनि कबीरा घाट उतारा । सोई गाहक सोई बेचन हारा ॥

बेवें राम तो राखै कौन । राखै राम तो बेचै हारा ॥

कहै कबीर मैं तन मन पारया । साहिब अपना छिन न बिसराया ॥

इसी प्रकार कबीर के साहित्य में वात्सल्य प्रतीको का बाहुल्य है :—

हरि जननी मैं बालक तेरा, काहे न अग्रगुन बकसहु मेरा ।

सुत अपराध करै दिन केते, जननी के चित रहै न तेते ॥

कर गहि केस करै जो धाता, तऊ न तो उतारै माता ।

कहै कबीर एक बुद्धि विचारी, बालक दुखी दुखी महतारी ॥

कबीर ने दाम्पत्य प्रतीको की भी रचना की है। इस कोटि के प्रतीक बड़े रसमय और मधुर है। उदाहरणार्थ—

दुलहिन गावहु मंगलचार, हम धरि आयो हो राजा राम भरतार ।

तन रति कर मैं मन रति करिहूँ, पंच तत वराती ।

राम देव मोहि व्याहन आये मैं जोवन मदमाती ॥

सरीर सरोवर वेदी करिहूँ, ब्रह्मा वेद उचार ।

रामदेव संग भाँरि लेहूँ, धनि धनि भाग हमारा ॥

सुर तेतिस कोटिक आये मुनिवर सहज अठासी ।

कहै कबीर हम व्याहि चलै है, पुरुष एक अविनासी ॥

कवीर की रचनाओं में साकेतिक प्रतीक,^१ 'पारिभाषिक प्रतीक, सख्यामूलक प्रतीक,^२ रूपात्मक प्रतीक^३ तथा प्रतीतात्मक उल्टवासियों के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। प्रतीकात्मक उल्टवासियों की रचना करने में कवीर बड़े कुशल थे। प्रतीकात्मक उल्टवासियों के भी दो भेद हैं—प्रथम वे जो प्रतीक प्रधान हैं। द्वितीय रूपक प्रधान, रूपक प्रधान में प्रतीक गौण रहता है। उदाहरणार्थ रूपक प्रधान उल्टवासी देखें।

हरि के पारे बड़े पकाये, जनि जारे तिनि खाये।
ज्ञान अचेत फिरै नर लोई, ताते जनमि-जनमि डहकाये ॥
धौल मंदलिया बैलरवाबी, कउवा ताल वजावै।
पहिर चोलना गदहा नाचै, भैसा निरति करावै ॥
स्यंध बैठा पान वतरै, मूस गिलौरा लावै।
उदरी बपुरी मंगल गावै, कछु एक आनन्द सुनावै ॥
कहै कवीर सुनहु रे सन्तो, गनरी परवत खावा।
चक्रवा वेसि अंगारे निगलै, संमद अकासे धावा ॥

प्रतीक प्रधान उल्टवासी

कैसे नगर करौ कुद्वारी, चंचल पुरिप विचक्कन नारी।
बैल बियाह गाय भई बाँक, बछरा दूहै तीन्यू सांभ ॥
मकड़ी घर भावी छटिहारी, मास पसारि चोल्ह रखवारी।
मूसा केवट नाम विलइया, मोडक सोवै साप पहरिया।
नित उठि ख्याल सिंध सू जूभे, कहै कवीर कोई बिरला बूभे ॥

कवीर की प्रतीक योजना के संबंध में उपर्युक्त उद्धरण से अनुमान लगाया जा सकता है। वास्तव में कवीर साहित्य सुन्दर प्रतीक योजना से भरा पड़ा है। पग-पग पर कवीर ने सुन्दर प्रतीकों के माध्यम से अकथनीय या कठिनाई से वर्णित होने वाले अनुभव को व्यक्त कर दिया है। प्रतीक सच्चे रहस्यवादों की बटी भारी षणित होती है। इसी प्रतीक के माध्यम से वह हृदय के भार को कम करता है। कवीर इसके अपवाद नहीं थे। कवीर के प्रतीक (उल्टवासियों के अतिरिक्त) कही दुबोधें और कठिन नहीं हैं। उनके प्रतीक भाव को ग्रहण करने में सहायक सहयोग देने वाले हैं। अपढ़ जनता के लिये कवीर के ये प्रतीक और भी

१—कवीर ज्ञान्यावली पृ० ८४ पद १८।

२—वही परयाको अग पद १०

३—संत कवीर पृ० २२४, राग नैरव पद १३।

अधिक वरदान स्वरूप है। कवीर के प्रतीको मे प्रभावसाम्य के कारण सदृश भावना जाग्रत होती है। वे पाठकों के भावों और विचारों को भी प्रबुद्ध करने मे सहायक है कवीर के प्रतीकों की ये विशेषताएं काव्य रचना की क्षमता को प्रमाणित करती है।

काव्य के दो पक्ष होते हैं-भाव और विभाव। ये उभय अन्योन्याश्रित है। अप्रस्तुत योजना या विभाव पक्ष काव्य का अभिन्न अंग है काव्य मे कलात्मकता एवं रमणीयता का संचार करने का समस्त श्रेय और दायित्व अप्रस्तुत योजना पर है। कवि के हेतु अप्रस्तुत योजना की शक्ति प्रकृति का बड़ा भारी वरदान है। सभी कवियों को यह प्रतिभा समान रूप से नहीं सम्प्राप्त होती है। उपमा के क्षेत्र मे सभी कालीदास की प्रतिद्वंद्विता नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार की प्रतिभा का मूल कारण है वासना और संस्कार। दण्डी का अभिमत है कि अद्भुत प्रतिभापूर्व वासनागुणानुबन्धी अर्थात् कवि की प्रतिभा मे पूर्व वासना का गुण विद्यमान रहता है। वारभट्ट ने प्रतिभा को ही काव्य की उत्पत्ति का कारण मानते हुए कहा है प्रतिभा कारणान्तस्य। हेमचन्द्र ने भी कहा है कि—

प्रतिभैवच कवीना काव्यकरण कारणम् ।

व्युत्पत्यभ्यासी तस्या एव संस्कारकारकौ न तु काव्य हेतु ॥

कवि के व्यक्तित्व मे अप्रत्यक्ष रूप से पूर्ववर्ती संस्कारों के रूप मे अद्भुत काव्य-प्रतिभा विद्यमान रहती है। यह प्रतिभा कवियों मे अनेक रूपों से पल्लवित होती है। अप्रस्तुत की सम्यक् एवं प्रभावशाली योजना नरक कार्य नहीं है। इसके लिए कवि मे अनेक विशेषताओं का होना परमावश्यक है। यह आवश्यक है कि वह लोकशास्त्र के तत्वों सूक्ष्म ज्ञाता हो। कवि मे जितनी अधिक सहृदयता तथा मन्द-दृष्टि होगी, वह जितना ही अधिक अनुभवी होगा उतनी ही सुन्दर उसको अप्रस्तुत योजना होगी और वह अप्रस्तुत योजना हृदयग्राही तथा मार्मिक भी होगी। इस सब के लिए यह भी आवश्यक है कि कवि अपने हृदय मे सवेदनशीलता को जाग्रत करे तथा जीवन एवं प्रकृति का सूक्ष्म पर्यालोचक बने। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि यद्यपि कवीर शास्त्र के ज्ञाता, काव्य शास्त्र के आचार्य और विद्वान नहीं थे। परन्तु दण्डी ने जिसे प्रतिभा तथा हेमचन्द्र ने जिसे संस्कार रूप मे काव्य कौशल कहा है वह कवीर मे प्रचुर रूप मे विद्यमान था। इनके अतिरिक्त कवीर की दूरदर्शिता, रसज्ञता, सहृदयता तथा सवेदनशीलता ने उनके काव्य में अप्रत्यक्ष रूप से विभाग पक्ष को सुन्दर और प्रभावशाली बना दिया था। कवीर के लिए काव्य रचना एक साधन था साध्य नहीं। उनकी कविता मे हृदय की सत्यता का चित्रण हुआ है। सत्य जीवन और अनुभव को कलात्मक अभिव्यंजना करने के

विषम,^१ अनन्वय^२, असंगति,^३ काव्यलिङ्ग,^४ श्लेष,^५ यमक,^६ अनुप्रास^७ आदि के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। कबीर के काव्य में प्रयुक्त अलंकारों में सर्वत्र औचित्य प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ यहाँ पर कतिपय साखियाँ उद्धृत की जाती हैं :--

(१)

मनुष जन्म दुर्लभ अहै, होय न बारम्बार ।
तरुवर से पत्ता भरै, बहुरि न लागै डार ॥

(२)

पूजा सेवा नेम ब्रत गुडियन का सा खेल ।
जबलगि पिडपरिचय नहीं, तब लगि संसय मेल ॥

(३)

विरह कमण्डल कर लिये, बैरागी दोड नैन ।
मागे दरस मधुक्वरी छके रहै दिन रैन ॥

कबीर की अप्रस्तुत योजना पूर्णतया गुण व्यापार, फल, रूप साम्य पर आधारित है। यह औचित्य उनकी उलटवासी साहित्य में भी उपलब्ध होता है। अप्रस्तुत योजना में यथार्थता का होना बहुत आवश्यक है। यह तभी सम्भव हो सकता जब कि सादृश्य स्वरूप अधिक और भावोत्तेजक हो। यदि अप्रस्तुत विधान स्वरूप अधिक मात्र है, तो वहाँ सौन्दर्य सृष्टि ही होती है। भावानुकूल साम्य योजना यथार्थ कही जाती है। कबीर के काव्य में उपलब्ध अप्रस्तुत योजना यथार्थता से उदाहरणार्थ :—

(१)

यह तन काँचा कुम्भ है लिया फिरै का साथि ।
ढक्का लागे फूटि गया कछु न आया हाथि ॥

१—वही पृ० ६२ ।

२—स० वा० स० भाग १ पृ० १ ।

३—कबीर ग्रन्थावली पृ० ११, ८६ ।

४—वही पृ० ६ ।

५—स० वा० स० भाग १, पृ० १२ ।

६—वही पृ० १-५० ।

७—वही पृ० १, ७, १४, ३३ ।

(४६)

(२)

पानी केरा बुलबुला अस मानुस की जाति ।
देखत ही छिप जायगी ज्यों तारे परभाति ॥

(३)

हाड़ जरै ज्यों लाकड़ी केस जरै ज्यों घास ।
सब जग जरता देखि करि भये कवीर उदास ॥

इन साखियों में नश्वरता का भाव अनेक अप्रस्तुत विधानों द्वारा व्यक्त किया है । इनके पढ़ने से संसार की नश्वरता के प्रति भावोन्मत्त के साथ ही स्वरूप बोध में भी सहायता मिलती है । भावों की सुचारु व्यंजना के लिए ही अप्रस्तुत योजना की जाती है । भाव-व्यंजना में भी कवि की पटुता प्रतिबिम्बित होती है । जो कवि जितने सुन्दर भावों की व्यंजना कर सकता है, वह उतना ही अधिक पाठकों को प्रभावित एवं आल्हादित कर पाता है । अतः आवश्यक है कि भावों में ये नर्वनता हो और सुचारुता हो । इसके लिये प्रबल अनुभूति की अपेक्षा है । संतो और विशेषतया कवीर की अनुभूति बड़ी गहन थी । अनुभूति की गहनता में पहुँचकर ही उन्होंने रूपको एवं अन्योक्तियों की रचना की है । भावों की सुन्दर व्यंजना के लिये निम्नलिखित पद पठनीय है ।

सतगुरु है रंगरेज चुनर मेरी रंगि डारी ।
स्याही रंग छुड़ाइ केरे, दियो मंजीठा रंग ।
धोये से छूटै नहीं रे, दिन दिन होत सुरंग ॥
भाव के कुण्ड नेह के जल में प्रेम रंग देई बोर ।
घसकी घास लगाइ केरे, खूब रगी मकभोर ॥
सतगुरु ने चुनरी रगी रे, सतगुरु चतुर सुजान ।
सब कुछ उन पर वार दूँ रे, तन मन धन औ प्राण ॥
यह कवीर रंगरेज गुरु रे, मुझ पर हुए दयाल ।
सीतल चुनरी ओढ़ि के रे, भइही मगन निहाल ॥

इसी प्रकार कवीर के पद 'मन फूना फूना फिरे जगत में कैसा नाता रे' तथा 'हँसा करो नाम नौकरो' भावा व्यंजना की दृष्टि से उत्तम पद है । कवीर के काव्य में अप्रस्तुत विधान की ध्वन्यात्मिकता बड़ी प्रभावशाली है । ध्वन्यात्मक अप्रस्तुत योजना मार्मिक मानी गई है । 'मन फूना फूना फिरे' में कितनी सुन्दर ध्वन्यात्मक है । कवीर के अप्रस्तुत विधान में व्यंग्यों को बहुत स्थान मिला है । अनुचित न होगा

बदि कहा जाय कि कवीर इस दिशा मे सिद्धहस्त थे । उनके व्यंग वडे मार्मिक और प्रभावशाली होते हैं । उदाहरणार्थ यहां तीन साखियां दी जाती है—

(१)

पण्डित केरी पोथिया ज्यों तीतर का ज्ञान ।
औरन सगुन षतावही आपन फन्द न जान ॥

(२)

पण्डित और मसालयी दोनों सूझै नाहिं ।
औरन को करै चाँदन आप अघेरे माहिं ॥

(३)

नारी की भाई परत अन्धा होत भुजंग ।
कवीर तिनकी कौन गति नित ही नारी संग ॥

संक्षेप मे कवीर की अप्रस्तुत योजना सरल प्रभावशाली एवं कृत्रिमता विहीन है ।

संसार की असारता, विषम रीति-नीति, स्वार्थीघृता, निम्न प्रवृत्तियों और कट्टु अनुभवों ने कवीर मे विचित्र तीखापन तथा आलोचनात्मक प्रवृत्ति समुत्पन्न कर दी थी । इसीलिये उनकी साखियों मे अनुभूति की गहनता दिखाई देती है । संसार की गति देखकर उनमे प्रतिकार की ऐसी भावना जाग्रत हो उठी थी कि वे नीति विषयक उक्तियों के द्वारा जनता को जाग्रत करने के लिए अग्रसर हुए । कवीर के काव्य मे नीति सम्बन्धी अनेक उक्तियां मिलती हैं । इनमे एक चतुर व्यक्ति की जैसी दूरदर्शिता एवं एक दूरदर्शी के सदृश सुझाव देने की अद्भुत क्षमता थी । उदाहरणार्थ यहां कतिपय साखियां उद्धृत की जाती है :—

(१)

देह धरे का दण्ड है, सब काहू को होय ।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान से, मूर्ख भुगतै रोय ॥

(२)

जुआ चोरी मुखविरी, व्याज घूस, पर नार ।
जो चाहे दीदार को एती वस्तु निवार ॥

(३)

जग में वैगी कोठ नहीं, जो मन सीतल होय ।
यह आपा तू डारि दे, दया करै सब कोय ॥

(५१)

(४)

मारग चलते जो गिरै, ताको नाहीं दोस ।
कह कवीर बैठा रहै, ता सिर करड़े कोस ॥

(५)

जो तो को कोटा बुवै, ताहि बोव तू फूल ।
तोहि फूल को फूल है, वाको है तिरसूज ॥

(६)

दुर्वल को न सताइये जाकी मोटी हाय ।
बिना जीव की स्वांस से, लौह भस्म होइ जाय ॥

(७)

जो देखे सो कहै नहिं, कहं सो देखै नाहि ।
सुनै सो समभावै नहीं, रसना टग सरबन काहि ॥

इन साखियों में गम्भीर ज्ञान और अनुभूति की अभिव्यंजना हुई है ।

प्रस्तुत संक्षिप्त विवेचन से साफ्ट हो जाता है कि यद्यपि काव्य रचना कवीर का साध्य या लक्ष्य नहीं था फिर भी महान संदेशों को अभिव्यक्ति के लिये उन्हे काव्य को माध्यम बनाना पड़ा । धर्म गुरु होने के साथ-साथ कवीर कवि भी थे । डॉ० हजारो प्रमाद द्विवेदी के शब्दों में "भाषा पर कवीर का जबरदस्त अधिकार था । वे वाणों के डिक्टेटर थे । जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया—बन गया तो सीधे-सीधे नहीं तो दोहा देकर । भाषा कुछ कवीर के सामने लाचार सी नजर आती है । उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं कि इस लारवाह फक्कड़ को किसी फरमाइश को नाहीं कर सके । और अकह कहानों को रूप देकर मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताकत कवीर की भाषा में है, वैसी भाषा बहुत कम लेखकों में पाई जाती है । वाणों के ऐसे बादशाह को साहित्य रमिक काव्यानन्द का अस्वाद कराने वाला समझे, तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता है । फिर व्यंग करने में चुटकी लेने में भी कवीर अपना प्रतिद्वंदी नहीं जानने इस प्रकार यद्यपि कवीर ने कही काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की है तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलके हुए रस से काव्य की फटोरों में भी कम रस शकूठा नहीं हुआ है ।

हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कवीर जैसा दक्षिण्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न ही नहीं हुआ ।—मस्ती, फरकदाना स्वभाव और मद्य शृंगार ग्लाह फटकार कर चन देने वाले तेज ने कवीर को हिन्दी साहित्य का अद्वितीय

व्यक्ति बना दिया । उनकी वाणियों में सब कुछ को हटाकर उनका सर्वजयी व्यक्तित्व विराजता रहता है । उसी ने कबीर की वाणियों में अनन्य साधारण जीवन रस भर दिया है । "इस व्यक्तिस्वर्ग के आकर्षण को सह्य, समालोचक संभाल नहीं पाया है । ऐसे आकर्षक वक्ता को कवि न कहा जाय तो क्या कहा जाय ?"

कबीर साहित्य पर इस्लाम का प्रभाव

हिन्दी साहित्य पर इस्लाम का प्रभाव अत्याधिक भावुकता के रूप में पडा । कबीर और मीरा की वैचैनी, बोधा और घनानन्द को विह्वलता, विद्यापति और सूरदास की भावाकुलता में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण दृष्टिगत होता है । ज्ञानाश्रयी शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि कबीर के विचारों में हिन्दू मुस्लिम समन्वय का भाव अत्यन्त पुष्टता पर पहुँच चुका था । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है :—

"जो ब्रह्म हिन्दुओं की विचार पद्धति में ज्ञान मार्ग का एक निरूपण था, उसी को कबीर ने सूफियों के ढरे पर उपासना का ही विषय नहीं प्रेम का ही विषय बनाया । उसकी प्राप्ति के लिए हठयोगियों की साधना का समर्थन किया । इस प्रकार उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पथ खडा किया ।"

इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर धार्मिक कवि थे, और उनकी दृष्टि भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार सासारिकता की ओर कम और परलोक की ओर अधिक थी । मानव-जीवन को भी उन्होंने महत्व दिया वह समाज सुधारक के रूप में भी उल्लेखनीय हैं । उनकी समाज सुधार से सम्बन्धित कविताओं में प्रचलित बाह्याडम्बरो के प्रति विरोध की ध्वनि थी । किन्तु अपने सिद्धान्त का जो अंश उन्होंने सूफियों से लिया वह स्पष्टतया इस बात का पोषक है कि वे इस्लामी संस्कृति से किसी न किसी सीमा तक प्रभावित थे । प्रेम की वैचैनी और विरह की व्याकुलता का जो चित्रण सत कबीरदास ने किया, उससे हिन्दी साहित्य में एक नवोन परम्परा की स्थापना हुई । हमारे शब्दों में हम कह सकते हैं कि भारतीय भावुकता का सामन्जस्य कबीर की कविता में हुआ । कबीर के द्वारा स्थापित इन मान्यताओं का पालन अन्य सन्तों ने किया ।

कबीर की निम्नलिखित पंक्तियों में प्रेम की पीडा, और प्रेमी के हृदय की जो व्यग्रता वर्णित है उसे देखिए :—

"अंखियन तो भाई पड़ी, पथ निहारि निहारि ।
जिहवा तो छाला पड़े, नाम पुकारि पुकारि ॥"

यह भारतीय साहित्य के लिए नवीन बात थी। इसके पीछे सूफियों को विरहानुभूति का ही प्रभाव है।

सूफियों के दर्शन के अनुसार जीव ब्रह्म से मृत्यु के पश्चात् मिल सकता है। इससे दूसरा सिद्धान्त यह निकला कि शीघ्र से शीघ्र मृत्यु को प्राप्त किया जाय, जिससे ब्रह्म से मिलन हो। भारत में इसके पूर्व बौद्ध भी जीवन के दीपक को बुझा देने को अपना परम उद्देश्य मानते थे। जैन साधक तो जीवन दीप बुझाने के पूर्व शरीर को अधमरा कर देने के समर्थक थे। मृत्यु का भय है, यह बात अभी तक स्रष्ट शब्दा में किसी ने भी नहीं कहा था। परन्तु सन्त कबीर को जब ब्रह्म त्रियोग को तीव्र अनुभूति हुई तो उन्होंने यह स्रष्ट कर दिया कि मृत्यु त्याज नहीं काम्य है :—

“जिन मरने से जग डरे सो मेरे आनन्द ।
कब मरिहूँ कब देखि हूँ पूरण परमानन्द ॥”

भारतीय जीवन में इस प्रकार की विचारधारा को प्रश्रय नहीं दिया जाता था, परन्तु इस्लाम या सूफी प्रभाव के कारण इस प्रकार की भावना का विकास हुआ। भक्त कवियों ने जीवन की उपयोगिता भगवान की सेवा करने में ही बताई। उनकी दृष्टि में सेवा के सामने मोक्ष प्राप्ति भी तुच्छ था परन्तु कबीर पर इसका प्रभाव न पडा वे फारसी के सूफी कवियों से ही अधिक प्रभावित हुए और मृत्यु को काम्य और मोहक बना दिया। यह प्रभाव हम आधुनिक हिन्दी कविता में भी देखते हैं।^१

इस प्रकार सूफी कवियों के प्रेम की विरहानुभूति एवं प्रिय से मिलन की आकांक्षा से प्रभावित हुए, कबीर ने परमात्मा को पति और अपने को ‘बहुरिया’ माना है। विरह एवं मिलन की वैचैतियों का भी मार्मिक चित्रण किया।

सूफी कवियों द्वारा नर-नारी के शारीरिक मिलन से जीव ब्रह्म मिलन को जो उन्मा दी गयी, उसका भी प्रत्यक्ष प्रमाण हमें भारतीय भक्ति धारा में दृष्टिगत होता है। शृंगारिकता का गहरा पुट इसी कारण आया है। परन्तु यह भी स्रष्ट कर देना आवश्यक है कि इस धारा का आगमन मुसलमानों के पूर्व भी अज्ञान में हो चुका था।

१—इस अनोम तम में मिलकर

मुझको पल भर भी जाने दो

पुनः जाने दो देव

प्राज मेरा दीपक बुझ जाने दो ।

महादेवी यमा

अब यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सूफी काव्य का प्रभाव किस वातायन से आया । ज्ञानाश्रयो शाखा के कवियों के यहाँ प्रेम का आलम्बन निगुंण ब्रह्म था । इसी कारण प्रेम को दीप्त करने का कोई स्पष्ट आधार इन कवियों को न प्राप्त था । अतएव प्रेम भाव की महत्ता का प्रतिपादन करने के लिए कबीर ने विरह की अनुभूति पर आश्रित आहो के आधार पर हृदय के फटने, आँखों में भाँई पडने, जीभ में छाले पडने के माध्यम से यह भी स्पष्ट कर दिया कि जो 'शीश उतारे भुइ घरै' वही उसको प्राप्त कर सकता है । इस प्रकार कबीर द्वारा इस्लाम एवं हिन्दू संस्कृतियों का समन्वय हुआ । सूफियों से बहुत पूर्व ही कबीर ने प्रेम की महत्ता को स्वीकार करते हुए कहा था :—

“ढाई आखर प्रेम का,
पढ़ै सो पंडित होय ।”

कबीर साहित्य की महान परम्पराएँ

साहित्य एवं जीवन द्वारा परम्पराओं का जन्म भी होता है और परिपालन भी होता है। कबीर ने हमारे साहित्य की अनेक परम्पराओं को अपनी महत्वपूर्ण जन कल्याणकारी रचनाओं के द्वारा बल प्रदान किया, और साहित्य की महान परम्पराओं को जीवन प्रदान किया। भूत की घटनाओं और वर्तमान के कठोर नदियों को इन्होंने भविष्य से श्रंखलाबद्ध कर दिया। उनके साहित्य में सस्कार गत रूढ़ियों, साहित्यिक मान्यताओं और तत्कालीन परिस्थितियों का अद्भुत समन्वय एवं चित्रण मिलता है। परम्परा भूत और वर्तमान के सोपानों को पार करती हुई भविष्य की ओर अग्रसर होती है। दूसरे शब्दों में वह अतीत से भविष्य की ओर प्रगति की पूरक धारा है, जो क्रमशः चली आ रही है, परन्तु उस सरिता के समान जो कहीं पर तीव्र-गति से और कहीं पर मध्यम गति से बहती रहती है। इसमें सदैव एक तारनम्य रहता है, और यही इसकी प्रभावित करने की शक्ति है।

कबीर की परम्परा को समझने के पूर्व उनकी एक दो सामान्य विशेषताओं की ओर ध्यान देना आवश्यक है। कबीर स्वभाव से ही बुद्धिवादी और क्रान्ति प्रिय सत थे। उनका रूढ़ि विरोध क्रान्ति की सीमा तक पहुँच गया था। साथ ही उनके निष्कपट व्यवहार ने उन्हें अत्याधिक लोक प्रिय बना दिया है। कबीर सच्चे मत्यान्वेषक थे। सत्य वा अन्वेषण उन्होंने कोरे वाग्जाल पर ही नहीं किया है, बरन् अनुभवों की शिला पर सत्य की खोज के साथ-साथ धर्म के सामान्य तत्वों पर अधिक बल दिया। सामान्यतया कबीर साहित्य की मुख्य परम्पराएँ हैं :—

(१) मानवतावाद (२) धार्मिकता (३) जातीयता (४) प्रगतिशीलता
(५) शाश्वतता (६) सजीवता

मानवतावाद

कबीर साहित्य की नव प्रथम महान परम्परा मानवतावाद है। नागबोध दर्शन के इतिहास में मानवतावाद के निस्तान और विश्लेषण का महत्त्वपूर्ण उपाधिदान। यथा श्रीक शार्ङ्गिकों ने आत्म ज्ञान और आत्म विश्लेषण पर जोर दिया है उन्हीं प्रकार हमारे भारतीय शार्ङ्गिकों ने भी आत्म ज्ञान और आत्म विश्लेषण पर बहुत जोर दिया है। आत्म ज्ञान प्राप्त कर लेना मनुष्य का सर्वोच्च कर्तव्य

समझा जाता था । मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ विकास था आत्म ज्ञान प्राप्त कर लेना । इसके बाद और कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता है । आत्म ज्ञान के अनन्तर मनुष्य का परम कर्तव्य समझा जाता है, उस ब्रह्म का साक्षात्कार अथवा प्राप्त करना जो समस्त जगत का हेतु कारण या कर्त्ता है । इस प्रकार आत्म ज्ञान और ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने के लिए बड़े-बड़े दार्शनिकों ने महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की और अपने विचारों के प्रसार के लिए अथक परिश्रम किया । सम्राटों और शासकों के दरबार में विद्वान् एवं ज्ञानी पुरुष ज्ञान प्राप्ति की चर्चा के तदनुसार वातावरण का प्रसार करके मानवतावाद का उपदेश दिया करते थे । उनके चिन्तन और चर्चा का विषय होता था “ज्ञान” एवं “मानवतावादी विचार ।”

इसमें सन्देह नहीं है कि वह मानवतावादी दृष्टिकोण जिसका प्रचार भारतीय दार्शनिकों ने समय-समय पर किया था, एक बड़े भारी कल्याणकारी वातावरण के प्रचार में अत्याधिक सहायक हुआ । इस विचार धारा ने एक ऐसे वातावरण को सृष्टि की जहाँ मानव हृदय से मानव के प्रति सहानुभूति का स्रोत प्रस्फुटित हो उठा, और एक दूसरे को समझने में सहायता पहुँची । मानवतावाद के प्रचार में उपनिषद् साहित्य एवं तत्कालीन दार्शनिकों ने बड़ी सहायता प्रदान की । इस दृष्टि से उपनिषद् काल मानवतावाद के प्रचार के लिए सबसे उत्तम समय माना जाता है ।

मानव की शाश्वत सुख को लालसा उसके अमृततत्त्व में ही सन्निहित रहती है । मानव के सुख का लक्ष्य या उद्देश्य शारीरिक सुख या भौतिक सम्पत्ति की प्राप्ति ही नहीं होती वरन् इसके अतिरिक्त कुछ और भी है जो मानव को अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता रखता है और वह है ‘सत्य’ और उसकी प्राप्ति भौतिक सम्पत्ति और भौतिक सुख के आनन्द से मानव का चित्त कभी न कभी उचट जाता है, परन्तु सत्य, शिव, सुन्दरम् के सान्निध्य और नैऋत्य में रहकर मानव का मन कभी भी विकृत नहीं होता है । वास्तव में मानव जीवन का चरम उद्देश्य या लक्ष्य है, चिर सत्य की प्राप्ति करना । मानव की आत्मा की उन्नति तभी हो सकती है, जब समस्त जीवों पर समान स्नेह हो और जब सासारिक वस्तुओं में आशक्ति न हो । भारतीय दार्शनिकों ने वारम्बार “आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पण्डितः” का उपदेश दिया है । हमारी चिन्तन धारा सदैव से इस बात पर जोर देती रही है कि दूसरे की आत्मवत् समझना चाहिए दूसरे के कष्टों, व्यथाओं और दुःखों को अपनी अनुभूति बनाना चाहिए । इस उदार दृष्टिकोण ने भारतीय जीवन के समस्त कलुषों को धोकर उसे निर्मलता प्रदान करने का प्रयत्न किया । कहना न होगा कि इस दृष्टि ने भारतीय जीवन में दिव्यता का संचार किया और उसे उदात्त बनाने में अपूर्व योग प्रदान किया ।

मानवतावाद का आधारभूत या मूल सिद्धान्त है समस्त प्राणियों को 'आत्म' से भिन्न न समझना, समस्त जीवों में दया भाव का समान रूप से प्रसार करना, सबकी दुःख को अनुभूति को आत्मानुभूति बनाना, इसका प्रमुख कारण यह है कि सबका रचयिता एक ही है। एक ही अश के सब अंगो हैं, फिर मानव-मानव के बीच यह विरोध कैसा ? न कोई बड़ा है, न कोई छोटा, न कोई उच्च है, न कोई नीच। एक ही ईश्वर ने सबको जन्म दिया है। सब समान हैं। जाति-पाति का भेद-भाव नहीं होना चाहिए। केवल कर्म से ही मनुष्य कुछ भी बन सकता है।

कबीर के शब्दों में :—

जाति न पूछो साध की पूछो उसका ज्ञान ।
मोल करो तलवार का पड़ी रहन दो म्यान ॥

भारतीय मानवतावाद की पृष्ठ भूमि में आध्यात्मिकता ही है। विदेशियों के भीषण आक्रमणों से भी भारतीय योगियों को शान्ति भंग नहीं हुई। उनके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि बिना किसी विघ्न बाधा के चलते रहे। वे बाह्य ससार को छोड़कर ध्यानावस्थित होकर आभ्यान्तरिक साधना में सलग्न रहे। आत्मा को स्वतंत्रता के आगे देश की स्वतन्त्रता का महत्व उनके मन में न बैठ सका। तथापि उन्होंने उसकी ओर ध्यान न दिया।

कबीर के युग में जब कि उत्तर पश्चिम से अनवरत रूप में आक्रमण हो रहे थे, भारतीय धर्म, साहित्य एवं संस्कृति अत्याधिक सकट पूर्ण परिस्थितियों में स्वाम ले रही थी, और जबकि निराशा तिमिर भारतीय जनता को विनाश के गर्त का ओर उत्तरोत्तर अग्रसर कर रही थी। उस समय कबीर ने अपनी मधुर वाणी में जीवों को समता और एकता का संदेश दिया।

युग प्रवर्तक रामानन्द से प्रेरित और अनुप्राणित होकर मन्त कबीरदास ने मानवतावादी विचारधारा का प्रचार एवं प्रसार करने का प्रयत्न किया। इतना ही नहीं उन्होंने भारतीय चिन्तनधारा में एक नवीन परिच्छेद प्रारम्भ किया जिसके द्वारा समानता की भावना को प्रसार मिला। कबीरदास ने एक ऐसा मार्ग प्रशस्त किया जिस पर उनके अनन्तर आविर्भूत अन्य मन्तों ने चलकर समता का संदेश भारतीय जनता को समय-समय पर सुनाया। इनकी प्रेरणा से हिन्दी के ज्ञानाश्रयों भवन कवियों की एक शाखा चल पड़ी। ये मन्त नहीं जातियाँ के थे, इनको मूल भावना थी "हरि का भजे सो हरि का होई।" जाति-पाति के भेद भाव ने इन्हें मोह न था। इन्होंने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में लनकार कर कहा कि नहीं एक ही द्रव्य ही सृष्टिदाता है। सभी एक ही कुन्धार की रचना है। फिर 'को प्राणन को मूदा' भेद-भाव को मन का मैल है।

कवीर का लक्ष्य बड़ा ही व्यापक था। इन्होंने जीवों के निस्तार के लिए उच्चादर्शों के उपदेश दिए। मानव को कल्याणकारी पथ पर अग्रसर करना ही इनका सबसे बड़ा लक्ष्य था। कवीर के हृदय में व्यथित के हेतु सहानुभूति एवं सम्वेदना की भावना थी। वे संसार को सुखी और प्रमन्न देखना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने मानव की आर्थिक सामाजिक तथा आध्यात्मिक सभी दशाओं को सुधारने की चेष्टा की। मानवता को सदैव ही श्रृंखलाओं से उन्मुक्त देखना चाहते थे और भविष्य में एक स्वस्थ एवं आशापूर्ण दृष्टिकोण के आकांक्षी थे। यह मानवतावादी दृष्टिकोण कवीर के साहित्य में ओत-प्रोत है। मानव के आध्यात्मिक और लौकिक जीवन को सुखी बनाने के हेतु कवीर ने बारम्बार सन्मार्ग एवं कल्याणकारी पक्ष की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने पारमार्थिक सत्ता की एकता निरूपित करके यह प्रतिपादित किया कि मानव-मानव में भेद नहीं है। सब प्राणी एक ही कलाकार की कृतियाँ हैं। हिन्दू और मुसलमानों ने अपनी-अपनी मिथ्या कल्पना के आधार पर ब्रह्म के सम्बन्ध में निस्सार कल्पनाएँ स्थापित कर ली हैं। माया, भ्रम अथवा अज्ञान के कारण हम सत्य को नहीं देख पाते हैं। सत्य ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही सत्य है। उसमें द्वैत नहीं है। वह पूर्णतया अद्वैत, अगम, अज्ञात, अमर और अनन्त है। संसार का कोई भी कार्य उसकी इच्छा के बिना नहीं सम्पादित होता है। वह सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ है। उस ब्रह्म को लेकर जो भेद-भाव हिन्दू और मुसलमानों में चलते हैं वह निरी मूढ़ता का द्योतक है। अज्ञान का विसर्जन करके मूढ़ता का परित्याग करके प्रेम सद्भावना और सहृदयता का प्रसार न केवल व्यक्तिगत जीवन के लिए वरदान है वरन् समाज के उत्थान और विकास के लिए भी नितान्त आवश्यक और उपयोगी है। सद्भावना के प्रसार से मनुष्य के जीवन में औदार्य, स्नेह, करुणा, प्रेम, त्याग तथा विश्ववन्धुत्व की भावनाओं का स्वतः विकास हो जाता है, जो मानव के लिए नितान्त आवश्यक है। मनुष्य का स्वभाव श्रेय भी है, प्रेय भी है। धीरवान् व्यक्ति दोनों को पृथक्-पृथक् दृष्टि से देखते हैं। साधु श्रेय को ग्रहण करते हैं और असाधु प्रेय को।

मानवतावाद कवीर की सबसे बड़ी विशेषता है। कवीर जैसे उदार सन्त कवि संसार में प्राणी मात्र को सुखी देखने के आकांक्षी थे।

मानवतावाद से प्रेरित होकर कवीर ने संसार को भाँति-भाँति के कल्याणकारी मार्ग प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया। उनके मानवतावाद का केन्द्र बिन्दु है अद्वैत ब्रह्म। ब्रह्म अद्वैत है। वही सर्वजगत का नियन्ता है।

ब्रह्म ही कवीर का प्रतिपाद्य और साध्य है।

पावक रूपी साइयां, सब घट रहा समाय ।

चित चक्रमक लागे नहीं, ता ते बुझि बुझि जाय ॥

मानवतावाद विषयक अपने विचारों के प्रसार के लिए कवीर ने सप्त महा-
व्रतों का उपदेश दिया, जिनसे मानव का व्यक्तिगत तथा समाजगत जीवन समुन्नत
बनता है । (१) सत्य (२) अहिंसा (३) ब्रह्मचर्य (४) अस्वाद (५) अस्तेय (६) अपरि-
ग्रह (७) अभय ।

सत्य ही ज्ञान है, ब्रह्म है और संसार की वास्तविक गति है । कवीर ने
सत्य के प्रति बड़ी श्रद्धा प्रकट की है । सत्य व्यवहार, सत्य कर्म, सत्य वचन, सत्य
अनुभूति जीवन को उदात्त बनाने में सहायक होती है और इस प्रकार मानव समाज
सुखी और सम्पन्न बनता है । इसलिये कवीर ने कहा था —

साँच बराबर तप नहीं, भूठ बराबर पाप ।

जाके हिरदे, साँच है, ताके हिरदे आप ॥

दूसरा महाव्रत है 'अहिंसा' । अहिंसा मानवतावाद की प्राण शक्ति है । जब
तक हम हिंसा में लगे रहेंगे तब तक हम एक दूसरे के प्रति ममता की भावना की
स्थापना कर ही नहीं सकते हैं ।

कवीर की अहिंसा भावना बड़ी व्यापक है । वह तो यहाँ तक कहते हैं कि—

घट घट में वह साईं रमता,

कटुक बचन मत बोल रे ॥

कवीर ने भय की भावना को भी उत्पन्न कराके अहिंसा व्रत पालन करने
का उपदेश दिया है —

(१)

मास मास सब एक है, सुरगी हिरनी गाय ।

आंख देख जे खात है, ते नर नरकहि जाय ॥

(२)

घकरी पाती खात है ताकी काढ़ी खाल ।

जे नर घकरी खात है तिनको कौन हवाल ॥

अहिंसा के विषय में लिखते समय कवीर का अर्थ केवल 'बप न करना',
'जीव न मारना' हिंसा न करना ही नहीं है बरन् उस सद्बुद्धि से जो ने बाहर
आकर कटुक बचन तक बोलने को उन्होंने मना दिया है ।

इसी प्रकार कवीर ने ब्रह्मचर्य धारण करने का भी उपदेश दिया । ब्रह्मचर्य
जीवन के लिए बहुत आवश्यक है, क्योंकि मनुष्य इन्द्रियों का चैरा होता है । इन्द्रियों

की प्रचंड ज्वाला में जनता हुआ-मानव उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार दीपक की लौ पर पतंग नष्ट हो जाता है। वासना में संलग्न मानव कभी भी सावना और परमार्थ में दत्त-चित्त नहीं हो सकता है। कबीर ने मन, वचन, कर्म से ब्रह्मचर्य, पालन करने का उपदेश दिया है। संयम जीवन के लिए सबसे बड़ा बरदान और प्रेरक शक्ति है। कबीर ने इसीलिए मानवतावादी भावना के प्रसार के लिए ब्रह्मचर्य को उपयोगी माना है। कबीर के इस प्रकार के उपदेश चेनावती के अंग में संग्रहीत हुए हैं। इसके अतिरिक्त "पतिव्रता को अंग" में भी संयम एवं ब्रह्मचर्य भावना की अभिव्यक्ति हुई।

उपर्युक्त इन तीन महाव्रतों पर विचार कर लेने के बाद विचारणीय हैं शेष चार महाव्रत। ये महाव्रत हैं अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह तथा अभय। कबीर ने इनके प्रति इसलिए महत्व स्थापित किया है कि ये गुण या व्रत औदार्य, विनय शीलता और व्यापक भावनाओं का सर्जन करते हैं। इनके द्वारा मानव-मानव को समझने का प्रयत्न करता है और व्यापक भावनाओं को धारण करता है। कबीर ने मानव की हर प्रकार की दुप्रवृत्तियों की आलोचना की। उन्होंने अपने समय की जनता को बताया कि मनुष्य को एक दूसरे का शोषण नहीं करना चाहिए। सबको दीनता की भावना ग्रहण करके सच्चाई और ईमानदारी के साथ जीवन यापन करना चाहिये। कबीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—

सबते लघुताई भली, लघुता ते सब होय।

जस दुतिया को चन्द्रमा सीस नवै सभ कोय ॥

सच यह है कि यदि सभी सतोष और दीनता को ग्रहण कर ले, तो संसार के समस्त अनाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार तथा सघर्ष समाप्त हो जायें और मानव, मानव बनकर जीवन यापन करने लगे। कबीर के मानवतावाद के सन्तोष एवं दीनता अभिन्न अंग हैं। इन उपदेशों ने युग युग से पीड़ित एवं निराश जनता के हृदय में आशा का संचार किया। कबीर ने काव्य रचना में संजोये हुए सरल भावों द्वारा भटकती हुई जनता का पथ प्रदर्शन किया। पथ भ्रष्ट को मार्ग दिखाई पड़ा और वायाडम्बर से दूर मानव एक दूसरे के दुःख एवं कष्ट को ओर ध्यान देने लगा। धीरे-धीरे जनता इस ओर आकर्षित हुई।

कबीर का विचार था कि सद्गुण व नैतिक शक्ति बहुत ही प्रभावोत्पादक होती है। इस कारण मानव में मानसिक शक्ति बढ़ाकर उत्साह भरने की चेष्टा की। उनका विचार था कि मनुष्य में वह शक्ति है, कि वह अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं कर सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर ने मानवतावाद की

और अधिक से अधिक ध्यान दिया। प्रेम, अहिंसा, सत्य, शान्ति, त्याग क्षमा, दया, सहनशीलता ही मानवतावाद के गुण हैं। इस पर कबीर ने स्थान-स्थान पर प्रकाश डाला है।

धार्मिकता

कबीर साहित्य की द्वितीय महान् परम्परा "धार्मिकता" है। इनके सम्पूर्ण साहित्य की रचना ही धर्म को दृष्टि में रख कर हुई है। यह अवश्य है कि धर्म के क्षेत्र में उन्होंने एक क्रान्ति उपस्थित कर दी। परन्तु फिर भी जिस कठोरता से रूढ़ियों का विरोध किया उसी दृढ़ता से उन्होंने बुद्धिवादी सिद्धान्तों की भी स्थापना की है। वे किसी भी बात को तभी स्वीकार करते थे, जब वह उनकी बुद्धि के अनुभव की कसौटी पर खरी उतरती थी। कबीर सच्चे सत्यान्वेषक थे। उनका धर्म बड़ा व्यापक है। जिस प्रकार उनका ब्रह्म व्यापक और सब जाति वर्गों का जन्मदाता है, उसी प्रकार उनका धर्म भी व्यापक है। इनका धर्म सावंभौमिक और युगो तक अभिन्न बनना रहने वाला धर्म है। देश काल की सीमाएं उनके धर्म और उनके उदात्त रूप का स्पर्श नहीं कर पाती हैं। कबीर का धर्म-बनी-दीन बालक-वृद्ध, नर नारी सबके लिए समान रूप से उपयोगी और महत्वपूर्ण है। उनके व्यापक धर्म का आधार मानव की शाश्वत सद्प्रवृत्तियां हैं। यही शाश्वत सद्प्रवृत्तियां जीवन को उदात्त और समुन्नत बनाती हैं। कबीर ने मानव जीवन को उन्नत और विकास-शील बनाने के लिए उपदेश दिये।

कबीर की वानियों में बारम्बार इन्हीं बातों पर जोर दिया गया है। उन्होंने औदार्य, दया, क्षमा, त्याग, सहनशीलता, अहिंसा, धैर्य और सत्य को मानव जीवन और मानव प्रकृति के अविच्छिन्न अंग माने हैं। उनके काव्य में इन विषयों पर षातश-साखियों की रचना हुई और प्रत्येक नाखी उनकी सत्यानुभूति को दृढ़ प्रमाणित करने में समर्थ है।

कबीर का धार्मिकता वाद्याचारों वाद्याट्मवर्गों में पृथक और परे है। उनकी धार्मिकता में छुमा छून, चन्दन-तिलक, वन माला, जल तप, वाग, नमस्कार और अज्ञान में नहीं मन्निहित है। वरन् उनकी धार्मिकता व्यापक है, शुद्ध है, और उदात्त है। उनका मन्देश है, कि मानव को मानव के सहज धर्म का परिपालन करना चाहिए। उसे 'सुरत्व को जननी' मानव योनि को दूषित करने वाले अज्ञान नित नही करना चाहिए। यही कबीर की धार्मिकता है, यही उनका ध्यापक धर्म है।

जातीयता

कवीर साहित्य की तृतीय महान परम्परा जातीयता है। अानी वाणी द्वारा कवीर ने देश की एक महान सांस्कृतिक चेतना में बाँध दिया था। देश के प्रत्येक क्षेत्र में महान सांस्कृतिक चेतना के फल स्वरूप जातीयता का विकास हुआ। उनकी भाषा में समस्त भाषाओं विभाषाओं और बोलियों का मधुर मिश्रण है। उन्होंने व्याकरण के नियमों की ओर भी ध्यान नहीं दिया। जिससे स्पष्ट हो जाता है कि जनता के सम्मुख केवल अपने भावों की अभिव्यक्ति ही करना चाहते थे। काव्य रचना की ओर उनका ध्यान न था। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी लेखनी मुख से निकले हुए शब्द हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि बन गए हैं।

कवीर की वाणी का प्रभाव जनता पर पड़ा। क्योंकि उनकी भाषा में पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, ब्रज, अवधी, खड़ी बोली, आदि के उदाहरण मिलते हैं।

जातीयता का विकास सामन्ती श्रृंखलाओं के छिन्न-भिन्न हो जाने पर ही हुआ। कवीर जनता की मनोवृत्ति से भली भाँति परिचित थे। वे यह अच्छी तरह जानते थे कि शासक वर्ग की सभ्यता संस्कार और जातीयता का जनता से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है, वरन् सामन्ती जातीयता मानव के विकास में बाधक है। जनता की संस्कृति और जातीयता का सम्बन्ध सर्वथा दूसरे वर्ग से है। परन्तु कवीर ने जातीयता के प्रचार के लिए रूढ़िवादी साधनों को दूर कर नवीन साधनों को अपनाया है। जातीयता का प्रसार कवीर ने भाषा द्वारा किया है।

भाषा को जातीयता का गौरव पूर्ण अंग जीवन प्रगति माना। कवीर के शब्दों में भाषा का गौरव निम्नलिखित है :—

‘संस्कीरति है कूप जल भाषा बहता नीर’

जीवन भर वह इसी बात का प्रयत्न करते रहे कि संकुचित क्षेत्र से निकल कर विस्तृत क्षेत्र में जनता जातीयता के अर्थ समझ सके। सन्त कवीर समस्त प्रकार की सुकीर्णता के विरोधी थे। इसीलिये उन्होंने एक ऐसी बृहत्तर भावना का प्रतिपादन और स्थापना की जो जनता के निकट और जनता के लिए सर्वथा उपयोगी थी।

प्रगतिशीलता

कवीर साहित्य की चतुर्थ महान परम्परा है प्रगतिशीलता। सामान्यतया प्रगतिशीलता का अर्थ होता है स्पन्दनशीलता, उत्तरोत्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर रहना।

कवीर ने समाज, साहित्य, धर्म सभी में प्रगतिशील विचारों का समावेश कर युग युग से पीड़ित एवं प्रताड़ित जनता का उद्धार किया। जिन विकृत तत्वों के प्रति उनकी प्रतिक्रिया जाग्रत हुई, उनमें मुख्य तत्व ये हैं :—

(१) पुरोहितवाद, (२) वर्णाश्रम धर्म, (३) मूर्ति पूजा, (४) धार्मिक अन्ध-विश्वास, (५) ब्राह्मण्डम्बर, (६) पूजा विधि, (७) पौराणिकता।

हिन्दू धर्म के सामान्य विश्वास अपने मूल रूप में बड़े ही सात्विक थे, परन्तु मध्य युग तक आते-आते ये सात्विक विश्वास अन्धविश्वासों में परिणत हो गये थे, और उनका प्रचार धर्म के सभी क्षेत्रों में था। मध्य युगीन जनता के लिये ये विश्वास परम्परागत रूढ़ियों के रूप में बन कर रह गये थे कवीर की वाणी ने इन्हीं विकृत रूपों का खण्डन करने में प्रवृत्त हुई। आपसी द्वेष की राक्षसी प्रवृत्ति को रोक कर कवीर सत् धर्म की प्रतिष्ठा में कटिबद्ध हो गये। रक्नपात, भौतिकता, और प्रतिकार भावना के विरुद्ध उपदेश दिये। संघ्या, वंदना, पंच महायज्ञ, बलि, श्राद्ध, पोडप-सस्कार विविध प्रकार के व्रत, तीर्थ शौचा-शौच सम्बन्धी आचारों का खण्डन किया जो कि केवल परम्परागत ही रह गये थे। कवीर साहित्य प्रगतिशीलता का प्रतीक है। प्रत्येक दृष्टि से कवीर का साहित्य प्रगतिशीलता के रंग में अनुरजित है। काव्य के अन्तरंग एवं बहिरंग उभय पक्षों में कवि पूर्णतया प्रगतिशील हैं। क्या भाषा, क्या भाव, क्या रस, क्या छन्द हर दृष्टि से उन्होंने प्रयोग किये जो उनके युग की मान्यताओं को पुष्टता प्रदान करते हुए भविष्य के लिए मानदण्ड बन गये।

शाश्वतता

सत काव्य में मानव जीवन की अनेक शाश्वत प्रवृत्तियों की बड़ी सुन्दरता के साथ चित्रण हुआ। युग-युग से मनुष्य प्रेम, क्षमा, दया, विश्ववन्द्यत्व और उदारता में विश्वास करता चला आ रहा है। मनुष्य सदैव से उदात्त वृत्तियों से युक्त रहा है। हीन कार्यों से हटकर हमारा मन स्वतः शान्तिमय वातावरण में रमना चाहता है। कवीर के काव्य में मनुष्य की इन्हीं जन्म जात और शाश्वत प्रवृत्तियों पर जोर दिया गया है। मानव समाज के सप्रदम्य वातावरण का परिश्याग करते आध्यात्मिक वातावरण में सन्तोष प्राप्त करता है। कवीर ने आध्यात्म को प्रतिष्ठा के लिए बार-बार उपदेश दिया है। आध्यात्म का विषय शाश्वत और चिरन्तन है, इसी कारण कवीर साहित्य शाश्वत साहित्य है।

कवीर ने साहित्य की रचना किसी स्वार्थ भाव में प्रेरित होकर नहीं की थी। उनकी रचनाएं स्वान्तः सुगाय और 'बहुजन हिताय' हुई थीं। इसीलिए इन

रचनाओं में मानव-जीवन के हित की भावना अप्रत्यक्ष रूप से प्रवाहित होती हुई शताब्दियों से जनता को सही मार्ग पर अग्रसर कर रही है।

सजीवता

कबीर साहित्य की षष्ठ महान परम्परा सजीवता है। कबीर के प्रति यह आरोप लगाया जाता है कि वे पलायनवादी थे, और उन्होंने भारतीय जनता को पलायनवाद का हर प्रकार से पाठ पढाया। जिसके फलस्वरूप भारतीय जनता अकर्मण्य बनती गई है। लेकिन तथ्य इसके विरुद्ध है। कबीर ने अपने युग की निराश जनता को आशा का प्रकाश दिखाया। उन्होंने भग्न हृदयों में उल्लास का संचार किया। जीवन को उन्होंने जीने योग्य बनाया और इस प्रकार से उन्होंने उदात्त एवं सात्विक जीवन का उपदेश देकर साहित्य के क्षेत्र में नवीन परम्पराओं को स्थापित किया। कबीर के काव्य में एक अलौकिक चेतना एवं सजीवता है। जिसकी आधारशिला आध्यात्मिक प्रणय की प्रतिष्ठा, आत्मानुभूतिगत माधुर्य, साधनात्मक रहस्यवाद और प्रतिभा आदि हैं। इन्हीं तत्वों ने कबीर के काव्य को सजीवता एवं माधुर्य का समावेश करके उसे सक्रिय बना दिया है।

गुरुदेव को अंग

सतगुरु सवाँन को सगा, सोधी सई न दाति ।
हरिजी सवाँन को हितू, हरिजन सई न जाति ॥ १ ॥

सन्दर्भ—सतगुरु का व्यक्तित्व अद्वितीय असाधारण, समादरणीय और अत्यन्त कल्याणकारी है। वह मुक्ति और भक्ति का भण्डार है। वह हरिजी और हरिजन से भी श्रेष्ठ है।

भावार्थ—सतगुरु के समान कौन सगा है, कौन अपना है। उसके समान कोई भी शोधक नहीं है। वह अमोघ, अजस्त्रदाता है। हरिजी अर्थात् भगवान को सदृश कौन हितैषी है और हरिजन अर्थात् वैष्णवजन के समान कोई जाति नहीं है, उसके समान कोई कुलीन नहीं है।

शब्दार्थ—सवाँन = समान, बराबर। को = कौन। सगा = स्वक् = अपना, अभिन्न। सोधी = शोधी—सशोधन करने वाला, शोधक। सई = समान। दाति = दातृ—दाता, दानी। हितू—हितैषी।

बलिहारी गुरु आपणै, घौं हाडी कै वार ।
जिनि मानिप तै देवता, करत न लागी वार ॥ २ ॥

सन्दर्भ—सतगुरु में दिव्य शक्ति है। उन्होंने हाडी के सदृश इस तुच्छ, हीन शरीर को दिव्यता प्रदान की। उनके प्रसाद से यह शरीर ध्व साधक हो गया।

भावार्थ—सतगुरु के श्री चरणों पर मैं अपने इस शरीर को अघम पञ्चतत्वों से विनिर्मित शरीर को जो हाडी के सदृश निःसार है—सतशः वार न्यौछावर करता हूँ। सतगुरु को मुझ दोषों से अभिशप्त वाननाओं से अस्त अघन प्राणों को दिव्यता प्रदान करने में विलम्ब न लगा। यही उनकी महत्ता है।

शब्दार्थ—बलिहारी = न्यौछावर। आपणै = अपने, मेरे। घौं ८ हूँ वर हूँ। हाडी—मृत्तिका पात्र। कै = कितनी। कै वार = कितनी वार। जिनि = जिन—जिन्हें। मानिप = मानुष = मनुष्य। तै = ते। वार = विलम्ब।

सतगुरु की महिमा अनंत अनंत किया उपगार ।
लोचन अनंत उवाड़िया अनंत दिव्यापणहार ॥ ३ ॥

संदर्भ — सतगुरु दिव्यशक्ति से सम्पन्न है। उनकी महत्ता, महिमा अनिर्वचनीय है। उन्होंने अनन्त कृपा करके शिष्य को अपरिमेय शक्ति प्रदान की।

भावार्थ—सतगुरु की महिमा अनन्त है। उनकी महत्ता का वर्णन नहीं हो सकता है। उन्होंने शिष्य के प्रति अनन्त उपकार किए हैं। उन्हीं की असीम कृपा से अनन्त अर्थात्-ज्ञान के चक्षु उद्घाटित होगा। उनकी असीम कृपा से अनंत, निराकार निर्विकार ब्रह्म के दर्शन हो गए।

शब्दार्थ—अनंत = अनन्त, असीम। उपगार = उपकार। लोचन = नयन। उघाडिया = उघाड, उद्घाटित किया। दिखावणहार = दिखावनहार = दिखाने वाला।

राम नाम कै पटंतरै, देवै कौं कुछ नांहि।

क्या ले गुरु संतोषिए, हौस रही मन मांहि ॥ ४ ॥

संदर्भ—शिष्य के मन में असीम कृतज्ञता की भाव है। वह सतगुरु के प्रति प्रतिदान की इच्छा रखता है, पर गुरुदेव के प्रति क्या समर्पित किया जाय यह संकल्प विकल्प मन में साकार रहता है। उसकी अभिलाषा अपूर्ण ही रह गई।

भावार्थ—सतगुरु ने 'रामनाम' जैसी दिव्य वस्तु का दान शिष्य को दिया। शिष्य के पास प्रतिदान के लिए कोई भी उपयुक्त पदार्थ नहीं है। शिष्य के मन में हौसला, अभिलाषा, आकांक्षा अपूर्ण एवं बलवती बनी हुई है कि सतगुरु के महान् व्यक्तित्व की अनुकूल कौन-सी वस्तु प्रतिदान में दी जाय।

शब्दार्थ—पटंतरै—समान, बराबर। देवै—देने योग्य। कौ—को। ले—दे, देकर। संतोषिए—प्रसन्न कीजिए। हौस = हौसला—इच्छा, आकांक्षा। मनमांहि—मन में।

सतगुरु के सकै करुँ दिल अपणी का साछ।

कलियुग हम स्युँ लड़ि पड़या मुहकम मेरा बाछ ॥ ५ ॥

संदर्भ—सतगुरु सर्वथा प्रशंसनीय है, वंदनीय है। उसकी महती कृपा से शिष्य कलियुग से पराभूत होने से बच गया।

भावार्थ—अपने हृदय की समस्त सत्यता को साक्षी करके, पूर्ण मनोयोग में मैं सद्गुरु के चरणों में अपने को न्यौछावर करता हूँ। कलियुग ने पूर्ण शक्ति के साथ मेरे प्रति आक्रमण किया परन्तु मेरी वाछाएँ बलशालिनी थीं। अतः मैं सद्गुरु की कृपा से भवसागर उत्तीर्ण हो गया।

शब्दार्थ—सकै = सिद्ध का—बलि जाऊँ, न्यौछावर जाऊँ। दिल = हृदय। स्युँ = से। पड़या = पड़ा। मुहकम = प्रबल, बलशाली। वाछ = वाछा, अभिलाषा।

सतगुरु लई कमाण करि, बांहरण लागा तीर ॥
एक जु बाह्या प्रीति सँ, भीतरि रह्या शरीर ॥ ६ ॥

सन्दर्भ—सतगुरु सच्चा सूरमा है। वह शब्दवाण मारने में अत्यन्त निपुण है उसने ऐसा शब्द-वाण मारा कि शिष्य का मर्म आहत हो गया और वह तत्व से पूर्णतया परिचित हो गया।

भावार्थ—सतगुरु ने हाथ में धनुष ग्रहण करके तीर बहाना (दया फेंकना) प्रारम्भ किया। एक तीर जो उसने बड़े प्रेम से मेरे प्रति संधान किया, वह मेरे शरीर में घर कर गया।

विशेष—प्रस्तुत साखी में कवि ने सतगुरु को सूरमा के रूप में व्यक्त किया है, जो तीर संधान करने में अत्यन्त कुशल है वह अनवरत रूप से शिष्य के प्रति जो शब्द-वाण को लक्ष्य करता रहा है। परन्तु एक शब्द-वाण उसने बड़े हित और प्रेम से संधान किया। इस वाण से शिष्य का मर्म आहत हो गया और वह ब्रह्ममय हो गया।

शब्दार्थ—लई—ली, ग्रहण की। करि=कर—हाथ। बाहण=बहाने अर्थात्—फेंकने लगा। बाह्या=बहाया, फेंका। शरीर—शरीर।

सतगुरु सांचा सूरिवां, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही मैं मिल गया, पढ्या कलेजे छेक ॥ ७ ॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत साखी में सतगुरु को एक और विशेषता का उल्लेख किया है। वह सच्चा सूरमा है। उसका लक्ष्य अचूक और अत्यन्त प्रभावशाली है। उसका वाण शब्द-वाण है। शब्द-वाण ने शिष्य के मर्म को आहत कर दिया है।

भावार्थ—सतगुरु सच्चा शूरवीर है। उसने मेरे प्रति एक ऐसे शब्द-वाण का अनुसंधान किया, जिसके प्रभाव में मेरा मर्म आहत हो गया और मैं मेरा गीया हुआ अपनत्व मुझे सम्प्राप्त हो गया।

विशेष—शब्द वाण के लगते ही मेरा गीया हुआ अपनत्व प्राप्त हो गया। तात्पर्य है कि मैं जो माया के आकर्षक स्वप्न को देखकर धारम विहृत हो गया था, सतगुरु के शब्द वाण के लगते ही पुनः अपने लीये हुए स्वर को प्राप्त हो गया। मैं माया से आवृत्त होने के कारण अपने निवृत्त एव निराकार स्वप्न को विभर गया था पर सतगुरु की जगह से ज्ञान प्राप्त हुआ और मैं पुनः अपने मौलिक स्वर में परिवर्तित हो गया। पढ्या कलेजे छेक में तात्पर्य है कलेजा (पर मर्म) आहत हो गया।

शब्दार्थ—सांचा = सच्चा । सूरिवां = शूरमा । सबद = शब्द । वाहया = वहाया, फँका । लगते । पडया = पडा-हुआ । छेक प्रभाव डालना ।

सतगुरु मार्या बाण भरि धरि करिसूधी मूठि ।

अंगि उघाडै लागिया, गई दवा सँ फूटि ॥ ८ ॥

संदर्भ—प्रस्तुत साखी में कवि ने विगत साखी के भाव को अधिक विस्तार के साथ व्यक्त किया है । विगत साखी में कवि ने सतगुरु के शूरत्व तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व का उल्लेख किया है । यहाँ उसी भाव का विश्लेषण करते हुए कबीर ने शब्द बाण के तीव्र एवं व्यापक प्रभाव को अंकित किया है ।

भावार्थ—सतगुरु ने शक्तिभर शिष्य को लक्ष्य करके बाण मारा । फलतः शिष्य के शरीर में दावाग्नि भी प्रस्फुटित हो गई और शिष्य के अंगों को उदघाटित करने लगा ।

विशेषः—(१) मार्या बाण भरि से तात्पर्य यह है कि सतगुरु ने पूर्णशक्ति के साथ बाण मारा । (२) धरि— मूठि-लक्ष्य साधन करके । (३) अंगि—लागिया सतगुरु के शब्द बाणों ने शिष्य के अंगों को उदघाटित कर दिया । अर्थात् शब्द बाण ने मर्म को आहत कर दिया । (४) गई-फुटि-शब्द बाण के फलतः ज्ञान की अग्नि दावाग्नि से फैल गई और उसने व्यक्तित्व के असर तत्वों को विनष्ट कर दिया ।

शब्दार्थ—भरी पूरी शक्ति के साथ । सूधी = सूधे । दवा = दावाग्नि ।

हँसै न बोलै उनमनी, चंचल मेल्हया मारि ।

कहै कबीर भीतरि भिद्या, सतगुर कै हथियारि ॥ ९ ॥

संदर्भ—सतगुरु ने पूरी शक्ति के साथ शब्द-बाण को शिष्य के प्रति मारा और फलतः प्रेम या ज्ञान की अग्नि शिष्य के सम्पूर्ण शरीर में प्रस्फुटित हो गई । प्रस्तुत साखी में कवि ने शब्द बाण के प्रभाव को स्पष्ट एवं अधिक विस्तार के साथ यहाँ प्रकट किया है । शब्द बाण का प्रभाव यह पडा, कि शिष्य उन्मत्त अवस्था में प्रद्विष्ट हो गया और उसका चंचल मन पगु या गति-विहीन हो गया ।

भावार्थ—शब्द बाण रूपी सतगुरु के हथियार ने शिष्य के अन्तःस या मर्म को आहत कर दिया । अब वह हृषं-विपाद की मानव से परे होकर संसार से उन्मत्त या उदामीन हो गया और उसका चंचल मन प्रगान्त हो गया ।

विशेष—(१) "हँसै न बोलै" शिष्य शब्द बाण के लगते ही शिष्य समाहित भावनाओं और प्रतिक्रियाओं में ऊपर उठ गया । वह बोतराग या समाद की बलार्थ स्थिति को भली प्रकार समझ गया और वह संसार से विमुक्त हो उठा, (२) 'उनमनी' से तात्पर्य है उदामीन । (३) 'चंचल' शब्द का प्रयोग संत साहित्य में मन के लिए

प्रयुक्त हुआ है। (४) 'मेल्या' का अर्थ है फेका। शब्द बाण फेका और शिष्य के मन को गति विहीन कर दिया। (५) 'भीतरि से तापर्य' है 'हृदय' अन्तस या मर्म। (६) हथियार—शब्द बाण।

शब्दार्थ—भिद्या — भिदा = भेदा = भेद गया। उनमनी = उन्मनी।

गूंगा हूवा बावला, बहरा हूआ कान।

पाऊँ थै पंगुल भया, सतगुर मार्या बाण ॥१०॥

सन्दर्भ—“सतगुरु के हथियारि” कुछ ऐसा “भीतरि भिद्या” कि शिष्य का चंचल मन तो पंगु हो ही गया, साथ ही वह उस अवस्था को भी पहुँच गया जिसे “उनमनी” कहा गया है। इतना ही नहीं इस “हथियारि” का ऐसा अद्भुत एव अकथनीय प्रभाव पड़ा है कि शिष्य की इन्द्रियाँ भी निश्चेष्ट एव चेतना विहीन हो गई है।

भावार्थ—सतगुरु ने ऐसा शब्द बाण मारा है कि शिष्य गूंगा, बावला बधिर एव पगू हो गया।

विशेष—प्रस्तुत साखी में कवि ने रहस्यवादी की उस स्थिति का वर्णन किया है, जिस में उसकी विभिन्न इन्द्रियाँ एव कार्य को विसर जाती हैं और वे निश्चेष्ट हो जाती हैं। ज्ञान की ज्योति सम्प्राप्त हो जाने पर, ब्रह्म की अनुभूति परिपूरित हो जाने पर साधक की इन्द्रियाँ लौकिक आनन्द तथा सामारिक सुखों की ओर से विमुख हो जाती हैं। इस उच्चतम स्थिति पर पहुँचने के अनन्तर उसकी वाक् शक्ति या अभिव्यजना शक्ति मौन हो गयी, उसकी कर्णेंद्रिय शब्द ग्रहण की प्रक्रिया की भूँच गई और उसे पगू पंगुल हो गए। अब वह बावला-सा प्रतीत होने लगा। उसकी मनःस्थिति कुछ ऐसी हो गई कि वह जीवन और संसार से उदासीन हो नहीं पूर्णतया विमुख हो गया। समार जिसे सुख, जिसे वैभव तथा जिसे महत्व कटता है, वह उसे निःसार प्रतीत होने और उसके इस दृष्टिकोण को देख कर सामारिक उसे बावला समझने लगा। वस्तुतः वही ज्ञानी और तत्त्व वेत्ता है।

शब्दार्थ—हूवा = हुवा। पगुन = पगु — गतिविहीन।

पीछेँ लागा जाइ था, लोक वेद के नाथि।

आगेँ थै सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि ॥११॥

सन्दर्भ—लोक-नुमोदिन मार्ग पर चलते हुए साधारणों का अनुभव करना जीवन का सधन था। परन्तु सतगुरु की महती कृपा हुई। उन्होंने ज्ञान-दीपक रूप में दिया और उन्नत मार्ग का नरपाल का मार्ग उल्लेख हो गया।

भावार्थ—शिष्य लोकानुमोदित मार्ग का अन्य अनुसरण करता हुआ जा रहा था। परन्तु आगे सतगुरु के दर्शन हुए। उन्होंने ज्ञान का दीपक हाथ दिया।

विशेष—सतगुरु की महान अनुकम्पा इसलिए हो कि उसने अन्धानुकरण और लोक वेद प्रतिपादित मार्ग को निःसार बताया और ज्ञान के दीपक के जीवन के मार्ग को परिष्कृत एवं अलौकिक किया।

शब्दार्थ—पीछें = अनुकरण। साथि = साथ। मिल्या = मिला। दीया = दिया, प्रदान किया।

दीपक दीया तेल भरि, वाती दई अघट्ट।

पूरा किया विसाहुणां बहुरि न आवौ हट्ट ॥१२॥

सन्दर्भ—सतगुरु की कृपा से न केवल अंधानुकरण से ही उन्मुक्ति प्राप्त हुई और न केवल अज्ञान से अवकाश मिला। वरन् ज्ञान का ऐसा दीपक मिला जो अक्षय और अनन्त हो सतगुरु ने जो ज्ञान का दीपक प्रदान किया, उसमें अक्षय तेल, अघट्ट वाती और अनन्त प्रकाश भी था।

भावार्थ—सतगुरु ने प्रेमरूपी तेल से सयुक्त दीपक प्रदान किया, जो न घटने वाली वाती सम्पन्न था। दीपक के प्रकाश में शिष्य ने संसार रूपी बाजार में क्रय-विक्रय पूर्ण किया। अब इस संसार रूपी बाजार में पुनः नहीं आगमन होगा।

विशेष—प्रस्तुत साखी में ज्ञान के दीपक में प्रेम का तेल तथा अघट्ट वाती का उल्लेख किया है। क्रय-विक्रय प्रकाश में किया जाता है। संसार रूपी हाट में अज्ञान वा अधकार, माया वा तम चारों ओर प्रसारित है। उस तम या अधकार के कारण सुकृत का क्रय-विक्रय सम्भावित नहीं था। अब अघट्ट वाती तथा अक्षय तेल दृष्ट ज्ञान का दीपक प्राप्त हो गया है। अब सुकृत तथा पुण्य का क्रय कर लिया गया है। अतः जीवन्मुक्त होकर साधक अब पुनर्जन्म के क्रम में नहीं पड़ेगा।

शब्दार्थ—दीया = दिया = प्रदान किया। अघट्ट = अघट = न कम होने वाली। विसाहुणा = क्रय-विक्रय, खरीदारी। आवौ = आवो = आऊँ = आना होगा। हट्ट = हट = हाट = बाजार।

ग्यान प्रकार्या गुर मिल्या, सो जिनि वीसरि जाइ।

जब गोविन्द कृपा करी, तब गुर मिलिया आइ ॥ १३॥

सन्दर्भ—ज्ञान से सुशोभित एवं समलक्षित गुरु की प्राप्ति एवं दर्शन वर्ये भाग्य से होते हैं। ऐसे महान ध्यति के दर्शन के भी ईश्वर की प्रेरणा और अनुकृपा का फल है। इस प्रकार का असाधारण, अद्भुत और अद्वितीय ध्यतिव्यविस्मरणोप है।

भावार्थ—गोविन्द की कृपा से मुझे ग्यान के आलोकित या प्रकाशित गुरु मिला । ऐसा सतगुरु अविस्मरणीय है ।

विशेष—कवीर का यदि यह विश्वास है कि “गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पाँय । बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो बताय,” “तो वही कवीर यह भी रखते हैं कि” “जब गोविन्द कृपा करी, तब गुरु मिलिया आइ । कवीर को इस बात की प्रसन्नता है कि उसका गुरु ग्यान से पूर्ण और ईश्वर की कृपा से प्राप्त हुआ है ।

शब्दार्थ—प्रकास्या = प्रकासा = प्रकाशा = प्रकाशित । गुरु = गुरु । मिल्या = मिला । जिनि = जिन । मत = नहीं । वीसरि = वीसर = विनरा = भूला । मिलिया = मिला ।

कवीर गुरु गरवा मिल्या, रलि गया आटै लूण ।

जाति पाँति कुल सब मिटे, नाँव धरौगे कौण ॥१४॥

संदर्भ—ज्ञान के आलोक से प्रकाशित गुरु मिला । वह गुरु न केवल ज्ञान से सम्पन्न है, वरन् वह गौरव से मुक्त तथा महानात्मा भी है । गुरु के महान व्यक्तित्व से शिष्य अभिभूत हो गया और उसी में समा गया । ज्ञान से आलोकित गुरु के प्रभाव से शिष्य भी ज्ञान सम्पन्न हो गया और उसका जाति, वर्ण, कुल की सब भावना विलीन हो गई । वह शुद्धात्मा के रूप में विचरण करने लगा ।

भावार्थ - कवीर कहते हैं गौरवमय तथा गम्भीर गुरु मिला । गुरु ने अपने व्यक्तित्व में मुझे एकाकर लिया । मैं उससे मिलकर उसी प्रकार अभिन्न हो गया, यथा आटा एवं नमक मिलकर अभिन्न हो जाता है । इस प्रकार सतगुरु के व्यक्तित्व में एकाकार हो जाने की अनन्तर जाति, कुल और नाम की सारी सोनाई विनष्ट हो गई और मैं विगुद्धात्मा हो गया । ऐसी शुद्धात्मा का क्या नामकरण होगा ?

विशेष—आटै-लूण में तात्पर्य है यथा आटा में मिलाकर नमक एकाकार हो जाता है । उसी प्रकार सतगुरु को महानात्मा ने मिलाकर शिष्य की आत्मा एकाकार हो गई । (२) “गुरुगरवा” से तात्पर्य है कि ज्ञान के गौरव में पूर्ण और गम्भीर (३) जाति-वर्ण से तात्पर्य है सामाजिक एवं सामाजिक मान्यताएँ एवं प्रवेदन्य एवं विनष्ट हो गये । शिष्य शुद्धात्मा हो गया । (४) नाव-धरौगे-कौण से तात्पर्य है कि अब शिष्य जन्म, अजात, अवर्ण और अनेद हो गया ।

शब्दार्थ—लूण = लोण—नमक । गरवा = गरवा— गम्भीर । नाव = नाम । कौण = कौन ।

जाका गुरु भी अंधला, चेला खरा निरंध ।
अंधै अंधा ठेलिया, दून्यूं कूप पडंत ॥ १५ ॥

संदर्भ—सतगुरु के ज्ञान से प्रकाशित होकर शिष्य विशुद्धात्मा हो गया । वह इनाम और अजात हो गया । परन्तु जिसका गुरु अन्धा है और चेला भी खरा निरंध है । ऐसे गुरु और शिष्य दोनों ही अन्धे प्राणियों के सदृश विनाश के कुएं में गिरते हैं ।

भावार्थ—जिस शिष्य का गुरु अन्धा और चेला स्वतः अन्धा है वे दोनों एक दूसरे को ठेलते-ठेलते कुएं में जा पड़ते हैं ।

विशेष—प्रस्तुत साखी में कबीर के अज्ञानी गुरु एवं शिष्य की दुर्दशा का उल्लेख किया है । दोनों अज्ञान के कारण एक दूसरे को ठेलते हुए विनाश के कूप में विनष्ट हो जाते हैं ।

शब्दार्थ—अवला = अंधा—अज्ञान के अन्धकार से ग्रस्त । खरा = पूर्णतया । निरंध = निरा = निरा अन्धा । ठेलिया = ठेलते हुए । दून्यूं = दोनों । कूप = माया का कूप या विनाश का कूप । पडंत = गिरता है ।

नां गुरु मिल्या न सिप भया, लालच खेला डाव ।
दून्यूं वूड़े धार में, चढ़ि पाथर की नाव ॥१६॥

संदर्भ—ज्ञानी सतगुरु के न मिलने के कारण बड़ा अहित हुआ । शिष्य माया, मोह, लालच और अन्य सजातीय कुप्रवृत्तियों से पराजित हो गया, जो अज्ञानी गुरु प्राप्त हुआ उसने शिष्य को ऐसा मार्ग प्रदर्शित किया, जिसके कारण गुरु और शिष्य अपने अज्ञान के कारण भवसागर में डूब गए ।

भावार्थ—न सत् गुरु मिला, न शिष्य को सत् दीक्षा प्राप्त हुई । लोभ या लालच ने दोनों के प्रति दांव खेला रहा । पत्थर की नाव में बैठकर (भवसागर को उत्तीर्ण करने के अभिलाषी) दोनों भवसागर में डूब गए ।

विशेष—पहले की साखियों में कवि ने सतगुरु के प्रसाद से प्राप्त ज्ञानलोक का उल्लेख किया है । अब यहाँ पर उसने भूटे गुरु के दर्शन से जो अहित होना है, उसका उल्लेख कर दिया है । अज्ञान से अभिमत गुरु के कारण शिष्य तो विनष्ट हुआ ही, गुरु भी भवसागर के मध्य में डूब कर विनष्ट हो गया । (२) दून्यूं * में — से तात्पर्य है कि दोनों भवसागर में डूब गए । (३) चढ़ि * नाव = से तात्पर्य है माया, लालच या मोह की नाव ।

शब्दार्थ—मिल्या = मिला । सिष = शिष्य । भया = हुआ । डाव = दाव ।
दून्यू = दोनो । धार = मङ्गधार । पाथर = पत्थर । नाव = नौका ।

चौसठि दीवा जोड करि, चौदह चंदा मांहि ।
तिहिं घरि किसको चानिणौ, जिहि घरि गोविन्द नाहिं ॥१७॥

सन्दर्भ—सतगुरु के प्रसाद से ज्ञान के प्रकाश से शिष्य आलोकित हो गया । जो गुरु स्वतः ज्ञानालोक से आलोकित है वह शिष्य के व्यक्तित्व से भी वासनाओं के तामसिक अन्धकार को दूर कर सकता है । सतगुरु ने शिष्य के व्यक्तित्व को ब्रह्म के प्रकाश से प्रकाशित कर दिया है । जो ब्रह्म के प्रकाश से आलोकित नहीं है, उनके व्यक्तित्व को कौन सुशोभित कर सकता है ।

भावार्थ—जिस घर में गोविन्द का निवास नहीं है, वह घर चौसठ कलाओं और चन्द्रमा की चौदह राशियों से आलोकित होने पर भी, अन्धकार ग्रस्त ही रहेगा ।

विशेष—प्रस्तुत साखी में दो बातें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं । प्रथम ब्रह्म के ज्ञान का प्रकाश चौसठ कलाओं और चन्द्र की चौदह कलाओं के समन्वित प्रकाश से भी अधिक है । द्वितीय, यह कि हृद्य मन्दिर ब्रह्म नुभूति के अभाव में शून्य और अन्धकार से ओत-प्रोत रह जायगा । (२) चौसठि दीवा से तात्पर्य है चौसठ कलाएं जो अज्ञान के अन्धकार को दूर करती हैं । (३) चौदह चंदा—चन्द्रमा की १४ कलाएं जो अन्धकार को नष्ट करती हैं । (४) घर से तात्पर्य है = शरीर ।

शब्दार्थ—चंदा = चन्द्रमा । चानिणौ = प्रकाश ।

निस अंधियारी कारणौ, चौरासी लाख चन्द ।

अति आतुर ऊदै किया, तऊ दृष्टि नहि मन्द ॥१८॥

सन्दर्भ—विगत साखी में कवि ने कहा है कि “तिहि घरि किसको चानिणौ जिहि घरि गोविन्द नाहिं” । उसी भाव को विकसित करते हुए यहाँ कबीर ने कहा है कि अज्ञान निशा को दूर करने के लिए अत्यन्त आतुरता के साथ यदि ८४ लाख चन्द्र को उदित करने का आयोजन किया जाय तो वह दूर नहीं होगा, यदि दृष्टि माया के कारण मनीष है ।

भावार्थ—राशि के अन्धकार को दूर करने के लिए यदि अत्यन्त आतुरता के साथ ८४ लाख चन्द्र को उदित किया जाय तो भी अन्धकार दूर नहीं होगा, यदि दृष्टि मनीष है ।

विशेष—यदि दृष्टि मन्द है, या मनीष है तो एक क्षण पर दूसरे ८४ लाख चन्द्र का प्रकाश भी नहीं दृष्टिगत होगा । चन्द्र और नेत्रों के मध्य में विस्तारों का

पर्दा पड़ा है। इसी प्रकार ब्रह्मानुभूति की शक्ति के बिना दृष्टि निर्मल नहीं होगी। (२) निस...कारणों — रात्रि के अन्धकार के कारण या रात्रि के अन्धकार को दूर करने के लिए। (३) अति आतुर...किया = अत्यन्त आतुरता के साथ अथवा अत्यन्त तीव्रता के साथ चन्द्रमा उदय किया या आयोजित किया। (४) तऊ...मन्द = फिर भी दृष्टि नहीं है। दृष्टि मन्द ही रहेगी।

शब्दार्थ—ऊदै = उदय। दिष्टि ७ दृष्टि।

भली भई जु गुर मिल्या, नहीं तर होती हांणि।

दीपक दिष्टि पतंग ज्यूँ पड़ता पूरी जाणि ॥१६॥

सन्दर्भ—सतगुरु की महिमा अनन्त है। उसने “अनन्त किया उपगार” तथा “लोचन अनन्त उघाडिया अनन्त दिखावणहार”। तथा “सतगुरु सर्वान को सगा सोधी सई न दाति।” उसके शब्दवाण “लागत ही मैं मिलि गया पड्या कलेजे छेद”। ऐसे बहुगुणी सतगुरु के न मिलने से बड़ा अहित होता। उसके अभाव में शिष्य की दृष्टि माया रूपी पतंग पर अवश्य पड़ती। और वह आवागमन के क्रम में सदैव के लिए बंध जाता।

भावार्थ—अच्छा ही हुआ जो गुरु के दर्शन हो गए नहीं तो बड़ी हानि होती। पतंग रूपी मेरी दृष्टि माया रूपी दीपक पर अवश्य पड़ती और इस प्रकार हर प्रकार से हानि की सम्भावना थी।

विशेष—प्रस्तुत साखी में कबीर ने “दीपक दिष्टि पतंग” की सुन्दर कल्पना की है। माया दीपक है और मन या दृष्टि पतंग है। यहाँ पर कवि की अप्रस्तुत योजना औचित्य तथा यथार्थपूर्ण है।

शब्दार्थ—भली = अच्छा, कल्याणकारी। भई = हुई, हुआ। तर = तो। हांणि = हानि = नुकसान। दिष्टि = दृष्टि। ज्यूँ = ज्यों। जाणि = जानि = जान।

माया दीपक नर पतंग, भ्रमि-भ्रमि इवै पडन्त।

कहे कबीर गुर ग्यान रै, एक आध चरन्त ॥२०॥

सन्दर्भ—पूर्व साखी में प्रयुक्त अप्रस्तुत योजना “दीपक दिष्टि पतंग ज्यूँ” को और भी विस्तार तथा स्पष्टता के साथ व्यक्त करते हुए कवि ने गुरु के ज्ञान के सम्बन्ध पुनः श्रद्धा, आस्था तथा विश्वास प्रकट करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से गुरु की महत्ता का वर्णन किए हैं।

भावार्थ—माया रूपी दीपक पर नर (रूपी) पतंग, मंटरा-मंटरा कर गिरता है। परन्तु कबीर का मत है कि गुरु के ज्ञान से (इस विनाश से) एक आध उबर जाता है या उटार भी प्राप्त करता है।

विशेष—माया के आकर्षक स्वरूप पर मानव उसी प्रकार भ्रम के कारण, या अज्ञान के कारण मडला-मडला कर गिरता है, यथा दीप-शिखा पर पतंग आकर्षित होकर प्राण अर्पित कर देते हैं। (२) “एक आघ” से तात्पर्य विरले। (३) प्रस्तुत साखी में अप्रत्यक्ष रूप से सतगुरु की सामर्थ्य की प्रशंसा की गई है। वह सर्वथा स्तुत्य और बंदनीय हैं।

शब्दार्थ = पडंत = पडते हैं। उवरंत = उवरते हैं।

सतगुरु बपुरा क्या करै, जे सिपही मांही चूक।

भावे त्यूं प्रमोधि ले, ज्यूं वंसि वजाई फूंक ॥२१॥

सन्दर्भ—यदि शिष्य माया में अनुरक्त है, या दोषपूर्ण हो तो सतगुरु का क्या दोष। सतगुरु की शिक्षा का कोई भी प्रभाव शिष्य पर नहीं दृष्टिगत होगा, यदि वह दोषयुक्त हो। परन्तु निपुण या साधना में सिद्ध सतगुरु दोषों से अभिशप्त शिष्य को भी प्रबुद्ध कर लेता है। तथा कुशल वाद्यकार छिद्रों से युक्त वासुरी के माध्यम से सुन्दर एवं मनोहर राग प्रस्फुटित करता है।

भावार्थ—सतगुरु वेचारा क्या करे, यदि शिष्य ही दोष या त्रुटि पूर्ण है। (कुशल) सतगुरु उसी प्रकार से शिष्य को प्रबुद्ध कर लेता है। यथा कुशल वजाने वाला (वहु छिद्रों वाली) वांसुरी को वजा लेता है।

विशेष—प्रस्तुत साखी में कवि ने युक्ति सगत बात का उल्लेख किया है। समर्थ सतगुरु शिष्य को वैसे ही उचित मार्ग पर ले जाता है। यथा वांसुरी वजाने वाला, बहुछिद्र सम्पन्न होने पर भी वांसुरी को वजा लेता है।

शब्दार्थ—बपुरा = वेचारा। सिपही = शिष्य ही। मांही = मैं है। प्रमोधि = प्रबोध।

संसे खाया सकल जुग, संसा किनहूँ न खद्व।

जै वेधे गुरु अप्पिरां, तिन संसा चुण-चुण खद्व ॥२२॥

सन्दर्भ—सतगुरु के शब्दों में अद्भुत शक्ति एवं अद्भुत प्रभाव हैं। उन महानःशक्तियों के द्वारा शिष्य में जिन अद्वितीय शक्तियों को अनुदान कर दिया है, उनका उल्लेख वेधे सांख्यो में हो चुका है। सतगुरु ने समस्त समार को नष्ट कर दिया है। पर जो सतगुरु के शब्दों में बाह्य हो चुके हैं, उन्होंने सतगुरु को भी दृष्ट करके गुरु पर विजय प्राप्त कर ली है।

भावार्थ—संशय ने समस्त जगत को खा डाला । पर संशय को कोई न (खा सका या) नष्ट कर सका । परन्तु जन्हे गुरु के अक्षरो (शब्द वाणी) ने वेधा (या आहत किया) है, उन्होने ही संशय को चुन-चुन कर (खा डाला या) नष्ट कर डाला ।

विशेष—गीता मे भगवान् कृष्ण का उपदेश है :“संशयात्मा विनश्यति ।” जो संशय, भ्रम, आशंका से परिपीडित हैं, वे नाश को प्राप्त होते हैं । (२) गुरु की वाणी मे या शब्द वाणी मे वह सामर्थ्य है कि शिष्य के समस्त संशय विनष्ट हो जाते हैं ।

शब्दार्थ—खद्व = खाया । जे = जिन्हे । वेध = वेधा है, या आहत किया है । चुणि = चुनि । ससा = सशय ।

चेतनि चौकी बैसि करि, सतगुरु दीन्हाँ धीर ।

निरभै होइ निसंक भजि, केवल कहै कबीर ॥२३॥

संदर्भ—सतगुरु ने शिष्य के अनन्त लोचन ही नहीं उदघाटित किया, वरन् उसे वैरा का वरदान भी दिया । साथ ही सतगुरु ने निःशक होकर ईश्वराराधना करने का भी उपदेश दिया ।

भावार्थ—चैतन्य चौकी पर आसीन होकर सतगुरु ने धैर्य धारण करने का उपदेश दिया । धैर्य के साथ ही सतगुरु ने निभंर एव निःशक होकर ईश्वर की आराधना का उपदेश दिया ।

विशेष—“चैतन्य चौकी” पर बैठकर से तात्पर्य है ज्ञान की चौकी या ज्ञान के आसन पर बैठकर । (२) चेतनि—धीर—ज्ञान के उच्च आसन पर बैठकर सतगुरु ने शिष्य को धैर्य का धारण करने का आशीर्वाद दिया । (३) निरभै होइ निसंक भजि “से तात्पर्य है निभंय और शका रहित होकर आराधन कर । (४) “भजि” से तात्पर्य है जप ।” यहाँ यह शब्द आदेशात्मक, रूप मे प्रयुक्त हुआ है । (५) “केवल” का तात्पर्य है अद्वैत ब्रह्म ‘केवल’ शब्द का प्रयोग सतो ने ब्रह्म अद्वैत क्षर्य मे किया है ।

शब्दार्थ—चेतनि = चेतन = चैतन्य । बैसि = बैठि । धीर = धैर्य । निरभै = निभंय । निसंक = निःशक । होइ = होकर । भजि = भज । करि = कर ।

सतगुरु मिल्यात का भया, जे मनि पाड़ी भोल ।

पामि विनंठा कप्पडा, क्या करे विचारी चोल ॥२४॥

संदर्भ—कवीर ने प्रस्तुत साखी का भाव "सतगुरु कौ अग" को २१ वीं साखी में व्यक्त करते हुए कहा है "सतगुरु वपुरा क्या करे, जे सिगाही मां है चूक ।" इसी भाव को किंचित अधिक विस्तार के साथ व्यक्त करते हुए कवि ने सुन्दर अप्रस्तुत, योजना की आयोजना की है ।

भावार्थ—यदि मन ही भूलो से भरा है तो, सतगुरु का मिलना और न मिलना समान है । यदि पाम में विनष्ट या फटा । कपडा है, तो उसके आवार पर तैयार किया हुआ अधोवस्त्र की क्या उपयोगिता होगी ।

विशेष—प्रस्तुत साखी में सुलभ एवं सरल अप्रस्तुत योजना के माध्यम में कवीर ने यह कहा है कि यदि शिष्य का मन माया में ही अनुरक्त है तो सतगुरु बेचारे का क्या दोष । फटे हुए कपडे से शरीर नहीं ढका जाता है । यदि इतना होने पर भी कोई फटे हुए वस्त्र से चोल या चोली मिले और उससे शरीर आवृत नहीं सकते, कपडे का क्या दोष ।

शब्दार्थ—त=सो । का=क्या । भवा=हुआ । जो=यदि । पाडो=पारी या आच्छादित । भोल=भ्रम । पासि=पास अधिकार में । विनटा=विनष्ट । कपडा=कपडा । चोल=चोली ।

बूड़े थे परि ऊधरे, गुरु की लहरि चमंकि ।

भेरा देख्या जरजरा, (तव) ऊतरि पड़े फरकि ॥२५॥

संदर्भ—गुरुदेव की अग की २० वीं साखी में कवीर ने गुरु कौ अद्वितीय शक्ति का उल्लेख किया है, जिसकी कृपा से एक आध शिष्य का उद्धार होता है । कवीर ने उक्त साखी में कहा है "कहै कवीर गुरु ग्यान धै एक आध उवरत ।" यहाँ पर कवीर ने पुनः उसी आशय को अभिनव अप्रस्तुत योजना द्वारा नये शब्दों में व्यक्त किया है ।

भावार्थ—हम भव नागर में मग्न थे । पर गुरु की (कृपा की) लहर मन में देवकर मेरा उद्धार हो गया । ननगुर की कृपा प्राप्त होते ही मैंने जरजर बेड़ा का परित्याग कर दिया और उस पर नें पडक कर उतर पडा ।

विशेष—गुरु की कृपा अगाध और निःसीम है यथा नागर । नागर जो उत्तुङ्ग लहरों में प्रवल शक्ति होती है । उसी प्रकार नागर के समान पम्भीर, व्यापक निःसीम सतगुरु का व्यक्तित्व है उनकी कृपा की लहर में अदभुत शक्ति है । वह शिष्य का उद्धार करने में समर्थ है । (२) "बूड़े थे परि ऊधरे" का अर्थ है भव नागर में डूबे हुए धै पर उद्धार हो गये । (३) "लहरि" से तात्पर्य 'कृपा की लहर ।' (४) "चमंकि" समस्त या प्रकाश । गुरु की कृपा की शक्ति प्रकटित हुई या प्रकाशित

हुई और अपने अज्ञान के अन्वकार मे मग्न शिष्य का उद्धार किया। (५) मेरा से तात्पर्य है 'वेडा।' यहाँ वेडा से तात्पर्य है लोक वेदानुमोदित मार्ग, या माया वेडा। (६) 'जरजरा'—से तात्पर्य है जर्जर, क्षीण, विनाशशील मग्न प्राय (७) "फरकि" से तात्पर्य है फडक कर, या फाँद कर।

शब्दार्थ—परि = पर, परन्तु। ऊवरै = उबरे, उद्धार हुआ। मेरा = वेडा। जरजरा = जर्जर। ऊतरि = उतर।

गुरु गोविंद तौ एक है, दूजा यहु आकार।
आपा मेट जीवत मरै, तौ पावै करतार ॥२६॥

संदर्भ—गुरु और गोविन्द एक हैं, अभिन्न हैं। गुरु और गोविन्द से भिन्न जो कुछ है वह माया या भ्रम है। प्रेम रस पान करना सरल नहीं है। अहं के जीवित रहते ब्रह्मानुभूति असम्भव है। प्रेम के मार्ग में अहं सबसे बड़ा बाधक है। कबीर ने सच कहा है "पीया चाहै प्रेम रस राखा चाहै मान। एक म्यान में दो खड़ग देखा सुना न कान।"

भावार्थ—गुरु और गोविन्द में अन्तर नहीं है। दोनों एक हैं। उनसे जो कुछ भी भिन्न है वह आकार या माया है। यदि जीते-जी (जीवित रहते हुए) अन्त का (मानव) परित्याग कर देते हैं, ब्रह्मानुभूति से सम्भावित है।

विशेष—प्रस्तुत साखी में कबीर ने दो भावों की अभिव्यक्ति की है। प्रथम यह कि सतगुरु और ब्रह्म अभिन्न है। सन्त, साहित्य में यह भाव अनेक बार बड़े उत्साह के साथ व्यक्त किए जाते हैं। द्वितीय भाव यह है कि अहं ब्रह्मानुभूति = या आत्मानुभूति में बाधक होती है। प्रेम एवं ब्रह्माराधना के मार्ग में अहं विनाशकारी। कबीर ने वारम्बार कहा है "यहु तौ घर है प्रेम का खाला का घर नाहि। सीस उतारै भुंई घरै पैठे घर माहि।"

शब्दार्थ—दूजा = दूसरा, द्वैत। आकार = माया। आपा = अहं। करतार = ब्रह्म।

कबीर सतगुरु नाँ मिल्याँ, रही अधूरी सीप।
स्वाँग जती का पहरि करि, घरि घरि मांगै भीष ॥२७॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत साखी में अपने युग की दुर्व्यवस्था और कुप्रवृत्तियों के प्रति कवि की प्रतिक्रिया अंकित की गई है। संत-साहित्य में तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों के प्रति चेतना के दर्शन होते हैं।

यहाँ पर उन स्वांग भरने वालों की ओर संकेत किया गया है जो यती के भेष को धारण कर भिक्षार्जन में प्रवृत्त हैं।

भावार्थ—कबीर दास कहते हैं कि (शिष्य को) सद्गुरु न प्राप्त हुआ और दीक्षा या शिक्षा अपूर्ण रही। यती का भेष धारण करके (अधूरी शिक्षा प्राप्त शिष्य) भिक्षार्जन करते फिरते हैं।

विशेष—अनुभव एवं ज्ञान से शून्य गुरु जो शिक्षा देता है, वह अपूर्ण या अधूरी शिक्षा ही अपूर्ण ज्ञान, नीतिकारो ने विनाशकारी माना है। (२) कबीर ने भेष को स्वांग या तमाशा माना है।

शब्दार्थ—स्वांग = तमाशा। जती = यती। पहरि = पहन। घरि = घर। भीष = भीख = भिक्षा। सीष = सीख = शिक्षा।

सतगुरु साँचा सूरिवाँ, तातैं लोहिं लुहार।

कसणी दे कंचन किया, ताइ लिया ततसार ॥२८॥

सन्दर्भ—कृत्रिम या असंगत गुरु मिलने का प्रतिफल होता है, "अधै अधा ठेलिया, दून्यूं कूप पडत" तथा "दून्यू वूड़े घर में चढि पाथर की नाव।" सतगुरु के सम्पर्क में आने का क्या प्रभाव होता है। इसका उल्लेख कबीर ने प्रस्तुत "अंग" की साखी ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३ आदि में अंकित किया है। यहाँ पर पुनः कबीर ने सतगुरु की वन्दना करते हुए उसे तत्व एव सार का शोधक माना है।

भावार्थ—सतगुरु सच्चा शूरमा है। यथा लुहार लोहे को दग्ध करके शुद्ध करता है उसी प्रकार साधना की अग्नि में तप्त करके शिष्य को शुद्ध कर लिया है। शिष्य को साधना की कसौटी में कस कर कंचनवत् बना लिया है और सार तत्व को सम्प्राप्त कर लिया है।

विशेष—प्रस्तुत साखी में साधना की अग्नि में शिष्य को निमल कर लेने का उल्लेख है। माया के अमार तत्व साधना की कसौटी से ही दूर किए जा सकते हैं।

शब्दार्थ—साँचा = सच्चा। सूरियाँ = सूरमा = शूरमा। तातैं = तात = तप्त। कसणी = कसनी = कसौटी में कसने की प्रक्रिया। तत = तत्त्व।

५.५.६२.

थापणि पाई धिति भई, सतगुरु दीन्हीं धीर।

कबीर हीरा-अणजिया, मानसरोवर तीर ॥ २६ ॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत साखी में कबीर ने "सतगुरु की अंग" की साखी २३ तथा १२ का भाव अंकित परिवर्तन के साथ दिया गया है। सतगुरु ने धैर्य एवं निर्मो

कता का आशीर्वाद दिया और फलतः कबीर ने बहुमूल्य पदार्थों का वाणिज्य किया । यह वाणिज्य हीरे का था ।

भावार्थ^१—गुरु से दीक्षा समाप्त हुई और धैर्य का वरदान मिला । कबीर ने मानसरोवर के तट पर हीरा का वाणिज्य किया ।

विशेष:— यहाँ साधना की उन तीन अवस्थाओं का कबीर ने उल्लेख किया है जिसका कवि स्वतः ने अनुभव किया था । थापण या स्थापना से अनन्तर धैर्य और तदनन्तर साधक द्वारा हीरा का वाणिज्य । (२) स्थापना या दीक्षा के अनन्तर ही शिष्य को सतगुरु से धैर्य धारण की साधना-पथ पर अग्रसर होने का आशीर्वाद मिला । फलतः साधना में रत रह कर कबीर ने मानसरोवर के तट पर हीरा रूपी हरि का वाणिज्य । (६) थापण... भई- दीक्षा के अनन्तर थिति मिली ।

शब्दार्थ^१—थापण = स्थापना । थिति = स्थिरता । धीर-धैर्य । वाणिज्या-वाणिज्य किया । तीर-तट ।

निहचल निधि मिलाइ तत, सतगुर साहस धीर ।

निपजी में साभी घणां, बाँटे नहीं कबीर ॥३८॥

संदर्भ—सतगुरु के अमोघ दान के फलतः जीवन में सब कुछ सब प्राप्य उपलब्ध हो गया । दुर्लभ ब्रह्मानुभूति प्राप्त हो गई । भवसागर में भटकती हुई जीवन नौका को लक्ष्य एवं गतव्य प्राप्त हो गया ब्रह्मा की अनुभूति का आनन्द अविभाज्य एवं अभिव्यक्ति से परे है या असम्प्रेणीय है ।

भावार्थ^१—सतगुरु द्वारा प्राप्त साहस एवं धैर्य के फलतः अमर निधिरूप सार तत्व समाप्त हो गया । परमतत्व के साक्षात्कार से समुत्पन्न आनन्द को बटाने के लिये सभी समुत्सुक है पर कबीर उसे सम्प्रेषित नहीं कर पाता है ।

विशेष—विगत साखी में कबीर ने हरि के लिए "हीरा" शब्द का प्रयोग किया है और इस साखी में "निहचल निधि" का प्रयोग ब्रह्म तत्व के अर्थ में किया है । लौकिक जीवन में हीरा या निधि माया का प्रतीक है । प्रश्न होता है कि कबीर ने माया की इतनी भक्तिका की है फिर भी माया के प्रतीको को ब्रह्म तत्व के लिए क्यों प्रयोग किया है वान यह है कि सामारिक जीवन में हीरा बहुमूल्य वस्तु मानी गई है । उन्ही प्रकार ब्रह्म साधनात्मक जीवन में बहुमूल्य उपलब्धि है हरि रूपी निधि और हीरा साधनात्मक जीवन में उन्ही प्रकार बहुमूल्य है यथा लौकिक जीवन के माया के प्रतीक धन या हीरा । (२) तन = तत्त्व-ब्रह्म तत्व । (३) निपजी, ... कबीर—ब्रह्मानुभूति का आनन्द अविभाजनीय है असम्प्रेणीय है । यह आनन्द स्वतः अज्ञित किया जाता है, उधार में नहीं प्राप्त होता है ।

शब्दार्थ—निहचल = निश्चल । तत = तत्त्व । निपत्ती = उपजी । धरणा = घना-घनीभूत ।

चौपडि मांडी चौहटै, अरध उरध वाजार ।

कहै कबीरा रामजन, खेलौ संत विचार ॥ ३१ ॥

संदर्भ—कबीर ने प्रस्तुत अग की साखी १२ एवं २६ में वाणिज्य का उल्लेख किया है । अब प्रस्तुत साखी एवं आगामी साखी में चौपड एवं पासा के खेल का उल्लेख किया । आध्यात्मिक जगत में चौपड का भिन्न अर्थ होता है ।

भावार्थ—चौराहे पर चौपड सुशोभित है । ऊपर नीचे वाजार लगा हुआ कबीर कहते हैं कि हे सतजन । विवेक पूर्वक इस चौपड के खेल को खेलो ।

विशेष—अरध वाजार—ऊपर नीचे चक्रों का वाजारा विछा हुआ ही शरीर में पटचक्र है । मूलाधार प्रथम और सहस्रार अतिम चक्र है ध्यान रूपी मोहरें या गोठों से साधक खेल रहा है प्रत्येक चक्र पर ध्यान केन्द्रित करके पुनः आगे बढ़ता है । (२) चौपडि...चौहट शरीर रूपी चौराहे पर चौपड विछी है । खेलौ संत विचार से तात्पर्य है कि हे सतगुरु ध्यान पूर्वक इस खेल को खेलो ।

शब्दार्थ—मांडी = मंडित । चौहटे = चौराहे । अरध उरध = ऊपर-नीचे ।

पासा पकड़या प्रेम का, सारी किया सरीर ।

सतगुर दाव घताइया, खेलै दास कबीर ॥३२॥

संदर्भ—“चौपडि मांडी चौहटै अरध उरध वाजार ।” ऐसे वाजार में कबीर राम जन से उपदेश देते हुए कहते हैं “खेलौ संत विचार” । शरीर रूपी चौपड में प्रेम का पाना फेकने का रूपक कबीर ने यहाँ पर बड़ी स्पष्टता के साथ व्यक्त किया है । विगत साखी में कबीर ने इस खेल को खेलने के लिए सहजन के विवेक पर विश्वास रखे हैं । यहाँ सतगुरु के निर्देशन के अनुसार दाव चलने का आदेश कबीर ने बताया है ।

भावार्थ—शरीर को चौपड पर प्रेम का पाना पकड़ कर, सतगुरु के आदेशानुसार कबीर दाव चल रहा है ।

विशेष—प्रेम का पाना और शरीर का चौपड बड़ी ही यथासं और मृत्ति-जगत अप्रस्तुत योजना । शरीर के चौपड पर प्रेम के पाने का खेल दृग्मादिक और औचित्यपूर्ण है । प्रेम के इस खेल में दाव बनाने वाला या निर्देशन देने वाला सतगुरु ही पुनः सतगुरु के निर्देशन सम्प्राप्त हो जाने से साक्षात् निष्पद के लिए परामर्श का कोई अवसर नहीं है ।

“खेलै दास कबीर” में आत्मविश्वास दृढ़ता तथा सतगुरु पर आस्था का भाव प्रतिबिम्बित होता है ।

शब्दार्थ—सारी = चौखंड । सरीर = शरीर । दाव = दाव, चाल । बताइया = बता रहा है ।

सतगुरु हम सूँ रीझि करि, एक कह्यो प्रसंग ।

बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग ॥३३॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत प्रसंग में कबीर ने अनेक बार कहा है कि “सतगुरु मार्या वाण भरि,” “सतगुरु साचा मरिबो, सवद जु वाह्य एक” । “लागत ही मैं मिट गया, पड़्या कलेजे छेक” तथा “सतगुरु लई कमाण कहि, बाहण लागा तीर । एक जु वाह्या प्रीति सूँ भीतरि रह्या सरीर ।” एक शब्द वाण से आहत होने के अनन्तर, अत्र कबीर का अन्तर प्रेम के बादल से भीग जाने का वर्णन है । यहाँ सतगुरु ने एक प्रसंग कहा है और वहाँ एक कर्मान के चलने का उल्लेख है । दोनों का फल एक ही है । परन्तु प्रभाव दोनों का दिव्य, असाधारण और ब्रह्मानुभूति है ।

भावार्थ—सतगुरु ने हमसे प्रसन्न होकर एक प्रसंग कहा । फलतः प्रेम का बादल बरसा और सब अंग आर्द्र हो गए ।

विशेष—सतगुरु ने शिष्य की योग्यता, सच्चाई और लगन देखकर उसके उपयुक्त प्रेम का एक प्रसंग प्रस्तुत किया । यह प्रेम का प्रसंग ब्रह्मानुभूति का प्रसंग था । प्रेम का यह प्रसंग इतना प्रभावशाली था कि शिष्य के समस्त अंग उसी से आर्द्र हो गये । इसी भाव से प्रेरित होकर कबीर ने अन्यत्र कहा है कि “लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल । लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल ।” यहाँ भी प्रेम का अनुराग के रंग में समस्त अंगों के भीग जाने का वर्णन है ।

शब्दार्थ—रीझि = प्रसन्न । बरस्या = बरसा । भीजि = भीगि = भीग ।

कबीर बादल प्रेम का, हम परि बरष्या आइ ।

अंतरि भीगी आत्मां, हरी भई बनराइ ॥३४॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत साखी में कबीर ने पुनः प्रेम के बादल की वर्षा और उनके व्यापक प्रभाव का वर्णन किया है ।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि प्रेम का बादल हम पर आकर बरसा । फलतः अन्तः और आत्मा उसके प्रभाव से भीग गया और बनराय हरा हो गया ।

विशेष—अतम माया के आकर्षक आवरण तथा पंच विकारों (काम, मोह, मद, भीह, लोभ) में अनुरक्त था । परन्तु यह प्रेम के जल या सतगुरु के उपदेश जल

मे वह भोगकर विशुद्ध हो गया । (२) आत्मा, असार, अशुभ और अपवित्र तत्वों से परिवेष्टित थी । प्रेम के जल से धुल कर वह स्वच्छ हो गई । (३) शरीर रूपी यह वनराय प्रेम के जल से सिंचित होकर हरा-भरा हो गया । (४) “अंतरि भोगी आत्मा” तात्पर्य है अतस (या मन) तथा आत्मा दोनों प्रेम के वादन से आर्द्र हो गये ।

शब्दार्थ—परि = पर । वरण्या = वरसा । अंतरि = अंतर । भई = हुई ।
वनराइ = वनराय ।

पूरे सूँ परचा भया, सब दुःख मेल्या दूरि ।
निर्मल कीन्ही आत्मा, ताथै सदा हजूर ॥३५॥

सन्दर्भ—सतगुरु की कृपा से, उसके आशीर्वाद से पूर्ण ब्रह्म से परिचय प्राप्त हो गया और भव सागर के समस्त ताप दूर हो गए । सर्वत्मा से मिल कर यह आत्मा विशुद्ध हो गई ।

भावार्थ—पूर्ण ब्रह्म से परिचय हुआ और सब दुःख दूर हो गये । आत्मा निर्मल हो गई और प्रभु (या ब्रह्म) में संलग्न हो गई ।

विशेष--(१) उपनिषदों में ब्रह्म को पूर्ण अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है “पूर्णमदः पूर्णमिदः पूर्णत्पूर्णं मद्बुध्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।” उपनिषदों के उसी पूर्ण भाव को कबीर ने यहाँ ग्रहण करके उम ईश्वर को ‘पूरा’ कहा है । “एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति ।” उम पूर्ण ब्रह्म से परिचय हो जाने के अनन्तर समस्त दुःख दूर हो गये । निगुंण, निराकार, निर्विकार ब्रह्म से साक्षात्कार होते ही आत्मा विशुद्ध हो गई । मलीन शरीर, काम क्रोधादि में अनुरक्त शरीर मलीन हो गया था, सो अब पवित्र हो गई ।

शब्दार्थ—सूँ = से । परचा = परिचय । मेला = मिला । दूरि = दूर ।
हजूरि = हजूर = स्वामी ।

२. सुमिरन कौ अंग

कधीर कहता जात हूँ, सुगुवा है सब कोइ ।
राम कहें भला छोड़ना, नहिं तर भला न छोइ ॥३६॥

सन्दर्भ—राम नाम परमाणु का अक्षय नोत है । उसके अभाव में मान्यता भला या कट्याण नहीं होगा । नाम सुगता विचारों के लिए शीघ्र है ।

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि मैं यह बराबर कहता जा रहा हूँ और सब मेरा कथन सुनते जा रहे हैं। राम कहने से, जपने से ही कल्याण होगा। अन्यथा कल्याण नहीं होगा।

विशेष—“कबीर.....हूँ” से तात्पर्य है कि कबीर अनुभव तथा दृढ विश्वास को प्रकट कर रहा है। (२) सुणता है.....कोई = से तात्पर्य है सब मेरे कथन को सुन रहा है। (३) राम.....होई = राम नाम जप ही कल्याण का स्रोत है। उनके अभाव में माया के विकार अपना प्रभाव प्रसारित करते जायेंगे।

शब्दार्थ—सुणता = सुनता। तर = तो। भला = कल्याण।

कबीर कहै मैं कथि गया, कथि गया ब्रह्म महेस।

राम नाँव ततसार है, सब काहू उपदेश ॥२॥

सन्दर्भ—विगत साखी में कबीर ने कहा है “कबीर कहता जात हूँ सुणता है सब कोई।” यहाँ पर कबीर ने उसी भाव को पुनः व्यक्त किया है कि जो मैं कह रहा हूँ वह परम्परागत या सनातन सत्य है। वह सत्य ब्रह्मा और महेश द्वारा भी समर्पित है। संसार में राम नाम ही तत्व सार है।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि मैं यह कह चुका हूँ और यही मेरा सब को उपदेश है कि संसार में राम नाम ही तत्व और सार वस्तु हैं। यही ब्रह्मा और महेश का भी कथन है।

विशेष—प्रस्तुत साखी में कवि ने परम्परागत चिर समर्थित सत्य की अभिव्यक्ति की है। कबीर नाम के महत्व के सम्बन्ध में परम्परागत सत्य को प्रकट करते हुए उसके महत्व को उपदेश के रूप में व्यक्त करते हैं। राम नाम समस्त साधना का तत्व और सार है।

(२) सत दरिया ने भी इसकी प्रस्तुत विशेषता को ओर संकेत करते हुए कहा है “राम नाम निजु सार है।” कबीर दास दरिया के शब्दों का समर्थन करते हुए कहते हैं “नाम सरोवर सार है सोह सुरत लगाय”।

शब्दार्थ—कथि = कहि। नाँव = नाम। तत = तत्व। काहू = को। कहै = कहता है।

तत तिलक तिहुँ लोक मैं, राम नाँव निज सार।

जन कबीर मस्तक दिया, सोभा अधिक अपार ॥३॥

सन्दर्भ—रुमार में राम नाम समस्त साधना का तत्व है। वारम्बार कबीर ने इसी भाव पर चर्चा दिया है। जीवन और ध्यक्वित्व नाम के सम्पर्क से और भी अधिक नृमोहित हो गया।

भावार्थ—तीनों लोको में राम नाम सार तत्व है। जब से कबीरदास ने उसे अपने मस्तक पर धारण किया है, तब से अपार शोभा से युक्त हो गया।

विशेष—प्रस्तुत साखी में कबीर ने राम नाम की दो विशेषताओं का उल्लेख किये हैं। प्रथम, राम नाम तत्व और सार है। द्वितीय वह तिलक के रूप में मस्तक पर धारण करने से व्यक्तित्व की शोभा अभिवृद्ध हो जाती है।

शब्दार्थ—तिहुँ = तीनों। मैं = मे। नाव = नाम। सोभा = शोभा।

भगति भजन हरि नांव है, दूजा दुख अपार।

मनसा वाचा कर्मनां, कबीर सुमिरण सार ॥४॥

सन्दर्भ—संसार दुःखका सजीव और सक्रिय रूप है। यहाँ हरि नाम स्मरण के अतिरिक्त और है ही क्या? विगत साखी में कबीर ने राम नाम को सार, तत्व, तिलक तथा शोभा का आधार माना है। प्रस्तुत अंग की द्वितीय साखी में भी कबीर ने कहा है "राम नाव ततसार है।" ऐसे महत्वपूर्ण राम नाम का ध्यान मनसा, वाचा, कर्मणा करना ही दुःख के आगार को विध्वंस करना है।

भावार्थ—ईश्वर का भक्ति और नाम स्मरण पर भजन ही सार तत्व है और सब अपार दुःख का आधार है। कबीर का मत है कि हरि का नाम मनसा, वाचा और कर्मणा स्मरण करना सार है।

विशेष—(१) भगति..... है : से तात्पर्य है कि भक्ति और हरि के नाम का भजन ही सार तत्व है। (२) दूजा.....अपार भक्ति और हरि नाम स्मरण के अतिरिक्त सब कुछ अपार दुःख का अपार माया है। (३) जिस हरि नाम का इतना महत्व है, जो 'ततसार' है, जो मुक्ति और भक्ति प्रदान कराने वाला है, उसकी साधना मनसा, वाचा कर्मणा होनी चाहिए। (४) "मनसा वाचा कर्मणा।" से तात्पर्य है समस्त चेतना के साथ, निष्ठा और एकाग्रता के साथ, वाणो-वचन, मन तथा क्रियात्मक रूप में अथवा हर प्रकार से। (५) कबीर.....सार = स्मरण या हरि का भजन सार तत्व है, समस्त साधना का सारांश है। (६) सुन्दर दास ने कबीर के प्रस्तुत भाव का समर्थन करते हुए कहा है "नाम लिया तिन नय किया सुन्दर जप तप नेम। तीरथ अटल समान घत तुला वेठि दत्त हेम।"

शब्दार्थ—भगति = भक्ति। नाव = नाम। दुख = दुःख। कर्मणा = कर्मणा।

कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल।

आदि अति मध सोधिया, दूजा देवों काल ॥५॥

सन्दर्भ—कबीर का मत है कि नाम-जप ही समस्त साधना का सार है। इसके अतिरिक्त समस्त साधनाएँ जंजाल हैं। विगत साखी में कबीर ने कहा है

“भगति भजन हरि नाँव है, दूजा दुख अपार ।” उसी भाव को अधिक विस्तार के साथ यहाँ व्यक्त करते हुए कबीर ने पूर्व भाव पर बल दिया है ।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि नाम स्मरण ही समस्त साधना का सार-तत्व है । नाम-जप के अतिरिक्त समस्त साधना जंजाल है । मैंने आद्योपांत समस्त साधनाओं को शोधा (देखा) लिया, नाम के अतिरिक्त सब काल है, विनाशकारी है ।

विशेष—(१) सुमिरण सार है—समस्त साधनाओं का सार तत्व । नाम स्मरण समस्त साधना का सारांश है । सुन्दर दास का भी मत है कि “सकल सिरोमनि नाम है, सब घरमन के माँहि । अनन्य भक्ति वह जानिये, सुमिरन भूलै नाहि ।” (२) “और सकल जजाल” नाम जप के अतिरिक्त और सब जंजाल है, माया है, घाह्याचार है ।” (३) आदि.....सोधिया” से तात्पर्य है आद्योपान्त सब कुछ सब साधना का मूल्यांकन किया । (४) “दूजा.....काल” नाम के अतिरिक्त सब काल या विनाशकारी है ।

शब्दार्थ—सोधिया = शोधा । दूजा = दूसरा । काल = विनाशकारी ।

च्यंता तौ हरि नाँव की, और न चिंता दास ।

जे कुछ चितवै राम विन, सोई काल की पास ॥६॥

सन्दर्भ—विगत साखी की द्वितीय पंक्ति में कबीर ने राम नाम की महिमा का उल्लेख करते हुए कहा है “आदि अन्त सब सोधिया, दूजा देखौँ काल” प्रस्तुत साखी में कबीर ने उसी भाव को दूसरे णवदो में व्यक्त करते हुए कहा है “जे बहुत चितवै रामविन, सोई काल की पास ।” सच्चे साधक को हरिनाम की चिन्ता रहती है । हरिनाम के अतिरिक्त जो कुछ अन्य है वह काल या विनाशकारी है ।

भावार्थ—हरिभक्त या हरि के दास को एक मात्र चिन्ता हरिनाम या नाम जप की रहती है । इसके अतिरिक्त उसे और कोई चिन्ता नहीं रहती है । राम के अतिरिक्त और जो कुछ देखा या चिन्तन किया जाता है वह काल वा पाश या विनाश का वाण है ।

विशेष—(१) प्रस्तुत साखी में कबीर ने हरि के नाम के साधक की निष्ठा तथा लगन की ओर संकेत किया है हरिदास एकग्रता के साथ, निष्ठा के साथ हरि का चिन्तन करता है । (२) राम के नाम या राम की स्थिति से विहीन जो कुछ है, वह सब विनाश या माया है । (३) ‘नारद पुराण’ में भी इसी प्रकार उल्लेख हुआ है “हरे नाम हरे नाम, हरे नाम वैवल्म् । कलौ नास्त्येव नास्त्येव, नास्त्येव गतिरन्यथा ।” (४/४१/११५) ।

शब्दार्थ— च्यंता = चिन्ता । नांव = नाम । त्रिनवै = देवे । पाप = पाश ।

यंच संगी पिव पिव करै, छठा जु सुमिरै मन ।

आई सूति कवीर की, पाया राम, रतन ॥७॥ ✓

प्रसंग—प्रस्तुत परिच्छेद की चतुर्थ साखी में सामारिक प्राणियों को उपदेश देते हुए कवीर ने कहा है 'मनसा वाचा कर्मणा, कवीर सुमिरण सार ।' और प्रस्तुत साखी में कवीर की पंच ज्ञानेन्द्रिया और मन पूर्णतया पर ब्रह्म में अनुरक्त हो गया है प्रस्तुत परिच्छेद में कवीर ने नाम की महत्ता का अनेक बार महत्व वर्णन किया है । "राम नांव ततसार है," "राम कहे भल होइगा," "राम नांव निज सार," "कवीर सुमिरण सार है" आदि महत्व को हृदयगम कर लेने के अनन्तर कवीर सूति प्राप्त हुई और उसे राम रतन की प्राप्ति हुई ।

भावार्थ— पंच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं मन राम नाम का स्मरण सतत् रूप से कर रहा है । कवीर को ममाधि अवस्था में रामरतन सम्प्राप्त हुआ ।

विशेष—प्रस्तुत साखी में कवीर ने अपनी उम निष्ठा और एकाग्रता का उल्लेख किया है जिसको सामान्य रूप से स्पृहा प्रत्येक साधन प्राणी को होता है । रहस्यवादी के लिए जीवन क्षण धन्य होता है जब वह मनसा, वाचा कर्मणा ब्रह्म और रावना में प्रवृत्त हो जाता है उसकी समस्त इन्द्रियाँ ब्रह्म के प्रति उन्मुख होकर, ब्रह्माकार बनने की चेष्टा में अनुरक्त हो जाती है । (२) ममाधि की अवस्था में कवीर को ब्रह्मानुभूति प्राप्त हुई जो साधक की चरम उपलब्धि होती है ।

शब्दार्थ = पंच संगी = पंच ज्ञानेन्द्रिय । पिव = प्रिव = ब्रह्म । सूति = समाधि । रतन = रत्न ।

मेरा मन सुमिरै राम कूँ, मेरा मन रामहिं आहि ।

अब मन रामहिं हँ रखा, सीस नवावों काहि ॥८॥

मन्दर्भ ममाधि में ब्रह्म का दर्शन प्राप्त कर लेने पर आत्मा ब्रह्माकार हो जाती है । जब आत्मा परमात्मा में समाहित हो गई, सब भेद समाप्त हो गए और माया जनित भेद के विनष्ट हो जाने से उभय एक हो गए तो ब्रह्म तिमरी नारायणा करे और तब किनकी उपासना ?

भावार्थ—राम को स्मरण करते-करते मेरा मन रामरतन (या स्वयं राम) हो गया है । अब मन स्वयं राम हो गया तो किनसे प्रति शीश नृत्यें ।

विशेष—(१) प्रस्तुत साखी में कवि ने नाम की साधना को उस अवस्था का उल्लेख किया है जब वह ब्रह्म का ध्यान करना-करना प्रारम्भ हो जाता है । इसी

स्तर पर पहुँच कर कबीर ने कहा था कि “तू तू करता तू मय मुझ में रही न हूँ । वारी फेरी बलि गई, जित देखौ तित तू ।” संत मलूकदास ने भी इसी प्रकार की अनुभूति हो जाने पर लिखा था “हम सबहिन के सबहि हमारे जीव जन्तु मोहिं लगे पियारे ।” इस स्थिति का उद्भव तब होता है जब साधक की ‘पच सगी पिव पिव करै, छठा जु सुमिरे-मंन ।” इसी स्थिति में कबीर ने कहा था “अब मन रामहिं ह्वै रखा, सीस नवावौं काहि ।” (२) “अब मन” काहि “उस परिस्थिति का सूचक है जब साधक अद्वैत ब्रह्म में समाहित हो जाता है । (३) यहाँ पर साधक की उस अवस्था का वर्णन है जब वह आनन्दातिरेक में उद्घोषित कर उठता है” शिवोऽहं । “अह ब्रह्मासि ।”

शब्दार्थ—ह्वै = हो । रखा = रहा । सीस = शीश ।

तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझमें रही न हूँ ।

वारी फेरी बलि गई, जित देखौ तित तूँ । ६॥

सन्दर्भ—विगत साखी में कवि ने उस परिस्थिति का वर्णन किया है, जब साधक ब्रह्माराधना करता-करता या नाम जप में इतना अधिक अनुरक्त हो जाता है कि वह ब्रह्ममय या ब्रह्माकार हो जाता है । आत्मा और परमात्मा के मध्य मायाकृत भेद विलीन हो जाता है । प्रस्तुत साखी में उसी भाव को किंचित अधिक विस्तार और स्पष्टता में साथ अंकित किया गया है ।

भावार्थ—तेरा ध्यान करते-करते मैं ‘तू’ ही हो गया । मुझमें मेरा पार्थक्य अह या व्यक्तित्व की मिश्रता शेष नहीं रह गई । (फलतः) मेरा आवागमन का आवागमन विनष्ट हो गया । अब तो जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है ।

विशेष—कबीर की एक बड़ी ही प्रसिद्ध साखी है “लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल । लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल ।” प्रस्तुत साखी में तू तू करता तू भया का भाव बड़े ही माधुर्यपूर्ण शब्दों में, सरल शैली में व्यक्त कर दिया गया है । कबीर की उभय साखियों में भाव साम्य है, पर शब्दों की भिन्नता । (२) मुझमें हूँ ने तात्पर्य है कि मेरा अह, मेरी पार्थक्य की भावना का लोप हो गया । (३) वारी फेरी गई से तात्पर्य है कि मेरा आवागमन समाप्त हो गया ।

शब्दार्थ—तूँ = तू = राम । हूँ = अह । वारी = आवागमन । फेरी = फिर गया, समाप्त हो गया । जित = जिधर । तिन = उधर ।

कबीर निरभै रामजपि, जय लग दीवै याति ।

तेल घट्या वाती चुन्नी, (तय) सोवेगा दिन राति ॥१०॥

सन्दर्भ—“गुरुदेव कौ अंग” की तेइमवीं साखी मे कवि ने कहा है “चेननि चौकी वैठिकरि, सतगुरु दीन्हों घोर । निरभै होइ निसंक भजि केवल कहै कवीर ।” प्रस्तुत साखी मे कवि ने पुनः निसक और “निरभै” होकर राम का जप करने का उपदेश दिया है । मानव का जत्र तक जीवन दीपक जल रहा है, तब तक मानव को नाम जप करना चाहिए ।

भावार्थ—कवीरदास का कथन है कि जत्र तक दीपक मे वत्ती है तत्र तक निभंय होकर राम का जप कर । तेल के नि.शेष हो जाने पर वत्ती मुझ जायगी और तू पाँव पसार कर दिनरात सोयेगा ।

विशेष—प्रस्तुत साखी मे कवि ने निभंय होकर ब्रह्म नाम जप का उपदेश दिया है । यह उपदेश कवि ने एक बड़ी ही सरल तथा स्वाभाविक अप्रस्तुत योजना के माध्यम से व्यक्ति की है । शरीर रूग्ण मे प्राणरूपी वत्तिका है और मासिक्यं रूग्ण तेल विद्यमान है इस वत्तिका और तेल के घट जाने पर मानव मृत्यु को प्राप्त हो जाता है और वह अनन्त काल तक सोता रहता है । (२) शरीर से आत्मा के विलग हो जाने पर शरीर निश्चेष्ट हो जाता । जड शरीर के माध्यम से धर्म साधना असम्भव हो जाती है । इसीलिए कवि ने यहाँ पर जीवन रहते-रहते साधन करने के लिए उपदेश दिया है । (३) “(तब) सोवेगा दिन राति” का तात्पर्य यह है कि मृत्यु को प्राप्त होगा । (४) निरक्षर कवीर की अप्रस्तुत योजना कितनी यथार्थ और प्रभाव-शाली है, यह प्रस्तुत साखी से स्पष्ट हो जायगा ।

शब्दार्थ—निरभै = निभंय । जपि = जप । लग = तक । दीवै = दीपक मे वाति = वत्ती = वत्तिका । घटना = घटा । राती = रात

कवीर सूता क्या करे, जागि न जपै मुरारि ।

एक दिनां भी सोवणां, लवे पाँव पसारि ॥११॥

सन्दर्भ—विगत साखी मे कवि ने कहा कि “तेन घटया वाती बुझी, (तब) सोवेगा दिन राति ।” कर्तव्य और साधना से विमुक्त प्राणियों को चेनावनी प्रदान करते हुए कवि ने पुनः जाग्रत होकर नाम साधना के लिए मानव उमात्र को अनु-प्राणित करने की चेष्टा की है ।

भावार्थ—कवीरदास कहते हैं कि हे प्राणी नोया हुआ तू क्या कर रहा है । जाग्रत होकर भगवान के नाम का स्मरण तबो नहीं करता है । अन्तडोगला एक दिन तो लम्बे पैर पसार कर तुझे नोना हो है ।

विशेष—(१) प्रस्तुत साखी मे कवीर ने अज्ञान विद्या मे प्रमुख प्राणियों को उपेक्षित करते हुए कहा है जीवन के व्यर्थ के शरणा और माया की विद्वन्मार्गों

परिस्थितियों से दूर रहकर नाम साधन के लिए उपदेश दिया है। (२) “सूता” से तात्पर्य है अज्ञान निशा में कर्तव्य की ओर से विमुख या प्रसुप्त। (३) जागी से तात्पर्य है सचेत होकर। (४) एक दिन से तात्पर्य है अन्ततोगत्वा। (५) “भी” का तात्पर्य तो। (६) “सोवणा” से कवि का आशा है मृत्यु को प्राप्त होना। (७) लवे...पसारि से तात्पर्य है पैर फैला कर। “लंबे पाँव पसारि” का प्रयोग कवि ने कहावत के रूप में किया है। अशिक्षित कबीर ने प्रस्तुत कहावत का प्रयोग बड़े ही यथार्थ और स्वाभाविक शैली में किया है।

शब्दार्थ—सूता = सोता = सुप्त। दिना = दिना = दिन। सोवणा = सोवना = सोना। पसारि = पसार फैलाकर।

कबीर सूता क्या करै, काहे न देखै जागि।

जाका संग तैं वीछुड्या, ताही के संग लागि ॥ १२ ॥

सन्दर्भ—कबीर ने प्रस्तुत परिच्छेद की दशम साखी में कहा है “कबीर निरभै राम जी, जब लग दीवै वाति। तेल घट्या वाती बुझी, (तव) सोवेगा दिन राति।” “सोवेगा दिन राति” चेतावनी प्रस्तुत करने के बाद प्रस्तुत साखी में कवि ने अज्ञान निशा में प्रसुप्त, माया में सलग्न मानव को कर्तव्य पथ से विमुख प्राणी से जाग्रत होकर कर्तव्य पथ को देखने का आग्रह किया है।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि प्रणी ! तू सोया हुआ क्या कर रहा है। जाग्रत होकर क्यों नहीं देखता है। जिसके साहचर्य में तू विमुक्त हुआ है, उसी के संग पुनः जा लग।

विशेष—(१) प्रस्तुत साखी में कवि ने कर्तव्य एवं नाम जप से विमुख निद्रा से अभिभूत है प्राणियों को ज्ञान के नेत्र उद्घाटित करने के लिए आग्रह पूर्ण उपदेश दिया है। (२) ‘सूता’ से तात्पर्य है अज्ञान निशा में, माया से परिवेष्टित सोया हुआ था। चेतनाविहीन यहाँ ‘सूता’ शब्द का प्रयोग चेतनाविहीन या निश्चेष्ट के लिए अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। (३) ‘काहे न जागि’ से तात्पर्य है कि प्रबुद्ध होकर ज्ञान के नेत्रों से या सचेत होकर क्यों नहीं विवेक पूर्ण कार्य में सलग्न होता है। (४) जाका... वीछुड्या’ से तात्पर्य है कि जिसके सम्पर्क से तू विमुक्त हुआ है। आत्मा परमात्मा से विमुक्त हो कर माया के द्वारा पथ-भ्रष्ट कर दी गई है। इसी भाव की अभिव्यक्ति एक साखी में कबीर ने कहा है ‘पूत पियारी पिता की गौहनि लागी घाइ। लोभ मिठाई हाथि दे, अपण गया भुलाई।’ माया की मिठाई पाकर आत्मस्थी बालक अपने पिता को विस्तर गया। (५) ‘ताही के संग लागि’ से तात्पर्य है कि उसी प्रह्ला के साथ लगकर एकाकार हो जा। एक प्राणी

मे इसी स्थिति का वर्णन करते हुए कबीर ने कहा है 'पानी ही हैं हिम मय हिम
है गया विलाय । जो कुछ था सोई भया अब व छु कहा न जाय ।'

शब्दार्थ—सूता = सोता = सोया = सुप्त । जागि = जागकर । जाका =
जिसका । तै = तैं । वी छुडया = विछुडा । ताही = उसी लागि = लाग = लग ।

कबीर सूता क्या करै, उठि न रोवै दुःख ।

जाका वासा गोर मै, सो क्यूँ सोवै सुख ॥ १३ ॥

सन्दर्भ—नाम-जप से विमुख प्राणी को सचेत करते हुए कवि ने विगत
साखी मे कहा है कि 'कबीर सूता क्या करै काहे न देखै जागि' तथा 'कबीर सूता
क्या करै जागि न जापै मुरारि ।' परन्तु यहाँ पर कवि ने कहा है 'उठि न रोवै
दुःख ।' जिसका कदम कन्न मे रखा है, वह सुख से कैसे सो सकता है ।

भावार्थ—कबीर दास कहते हैं कि हे प्राणी ! तू अज्ञान निशा मे पडा हुआ
क्यो सो रहा है । तू उठकर अपने प्रिय के वियोग मे जो दुःख का अनुभव हो रहा
है उसके प्रति क्यो नही खेद प्रकट करता । जिसका निवास स्थान कन्न है, वह सुख
पूर्वक कैसे सोता है ।

विशेष—विगत साखी मे कबीर ने कहा है 'जाकि मग तै वी छुडया ताही
के संग लागि ।' प्रियतम से वियुक्त मानव को अपने दुःखो के प्रति खेद प्रकट करना
चाहिए । प्रियतम से वियोग होने का दुःख स्वतः महान विपत्ति है । परन्तु
मानव उस दुःख को भूलकर माया के आवरण मे अनुरक्त रहता है । लोभ की
मिठाई के पाते ही वह अपने आप को भूल जाता है । कबीर इस प्रकार मे अज्ञान
निशा मे आत्म विस्मृत प्राणियों को सचेत करते हुए कर्तव्य पूति की ओर उन्मुख
रहने का उपदेश दिया है । (२) 'जाका' 'सुख' से कबीर का तात्पर्य है कि जो
मरणशील है, जिसका निवास स्थान कन्न है, वह सुख पूर्वक क्यो कर सो
सकता है ।

शब्दार्थ—वासा = निवास स्थान । गोर = कन्न । मै = मे । क्यूँ = क्यो ।

कबीर सूता क्या करै; गुण गोविन्द के गाउ ।

तेरे मिर परि जम खडा, खरच करे का खाइ ॥ १४ ॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत साखी मे कबीर ने माधन से विद्वान प्राणियों को
पितापनी देते हुए यम का स्मरण दिलाया है जो कियो भी दया मे शिरी प्राणी का
नहीं छोडता है, और मय पर बाल का प्रहार करता है ।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि हे प्राणी ! तू अज्ञान की निशा मे पडा गया
कर रहा है । मग तेरे मिर पर पडा है । तेरे मरारे यह नमं करे का खाइ है ।

विशेष—गोविन्द के गुणों का गान करना जीवन का परम पुण्य है। कबीर ने विगत साखियों में सततरूप से सचेत होकर साधन में रत रहने का उपदेश दिया है। कवि कभी कहता है 'जाका वासा गोर में सो ब्युं सोवै सुख,' और कभी वह कहता है 'एक दिन' भी सोवणा लबे पाव पसारि।' उसी विचार परम्परा में वह कवि पुनः यहाँ पर कहता है कि 'तेरे सिर परि जम खडा खरच करे का खाइ।' (२) 'खरच करे का खाइ' में कवि ने महाजन और कजंदार का रूपक प्रस्तुत किया है। (३) इसी प्रकार का भाव कबीर ने एक अन्य साखी में व्यक्त किया है "काल सिंहणै यो खडा जागि गियारे म्यंत' तथा 'काल खडा सिर ऊपरें ज्युं तोरणि आया वीदं (काल-कौ अंग)। (४) सत्य यह है कि 'जाका वासा गोर में, सो ब्युं सोवै सुख।' (५) प्रस्तुत साखी में अशिक्षित कबीर की अप्रस्तुत योजना की यथार्थता तथा सहजता दर्शनीय है।

शब्दार्थ—गाइ = गा = गान कर। परि = पर। जम = यम। खरचा = खर्च व्यय करे। खाइ = खाया है।

कबीर सूता क्या करें, सूतां होइ अकाज।

ब्रह्मा का आसण खिस्या, सुणत काल की गाज ॥ १५ ॥

सन्दर्भ—काल का नाम सुनते ही जगत नियंता ब्रह्मा तक विचलित हो उठे इतना जानते रहने पर भी मानव ब्रह्म की आराधना से विमुख होकर भी अज्ञान निद्रा में गाफिल पडा रहता है।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि हे प्राणी ! तू सोता हुआ क्या कर रहा है। सोते रहने से बड़ा अहित होता है। काल की गजंता सुनकर ब्रह्मा का आसन विचलित हो गया।

विशेष—प्रस्तुत साखी में कवि ने काल की प्रबलता और मानव की निष्क्रियता का उल्लेख बड़ी सहजशैली में किया है। (२) मानव काल की प्रबलता से परिचित होने पर भी ब्रह्मनाथ की साधन से विमुख रहता है और अज्ञान निद्रा में सुप्त रहता है। (३) इसीलिए कवि ने पीछे कहा है कि "भगति भजन हरि नाव है, दूजा दुख अपार। (४) प्रस्तुत साखी में कवि ने नाम महिमा के साथ ही साथ काल की प्रबलता तथा मृत्यु की अनिवार्य स्थिति का उल्लेख किया है।

शब्दार्थ—सूता = सुप्त। अकाज = अहित। आसण = आसन। खिस्या = खिसका, सरवा। सुणत = सुनत, सुनते ही। गाज = गजंता।

केसो कहि कहि कृकिये, ना सोइये असरार।

रात दिवस कैं कृक्यो, (मन) कथहैं लागे पुकार ॥ १६ ॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत साखी में कवि नाम जप के महत्व को उल्लेख करता है। उसका आग्रह पूर्ण अभिमत है कि अज्ञान निशा में सोने से कोई लाभ नहीं है। रात दिन नाम-जप करने का प्रतिकूल यह हो सकता है कि ब्रह्म तक कभी न कभी तो प्रार्थना पहुंच ही जायगी।

भावार्थ—केशव का नाम उच्चरित करते रहिए। इतना आग्रह है कि अज्ञान-निद्रा में मत सोइए। दिन-रात के नाम जप से कभी न कभी तो पुकार सुनी ही जायगी।

विशेष—(१) सुमिरण कौ अग की अन्य सखियों के वर्ण्य विषय की तुलना में प्रस्तुत साखी के वर्ण्य-विषय में विशिष्टता और अभिनवता है। कवि ने यहाँ मानव-समाज से विशेष प्रकार का इसरार (आग्रह) किया है। आग्रह इस वान का है कि "ना सोइए" तथा "रात दिवस कौ कूकणौ (मन) कवहूँ लगै पुकार।" (२) प्रस्तुत साखी में कवि के मस्तिष्क की स्थिरता तथा दृढता के भाव के साथ ही साथ अनन्य विश्वास तथा भरोसा का भाव प्रतिविम्बित होना है। कवि का आणावादी विचारधारा भी "कवहूँ लगै पुकार" से प्रतिभासित होनी है।

शब्दार्थ—कैसौ = केशव। कूकिये = आनन्द से भरे स्वर में पुकारिए। सोइये = सोइए। असरार = इसरार-आग्रह। कूकणौ = कूकने से। पुकार = अर्ज, प्रार्थना। कवहूँ = कभी तो।

जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहिं राम।

ते नर इस संसार में, उपजि पये देकाम ॥ १७ ॥

सन्दर्भ—राम-नाम का महत्व अकथनी, अवर्णनीय, अनिवर्णनीय, तथा दिव्य है। कवीर ने विगत प्रमगो में लिखा है कि "राम नाव तनार है * * * * * राम कहे बना हाइगा, नहि तर भना न होइ * * * * * भगति भजन हरि नाव है * * * * * प्रस्तुत साखी में कवि ने कहा है कि प्रेम, प्रीति तथा रामनाम के महत्वपूर्ण मंत्र से विहीन मानव का इन सनार में अवतरित होना और पयनरुन को प्राप्त होना सब बराबर है।

भावार्थ—जिन प्राणियों के घट या गरीर में न प्रीति है न प्रेम रस और न जिह्वा पर राम नाम है। वे नर इस संसार में उत्पन्न होकर भी चर्य हो नष्ट हो गए।

विशेष—(१) प्रस्तुत साखी को प्रथम पंक्ति यद्यो महत्वपूर्ण है। इस पंक्ति में कवि ने दो सारपूर्ण तत्वों की अनिश्चयता की है—(२) "जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस" (३) "फुनि रसना नहिं राम।" कवीर की दृष्टि में नाम के जगोर नाम-

कता तभी है, जब वह प्रेम या प्रीति रस में ओत-प्रोत हो। वही जीवन धन्य है जो ब्रह्म के रस में अनुरंजित हो। इतना भी न हो, तो, जिस जिह्वा रामनाम रस से सिञ्चित अवश्य होनी चाहिए। परन्तु जिनके व्यक्तित्व में उभय तत्वों का अभाव हो, उनका संसार में उत्पन्न होना व्यर्थ है। (२) प्रस्तुत साखी में कवि ने जीवन की सार्थकता का मूल्यांकन स्पष्ट शब्दों में किया है।

शब्दार्थ—फुनि = पुनि पुनः। रसना = जिह्वा। उपजि = उत्पन्न हो कर। पये = क्षय को प्राप्त हुए। वेकाम = व्यर्थ।

कबीर प्रेम न चषिया, चपि न लीया साव।
सूने घर का पहुणां, ज्यूँ आया त्यूँ जाव ॥१॥

सन्दर्भ—अत्यन्त रोचक एवं सुन्दर अप्रस्तुत योजना से सम्पन्न प्रस्तुत साखी में कबीर ने प्रेम तथा प्रेम के मधुर स्वाद का उल्लेख किया है। जिन्हें यह महत्वपूर्ण अनुभव तथा सौभाग्यपूर्ण परिस्थिति का आनन्द नहीं मिला, उन अभागों का इस संसार में आना उसी प्रकार अर्थ विहीन है यथा सूने गृह में अतिथि का आगमन प्रयोजन रहित होता है।

भावार्थ—कबीर का कथन है कि जिन प्राणियों ने प्रेम का आस्वादन नहीं किया और आस्वादन करके उसके आनन्द का अनुभव नहीं किया है। उनका इस संसार में जन्म लेना उसी प्रकार है यथा सूने घर में पाहुन का आगमन निःसार होना है।

विशेष—(१) यथा शून्य मंदिर में अतिथि के आगमन पर न कोई स्वागत कर सकता है न उसके विदा के क्षणों में ममत्व पूर्ण अश्रु-प्रवाह कर सकता है, न कोई स्नेह दे सकता है, न आशा ही कर सकता है, उसी प्रकार है वह प्राणी जिनने ब्रह्म से प्रेम नहीं किया और प्रेम या भक्ति में आनन्द का अनुभव नहीं किया। (२) 'ज्यूँ.....जाव' से तात्पर्य है यथा खाली हाथ आया है उसी प्रकार उपलब्धि विहीन होकर वह जायगा। अर्थात् उसका संसार में उत्पन्न होना व्यर्थ ही है।

शब्दार्थ—चषिया = चाखिया = आस्वादन किया। लीया = लिया। साव-स्वाद। पाहुणा = पाहुना-अतिथि। ज्यूँ = ज्यो। त्यूँ = त्यो। जाव = जाय।

पहली घुरा कमाइ करि, धाँधी चिप की पोट।
फोटि करम पैलै पलक रै (जय) आया हरि ओट ॥१६॥

सन्दर्भ—कवीर का कर्मवाद तथा पुनर्जन्म में दृढ विश्वास है। कर्म का प्रतिफल मानव को उपभोग करना ही पड़ता है। दुष्कर्मों के दुष्प्रभाव का उन्मूलन करने के लिए हरि की शरण में जाना ही अपेक्षित हरि की शरण में भव की एक भी बाधा नहीं रह जाती है। प्रस्तुत साखी में कवि ने इसी भाव को रोचक शैली में व्यक्त किया है।

भावार्थ—पहले बुरे कर्मों को अजित करके विष की पोटली बाँधी। हरि की शरण में आते ही कोटिशः दुष्कर्म पल में क्षीण हो गए।

विशेष—(१) कवीर ने प्रस्तुत साखी में अत्यन्त तकपूर्ण हंग से, अभिनव शैली में कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। मानव दुष्कर्मों के प्रभाव से विनाश के पथ पर अग्रसर होकर माया का चेरा बन जाता है। परन्तु हरि की शरण में जाने पर दुष्कर्मों के प्रभाव से विलम्बित हो जाते हैं। (२) कवीर ने कर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए उसकी औषधि हरिनाम साधना है। (३) कवीर ने 'पहली घुरा कमाइ करि' शब्दों के द्वारा पूर्वजन्म की ओर संकेत किया है। पूर्वजन्म के साथ ही यहाँ कर्म सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

शब्दार्थ—कमाइ = कमाकर। करि = कर। बाँधी = संग्रह की। पोट = पोटली। करम = कर्म। पेलै = फेंके, दूर करे। ओट = शरण।

कोटि क्रम पेलै पलक में, जे रंचक आवै नाउँ।

अनेक जुग जे पुनि करै, नहीं राम विन ठाउँ ॥ २० ॥

संदर्भ—नाम का माहात्म्य अत्यन्त दिव्य एवं प्रभावशाली है। ब्रह्म के नाम का लेश मात्र भी ध्यान करने से समस्त दुष्कर्म विलीन हो जाते हैं। युगो तक कृत पुण्य राम-नाम के बिना निःसार है।

भावार्थ—कोटिशः दुष्कर्म क्षणमात्र में विनष्ट हो जाते हैं यदि लेशमात्र 'राम' नाम का स्मरण होता है। अनेक युगो तक पुण्य करते (मानव) को राम नाम के अभाव में कहीं ठौर नहीं है।

विशेष—(१) प्रस्तुत साखी में राम-नाम का विश्मरण करने वाले प्राणियों के दुर्भाग्य का मूल्यांकन किया गया है। रामनाम के बिना नमस्न साधन और ज्ञान तप व्यर्थ ही नहीं निरन्तर भी है। अनेक युग तक पुण्य करने में शूरस मानव को साधना अपूर्ण एवं अपरिपक्व है यदि रामनाम की साधना करने नहीं की है। (२) रामनाम के साधना के बिना नानार में नहीं ठौर नहीं है। कवीर ने राम नाम का महत्त्व इस बात में अंकित किया है कि इस विनाशित सन्तार में रामनाम में विभूत

प्राणी के लिए कोई अवकाश नहीं है। (३) कोटि क्रम में से कवीर का तात्पर्य यह है कि अनेक दुष्कर्म क्षण में नष्ट हो जाते हैं, प्रभावहीन हो जाते हैं।

शब्दार्थ—क्रम = कर्म। दुष्कर्म = पेनै = नष्ट कर दें। पलक-क्षण। रंचक = लेशमात्र भी। नाउं = नाम। जुग = युग। पुन्नि = पुन्न = पुण्य। ठाउं = ठाँव-स्थान

जिहि हरि जैसा जाँणियाँ, तिन कूँ तैसा लाभ।

ओसोँ प्यास न भाजई जब लग धसै न आभ ॥

सन्दर्भ—कवीर ने प्रस्तुत साखी में कहा है कि माधव की हरि के प्रति जैसी भावना होती है, उसी प्रकार सिद्धि उसे सम्प्राप्त होती है। केवल अभिनाषा करने मात्र से उपलब्धि नहीं होती है' सन्तुष्ट होती यथार्थ रूप में उपलब्धि हो जाने पर।

भावार्थ—हरि को जिसने जिस रूप में जाना उसको उसी रूप में लाभ होता है। ओस से प्यासे या पिपासा नहीं दूर होती। जब तक पानी नहीं प्रवेश करता तब तक पिपासा कैसे शांत होगी।

विशेष—कवीर ने प्रस्तुत साखी की प्रथम पक्ति में यह भाव व्यक्त किया है कि हरि की साधना जिसने जिस भाव से की तदनुसार उसे सफलता प्राप्त होती है (२) कवीर की प्रस्तुत पक्ति पर संस्कृति की उक्ति यादृशी भावना यद्यपि सिद्धिर्भवति तादृशि का पूर्ण प्रभाव है (३) मानव के विश्वास ही वास्तविक रूप से फलदायक होते हैं। जैसा विश्वास होता है उसी प्रकार की प्राप्ति होती है। (४) ओसो प्यास न भाजई" से तात्पर्य है। माया रूपी ओस के चाटने से भौतिक ताप या लौकिक विषमताएं दूर नहीं होती हैं प्यास या अभाव या तृष्णा तभी दूर होती है जब ब्रह्मभक्ति या सतगुरु के उपदेश रूपी शीतल जल की प्राप्ति होती है। (५) तृष्णा का प्रभावमानव पर तभी तक अक्षुण्ण व्यापक रहते हैं जब तक भक्ति रूपी शीतलजल की प्राप्ति नहीं होती है।

शब्दार्थ—जिहि = जिसने। जाँणियाँ = जानियाँ — पहचाना। तिन = उन। कूँ = को। ओसो = ओस से। भाजई = भागती है, दूर होती है। धसै = प्रवेश करे। आभ — जल।

राम पियारा छाँड़ि करि, करै ध्यान का जाप।

वेन्वां केरा पूत ज्यूँ, कहै कौन सूँ बाप ॥२२॥

संदर्भ—प्रस्तुत साखी में कवि ने राम-नाम के अनन्य या अद्वितीय महत्त्व की ओर संकेत किया है। राम नाम के जाप से विमुक्त, 'आनन्द' की उपासना में

अनुरक्त मे मानव की स्थिति वेश्या के पुत्र जैसी है । वह किसे अपना पिता कहे ? इसी प्रकार बहु देवोपासना मे अनुरक्त प्राणी किसे अपना प्रिय देव कहेगा ?

भावार्थ^१—प्रिय राम को छोड कर जो अन्य का जप करता हैं, वह वेश्या पुत्र के सदृश है जो अपने पिता को नहीं जानता है । यह किसे अपना पिता कहे ?

विशेष—(१) प्रस्तुत साखी का पाठ करते ही पाठक के मस्तिष्क पर कवीर अत्यधिक स्पष्ट वादिता तथा कटूलियो की छाप अंकित हो जाती है । “वेश्या केरा पूत ज्युं कहे कौन सूं वाप” पक्ति वास्तव मे कटुता तथा स्पष्ट वादिता से सम्पन्न होते हुए भी अत्यन्त यथार्थ तथा सत्य है । यथा वेश्या का पुत्र स्व पिता से अनभिज्ञ होता है तथा बहु देवोपासना मे अनुरक्त किसे अपने स्वामी, प्रभु और देवता मान सकता है । (२) राम पियारा ‘तात्पर्य’ है प्रियराम । लौकिक जीवन मे जो स्वजन-परिजन प्रिय हैं उनसे भी प्रियतर, प्रियतम राम (३) “छाँटि कर” से तात्पर्य है उपेक्षा करके । (४) आन” का तात्पर्य है अन्य । पर यहाँ पर उसका अभिप्राय हो “बहुदेव ।” आन का प्रयोग ‘माया या’ माया जनित तत्वों की ओर भी है ।

शब्दार्थ^१—पियारा = प्यारा, प्रिय । आन = अप्य । जाप = जप । वेश्या = वेश्या । केरा = का । ज्युं-ज्यो सू - से ।

कवीर आपण राम कहि औरां राम कहाइ ।

जिहि मुखि राम न ऊबरै, तिहि मुख फेरि कहाइ ॥२३॥

सन्दर्भ^१—राम नाम का माहात्म्य तथा गौरव वर्णनातीत है । कवीर ने तो रामनाम के अतिरिक्त अन्य समस्त साधना को अपार दुःख का द्वार माना है । “भगति भजन हरि नाव है, दूजा दुःख अपार ।” अतः ‘मनसा वाचा कर्मणा कवीर सुमिरण सार ।’ अतः कवीर स्वतः राम कहने और दूसरे से प्रयत्नपूर्वक राम कहलाने के पक्ष मे है ।

भावार्थ^१—कवीर कहते हैं कि स्वतः राम कहिए और दूसरों से राम कहलाइये । जिस के मुख से राम नाम का उच्चारण न हो उसके मुँह से पुनः (प्रयत्न) पूर्वक) नाम उच्चारण कराइये ।

विशेष—प्रस्तुत साखी मे कवीर ने दूसरों से राम नाम के प्रति अतिरिक्त सम्पन्न करने के सम्बन्ध मे उपदेश दिये है । “जिहि मुखि राम न ऊबरै ” कहाइ’ इसी भाव की परिपुष्टि के लिए पर्याप्त है । जिस मुख ने राम नाम का उच्चारण न हो उसमे प्रयत्न पूर्वक नाम उच्चारण कराना चाहिए ।

शब्दार्थ—आपसा = आपन = अपना । कहि = कह । ओरा = औरो = अन्योसे । कहाइ = कहा, कहलाइये । जिहि = जिह = जिस । मुखि = मुख । ऊचरै = उच्यरै = उच्चारण हो । फेरि = पुनः ।

जैसें माया मन रमै, यूं जे राम रमाइ ।

(तौ) तारा मंडल छाँड़ि करि, जहाँ केसो तहाँ जाइ ॥२५॥

सन्दर्भ—यथा मन माया मे रमना है, तथा यदि राम मे रम जाय तो मानव लौकिक और सासारिक सीमाओ का उल्लंघन करके ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाय ।

भावार्थ—जिस प्रकार माया मे मन रमता है उसी प्रकार यदि राम मे रम जाय, तो लौकिक सीमाओ का अतिक्रमण करके मानव राम मे रम जाए ।

विशेष - प्रस्तुत साखी मे कवि ने राम नाम ओर राम के कल्याणकारी व्यक्तित्व का उल्लेख किया है । मनुष्य का मन यदि राम मे उसी प्रकार रम जाय यथा माया मे रमा हुआ है, तो वह ब्रह्म के साथ एकात्मकता संस्थापित कर सकता है । (२) "तारा मण्डल छाँड़ि करि" से तात्पर्य है लौकिक सीमाएं । लौकिक सीमाएं से तात्पर्य है ससार की सीमा । (३) "जहाँ केसो तहाँ जाइ" से तात्पर्य है जहाँ से आप है वही जायगा । अर्थात् जिस ब्रह्म का उग्र रूप तू है उसी सर्वात्मा मे तू समाविष्ट हो जायगा । (४) प्रस्तुत साखी मे कवि ने बड़े ही सुन्दर और शैली में उस मानव की आलोचना की है । जो माया मे अनुरक्त ब्रह्म से विरक्त है ।

शब्दार्थ—रमै = रमे = प्रवृज हो । यूं = इस प्रकार । जे = यदि । रमाइ रमे । तारा = नक्षत्र । जाइ = जाये ।

लूटि सकै तौ लूटियो, राम नाम है लूटि ।

पीछेँ ही पछिताहुगे, यहु तन जैहै छूटि ॥२५॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत साखी मे कवि ने राम नाम सुलभता और जीवन की क्षण भंगुरता की ओर सकेत किया है । कवि ने बड़ी स्पष्टता के साथ कहा है जब "यह तन जैहै छूटि" तब "पीछेँ ही पछिताहुगे ।"

भावार्थ—राम नाम की लूट है, लूट सके तो लूट ले । अन्यथा जब तन से आत्मा विलग हो जायगी तब पीछे पछिताना पड़ेगा ।

विशेष--(१) राम नाम का ही सुलभ है । राम नाम बड़ा ही कल्याणकारी तत्व है । इस प्रकार के कल्याणकारी तत्व की उपेक्षा करने के कारण मानव रा बड़ा अहित होता है । फिर भी मानव सचेत नहीं होता है (२) पीछे "छूटि" में कवि ने यह बताने की चेष्टा की है कि प्राणान्त हो जाने पर पछिताना पड़ेगा ।

प्राणान्त हो जाने पर पछताने का का कौन सा अवसर है ? मृत हो जाने पर संजा विहीन होने पर पछताना शेष रहेगा ? इस शंका का समाधान इस प्रकार हो सकता कि यह जीवन माया में सलग्न रहकर, पथ भ्रष्ट होकर, लक्ष्य विहीन होजायगा और पंचतत्व को प्राप्त होकर पुनः जन्म-मरण के क्रम में निवद्ध होगा , एक बार सत्यता पूर्वक ब्रह्म का स्मरण करने पर मानव ब्रह्माकार हो जाता है । परन्तु इसके विपरीत माया में सलग्न रहने के कारण वह दूसरे जन्म में भी पश्चात्ताप की अग्नि में प्रदग्ध होता रहता है ।

शब्दार्थ—लूटियौ = लूटिये । पीछै = मृत्यु के अनन्तर । दूसरा जन्म धारण करने पर ।

लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम भंडार ।
काल कंठ तै गहैगा, रुंधै दसूँ दुवार ॥ २६ ॥

संदर्भ—प्रस्तुत साखी में कवीर ने काल की प्रबलता, मानव जीवन की क्षण भङ्गुरता, मानव की विवशता और राम नाम की सुलभता की ओर संकेत करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से मानव समाज को चेतावनी प्रदान की है ।

भावार्थ—राम नाम का भण्डार विद्यमान है । उसे लूट सके तो लूट ले । अन्यथा काल कण्ठ से पकड़ लेगा और दसो द्वार रुध देगा ।

विशेष—विगत साखी में कवि ने चेतावनी देते हुए कहा है पीछे ही पछिताने दूंगे यह तन जैहै लूटि और इस साखी में उसी भाव की अधिक प्रभावशाली अभिव्यक्ति के साथ 'काल कंठ तै गहैगा, रुंधै दसूँ दुवार' के रूप में प्रस्तुत किया है । (२) कवि ने राम नाम भण्डार का उल्लेख करके रामनाम की प्रचुरता और सुलभता का उल्लेख किया है । रामनाम की सहस्र सुलभ और प्रभावशाली अन्य तत्त्व नहीं है इसीलिए उसने प्रस्तुत परिच्छेद की तेइसवीं साखी में आदेशात्मक उद्देश दिया है कि 'कवीर आपण राम कहि और राम कहाई । जिहि मुख राम न जातरे, तिहि मुख फेरि कहाइ ।' राम नाम से विमुख प्राणियों के लिए कवि ने कहा है 'ते नर उम उचार मे उपजि पये वेनाम ।' (३) काल कंठ तै गहैगा से तात्पर्य है कि काल कण्ठ से ही पकड़ कर मृत्यु के मुख में डाल देगा । (४) रुंधै दसूँ दुवार में तात्पर्य है काल दसो द्वार लयबद्ध कर देगा । दस द्वार है प्राण, रन्ध्र, कर्ण, नेत्र, नासिका, मुख, गुदा, निस्तेन्द्रिय ।

शब्दार्थ—गहैगा = पकड़ेगा । रुंधै = लयबद्ध करेगा । दसूँ = दसो । दुवार = द्वार ।

लंबा मारग दूरि घर, विकट पंथ बहु मार ।
कहौ संतौ कू पाइये, दुर्लभ हरि दीदार ॥ २७ ॥

संदर्भ—प्रियतम का प्रदेश बहुत दूर है। वहाँ का मार्ग अत्यन्त लम्बा और भाँति-भाँति की बाधाओं से सम्पन्न है। ऐसी स्थिति में प्रियतम के दुर्लभ दीदार कैसे प्राप्त होंगे ?

भावार्थ—मार्ग लम्बा है, घर दूर पर है, विकट पथ है और अनेक प्रकार के आघात हैं। हे संतजन ! फिर हरि के दुर्लभ दीदार कैसे प्राप्त होंगे ।

विशेष—(१) प्रस्तुत साखी में कवि ने प्रियतम के प्रदेश की दूरी तथा हरि के दर्शनो की दुर्लभता का उल्लेख किया है। अथर्ववेद में उसकी सर्वत्र विद्यमानता सम्बन्ध में कहा गया है। ओइम् । यस्तिष्ठति चरति यश्चवञ्चति यो निलायं चरतिः यः प्रतङ्कम् । द्वौ सन्निवद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः । उस प्रियतम का प्रदेश कवि ने दूर माना है। ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान होते हुए भी निकट है। वह ज्ञान चक्षु के द्वारा दृष्टिगत होता है। अन्यथा वह दूर ही है। (२) उसको प्राप्त करने का मार्ग (साधना) बड़ा लम्बा है। (३) 'विकट पंथ' 'मार' से तात्पर्य है साधना का मार्ग अनेक विघ्न-बाधाओं से सम्पन्न है। माया, तृष्णा, लोभ, काम आदि साधक को उस मार्ग पर गतिशील नहीं होने देते हैं। (४) 'दुर्लभ हरि दीदार' से तात्पर्य है प्रियतम के दर्शन साधना, संयम तथा शान्ति के बिना सम्भव नहीं है।

शब्दार्थ—मारग = मार्ग, रास्ता । विकट = कठिन । मार = आघात । दीदार = दर्शन ।

गुण गायेँ गुण नाम कटै, रटै न राम वियोग ।

अह निसि हरि ध्यावै नहीं, क्यूँ पावै दुर्लभ जोग ॥ २८ ॥

संदर्भ—प्रस्तुत साखी में कबीर ने राम नाम के महत्व का पुनः उल्लेख किया है। राम नाम का प्रभाव बड़ा व्यापक और असाधारण है। नाम जप के प्रभाव से माया के बधन विच्छिन्न हो जाते। फिर भी मानव इस पुण्य कर्तव्य से विमुक्त है।

भावार्थ—राम नाम का गान करने से माया का पाश विच्छिन्न हो जाते हैं। फिर भी (मानव) राम के वियोग में नाम जप नहीं करता है। जब रात दिन हरि का ध्यान नहीं करेगा, तब फिर दुर्लभ अनन्त योग कैसे प्राप्त होगा।

विशेष—(१) प्रस्तुत साखी में कवि ने 'गुण' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है। प्रथम गुण का अर्थ है हरिनाम के गुण या विशेषता और द्वितीय अर्थ पर 'गुण' शब्द का प्रयोग माया के पाश के हेतु हुआ है। (२) 'गुण' 'कटै'

अशिक्षित कवि कबीर की काव्य प्रतिभा के दर्शन होते हैं। प्रस्तुत पंक्ति से कबीर-साहित्य में प्रयुक्त अलंकारों के सहज-रूप के दर्शन होते हैं। सहज अभिव्यक्ति के साथ सहज रूप में अलंकारों का प्रयोग कबीर को विशेषता है। (३) रटै... वियोग से तात्पर्य है राम के वियोग में नाम-जप नहीं करता है। इसी प्रकार प्रस्तुत परिच्छेद की बारहवीं साखी में कवि ने लिखा है "काहे न देखै जागि" और ग्यारहवीं साखी में भी इसी प्रकार कवि ने लिखा है "जागि न जपे मुरारी। (४) अह निमि हरि ध्यावै नही" से तात्पर्य है रात दिन हरि के नाम का जप नहीं करता है। रात दिन के नाम-जप के विषय में कबीर ने बारम्बार उपदेश दिया है। प्रस्तुत परिच्छेद की १६ वीं साखी में कबीर ने इसी प्रकार लिखा है "राति दिवस कै कूरुषौं (मत) कवहूँ लगे पुकार" (५) 'दुर्लभ जोग' ब्रह्म के साथ दुर्लभ योग या तादात्म्य संस्थापना। ब्रह्म स्वतः दुर्लभ है और उसके साथ योग संस्थापन और भी दुर्लभ है। यहाँ पर कवि ने इसी भाव की ओर संकेत किया है यजुर्वेद में उस ब्रह्म को सर्व व्यापकता के सम्बन्ध में कहा गया है 'सः श्रोतः प्रोतश्च विभुः प्रजानु'। फिर भी वह दुर्लभ उन लोगों के लिए है जो माया-से परिवेष्टित ही है। (६) सम्पूर्ण साखी में कवि ने नाम-जप के कर्तव्य से विमुख प्राणियों को सचेत करने की चेष्टा की है।

शब्दार्थ—वियोग = वियोग। अह निमि = अहनिश-दिनरात। दुर्लभ = दुर्लभ।

कबीर कठिनाई खरी सुमिरतां हरि नाम।

सूली ऊपरि नट विद्या, गिरुं त नहीं ठाम ॥ २६ ॥

संदर्भ—प्रस्तुत साखी में कबीर के नाम जप या साधना की दुर्लभता की ओर संकेत किया है। साधना का मार्ग उन्हीं प्रकार दुर्लभ और दुःसाध्य है यथा शूनों पर नट की कला का प्रदर्शन कठिन शूनी के ऊपर अपनी कला का प्रदर्शन करने वाला नट लेशमात्र भी असावधान होते ही धराशायी हो जाता है उन्हीं प्रकार नायक धाने से भ्रष्ट होते ही कहीं पर भी नहीं स्थान पाता है।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि हरि नाम के स्मरण ने अनेक कठिनाइयाँ हैं। यथा शूनी के ऊपर नट अपनी कला का प्रदर्शन करना हुआ जब गिरता है तो उन छे लिए कोई स्थान नहीं रहता है।

विशेष—प्रस्तुत साखी में कवि ने नायक यथा नट की बुद्धि का ही साधना में नायक और कला के प्रदर्शन में एकाग्रता अत्यधिक अनिवार्य और आवश्यक होगी है। एकाग्रता बिनष्ट होने ही शून्य ही अत्यन्त ही बलि है। सोच में गिरा भोगी और शूनी पर से गिरा नट प्राण रहित हो जाता है। अज्ञानिर नगर ने

ठीक ही कहा है कि 'गिरुं तो नांही ठाम । (२) "कबीर" नाम से तात्पर्य है कि हरि नाम स्मरण में बहुत सी कठिनाइयाँ हैं । काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ आदि शत्रु आक्रमण करते हैं और मन विश्वासघात करता है माया आनी ओर आकर्षित करती है यही साधन के मार्ग में कठिनाइयाँ हैं ।

शब्दार्थ— सुमिरता = स्मरण करने में । सूली = शूली । ठाम = स्थान ।

कबीर राम ध्याइ लै, जिभ्या सौं करि मंत ।

हरि सागर जिनि बीसरै, छीलर देखि अनंत ॥ ३० ॥

सन्दर्भ— प्रस्तुत साखी में कबीर ने राम नाम से अनुराग उत्पन्न करने जप की साधना में अनुरक्त रहने तथा सांसारिक स्वादों का परित्याग करके हरि रस से प्रेम करने और उसे जिह्वा पर धारण करने का उपदेश दिया है । इसी साखी के उत्तरार्ध में कवि ने हरि सागर की उपेक्षा करके लौकिक छीलरों से अनुराग करने वालों को चेतावनी भी दी है ।

भावार्थ— कबीर दास कहते हैं कि जिह्वा से मैत्री करके राम का ध्यान करले । अनन्त छीलरों को देखकर हरि-सागर मत विसर ।

विशेष— (१) 'कबीर' 'लै' के द्वारा कबीर ने वारम्बार उसी भाव की अभिव्यक्ति की है, जिसका उल्लेख काव्य में प्रस्तुत 'अंग' में वारम्बार किया है । राम नाम की महत्ता का उल्लेख करते हुए कबीर ने अनेक बार कहा 'कबीर आपण राम कहि, औरां राम कहाइ' तथा 'कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै वाति ।' वही भाव यहाँ अन्य शब्दों में कवि ने व्यक्त किया है । (२) जिभ्या सौं करि मंत से तात्पर्य है कि यह कि जिह्वा के साथ मैत्री करले । यह जिह्वा जो भौतिक और लौकिक रसों और स्वादों में अनुरक्त है, उस पर अधिकार तथा संयम स्थापित करले । यह जिह्वा जो रसों के पान करने में अनुरक्त है, उसे हरि-रस को पान करने में अनुरक्त करले । (३) 'हरि सागर से तात्पर्य है कि ब्रह्म रूपी सागर । अगाध, अनन्त तथा अपार होता है, उसी प्रकार हरि या ब्रह्म अनन्त, अगाध, तथा अपार है । (४) 'छीलर देखि अनन्त' से तात्पर्य है अनेक पोखरे । पोखरे या छीलर का प्रयोग यहाँ पर लौकिक या भौतिक प्रलोभनों के लिए किया गया है तात्पर्य है कि लौकिक प्रलोभनों में पटक कर लौकिक तत्व को नहीं भूलना चाहिए ।

शब्दार्थ— ध्याइ = ध्यान वाले । जिभ्या = जिह्वा । सौं-से । मंत = मैत्री जिनि-मंत । बीसरै-मूल । छीलर-पोखरे, तालाब ।

कबीर राम रिनाइ लै, सुख अमृत गुण गाइ ।

फूटा नग ज्यू जोड़ि मन, संघे संधि भिलाइ ॥३१॥

सन्दर्भ—अमृत के सदृश मधुर एवं कल्याणकारी रामनाम के रस को जिह्वा पर धारण करके मनुष्य के लिए यह उपयोगी है कि वह राम को रिक्का ले तथा फूटे हुए नग को कोने से कोना मिला कर जोड़ लिया जाता है, उसी प्रकार इस मन को उस मन से जोड़ने का यत्न करना चाहिए ।

भावार्थ—कवीर दाम कहते हैं कि मुख से अमृत तत्व पर ब्रह्म का गुण-गान करके उसे अपने प्रति आकर्षित कर ले । तथा फूटे हुए नग को कोने से कोना मिला कर जोड़ा जाता है, उसी प्रकार मन को ब्रह्म से जोड़ ले ।

विशेष—(१) कवीर जनता के कवि हैं । उन्होंने जनमाधारण में प्रचलित उचितयो और अप्रस्तुत योजना को लेकर अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्यों को व्यक्त करने की चेष्टा में आशातीत सफलता प्राप्त की है फूटा नग ज्यूं जोड़ि, मन सधे माधि मिलाइ” में यह प्रयुक्त अप्रस्तुत योजना सहज होने के साथ ही साथ औचित्यपूर्ण भी है । (२) फूटे हुए नग को जोड़ने की प्रक्रिया एकाग्रता तथा कौशल की अपेक्षा करती है । उसी प्रकार ब्रह्म से वियुक्त मन को कौशल एवं एकाग्रता के साथ जोड़ना आवश्यक है । (३) “राम रिक्काइ लै वारम्वार प्रार्थना एव नाम जप के द्वारा ब्रह्म को अपने प्रति आकर्षित एवं प्रसन्न कर ले । सेवा के द्वारा प्रियतम प्रबल को अपने प्रति रिक्का लेना चाहिए । (४) मुख... गाइ से तात्पर्य है मुख से अमृत तत्व अर्थात् ब्रह्म के गुणों का गान कर ले अमृत का अर्थ वह ब्रह्म जो अजर अमर अनादि और अन्त है ।

शब्दार्थ— रिक्काई = प्रसन्न । लै = ले मुख = मुख, मुह । अमृत = अमर । गाइ = गान कर । सधे = सधि ।

कवीर चित चमैकिया, चहुँ दिसी लागी लाइ ।

हरि सुमिरण हाथूँ घड़ा, वेग लेहु बुक्काइ ॥ ३२ ॥

सन्दर्भ—वासना तृष्णा और माया की अग्नि या दाह ने मन की शान्ति, दशाओं और एकाग्रता को विनिष्ट कर दिए है यह दाह, सताप या पीडा सभी विनष्ट हो सकती है, जब हरिनाम स्वी पीतल जल को ग्रहण करके उसे दाना करने की चेष्टा में मानव मनुष्य और दत्तचित्त हो ।

भावार्थ—कवीर कहते हैं कि माया (या वातना या तृष्णा) की अग्नि दशों विधाओं में लग गई और मन चमकृत हो उठा । हरिनाम स्मरण स्वी पीतल जल को हाथों में है । इसके द्वारा अग्नि को क्षीण ही बुझा लो ।

विशेष— (१) अग्नि को प्रदान करने के लिए पटा के पत्र का आग्रह प्रयोग करना पड़ता है । तदां पर जन कधि कदियर ने दशों उदित को माधनारनक

जीवन में घटित करने का प्रयत्न किया है वासनाओं और माया द्वारा प्रदग्ध अग्नि को नाम सुमिरण के जल के द्वारा ही प्रशान्त किया जा सकता है कबीर ने यहाँ पर अत्यन्त सुलभ उक्ति के द्वारा आध्यात्मिक जगत के भाव को प्रभावशाली बनाने की चेष्टा की है। (२) कबीर, ... लाइ से तात्पर्य है कि वासना की अग्नि चारों दिशाओं, सर्वत्र लगी है और उसके प्रभाव से मन चमत्कृत हो उठा है संसार के सर्वत्र माया की अग्नि प्रज्वलित है। और मन उसमें रमा हुआ या अत्यन्त अनुरक्त है। (३) वेगे लेहु बुझाइ-शीघ्र ही इस अग्नि बुझा लो। कबीर ने यहाँ वेगे शब्द का प्रयोग किया है। क्षणभङ्गुर जीवन किसी पल विनष्ट हो सकता है। अतः मानव के लिए यह आवश्यक है कि अत्यन्त शीघ्रता के साथ जीवन की विगड़े क्रम में सुधार के करले। (४) हरि... घडा से तात्पर्य है कि हरि नाम रूपी जल का घडा हाथ में है।

शब्दार्थ—चमकिया = चमत्कृत। चहुँ = चारों। दिसि = दिशा। लाइ = ज्वाला अग्नि। हाथू = हाथों में। वेगे = शीघ्र ही। लेहु = लो। बुझाइ = बुझा।

३. विरह कौ अंग

रात्यूं रुंनी विरहिनीं, ज्यूं वंचौ कूं कुंज।

कबीर अंतर प्रजल्या, प्रगळ्या विरहा पुंज ॥१॥

सन्दर्भ—कौंच पक्षी का विरह जगत प्रसिद्ध है। उसी प्रकार विरहिरनी आत्मा प्रियतम के वियोग में जीवन निशा या विरह निशा भर रुदन करती रही। सावना के अन्तस में जब से विरह की भावना उद्दीप्त हुई तब से समस्त कलुष दूर हो गए।

भावार्थ—रात भर विरहिणी रोई यथा कौंच पक्षी अपने बच्चों के लिए रोती है। कबीर कहते हैं कि विरह के प्रज्वलित होने पर अंतर प्रज्वलित हो गया।

विशेष—(१) प्रस्तुत साखी में कवि ने विरही सावक तथा कौंच की परिस्थिति और विरहानुभूति में साम्य उपस्थित करते हुए दोनों के विपाद का उल्लेख किया है। विरही आत्मा और कौंच दोनों प्रिय के वियोग में अत्यन्त व्याकुल रहते हैं। विरहनिशा भर आत्मा प्रिय के हेतु रुदन करती रही उसी प्रकार कौंच पक्षी की परिस्थिति है। (२) "रात्यूं" से तात्पर्य रात भर। यहाँ पर "रात" का प्रयोग कवि ने उसी अर्थ में किया है जिस अर्थ में पादचातय रक्षय्यादिषो ने "डोकं नाइट

आफ दिसोल" अर्थात् आत्मा की अन्धकारपूर्ण रात्रि" का प्रयोग किया है। (२) "अन्तर प्रजल्या" से तात्पर्य है अन्तस प्रज्वलित हो गया। विरह पुंज के प्रकट होने पर अन्तस प्रज्वलित हो गया। जो अन्तस वासनाओं का केन्द्र स्थल बना हुआ था, वह विरहाग्नि के प्रज्वलित होने पर अब प्रज्वलित हो उठा।

शब्दार्थ--रात्यूं = रात में। रुनी = रोई। वचौ = कूं = को। कुज। प्रजल्या = प्रज्वलित हुआ। प्रगट्या = प्रकट हुआ। पुज = घनीभूत।

अम्बर कुंजा कुरलियाँ, गरजि भरे सब ताल।

जिनि थैं गोविन्द वीछुटे, तिनके कौण हवाल ॥२॥

सन्दर्भ--आकाश क्लौच-पक्षी के आतं क्रन्दन से परिपूरित हो उठा। कनक जलद का अन्तस आद्रं हो उठा और उसके रुदन से जलाशय ओत-प्रोत हो उठे। परन्तु जो प्राणी गोविन्द से विमुख हैं, उनके प्रति कौन सवेदनशील होगा।

भावार्थ--क्लौच पक्षी ने आकाश में आतं क्रन्दन किया जिससे आद्रं होकर घनश्याम ने सरोवरो को जल से ओत-प्रोत कर दिया। परन्तु जो गोविन्द अर्थात् भगवान से विमुख है, उनकी तथा दशा होगी। भगवान से वियुक्त उन प्राणियों पर कौन कृपा भाव प्रदर्शित करेगा।

शब्दार्थ--अम्बर = आकाश। कुंजा = क्लौच। गरजि = गर्जन करके। पै = से। वीछुटे = विछुटे = वियुक्त। कौण = कौन। हवाल = हाल।

चकवी विछुटी रैणि की, आइ मिलि परभाति।

जे जन विछुटे राम सूं, ते दिन मिले न राति ॥३॥

सन्दर्भ--चकवी रात्रि के अभिशप्त क्षणों में, अभिशप वश प्रिय से वियुक्त हो गई, परन्तु सूर्य की किरणों के आलोकमय वातावरण में वह अपने प्रिय से पुनः मिल गई। परन्तु माया के प्रभाव से परम पिता से वियुक्त प्राणों परम पिता से कभी नहीं मिल पाती है।

भावार्थ--रात्रि की विछुटी हुई चकवी, प्रनात के क्षणों में प्रियतम से पुनः मिल गई। परन्तु माया के प्रभाव में भगवान के सम्पर्क से पृथक् प्राणों यत्र ही कारण में कभी नहीं, पहुँच पाता है।

शब्दार्थ--रैणि = रैन = रात्रि। परभाति = प्रभात। विछुटे = विछुटे = वियुक्त। राति = रात = रात्रि।

यान्तर सुग्ग नां रैन सुग्ग, ना सुग्ग सुपिनै माहि।

फकीर विछुट्या राम सूं, नां सुत्त भूप न छाँह ॥४॥

सन्दर्भ—राम से वियुक्त प्राणी को कभी किसी दशा या परिस्थिति में सुख नहीं प्राप्त होता है ।

भावार्थ—कवीर कहते हैं कि राम से वियुक्त प्राणी को न रात में सुख है, न दिन में; न वह स्वप्न में शान्ति प्राप्त करते हैं न जाग्रतावस्था में । घूप अथवा छाह में भी वह शान्ति नहीं प्राप्त कर पाता है । तात्पर्य यह है कि ब्रह्म की शरण ही समस्त सुख है । वही सुख निधान है, वही शान्ति-निकेतन है ।

शब्दार्थ—बासर = वासर = दिवस । रैन = रात्रि । सुपिनै = स्वप्न में ।

विरहिन ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूके धाइ ।

एक सबद कहि पीव का, कवर मिलैगे आइ ॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत साखी में विरहिणी की व्यग्रता, अधीरता, मानसिक व्यथा को व्यक्त किया गया है ।

भावार्थ—विरहिणी मार्ग पर खड़ी पथिकी से पूछ रही है कि प्रिय का समाचार बताइए । वे कब आकर मिलेंगे, अनुग्रहीत करेंगे ।

शब्दार्थ—ऊभी = खड़ी । सिरि = सिरे पर । बूके = पूछे । धाइ = दौड़ कर । कवर = कवरे, अरे कव ।

बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम ।

जिव तरसै तुभ मिलन कूँ, माने नांही विश्राम ॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत साखी में आत्मा रूपी विरहिणी की विरह भावना बड़े मार्मिक शब्दों में व्यक्त हुई है ।

भावार्थ—हे राम ! हे प्रिय ! बहुत काल से अर्थात् जाने कब से तुम्हारी बाट जोह रही हूँ, तुम्हारी प्रतीक्षा में अनुरक्त हूँ । तुमसे एकात्मकता संस्थापित करने के लिए मेरा जी व्यग्र है और मन में शान्ति नहीं है ।

शब्दार्थ—जोवती = जोहती = प्रतीक्षा करती । बाट = मार्ग । जिव = जी, प्राण । विश्राम = शान्ति ।

विरहिन ऊठै भी पडै, दरसन कारनि राम ।

मूवां पीछे देहुगे सो दरसन किहि काम ॥७॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत साखी में विरहिणी की कृशावस्था, और विरह में दुःप्रभाव का चित्रण किये गये हैं ।

भावार्थ—हे राम ! विरहिणी तुम्हारे दर्शन के लिए उठते हैं और पृथः गिर पड़ती है । यदि मृत्यु के अनन्तर तुम्हारे दर्शन हुए भी तो किस काम के, उठते क्या पान होगा ।

शब्दार्थ—ऊठै = उठे । भी = फिर । पडै = गिर = गिर पडती है । दरसन = दर्शन । कारनि = कारण ।

मूवा पीछै जिनि मिलै कहै कवीरा राम ।
पाथर घाटा लोह सब (तथ) पारस कौणै काम ॥ ८ ॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत साखी का वर्णन-विषय सप्तम साखी के विषय से साम्य रखता है । कवि ब्रह्म के अनुग्रह का आकाक्षी हैं, परन्तु शरीर रहते ही ।

भावार्थ—कवीर कहते हैं कि हे राम । पचतत्व में मिल जाने के अनन्तर यदि आपने अनुग्रह किया तो उससे लाभ, उससे प्रयोजन ? पारस पत्थर की खोज में, खोदते-खोदते यदि लौहास्त्र यदि पूर्णतया घिस जाय, और अन्त में पारस के पत्थर प्राप्त भी हो तो उसका क्या प्रयोजन ।

शब्दार्थ—मूवा = मृत्यु । जिनि = मत । पाथर = पत्थर घाटा = क्षीण । कौने = किर ।

अन्देसड़ा न भाजिसी, सन्देसौ कहियाँ ।
कै हरि आयाँ भाजिसी, कै हरि ही पासि गयाँ ॥९॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत साखी में वियोगिनी आत्मा की द्वन्द्वात्मक परिस्थिति और अनुभूति का चित्रण हुआ है ।

भावार्थ—साधना के पथ पर प्रतीक्षित विरहिणी, उस पथ के पथिकों द्वारा प्रियतम की सेवा में सदेश भेजती हुई कहती है कि द्वन्द्व या सवल्पविकल्प की स्थिति दूर नहीं होती है । या तो प्रिय कृपा करके अनुग्रह करे या मैं ही प्रिय की सेवा में प्रस्तुत हूँ ।

शब्दार्थ—अदेसटा = अदेशा = चिन्ता, द्वन्द्व । भाजिसी = नहीं दूर होगा । सन्देसौ = सन्देश । कहियाँ = कहना । कै = या ।

आइ न सकौ तुम पै, सकूँ न तुम बुलाइ ।
जियरा यौही लेहुगे, विरह तपाइ तपाइ ॥१०॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत साखी में कवि या साधक की विरह भावना की तीव्रता व्यक्त हुई है । साधक अपनी हीनताओं और सीमाओं में रुच्योपा परिनिम है ।

भावार्थ—आत्मा तपो विरहिणी प्रियतम की प्रति निदेश करती हुई कहती है कि हे प्रिय । मैं तुम्हारे पास अपनी सीमाओं, हीनताओं के कारण नहीं आ सकती । और तुम्हें अपने पास बुला करने की क्षमता नहीं प्रकृत कर पाई । प्रकृत होता है कि विरह की अग्नि में इसी प्रकार तप-तपाकर प्राण में योग ।

शब्दार्थ :-—तुझ पै - तुम्हारे पास । तूझ = तुम्हे । जियरा - जी, प्राण
तपाइ - तपा करके ।

यह तन जालौं मसि करूं ज्यूं धूवाँ जाइ सरगि ।

मति वै राम दया करै, बरसि बुभावै अगि ॥

सन्दर्भ—विरहिणी की आकाशा का अभिनव स्वरूप । शरीर को विरह की अग्नि में जला कर भस्म कर डालने की इच्छा, जिसमें धुवा आकाश की ओर जाय और धुंवे के प्रभाव से प्रिय का ध्यान प्रियतमा की सतप्तावस्था की ओर आकर्षित हो ।

भावार्थ—विरहिणी सोचती है कि इस शरीर को विरहाग्नि में प्रदग्ध करके जला दूँ जिससे धुंवाँ आकाश में जा पहुँचे । सम्भव है कि धुंवे को देखकर वे राम कृपावारि, अनुग्रह-जल बरसकर मेरे विरह जीवित संताप को दूर कर दें ।

शब्दार्थ—जालौं = जला दूँ । मसि = स्याही । धूवा = धुवाँ = धूम्र । सरागी = सरग = स्वर्ग = मति = शायद, सम्भव है । अगि = आग = अग्नि ।

यहूँ तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ ।

लेखणि करूँ करंक की, लिखि लिख राम पठाउँ ॥

सन्दर्भ—विरहिणी की इच्छाएं नए-नए रूपों में प्रकट हो रही हैं । यहाँ एक और अभिनव कामना । जिस प्रकार भी-प्रिय का ध्यान आकर्षित हो वह कार्य करना है गंतव्य तक पहुँचना है । लक्ष्य की समुपलब्धि ही व्यय बन गया है ।

भावार्थ—विरहिणी की आत्मा इच्छा करती है कि इस शरीर को जला कर मसि (स्याही) बना डालूँ और अपनी हड्डियों को लेखनी बना कर राम के पास विरह निवेदन करती हुई पत्र लिखूँ ।

शब्दार्थ—लेखणि = लेखनी, कलम । करंक = हड्डी ।

कबीर पीर पिरावनीं, पंजर पीड न जाइ ।

एक ज पीड परीत की, रही कलेजा छाइ ॥ १३ ॥

प्रसंग—प्रेम एवं विरह की पीडा ने पिंजर या शरीर एवं मर्म को अभिभूत कर रखा है ।

भावार्थ—कबीर दास कहते हैं कि पीडा पंजर या शरीर को दुःख देने वाली है परन्तु प्रेम की पीडा मर्म या कलेजे को अभिभूत कर रखा है ।

शब्दार्थ—पीर = पीड = पीडा । पिरावनी = पीडा देने वाली । पंजर = शरीर । परीति = प्रीति ।

चोट सताँणी विरह की, सब तन जर जर होइ ।

मारणहारा जाँणि है, कै जिहि लागी सोइ ॥ १४ ॥

प्रसंग—विरह की चोट एव पीडा से विरही का समस्त शरीर जर्जर हो रहा है ।

भावार्थ—विरह की चोट ने मर्म को आहत कर डाला और समस्त शरीर जर्जर (अथवा शिथिल) हो रहा है । इस पीडा का अनुभव नहीं करेगा जिनने शब्द रूपी वाण मार कर प्रेम एवं विरह की पीडा समुत्पन्न की है, या जिसके यह वाण लगा है ।

शब्दार्थ—सताँणी = सतानी = सताने वाली । जरजर = जर्जर = शिथिल । मारणहारा = मारने वाला । जाँणि है = जानि है = जानेगा । कै = या ।

कर कमाण सर साँधि करि, खैचि जुमारया मांहि ।

भीतर भिद्या सुमार ह्वै, जीव कि जिवै नांहि ॥ १५ ॥

प्रसंग—सद्गुरु ने जब से शब्द रूपी वाण मारा है तब से प्रेम की मधुर पीडा, विरह की चोट सबल हो उठी है ।

भावार्थ—सद्गुरु ने हाथ में कमान लेकर शब्द रूपी वाण शक्ति भर खींचकर मारा है । तब से शब्द रूपी वाण ने मर्म को आहत कर डाला । अब वियोगी जीवन एवं मृत्यु के मध्य में समय व्यतीत कर रहा है ।

शब्दार्थ—साँधि = संघान = लक्ष्य करके । खैचि = खींच कर शक्ति भर । मांहि = आभ्यान्तर में । भीतर = अन्तर्गत । भिद्या भिदा = भद गदा । सुमार = गभीर चोट ।

जब हूँ मारया खैचिकर, तब मैं पाई जाँणि ।

लागी चोट मरम्म की, गई कलेजा छाणि ॥ १६ ॥

प्रसंग—शब्द वाक्ता के लगते ही ज्ञान जाग्रत हो गया । अब उस प्रेम और विरह की ध्यवा ने मर्म को आहत कर डाला है ।

भावार्थ—सद्गुरु ने जब खींच कर शब्द-वाण मुझे मारा तो मैं ज्ञान में सम्पन्न हो गया । शब्द-वाण के फल स्वरूप मर्म आहत हो गया और कलेजा पीडा से अभिभूत हो गया ।

शब्दार्थ = हूँ = मुझे । जाँणि = जानि = ज्ञान । मरम्म = मर्म = छाणि = अभिभूत ।

जिहि सरि मारी कान्हि, सो नर नरे मन परया ।

जिहि सरि अजहुँ मारि, सरयिन सचपाऊँ नदी ॥ १७ ॥

प्रसंग—सतगुरु द्वारा मारा हुआ शब्द रूपी वाण और उससे समुत्पन्न पीडा मन को मधुर प्रतीत होती है ।

भावार्थ—हे सतगुरु ! जिस शर या वाण से आपने मुझे कल मारा था उसी से आज भी पुनः मर्म की आहत कोजिए । वह शब्द रूपी वाण मेरे मन में बस गया है । शब्द वाण की चोट सहन किए बिना मुझे सुख नहीं मिलता है ।

शब्दार्थ—सरि = सर = शर = वाण । कालिह = कालि = कल = विगत दिन । वस्या = वसा = बस गया है । तिहि = तिह = उस । सचपाऊं = सुख पाऊं ।

विरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ ।

राम वियोगी ना जिवै, जिवै त बौरा होइ ॥ १६ ॥

प्रसंग—विरह के प्रभाव से साधक का तन क्षीण, मन उन्मत्त प्रतीत होता है । राम वियोगी संसार से विद्युक्त होकर जीवन यापन करता है ।

भावार्थ—जबसे विरह रूपी सर्प शरीर में निवास करने लगा है तब से कोई मंत्र या औषधि काम नहीं देती है । राम का वियोगी संसार से उदासीन होकर जीवन यापन करता है, वह जीवन्मुक्त होकर संसार में जीवित रहता है ।

शब्दार्थ—भुवंगम = भुजंग = सर्प । मंत्र = औषधि । वियोगी = वियोगी । बौरा = असंतुलित ।

विरह भुवंगम पैसि करि, किया कलेजै घाव ।

साधू अंग न मोड़ही, ज्युँ भावै त्युँ खाव ॥ १६ ॥

सन्दर्भ—विरहानुभूति साधुजनो को प्रिय लगता है । विरह जनित आनन्द अद्वितीय है ।

भावार्थ—विरह भुजंग से जाग्रत होकर मर्म को आहत कर डाला है । साधु जन विरह भुजंग से दूर रहने की चेष्टा नहीं करते हैं । उनका समस्त शरीर विरह भुजंग के प्रहार का क्षेत्र है ।

शब्दार्थ—भुवंगम = भुजंग-सर्प । पैसि = पैठि, प्रविष्ट होकर । मोड़ही-मोड़ते हैं । भावै-बचिकर सने । त्युँ-त्यो तैसे । खाव-खालो ।

सध रँग नंतर घाव तन, विरह धजावै नित्त ।

और न कोई सुणि सकै, कै साई कै चित्त ॥२०॥

सन्दर्भ—विरह का शरीर पर एक छत्र साम्राज्य है । शरीर हरी रमाव को विरह रूपी कनाकार बजा रहा है ।

भावार्थ—विरह शरीर रूपी रवाव को नित्य वजाता है । शिराएँ उन वाद्ययंत्र में तान (या ततु) का काम दे रही है । इस रवाव से प्रस्फुटित राग या तो स्वामी (सत गुरु) सुन पाता है या साधक ।

शब्दार्थ—रग = रगे, शिराएँ । रवाव = एक विशिष्ट वाद्य यंत्र । तन = शरीर । सुणि = सुनि = सुन ।

विरहा बुरहा जनि कहौ, बिहरा है सुलितान ।

जिह घटि विरह न संचरै, सो घटि सदा मसान ॥ २१ ॥

सन्दर्भ—विरह शरीर का सुलतान है ।

भावार्थ—विरह बुरा है, ऐसा मत कहो । विरह शरीर का सुलतान है । जिस शरीर में विरह की गति नहीं है, वह शरीर स्मशान सदृश है ।

शब्दार्थ—बुरहा = बुरा है । जिन-मत-। सुलितान = सुलतान = सम्राट । घटि = घट-शरीर । मसान = स्मशान-मरघट ।

अंषणियां भांई पड़ी, पंथ निहारि निहारि ।

जीभडियाँ छाला पडया, राम पुकारि पुकारि ॥ २२ ॥

सन्दर्भ—प्रिय की प्रतीक्षा करते करते अग-प्रत्यंग, शिथिल और जर्जर हो गये हैं ।

भावार्थ—विरह के प्रभाव से वियोगिनी की आँखों में प्रतीक्षा करते-करते भाँई पड गई और प्रिय का नाम पुकारते-पुकारते जिह्वा में छाले पड गए ।

शब्दार्थ—अपणियाँ-आँखें । भाँई-मद । निहारि-देखकर । जीभडियाँ-जिह्वा । पडया = पडा ।

इस तन का दीवा करौ, वाती मेल्युँ जीव ।

लोही सीचीं तेल ज्युँ, कव मुख देखौं पोव ॥ २३ ॥

सन्दर्भ—विरहिणी चिर काल तक प्रतीक्षा में अनुरक्त रहना चाहती है । शरीर रूपी दीपक में प्राणों की वृत्तिका सुरक्षित रख कर वह प्रिय के पदों को आलोकित करना चाहती है ।

भावार्थ—विरहिणी कहती है कि इस तन को दीपक बना लानूँ और और उनके प्राणों की वृत्तिका टालकर रख लगी तन में निविज करते हुए, प्रिय का मुख देखने के लिए मैं चिर प्रतीक्षित रहूँगी ।

शब्दार्थ—दीवा = दीपक । करौं = कर । वाती = वाती । मेल्युँ = टालूँ । लोही = लोहा = लौ । सीचीं = निविज कर ।

नैनां नीभर लाइया, रहट बहै निस जाम ।

पपीहा ज्यूँ पिव पिव करौं, कवरु मिलहुगे राम ॥ २४ ॥

सन्दर्भ—विरह के कारण नेत्रो से अश्रु निरंतर प्रवाहित रहते हैं और प्राण पपीहे के सदृश प्रिय का नाम रटते रहते हैं ।

भावार्थ—प्रिय के वियोग मे नेत्रो से आंसू-निर्भर दिनरात प्रवाहित रहते है और प्राण पपीहे के सदृश प्रिय का नाम रटते हैं । हे प्रिय कब मिलोगे ।

शब्दार्थ—नीभर = निर्भर = भरना । रहट = कुआं से जल निकालने का यंत्र । निसजाम = निशयाम । कवरु = अरे कब ।

अँपड़ियाँ प्रेम कसाइयाँ, लोग जाणौ दुखड़ियाँ ।

साँईं अपणौ कारणौ, रोइ रोइ रतड़ियाँ ॥ २५ ॥

सन्दर्भ—प्रिय के वियोग मे रुदन करते करते नेत्र आरक्त हो गए हैं ।

भावार्थ—नेत्र प्रेम-विरहाग्नि मे सतप्त होने के कारण लाल हो गए । स्वामी के वियोग के कारण रो-रोकर लाल हो गए हैं और लोग जानते हैं नेत्र दुख रहे हैं ।

शब्दार्थ—अपड़िया = अंखड़िया = आंखें । कसाइया = कसी गई है । दुखाइया = दुख रही है । रतड़िया = लाल हो गई है ।

सोइ आंसू सजणाँ सोई लोक विड़ाँहि ।

जे लोइण लोहीं चुवै, तौ जाणौ हेत हियाँहि ॥ २६ ॥

संदर्भ—आंसू आंसू मे भेद है । वही सच्चे आंसू है जो हृदय से प्रस्फुटित होते हैं ।

कवीर हसणाँ दूरि करि, करि रोवण सौ चित्त ।

विन रोयाँ क्यूँ पाइए, प्रेम पियारा मित्त ॥ २७ ॥

सन्दर्भ—विरहानुभूति का अनुभव किए विना प्रिय किसे प्राप्त हुआ है ।

भावार्थ—कवीर कहते हैं कि हे प्राणी लौकिक-भौतिक सुखो का परित्याग करके, विरहानुभूति हृदयगत करके प्रिय के विरह मे प्रिय के हेतु रुदन कर । विना रुदन किए कही प्रिय प्राप्त होते हैं ।

शब्दार्थ—हसणाँ = हसना । रोवण = रोवन = रोने । सौ = मे । चित्त = चित्त नगा । रोयाँ = रोये । क्यूँ = कयो । मित्त = मित्र ।

जौ रोऊँ तौ बल घटै, हँसौँ तौ राम रिखाइ ।

मनही माँहि विसुरणाँ, ज्यूँ घुँग काठहि खाइ ॥ २८ ॥

सन्दर्भ—विरह की तीव्रता अन्दर ही अन्दर प्रदग्ध रहे ।

भावार्थ—यदि प्रिय के विरह में रोता हूँ तो बल घटता है शक्ति क्षीण होती है हंसता हूँ लौकिक आनन्दों में संलग्न होता हूँ तो प्रिय राम में दूर होता हूँ अतः प्रिय का ध्यान मन ही मन, विरहानुभूति अंतस में होनी चाहिए । प्रकटित होने के लिए अवकाश नहीं है । यथा घुन अंदर ही अन्दर काष्ठ को खा जाता है उसी प्रकार विरहाग्नि अंदर ही अंदर प्रदग्ध रहे ।

शब्दार्थ—घटै = घटे = अल्प हो । हसौं = हसूँ । रिमाइ = नाराज हो माहि = मे । विसूरणा = स्मरण करना । घुण = घुन ।

हँसि हँसि कंत न पाइए, जिनि पाया तनि रोइ ।

जो हाँसेही हरि मिलै, दुतौ नहीं दुहागनि कोइ ॥ २६ ॥

सन्दर्भ—प्रिय या ब्रह्म साधना से सम्प्राप्ति होता है । वह लौकिक ऐश्वर्य से दूर है ।

भावार्थ—लौकिक आमोद-प्रमोद के मध्य में प्रिय की प्राप्ति नहीं होती है प्रिय प्राप्त किया जाना है विरहानुभूति के द्वारा । यदि हम खेल कर ही प्रिय मिलता तो कौन अभाग्यशाली रहता ।

शब्दार्थ—कत = प्रियतम । जिनि = जिन-जिसने । तनि = तिसने । हाँसे-ही = हंसने से ही । दुहागनि = दुहागिन = दुर्भाग्यशालिनी ।

हाँसी खेलौं हरि मिलै, कौण सहै परसान ।

काम क्रोध त्रिष्णाँ तजै, ताहि मिलै भगवान ॥ ३० ॥

संदर्भ—आमोद-प्रमोद तथा माया में संलग्न रहकर कही ब्रह्मानुभूति होती है । काम क्रोध एवं तृष्णा का परित्याग करने से ही प्रिय के माय तादात्म्य नष्टा-पित होता है ।

भावार्थ—ब्रह्मानुभूति हमी-खेन और माया में अनुरक्त रह कर नहीं होती है । काम, क्रोध तथा तृष्णा का महज स्वैण परित्याग कर देने से ही ब्रह्मानुभूति होती है ।

शब्दार्थ—हानी = खेनै = हमी खेन में । कौण = कौन । पर = पर-प्रपर = तेन । मान = मान, तेज धार ।

पुत पिपारो पिता कौ, गौहनि लागी घाड ।

लोभ मिठाई छाथ दे, आपण गया भुलाइ ॥ ३१ ॥

सन्दर्भ—माया आश्वासनी चालन को पर भ्रष्ट कर देती है ।

भावार्थ—आत्मारूपी पुत्र परमपिता को बहुत प्रिय था । वह परमपिता से अभिन्न था । परन्तु माया ने लोभ रूपी मिठाई बालक के हाथ में पकड़ा दी, तब से वह अपने पिता को विसर गया ।

शब्दार्थ—पियारो = पियार = प्यार = प्रिय । कौ = को गोहनि । घाड़-
चौड कर । हाथि = साथ । आपण = अपना = अपने को अथवा आत्म तत्व को ।

ढारी खाँड पटक करि, अंतरि रोस उपाइ ।

रोवत रोवत मिल गया, पिता पियारे जाइ ॥ ३२ ॥

सन्दर्भ—अन्ततोगत्वा आत्मारूपी बालक चेतन पर सचेत हो गया । और वह पुनः पिता से अभिन्न हो गया ।

भावार्थ—अन्ततोगत्वा सचेत होकर बालकरूपी आत्मा ने रोषपूर्वक लोभ-
मिठाई को पटक (फेंक) दिया और रोते-रोते उसे परमपिता की प्राप्ति या अनुभूति
हो गई ।

शब्दार्थ—खाँड = शकर, मिठाई । अतरि = अन्तर अन्तस, हृदय । रोस =
रोष = असन्तोष । उपाइ = उत्पन्न हुआ ।

नैनां अतरि आचरुं, निस दिन निरपौं तोहि ।

कव हरि दरसन देहुगे, सो दिन आवै मोहि ॥ ३३ ॥

सन्दर्भ—हे प्रभु ! आपको अपने नैनों में बसा लूँ और प्रतिक्षण आपके
दर्शन करता रहूँ ।

भावार्थ—हे प्रभु ! आपको अपने नेत्रों में बसा लूँ, जिसमें मैं आपको
प्रतिक्षण देखा करूँ । हे हरि ! वह दिन कब आएगा, जब आपके दर्शन प्राप्त
होगे ।

शब्दार्थ—अंतरि = अन्तर में । आचरुं = बसा लूँ । निरपौं = देखूँ
दरसन = दर्शन । देहुगे = दोगे ।

कबीर देखत दिन गया, निस भी देखत जाइ ।

विरहणि पिव पावै नहीं, जियरा तलपै माइ ॥ ३४ ॥

सन्दर्भ—प्रतीक्षा करते-करते जीवन बीत गया । विरहणी विरह में
ज्वलित है ।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि प्रिय को प्रतीक्षा करते-करते दिन भी
भंगीत हो गया और रात्रि भी व्यतीत हो गई । विरहणी प्रिय के वियोग में
अत्यन्त व्यथित है ।

शब्दार्थ—देखत = प्रतीक्षा करते । जियरा = जो, प्राण ।

विरहणी थी तो क्यूँ रही, जली न पिठ के नालि ।

रहु रहु मुग्ध गहेलडी, प्रेम न लाजूँ मारि ॥ ३५ ॥

सन्दर्भ—सच्ची विरहिणी तो विरहाग्नि में स्वतः प्रदग्ध हो जाती है । तू प्रेम को क्यो लज्जित करता है ।

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि यदि तू विरहिणी थी तो प्रिय के साथ प्रिय की स्मृति में क्यो न जल गई । हे मुग्धा ठहर-ठहर तू प्रेम को लज्जित मत कर ।

शब्दार्थ—रही = जीवित रही । नालि ।

मुग्ध = मुग्धा, नायिका जिसमें लज्जाविक्रम होता है । गहेलडी । लाजूँ = लज्जित कर ।

हौँ विरहा की लाकड़ी, समझि समझि धूँधाऊँ ।

छूटि पड़ौ या विरह तै, जे सारी ही जलि जाऊँ ॥ ३६ ॥

सन्दर्भ—सच्ची विरहिणी प्रिय के वियोग में धनै-शनैः जलती है । विरहिणी ये विरहप्रियता प्रमुख होती है ।

भावार्थ—मैं विरहिणी गीली लाकड़ी के समान हूँ जो भभक कर नहीं, धीरे-धीरे जलती है । यदि भभक कर जल जाऊँ तो विरह से छुटकारा मिल जायगा । जो मुझे न प्रिय है, न अभीप्सित है ।

शब्दार्थ—विरहा = विरह = वियोग । लाकड़ी = लकड़ी = ईंधन । समझि-समझि = धीरे-धीरे । धूँधाऊँ धूँ, धूँ करके जलना = धीरे-धीरे जलना । पड़ौ = पड़ूँ । या = इन । सारी = समस्त । जलि = जल ।

कथोर तन मन यौँ जलया, विरह अगनि सूँलागि ।

मृतक पीठ न जाँणई, जाणैगी यहु आगि ॥ ३७ ॥

सन्दर्भ—प्रेम को पीठा, विरह की व्यथा विरही ही जान सकता है, या विरहाग्नि स्वतः अपनी प्रवृत्तता का अनुभव करेगी ।

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं विरहाग्नि से लगने में यह तन मन इस प्रकार जला कि उनकी कोई भीमा नहीं रही । विरह को व्यथा को मृतक (मरणाशुन्य) क्या जाने ? विरहाग्नि उसकी ताप की प्रवृत्तता को जानती है ।

शब्दार्थ—अरया = अना प्रदग्ध हुआ । अगनि = अग्नि आग । सूँ = मैं । पीठ = पीठा व्यथा । जाँणई = जानई—जानत है । जाणैगी = जानेगी ।

विरह जलाई मैं जलौ, जलती जलहरि जाउँ ।
मों देख्याँ जलहरि जलै, सन्तौ कहाँ बुभाऊँ ॥ ३८ ॥

सन्दर्भ—विरह का प्रभाव, क्षेत्र और स्वरूप व्यापक है, शिष्य ही नहीं, सद्गुरु भी विरह के प्रभाव से पीड़ित है ।

भावार्थ—विरह से प्रदग्ध मैं सतगुरु के पास विरहाग्नि प्रशान्त करने के लिए गई । परन्तु मैंने देखा कि सतगुरु स्वतः विरह ज्वर से पीड़ित है । हे सन्तो ! भव बताओ कि इस विरहाग्नि को कहाँ शांत करूं ?

शब्दार्थ—जलहरि = जलधरि = जलधार — तालाव । देख्या = देखा — देखा । बुभाऊँ — शान्त करूं ।

परवति परवति मैं फिर्या, नैन गँवाये रोइ ।
सो बूटी पाँऊँ नहीं, जातै जीवनि होइ ॥ ३९ ॥

सन्दर्भ—विरह के कारण स्थान-स्थान पर भटकता रहा पर विरह को प्रशान्त करने वाला परम तत्व न मिला ।

भावार्थ—प्रियतम की खोज में एक पर्वत से दूसरे पर्वत, दूसरे से तीसरे पर्वत तक अर्थात् स्थान-स्थान पर भटकता रहा और प्रिय के वियोग में रो रोकर नैन खो दिए परन्तु वह तत्व न प्राप्त हुआ जिससे जीवन प्राप्त होता ।

शब्दार्थ—परवति = पर्वत । फिरया = घूमा, भटका । नैन = नयन — नेत्र । गँवाये = खोये । जातै = जिससे । जीवनि = जीवन, जीवन शक्ति ।

फाड़ि पुटोला धज करौं, कामलड़ी पहिराउँ ।
जिहि जिहि भेषां हरि मिलै, सोइ-सोइ भेष कराउँ ॥ ४० ॥

सन्दर्भ—प्रियतम की प्राप्ति के लिए समस्त वलिदान निःसार है ।

भावार्थ—अपने रेशमी वस्त्रों को फाड़ कर फेंक दूँ और कमली धारण कर लूँ । जिस-जिस भेष से हरि मिल सके वही-वही भेष धारण कर लूँ ।

शब्दार्थ—पुटोला — पटोरा, रेशमी वस्त्र । धज = धजती टुकड़े-टुकड़े वामलठी = कामली = कामरी = कामल । भेषा — भेष में ।

नैन हमारे जलि गये, छिन-छिन लोडै तुज्झ ।
नाँ नूँ मिलै न मैं नुसी, ऐवी वेदन मुज्झ ॥ ४१ ॥

सन्दर्भ—प्रिय के दर्शनो के अभाव में प्रतीक्षा रत मेरे नेत्र प्रदग्ध रहे और अपार वेदना से पीड़ित रहा हूँ ।

भावार्थ—हे प्रिय ! ये नेत्र आपकी प्रतीक्षा करते-करते प्रदग्ध हो उठे । न तेरे दर्शन प्राप्त होते हैं न प्रसन्नता प्राप्त होती है । मैं विरह वेदना से पीडित हूँ ।

शब्दार्थ—छिन = क्षण । लोडै = प्रतीक्षा करें । तुज्क = तुम्हें । वेदन = वेदना । मुज्क = मुझे ।

भेला पाया श्रम सौं, भौसागर के मांहि ।

जे छाँडौ तौ डूविहौ, गहौं त डसिये बाँह ॥ ४२ ॥

सन्दर्भ—इस भव सागर में बड़े श्रम बड़े भाग्य से सतगुरु रूपी जहाज मिल गया ।

भावार्थ—बड़े परिश्रम करने के अनन्तर भव सागर में सतगुरु रूपी जहाज मिल गया । अब यदि इसे छोड़ता हूँ तो भवसागर में डूब जाऊंगा और यदि इस जहाज को ग्रहण करता हूँ तो उसके शब्द रूप सर्प, भुवग मुझे डस लेंगे ।

शब्दार्थ—भेला = वेडा । सौ = से । छाँडौ = छोड़ूँ । गहौं = ग्रहण कर्हूँ ।

रैणा दूर विछोहिया, रहु रे संपम भूरि ।

देवलि देवलि धाहड़ी, देसी ऊगे [सूरि ॥ ४३ ॥

सन्दर्भ—हे वियोगी घैयं धारण करा । सूर्योदय होते ही पुनः प्रिय के दर्शन होंगे ।

भावार्थ—हे कृश चक्रवाक । रात्रि ने तुम्हें प्रिय से विपुन्न कर दिये हैं । तू घर-घर चीत्कार करता फिरा । सूर्य के उदय होते ही पुनः प्रिय से समागम होगा ।

शब्दार्थ—रैणा = रैण = रैन = रात्रि । विछोहिया = विपुन्न हुई । संपम = चक्रवाक । भूरि = कृश । देवलि = देवालय = मन्दिर = घर । धाहड़ी = दहाड़ता = चीत्कार करता । देसी = देगा । ऊगे = उदय । सूरि = सूर्य ।

सुखिया सब संसार है, खावै अह सोवै ।

दुखिया दास कवीर है, जागै अह रोवै ॥ ४४ ॥

सन्दर्भ—चेतन प्राणी संसार की गति देगकर सुखी रहता है ।

भावार्थ—कवीर दास कहते हैं कि समस्त संसार खाना है, पीना है, सोता है और सुख पूर्वक जीवनयापन करता है । केवल मैं दुःखी हूँ नागना हूँ और रोता हूँ ।

शब्दार्थ—खावै = खावे = खात है । सोवै = सोता है । रावै = राजा है ।

४. ग्यान विरह कौ अंग

दीपक पावक आँणिया, तेल भी आँणिया संग ।
तीन्युँ मिल करि जोइया, (तब) उड़ि उड़ि पड़ै पतंग ॥ १ ॥

सन्दर्भ—जब से आत्मा चेतन हो गई, तब से वासनाएं विनष्ट हो गई ।

भावार्थ—जीवात्मा ज्ञान की ज्योति से और भक्ति रूपी स्नेह से सम्पन्न हो गया । अब वासना रूपी पतंगे आत्मा जल-जल कर नष्ट होने लगे ।

शब्दार्थ—दीपक = जीवात्मा । पावक = अग्नि । आँणिया—आनिया = लाया । आण्या = आना = लाया । तेल = स्नेह, प्रेमी । जोइया = आयोजित किया । पतंग = वासना रूपी पतंगे ।

मार्या है जे मरेगा, बिन सर थोथी भालि ।

पड्या पुकारै ब्रिच्छ तरि, आजि मरै कै कालिह ॥ २ ॥

सन्दर्भ—शब्द बाण से आहत प्राणी संसार से विलग होकर जीवन यापन करता है ।

भावार्थ—शब्द रूपी भाले से आहत प्राणी अब संसार से विलग होकर, पृथक होकर जीवन यापन करता है । वह सद्गुरु के आश्रय में ब्रह्म का स्मरण कर रहा है । वह शीघ्र ही संसार को व्यथामो से ऊपर उठ जायगा ।

शब्दार्थ—बिन सर = बिना शर = फलके के बिना । थोथी = भूठी = फोरी । भालि = भाला । ब्रिच्छ = वृक्ष, पेड़ ।

हिरदा भीतरि दौं बलै, धूँवा न प्रकट होइ ।

जाकै लागी सो लखै, कै जिहि लाई लोइ ॥ ३ ॥

सन्दर्भ—हृदय के अन्दर ज्ञान-विरह की ज्योति जल रही है । इसका अनुभव या तो साधक करता है, या सतगुरु ।

भावार्थ—हृदय में प्रेम-विरह की अग्नि जल रही है परन्तु उसके लक्षण जाग्रतः नहीं प्रकट हो रहे हैं । इस अग्नि का वही अनुभव करता है, जिसके अन्तर्ग में यह अग्नि लगी है या वह जिसने इन अग्नि को जाग्रत किया है ।

शब्दार्थ^१—हिरदा = हृदय । दौ — दावाग्नि । वलै = जलै । लखै = देखै ।
लाई = लागी ।

भल ऊठी भोली जली, खपरा फूटिम फूटि ।

जोगी था सो रमि गया, आसणि रही विभूति ॥ ४ ॥

सन्दर्भ^१—ज्ञान की अग्नि में असार तत्व विनष्ट हो गये और योगी ब्रह्मा-
नन्द में लीन हो गया ।

भावार्थ^१—ज्ञान की अग्नि में शरीर रूपी भोली जल गयी और खपरा
फूट गया । योगी ब्रह्म में रम गया और आनन पर केवल वस्त्र अवशेष रह गई ।

शब्दार्थ^१—भल — अग्नि । भोली = शरीर । खपरा — खपर — खीपड़ी
फूटिम = फूटि — फूट गया । जोगी = योगी । आसणि — आसन । विभूति = राख ।

अग्नि जु लागी नीर में, कँदू जलिया झारि ।

उतर दक्षिण के पंडिता, रहे विचारि विचारि ॥ ५ ॥

संदर्भ^१—ज्ञान की अग्नि के लगते ही माया और माया के तत्व विनष्ट
हो गये ।

भावार्थ^१—ज्ञान की अग्नि के लगते ही माया का जल और उसके सहायक
तत्व विनष्ट हो गये । इस आश्चर्यजनक कृत्य को उत्तर-दक्षिण के पण्डित देखते ही
रह गए ।

शब्दार्थ^१—नीर = जल, माया का जल । कँदू = कदम = कीचड़ । झारि =
सम्पूर्ण ।

दौ लागी सायर जल्या, पंपी बँठे आइ ।

दाधी देह न पालवै, सतगुर गया लगाय ॥ ६ ॥

सन्दर्भ^१—ज्ञान की अग्नि के लगते ही माया का नागर जल गया और
आत्मा रूपी पक्षी को मुक्ति प्राप्त हो गई ।

भावार्थ^१—ज्ञान की अग्नि के प्रज्वलित हो जाने पर माया का नागर भस्मी-
भूत हो गया । आत्मा रूपी पक्षी जो माया रूपी नागर के निरुद्ध विषयान दे,
अब निश्चिन्त हो गये । ज्ञानाग्नि से प्रदग्ध देह भौतिक दृष्टि में फूलगी-फली नहीं
है । यह अग्नि नतशुरू ने जगा दिया ।

शब्दार्थ^१—दौ = दावाग्नि । सायर = नागर । पंपी = पक्षी । दाधी = दाह
पालवै = पालवै = बढ़ती है ।

गुर दाधा चला जल्या, विरटा लागी आनि ।

तिरुका अपुदा ऊवरया, गलि पुरे के लागि ॥ ७ ॥

सन्दर्भ—विरह को अग्नि में जल कर शिष्य का भव सागर से उद्धार हो गया ।

भावार्थ—गुरु ने ज्ञान की अग्नि प्रज्वलित की और शिष्य विरह (ज्ञान विरह) को अग्नि में जल गया । तिनके के समान हल्की, पाप के भार से मुक्त आत्मा को उन्मुक्त हो गया और वह पूर्ण ब्रह्म से मिल कर एकाकार हो गया ।

शब्दार्थ—राधा = दग्ध किया । जलया = जला । विरहा = विरहाग्नि । तिनका = तिनका । वपुडा = वपुरा = वेवारा । गलि = सहारे । पूरे = पूर्ण = ब्रह्म ।

अहेड़ी दौं लाइया, मृग पुकारे रोइ ।

जा वन में क्रीला करी, दाभत है वन सोइ ॥ ८ ॥

सन्दर्भ—ज्ञानाग्नि के लगते ही इन्द्रियाँ विषयो से उन्मुक्त हो गई हैं ।

भावार्थ—सतगुरु = अहेरी ने ज्ञान की अग्नि प्रज्वलित की, संसार रूपी वन बन गया और इस माया के वन में वितरण करने वाले इन्द्रिय रूपी मृग रो उठे । जिस वन में मृग क्रीडा करते थे, अब वह वन जल गया । इस लिए मृग दुखी हो गये ।

शब्दार्थ—अहेरी = अहेरी = दिकारी । दौं = दावाग्नि । मृग = इन्द्रिय । क्रीला = क्रीडा, खेल । दाभत = दग्ध ।

पाणी मांहे प्रजली, भई अप्रबल आगि ।

बहवी सलिता रह गई, मंझ रहे जल त्यागि ॥ ९ ॥

सन्दर्भ—माया रूपी जल में ज्ञानाग्नि लगी तो माया के सहायक तत्व स्थगित हो गये और आत्मा माया से पृथक हो गई ।

भावार्थ—माया के सागर में ज्ञानाग्नि लगी तो माया के सहायक तत्व विनष्ट हो गये और आत्मा रूपी नदी भी माया के जल को छोड़ कर अलग हो गई ।

शब्दार्थ—प्रजली = प्रज्वलित हुई । अप्रबल = अत्यन्त प्रबल । सलिता = बहती ।

सुमंदर लागी आगि, नदियाँ जलि कोइला भईं ।

द्वान्व पक्षीरा जागि, मंझी रूपां प्यदि गईं ॥ १० ॥

सन्दर्भ—सतगुरु ने ज्ञान की अग्नि लगी, माया के सहायक तत्व विनष्ट हो गये और आत्मा रूपी नदी भी उन्मुक्त हो गई ।

भावार्थ^०—भव सागर मे ज्ञान की अग्नि लग गई और फलतः माया की सहायक तत्व विनष्ट हो गये । कबीर ने चेतन होकर देखा कि मछली शब्द रूपी वृक्ष पर आसीन है ।

शब्दार्थ^०—समदर = समुद्र । कोइला = कोयल = काली । मंछी = मछली ।
रूपा = वृक्ष ।

५. परचा कौ अंग

कबीर तेज अनंत का, मानौं ऊगी सूरज सेणि ।

पति सँगि जागी सुंदरी, कौतिग दीठा तेणि ॥ १ ॥

सन्दर्भ^०—ब्रह्म प्रकाश नारायण हो, वह निर्मल आत्मा द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है ।

भावार्थ^०—ब्रह्म का तेज, प्रकाश मात्र स्वरूप अनन्त है । वह प्रकाश का समूह मानो सूर्य की श्रेणियाँ एक स्थान पर उदित हुई हो, आत्मा रूपी सुन्दरी ने जाग्रत होकर उस वैभव को देखा, प्रकाश नारायण के दर्शन किये ।

शब्दार्थ^०—अनन्त = ब्रह्म । ऊगी = उगी = विकसित हुई । सूरज = सूर्य ।
सेणि = श्रेणी । कौतिग = कोतुक = आश्चर्यजनक वस्तु । तेणि = उसके द्वारा ।

कौतिक दीठा देह विन, रवि ससि विना उजास ।

साहिव सेवा माहिं है, बेपरवाही दास ॥ २ ॥

सन्दर्भ^०—प्रबुद्ध आत्मा ने निराकार ब्रह्म के दर्शन किए । ब्रह्म सेवा, अपनी द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है ।

भावार्थ^०—प्रबुद्ध आत्मा ने निराकार ब्रह्म के दर्शन किए । वह ब्रह्म रवि एवं शशि के प्रकाश के अभाव में भी प्रकाश मान है । वह स्वयम् प्रकाश है । प्रभु के दर्शन सेवा में रत सेवक को ही प्राप्त होते हैं ।

शब्दार्थ^०—कौतिग = कोतुक = आश्चर्य, अज्ञ । दीठा = देखा । देवविन = निगुंण । उजास = उज्ज्वल । बेपरवाही = निर्विचल ।

पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान ।

कहिबे कूं सोभा नहीं, देख्यो ही परधान ॥ ३ ॥

भावार्थ^०—ब्रह्म अचरणीय, अस्पृशीय है ।

भावार्थ—पर ब्रह्म के तेज, स्वरूप किस प्रकार का है ? यह अकथनीय है, अवरुणीय है । वह अव्यंजना से परे है, केवल अनुभव करने योग्य है ।

शब्दार्थ—उत्मान = अनुमान । कूं = को । सोम = शोभ = देखा = देखा, देखने से । परवान = प्रमाण ।

अगम अगोचर गमि नहीं, तहाँ जगमगै जोति ।

जहाँ कबीरा बंदिगी, (तहाँ) पाप पुन्य नहीं छोति ॥ ४ ॥

सन्दर्भ—ब्रह्म प्रकाश स्वरूप है । वह ज्योति का समूह है ।

भावार्थ—निर्गुण निराकार ब्रह्म अगम है, अगोचर जहाँ ब्रह्म की ज्योति जगमगती वहाँ किसी की गति नहीं है वह पाप-पुण्य की सीमाओं से परे है । ऐसे ही ब्रह्म ही समक्ष कबीर का प्रार्थना प्रस्तुत होते हैं ।

शब्दार्थ—गमि = गति । ज्योति = प्रकाश । छोति-छून-अपवित्र ।

हृदे छाँडि वेहदि गया, हुआ निरंतर बास ।

कवल ज फूल्या फूल विन, को निरपै निज दास ॥ ५ ॥

सन्दर्भ—साधक ससीम ब्रह्म को त्याग, निःसीम ब्रह्मोपासना में अनुरक्त हुआ ।

भावार्थ—ससीम ब्रह्मोपासना का परित्याग करके (मैं) निराकार निर्गुण ब्रह्मोपासना में सलग्न हुआ । और उसी में मेरा चित्त, स्थायी रूप से रम गया । निर्गुण ब्रह्म रूपी कमल जो स्वयम् है, उसे कौन देख सकता है, उसका कौन अनुभव कर सकता है ? ब्रह्म का सेवक ऐसे ब्रह्म का रहस्य जान सकते हैं ।

शब्दार्थ—हृदे = हृद = सीमा । वेहदि-निःसीम । फूल्या = फूला । निरपै = देखे ।

कबीर मन मधुकर भया, रया निरंतर बास ।

कवल ज फूल्या जलह विन, को देखै निज दास ॥ ६ ॥

सन्दर्भ—मन मधुकर ही कबीर निरंतर रूप में ब्रह्म में अनुरक्त हो गया ।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि मेरा मन मधुकर निर्गुण ब्रह्म रूपी कमल पर अनुरक्त होकर उसी में निरंतर रम गया है । माया भाग्य जल के मंथन से परे विकारमान निर्गुण ब्रह्म की दर्शन कोई मधुका साधक ही कर सकता है ।

शब्दार्थ—मधुकर = मधुकर, अमर । निरंतर = सतत । जलह = जल ।

अंतरि कवल प्रकाशिया, ब्रह्म वास तहाँ होइ ।
मन भवरा तहाँ लुब्धिया, जाँगैगा जन कोइ ॥ ७ ॥

संदर्भ—हृदय प्रदेश मे ब्रह्म का वास है । मन भंवरा वहा लुब्ध हो गया है ।

भावार्थ—हृदय मे कमल प्रकाशित हो गया और उसमे ब्रह्म का निवास है । मन रूपी भ्रमर उस पर लुब्ध हो गया । विरला ही साधक इस रहस्य को जान सकेगा

शब्दार्थ—अंतरि = हृदय के अन्तर्गत । कवल = कमल = हृदय पद्म । प्रकाशिया = प्रकाशित हो गया । भवरा = भ्रमर ।

सायर नाहीं सीप बिन, स्वांति वूँद भी नांहि ।
कवीर मोती नीपजै सुन्नि सिपर गढ़ मांहि ॥ ८ ॥

संदर्भ—शून्य शिखर गढ़ मे निर्गुण ब्रह्म के दर्शन हुए ।

भावार्थ—कवीर कहते हैं कि न सागर है, न सीप है न स्वाती का वूँद है । फिर भी शून्य शिखर गढ़ मे निर्गुण ब्रह्म रूपी मोती की उपलब्धि हो रही है ।

शब्दार्थ—सायर = सागर । स्वांति = स्वाती । नीप जै = उपजै । मुन्नि = शून्य ।

घट मांहेँ औघट लह्या, औघट मांहेँ घाट ।
कहि कवीर परचा भया, गुरु दिखाई बाट ॥ ९ ॥

सन्दर्भ—सतगुरु की कृपा से घट मे ही ब्रह्म के दर्शन हो गये ।

भावार्थ—कवीर कहते हैं कि सतगुरु की कृपा से, सतगुरु द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर घट मे ही ब्रह्म के दर्शन हुए और ब्रह्म मे ही अपनी स्थिति दृष्टि गत हुई ।

शब्दार्थ—घट = दरौर । औघट = विचित्र = ब्रह्म । बाट = मार्ग । परचा = परिचय ।

सूर समाणां चंद्र में दहें किया घर एक ।
मनका च्यंता तय भया, कछू पूरवला लेख ॥ १० ॥

सन्दर्भ—चन्द्रनाडी मे सूर्य नाही समाहित हो गई, तब ब्रह्म के दर्शन हुए ।

भावार्थ—जब चन्द्र नाडी मे सूर्य नाही प्रविष्ट हो गई और गायर उफर-रहा बन गया तब मन की अभिन्नाया और पूर्वजन्म का लेख पूर्ण हुआ अर्थात् प्राणा-सुप्तति पूर्ण हुई ।

शब्दाथ^०—सूर = सूर्य । चन्द्र = चन्द्रमा । दहू = दोनों ने । च्यन्ता = चिन्ता ।

हृद छाड़ि वेहृद गया, किया सुन्नि असनान ।

मुन जन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम ॥ ११ ॥

सन्दर्भ^०—निगुंण निराकार ब्रह्म के दर्शन करके शून्य शिखर गढ़ में प्रवेश किया ।

भावाथ^०—संसार की सीमित दिशाओं का परिव्याम करके निःसीम ब्रह्म में प्रवेश किया । जिस निगुंण ब्रह्म के अतःपुर में मुनिजन भी प्रवेश नहीं कर सकते हैं, वहाँ मैंने विश्राम किया ।

शब्दाथ^०—हृद = हृद—सीमा । सुन्नि = शून्य । असनान = अस्तान । तहाँ = वहाँ । विश्राम = आराम ।

देखो कर्म कवीर का, कछु पूरव जनम का खेल ।

जाका महल न मुनि लई, सो दोषत किया अलेख ॥ १२ ॥

सन्दर्भ^०—पूर्वजन्म के फल और इस जन्म की साधना के फलतः कवीर ब्रह्म से मिलकर अभिन्न हो गए ।

भावाथ^०—कवीर के कर्म, कृत्य, भाग्य और पूर्व जन्म की साधनात्मक उपलब्धि तो देखो, कि जिस ब्रह्म के महल में मुनि जन प्रवेश नहीं कर पाते हैं, उस ब्रह्म को उसने अभिन्न बना लिया ।

शब्दाथ^०—कर्म = भाग्य, कृत्य । पूरव = पूर्व । जनम = जन्म । जाका = जिसका । दोषत = दोहन—अभिन्न अलेख = अनिवंचनीय ।

पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनंत ।

संसा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कंत ॥ १३ ॥

सन्दर्भ^०—प्रेम के जाग्रत होते ही अनन्त योग जाग्रत हो गया और संगम मिट गया, ब्रह्म के नाथ अभिन्नता स्थापित हो गई ।

भावाथ^०—शरीर में प्रेम के जाग्रत होते ही अनन्त प्रेम, और अनन्त सम्परा प्रकाश हो गया । इन प्रकार संगम मिट गया और प्रिय से एकात्मकता स्थापित हो गई ।

शब्दाथ^०—पिंजर = शरीर । प्रकासिया = प्रकाशित हुआ । जाग्या = जागा जाग्रत हुआ । जोग = योग एकात्मकता । अनन्त = असीम । संसा = संशय । खूटा = नष्ट हुआ । पियारा = प्यारा = प्रिय ।

प्यंजर प्रेम प्रकाशिया, अंतरि भया उजास ।

मुख कस्तूरी महमहीं, बाँणी फूटी वास ॥ १४ ॥

सन्दर्भ—प्रेम के प्रकट होते ही अन्तस उज्ज्वल हो गया और सुन्दर प्रेम से ओत-प्रोत वाणी प्रस्फुटित हुई ।

भावार्थ—जब से प्रेम जाग्रत हुआ अन्तस उज्ज्वल हो गया और ब्रह्म रूपी कस्तूरी से सुवासित वाणी प्रस्फुटित हुई ।

शब्दार्थ—प्यंजर = पिंजर = शरीर । अंतरि = हृदय । उजास = उज्ज्वल । कस्तूरी = कस्तूरी ।

मन लागा उन मन्त सौं, गगन पहुँचा जाइ ।

देख्या चंद बिहूणां, चांदिणां, तहाँ अलख निरंजन राइ ॥ १५ ॥

संदर्भ—मन ने उनमनी अवस्था में ब्रह्मानुभूति प्राप्त की ।

भावार्थ—ससार से उन्मुक्त होकर मन उनमनी अवस्था में पहुँच कर ब्रह्माण्ड में जा पहुँचा । वहाँ पर उसने स्वयं प्रकाश, प्रकाश पुंज ब्रह्म के दर्शन किए ।

शब्दार्थ—उनमन्त = उन्मन्त । गगन = ब्रह्माण्ड ।

मन लागा उन मन सौ, उन मन मनहि विलग ।

लूँण विलगा पाणियाँ, पांणी लूँण विलग ॥ १६ ॥

संदर्भ—मन ब्रह्म से मिलकर एकाकार हो गया ।

भावार्थ—मन उनमनी अवस्था में प्रविष्ट हुआ और उनमन के साथ मिलकर दोनों अभिन्न हो गए । पानी और नमक मिलकर एक हो गए, एकाकार हो गए ।

शब्दार्थ—लूँण = नमक ।

पांणी ही तैं हिम भया हिम हूँ गया विलाइ ।

जो कुछ था सोई भया, अब कछु कया न जाइ ॥ १७ ॥

सन्दर्भ—आत्मा और परमात्मा की एकात्मकता अनिवर्चनीय है ।

भावार्थ—पानी से ही हिम का निर्माण होता है और हिम पुनः पुनः पुनः पानी के रूप में परिवर्तित हो जाता है । इसी प्रकार ब्रह्म से उद्भूत होकर आत्मा ब्रह्माकार हो जाती है । आत्मा और परमात्मा का एकाकार होना अनिवर्चनीय है ।

शब्दार्थ—पांणी = पानी ।

भली भई जु भैं पइया, गई दशा सब भूलि ।

पाला गलि पांणी भया, दुलि मिलिया उस कूलि ॥ १८ ॥

सन्दर्भ—सुरति और निरति से परिचय होने पर समस्त रहस्य स्वतः उद्भासित हो गए ।

भावार्थ—सुरति निरति में प्रविष्ट हो गई, और निरति के साथ मिलकर एकाकार हो गई । सुरति और निरति का परिचय हो जाने के पश्चात् ब्रह्म के रहस्य का द्वार स्वतः उद्घाटित हो गया ।

शब्दार्थ—स्यम = स्वयं ।

सुरति समांणीं निरति में, अजपा मांहेँ जाप ।

लेख समांणा अलेख में, यू आपा मांहेँ आप ॥ २३ ॥

सन्दर्भ—सुरति निरति में प्रविष्ट हो गई ।

भावार्थ—सुरति निरति में समाहित हो गई और जाप, अजपा जप में परिवर्तित हो गया । इसी प्रकार साकार निराकार में विलीन हो गया और आत्मा ईश्वर में समाहित हो गई ।

शब्दार्थ—लेख = साकार । अलेख = निराकार ।

आया था संसार में, देषण कौं बहु रूप ।

कहै कवीरा संत हौ, पढ़ि गया नजरि अनूप ॥ २४ ॥

सन्दर्भ—संसार में माया के विविध रूप देखने के लिए आया था ।

भावार्थ—संसार में माया के बहुरंग रूप को देखने के लिए आया था, परन्तु हे सन्त-जन अनुपम तत्व जब से दृष्टिगत हो गया, तब से माया की समस्त दशाओं को मैं भूल गया ।

शब्दार्थ—देषण — देखने के लिए ।

अंक भरे भरि भेटिया, मन में नाहीं धीर ।

कहै कवीर ते क्यूँ मिलै, जब लग दोइ सरीर ॥ २५ ॥

सन्दर्भ—ब्रह्म से एकाकार हो कर अभिन्न हो गया ।

भावार्थ—प्रेमाधिव्य के कारण प्रिय का बड़ी व्यग्रता के साथ आनिगन विषा, दोनों सरीर एकाकार हो गए । कवीर कहते हैं जब तक प्रेम तत्व को प्रबलता नहीं होती है तब तक दोनों एकाकार कैसे हो सकते हैं ?

शब्दार्थ—अंक = गोद ।

सचुपाया सुख ऊपना, अरु दिल दरिया पूरि ।

सकल पाप सहजैँ गये, जब छाई मिल्या हजूरि ॥ २६ ॥

संदर्भ—हजूर के दर्शन होते ही समस्त पाप और अनेक स्वतः विनिष्ट हो गए ।

संदर्भ^१—आत्मा और परमात्मा उभय एकाकार हो गए ।

भावाथ^१—अच्छा ही हुआ जो भय मेरे अन्तस मे समुत्पन्न हो गया, उसके फलस्वरूप मैं सासारिकता से ऊपर होकर ईश्वरोन्मुख हो गया । आत्मा रूपी पाला चुनकर पानी बन गया और ब्रह्म रूपी जल मे मिलकर वह अभिन्न हो गया ।

शब्दाथ^१—जु = जो । पडया = समुत्पन्न, आकर उपस्थित हो गया ।
कूलि = किनारे ।

चौहटै च्यंतामणि चढ़ी, हाडी मारत हाथि ।

मीरां मुभसूँ मिहर करि, इव मिलौ न काहु साथि ॥ १६ ॥

संदर्भ^१—हे ईश्वर अब मैं तुझसे मिलकर अभिन्न हो गया ।

भावाथ^१—जीवन रूपी चौराहे मे त्रिकुटी नामक स्थान पर जीवन रूपी चौसर के खेन मे पासा फेकते हुए, त्रितामणि हाथ मे लग गई । हे प्रभु ! अब तुझे छोड़कर मैं किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता हूँ ।

शब्दाथ^१—च्यंतामणि = त्रितामणि । चढ़ी = प्राप्त हुई ।

पंषि उडानीं गगन कूँ, प्यंड रखा परदेश ।

पांणी पीया चंच बिन, भूलि गया यहु देश ॥ २० ॥

संदर्भ^१—आत्मा ने निर्गुण ब्रह्म के दर्शन प्राप्त किए ।

भावाथ^१—आत्मा रूपी पक्षी ब्रह्माण्ड मे उड़ गई और शरीर इस परदेश मे पड़ा रह गया । वहाँ पर आत्मा रूपी पक्षी ने चोच के बिना जल पिया । अर्थात् निराकार ब्रह्म के दर्शन किए और इस प्रकार वह अपनी दशा, परिस्थिति को भूल गई ।

शब्दाथ^१—पंषि = पक्षी, आत्मा । प्यंड = शरीर । चंच = चोच ।

पंषि उडानीं गगन कूँ, उड़ी चढ़ी असमान ।

जिहिं सर मंडल भेदिया, सो सर लाग कान ॥ २१ ॥

सन्दर्भ^१—आत्मा रूपी पक्षी ब्रह्माण्ड मे जाकर ब्रह्माकार हो गई ।

भावाथ^१—आत्मा रूपी पक्षी ब्रह्माण्ड मे प्रविष्ट होकर और आगे उड़ती गई जिस बाण ने हृदय मंडल को आहत कर दिया था उस बाण के प्रति चित्त की भावना और भी प्रगाढ़ हो गई ।

शब्दाथ^१—सर = बाण ।

सुरति समांणी निरति मै. निरति रही निरधार ।

सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यंभ दुवार ॥ २२ ॥

भावार्थ^१—कबीर दास कहते हैं कि जब से प्रभु के प्रत्यक्ष दर्शन हुए तब से हृदय में शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो गया और समस्त पाप सहज रूप से विनष्ट हो गए ।

शब्दार्थ^१—सचुपाया = शान्ति प्राप्त की । ऊपना = उत्पन्न हुआ ।

धरती गगन पवन नहीं होता, नहीं तोया, नहीं तारा ।

तब हरि हरि के जन होते, कहै कबीर विचार ॥ २७ ॥

सन्दर्भ—हरि और हरिजन शाश्वत है ।

भावार्थ^१—धरती गगन पवन, सूर्य जल न होते और यह सृष्टि भी न होती तोभी प्रभु और उनके भक्त इस संसार में अवश्य होते ।

शब्दार्थ^१—तोया = पानी ।

जा दिन कृतमनां हुता, होता हट न पट ।

हुता कबीरा राम जन, देखै औघट घट ॥ २८ ॥

सन्दर्भ—राम और उनके भक्त शाश्वत है ।

भावार्थ^१—जिस दिन यह संसार न होता हाट और वस्त्र न होते, सांसारिक व्यापार न होते कबीर कहते हैं कि उस दिन भी राम और राम के भक्त इस संसार में होते ।

शब्दार्थ^१—कृतम = कृत्रिम

थिति पाई मन थिर भया, सतगुर करी सहाइ ।

अनिन कथा तनि आचरी, हिरदै त्रिभुवन राइ ॥ २९ ॥

सन्दर्भ—जब से हरि की कथा का ध्यान किया तब से समस्त ताप नष्ट हो गए ।

भावार्थ^१—सद्गुरु की कृपा से मन स्थिर हो गया और हरि की यशगाथा की साधना में मन अनुरक्त हो गया, तब से हृदय में भगवान के दर्शन हुए ।

शब्दार्थ^१—थिति = शान्ति । अनिन = अनन्य ।

हरि संगति सीतल भया, मिटी मोह की ताप ।

निस बासुरि सुख निध्य लह्या, जब अंतरि प्रगट्या आप ॥ ३० ॥

सन्दर्भ—प्रभु की शरण में जाने पर समस्त ताप नष्ट हो गए ।

भावार्थ^१—हरि के शरण में जाते ही समस्त ताप विनष्ट हो गए । मोह की ज्वाला शान्त हो गई जब से ब्रह्म के दर्शन हुए तब से दिन-रात सुख की निधि प्राप्त हो गई ।

शब्दार्थ^१—वासुरि = दिन । निव्य = निधि ।

तन भीतरि मन मानियां, वाहरि कहा न जाइ ।
ज्वाला तैं फिर जल भया, बुझी बलंती लाइ ॥ ३१ ॥

सन्दर्भ^१—अब मन अन्तमुखी हो गया ।

भावार्थ^१—हृदय में ही मन मुग्ध होकर सीमित हो गया । अब यह बाहर कही नहीं जाता है । मोह की ज्वाला शान्त हो गई और अग्नि शीतल हो गई ।

शब्दार्थ^१—वाहरि = बाहर ।

तत पाया तन वीसर्या, जब मन धरिया ध्यान ।
तपनि गई सीतल भया, जब सुनि किया असनान ॥ ३२ ॥

सन्दर्भ^१—धैर्य के जाग्रत होते ही तत्व प्राप्त हो गया ।

भावार्थ^१—जब से मन में प्रभु का ध्यान हुआ, तब से मन में शान्ति स्थापित हुई । ब्रह्म तत्व की प्राप्ति हुई और तन की दशाएं भूल गया । समस्त ताप नष्ट हो गए और शून्य सरोवर में स्नान किया ।

शब्दार्थ^१—तत = तत्व ।

जिनि पाया तिनि सू गह गह्या रसनां लागी स्वादि ।
रतन निराला पाईया, जगत ढंडौल्या वादि ॥ ३३ ॥

संदर्भ^१—ससार सागर में भटकते-भटकते हरि रूपी हीरा प्राप्त हो गया ।

भावार्थ^१—जिन्होंने खोज की उन्हें हरि रूपी हीरा मिला और जिसने पाया उसे भली-भांति ग्रहण किया । मन में जिह्वा में रामनाम रूपी स्वाद लग गया । मैंने तो अद्भुत रत्न प्राप्त कर लिया अब ससार में कौन भटकता फिरे ।

शब्दार्थ^१—सूगह = अच्छी तरह । गह्या = पकड़ा । ढंडौल्या = गोजा ।

कधीर दिल स्यावति भया, पाया फल संम्रथ्य ।
सायर मांदि ढंडोलतां, हीरै पडि गया ह्यथ्य ॥ ३४ ॥

संदर्भ^१—ससार सागर में हरि हीरा प्राप्त हो गया ।

भावार्थ^१—तब से मन में धैर्य और शान्ति स्थापित हो गई तब से हरि रूपी हीरा सम्प्राप्त हो गया । ससार सागर में लोजते गोजते हरि रूपी हीरा प्राप्त हो गया ।

शब्दार्थ—स्रावित = सम्पूर्ण । ढंढोलता = खोजते हुए ।

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहि ।
सब अधियारा मिटि गया जब दीपक देख्यां माहि ॥ ३५ ॥

सन्दर्भ—हृदय मे ब्रह्मानुभूति होते ही समस्त अंधकार मिट गया ।

भावार्थ—जब तक अहं था तब तक मैं हरि को नहीं प्राप्त कर पाया ।
अब तो हरि ही हैं मैं नहीं हूँ, जब से हृदय मे स्वयं प्रकाश के दर्शन हुए तब से
समस्त ताप और पाप नष्ट हो गए ।

शब्दार्थ—मैं = अहंभाव ।

जा कारणि मैं ढूँढता, सन्मुख मिलिया आइ ।
धन मैली पिव ऊजला, लागि न सकौं पाइ ॥ ३६ ॥

सन्दर्भ—प्रिय के साथ कैसे एकाकार होऊँ मैं तो मलीन हूँ ।

भावार्थ—जिसको मैं ढूँढता फिरता था वह सन्मुख मिल गया, परन्तु
पाप से पंकिल आत्मा रूपी प्रिय स्त्री प्रिय के चरणों का स्पर्श कैसे करे ।

शब्दार्थ—धन = स्त्री, (आत्मा) । मैली = पापों से युक्त ।

जा कारणि मैं जाइ था, सोई पाई ठौर ।
सोई फिरि आपण भया, जासू कहता और ॥ ३७ ॥

सन्दर्भ—आत्मा और परमात्मा मिलकर एकाकार हो गए ।

भावार्थ—जिसके खोज मे मैं भटक रहा था वह अपने स्थान पर प्राप्त हो
गया और जिसे मैं विलग समझता था वही अभिन्न हो गया ।

शब्दार्थ—जा कारणि—जिसके लिए ।

कबीर देख्या एक अंग, महिमा कही न जाइ ।
तेज पुंज पारस धणी, नैनु रहा समाइ ॥ ३८ ॥

सन्दर्भ—प्रकाश पुंज परमात्मा नेत्रों मे समाहित हैं ।

भावार्थ—कबीर दास कहते हैं कि मैंने प्रभु के दर्शन एक निष्ठ होकर
किए । उनकी महिमा अनिर्वच्य हैं । वह तेज पुंज हैं, पारस है, घनी है, वह
नेत्रों मे समाहित हो रहा है ।

शब्दार्थ—एक अंग = एक निष्ठ होकर घणी = स्वामी ।

मानसरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहिं ।
मुक्ताहल मुक्ता चुगै, अष उडि अनत न जाहिं ॥ ३६ ॥

सन्दर्भ—मान सरोवर मे आत्मा रूपी हंस विश्राम कर रहे हैं ।

भावार्थ—मानसरोवर भक्ति के शुद्ध जल से भरा हुआ है, वहाँ आत्मा रूपी हंस क्रीड़ा कर रहे हैं, तथा भक्ति रूपी मोती चुग रहे हैं अब वे उडकर अन्यत्र कहीं नहीं जाएंगे ।

शब्दार्थ—सुभर = शुद्ध ।

गगन गरजि अमृत चत्रै, कदली कवल प्रकास ।
तहाँ कवीरा बंदिगी, कै कोई निज दास ॥ ४० ॥

सन्दर्भ—कवीर ब्रह्माण्ड मे स्थिति प्रिय की वन्दगी करता है ।

भावार्थ—शून्य शिखर गढ़ मे अनहदनाद हो रहा है । अमृत की वर्षा हो रही है और सहस्र दल कमल विकसित हैं । कदली प्रकाशित है । वहाँ पर कवीर, ईश्वराधना मे अनुरक्त है ।

शब्दार्थ—गगन = ब्रह्माण्ड ।

नीव विहूणां देहुरा, देह विहूणां देव ।
कवीर तहाँ बिलंबिया, करे अल्प की सेव ॥ ४१ ॥

सन्दर्भ—कवीर अलख की सेवा मे अनुरक्त है ।

भावार्थ—नीव से रहित देवालय मे निराकार देवता विद्यमान है ऐसे स्थान पर कवीर अलख की सेवा करने मे अनुरक्त हैं ।

शब्दार्थ—देहुरा = देवालय । विहूणां = रहित = बिलंबिया = विश्राम किया ।

देवल माँहे देहुरी, तिल जहे बिसतार ।
माँहे पाती माँहे जल, माँहे पूजाहार ॥ ४२ ॥

सन्दर्भ—निर्गुण ब्रह्म की उपासना अन्तस मे हो रही है ।

भावार्थ—शरीर रूपी देवालय मे हो तिल के समान सूक्ष्म विद्यमान हैं हृदय मे ही पूजा के पत्र हैं, हृदय में ही जल है, हृदय मे पूजा करने वाला है ।

शब्दार्थ—देव = देवालय ।

कबीर कवल प्रकासिया, ऊग्या निर्मल सूर ।

निस अंधियारी मिटि गई, बागे अनहद नूर ॥ ४३ ॥

सन्दर्भ—ज्ञान के उदय होते ही हृदय कमल विकसित हो गया ।

भावार्थ—जब से निर्मल सूर्य रूपी ब्रह्म का प्रकाश प्राप्त हुआ तब से हृदय कमल प्रकाशित हो गया । समस्त वासनाओं का अन्धकार मिट गया और अनहद नाद की तुरही बजने लगी ।

शब्दार्थ—ऊग्या = उदित हुआ ।

अनहद बाजै नीभर भरै, उपजै ब्रह्म गियान ।

आवगति अंतरि प्रगटै, लागै प्रेम धियान ॥ ४४ ॥

सन्दर्भ—प्रेम पूर्वक ध्यान लगाने से ब्रह्म प्रकट होता है ।

भावार्थ—प्रेम पूर्वक ध्यान लगाने से अविगत ब्रह्म की अनुभूति होती है । अनहदनाद प्रतिश्रुति होता है और अनहद का झरना बहने लगता है ।

शब्दार्थ—नीभर = निर्भर । गियान = ग्यान । आवगति = अनिर्वचनीय ।

आकासे मुखि औंधा कुवाँ, पाताले पनिहारि ।

ताका पांणी को हंसा पीवै, विरला आदि विचारि ॥ ४५ ॥

सन्दर्भ—शून्य शिखर गढ़ का सुभग जल हंसात्मा ही पान करती है ।

भावार्थ—आकाश में निम्न मुख हुआ है नीचे आत्मारूपी पनिहारी जल जल को प्राप्त करने के लिए आकांक्षी है । इस कुएँ का जल कोई विरली शुद्धता ही ही ग्रहण करती है ।

शब्दार्थ—आकासे = आकाश में ब्रह्म रन्ध्र में । औंधा = निम्नाभिमुख ।
पनिहारि = पनिहारी ।

सिबसकती दिसि कौण जु जोवै, पछिम दिसा उठै धूरि ।

जल में स्यंघ जु घर करै, मछली चढ़ै खजूरि ॥ ४६ ॥

सन्दर्भ—अनहद शब्द के सहारे आत्मा ब्रह्म में लीन हो जाती है ।

भावार्थ—शिव और शक्ति को किस दिशा में देखा जा सकता है वह तो सर्व व्यापी है । जो दिशा विशेष में देखने की चेष्टा करेगा उसके पीछे धूल उड़ने लगेगी । आत्मारूपी मछली अनहदनाद के सहारे ब्रह्म में लीन होगी, शिव और शक्ति की अनुभूति करना उतना ही कठिन है जितना मछली का खजूर पर चढ़ना अथवा सिंह का जल में प्रवेश करना ।

शब्दार्थ—सकती = शक्ति । स्यंघ = सिंह । मछली = आत्मा ।

अमृत बरिसै हीरा निपजै, घंटा पढ़ै टकसाल ।

कबीर जुलाहा भया पारपू, अनभै उतन्या पार ॥ ४७ ॥

सन्दर्भ—ब्रह्म निन्द होते हो दिव्य अनुभूति प्राप्त हो गई ।

भावार्थ—ब्रह्म निन्द रूपी अमृत की वर्षा हो रही है और प्रभु दशंन रूपी हीरा उत्पन्न हो रहा है । अनहद शब्द प्रति श्रुत हो रहा है । कबीर जुलाहा निर्भय होकर इस संसार सागर से पार उतर गया ।

शब्दार्थ—वरिसै = वरसत है घंटा पढ़ै टकसाल = अनहद नाद प्रतिश्रुत हो रहा है ।

ममिता मेरा क्या करै, प्रेम उघाड़ी पौलि ।

दरसन भया दयाल का, सूल भई सुख सीड़ि ॥ ४८ ॥

सन्दर्भ—ब्रह्मानुभूति प्राप्त हो जाने के बाद माया मोह के बन्धन विच्छिन्न हो गये ।

भावार्थ—माया मेरा क्या कर लेगी अब तो प्रेम का द्वार उन्मुक्त हो गया अब तो दयालु ब्रह्म के दशंन हो गए, अब दुख भी सुख प्रतीत होने लगे ।

शब्दार्थ—ममिता = ममता । उघाडी = खोल दिया । पौलि = द्वार ।

६. रस कौ अंग

कबीर हरि रस यौ पिया, घाकी रही न चाकि ।

पाका फलस कुँभार का, बहुरि न चढ़ई चाकि ॥ १ ॥

संदर्भ—जीवात्मा प्रभु-भक्ति के रंग में रंगकर जाबन्तु हो जाती है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं मैंने ईश्वर को भक्ति का रस दाना अधिक पिया है कि मायारिक कठिनाइयों ने उत्पन्न यकावट विस्तृत नमान हो गई है किपित्तमात्र भी बाकी नहीं रही । जिन प्रकार कुँभार के द्वारा पकाया हुआ पहा घुन-पाक पर नहीं चढ़ाया जाता है उना प्रकार हरि-भक्ति का रस कर्तव्य के बाद आत्मा को इस संसार में नहीं भटकना पड़ता ।

शब्दार्थ—चाकि = चकान । पाका = पकाया । चढ़ई = चढ़ाया = पड़ा ।

राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल ।

कबीर पीवण दुलभ है, मांगै सीस कलाल ॥ २ ॥

संदर्भ—ब्रह्मानन्द के प्रेम का रस पाने में जितना सुमधुर होता है उसकी प्राप्ति उतनी ही कठिन होती है । उसके लिए सर्वस्व त्याग करना पड़ता है ।

भावार्थ—प्रभु भक्ति का प्रेम रस पीने में बड़ा मधुर होता है और पीते-पीते और अधिक मधुर होता जाता है किन्तु कबीर कहते हैं कि इसकी प्राप्ति की शर्त बड़ी कठिन है क्योंकि गुरु रूपी मदिरा विक्रेता कठिन से कठिन स्थिति का सामना करने के लिए साधक को उपदेश देता है ।

शब्दार्थ—कलाल = मदिरा पिलाने वाला ।

कबीर भाठी कलाल की, बहुतक बैठे आइ ।

सिर सौपै सोई पिवै, नही तो पिया न जाइ ॥ ३ ॥

संदर्भ—प्रभु प्राप्ति के लिए सर्वस्व त्याग करना पड़ता है प्रत्येक कष्ट लना पड़ता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि प्रभु भक्ति रूपी मदिरा को बेचने-घाले सतगुरु की दूकान पर मदिरा पीने वाले बहुत से साधक बैठे हैं । किन्तु उस मदिरा का पानी वही पी सकता है जो अपने को साधना की कठिन से कठिन परिस्थितियों में डाल दे अन्यथा उस मदिरा को नहीं पिया जा सकता है ।

विशेष—सांग रूपक ।

शब्दार्थ—भाठी = भट्ठी जिसमें मदिरा तैयार की जाती है । बहुतक = बहुत से ।

हरि रसपीया जाणिये, जे कबहूँ न जाइ खुमार ।

मैमंता घूमत रहै, नांही तन की सार ॥ ४ ॥

संदर्भ—हरि-रस का पान करने वाला अपने शरीर की सुधि-बुधि भूल जाता है ।

भावार्थ—हरि-भक्ति रसामृत का पान किया उसी व्यक्ति को समझना चाहिए जिसके ऊपर उसका स्थायी नशा बना रहे । और वह उस नशे में मदमस्त हाथी के समान मतवाला होकर इधर-उधर घूमता रहे उसे अपने शरीर तक की भी सुधि-बुधि न रहे ।

शब्दार्थ—मैमता = मस्त ।

मैमंता तिण नांचरै, सालै चिता सनेह ।
बारि जु बांध्या प्रेम कै, डारि रखा सिरि पेह ॥ ५ ॥

संदर्भ—परमात्मा के प्रेमी को अपने शरीर का ध्यान नहीं रहता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार मदमस्त हाथी एक तिनका भी ग्रहण नहीं करता है उसी प्रकार साधक भी खान पान की सुधि भुलाकर प्रेम की अग्नि में अपने शरीर को तपाता है और जिस प्रकार मदमस्त हाथी दरवाजे पर बंधा हुआ अपने सिर पर मिट्टी डालता रहता है उसी प्रकार साधक भी अपने शरीर का ध्यान न रखकर अहं की भावना का त्याग कर सिर पर मिट्टी आदि धारण कर लेता है ।

शब्दार्थ—मैमंता = मदमस्त हाथी । तिण = तृण ।

मैमंता अविगत रता, अकल्प आसा जीति ।
राम अमलि माता रहै, जीवत मुक्ति अतीति ॥ ६ ॥

संदर्भ—मद मत्त साधक अपने जीवन काल में मुक्ति प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—मदमत्त साधक अपनी अकल्पनीय आशाओं पर विजय प्राप्त करके परमात्मा के प्रेम में तल्लीन रहता है । वह राम के प्रेमामृत में हम प्रकार सराबोर रहता है कि जीवित अवस्था में ही उसे जीवन से मुक्ति मिल जाती है ।

शब्दार्थ—अकल्प = अकल्पनीय ।

जिहि सिर घड़ा न डूबता, अब मैंगल मलिमलिन्हाड ।
देवल बूड़ा कलस सूँ, पं पि तिसाई जाइ ॥ ७ ॥

संदर्भ—भक्ति के बढ़ने पर आत्मा की प्यास भी सतत बढ़ती चलती है ।

भावार्थ—जिस भक्ति के तालाब में मन रूपी घड़े को डूबने भर का भी पानी नहीं था । उसी में अब भक्ति के बढ़ जाने से मदमस्त साधक मल-मल कर स्नान करता है । अब उसमें इतना अधिक जल हो गया है कि सम्पूर्ण नंगार उन भक्ति सागर में डूब गया है किंतु आत्मारूपी पक्षी पीते-पीते नहीं बघाता ।

शब्दार्थ—मैंगल = मदमत्त हाथी, मन । देवन = नंगार ।

मवै रसांइण मै किया, हरिसा और न कोइ ।
विल एक घट मै सचरै, ती सघ तन कंचन द्योइ ॥ ८ ॥

संदर्भ—प्राण राम की समता करने वाला नंगार का अर्थ कोई भी रस नहीं है ।

भावार्थ—कवीरदास जी कहते हैं कि मैंने संसार के सभी रसों का रसास्वादन करके देख लिया है किंतु हरि इसके समान और कोई रस नहीं है। यदि इस हरि रस का एकतिल मात्र अंश भी शरीर में व्याप्त हो जाय तो संपूर्ण शरीर पाप मुक्त होकर कंचन के समान शुद्ध हो जाय।

शब्दार्थ—रसाहण = रसास्वादन।

७. लांबिकौ अंग

कया कमंडल भरि लिया, उज्जल निर्मल नीर।

तन मन जोवन भरि पिया, प्यास न मिटी शरीर ॥ १ ॥

सन्दर्भ—ज्ञान एवं भक्ति के द्वारा भी शरीर की तृष्णा शान्त नहीं होती।

भावार्थ—ज्ञान एवं भक्ति का उज्ज्वल एवं निर्मल नीर शरीर रूपी कमंडल में भर लिया। शरीर एवं मन की पूर्ण शक्ति लगाकर जीवन के सुन्दरतम समय षोडशकाल में इसका पान किया किन्तु फिर भी इसकी प्यास शांत नहीं हुई।

शब्दार्थ—कया = काया = शरीर।

मन उलट्या, दरिया मिल्या, लागा मलिमलि न्हांन।

थाहत थान न आवई, तूँ पूरा रहिमान ॥ २ ॥

सन्दर्भ—जीवात्मा को प्रभु-प्रेम-सागर की थाह नहीं मिल पाती है।

भावार्थ—मन सांसारिक अंशुओं से हटकर प्रभु प्रेम रूपी समुद्र में जाकर मिल गया और वहाँ मन-मल कर स्नान करने लगा। हे प्रभु! आप अत्यन्त दयालु हैं बहुत प्रयत्न करने पर भी आपकी वास्तविक थाह नहीं मिलती है।

शब्दार्थ—रहिमान = दयालु।

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कवीर हेराइ।

वूँद समानी समद मैं सोकत हेरी जाइ ॥ ३ ॥

सन्दर्भ—आत्मा का जब परमात्मा से एकीकरण हो जाता है तो उसको वूँद पाना कठिन होता है।

भावार्थ—कवीर की आत्मा परमात्मा को खोजते-खोजते उसी में लीन हो गई। आत्मा और परमात्मा का मेल हो गया। जो वूँद समुद्र में जाकर मिल जाती

है उसका पता नहीं लगाया जा सकता है उसी प्रकार जिस आत्मा का परमात्मा में समावेश हो गया उसको भी नहीं खोजा जा सकता है ।

शब्दार्थ—हेरत-हेरत = खोजते-खोजते । हिराइ = खो जाना । हेरो = पता लगाना ।

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कवीर हिराइ ।

समंद समाना वूँद में, सो कत हेर्या जाइ ॥ ४ ॥

सन्दर्भ—हृदय स्थित ईश्वर को देखना मुश्किल है ।

भावार्थ—कवीर की आत्मा अन्य सासारिक आत्माओं से कहती है कि हे सखी ! परमात्मा को खोजते-खोजते में स्वयं खो गई । समुद्र (परमात्मा) वूँद (आत्मा) के अन्तःकरण में ही व्याप्त है उसको कैसे खोजा जा सकता है ।

शब्दार्थ—समद = समुद्र ।

८. जर्ण कौ अंग

भारी कहों त बहु डरों, हलका कहूँ तो भूठ ।

में का जाणौ राम कूँ, नैनूँ कधहूँ न दीठ ॥ १ ॥

सन्दर्भ—ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता है ।

भावार्थ—यदि उस परमात्मा को भारी कहा जाय तो बहुत डर लगता है क्योंकि वह निराकार है फिर भारी कैसे हो सकता है ? और यदि हलका कहूँ तो यह भी असत्य ही है । क्योंकि मैंने अपने भौतिक नेत्रों से परमात्मा को देखा ही नहीं है फिर उनके अस्तित्व के विषय में कह कैसे सकता हूँ ।

शब्दार्थ—दीठ = देता ।

दीठा है तो कस कूँ, कशा न को पतियाइ ।

हरि जैसा है तैसा रहो, तूँ हरिषि हरिषि गुण गाइ ॥२॥

सन्दर्भ—ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान कठिन है उसका स्वरूप ही ज्ञान चाहिए ।

भावार्थ—यदि उस परमात्मा के दर्शन भी हो गए हो तो भी उस अवर्णनीय का वर्णन कैसे किया जा सकता है और यदि किसी प्रकार वर्णन कर भी दिया जाय तो कहने पर विश्वास कौन मान सकता है। परमात्मा जिस प्रकार का है उसे उसी प्रकार का रहने दो हे मन। तू प्रसन्नतापूर्वक उस परमात्मा के गुणों का स्मरण कर।

शब्दार्थ—पतियाह = विश्वास करता है।

ऐसा अद्भुत जिनि वथौ, अद्भुत राखि लुकाइ।

वेद कुरानौ गमि नहीं, वह्या न को पतियाइ ॥ ३ ॥

सन्दर्भ—ईश्वर के रूप का वर्णन वेद और कुरान ऐसे धार्मिक ग्रंथ भी नहीं कर पाते हैं फिर और कौन कर सकता है ?

भावार्थ—जो ब्रह्म इतना रहस्यमय है रे मन ! उसके वर्णन का प्रयास तू न कर। उस रहस्य को रहस्य ही बना रहने दे। वेद और कुरानादि धार्मिक ग्रन्थ जिसके गुणों का वर्णन नहीं कर सके उसका वर्णन कैसे किया जा सकता है और करने पर भी उसका विश्वास कौन करेगा ?

शब्दार्थ—जिनि = मत। गमि = पहुँच।

करता की गति अगम है, तूँ चलि अपणै उनमान।

धीरै धीरै पाव दे, पहुँचैंगे परवान ॥ ४ ॥

सन्दर्भ—ईश्वर का दर्शन एक दिन में नहीं होगा प्रयास करने पर कभी न कभी होई जायेगा।

भावार्थ—सम्पूर्ण विश्व के कर्ता परमात्मा की गति अगम्य है हे जीव ? तू अपनी शक्ति के अनुसार ही उसको खोजने के लिए चल। धीरे-धीरे चलते रहने पर भी किसी न किसी दिन तो उसके दर्शन हो ही जाएंगे।

शब्दार्थ—उनमान = मार्ग। पखान, ब्रह्म प्राप्ति।

पहुँचैंगे तब कहेंगे, अमडेंगे उस ठाँइ।

अजहूँ वेरा समन्द मैं, बोलि बिगूचै काँइ ॥ ५ ॥

सन्दर्भ—विना परमात्म ज्ञान के उसके विषय में कुछ भी कहना व्यर्थ है।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि उस परमात्मा के विषय में तभी कहा जा सकता है जब हम उस तक पहुँच जाएंगे। अभी तो मैं मंझवार में पड़ा हूँ। साधना के मार्ग में बीच में ही पड़ा हूँ इसलिये इस समय ईश्वर के विषय में कुछ कह कर अन्य मनुष्यों को घोखा क्यों दे।

शब्दार्थ—अमडेंगे = कहेंगे। बिगूचै = घोखा दें।

६. हैरान कौ अङ्ग

पंडित सेती कहि रहे, कहां न मानै कोइ ।
ओ अगाध एका कहै, भारी अचिरज होइ ॥ १ ॥

सन्दर्भ—ईश्वर के विषय में जो कुछ भी कहा जाय उसी पर लोगो को आश्चर्य होता है ।

भावार्थ—मैं यदि पण्डितो से उस परमात्मा के अद्भुत स्वरूप का वर्णन करता हूँ तो ये उसका विद्वान ही नहीं करते । और यदि मैं उनसे यह कहता हूँ कि ब्रह्म असीम, अगाध, और एक है तो सभी पण्डित आश्चर्य करते हैं ।

शब्दार्थ—सेती = से ।

वसै अपण्डी पण्ड में, तागति लषै न कोइ ।
कहै कबीरा संत हौ, षड़ी अचंभा मोहि ॥ २ ॥

सन्दर्भ—ब्रह्म का निवास हृदय में होने पर भी उसको कोई प्राप्त नहीं कर पाता है ।

भावार्थ—निराकार ब्रह्म इसी शरीर में निवास करता है किन्तु फिर भी इस बात पर कोई ध्यान नहीं देता है उनकी गति को कोई देख नहीं पाता है । कबीर दास जी कहते हैं कि मुझे बड़ा आश्चर्य इस बात पर होता है कि लोग साधना के द्वारा उसे प्राप्त क्यों नहीं कर पाते हैं ।

शब्दार्थ—अपण्डी = पण्ड = शरीर ।

१०. लै को अङ्ग

जिहि बन सीह न संचरै, पंषि उड़ै नहीं जाइ ।

रैन दिवस का गमि नहीं, तहाँ कबीर रह्या ल्यौ लाइ ॥ १ ॥

सन्दर्भ—अगम्य प्रभु की प्राप्ति के लिए दत्तचित्त होकर साधना में लीन होना चाहिए ।

भावार्थ—जिस बन में सिंह नहीं पहुँच सकता पक्षी भी जहाँ उड़ नहीं सकते जहाँ रात्रि और दिवस का भी पता नहीं । सूर्य और चन्द्रमा का अस्तित्व नहीं । उस स्थान तक पहुँचने के लिए कबीरदास साधना कर रहे हैं ।

शब्दार्थ—सीस = सिंह । रैन दिवस = रात दिन अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा ।

सुरति ठीकुली लेज ल्यौ, मन् नित डोलनहार ।

कँवल कुँवा में प्रेम रस, पीवै वारम्बार ॥ २ ॥

सन्दर्भ—साधक का मन बार-बार ईश्वर का स्मरण करता है ।

भावार्थ—सहस्रदल रूपी कुण्ड में प्रेम का अमृत मय रस भरा हुआ है । साधक सुरति-स्मृति की ठीकुली और लगन की रस्सी से मनके डोल में इस रस को भरकर वारम्बार पीता है ।

विशेष—रूपक अलंकार ।

शब्दार्थ—लेज = रस्सी । कमल कुँवा = सहस्रदल' कमल ।

गंग जमुना डर अंतरै, सहज सुनि ल्यौ घाट ।

तहाँ कबीरै मठ रच्या, मुनि जन जोवै बाट ॥ ३ ॥

सन्दर्भ—जिस स्थान तक पहुँचने के लिए । मुनि लोग प्रतीक्षा किया करते हैं वही पर कबीर दास ने अपने मन को साधना में लगा दिया है ।

भावार्थ—उड़ा और पिगला नाड़ियाँ हृदय में गंगा और यमुना के समान प्रवाहित हो रही है शून्य में ध्यान रूरी घाट है । उसी शून्य स्थान में कबीर दास ने अपने मन को लगा दिया है । मुनि लोग उस स्थान के लिए प्रतीक्षा ही करते रहते हैं ।

शब्दार्थ—गंग यमुन = उड़ा पिगला । ल्यौ = ध्यान ।

११. निहकर्मो पतिव्रता कौ श्रंग

कवीर प्रीतड़ी तौ तुभसौं, बहु गुण वाले कन्त ।
जे हंसि बोलौ और सौं, तौ नील रँगाऊँ दन्त ॥ १ ॥

सन्दर्भ—साधक केवल परमात्मा से प्रेम करता है ।

भावार्थ—हे अनन्त गुणो वाले प्रियतम (ब्रह्मा) ! कवीर का एकमात्र तुझ से ही प्रेम है । यदि मैं तुझे छोड़कर अन्य किसी से हंस बोलकर प्रेम करूँ तो वह मुंह पर स्याही लगाकर मुंह को कलकित करने के समान है ।

शब्दार्थ—प्रीतड़ी = प्रेम । गुणिया ले = गुणवान् ।

नैनां अन्तर आवतूँ, ज्यूँहौं नैन भँपेड ।
नाँ हौं देखौं और कूँ, नांतुभ देखन देउँ ॥ २ ॥

सन्दर्भ—प्रेम की अनन्यावस्था को दिखाया गया है । भक्त प्रेम में विभोर होकर अपने प्रियतम को ही देखना चाहता है ।

भावार्थ—हे प्रियतम । तुम नेत्रों के अन्दर आजाओ और मैं तुरन्त नेत्रों को मूँद लूँ । जिससे न तो मैं ही तुम्हारे अतिरिक्त किसी अन्य को देख सकूँ और न तुम को ही अपने अतिरिक्त किसी अन्य को देखने दूँ । तुम मुझे देखो और मैं तुम्हें देखूँ ।

शब्दार्थ—अंतरि = अन्दर । भँपेड = मूँद लूँगा ।

मेरा तुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा ।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागे मेरा ॥ ३ ॥

सन्दर्भ—संसार की सभी वस्तुएँ परमात्मा की हैं । साधक जो भी वस्तु परमात्मा को समर्पित करता है वह उसी की ही वस्तु उसको समर्पित करता है ।

भावार्थ—मेरे पास जो कुछ भी है हे परमात्मन् ! वह तेरा ही है उद्यमें मेरा कुछ भी नहीं है । फिर आपकी ही वस्तु आप को सौंपने में मेरा क्या लगता है ।

वधीर रेख स्वंदूर की, फाजल दिया न जाइ ।
नैन गमइया रमि राया, दूजा फटाँ उमाइ ॥ ४ ॥

सन्दर्भ—भक्त के लिए भगवान को छोड़कर अन्य कोई नहीं होता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि जिस प्रकार एक पतिव्रता स्त्री सौभाग्य सूचक सिंदूर की रेखा ही लगाती है पति को आकर्षित करने के लिए आँखों में काजल भी नहीं लगाती उसी प्रकार मेरे नेत्रों में तो केवल राम की ही तस्वीर बसी हुई है किसी अन्य को उसमें स्थान नहीं मिल सकता है ।

शब्दार्थ—स्यंदूर = सिंदूर । नैमूँ = नेत्रों में ।

कबीरा सीप समद की, रटै पियास पियास ।

समदहि तिणका बरि गिणै, स्वाँति बूँद की आस ॥ ५ ॥

सन्दर्भ—जिसका जिसमें प्रेम होता है उसके लिए उससे बढ़कर और कोई पदार्थ नहीं होता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि समुद्र में पड़ी हुई सीपी उसके जल से चृप्त न होकर प्यास ही प्यास रटती रहती है । वह तो स्वाति नक्षत्र के बूँद की आशाएं विशाल समुद्र को तिनके के समान नगण्य समझती है ।

विशेष—अन्योक्ति अलंकार ।

शब्दार्थ—समदहि = समुद्रहि = समुद्र को ।

कबीर सुख कौं जाइ था, आगै आया दुख ।

जाइ सुख घरि आपणै, हम जाणौं अरु दुख ॥ ६ ॥

सन्दर्भ—साधक परमात्मा की प्राप्ति के लिए सासारिक सुखों को तिला-जलि दे देता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि इस विषय विकार से भरे हुए संसार के सुखों में लिप्त होने जा ही रहा था कि अचानक मेरा साक्षात्कार परमात्मा के विरहरूपी दुख से हो गया । तब मैंने सांसारिक दुखों को तिलाजलि देकर ईश्वर की प्राप्ति के लिए विरह (दुख) को ही सहने का लक्ष्य बनाया है ।

दो जग तौ हम अँगिया, यहु डर नाही मुझ ।

भिस्त न मेरे चाहिए, बाँझ पियारे तुझ ॥ ७ ॥

सन्दर्भ—ईश्वर के अभाव में भक्त स्वर्ग भी नहीं चाहता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि यदि मुझे नरक में भी जाना पड़े और वहाँ पर मुझे परमात्मा के दर्शन न होते रहे तों मुझे कोई भय नहीं है । किन्तु ऐप्रितम ! तेरे बिना यदि मुझे स्वर्ग में भी जाना पड़े, तो वह भी मेरे लिए त्याज्य है, व्यर्थ है ।

शब्दार्थ—दो जग = दो जख — वकं । मिसन = वहिस्त — स्वर्ग । वांम = रहित है ।

जे ओ एकै न जांणियां, तो जांण्यां सब जांण ।

जे ओ एक न जांणियां, तो सब ही जांण अजांण ॥ ८ ॥

सन्दर्भ—परमात्मा के ज्ञान के अतिरिक्त और सब ज्ञान व्यर्थ है ।

भावार्थ—जिसने एक परमात्मा को जान लिया उसने संसार के सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर लिया । और जिसने उस एक परमात्मा को नहीं जाना उसका संसार को अन्य वस्तुओं का ज्ञान अज्ञान के ही समान है ।

शब्दार्थ—जांण = ज्ञान ।

कवीर एक न जांणियां, तौ बहुजांण्यां क्या होइ ।

एकै तैं सब होत है, सबतैं एक न होइ ॥ ९ ॥

सन्दर्भ—सच्चा ज्ञान ब्रह्मज्ञान है । उससे अन्य ज्ञान प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—कवीरदास जी कहते हैं जिसने एक परमात्मा को नहीं जाना उसका और सब ज्ञान क्या होगा । वह व्यर्थ है । उस एक परमात्मा के ज्ञान से तो और सभी ज्ञान प्राप्त हो जाते हैं कि और सब ज्ञानों से उस परमात्मा का ज्ञान नहीं होता है ।

शब्दार्थ—एक = परमात्मा । बहु = अन्य समस्त ज्ञान ।

जब लगि भगति सकांमता, तब लगि निर्फल सेव ।

कहै कवीर वै क्यूँ मिलै, निहकांमी निज देव ॥ १० ॥

सन्दर्भ—भक्ति कामनारहित होनी चाहिए ।

भावार्थ—जब तक भक्ति में कामना मिली होती है किसी हेतु के लिए ईश्वर का स्मरण किया जाता है तब तक ईश्वर को सम्पूर्ण सेवा व्यर्थ होती है । कवीरदास जी कहते हैं कि जो ईश्वर निष्काम है उसे तो निष्काम भक्ति से ही प्राप्त किया जा सकता है सकाम भक्ति से यह कैसे मिल सकता है ?

शब्दार्थ—सकांमता = कामनामय । निर्फल = निष्फल । निहकामी = निष्कामी ।

आसा एक जु राम की, दूजी आस निराम ।

पांणी माँहें घर फरें, ते भी मरें पियास ॥ ११ ॥

सन्दर्भ—जीव को सासारिक आशाओं के प्राप्त होने पर भी शांति प्राप्ति नहीं होती है ।

भावार्थ—जिसको एक परमात्मा की आशा है उसके लिए अन्य आशाएँ व्यर्थ हैं निराशामात्र है क्योंकि उसी एक से सबकी प्राप्ति होती है । सांसारिक कामनाओं का अन्त तो निराशाएँ होता है । जो व्यक्ति ईश्वर की आशा को छोड़ कर अन्य की आशा करते हैं वह तो उन लोगों के समान है । जो पानी में रहकर भी प्यासे मरते हैं ।

शब्दार्थ—पानी = जल ।

जें मन लागै एक सूँ, तौ निरबाल्या जाइ ।

तूरा दुइ मुखि बाजणाँ, न्याइ तमाचे खाइ ॥ १२ ॥

सन्दर्भ—जीव को अकेले परमात्मा के प्रेम में मन को लगा देना चाहिए ।

भावार्थ—यदि जीव का मन परमात्मा पर ही आसक्त हो जाय तो उसका निर्वाह हो जायगा और यदि वह ईश्वर के अतिरिक्त अन्य का ध्यान करता है तो उसे सांसारिक दुख उसी प्रकार सहन करने पड़ेगे जिस प्रकार तुरही को दोमुखों से वजने के कारण अकारण ही हाथ के प्रहार सहन करने पड़ते हैं ।

शब्दार्थ—निरबाल्या = निर्वाह हो जाएगा । तूरा = तुरही । न्याइ = उचित । बाजणाँ = वजाने से ।

कबीर कलियुग आइकरि, कीये बहुतज मीत ।

जिन दिलि बँधी एक सूँ, ते सुखु सोवै नचीत ॥ १३ ॥

सन्दर्भ—जीव यदि परमात्मा को मित्र बना ले तो वह निश्चित हो सकता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि इस कलियुग में आकर मनुष्य अनेको मित्रों को बनाता है किन्तु वे सभी दुख देने वाले होते हैं परन्तु यदि एक परमात्मा को मित्र बना लिया जाय तो जीव जीवन पर्यन्त निश्चिन्त होकर सो सकता है ।

शब्दार्थ—बहुतज = बहुत से । नचीत = निश्चिन्त ।

कबीर कूता राम का, सुतिया मेरा नाँउ ।

गलै राम की जेवड़ी, जित खँचे तित जाँउ ॥ १४ ॥

सन्दर्भ—भवत को भगवान जिघर खीचता है वह उधर ही चला जाता है ।

भावार्थ—कवीरदास जी कहते हैं कि मैं राम का कुत्ता हूँ और मेरा नाम मुतिया (मुक्त) है मेरे गले में राम नाम की रस्सी पड़ी हुई है उस रस्सी को पकड़ कर मेरे स्वामी राम जिधर मुझे घुमाते हैं मैं उधर ही घूम जाता हूँ ।

विशेष - रूपक अलंकार ।

शब्दार्थ—कूता = कुत्ता । जेवडी = जेवरी = रस्सी ।

तो तो करै त बाहुड़ों, दुरि दुरि करै तो जाउँ ।

ज्यूँ हरि राखै त्यूँ रहौं, जो देवै सो खाउँ ॥ १५ ॥

सन्दर्भ - भक्त अपने सारे क्रिया कलाप ईश्वर की इच्छा पर ही करता है ।

भावार्थ—यदि ईश्वर मुझ को तू-तू करके बुलाते हैं तो मैं तुरन्त ही उनके समीप पहुँच जाता हूँ और यदि दूरदुरा देते हैं तो मैं दूर चला जाता हूँ । इस प्रकार मैं राम की इच्छा पर ही रहता हूँ । वह जो कुछ खाने को दे देते हैं वही खा लेता हूँ ,

शब्दार्थ—बाहुडो = नजदीक ।

मन प्रतीत का प्रेम रस, नाँ इस तन में ढंग ।

क्या जाणौ उस पीव सू, कैसे रहसी रंग ॥ १६ ॥

संदर्भ - जीवात्मा को चिन्ता है कि वह प्रभु-मिलन के आचार-व्यवहार तक से भी परिचित नहीं है फिर मिलन कैसे होगी ।

भावार्थ—कवीर दास जी कहते हैं कि मेरा मन न तो ईश्वर के प्रति अदृष्ट विश्वास रखता है और न प्रेम रस से ही परिपूर्ण है और शरीर भी उसके मित्तन के लिए उपयुक्त नहीं है फिर समझ में नहीं आता कि राग-रग के खेनों में उस ईश्वर के साथ कैसे प्रवृत्ति होगी ।

उस संमथ का दाश हौं, कदे न होइ अकाज ।

पतिव्रता नाँगी रहे, तौ उस ही पुरिम कौं लाज ॥ १७ ॥

संदर्भ—भक्ति पर यदि आपत्ति आयेगी तो ईश्वर के लिए लज्जा का विषय है ।

भावार्थ—मैं उस समर्थ पुरुष परमात्मा का सेवक हूँ जो सर्व पापिनमान है । इन कारणों मेरा किसी भी प्रकार अनर्थ नहीं हो सकता है जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री के नग्न रहने पर उसके पति को ही लज्जा आती है उसी प्रकार मेरे अशास्त्र होने में भी परमात्मा के लिए ही लज्जा का विषय है ।

शब्दार्थ—सम्रय = सामर्थ्यवान ब्रह्म । कदे = कभी भी ।

धरि परमेसुर पाहुणां, सुणौ सनेही दास ।
षटरस भोजन भगति करि ज्यु कदेन छाँड़ै पास ॥ १८ ॥

संदर्भ—ईश्वर का निवास हृदय में है उसकी सेवा भक्ति पूर्वक करनी चाहिए ।

भावार्थ—कबीर दास जो कहते हैं कि है प्रेमी भक्तो । ध्यान पूर्वक सुनो इस हृदय रूपी घर मे प्रभुरूपी अतिथि पधारै हैं । उसकी सेवा मे भक्ति रूपी षट् रस व्यंजन प्रस्तुत करो ता कि वे प्रसन्न हो कर कभी भी तुम्हारा साथ न छोड़े । सदैव तुम्हारे साथ रहे ।

विशेष—रूपक अलंकार ।

शब्दार्थ—धरि = घर । पाहुणां = अतिथि ।

१२. चितावणी कौ अंग

कबीर नौवति आपणी, दिन दस लेहु बजाइ ।
ए पुर पटन ए गली, बहुरि न देखौ आइ ॥ १ ॥

संदर्भ—शरीर क्षण भंगुर है । वैभव थोड़े दिन का ही है अंत मे शरीर के साथ वह भी नष्ट हो जायगा ।

भावार्थ—कबीर दास जो कहते हैं कि इस क्षण भंगुर संसार मे अपने वैभव का प्रदर्शन थोड़े ही दिन किया जा सकता है । फिर काल जब मृत्यु के मुख मे शरीर को सुला देता है तो नगर, बाजार गली कही भी इसके दर्शन नहीं हो सकेगे ।

शब्दार्थ—चितावणी = चैतावनी । नौवत = नगाडा ।

जिनके नौवति वाजती, मैंगल बंधते बारि ।
एकै हरि के नावै विन, गए जन्म सब हारि ॥ २ ॥

संदर्भ—सासारिक वैभव थोड़े दिनों का हो होता है मरणोपरांत उसका चिह्न भी नहीं रह जाता है । अतः ईश्वर का नाम स्मरण कर जीवन को सार्थक करना चाहिए ।

भावार्थ—जिन लोगों के दरवाजे पर सदैव वैभव सूचक नगाड़े बजा करते थे और मदमस्त हाथी घूमा करते थे । वे वैभवशाली लोग भी ईश्वर के एक नाम के विना अपने जीवन को ससार में व्यर्थ ही खो बैठे ।

शब्दार्थ—मैगल = मदमस्त हाथी ।

ढोल दमामा दुड़ बड़ी, सहनाई संग मेरि ।

औसर चल्या बजाइ करि, है कोई राखै फेरि ॥ ३ ॥

संदर्भ—कोई भी सासारिक आकर्षण मृत्यु को रोकने में समर्थ नहीं है ।

भावार्थ—प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार ढोल, नगाड़ा डुगडुगी, सहनाई तथा मेठी को बजाते हुए मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं । उनका वैभव और ऐश्वर्य मृत्यु को रोकने में समर्थ नहीं हो पाता है ।

शब्दार्थ—डुडवडी = डुगडुगी ।

सातों शब्द जु बाजते, घरि घरि होते राग ।

ते मन्दिर खाली पड़े, बैसण लागे लाग ॥ ४ ॥

संदर्भ—मृत्यु संपूर्ण वैभवों को नष्ट कर देती है ।

भावार्थ—जिनके दरवाजे पर सप्तस्वरो का राग बजता था अर्थात् जहाँ वैभव का प्रत्येक उपकरण उपस्थित था आज वे वैभवपूर्ण महल भी खाली पड़े हैं उन पर आज घौए बैठे हुए हैं । उनका समस्त वैभव नष्ट हो गया है ।

शब्दार्थ—सातों शब्द = सप्त स्वर । बैसण = बैठने लगे ।

कपीर थोड़ा जीवडां, माड़े घहूत मँजण ।

सबही उभा मैलिह गया, राव रंक सुलितान ॥ ५ ॥

संदर्भ—मनुष्य जीवन को सुखमय बनाने के लिए नानाविध प्रयत्न करता है और वे सुख के नाशक पूर्ण भी नहीं हो पाते कि उनका विनाश हो जाता है ।

भावार्थ—एकदम दास तो कहने हैं कि यह जानते हुए भी कि जीवन क्षणिक है मनुष्य आनन्दोत्साह के अनेकानेक उपकरण जुटाना रहता है और पठार पाल के द्वारा यह क्षण भर में ही नष्ट कर दिया जाता है । यों, जिसका मृत्यु राजा सब इन ससार में विदा हो जाते हैं ।

शब्दार्थ—मंढे बहुत मंडाण = बड़े ठाट-वाट बांध दिए । उभा = खड़ा ।
मेल्हि गया = नष्ट हो गया ।

इक दिन ऐसा होइगा, सब सूँ पड़ै विछोह ।
राजा राणा छत्रपति, सावधान किन होइ ॥ ६ ॥

संदर्भ—संसार से वियोग अवश्यंभावी है इसलिए पहले ही व्यक्ति को सावधान हो जाना चाहिए ।

भावार्थ—एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा जब कि मनुष्य का सभी से वियोग हो जायेगा । अतएव हे राजाओ ! हे छत्र को धारण करने वालो । आप लोग आज ही सावधान क्यों नहीं हो जाते । ताकि बाद में पश्चात्ताप न करना पड़े ।

शब्दार्थ—किन = क्यों नहीं ।

कबीर पटण कारिवाँ, पंच चोर दस द्वार ।
जय राँगों गढ़ भेलिसी, सुमिरि लै करतार ॥७॥

संदर्भ—साग रूपक के द्वारा शरीर पर यमराज के आक्रमण को स्पष्ट किया गया है ।

भावार्थ—कबीरदास जी का कहना है कि यह शरीर रजी सार्थवाह है जो आत्मा रूपी घन को लेकर चल रहा है । इसके साथ पांच चोर (काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह) उस घन को चुराने के लिए चल रहे हैं । दस छिद्रो (५ कर्मेन्द्रियाँ और ५ ज्ञानेन्द्रियाँ) के होने के कारण इस शरीर रूपी कारवाँ की दशा और भी शोचनीय हो रही है यमराज इस दुर्ग को नष्ट करने के लिए इस पर आक्रमण अवश्य करेगा अतः ईश्वर का स्मरण करना चाहिए तभी रक्षा हो सकती है ।

शब्दार्थ—पाटण = नगर, शरीर । कारिवाँ = कारवाँ, सार्थवाह । पंच चोर = काम क्रोध, मद, लोभ, मोह । दसद्वार = दस छिद्र (दस इन्द्रिया = ५ कर्मेन्द्रियाँ ५ ज्ञानेन्द्रियाँ । यमराज = यमराज । भेलिसी = नष्ट करेगा ।

कबीर कहा गरवियों, इस जीवन की आस ।
टेसू फूले दिवस चारि, खंखर अये पलास ॥८॥

संदर्भ—क्षण भंगुर जीवन में अभिमान नहीं करना चाहिए ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि इस नश्वर शरीर और जीवन की आशा में मनुष्य को घमण्ड नहीं करना चाहिए । जिस प्रकार पलाश के वृक्ष में चार दिन के लिए अर्थात् थोड़े समय के लिए टेसू (पलाश के फूल) आ जाते हैं वह हरा-

भरा हो जाता है और फिर वह ठूँठ का ठूँठ ही रह जाता है । ठीक उसी प्रकार यह जीवन भी थोड़े दिनों, तक आभा विकर कर नष्ट हो जाता है ।

शब्दार्थ—खंखर = नष्ट हो जाते हैं ।

कबीर कहा गरवियौ, देही देखि सुरंग ।
बीछड़ियाँ मिलिबौ नहीं, ज्यूँ कांचली भुवंग ॥६॥

संदर्भ—शरीर को छोड़ने के बाद आत्मा उसमें प्रविष्ट नहीं होती इसलिए जीव को गर्व नहीं करना चाहिए ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि सुन्दर शरीर को पाकर-देखकर उस पर गर्व नहीं करना चाहिए क्योंकि जिस प्रकार सर्प केचुली को छोड़ने के बाद पुनः उसे नहीं धारण करता है उसी प्रकार आत्मा भी इस शरीर को छोड़ देने के बाद फिर उसमें नहीं प्रविष्ट होती है ।

शब्दार्थ—सुरंग = सुन्दर । बीछड़िया = विद्युक्त होने पर ।

कबीर कहा गरवियौ, ऊँचे देखि अवास ।
काल्हि परयूँ म्वै लेटणां, ऊपरि जामें घास ॥१०॥

संदर्भ—सासारिक ऐश्वर्य पर गर्व नहीं करना चाहिए ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं को देखकर उस पर गर्व नहीं करना चाहिए । जोव यह नहीं जानता कि जोघ्र ही उसे कम में लेटना पड़ेगा और कम के ऊपर घाम उग आएंगे तेरा सारा वैभव नष्ट हो जायेगा ।

शब्दार्थ—अवास = घर । म्वै = भू = पृथ्वी पर ।

कबीर कहा गरवियौ, चाँस पलेटे हड्ड ।
हैं घर ऊपरि छत्र सिरि, ते भी देवा खड्ड ॥११॥

संदर्भ—जीवन की नद्वरना का संकेत है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि नर्म में उँची हुई हड्डिया के मीदय पर, गर्व करना ठीक नहीं है । जो लोग श्रेष्ठ घोषो पर बैठकर और निर पर ध्व-धारण कर चलते हैं वे भी एक दिन कम में चले जाते हैं ।

शब्दार्थ—है घर (हव + घर) श्रेष्ठ घास । देवा = दिव जायने ।

कबीर कहा गरवियौ, काल गई पर फेस ।
नाँ जाणौ कटाँ मारिसौ, के घरि के परदेस ॥१२॥

संदर्भ—मृत्यु एक न एक दिन सभी को नष्ट कर देती है अतः मनुष्य को गवं नहीं करना चाहिए ।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि हे जीव तेरे बालो को मृत्यु अपने हाथो मे पकड़े हुए है फिर भी तू व्यर्थ मे गवं क्यों करता है । यह भी पता नहीं कि वह मृत्यु तुझे घर मे या परदेश मे कहां मारेगी ।

यहु ऐसा संसार है, जैसा सैवल फूल ।
दिन दस के व्यौहारको भूठै रंगि न भूलि ॥१३॥

सन्दर्भ—सेमर की फूल की भाँति इस नश्वर संसार पर गवं करना उचित नहीं है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि यह संसार उसी प्रकार है जिस प्रकार सेमर के फूल । सेमर का फूल ऊपर से ही आकर्षक होता है भीतर उसमे कोई तत्व नहीं होता है । इस थोड़े दिन के जीवन मे इसके भूठे दिखावे मे मनुष्य को अपनी वास्तविकता को नहीं भूल जाना चाहिए ।

शब्दार्थ—सैवल = सेमर का पुष्प । भूठै रंगि = भूठे आकर्षण । विशेष = उपमा अलंकार ।

जामण मरण विचारि करि, कूड़े कांम निवारि ।
जिनि पंथुं तुम्ह चालणं, सोई पंथ सँवारि ॥१४॥

संदर्भ—वासना प्रेरित कुमार्ग को छोड़कर मनुष्य को सुमार्ग को अपनाना चाहिए ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि हे मनुष्य ! तू जीवन मरण (आवा-गमन) को गम्भीरतापूर्वक विचार कर वासना जन्य कुकर्मों का परित्याग कर दे । जिस ऽभु-भवित के मार्ग पर तुझे अंततः चलना है तू उसे अभी से अपना ले ।

शब्दार्थ—जामण = जन्म । कूड़े—बुरे । चाल = चलना है सँवारि = संभाल ले ।

विन रखवाले वाहिरा, चिड़ियेँ खाया खेत ।
आधा प्रधा ऊवरै, चेति सकै तो चेति ॥१५॥

सन्दर्भ—जीव को सावधानी से मोक्ष-प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए ।

भावार्थ—हे मनुष्य ! सतगुरु रूपी रक्षक के अभाव मे तेरे मोक्ष रूपी खेत को कुछ तो काम श्लोधादि रूपी पाँच घोरो ने उठा लिया और कुछ वासना रूपी

चिडियो ने खा लिया । अब भी यदि मंगल चाहता है तो सावधान होकर प्रभु-भक्ति में प्रवृत्त होकर उसको थोडा बहुत बचा ले ।

शब्दार्थ—रखवाले = रक्षक, गुरु । चिडियै = वामना या माया के पक्षी ।
धाधा प्रधा = थोडा बहुत ।

हाड़ जलै ज्यूं लाकड़ी; केस जलै ज्यूं घास ।

सब तन जलता देखि करि, भया कवीर उदास ॥१६॥

सन्दर्भ—शरीर की क्षण भंगुरता देखकर कवीर को विरक्ति हो गयी है ।

भावार्थ—कवीर दास जी कहते हैं कि मरणोपरान्त इस शरीर की हड्डियाँ लकड़ी की भाँति और केश घास की तरह चिता के ऊपर जलते हैं । इस प्रकार समस्त शरीर को जलता हुआ देखकर कवीर दास यह समझकर कि इस जीवन में कुछ नहीं है इससे विरक्त हो गये ।

कवीर मन्दिर ढहि पड़या, सैंट भई सैंवार ।

कोइ चेजारा चिणि गया, मिल्या न दूजी वार ॥१७॥

संदर्भ—शरीर के नष्ट होने पर इसका बनाने वाला कारीगर इसकी मरम्मत नहीं करता वह बेकार ही हो जाता है ।

भावार्थ—कवीरदास जी कहते हैं कि सैकड़ों वार काम क्रीवादि रूपी चोरों ने इस शरीर रूपी मकान में सेंध लगाई है । जिसके कारण यह पूर्ण रूप से ढह कर गिर गया है । इसको चुनकर बनाने वाला कारीगर एक वार तो बना गया किन्तु छुगारा बनाने के लिए वह नहीं मिला ।

शब्दार्थ—चेजारा = चुनने वाला, राज ।

कवीर देखत ढहि पड़या, ईंट भई सैंवार ।

करि चिजारा सौ प्रीतिदी, ज्यूं ढहे न दूजी वार ॥१८॥

सन्दर्भ—ईश्वर से प्रेम करने पर मानव शरीर आधागमन में मुक्त होकर क्षमरता को प्राप्त होता है ।

भावार्थ—कवीर दास जी कहते हैं कि शरीर रूपी भवन को प्रत्येक ईंट-ईंट में सेंध लगा दी गई है जिसने सिद्धि होकर यह भवन उड़ गया है । इसनिष्पत्त में विरन्तन प्रभु रूपी कारीगर से प्रेम कर जिसमें दूसरी बात यह शरीर रूपी भवन फिर न उड़ जाय ।

शब्दार्थ—प्रीतिड़ी = प्रेम ।

कबीर मन्दिर लाष का, जड़िया हीरै लालि ॥
दिवस चारि का पेषणां, विनस जाइगा काल्हि ॥१६॥

सन्दर्भ—शरीर की साज सज्जा चन्द दिनों की है उसके बाद यह नष्ट हो जायेगा ।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि यह शरीर रूपी मंदिर लाख का बना हुआ है इसमें हीरे और लाल जड़े हुए हैं यह देखने में बहुत आकर्षक है किन्तु इसका यह आकर्षण शीघ्र ही नष्ट हो जायेगा और यह (पाण्डवों के) लाक्षा गृह के समान जलकर नष्ट हो जाएगा ।

शब्दार्थ—लाष = लाक्षा, लाख ।

कबीर धूलि सकेलि करि, पुड़ी ज बाँधी एह ।
दिवस चारि का पेषणां अन्ति षेह की षेह ॥२०॥

सन्दर्भ—रूपक के द्वारा शरीर की क्षण भंगुरता के प्रति सकेत है ।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि यह मानव शरीर धूल को इकट्ठा करके पुडिया के समान बाँध दिया गया है । इसकी साज-सज्जा कुछ ही दिनों की है [और अन्त में यह जिस मिट्टी से बना है उसी मिट्टी के रूप में परिवर्तित हो जाएगा ।

शब्दार्थ—सकेलि = एकत्रित कर । पुड़ी = पुडिया षेह = धूल ।

कबीर जे धन्धै तौ धूलि, विन धधै धूलै नहीं ।
तैं नर विनहे मूलि, जिनि, धधै मै ध्याया नहीं ॥२१॥

सन्दर्भ—प्रभु प्राप्ति संसार में रहकर ही सम्भव है ।

भावार्थ—कबीर का कहना है कि जो मनुष्य इस संसार में सत्कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं उनकी आत्मा स्वच्छ हो जाती है क्योंकि बिना कर्मों के आत्मा स्वच्छ नहीं हो सकती । वे मनुष्य तो जाते ही नष्ट हो गये जो इस संसार में कर्मों में प्रवृत्त होते हुए ईश्वर का स्मरण नहीं करते ।

शब्दार्थ—धधै = कर्म । धूलि = धुलना । विनठे = नष्ट हो गये ।

कबीर सुपनै रैनि कै, उधड़ि आए नैन ।
जीव पढ्या बहु लूटि मै, जागै तौ लैण नदैन ॥२२॥

सन्दर्भ—अज्ञान के कारण ही जीव माया के भ्रम में पड़ा रहता है किन्तु ज्ञान रूपी जागृति होने पर वह माया के बन्धन से मुक्त हो जाता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि जीवात्मा के अज्ञान रूपी रात्रि में सोते-सोते सहसा नेत्र खुल गये । सुप्तावस्था में वह नाना प्रकार के लेन देन में पड़ा हुआ था और जागते ही (ज्ञान प्राप्त होते ही) यह संसार के लेन देन से मुक्त हो गया ।

कबीर सुपनै रैनिकै, पारस जीय में छेक ।

जे सोऊँ तौ दोइ जणां, जे जागूँ तौ एक ॥२३॥

सन्दर्भ—ब्रह्म और जीव का भेद माया के कारण ही होता है । ज्ञान प्राप्त हो जाने पर यह भेद समाप्त हो जाता है ।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि अज्ञान रूपी रात्रि में माया के स्वप्न देखने के कारण पारस्वरूप ब्रह्म और जीव में अन्तर स्थापित हो गया । यही कारण है कि अज्ञान की सुप्तावस्था में मुझमें और परमात्मा में भेद हो जाता है और ज्ञान की जागृतावस्था में कोई भेद नहीं रहता एकलपता स्थापित हो जाती है ।

शब्दार्थ = छेक = भेद ।

कबीर इस संसार में, घणै मनिष मत हीण ।

राम नाम जाणै नहीं, आया टापा दीन ॥२४॥

सन्दर्भ—ढोगियो और तिलकधारियो के प्रति व्यग्य है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि हम संसार में अनेको मनुष्य बुद्धिहीन हैं वह राम नाम के वास्तविक तत्व को न जान कर तिलक आदि लगाकर ही ईश्वर-भक्त बनना चाहते हैं । संसार को घोखा देना चाहते हैं ।”

शब्दार्थ—घणै = अत्यधिक । टापा = कासा देना, घोखा देना ।

कहा कियो हम आइ करि, कहा कहेंगे जाइ ।

इत के भये न उतके, चाले मूल गँवाउ ॥२५॥

सन्दर्भ—जीव हम संसार में बाहर परलोक गुप्त करने के कर्म कम करता है ।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि हमने इन संसार में बाहर आत्मा को गुप्त के लिए कौन-कौन से कर्म किए हैं जिनको कि करने के बाद ईश्वर के मनुष्य

वतलायेंगे । हमने न तो ऐसे कर्म किये हैं जिनसे इस लोक का जीवन सुधरता और न ऐसे सत्कर्म किए हैं कि परलोक का मार्ग ही सुधरता । अतः हम तो कही के न हुए जो पवित्र आत्मा परमात्मा से प्राप्त हुई थी वह भी गंवा बैठे ।

आया अण आया भया, जे बहुरता संसार ।

पड़्या भुलांवां गाफिला, गये कुबधी हारि ॥२६॥

सन्दर्भ—जो व्यक्ति संसार में आकर माया के आकर्षण में ही पड़े रहते हैं उनका जीवन व्यर्थ हो जाता है ।

भावार्थ—इस संसार में आकर जो व्यक्ति नाना प्रकार के सासारिक आकर्षणों में आकर पड़ जाते हैं वह संसार में आकर भी न आने के समान मृत तुल्य है । वह भ्रम में पड़ा हुआ बेहोश है और दुष्ट बुद्धि पराजित हो चुके हैं ।

शब्दार्थ—अण आया = न आने के समान । भुलांवा = भ्रम में । कुबधी = बुरी बुद्धि ।

कबीर हरि की भगति बिन, धिग जीवण संसार ।

धूँवा केरा धौलहर, जात न लागै बार ॥२७॥

सन्दर्भ—प्रभु भक्ति के बिना जीवन भारण व्यर्थ है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि ईश्वर भक्ति के बिना इस संसार में जीवित रहना घृणास्पद है । मनुष्य को प्रभु भक्ति करनी ही चाहिए क्योंकि यह शरीर घुएँ के महल के समान है जिसके बिगड़ने में तनिक भी देर नहीं लगती है ।

विशेष--(१) उपमा अलंकार

(२) 'धुआँ कैसे धौलहर देखि तू न भूलिरे ।'

विनय पत्रिका में तुलसी ने भी इसका प्रयोग किया है ।

शब्दार्थ—धिग = धिक्कार । धौलहर = महल । जात = नष्ट होते ।

जिहि हरि की चोरी करी, गये राम गुंण भूलि ।

ते विधना वागुल रचे, रहे अरघ मुखि भूलि ॥२८॥

सन्दर्भ--प्रभु भक्ति के बिना जीवन व्यर्थ होता है ।

भावार्थ—जिन मनुष्यों ने इस संसार में आकर ब्रह्म के प्रति भी विश्वासघात किया है उनके गुणों को भूल जाते हैं । उन्हीं को विधाता वागुले का जन्म दे देता है जो लज्जावश अपना मुख नीचा किये खड़े रहते हैं ।

माटी मलण कुंभार की घणी सहै सिरि लाव ।
इहि औसरि चेत्या नहीं, चूका अब की वात ॥२६॥

सन्दर्भ—जो मनुष्य इस संसार में आकर आवागमन के चक्र से छूटने के लिए प्रयास नहीं करता वह फिर मुक्त नहीं हो पाता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार कुम्हार की मिट्टी को मलते समय अनेको लातें खानी पड़ती हैं ठीक उसी प्रकार मनुष्य को भी नाना प्रकार की यातनायें भोगनी पड़ती हैं इस लिए हे जीव यदि तू इस जन्म में सावधान नहीं हुआ तो पुनः इस प्रकार का स्वर्णम अवसर मिलना मुश्किल है ।

इहि औसरि चेत्या नहीं, पसु व्युं पाली देह ।
राम नाम जांण्यां नहीं, अंति पड़ी मुख पेह ॥३०॥

सन्दर्भ—मनुष्य योनि में जो अपने को मुक्त न कर सका उसका जीवन ही नष्ट हो जाता है ।

भावार्थ—इस मनुष्य योनि में जिस व्यक्ति को चेत नहीं आया, परलोक को सुधारने की चेष्टा नहीं की और पशुओं के समान देह को ही पालता रहा अर्थात् पाशविक प्रवृत्तियों में ही लगा रहा । जीवन भर राम के महत्व को न पहिचान पाने के कारण अन्त समय में तुम्हें नष्ट होकर मिट्टी में मिल जाना पड़ेगा ।

शब्दार्थ—पेह = मिट्टी, घून ।

राम नाम जांण्योँ नहीं, लागी मोटी पोड़ि ।
काया हाँडी काठकी, ना ऊँ चढ़ै चहोड़ि ॥३१॥

सन्दर्भ—मनुष्य जीवन बार-बार नहीं मिलता अतः प्रभु-भक्ति इसी जीवन में कर लेनी चाहिए ।

भावार्थ—जीवन भर राम नाम के महत्व को नहीं जाना । गान्धारिक प्रपञ्चों की मोटी लह जमा हो गई जिस प्रकार काठ की हाँडी एक ही बार पड़ गई जा सकती है पुनः वह घटाने योग्य नहीं रह जाती है उसी प्रकार यह जमीर भी पुनः प्राप्त नहीं हो सकता है ।

शब्दार्थ—पोड़ि = दोष । चहोड़ि = बहोड़ि = घून. दूधरी धार ।

राम नाम जांण्यां नहीं, याव यिनंठी मूल ।
परत हाँ ही दारिया परति पड़ी मुख धूलि ॥३२॥

संदर्भ—मनुष्य को अपनी शक्ति संसार के व्यर्थ कार्यों में नष्ट न कर प्रभु भक्ति में ध्यान लगाना चाहिए ।

भावार्थ—हे जीवात्मा ! तूने राम नाम के तत्व को नहीं जाना और इस प्रकार जड़ से ही बात को बिगाड़ दिया । व्यर्थ के सासारिक धन्धों में तू यहाँ पर ईश्वर को ही हार गया अब मरने के अवसर पर तेरे मुख में धूलि के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

शब्दार्थ—विनेटी = नष्ट कर दो ।

राम नाम जाण्याँ नहीं, पाल्यो कटक कुटुम्ब ।

धन्धा ही में मरि गया, बाहर हुई न बम्ब ॥३३॥

सन्दर्भ—सासारिक झूझटों में जीवन का अन्त हो जाता है किन्तु अहंकार के कारण राम नाम का स्मरण नहीं हो पाता है ।

भावार्थ—हे जीवात्मा ! तुमने राम नाम का स्मरण नहीं किया । सेना के समान छपने कुटुम्ब के पालन में ही 'जूझटा रहा । इस प्रकार सासारिक झूझटों में उलझते हुए जीवन का अंत हो गया किन्तु अहंकार से मुक्ति फिर भी न मिली ।

शब्दार्थ—कटक = सेना । बंब = नगाड़ा, यहाँ अहं से तात्पर्य है ।

मनिषा जन्म दुर्लभ है, देह न बारम्बार ।

तरवर थै फल झड़ि पड़्या, बहुरि न लागै डार ॥३४॥

सन्दर्भ—मनुष्य का जन्म बार-बार नहीं प्राप्त होता है ।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि यह मानव जन्म बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है और यह शरीर बारम्बार नहीं प्राप्त होता है । जिस प्रकार एक बार वृक्ष से फल गिर जाने के बाद उसी शाखा में फिर से नहीं लग सकता उसी प्रकार मनुष्य देह भी दुबारा नहीं मिल पाती है ।

शब्दार्थ—मनिषा = मानव का ।

कबीर हरि की भगति करि, तजि विषिया रस चोज ।

बार-बार नहीं पाइये, मनिषा जन्म की मौज ॥३५॥

सन्दर्भ—मानव जन्म के बार-बार न मिल पाने के कारण जीव को ईश्वर स्मरण में समय व्यतीत करना चाहिए ।

भावार्थ—कबीर का कहना है कि मानव जन्म-प्राप्ति का सौभाग्य बारम्बार प्राप्त नहीं होता अतः हे जीवात्मा । विषय वासना युक्त माया पूर्ण क्षणिक

आनन्द और सुखो का परित्याग कर प्रभु भक्ति में प्रवृत्त होगा वही वास्तविक आनन्द है ।

शब्दार्थ—रस चोज = आनन्दोत्साह ।

कवीर यहु तन जात है, सकै तौ ठाहर लाइ ।
कै सेवा करि साधकी, कै गुण गोविन्द के गाइ ॥३६॥

सन्दर्भ—जीव को प्रभु भक्ति और सत्संगति करनी चाहिए ।

भावार्थ—कवीर दाम जी कहते हैं कि यह शरीर नश्वर है शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाला है अतः यदि तू इसे उचित कार्य में लगा सके तो लगा ले । या तो तू साधुओं की सेवा में अपने मन और शरीर को लगा दे या फिर परमात्मा के गुणानुवाद कर ताकि तेरा परलोक सुधर जाय ।

विशेष—तुनसी ने भी लिखा है कि--

“धिनु सत्संग विवेक न होई ।
राम कृपा विन सुलभ न सोई ॥”

—मानस

शब्दार्थ—ठाहर लाइ = उचित कार्य में लगाना ।

कवीर यह तन जात है, सकै तौ लेहु बहोडि ।
नागे हाथूँ ते गये, जिनके लाख करोडि ॥ ३७ ॥

सन्दर्भ—परलोक का ध्यान रखना जीवात्मा का परम लक्ष्य है ।

भावार्थ—कवीर दाम जी कहते हैं कि यह शरीर व्यय में ही नष्ट होता जा रहा है अब भी यदि इसका उद्धार करना चाहो तो अच्छे कर्मों में प्रवृत्त करो ससार में माया के पीछे भावला बना क्यों फिरता है जिनके पास लाखों और करोड़ों की सम्पदा थी वह भी मृत्यु के समय खाली हाथ ही यहाँ से चले गये ।

विशेष—(१) दृष्टान्त धनकार ।

(२) तुनना कीविए ।

इकट्ठे गर जहाँ जर सभी मुन्कों के माली थे ।

सिकन्दर जय चला दुनिया से दोनों हाथ गाली थे ।

शब्दार्थ—बहोडि = बहोरि = पुनः । नागे = गली ।

यह तुनु काचा कुंभ है, पोट घरे दिनि म्याइ ।

एकराम के नाथ दिन, जदि तदि प्रलै जाइ । ३८ ॥

संदर्भ—ईश्वर के नाम-स्मरण के बिना इस शरीर को नानाविधि यातनाएं भोगनी पड़ती हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार कुम्भकार का कच्चा घड़ा कुम्भकार की थपकी की चोट खाता रहता है उसी प्रकार यह शरीर भी सासारिक यातनाओं को सह रहा है । केवल राम नाम के अवलम्ब के बिना यह जब तब संसार में जन्म लेकर नाना प्रकार के कष्ट पाता है ।

विशेषः—रूपक धलंकार ।

शब्दार्थ—जदि तदि = जब तब ।

यह तन काचा कुंभ है, लियां फिरै था साधि ।

ढवका लागा फूटि गया, कछू न आया हाधि ॥ ३६ ॥

संदर्भ—शरीर का भविष्य अनिश्चित है ।

भावार्थ—कुम्भकार का कच्चा घड़ा जिसे वह हाथ में लिए रहता है कोमल होने के कारण तनिक सी चोट लगने के कारण फूट जाता है और अस्तित्वहीन होने के कारण फिर हाथ में कुछ नहीं रहता उसी प्रकार इस शरीर का भविष्य भी अनिश्चित होता है यह भी किसी समय नष्ट हो सकता है और नष्ट होने पर कुछ भी हाथ में नहीं आता है ।

शब्दार्थ—ढवका = हल्की सी चोट ।

काँची कारी जिनि करै, दिन दिन बधै बियाधि ।

राम कबीरे रुचि गई, याही ओषदि साधि ॥ ४० ॥

संदर्भ—सासारिक तापो को औषधि एक मात्र प्रभु भक्ति ही है ।

भावार्थ—हे जीवात्मा ! तू अपनी शरीर रूपी केंचुली को वासना से मत कलकित कर । काल रूपी शिकारी दिन प्रति दिन तुझे मार रहा है । कबीर दास जी ने तो अपनी रुचि ईश्वर भक्ति की ओर मोड़ दी है । हे प्राणी ! तू भी उसी औषधि का सेवन कर ।

शब्दार्थ—काँची = केंचुली । बियाधि = बहेलिया, शिकारी ।

कबीर अपने जीव तैं, ऐ दोइ वार्तैं धोइ ।

लोभ बड़ाई कारणैं, अछता मूल न खोइ ॥ ४१ ॥

संदर्भ—लोभ और दप से ही प्रभु भक्ति में बाधा पड़ती है ।

भावार्थ—कवीर दास जी कहते हैं कि हे जीव ! तू अपने मन से दो बातों को बिल्कुल निकाल दे एक तो लोभ और दूसरे आत्म-प्रशंसा से उत्पन्न अहंकार । इन्ही दो वस्तुओं के कारण अपने अमूल्य धन परमात्मा को मत खो ।

शब्दार्थ—जीवतैं = मन से । अछता = पास का ।

खंभा एक गइंद दोइ, क्यूं करि बंधिसि वारि ।
मानि करै तौ पीव नहीं, पीव तौ मानि निवारि ॥ ४२ ॥

सन्दर्भ—प्रभु-भक्ति और अहं की भावना दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते हैं ।

भावार्थ—कवीर दास जी कहते हैं कि हे जीव ! तेरे पास हृदय रूपी खम्भा तो एक है और उस खम्भे में बांधने के लिए दो हाथी प्रभु-भक्ति और अहं हैं । वे दोनों एक ही खम्भे से कैसे बांधे जा सकते हैं । यदि तू अहं की सम्मान की रक्षा करना चाहेगा तो प्रभु प्राप्ति नहीं पावेगी और यदि प्रियतम—परमात्मा—को प्राप्त करना चाहेगा तो अहं का परित्याग करना पड़ेगा ।

शब्दार्थ—गइंद = गयंद = हाथी ।

दीन गेंवाया दुनीं सौ, दुनी न चाली साथि ।
पाँइ कुहाड़ा मारिया, गाफिल अपणै हाथि ॥ ४३ ॥

सन्दर्भ—ससार के आकर्षण मरते समय नहीं काम देते हैं उस समय तो प्रभु-भक्ति ही काम देती है ।

भावार्थ—जीवात्मा ने सासारिक माया आकर्षणों में लिप्त रह कर प्रभु को भुला दिया किन्तु मरने पर वह सासारिक प्रलोभन एक भी जीव के साथ नहीं जाते हैं । इस प्रकार जीवात्मा ने गाफिल होकर स्वयं अपने पैरों में फुल्हाटो मार ली है अपनी उन्नति का मार्ग खवच्छ कर लिया है ।

शब्दार्थ—दीन = धर्म । दुनी = दुनिया ।

यहु तन तौं नय धन भया, करम भण कुहाटि ।
आप आप कूँ काटि हैं, कइ कवीर विचारि ॥ ४४ ॥

सन्दर्भ—कर्मों का धन जीव को भोगना नहीं पटा है ।

भावार्थ—यह सम्पूर्ण परीर धन से समान है और उन्हीं काटों के लिए जीव के कर्मों को फुल्हाटो प्रस्तुत है । कवीर दास जी विचार कर कहते हैं कि तू धन

अपने कर्मों की कुल्हाड़ी से अपने ही शरीर को काट रहा है। जीवन को नष्ट कर रहा है।

विशेष—(१) तुलना कीजिए—

“कोउ न कहु सुख दुख कर दाता ।
निज कृत कर्म भोग सुनु भ्राता ॥”

—मानस

(२) रूपक अलंकार ।

शब्दार्थ—कुहाडि = कुल्हाडा ।

कुल खोयां कुल ऊबरै, कुल राख्यां कुल जाइ ।
राम निकुल कुल मेंटि लै, सब कुल रह्या समाइ ॥ ४५ ॥

सन्दर्भ—माया जन्य आकर्षणों को भुलाकर ही ब्रह्म-प्राप्ति संभव है ।

भावार्थ—सासारिक वैभवों का त्याग करके ही सार तत्व ब्रह्म की प्राप्ति संभव है और यदि सासारिक वैभवों की ही रक्षा का प्रयास किया गया तो ईश्वर-प्राप्ति असंभव है इसलिए हे जीव ! तू सांसारिक आकर्षणों से विरक्त होकर ब्रह्म से मिल ले क्योंकि सारा संसार उसी में समाया हुआ है ।

विशेष—कुल के दो अर्थ होने से यमक अलंकार ।

शब्दार्थ—कुल = सासारिक वैभव । कुल = सारतत्व प्रभु । निकुल = कुल रहित होकर, सासारिक प्रलोभनों से विरक्त होकर । कुल = समस्त आनंद के साधन ।

दुनिया के धोखे मुवा, चलै जु कुल की कांणि ।
तब कुल किसका लाजसी, जब ले धर्या मसांणि ॥ ४६ ॥

सन्दर्भ—जीव ने यदि प्रभु-भक्ति, साधु सेवा आदि सुकृत्य किये होते तो उसका नाश न होता ।

भावार्थ—जो व्यक्ति कुल की मर्यादा आदि के प्रपंचों को लेकर चला वह सांसारिक भ्रमों का शिकार होकर मर गया । मृत्यु हो जाने पर जब शव को ले जाकर श्मशान की अपवित्र भूमि में रख दिया जाता है तब किसका कुल लज्जित होता है ? अर्थात् किसी का नहीं ।

शब्दार्थ—काणि = मर्यादा, गौरव । लाजसी = लज्जा करता है । मसांणि = श्मशान ।

दुनियाँ भाँडा दुख का, भरी मुहांमुह भूप ।
अदया अलह राम की, कुरही ऊँगी कूप ॥ ४७ ॥

सन्दर्भ—सब कुछ राम की कृपा से ही प्राप्त होता है ।

भावार्थ—यह संसार और कुछ नहीं केवल दुखों का पात्र (स्थान) है जो नीचे से ऊपर तक अभावों से पूर्ण रूपेण भरा हुआ है । श्रेष्ठ राम और अल्लाह की कृपा के बिना बड़े-बड़े कोषागारों के रहते हुए भी जीवात्मा को अभावों का शिकार होना पड़ता है ।

शब्दार्थ—भाँडा = बर्तन । अदया = कृपा बिना । अलह = अल्लाह ।

जिहि जेवणी जग वँधिया, तू जिनि वधे कवीर ।
हैसी आटा लूँण ज्यूँ, सोना सेवा शरीर ॥४८॥

सन्दर्भ—माया के बंधन में पड़ने से जीव की मुक्ति नहीं होती है । उसे आवागमन, के चक्र में पडकर सासारिक यातनएँ सहनी पडती हैं ।

भावार्थ—कवीरदास जी अपने को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि जिस माया की रस्ती से सारा संसार बँधा हुआ है उससे तू अपने को मत बाँध अर्थात् तू माया के प्रलोभन में न पडा । जिस प्रकार आटे की लोई को हाथों के मुक्के सहने पडते हैं उसी प्रकार तू भी कंचन के समान शुद्ध शरीर का होकर भी माया के बंधन में होकर सासारिक यातना के प्रबल आघातों को बारम्बार सहेगा ।

शब्दार्थ—जेवणी = रस्ती, माया बंधन । लूँण = आटे की लोई ।

कहत सुनत जग जात है, विषे न सुभै काल ।
कवीर प्याले प्रेम कै, भरि भरि पियै रसाल ॥४९॥

संदर्भ—माया के परिणाम को जान सुनकर के भी जीव उसके आवरण से मुक्त नहीं हो पाता है ।

भावार्थ—इस संसार के सभी प्राणी माया से मुक्त होने का उपदेश देते और सुनते हुए भी एक-एक कर उनी विषय वासना के मार्ग पर चलते जाते हैं उनमें उन्हें अपना विनाश दिखाई ही नहीं देता किन्तु कवीर ऐसे साधु व्यक्ति प्रभु-प्रेम रस के प्यालों को भर-भर कर पी रहे हैं और अमित आनन्द की प्राप्ति कर रहे हैं ।

शब्दार्थ—विषे = विषय वासना ।

कवीर हृद के जीव सुँ, हित करि सुग्यां न पोलि ।
जे लागे वेतइ सुँ, तिन सुँ अंतर प्योलि ॥५०॥

संदर्भ—प्रभु भक्तों से ही अन्तःकरण की बात कहनी चाहिए ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं, कि संसार के माया में लिप्त प्राणियों से प्रेम पूर्वक वार्तालाप नहीं करना चाहिए । इसके अतिरिक्त जो असीम परमात्मा की प्राप्ति में सन्नद्ध हैं ऐसे प्रभु-भक्तों से अपने अन्तःकरण की बात भी कह देनी चाहिए ।

शब्दार्थ—हृद के जीव सूँ = सांसारिक मनुष्य से बेहद = असीम, निस्सीम ।

कबीर केवल राम की, तूँ जिनि छाड़ै ओट ।

घण अहरणि विधि लोइ ज्युँ, घणीं सहैँ सिर चोट ॥५१॥

सन्दर्भ—प्रभु = आश्रय से विमुक्त प्राणियों को नानाविध यातनाएँ सहनी पड़ती हैं ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि हे जीवात्मा । तू राम का परमात्मा का आश्रय कभी मत छोड़ और यदि तू ब्रह्म को विस्मृत कर देगा तो जिस प्रकार घन और छेनी के बीच लोहे को अनेकों चोटों सहनी पड़ती हैं उसी प्रकार तुझे भी नाना प्रकार की सांसारिक यातनाएँ सहनी पड़ेगी ।

शब्दार्थ—अहरणि = छेनी ।

कबीर केवल राम कहि, सुध गरीबी भालि ।

कूड़ बड़ाई कूड़सी, भारी पड़सी काल्हि ॥५२॥

संदर्भ—राम नाम को भुलाकर झूठे बड़प्पन में डूब जाने से जीव को बड़े कष्ट सहन करने पड़ते हैं ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि हे जीव । तू राम नाम का स्मरण करते हुए अपनी गरीबी में ही प्रसन्न रह । भवसागर में डुबाने वाले मिथ्या सांसारिक वैभवों में यदि तू पड़ गया तो भविष्य में तेरे ऊपर भारी विपत्त आवेगी और निश्चित रूप से तेरा पतन होगा ।

शब्दार्थ—भालिह = झेलने । कूड़ = व्यर्थ के, मिथ्या ।

काया मंजन क्या करै, कपड़ धोइम धोइ ।

उजल हुआ न छूटिये, सुख नींदड़ी न सोइ ॥ ५३ ॥

सन्दर्भ—शरीर और कपड़ों की शुद्धता से ही आत्मा पवित्र नहीं होती । मन की शुद्धि ही वास्तविक शुद्धि है ।

भावार्थ—कवीरदास जी कहते हैं कि हे जीव ! तू कपडो को धो-वोकर शरीर को स्वच्छ कर रहा है किंतु ऐसी सफाई से क्या लाभ ? वास्तविक पवित्रता आंतरिक पवित्रता है । इस बाह्य स्वच्छता से संसार से मुक्ति नहीं होगी इसलिए सुख की निद्रा में मत पड़ा रह ।

शब्दार्थ—मंजन = स्नान । छूटिए = मुक्त होना ।

ऊजल कपड़ा पहरि करि, पान सुपारी खाँहि ।

एकै हरि का नाँव विन, बाँधे जमपुरि जाँहि ॥ ५४ ॥

संदर्भ—ईश्वर के नाम स्मरण के बिना जीवको यमपुर की यातनायें भुगतनी पड़ती हैं ।

भावार्थ—जो व्यक्ति श्वेत स्वच्छ वस्त्र धारण कर पान सुपारी खाकर अपना जीवन व्यतीत करते रहते हैं वे एक ईश्वर के नाम-स्मरण के बिना यमपुर के बंधनों में जकड़ दिए जाते हैं ।

तेरा संगी को नहीं, सब स्वारथ बँधी लोइ ॥

मन परतीति न ऊपजै, जीव विसास न होइ ॥ ५५ ॥

संदर्भ—बिना ईश्वर की प्रतीति के जीवात्मा को मुक्ति नहीं मिलती ।

भावार्थ—हे जीव ! जिनको तू अपना संगी साथी मानता है वे कोई तुम्हारे साथी नहीं है । वे सब तो स्वार्थ में बंधे हुए हैं । जब तक मन में ईश्वर की प्रतीति नहीं होती है तब तक जीवात्मा को मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती है ।

शब्दार्थ—बँधी = बंधे हुए । लोई = लोग ।

माँइ बिड़ाणी वाप बिड़, हम भी मँफि बिड़ोइ ।

दरिया केरी नाव ज्यूँ, सँजोगे मिलियाँइ ॥ ५६ ॥

संदर्भ—इस संसार में सभी प्राणी अज्ञानक मिल जाते हैं और फिर विमुक्त हो जाते हैं ।

शब्दार्थ—इन संसार के सभी मग्न मिथ्या हैं । माता-पिता, सब नष्ट होने वाले हैं हम भी इन संसार में एक दिन नष्ट हो जायेंगे । यह संसार नदी की नाव के समान है जिसमें सब संपन्धी और मित्र अज्ञानक संयोग मिल भी जाते हैं और विमुक्त भी हो जाते हैं ।

शब्दार्थ—बिटाणी = नष्ट होने वाली है ।

इत प्रधर, उत घर, बण जण आये हाट ।
करम किराणां बेचि करि, उठि ज लागे बाट ॥ ५७ ॥

सन्दर्भ—इस संसार में आकर लोग कर्मों का फल भोग कर फिर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं ।

भावार्थ—जीवात्मा का घर तो ब्रह्म के पास ही है यह संसार तो उसके लिए परदेश है । लोग इस संसार में कर्मों का व्यापार करने के लिए आते हैं और कर्मों का किराना—कर्म फल प्राप्त करके बेचकर सब उसी मार्ग का अवलम्बन करते हैं ।

शब्दार्थ—प्रधर = पर घर, संसार । बर = ब्रह्म ।

नांहां काती चित दे महँगे मोलि बिकाइ ।

गाहक राजा राम है और न नेड़ा आइ ॥ ५८ ॥

सन्दर्भ—कर्मों के अनुसार फल देना परमात्मा का ही काम है ।

भावार्थ—हे जीवात्मा ! तू खूब मन लगाकर सतकर्मों का पतला सूत कात जिससे तुझे अच्छी कीमत प्राप्त होगी । उस कर्म रूपी सूत को लेने वाले केवल राम ही हैं अन्य लोग तो पास आने का साहस भी करते हैं ।

शब्दार्थ—नांहां = पतला । सूत = धागा काम से तात्पर्य है । नेड़ा = समीप ।

डागल ऊपरि दौड़णाँ, सुख निदणीं न सोइ ।

पूने पाये चौहडे ओछी ठौर न कोइ ॥ ५९ ॥

सन्दर्भ—जीवन को प्रभु भक्ति में ही लगाना चाहिए, व्यर्थ में नहीं खोना चाहिए ।

भावार्थ—हे मनुष्य ! तुम्हको ऊबड़ खाबड़ भूमि पर दौड़ना है कठिन साधना करनी है । सुख निद्रा में अचेत हो कर मत सो । यह मानव शरीर अनेकानेक सुकर्मों के परिणाम स्वरूप प्राप्त हुआ है प्रभु-भक्ति के बिना इसे व्यर्थ मत खो ।

शब्दार्थ—डागल = ऊबड़ खाबड़ भूमि । चौहडे = देवालय (यहाँ मानव शरीर से तात्पर्य है ।)

मैं मैं बड़ी [बलाइ है, सकै जौ निकसी भाजि ।

कव लग राखौं हे सखी, रुई पलेटी आगि ॥ ६० ॥

सन्दर्भ—अहंकार किसी न किसी दिन प्रकट होकर जीव को नष्ट कर देता है ।

भावार्थ—अहंकार बहुत ही भयानक वस्तु है। इसका शीघ्र ही विनाश कर देना चाहिए अन्यथा यह व्यक्ति को ही नष्ट कर देगा। जिस प्रकार रूईमे लिपटी हुई अग्नि कब तक सुरक्षित रह सकती है वह थोड़े ही समय में रूई को भस्मकर बाहर प्रकट हो जाती है उसी प्रकार अहंकार भी कब तक छिपा हुआ रहेगा एक न एक दिन वह प्रकट होवेगा ही।

शब्दार्थ—मैं मैं = अह। वलाई = वला।

मैं मैं मेरी जिनि करै, मेरी मूल विनास।

मेरी पग का षैषड़ा, मेरी गल की पास ॥ ६१ ॥

सन्दर्भ—अहंकार मनुष्य का विनाश का मूल कारण है।

भावार्थ—हे जीव तू अहंकार का परित्याग कर दे क्योंकि अहंकार आत्मा के विनाश का कारण है। अहं भाव ही जीव के पैरो का बन्धन है और गले में पड़े हुए फाँसी के फन्दे के समान है।

शब्दार्थ—षैषड़ा = बंधन। पास = पाश, फाँसी का फन्दा।

कबीर नाव जरजरी, कूड़े खेवणाहार।

हलके हलके तिरि गए, बूड़े तिनि सिर भार ॥ ६२ ॥

सन्दर्भ—जो पापों के बोझ से लदे नहीं होते हैं वे ही संसार सागर को पार कर पाते हैं।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि जीवन रूपी नाव अत्यन्त जरजर है और उसका खेने वाला नाविक अत्यन्त कूड़ा है, बेकार है। ऐसी अवस्था में जो व्यक्ति हलके हैं जिनके ऊपर पापों का बोझ कम है वे तो संसार सागर से पार उतर गए और जिनके सर पर पापों का बोझ लदा हुआ था वे उसी भव सागर में डूब गए।

शब्दार्थ—कूड़े = रद्दी, बेकार। हलके हलके = शुद्धात्मा वाले।

१३. मन को अङ्ग

मन कै मते न चालिए, छाँड़ि जीव की बाँणिं ।
ताकू केरे सूत व्यूँ, बलटि अपूठा आँणिं ॥१॥

सन्दर्भ—जीव ब्रह्म का ही अंग है उसे संसार से हटाकर ब्रह्म में ही लगा देना चाहिए ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि हे जीव ! तू मन की इच्छानुसार न चल । मन की विषय वासना में लिप्त रहने की आदत छोड़ा दे । जिस प्रकार तक्रुआ का सूत उससे निकाल कर फिर उसी से लपेट दिया जाता है उसी प्रकार तू अपने मन को संसार से विरक्त करके ब्रह्मा से लगा दे ।

शब्दार्थ—बाँणि = आदत, स्वभाव । अपूठा = कच्चा ।

चिंता चित्ति निवारिये, फिरि बूझिये न कोइ ।
इंद्री पसर मिटाइये, सहजि मिलैगा सोइ ॥२॥

संदर्भ—सासारिक चिन्ताओं को छोड़ देने से परमात्मा स्वयं ही प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थ—अपने मन से संसार की नाना प्रकार की चिन्ताओं को त्याग देने पर फिर किसी की भी परवाह नहीं रहती है । इन्द्रियों से उत्पन्न विषय वासना रूपी सुख के फैलाव को समाप्त कर देने पर वह परमात्मा बड़ी ही सरलता से प्राप्त हो जाता है ।

शब्दार्थ—चिन्ता = सासारिक चिन्ताएं । सहजि = आसानी से ।

आशा का ईंधण करूँ, मनसा करूँ विभूति ।
जोगी फेरी फिल करौ, यौँ बिननाँ वै सूति ॥३॥

सन्दर्भ—सत्कर्मों के द्वारा ही ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है ।

भावार्थ—आशा का परित्याग कर उसको ईंधन के रूप में प्रयोग कर मन के अहंकार को जला कर भस्म कर दूँ और योगी बनकर संसार से विरक्त होकर परमात्मा की खोज में इधर-उधर चक्कर काटता रहूँ । इस प्रकार अच्छे कर्मों रूपी सूत को कात करके ही परमात्मा की प्राप्ति सम्भव हो सकती है ।

विशेष—रूपक अलंकार ।

कवीर सेरी सांरुड़ी, चंचल मनवां चोर ।
गुंण गावै लैलीन होइ, कछू एक मन में ओर ॥४॥

सन्दर्भ—मन मे नाना प्रकार की इच्छाएं भरी रहती हैं इसीलिए प्रभु-प्राप्ति नहीं हो पाती है ।

भावार्थ—कवीरदास जो कहते हैं कि परमात्मा के समीप पहुंचने का मार्ग बहुत संकरा है । मन चंचल है और चोर के समान लोभी वृत्ति का है । ऊपर से तो यह भगवान के गुणानुवाद गाता है किन्तु आन्तरिक मन मे अनेकानेक इच्छाएं व्याप्त हैं और इसी कारण प्रभु-प्राप्ति मे बाधा पडती है ।

शब्दार्थ—सेरी = मार्ग । लैलीन = तल्लीन ।

कवीर मारुं मन कूँ, टुक टुक हूँ जाइ ।
विप की क्यारी बोह करि, लुणत कहा पछिताइ ॥५॥

सन्दर्भ—बुरे कर्मों का परिणाम बुरा ही होता है किन्तु परिणाम भोगने में कष्ट होता है ।

भावार्थ - कवीरदास जो कहते हैं कि इस चंचल वृत्ति वाले मन को इतना मारुंगा कि वह टुकड़े-टुकड़े हो जायगा । पहले तो यह विषय वामना की क्यारी बोता है फिर उसके परिणाम को भोगने के समय क्यो पछिनाता है । कर्मों का फल तो भोगना ही पडेगा ।

शब्दार्थ—लुणत = काटते समय ।

इस मन कौ विसमल करौ, दीठा करौ अदीठ ।
जे सिर राखौ आपणां, तौ पर सिरिज अंगीठ ॥६॥

सन्दर्भ—साधना मे जीस समर्पण करना पडता है ।

भावार्थ—कवीरदास जो कहते हैं कि अपने चंचल मन को अघमरा कर नास्तारिक विषयो से विरक्त कर निराकार अदृष्ट प्रभु के दर्शन करुंगा यदि करने मिर की रक्षा करनी है तो उसके ऊपर अगारे के समान कठिन मे कठिन यातनाओं को भी सहन करना पडेगा ।

शब्दार्थ—विगमित = घायन । अदीठ = अदृष्ट, निराकार ।

मन जागै सघ घात, जाणत ही औगुण करै ।
फाड़े की कुसजात, कर दीपक कुंवे पडै ॥७॥

सन्दर्भ—मन जाग यूक्त कर भी सुराईया बनता है ।

भावार्थ—मन सब बातों को जानते हुए भी नाना प्रकार की बुराइयों को करता है। यदि हाथ में दीपक लेकर चलने वाला भी कुएं में गिर पड़े तो उस दीपक से क्या लाभ ? उसी प्रकार जान बूझ कर भी यदि मन बुराई करता है तो उसे जानने से क्या लाभ ?

शब्दार्थ—जाणत — जानना । कूवै = कुएं में ।

हिरदा भीतरि आरसी, मुख देषणां न जाइ ।
मुख तौ तौपरि देखिये, जे मन की दुविधा जाइ ॥८॥

सन्दर्भ—सांसारिक द्वन्द्वों से छुटकारा तभी मिल सकता है जब हृदय के अंदर ब्रह्म का दर्पण हो ।

भावार्थ—हृदय के भीतर ही आत्मा का दर्पण है किन्तु उसमें परमात्मा का मुख दिखाई नहीं पड़ता है यदि मन सांसारिक विषयों से अपनी चंचलता का परि-
ष्याग कर दे तो ब्रह्म के दर्शन हो सकते हैं ।

शब्दार्थ—आरसी = दर्पण, शीशा ।

मन दीयाँ मन पाइए, मन बिना मन नहीं होइ ।
मन उनमन उस अंड ज्यूँ, अनल अकासां जौइ ॥९॥

सन्दर्भ—प्रभु को अपने मन का प्रेम देकर ही उनकी कृपा प्राप्त की जा सकती है ।

भावार्थ—परमात्मा का प्रेम उसमें मन लगाने से ही प्राप्त हो सकता है । यह सत्य है कि जब तक भक्त का मन ईश्वर की ओर नहीं लगता तब तक ईश्वर का मन भी भक्त की ओर नहीं झुकता किन्तु जब तक मन को इस ससार के भोगों में लगाए रहोगे तब तक परमात्मा की प्राप्ति असम्भव ही है । संसार से उदासी न हुआ मन उस सृष्टि के समान है जैसे आकाश में ब्रह्म की ज्योति प्रकाशित होती है ।

शब्दार्थ—मन = प्रेम का हृदय । अकासी = शून्य प्रदेश ।

मन गोरख मन गोविन्दौ, मन ही औघड़ होइ ।
जे मन राखै जतनकरि, तौ आपैं करता सोइ ॥१०॥

संदर्भ—मन को वश में करने पर ही उच्चतम स्थान मिलता है ।

भावार्थ—मन ही गोरखनाथ है मन ही पर ब्रह्म है और मन ही औघड़ नाथ है । मन ही इन पदों पर पहुँचाने वाला है । यदि मन प्रयत्न-पूर्वक वश में रखा जाये तो यही इस चराचर लोक का कर्ता, नियामक ब्रह्म बन सकता है ।

शब्दार्थ—औघड़ = एक प्रकार के साधु ।

एक ज दोसत हम किया, जिस गलि लाल कवाइ ।
सब जग धोबी धोइ मरै, तौ भी रंग न जाय ॥११॥

सन्दर्भ—प्रेम का रंग किसी के छुटाए नहीं छूटता है ।

भावार्थ—मैंने एक ऐसा मित्र बनाया है कि जिसके गले में लाल कपड़ा चंघा हुआ है अर्थात् जो प्रेम के रंग से ओत-प्रोत है । यह प्रेम का रंग इतना पक्का है कि संसार के सब धोबी मिल करके भी यदि इसके रंग को धोकर छुड़ाना चाहें तो नहीं छुड़ा सकते हैं ।

शब्दार्थ—कवाइ = कपड़ा ।

पांणीं हीं तैं पातला, धूँवाँ हीं तैं भीण ।
पवनाँ वेगि उतावला, सोदोसत कबिरै कीन्ह ॥१२॥

संदर्भ—कबीरदास ने निराकार ब्रह्म से मित्रता जोड़ी है । उसी के गुणों का बखान है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि जो पानी से भी पतला घुएँ से भी हल्का, और पवन के वेग से भी अधिक वेग वाला है ऐसे परमात्मा से मित्रता की है ।

शब्दार्थ—उतावला = तीव्र ।

कबीर तुरी पलाँणियाँ, चावक लीया हाथि ।
दिवस थकाँ साँई मिलौं, पीछे पड़िहै राति ॥१३॥

संदर्भ—इसी जीवन में परमात्मा के दर्शन करने के लिए मनरूपी घोड़े को कसने के लिए संयम का चावुक लेना पड़ेगा ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि मैंने अपने मन रूपी घोड़े को कस करके, पलाद करके, संयम के चावुक को अपने हाथ में ले लिया है अर्थात् मन पर पूर्ण रूपेण नियन्त्रण कर लिया है । मैं यह चाहता हूँ कि जीवन रूपी दिन का अंत होने के समय तक ही अर्थात् इसी जीवन में ही परमात्मा के दर्शन कर लूँ क्योंकि फिर तो मृत्यु रूपी रात्रि आ जायेगी और जीव को अचेत कर देगी ।

शब्दार्थ—तुरी = घोड़ी । पलाँड़ियाँ = कसकर चढ़ने के लिए तैयार कर लिया है ।

मनवाँ तौ अधर बस्या, बहुतक भीणां होय ।
आलोकत सचु पाईया, कबहुँ न न्यारा सोइ ॥१४॥

सन्दर्भ—ब्रह्म की प्राप्ति ज्ञान के प्रकाश से ही सम्भव है ।

भावार्थ—मन अत्यन्त क्षीण होकर अधर में निराधार ब्रह्म में रम गया है । प्रकाशमय ब्रह्म की आभा पाकर मन सुख का अनुभव कर रहा है और अब वह कभी भी ब्रह्म से अलग नहीं हो सकता है ।

शब्दार्थ = निराधार । सच, सत्य ब्रह्म ।

मन न मर्या मन करि, सके न पच प्रहारि ।
शील साच सरधा नहीं, इन्द्री अजहुँ उधारि ॥१५॥

संदर्भ—विना इन्द्रियो पर अधिकार किए भवसागर से पार पान कठिन है ।

भावार्थ—हे जीव ! तूने न तो मन को वश में किया है और न काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह को ही प्रहार कर नष्ट किया है । शील, सत्य, और श्रद्धा आदि सद् गुणों का भी लोप हो गया है । कबीरदास जी कहते हैं कि यदि मन इन्द्रियो पर आज भी अपना पूर्ण अधिकार कर ले तो उसका भवसागर से उद्धार हो सकता है, अन्यथा नहीं ।

शब्दार्थ—मन करि = संकल्प कर । पंच = काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह ।

कबीर मन विकरै पड़ या, गया स्वाद कै साथि ।
गलका खाया वरजता, अब क्यूँ आवै हाथि ॥१६॥

संदर्भ—मन इन्द्रियो के वश में हो गया है अब वह काबू में नहीं आ सकता ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि मन विषय-वासना के विकारों में पड़ा हुआ है वह नानाप्रकार के स्वादों के उपभोग में पड़ा हुआ है । जो वस्तु गले तक पहुँच गई है उसके लिए अब मना करने से क्या लाभ हो सकता है । इसी प्रकार जो मन इन्द्रियो के वश में हो गया है वह अब किसी भी प्रकार हाथ में नहीं आ सकता है ।

शब्दार्थ—विकरै = विकारों में । वरजता = वर्जित किया जाता हुआ ।

कबीर मन गाफिल भया, सुमरिण लागै नाहिं ।
घणी सहैगा सासनां, जम की दरगह माहिं ॥१७॥

संदर्भ—मनको सांसारिक विषय भोगो के बदले नरक मे यातनाएं भोगनी पड़ेगी ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि नाना प्रकार की विषय-वासनाओ के पीछे दौड़ते-दौड़ते मन इतना गाफिल हो गया है कि ईश्वर के नाम-स्मरण मे उसका मन ही नहीं लगता है । किन्तु उसे अपने इन पाप कर्मों का भोग यमलोक मे जाकर यातना सहकर सहना पड़ेगा ।

शब्दार्थ—घणी = अत्यधिक । सांसना = यातनाएं । दरगह = दरबार ।

कोटि कर्म पल में करै, बहु मन विषिया स्वादि ।

सतगुर सबद न मानई, जनम गँवाया बादि ॥१८॥

संदर्भ—मन विषय वासना मे पड़ कर अपना सर्वस्व ही गंवा बैठा है ।

भावार्थ—यह मन विषयो के स्वाद मे इतना रमण करने लगा है कि पल भर मे ही करोडो दुष्कर्म कर डालता है । और सतगुरु द्वारा दिये गए उपदेशो की अवहेलना करके व्यर्थ मे ही जीवन को नष्ट कर डाला है ।

शब्दार्थ—सबद = शब्द । बादि = व्यर्थ ।

मैमंता मन मारि रे, घटहीं मांही घेरि ।

जबहीं चालै पीठि दे, अंकुस दे दे फेरि ॥१९॥

संदर्भ—मन को सयम रूपी अंकुश से मार देना चाहिए ।

भावार्थ—हे जीव ! तू अपने मदमस्त मन को अपने हृदय के भीतर ही घेर कर मार दे । और जब भी यह परमात्मा से विमुख होकर इधर-उधर भागने का प्रयत्न करे उसी समय ईश्वर-स्मरण और सयम का अंकुश लेकर इसको उचित मार्ग पर लगा देना चाहिए ।

शब्दार्थ—मैमन्ता = मदमस्त हाथी । घटही मांही = हृदय के अन्तर से ।

विशेष—अनुप्रास और रूपक अलंकार ।

मैमंता मन मारि रे, नाँहाँ करि करि पीसि ।

तव सुख पावै सुंदरी, ब्रह्म मलकै सीसि ॥२०॥

संदर्भ—मन को वश मे करने से ही ब्रह्म ज्योति का प्रकाश मिलेगा ।

भावार्थ—मदमस्त हाथी रूपी मन को संयम के द्वारा इतना कस कर मारो कि सूक्ष्मता को प्राप्त हो जाय । कर्मों को बारीक आटे की तह पीसना चाहिए । तभी आत्मा रूपी सुन्दरी को सुख प्राप्त होगा और सिर से ब्रह्म ज्योति का प्रकाश छिटकता रहेगा ।

शब्दार्थ—मुन्दरी = आत्मा ।

कागद केरो नाँव री, पांणी केरी गंग ।

कहै कबीर कैसे तिहँ, पंच कुसंगी संग ॥२१॥

संदर्भ—संसार-सरिता को पार करने के लिए संयम की नौका चाहिए ।

भावार्थ—मनुष्य का शरीर कागज की नाव के समान है और यह संसार रूपी सरिता माया जल से परिपूर्ण है । कबीरदास जी कहते हैं कि इस अगाध सरिता को इस कागज की क्षणिक नौका से कैसे पार किया जा सकता है फिर साथ में पांच इन्द्रियो के रूप में पंच चोर भी हैं जो अवसर देखते ही अच्छे कर्मों को चोरी भी कर लेते हैं ।

शब्दार्थ—गग = गगा, सरिता । पंच = पंचेन्द्रियो ।

कबीर यहु मन कत गया, जो मन होता काल्हि ।

डूंगरि बूठा मेह ज्युँ, गया, निवांणां चालि ॥२२॥

संदर्भ—मन ब्रह्म की ओर उन्मुख होकर भी माया भिभूत हो जाता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि जो मेरा निर्मल मन कल (भूतकाल) था वह आज कहाँ चला गया मन को वह निर्मलता कहाँ चली गयी जिस प्रकार टीले पर हुई वर्षा क्षण भर के लिए टीले पर रुककर नीचे की ओर बह जाती है उसी प्रकार मन के ऊपर संतो के सदुपदेशों का प्रभाव क्षण भर के लिए तो हुआ किंतु दूसरे ही क्षण वह उपदेश मन से निकल गए और मन फिर विषयासक्त हो गया ।

विशेष—दृष्टांत अलंकार ।

शब्दार्थ—डूंगरि = टीला । निवांणां चालि = नीचे की ओर चल कर ।

मृतक कूँ धीजों नहीं, मेरा मन बीहै ।

बाजै बाव बिकार की, भी मूवा जीवै ॥ २३ ॥

संदर्भ—मन मरे हुए आदमी की भाँति मरी हुई अवस्था में भी जीवित रहता है ।

भावार्थ—साधक को अपने मन पर पूर्णरूपेण विश्वास नहीं है वह कहता है कि जिस प्रकार मनुष्य मर जाता है उसी प्रकार मैंने अपने मन को विषयो को ओर से मृतक तुल्य बना दिया है किन्तु फिर भी यदि इसके पास विकारों की दुंदुभी फिर से बजने लगे तो जीवित व्यक्ति के समान पुनः पाप कर्म करने लगता है ।

शब्दार्थ—बाव = दुंदुभी । बिकार = सासारिक विषय । मूवा = मृतक ।

काटी कूटी मछली छीकै धरी चहोड़ि ।

कोई एक अपिर मन बस्या; दह में पड़ी बहोड़ि ॥ २४ ॥

संदर्भ—मन सयमित होने पर भी वासना के अवशेष से विकार अस्त हो जाता है ।

भावार्थ—मन रूपी मछली को काट कूटकर किसी प्रकार विषय वासना से रहित कर अपने वश में करके शून्य रूपी छीके में रखा था किंतु इतने पर भी उसमें वासना का कोई अक्षर अवशिष्ट रह गया था इसलिए वह मन रूपी मछली साधना के छीके से पुनः वासना के जल में आकर गिर पड़ी । मन फिर विषयों में आसक्त हो गया ।

शब्दार्थ—मछली = मन । दह = तालाब, ससार पक ।

कबीर मन पंषी भया; बहुतक चढ़्या अकास ।

उहाँ ही ते गिरि पड़्या; मन माया के पास ॥ २५ ॥

संदर्भ—मन रूपी पक्षी माया के प्रभाव से नीचे गिर पड़ता है ।

भावार्थ—ईश्वर को प्राप्त करने के लिए कबीरदास कहते हैं कि मेरा मन पक्षी की भाँति आकाश तक शून्य तक विचरण करने गया था किन्तु माया के प्रभाव से जब वह वहाँ से गिरा तो बीच में कहीं रुका ही नहीं ठीक नीचे आकर माया के पास ही गिरा ।

विशेष—रूपक अलंकार ।

भगति दुवारा संकड़ा, राई दसवें भाइ ।

मन तो मैंगल ह्वै रहयो; क्यूँ करि सकै समाइ ॥ २६ ॥

संदर्भ—भक्ति के सकीर्ण मार्ग में मन रूपी हाथी कैसे जा सकता है ?

भावार्थ—भक्ति के मार्ग का दरवाजा इतना सकीर्ण है कि वह राई के दशमाश के बराबर है और उसमें प्रवेश करने वाला मन मदमस्त हाथी के समान है फिर वह उस भक्ति के मार्ग में प्रवेश कैसे पा सकता है ?

शब्दार्थ—मैंगल = मदमस्त हाथी ।

करता था तौ क्यूँ रहया, अब करि क्यूँ पछताय ।

बोवै पेड़ बबूल का, अब कहाँ ते खाय ॥ २७ ॥

संदर्भ—कर्मों के अनुसार ही फल की प्राप्ति होती है ।

भावार्थ—हे जीव ! कर्म करते समय तुझे इस बात का बोध क्यों नहीं हुआ कि बुरे कर्म नहीं करने चाहिए इनका परिणाम बुरा होगा और यदि अब बुरे कर्म किए ही हैं तो फिर पछताने से क्या लाभ ? उसके परिणाम तो भोगने ही पड़ेंगे । यदि तूने कुकर्म रूपी बबूल के वृक्ष लगाए हैं तो खाने के लिए मीठे आम कहाँ से प्राप्त हो सकते हैं ।

विशेष—तुनना कीजिये—

कोउ न काहु सुख दुख कर दाता ।

निज कृत कर्म भोग सुनु भ्राता ॥

मानस—अरण्यकाण्ड

शब्दार्थ—अव—आम ।

काया देवल मन धजा, विषै लहरि फहराइ ।

मग चाल्यां देवल चलै, ताका सर्वस जाइ ॥ २८ ॥

सन्दर्भ—मन के अनुसार कार्य करने पर सर्वस्व नष्ट हो जाता है ।

भावार्थ—शरीर रूपी मन्दिर है और उसके ऊपर फहराने वाली ध्वजा मन है । और ध्वजा विषय वासना को चंचल वायु लहरो से फहरने लगती है यदि शरीर रूपी मन्दिर मन रूपी ध्वजा के कहने से चलायमान हो जाता है तो समझ लेना चाहिए कि उसका सर्वस्व नष्ट हो जायगा ।

शब्दार्थ—देवल = देवालय, मन्दिर । धजा = ध्वजा ।

विशेष—सागरूपक ।

मनह मनोर्थ छाँड़ि दे, तेरा किया न होइ ।

पाँणी में घीव निकसै, तौ रुखा खाइ न कोइ ॥ २९ ॥

सन्दर्भ—यदि मन की इच्छाएं पूरी हो जाया करे तो फिर कमी किस बात की ?

भावार्थ—मन की इच्छाओं का परित्याग कर देना चाहिए । वयो कि जो कुछ मन चाहता है वह सब कुछ पूरा हो जाना सम्भव नहीं है । यदि जल को मथने से ही घी निकलने लगे तो इस संसार में फिर कोई व्यक्ति विना घी का सूखा भोजन वयो करे ? किन्तु वास्तविकता यह है कि पानी में घी निकलता नहीं । मन की इच्छाएं पूरी होती नहीं ।

शब्दार्थ—मनोर्थ = मनोरथ ।

काया कसू कमाँण, ज्यूँ पेच तत्त करि बाँण ।

मारौँ तौ मन मृग कौ नहीं तौ मिथ्या जाँण ॥ ३० ॥

सन्दर्भ—उपदेश को क्रियान्वित भी करना चाहिए ।

भावार्थ—इस शरीर को इतना अधिक साधना में प्रेरित कर दूँ कि यह घनुष के समान हो जाय फिर उस पर पंच तत्व का वाण चलाकर मनरूपी मृग को मार डालूँ तब तो मृगों की समझना अन्यथा मेरी उपदेशों को मिथ्या ही समझना ।

विशेष—महात्मा तुलसीदास ने पंचतत्वो की सख्या इस प्रकार गिनाई है—

‘छति जल पावक गगन समीरा ।

पच रचित अति अधम सरीरा ॥

मानस—किष्किन्वा काण्ड ।

१४. सूषिम मारग कौ अंग

कौण देस कहाँ आइया, कहु क्यूँ जाणयां जाइ ।

उहु मार्ग पावै नहीं, भूलि पड़े इस मांदि ॥ १ ॥

सन्दर्भ—जीव ससार मे भ्रमित होता हुआ भटकता रहता है ।

भावार्थ—आत्मा किसी प्रदेश का निवासी है और कहीं आकर बस गया है कहे इस तत्व को कैसे जाना जा सकता है ? जीव को ब्रह्म के पास जाने का मार्ग नहीं मिल पाता इसलिए वह भ्रम मे पडा हुआ इस ससार मे भटक रहा है ।

शब्दार्थ—उहु मार्ग = वह मार्ग, ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग ।

उतीथै कोइ न आवई, जाकूँ बूँभौँ धाइ ।

इतथै सबै पठाइये, भार लदाइ लदाइ ॥ २ ॥

सन्दर्भ—ब्रह्म के पास जीव जाकेर लौट नहीं पाता है ।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि ब्रह्म के पास पहुँच कर कोई वहाँ से लौटता नहीं है जिससे जाकर मैं पूछ सकूँ कि ब्रह्म के पास जाने का कौन सा मार्ग है ? क्या तरीका है ? इस संसार से ही कुकर्मों का बोझा लाद-लाद कर सभी प्राणी जाते हैं ।

शब्दार्थ—उती थै = उधर से । इतीथै = इधर से ।

सबकूँ बूभत मै फिरोँ, रहण कहै नहीं कोइ ।

प्रीति न जोड़ी राम सूँ, रहण कहाँ थै होइ ॥ ३ ॥

सन्दर्भ—जीव को अपनी स्थिति अज्ञात रहती है ।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि मैंने प्रत्येक व्यक्ति से पूछा किन्तु किसी ने यह नहीं बताया कि इस संसार में रहने का वास्तविक ढंग क्या है ? किन्तु कोई उचित उत्तर दे नहीं पाया । ब्रह्म से किसी ने प्रेम तो किया नहीं फिर रहने की वास्तविक स्थिति किसी को कैसे ज्ञात हो सकती है ।

चलौ चलौ सब कोइ कहै. मोहिं अंदेसा और ।

साहिब सूँ परचा नहीं, ए जाहिंगे किस ठौर ॥ ४ ॥

सन्दर्भ—ब्रह्म से बिना परिचय हुए यदि जीव वहाँ तक जाए भी तो रहे कहां ?

भावार्थ—इस संसार के सभी प्राणी ब्रह्म के पास जाने की बात तो करते हैं किन्तु इस बात में सदेह है कि क्या वे वास्तव में वहाँ तक पहुँच भी सकेंगे क्योंकि ब्रह्म से उनका परिचय तो है नहीं फिर ये सब कहां जाकर रहेगे ?

शब्दार्थ—पर्चा = परिचय ।

आइवे कौं जागा नहीं, रहिवे कौं नहीं ठौर ।

कहै कबीरा सन्त ही, अविगत की गति और ॥ ५ ॥

सन्दर्भ—निगुंण ब्रह्म की गति अगम्य है । साधना में बाह्याडम्बरों की आवश्यकता नहीं है ।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि ब्रह्म के पास तक आने के लिए ज्ञान नेत्र खुले नहीं और इस संसार की विषय वासना में भी सर्वदा रहने के लिए स्थान नहीं है । हे सन्तो ! ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग सामान्य रूप से आने वाला नहीं है, अगम्य है ।

शब्दार्थ—जागा नहीं = ज्ञान नेत्र नहीं खुले ।

कबीर मारिग कठिन है, कोई न सकई जाय ।

गये ते बहुड़ नहीं, कूसल कहै को आय ॥ ६ ॥

सन्दर्भ—ब्रह्म के पास पहुँच कर कोई लौटना नहीं फिर वहाँ के समाचार कैसे मालूम हो ?

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि परमात्मा के पास तक पहुँचने का मार्ग अत्यधिक कठिन है वहाँ कोई आसानी से पहुँच नहीं सकता है । और जो वहाँ कठिन साधना करके पहुँच भी गये तो वे आवागमन से मुक्त होकर वहाँ से वापस आए ही नहीं फिर वहाँ के कुशल समाचार कौन आकर कहे ।

शब्दार्थ—बहुरे = लौटे ।

जन कबीर का सिषर घर, बाट सलैली सैल ।

पाँव न टिकै पपीलिका, लोगनि लादे वैल ॥ ७ ॥

सन्दर्भ—भक्त कबीर के घर तक पुण्यात्मा और सज्जनो के पैर तो जम नहीं पाते, फिर पापियो का तो प्रश्न ही नहीं उठता ।

भावार्थ—भक्त कबीर का तो वास्तविक घर ब्रह्मरंध्र रूपी शिखर पर स्थिति है और वहाँ का मार्ग नाना प्रकार की बाधाओ के कीचड़ से परिपूर्ण है । वहाँ पर चीटी जैसा छोटा जीव भी अपने पैर रखकर नहीं जा सकता फिर और मनुष्य तो नाना प्रकार के सासारिक कुकर्मों का बोझ लादे हुए हैं कैसे वहाँ पहुँच सकते हैं ।

शब्दार्थ—सिषर = शून्य शिखर । सलैली सैल = कीचड़ आदि से दुर्गम पर्वतीय मार्ग । पपीलिका = पिपीलिका = चीटी ।

जहाँ न चीटी चढ़ि सकै, राई ना ठहराइ ।

मन पवन का गमि नहीं, तहाँ पहुँचे जाइ ॥ ८ ॥

सन्दर्भ—जिस ब्रह्म के पास तक चीटी, वायु और मन की गति भी नहीं है वहाँ तक कबीर पहुँच गए हैं ।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि जिस शून्य स्थल पर चीटी तक नहीं चढ़ सकती और राई भी नहीं ठहर सकती मन और पवन को जहाँ तक गति नहीं है उस सूक्ष्म और सकीर्ण स्थाव तक मैं पहुँच चुका हूँ ।

कबीर मारग अगम है, सब मुनिजन बैठे थाकि ।

तहाँ कबीरा चलिगया, गहि सतगुर की सांषि ॥ ९ ॥

सन्दर्भ—सतगुरु के उपदेश को ग्रहण करके ही साधक ब्रह्म तक पहुँच सकता है ।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि ब्रह्म-प्राप्ति तक का मार्ग अत्यन्त कठिन है, साधक मुनि भी वहाँ की दुर्गमता के कारण थक कर बैठ गये हैं जाने की आशा छोड़ बैठे हैं । ऐसे दुर्गम स्थान पर भी कबीर दास जी सतगुरु के उपदेशो को ग्रहण करके पहुँच गये हैं ।

शब्दार्थ—सांषि = सीख, उपदेश ।

सुर नर था के मुनि जनां, जहाँ न कोइ जाइ ।

मोटे भाग कबीर के, तहाँ रहे घर छाइ ॥ १० ॥ ३०२ ॥

सन्दर्भ—साधक की साधना की चरमावस्था ब्रह्म प्राप्ति है ।

भावार्थ—जिस स्थान तक पहुँचने के लिए देवता, मनुष्य और मुनि सभी थक जाते हैं और थकावट के कारण वहाँ तक पहुँच नहीं पाते हैं । वहाँ पर सौभाग्यवश कबीर दास पहुँच भी गए हैं और उनका स्थायी निवास भी हो गया है ।

शब्दार्थ—मोटे भाग = बड़े भाग्य ।

१५. सूषिम जनम कौ अङ्ग

कबीर सूषिम सुरति का, जीव न जाणै जाल ।

कहै कबीरा दूरि करि, आत्म अदिष्टि काल ॥१॥

सन्दर्भ—माया के आवरण को हटा देने पर ही आत्मा को आत्म तत्व का ज्ञान हो सकता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि सूक्ष्म ब्रह्म के स्मरण के रहस्य को जीव कुछ नहीं जानता क्योंकि माया के आवरण के कारण उसको उसका ज्ञान नहीं हो पाता है । कबीर कहते हैं कि उस माया के आवरण को हटा देने पर ही आत्मा का आत्म तत्व का ज्ञान होगा ।

शब्दार्थ—सूषिम = सूक्ष्म । जाल = रहस्य ।

प्राण पंड कौं तजि चलै, मूवा कहै सब कोइ ।

जीव छतां जांमै मरै, सूषिम लखै न कोइ ॥२॥३४॥

सन्दर्भ—जीवन्मुक्त प्राणी जीवित अवस्था में ही ब्रह्म के दर्शन कर लेता है ।

भावार्थ—जिस समय प्राण इस भौतिक शरीर को छोड़कर चल देते हैं उस समय संसार के सभी व्यक्ति उसको मरा हुआ कहते हैं । जीवात्मा जीवित रहते हुए भी अपने अस्तित्व को ब्रह्म में लीन कर जीवन्मुक्त हो सकता है किन्तु उस ब्रह्म को कोई देख नहीं पाता है ।

शब्दार्थ—पण्ड = शरीर । छता = रहते हुए ।

१६. माया कौ श्रद्ध

जग हट वाड़ा स्वाद ठग, माया वेसों लाइ ।
राम चरन नीकों ग्रही, जिनि जाइ जनम ठगाइ ॥१॥

सन्दर्भ—इस संसार मे जीव विषय-वासना और माया के द्वारा ठग लिया जाता है ।

भावार्थ—यह संसार एक बड़ा बाजार है जिसमे इन्द्रियो के स्वाद रूपी ठग हैं और माया रूपी वेश्या भी जीवको ठगने का प्रयास करती है । ऐसी अवस्था मे रहे जीव । यदि तू दृढतापूर्वक ईश्वर के चरणों का सहारा लेगा तब तो ठीक है नहीं तो इस संसार ही बाजार से विषय-वासना और माया के द्वारा बिना ठगे बच नहीं सकते हो ।

शब्दार्थ—वेसा = वेश्या ।

विशेष—रूपक अलंकार ।

कबीर माया पापणीं, फंध ले बैठी हाटि ।
सब जग तौ फंधे पड्या, गया कबीरा काटि ॥२॥

सन्दर्भ—माया के फंदे से भक्त ही बच पाता है ।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि माया अत्यन्त पापिनी है वह अपने हाथ फंदा लेकर सारे संसार के प्राणियों को फंसाने के लिए बैठी है । सारा संसार तो उस माया के फंदे मे पड गया है अर्थात् सब पर माया का प्रभाव पड चुका है किन्तु कबीर ऐसे भक्त ही उस माया के फंदे को काटकर उससे बाहर हो जाते हैं उसकी पकड़ मे नहीं आते हैं ।

शब्दार्थ—कन्व = फन्दा ।

कबीर माया पापणीं, लालै, लाया, लोग ।
पूरी किन्हूँ न भोगई, इनका ईहै विजोग ॥३॥

सन्दर्भ—माया रूपी वेश्या के फंदे मे फंसकर सभी को कष्ट भोगना पडता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि माया अत्यन्त पापिनी है यह संसार के समस्त प्राणियों मे अपने पाने के लालसा को जागृत कर देती है किन्तु वह गृह-चत्रू नहीं है जिसका एक ही व्यक्ति उभोग कर सके वह तो वेश्या है उसका पूर्ण

उपभोग कोई व्यक्ति नहीं कर पाता है। थोड़े समय के लिए माया सबको आकर्षित कर लेती है फिर उससे सबका वियोग हो जाता है। यही ससार का दुःख है।

विशेष—रूपक अलंकार

शब्दार्थ—लालै लाया = अपनी प्राप्ति की आशा जागृत करना।

कबीर माया पापणी, हरि सूँ करै हराम।

मुखि कड़ियाली कुमति की, कहण न देई राम ॥ ४ ॥

संदर्भ—माया ही प्रभु-भक्ति में बाधक है।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि पापी माया अत्यंत दुष्टा है यह जीव को ब्रह्म से मिलने नहीं देती है। यह जीव के मुख से कड़वी बातों को कहवाती रहती है और राम नाम (ब्रह्म) का उच्चारण नहीं होने देती।

शब्दार्थ—कड़ियाली = कड़वी।

जाँणों जे हरि कौं भजौं, मो मनि मोटी आस।

हरि विधि घाले अन्तरा, माया बड़ी विसास ॥ ५ ॥

सन्दर्भ—माया जीव और ईश्वर के बीच अन्तर डाल देती है।

भावार्थ—प्रत्यक्ष में ऐसा लगता है कि मैं परमात्मा का बहुत भजन करता हूँ किन्तु मेरे मन में सासारिक आशाएँ अत्यन्त तीव्रता से भरी हुई हैं। किन्तु यह माया अत्यन्त विश्वासघातिनी है यह तो जीव और ब्रह्म के बीच अन्तर डाल देती है।

शब्दार्थ—मोटी आस = विषयो की तीव्र तृष्णा। घाले = डालना। विसास = विश्वासघातिनी।

कबीर माया मोहनी, मोहे जाण सुजाण।

भागां ही छूटै नहीं, भरि भरि मारै बाण ॥ ६ ॥

सन्दर्भ—माया के प्रभाव से कोई व्यक्ति भाग कर भी नहीं बच सकता है।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि माया इतनी आकर्षक है कि बड़े-बड़े ज्ञानी एवं चतुर व्यक्ति भी इसके सम्मोहन से बच नहीं पाते हैं और यदि कोई इसके प्रभाव से भागकर भी बचना चाहे तो यह इतना तान-तान कर मोहक बाण चलाती है कि व्यक्ति के ऊपर बाणों का प्रभाव पड़ ही जाता है। लोग माया जाल में फँस ही जाते हैं।

शब्दार्थ—जाण = ज्ञानी। सुजाण = सुजान = चतुर।

कबीर माया मोहनी, जैसी मीठी खाँण ।

सतगुरु की कृपा भई, नहीं तौ करती माँड ॥ ७ ॥

सन्दर्भ—सतगुरु की कृपा से मनुष्य माया के प्रभाव से बच पाता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि माया खाँड के समान मीठी और मोहक है । सबको अपनी ओर आकर्षित करने वाली है । सतगुरु की कृपा ही गई इसलिए मैं इसकी चपेट से बच गया हूँ अन्यथा तो यह मुझे बर्बाद करके ही दम लेती ।

शब्दार्थ—भाँड = अत्यन्त बीच, निकृष्ट ।

कबीर माया मोहनी, सब जग घाल्या घाँणि ।

कोई एक जन ऊबरै, जिन तोड़ी कुल की काँणि ॥ ८ ॥

सन्दर्भ—जो व्यक्ति माया को ओर आकर्षित नहीं होता, वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि माया इतनी जादूगरनी है कि सम्पूर्ण संसार को अपने फदे में डालकर तेनी को घानो के समान पीस डालती है । कोई बिरला व्यक्ति ही इसके प्रभाव से बच सकता है जो सांसारिक मान-मर्यादाओं को छोड़कर परम्पराओं का परित्याग कर देते हैं ।

शब्दार्थ—घाल्या = मारा । कुन की काँणि = कुन की मर्यादा, जीवात्मा की परम्पराओं को तोड़ना ।

कबीर माया मोहनी, माँगि मिलै न हाथि ।

मनह उतारी भूठ करि, तब लागो डोलै साथि ॥ ९ ॥

सन्दर्भ—माया मोहक होते हुए भी ईश्वर भक्तों के पीछे दौड़ती है । इसके परित्याग में ही मंगल है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि माया ऐसी मोहक है कि जो इसको हाथ फैलाकर माँगते हैं उनको यह नहीं प्राप्त होती है किन्तु जिन भक्तों और साधकों ने इसको मिथ्या समझ कर अपने मन से निकाल दिया है उनके पीछे यह डोलती रहती है ।

शब्दार्थ—मनह = मन से ।

माया दासी सन्त की, ऊँभी देइ असीस ।

बिलषी अरु लातौ छड़ी, सुमिरि सुमिरि जगदीस ॥१०॥

सन्दर्भ—माया सन्तों की तो सेवा करती है और अन्य व्यक्तियों को दुःख देती है ।

भावार्थ—माया सन्तो की सेवा करने वाली दासी है जो खड़ी हुई उनकी आज्ञा का पालन करती रहती है। सन्त लोग ईश्वर का स्मरण करते हुए इसका उपभोग भी करते हैं और इसका तिरस्कार कर लातों से मार-मार कर ठुकराते भी हैं किन्तु अन्य लोगों को यह दुख ही देती है।

शब्दार्थ—ऊंभी = खड़ी हुई।

माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया सरीर।

आसा त्रिवणां नाँ मुई, यों कहि गया कवीर ॥ ११ ॥

संदर्भ—माया, मन, आशा और तृष्णा की अमरता की ओर संकेत है।

भावार्थ—कवीरदास जी कहते हैं कि इस संसार के आवागमन के चक्र के कारण शरीर तो बार-बार मरता है किन्तु माया के आकर्षण और मन की विषयों के पीछे की दौड़ समाप्त न हुई, और कभी सांसारिक आशाओं, कामनाओं और तृष्णा का ही अन्त हुआ।

शब्दार्थ—मुई = मरी।

आसा जीवै जग मरै, लोग मरे मरि जाइ।

सोइ मूवे धन संचते, सो ऊबरे जे खाइ ॥१२॥

संदर्भ—कवीर दास जी धन संचय पर बल नहीं देते हैं।

भावार्थ—इस संसार में लोग एक-एक करके मरते जाते हैं और इस प्रकार सारा संसार ही मरताजा रहा है किन्तु फिर भी आशा जीवित ही बनी है। लोगों के मरने पर भी आशा उनका साथ नहीं छोड़ती है। वे ही व्यक्ति मरते हैं जो धन का संचय किया करते हैं और जो लोग इस धन को खा पी कर साफ कर देते हैं वे इस भव-सागर से पार उतर जाते हैं।

शब्दार्थ—मूवे = मरते हैं।

कवीर सो धन संचिए, जो आगें कू होइ।

सीस चढ़ाये पोटली, ले जात न देख्या कोइ ॥१३॥

संदर्भ—धन संग्रह अच्छी बात नहीं है।

भावार्थ—कवीर दास जी कहते हैं कि सुकृत्यों और पुण्यों का ऐसा धन संग्रह करना चाहिए आगे के लिए परलोक में काम दे। यद्यपि इस संसार में लोग धन की गठरी लादे हुए फिरते रहते हैं किन्तु कोई भी व्यक्ति नहीं देखा गया जो उस धन को परलोक ले गया हो। वह सारा का सारा धन वहीं पर पड़ा रह जाता है।

त्रिया त्रिष्णां पापणीं, तासू प्रीति न जोड़ि ।
पैंड़ी चढ़ि पाछाँ पड़ै, लागै मोटी खोड़ि ॥१४॥

सन्दर्भ—तृष्णा से विलग रहने का संकेत है ।

भावार्थ—कबीर दास जी जीव को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि तृष्णा रूपी स्त्री बड़ी ही पापिनी और वेश्या के समान है अतः तू इससे प्रेम का व्यवहार न कर । पहले तो यह पीछे पडकर जीव को आकर्षित करती है किन्तु इसके संसर्ग से जीव को अनेक दोषों का शिकार बनना पडता है ।

शब्दार्थ—खोड़ि = अपराध, पाप

त्रिष्णां सांचीं नां बुझै, दिन-दिन बढ़ती जाय ।
जवासा के रूप ज्यूं, घण मेहाँ कुमिलाइ ॥१५॥

सन्दर्भ—सासारिक तृष्णा का विनाश प्रभु-भक्ति से ही संभव है ।

भावार्थ—सासारिक तृष्णा को जितना ही अधिक शान्त करने का प्रयास किया जाता है वह दिन प्रति दिन उतना ही अधिक बढ़ती जाती है । जिस प्रकार जवासा जितनी ही अधिक वर्षा होती है उतना ही अधिक मुरझाता जाता है उसी प्रकार यह सासारिक तृष्णा भी प्रभु-भक्ति रूपी से ही मुरझा कर शान्त हो सकती है अन्य किसी विधि से नहीं ।

विशेष—(१) विभावना अलकार ।

(२) जवासा वरसात मे मुरझा जाता है—

“अर्क जवास पात बिनु मयऊ ।”

मानस—किष्किन्धा काण्ड

शब्दार्थ—बधती = बढ़ती । घण = घना, अधिक ।

कबीर जग की को कहै, यौ जल बूढै दास ।
पारब्रह्म षति छाँड़ि करि, करै मान की आस ॥१६॥

सन्दर्भ—ब्रह्म से विमुख भक्त भी संसार सागर मे डूब जाते हैं ।”

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि संसार के साधारण व्यक्तियों की बात कौन कहे भगवान के भक्त भी इस संसार-सागर मे डूबते उतराते हैं किन्तु भक्त उसी अवस्था मे डूबते हैं जब वे पर ब्रह्म ऐसे स्वामी को छोडकर सासारिक मान सम्मान की आशा मे इधर उधर भटकते रहते हैं ।

शब्दार्थ—भौजलि = भव जल = संसार सागर ।

माया तजी तौ का भया, मानि तजी नहीं जाइ ।
मनि बड़ै मुनियर मिले, मानि सबनि कौ खाइ ॥१७॥

सन्दर्भ—माया के साथ अहं का त्याग भी आवश्यक है ।

भावार्थ—हे जीव ! यदि तूने माया का त्याग कर दिया तो उसी के त्याग से क्या होता है अभी सम्मान पाने की भावना का त्याग तो नहीं है । यह मान सम्मान की भावना बड़े-बड़े मुनियों को भी पथ भ्रष्ट कर देती है । अतः सम्मान की भी परित्याग आवश्यक है ।

रामहिं थोड़ा जाँणि करि, दुनियाँ आगैं दीन ।

जीवाँ कौ राजा कहैं, माया के आधीन ॥१८॥

सन्दर्भ—वास्तविक स्वामी तो पर ब्रह्म है ।

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्म के अस्तित्व को अल्प समझ करके संसार को ही अधिक महत्वशाली समझता रहता है और उसी में उलझता रहता है । मनुष्य उस व्यवित्त को ही अपना स्वामी समझ लेते हैं जो माया के आधीन होकर वैभवशाली दिखाई पड़ता है ।

रज बीरज की कली, तापरि साज्या रूप

राँम नाँम बिन बूढ़ि है, कनक काँमिणी कूप ॥१९॥

सन्दर्भ—मनुष्य का शरीर स्त्री के रज और पुरुष के वीर्य के सम्मिश्रण से बनी हुई कली के समान उस पर भी जीव साज सज्जा का आडम्बर करता है किन्तु यदि वह राम नाम का आश्रय न ग्रहण करेगा तो धन और स्त्री रूपी कूप में डूब जायगा ।

विशेष—तुलसी ने भी कहा है—

“एक कंचन एक कामिनी दुर्गम घाटी दोइ ॥”

दोहावली

माया तरवर त्रिविधका, साखा दुख सन्ताप ।

सीतलता सुपिनै नहीं, फल फीकी तनि ताप ॥२०॥

सन्दर्भ—माया रूपी वृक्ष और उसकी छाया जीव को दुख ही प्रदान करते हैं ।

भावार्थ—माया रूपी वृक्ष सात्विक, राजस और तामस इन तीन गुणों से मिलकर बना है और इसकी शाखायें दुख और सन्ताप की हैं किन्तु इस वृक्ष के नीचे बैठकर जीव को स्वप्न में भी सीतलता का अनुभव नहीं हो सकता है और इसके फल भी अत्यन्त फीके हैं और शरीर को ताप देने वाले हैं ।

शब्दार्थ—त्रिविध = सत, रज, तम ।

कबीर माया डाकणीं, सब किस ही कौं खाइ ।

दांत उपाड़ौं पापणीं, जे सन्तौं नेड़ी जाइ ॥२१॥

सन्दर्भ—सन्तो के पास माया जाती है तो उसको नष्ट करने का प्रयास किया जाता है ।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि यह माया अत्यन्त पिशाचिनी है यह सभी को खाती रहती है किन्तु यदि यह सन्तो—साधु स्वभाव वाले व्यक्तियों—के पास जाकर फटकी तो मैं इसके दांत ही उखाड़ डालूंगा फिर यह खायेगी कैसे ?

शब्दार्थ—डाकणी = पिशाचिनी । उपाड़ौ = उखाड़ूं । नेड़ी = नजदीक

नलनी सायर घर किया, दौं लागी बहुतेणि ।

जलही माहें जलि मुई, पूरव जनम लिषेणि ॥२२॥

सन्दर्भ—पूर्व जन्म के दुष्कृत्यों के कारण आत्मा को नाना प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं ।

भावार्थ—आत्मा रूपी कमलिनी ने इस संसार सागर में अपना घर बनाया किन्तु यही अनेकानेक दुखों की दावाग्नि उस कमलिनी को जलाने लगी । और इस प्रकार यह आत्मा रूपी कमलिनी माया रूपी जल में ही जलकर नष्ट हो गयी । यह सब पूर्व-जन्म के कर्मों का फल था ।

कबीर गुंण की बादली, तीतर वानीं छाँहि ।

बाहरि रहे ते ऊबरे, भीगे मन्दिर मांहि ॥२३॥

सन्दर्भ—माया के प्रभाव से मुक्त व्यक्ति हो आवागमन से मुक्त हो हो पाते हैं ।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं सात्त्विक, राजस और तामस इन तीनों के सम्मिश्रण से बनी हुई माया की छाया रग तीतर के पखों के समान बहुरगी होता है । जो इस माया की छाया से बाहर रहते हैं वे तो मुक्त हो जाते हैं और जो माया के प्रभाव में ही आ जाते हैं तो वे माया के प्रभाव से भीगते ही रहते हैं ।

विशेष—(१) विरोधाभास अलंकार ।

शब्दार्थ—तीतरवानी = तीतरवर्णी ।

कबीर माया मोह को, भई अंधारी लोइ ।

जे सूते ते मुसि लिये, रहे बसत कूँ रोइ ॥२४॥

सन्दर्भ—माया मोह में पड़े हुए व्यक्ति मुक्ति नहीं प्राप्त कर पाते हैं ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि इस संसार में जीव की आँखों पर माया और मोह का अन्धकार छाया हुआ है अतः उसे उचित मार्ग नहीं दिखाई पड़ता है। जो व्यक्ति इस माया और मोह के अन्धकार में सावधान न रहकर अज्ञान में सोते ही रहते हैं वे ठग लिए जाते हैं और बाद में मुक्ति रूपी अपनी वस्तु के लिए रोते ही रह जाते हैं।

शब्दार्थ—लोइ = नेत्र । मुसि = ठग लिए । वसत = वस्तु, सारतत्व ।

संकल ही तैं सब लहै, माया इहि संसार ।

ते क्यूँ छूटै बापुड़े, बाँधे सिरजनहार ॥२५॥

सन्दर्भ—ब्रह्म के द्वारा माया के बंधन में बाँधा जीव कैसे मुक्त हो सकता है ?

भावार्थ—इस संसार के समस्त प्राणी माया की शृंखलाओं में जकड़े हुए हैं किन्तु जब उनके सृजनकर्ता ब्रह्म ने ही उनको माया में बाँध दिया है तो फिर वे मुक्त ही कैसे हो सकते हैं ?

शब्दार्थ—संकल = साकल, शृंखला । बापुड़े = बपुरे = बेचारे ।

बाड़ि चढ़ति बेलि ज्युँ, उलभी आसा कंध ।

तूटै पणि छूटै नहीं, भई ज बाचा बंध ॥२६॥

सन्दर्भ—माया रूपी बेलि को तोड़ा जा सकता है किन्तु छुड़ाया नहीं जा सकता है ।

भावार्थ—यह माया संसार रूपी बाड़ी पर बेलि के समान है और आशा के फंदों में इसे उलझा दिया गया है। अर्थात् यह माया जीव को आशा और तृष्णा के फंदों में उलझा देती है। यह टूट सकती है किन्तु किसी प्रकार से छुड़ाई नहीं जा सकती है। मानो हानि या लाभ कुछ भी होने पर यह जीवात्मा को पकड़े रहने की प्रतिज्ञा कर चुकी है।

शब्दार्थ—फंध = फंदा । बाचाबन्ध = वचन बद्ध ।

सब आसण आसा तणाँ, निवृत्ति कै को नाहिं ।

निर्वृत्ति कै निबहै नहीं, परवति परपंचमाहि ॥२७॥

सन्दर्भ—संसार से तटस्थ होकर, प्रवृत्ति मार्ग का परित्याग करके ही निवृत्ति वैराग्य (ईश्वर से राग) उत्पन्न हो सकता है।

भावार्थ—संसार के समस्त प्राणी आशावान् हैं सभी पर आशा का प्रभाव है। कोई निवृत्ति मार्ग नहीं है। जो प्रवृत्ति मार्ग का अनुरागी है भला वह आशा से परे होकर निवृत्ति मार्ग कैसे हो सकता है ?

शब्दार्थ—तरुण = नीचे । निवर्ति = निवृत्ति । परवर्ति = प्रवृत्ति ।

कबीर इस संसार का, भूठा माया मोह ।

जिहि घरि जिता बंधावणा, तिहिं घरि तिता अँदोह ॥२८॥

सन्दर्भ—सुख के साथ दुख भी मिला होता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि इस संसार का माया मोह सभी भूठा प्रपंच है । जिस घर में जितनी ही अधिक प्रसन्नता आनन्द-मगल दिखाई देना है, वहाँ उतना ही अधिक दुख भी होता है ।

शब्दार्थ—बंधावणा = बधन । अँदोह = दुख ।

माया हम सौं यौ कह्या, तू मति दे रे पूठि ।

और हमारा हम बलू, गया कबीरा रूठि ॥२९॥

सन्दर्भ—आत्मबल वाले व्यक्ति ही माया से सबन्ध विच्छेद कर पाते हैं ।

भावार्थ—माया ने हमसे (जीवात्मा से) यो कहा कि तू मति को मत छोड़ । किन्तु यह हमारा ही आत्मबल है कि मैं (कबीरदास) माया से अप्रसन्न हो गया और उस माया से रूठ गया, अप्रसन्न हो गया ।

शब्दार्थ—पूठि = पीठ देना ।

बुगली नीर बिटालिया, सायर चढ़या कलंक ।

और पखेरू पी गये, हँस न बोवै अँच ॥३०॥

सन्दर्भ = भक्तजन विषय भोगों में आसक्त नहीं होते हैं ।

भावार्थ—माया रूपी बगुली ने आत्मा के जल को दूषित कर दिया, इससे संसार रूपी सागर भी कलंकित हो गया अन्यपक्षी, सासारिक मनुष्य तो इस विषय वासना के पानी को पी गए किन्तु मुक्तात्माओं (हंसों) ने इस जल को छुआ तक नहीं है ।

शब्दार्थ—बिटालिया = समाप्त कर दिया । सायर = सागर । हंस = मुक्तात्मा ।

कबीर माया जिनि मिलै, सौ बरिया दे बाँह ।

नारद से मुनियर गिले, किसी भरीसौ त्यांह ॥ ३१ ॥

संदर्भ—माया का कोई भरोसा नहीं है उसके फन्दे में नहीं पडना चाहिए ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि अगर माया सैकड़ों प्रलोभन देकर के तुम्हें फँसाना चाहे तो भी उसके फन्दे में नहीं पडना चाहिए । जब इस माया ने

नारद ऐसे प्रभु भक्तों तक को अपने जाल में फाँस लिया है तो फिर इसका भरोसा कैसे किया जा सकता है ?

शब्दार्थ—गिले = नष्ट कर दिये ।

माया की झल जग जल्यो, कनक काँमिणीं लागि ।

कहू, धौं, किहि विधि राखिए, रूई पलेटी आगि ॥ ३२ ॥

संदर्भ—कनक और कामिनी के प्रभाव में पड़ा मनुष्य अधिक समय तक नहीं टिक सकता ।

भावार्थ—कनक और कामिनी-धन और स्त्री के लोभ में फँसकर सारा संसार मसा के जल में फँस गया और उसी की लपट में जलने लगा भस्म हो गया । माया तो रूई में लपेटी हुई आग के समान है जिस प्रकार रूई में लपेटी हुई आग थोड़े समय में ही रूई को जलाने लगती है उसी प्रकार माया भी संसार को जलाने लगती है ।

विशेष—निदर्शना अलंकार ।

शब्दार्थ—झल = अग्नि । पलेटी = लपेटी हुई ।

१६. चाणक कौ अंग

जिव विलंब्या जीव सौ, अलख न लखिया जाइ ।

गोविंद मिलै न झल बुझै, रहि बुझाइ बुझाइ ॥ १ ॥

सन्दर्भ—माया जन्य दुखों की ज्वाला प्रभु दर्शनो से ही शांत हो सकती है ।

भावार्थ—एक जीव दूसरे जीव का सहारा ले रहा है अलक्ष (निराकार) परमात्मा को कोई नहीं देखता । जब तक प्रभु मिलन नहीं होगा तब तक सांसारिक तापो कि अग्नि का बुझना शान्त होना असम्भव है भले ही इसके बुझाने के अनेको प्रयत्न किये जायें ।

शब्दार्थ—विलंब्या = सहारा लिया । अलप = निराकार ब्रह्म । झल = अग्नि ।

इहि उदार के कारणों, जग जाच्यो निस जाम ।

स्वामीं पणों जु सिरि चढ़्यो, सरया न एकौ काम ॥ २ ॥

सन्दर्भ—अहंकार के कारण जीव किसी लोक को भली भाँति सभाल नहीं पाता है ।

भावार्थ—सांसारिक जीव अपनी उदरपूर्ति के लिए रातदिन संसार में भटक-भटक कर याचना किया करते हैं किन्तु उनके अदर जो स्वामीपन की भावना का अहंकार होता है उसके कारण उनका एक भी काम नहीं बन पाता है न यह लोक ही सुख कर हो पाता है और परलोक में ही मुक्ति का मार्ग बन पाता है ।

शब्दार्थ—स्वामी पणौं = स्वामीपना । सर्या = सिद्ध हुआ, बना ।

स्वामी हूँगाँ सोहरा, दोद्धा हूँगाँ दास ।

गाडर आँणीं ऊन कूँ, बाँधी चरै कपास ॥ ३ ॥

सन्दर्भ—ईश्वर भक्त बनना अत्यन्त कठिन है ।

भावार्थ—इस संसार में स्वामी बनना तो सरल है कोई भी व्यक्ति अपने अहंकार को प्रदर्शित कर कुछ व्यक्तियों पर अपना स्वामित्व प्रदर्शित कर सकता है किन्तु परमात्मा का भक्त बनना अत्यन्त कठिन है । जिस प्रकार भेड को ऊन प्राप्ति के लिए पाला जाता है किन्तु वह घर आकर कपास को भी चर लेती है ठीक उसी प्रकार ईश्वर भक्त में यदि अहंकी भावना आ जाती है तो उसका परलोक और यह लोक दोनों नष्ट हो जाते हैं ।

शब्दार्थ—सोहरा = साल । दोद्धा = दुर्लभ । गाडर = भेड ।

स्वामी हुवासीत का, पैकाकार पचास ।

राम नाम काँठै रहया, करै सिषाँ की आस ॥४॥

सन्दर्भ—सांसारिक व्यक्ति दम्भ में ही लिप्त रहते हैं ।

भावार्थ—हे जीवात्मा । तू कण भर सपत्ति का स्वामी होकर भी दम्भ में आकर पचासो सेवक बना रखे हैं हृदय से तूने कभी राम का नाम लिया ही नहीं केवल जीभ से ही राम नाम का उच्चारण करता रहा और अबतू शिष्य बनाने की आशा करता है ।

शब्दार्थ—सीत = दाना, कण । पैकाकार = सेवक । काँठै = कठ ।

कबीर तण्टा टोकणीं, लीयै फिरै सुभाइ ।

राम नाम चीन्है नहीं, पीतलि टी कै चाइ ॥५॥

सन्दर्भ—जीव उदर पूर्ति के लिए ही अमण करता रहता है राम का नाम नहीं लेता है । उसी के प्रति संकेत है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि तू अपने स्वभाव के अनुसार तसला और टोकनी लिए हुए इधर-उधर घूमकर खाने पीने का प्रवन्ध करता रहता है । तू

राम नाम के अमूल्य रत्न को पहचानता नहीं और पीतल के पात्र खाने के लिए घूमता रहता है उसी में मस्त है यह ठीक नहीं है ।

शब्दार्थ—तण्डा = तसला । टोकणी = टोकनी । सुभाइ = स्वभाव । चाइ = चाव, इच्छा ।

कलि का स्वामी लोभिया, पीतलि धरी षटाइ ।

राज दुवारां यौं फिरै, ज्युँ हरिहाई गाइ ॥६॥

संदर्भ—पाखंड करने और ईश्वर की भक्ति करने में बहुत बड़ा अंतर है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि इस संसार के स्वामी और सन्यासी सभी लोभी हैं वे बाहर से देखने में तो विरक्त लगते हैं और अंतःकरण में लोभ व्याप्त रहता है जिस प्रकार पीतल पर खटाई लगा देने से क्षण भर के लिए उसमें चमक आ जाती है उसी प्रकार ऐसे पाखंडी सन्यासी भी क्षण भर के लिए विरक्त हो जाते हैं । जिस प्रकार हरियाली के लोभ में पड़ी हुई गाय बार-बार रोकने पर भी ही खेत की ओर दौड़ती चली जाती है उसी प्रकार वे सन्यासी भी लोभासक्त होकर घनवानों के दरवाजे पर जाया करते हैं ।

शब्दार्थ—हरिहाई = जो हटाने पर भी नहीं हटती है ।

कलि का स्वामी लोभिया, मनसा धरी बधाइ ।

दैंहि पईसा व्याज कौं, लेखाँ करतां जाइ ॥७॥

संदर्भ—कलियुग के सन्यासी लोभी वृत्ति के होते हैं ।

भावार्थ—कलियुग के स्वामी सन्यासी अत्यन्त लोभी होते हैं वे अपनी इच्छाओं-अभिलाषाओं को अत्यन्त बढ़ा चढ़ाकर रखते हैं । वे व्याज पर रुपया उधार देते हैं और बड़ी-बड़ी बहियो (बहीखाता) में उसका हिसाब रखते हैं तब भला बताइए कि उनमें और एक ससारी प्राणी में क्या अन्तर है ?

शब्दार्थ—मनसा = इच्छाएं, अभिलाषाएं ।

कबीर कलि खोटी भई, मुनियर मिलै न कोइ ।

लालच लोभी मसकरा, तिनकुँ आदर होइ ॥८॥

संदर्भ—कलियुग में लोभी और मनचले लोग ही सम्मान के पात्र होते हैं ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि यह कलियुग अत्यन्त छोटा है इसमें कोई श्रेष्ठ मुनि नहीं मिल पाता है इसमें तो उन्हीं व्यक्तियों का सम्मान हो पाता है जो लालची, लोभी और मनचले होते हैं ।

शब्दार्थ—मुनियर = मुनिवर = श्रेष्ठमुनि । मसकरा = मसखरा, मनचला ।

चारिऊँ वेद पढ़ाइ करि, हरि सूँ न लाया हेत ।
वालि कबीरा ले गया, पण्डित दूँढै खेत ॥६॥

संदर्भ—पुराण पथियो की निन्दा और व्यंग्य है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि चारो वेदो को पढ़ करके भी पंडित परमात्मा से प्रेम नहीं कर पाते हैं । भक्ति की भावना उनमे नहीं आ पाती है । भक्ति रूपी खेती की वास्तविक फसल वाली को तो मैंने ग्रहण कर लिया है अब पंडित लोग व्यर्थ मे उसमे अन्न खोजने को—तत्व खोजने की चेष्टा कर रहे हैं ।

शब्दार्थ—वालि = वाली ।

ब्राह्मण गुरु जगत का, साधू का गुरु नाहि ।
उरभि-पुरभि करि मरि रह्या, चारिऊँ वेदां माहिं ॥१०॥

सन्दर्भ—वेदो की निन्दा की गई है ।

भावार्थ—ब्राह्मण तो सारे संसार का गुरु है किन्तु वह साधुओ का गुरु नहीं हो सकता है क्योंकि वह तो चारो वेदो को ही उलट-पुलट कर ब्रह्म तत्व को खोजता रहता है और साधु प्रेम के द्वारा ईश्वर को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं ।

शब्दार्थ—उरभि पुरभि = उलभ-पुलभकर ।

साषित सण का जेवड़ा, भीगाँ सूँ कठठाइ ।
दोइ आपिर गुरु बाहिरा, बांध्या जमपुर जाइ ॥११॥

सन्दर्भ—इस साखी मे कबीर का शाक्तो के प्रति विरोध व्यक्त हुआ है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि शाक्त सम्प्रदाय को मानने वाले व्यक्ति सन की रस्सी के समान होते हैं जो जितना ही अधिक भीगती है उतना ही अधिक कड़ी होती जाती है उसी प्रकार शाक्त भी सासारिक विषय-वासनाओ मे लिपटते जाते हैं । वह राम नाम के दो अक्षरो और गुरु से विलग होने के कारण सीधा बंधा हुआ यमपुर को चला जाता है ।

शब्दार्थ—साषित = शाक्त । कठठाइ = कडा होता है ।

पडोसी सूँ रूसणाँ, तिल-तिल सुख की हाँणि ।
पंडित भये सरावगी, पाँणी पीवै छाँणि ॥१२॥

सन्दर्भ—पडोसी से द्वेष करने से सुख कभी नहीं प्राप्त हो सकता है ।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि अपने पडोसी से रूठ जाने पर प्रत्येक क्षण के सुख की हानि होती रहती है किन्तु इसका विचार जैन सम्प्रदाय वाले नहीं करते हैं वे पानी तो छान-छान कर पीते हैं किन्तु पडोसियो से रूठे रहते हैं ।

शब्दार्थ—रूसणां = रुठना । सरावगी = जैन साधु ।

पंडित सेती कहि रह्या, भीतरि भेद्या नाहिं ।

औरुँ कौँ परमोधतां, गया मुहरकां मांहिं ॥१३॥

सन्दर्भ—पंडित दूसरो को तो उपदेश देते हैं किन्तु स्वयं उस पर आचरण नहीं करते हैं ।

भावार्थ—कवीरदास जी पंडित से कह रहे हैं कि तू ऊपर से ढोग दिखाकर ज्ञानी और भक्त बन रहा है किन्तु भक्ति अन्तःकरण में व्याप्त नहीं होती है और दूसरों को तो तू ज्ञान और भक्ति का प्रबोध, उपदेश देता रहता है किन्तु स्वयं घोर पाप करता रहता है ।

शब्दार्थ—पर बोधतां = उपदेश करता रहा । मुहरका = ब्रधस्थान ।

चतुराई सूवै पढ़ी, सोई पंजर मांहि ।

फिरि प्रमोधै आंन कौ, आपण समझै नाहिं ॥१४॥

सन्दर्भ—तोते के उदाहरण के द्वारा कवीरदास जी समझाते हैं कि जीव को राम नाम का महत्व समझना चाहिए ।

भावार्थ—सम्पूर्ण चतुराई सीख लेने के कारण तोते को लोग पिंजड़े में बन्द कर देते हैं किन्तु स्वयं पिंजड़े में बन्द होकर भी वह और लोगों को उपदेश देता है कि राम नाम का उच्चारण करो यद्यपि वह स्वयं राम नाम के महत्व को समझ नहीं पाता है ।

शब्दार्थ—पंजर = पिंजड़ा । प्रमोधै = उपदेश देना ।

रासि पराई राषताँ, खाया घर का खेत ।

औरौँ कौँ प्रमोधताँ, मुख में पड़िया रेत ॥ १५॥

सन्दर्भ—ऐसे पंडितों के प्रति संकेत है जो दूसरों को तो उपदेश देते रहते हैं किन्तु स्वयं विषय-वासना ग्रस्त रहते हैं ।

भावार्थ—कुछ किसान अपने खेतों के अनाज की रक्षा न करके थोड़ा अन्न पाने के लिए दूसरों के खेत की रक्षा करते हैं उसी प्रकार ढोगी पंडित दूसरों को ही उपदेश देते रहते हैं स्वयं तो विषय-वासना में पडकर अपना जीवन नष्ट करते रहते हैं ।

शब्दार्थ—रासि = अन्न का ढेर ।

तारा मंडल वैसि करि, चंद बड़ाई खाइ ।

उदै भया जब सूर का, स्युँ तारां छिपि जाइ ॥ १६ ॥

सन्दर्भ—जीवको जब ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब उसकी संपूर्ण इच्छाएं नष्ट हो जाती हैं ।

भावार्थ—ताराओ के मध्य में आकाश मंडल में विराजमान होकर चन्द्रमा ऐश्वर्य को प्राप्त करता है किन्तु सूर्य के उदय होने पर वह तारों के साथ अस्त हो जाता है ठीक उसी प्रकार जीव अज्ञानान्वकार में पड़ा रहता है ज्ञान के उदय होने पर संपूर्ण इच्छाएं नष्ट हो जाती हैं ।

शब्दार्थ—सूर्य = साथ ।

देषण के सबको भले, जिसे सीत के कोट ।

रवि के उदै न दीसहीं, वधै न जल की पोट ॥ १७ ॥

सन्दर्भ—जीव का अज्ञान ज्ञान रूपी सूर्य के उदय हो जाने से भाग जाता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार शीत काल में बरफ के किले देखने में अच्छे लगते हैं उसी प्रकार बाह्य वेशभूषा से युक्त पंडित भी देखने में सबको अच्छे लगते हैं किन्तु जिस प्रकार सूर्य उदय होने पर उनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है और उस जल की पोटली भी नहीं बांधी जा सकती उसी प्रकार वास्तविक ज्ञान प्राप्त होने पर अज्ञानी पंडितों और सन्यासियों का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है ।

शब्दार्थ—देषण = देखने में । दीसहीं = दिखाई देते हैं । पोट = गठरी

तीरथ करि करि जग मुवा, डूँधै पांणीं न्हाइ ।

रामहि राम जपतडां, काल घसीट्या जाइ ॥ १८ ॥

सन्दर्भ—मुक्ति उपासना के बाह्याडम्बरो से नहीं मिलती उसके लिए हृदय से प्रभु-भक्ति की आवश्यकता होती है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि अनेकानेक प्रकार के तीर्थों के दर्शन करके और गंदले पानी में स्नान करके लोग मर जाते हैं । मुंह से राम नाम का उच्चारण करते हुए भी मृत्यु उन्हें घसीट ले जाती है क्योंकि राम वाम उच्चारण ही होना है हृदय से उसका जप नहीं होता है ।

शब्दार्थ—डूँधै = गदा । जपतडां = जपता हुआ ।

कासी कांठें घर करें, पीवै निर्मल नीर ।

मुक्ति नहीं हरि नाव बिन हौं कहै दास कबीर ॥ १९ ॥

सन्दर्भ—ईश्वर के नाम-स्मरण के बिना मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती है ।

भावार्थ—शकर की पुरी काशी मे निवास करते हुए और गंगाजी का निर्मल जल पीते हुए लोग मुक्ति की आशा करते हैं किंतु कबीरदास जी इस प्रकार कहते हैं, विना हरि नाम के स्मरण के जीव को मुक्ति मिलना असंभव है ।

शब्दार्थ—कासी काठें = काशी मे निवास करते हुए ।

कबीर इस संसार कौं; समझाऊँ कै बार ।

पूँछ ज पकड़ै भेद की, उत्तर्या चाहै पार ॥ २० ॥

सन्दर्भ—माया का आश्रय ग्रहण कर कहीं जीव संसार-सागर को पार उतर सकता है ?

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं इस संसार के जीवों को कितनी बार समझाऊँ कि माया का आश्रय ग्रहण कर भवसागर को पार उतरने की चाह रखना विलकुल व्यर्थ है ।

शब्दार्थ—भेद = माय ।

कबीर मन फूल्या फिरै, करता हूँ मैं ध्रम ।

कोटि क्रम सिरि ले चल्या, चेत न देखे भ्रम ॥ २१ ॥

सन्दर्भ—वाह्याचरण से कहीं मुक्ति मिलती है ?

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि लोग अपने मन मे बहुत प्रसन्न रहते हैं कि मैं धर्म कर रहा हूँ यद्यपि वे वाह्याचरण को ही धर्म के अंतर्गत मानते हैं और उसी से मुक्ति की कामना करते हैं । वह भ्रम का निवारण कर इस बात पर विचार नहीं करता कि अपने सिर पर करोड़ी कुकर्मों का भार लेकर चल रहा है फिर मुक्ति मिले तो कैसे ?

शब्दार्थ—ध्रम = धर्म । क्रम = कर्म । चेत = चेत कर, सावधान होकर भ्रम = भ्रम ।

मोर तोर की जेवड़ी, बलि बन्ध्या संसार ।

कांसि कडूँवा सुत कलित, दाम्ण वारम्बार ॥ २२ ॥ ३६८ ॥

संदर्भ—अपने और पराए की भावना के कारण जीव को संसार से मुक्ति नहीं मिलती ।

भावार्थ—मेरे तेरे की भावना रूपी रस्सी मे बलि के बक्खे के समान सारा संसार बंधा हुआ है । पुत्र एवं स्त्री रूपी काम एवं कंडुआ के कारण जीवात्मा को आवागमन से मुक्ति नहीं मिल पाती है । वह बार-बार आवागमन चक्र मे पड़ कर संसार तापो मे दग्ध होता रहता है ।

शब्दार्थ—-मोर तोर = अपना पराया । जेवडी = रस्सी । कांसि = कांस
कंड़वा = वाली के अन्दर बिगडा हुआ दाना । दाभण = जलना ।

१८. करणीं बिना कथणीं कौ अंग

कथणीं कथी तौ क्या भया, जे करणीं नां ठहराइ ।
कालवूत के कोट ज्यूँ, देषत ही ठहि जाइ ॥१॥

सन्दर्भ—कथनी के अनुसार ही करणी का होना आवश्यक है ?

भावार्थ—यदि केवल कहते ही कहते मनुष्य ने अपना जीवन व्यतीत कर दिया और उसी अनुसार कार्य न किया तो उससे क्या लाभ । जिस प्रकार कालवूत के बने हुए कगूरे साधारण प्रयास से ही देखते ही देखते नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार मनुष्य के उस मौखिक कथन का भी कोई अस्तित्व नहीं रहता है वे साधारण परीक्षा में भी खरे नहीं उतरते ।

शब्दार्थ—कथणी = कथन, कहना । करणी = कर्म ।

जैसी मुख तैं नीकसै, तैसी चालै चाल ।
पारब्रह्म नेड़ा रहै, पल में करै निहाल ॥२॥

सन्दर्भ—यदि कथनी के समान आचरण भी हो जाय तो क्षण भर में मुक्ति मिल जाय ।

भावार्थ—जिस प्रकार की बातें मनुष्य के मुख से दूसरो के लिए निकलती हैं यदि उस पर वह स्वयं भी आचरण करे तो परब्रह्म उसके समीप ही रहता है और क्षण भर में उसको मुक्ति प्रदान करके निहाल कर देता है ।

शब्दार्थ—नेड़ा = समीप । निहाल = प्रसन्न ।

जैसी मुख तैं नीकसै, तैसी चालै नाहि ।
मानिष नहीं ते स्वान गति, बांध्या जमपुर जाँहि ॥३॥

सन्दर्भ—केवल दूसरो को ही उपदेश देने वाला और स्वयं उस पर आचरण न करने वाला व्यक्ति कुत्ते के समान होता है ।

भावार्थ—जो व्यक्ति अपने मुख से दूसरो के उपदेश हेतु निकाली हुई बात पर स्वयं नहीं चलते हैं आचरण नहीं करते हैं वे व्यक्ति मनुष्य नहीं हैं बल्कि कुत्ते के समान हैं वे पापाचरण के कारण बाधकर यमलोक ले जाये जाते हैं ।

शब्दार्थ—स्वान = श्वान = कुत्ता ।

पद गाँ मन हरषियाँ, साषी कहयाँ अनन्द ।

सोतत नांव न जाणियाँ, गल में पड़िया फंध ॥४॥

सन्दर्भ—ब्रह्म के पूर्ण रहस्य को समझे बिना जीव को मुक्ति नहीं मिल पाती है ।

भावार्थ—मनुष्यो को ईश्वर भक्ति के पद गाने से मन में प्रसन्नता होती है और साखियों को कहने से आनन्द मिलता है ऐसा लगता है कि उन्होंने ईश्वर की सम्पूर्ण भक्ति कर ली है । किन्तु बिना उस परम तत्व के रहस्य को जाने और ध्यान किए उनकी मुक्ति नहीं हो पाती है और वे अन्त तक काल-पाश में ही पड़े रहते हैं ।

शब्दार्थ—तत = तत्व । फंध = फन्दा ।

करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि तूंड ।

जाणै बूझै कुछ नहीं, यौ ही आँधाँ रुड ॥५॥३७३॥

सन्दर्भ—वाह्य रूप से ही राम नाम की रट लगाने से कुछ नहीं होता. जब तक हृदय से उसकी भक्ति नहीं होती है ।

भावार्थ—जो व्यक्ति राम नाम का कीर्तन, बिना उसके महत्व को समझे हुए मुँह उठा-उठा कर ऊँचे स्वर से करते हैं वह वास्तविकता तो कुछ नहीं जानते-बूझते हैं अंधे रुंड के समान बिना सिर के शरीर के नीचे के भाग के समान इधर-उधर डोलते हैं ।

१६. कथणीं बिना करणीं कौ अंग

मैं जान्युं पढ़िबौ भलौ, पढ़िवा थैं भली जोग ।

राम नाम सूं प्रीति करि, भलभल नीदौ लोग ॥१॥

सन्दर्भ—जीव को प्रभु-भक्ति में ही प्रवृत्त होना चाहिए ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि इस बात को मैं भली-भाँति जानता हूँ कि वेद शास्त्रों का पढ़ना अच्छा काम है किन्तु उससे भी अच्छा योग साधना करना

है किन्तु यदि इनका ज्ञान न हो तब भी राम नाम का स्मरण करना अच्छा है भले ही लोग निन्दा करते रहे ।

शब्दार्थ—पढ़िबौ = पढ़ना । थैं = से । भल भल = भले ही ।

कबीर पढ़िवा दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ ।

बांवन आषिर सोधि करि, ररै मरै चित लाइ ॥२॥

संदर्भ—प्रभु-भक्ति ही जीव का काम्य है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि पढ़ना बन्द करके पुस्तको को बहा दे । और वर्णमाला के ५२ अक्षरो का भली प्रकार से शोध करके उसमे से केवल दो अक्षर 'र' और 'म' में अपने चित्त को लगा दे । उसी से मुक्ति प्राप्त होती है ।

शब्दार्थ—आषिर = अक्षर । ररै मरै = 'र' और 'म' ।

कबीर पढ़िवा दूरि करि, आधि पढ़्या संसार ।

पीड़ न उपजी प्रीति सूँ, तौ क्यूँ करि करै पुकार ॥३॥

संदर्भ—शास्त्रादि के पाठ से ही मुक्ति सम्भव नहीं होती है । मुक्ति तो प्रभु-प्रेम से ही प्राप्त होती है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि वेद शास्त्रो का अध्ययन करना छोड़ दे क्योंकि उसके पढ़ने के बाद भी संसार का अन्त हो जाता है । यदि हृदय मे प्रभु-प्रेम की पीड़ा न उत्पन्न हुई तो केवल राम नाम का उच्चारण मात्र करने से क्या लाभ ?

शब्दार्थ—आदि = अत ।

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ ।

एकै आषिर पीव का, पढ़ै सु पंडित होइ ॥४॥३७७॥

संदर्भ—राम नाम का महत्व समझ लेना ही वास्तविक पण्डित होना है ।

भावार्थ—संसार के समस्त धर्म ग्रन्थो को पढ़-पढ़ करके सारा संसार मर गया किन्तु उनमे से कोई भी वास्तविक पंडित नहीं हो सका । किन्तु जिसने प्रियतम का (प्रभु का) एक शब्द 'राम' पढ़ लिया वह वास्तव मे पंडित हो गया ।

शब्दार्थ—मुवा = मरा ।

२०. कामी नर कौ अंग

कांमणि काली {नागणी, तीन्युँ लोक मँभारि ।

राम सनेही ऊबरे, विषई खाये भारि ॥ १ ॥

सन्दर्भ—ईश्वर भक्तो के ऊपर नारी का प्रभाव नही पडता है ।

भावार्थ—कामिनी (स्त्री) काली नागिन के समान विष से भरी हुई है । वह तीनों लोको के मध्य घूम-घूम कर लोगो को डंसती रहती है उसके प्रभाव से केवल राम भक्त ही बच पाते हैं विषय वासना मे डूबे हुए व्यक्तियो को तो वह डस ही लेती है ।

शब्दार्थ—कांमणि = कामिनी । नागणी = नागिन । मभारि = मध्य मे ।

कांमणि मीनीं षाणि की, जे छेड़ौं तौ खाइ ।

जे हरि चरणां राचिया, तिनके निकट न जाइ ॥ २ ॥

सन्दर्भ—नारी का प्रभाव ईश्वर के भक्तो पर नही पडता है ।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि स्त्री मधुमवखी के समान है जिस प्रकार मधुमवखी को जो कोई छेडता है उसी को खा जाती है उसी प्रकार स्त्री को भी जो कोई छेडता है वह उसी का परलोक विगाड़ देती है । किन्तु जिन्होंने अपने मन को भगवान के चरणो मे लगा रखा है उनके निकट जाने का साहस यह मधुमवखी रूपी स्त्री नहीं कर पाती है ।

शब्दार्थ—मीनी = मवखी । षाणि = शहद ।

परनारी राता फिरै, चोरी विढ़ता खाँहिं ।

दिवसि चारि सरसा रहै, अति समूला जाँहिं ॥ ३ ॥

सन्दर्भ—पर स्त्री मे अनुरक्त एवं चोरी का घन खाने वाले का लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं ।

भावार्थ—जो व्यक्ति दूसरो की स्त्री मे अनुरक्त रहता है और चोरी की कमाई खाता है वह थोड़े दिनों के लिए भलेही फला फूला दिखाई दे समृद्धवान् हो जाय किन्तु अन्त मे जड़ सहित नष्ट हो जाता है ।

शब्दार्थ—राता = अनुरक्त । विढ़ता = समृद्ध । सरसा = फूलना फलना ।

पर नारी पर-सुंदरी, धिरला वंचे कोइ ।

खातां मीठी खाँड सी, अति कालि विष होइ ॥ ४ ॥

सन्दर्भ—पर नारी-ससंगं परिणाम मे दुखदायक होता है ।

भावार्थ—दूसरे की पत्नी और सुन्दर स्त्री से कोई विरले व्यक्ति ही बच पाते हैं स्त्री के संसर्ग से प्राप्त सुख खाँड़ के समान मधुर लगता है किन्तु अन्त मे यह विष के समान भयानक प्रभाव वाला होता है ।

विशेष--तुलसी ने भी लिखा है कि--

‘ नारि नयन सर जाहि न लागा ।’

+ + +

‘सो नर तुम्ह समान रघुराया ।’

—मानस

शब्दार्थ--विरला = कोई ।

पर नारी कै राचणौ, औगुण है गुण नांहि ।

षार समंद मै मछला, केता बहि बहि जांहि ॥ ५ ॥

सन्दर्भ—लोग वासना का परित्याग न कर पाने के कारण पर स्त्री गामी हो जाते हैं जब कि इससे हानि ही हानि होती है ।

भावार्थ—पर स्त्री के प्रेम मे अवगुण ही अवगुण है गुण एक भी नहीं इस स्त्री के आकर्षण रूपी समुद्र मे न जाने कितनी आत्मा रूपी मछलियाँ वह जाती हैं ।

शब्दार्थ--राचणौ = प्रेम मे । षार = खारी नमकीत ।

पर नारी को राचणौ, जिसी लहसण की षानि ।

पूणै बैसि रषाइए, परगट होइ दिवानि ॥ ६ ॥

सन्दर्भ—पर स्त्री प्रेम को छिपाया नहीं जा सकता है ।

भावार्थ—पर स्त्री से प्रेम करना लहसुन के खाने के समान है । जिस प्रकार लहसुन खाने के बाद सुगंध से उसका पता अवश्य चल जाता है उसी प्रकार पर स्त्री से किए गए प्रेम का भी पता चल जाता है वह छिपता नहीं । अत्यन्त सतर्कता पूर्वक कोने मे बैठकर भी यह छिपाया नहीं जा सकता है ।

शब्दार्थ—षानि = खाना । पूणै = कोने मे । बैसि = बैठकर । रषाइए = रखवाली कीजिए ।

नर नारी सब नरक है, जब लागि देह सकाम ।

कहै कबीर ते राँम के, जे सुमिरै निहकांम ॥७॥

सन्दर्भ—सासारिक कामनाओ की इच्छा न करके भगवान का भजन ही सच्चा भजन है ।

भावार्थ—जब तक शरीर कामनामय रहता है तब तक सभी स्त्री पुरुष नरक के कीड़े के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जो व्यक्ति निष्काम रूप से ईश्वर की भक्ति करते हैं वे ही वास्तव में ईश्वर प्रेमी हैं।

शब्दार्थ—सकाम = कामनामय। निहकाम = निष्काम।

नारी सेती नेह, बुधि विवेक सबही हरै।

कांइ गमावै देह, कारिज कोई नां सरै ॥ ८ ॥

सन्दर्भ—स्त्री के प्रेम में विवेक नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—स्त्री के प्रति प्रेम व्यक्ति की बुद्धि, विवेक सब का हरण कर लेता है। हे जीव ! तू क्यों अपनी शारीरिक शक्तियों का अपहरण कर रहा है ? इससे तो तेरा कोई भी कार्य सफल नहीं होगा।

शब्दार्थ—काह = क्यों ? सरै = पूरा होना।

नाना भोजन स्वाद सुख, नारी सेती रंग।

वेगि छाड़ि पछिताइगा, ह्वै है मूरति भंग ॥ ९ ॥

सन्दर्भ—इन्द्रिय सुखों में अनुरक्त शरीर की शक्ति कम होने पर मनुष्य पश्चात्ताप करता है।

भावार्थ—हे मनुष्य ! तू नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोजनों और स्त्री के साथ विलास करने के सुख को शीघ्र ही छोड़ दे अन्यथा जब तेरा रूप सौन्दर्य नष्ट हो जायगा तब तुझे पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

शब्दार्थ—मूरति = रूप' सौन्दर्य।

नारि नसावै तीन सुख, जा नर पासैं होइ।

भगति, मुक्ति, निज ग्यान में, पैसि न सकई कोय ॥१० ॥

सन्दर्भ—कामी मनुष्य का सम्बन्ध भक्ति मुक्ति और आत्म ज्ञान से नहीं होता है।

भावार्थ—स्त्री का संपर्क मनुष्य को भक्ति, मुक्ति और आत्म ज्ञान इन तीनों सुखों से वंचित कर देता है। कामी मनुष्यों का इन तीनों से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता है।

शब्दार्थ—पैसि = प्रवेश।

एक कनक अरु कांमनीं, विपकल कीए उपाइ।

देखै ही थैं विप चढ़ै, खाँयें सूँ मरि जाइ ॥ १२ ॥

सन्दर्भ—वन और स्त्री के उपभोग से प्राणी मृत्यु को ही प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—एक तो सोना अर्थात् धन दूसरे स्त्री को प्राप्त कर लेना विष फल का प्राप्त करना है । इन दोनों के देखने मात्र से ही विष के समान प्रभाव हो जाता है और यदि इनका उपभोग किया जाय तो निश्चय ही मृत्यु आती है ।

शब्दार्थ—उपाइ = उत्पन्न करके ।

एक कनक अरु कामिनी, दोऊ अगनि की माल ।

देखें ही तन प्रजलै, परस्यो ह्वै पैमाल ॥ १२ ॥

सन्दर्भ—स्त्री और धन का देखना भी भयकर होता है ।

भावार्थ—एक सोना अर्थात् धन और दूसरे स्त्री दोनों अग्नि की जलती हुई लपटो के समान हैं । इनको देखने मात्र से ही शरीर प्रज्वलित होने लगना है फिर स्पर्श करने पर तो कहना ही क्या ? तब तो मनुष्य नष्ट ही हो जाता है ।

शब्दार्थ—माल = लपट । पैमाल = नष्ट होना ।

कबीर भग की प्रीतड़ी, केते गए गडंत ।

केते अजहूँ जाइसी, नरकि हसंत हसंत ॥ १३ ॥

सन्दर्भ—एक दूसरे के परिणाम देखकर भी मनुष्य वासना से अलग नहीं होता है ।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि स्त्री के सहवास के सुख के प्रेमी न जाने कितने व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त होने के बाद कन्न मे गाड दिये गए किन्तु फिर भी ससार के अवशिष्ट प्राणी आज भी हंसते हंसते उमी नरक को (पतन मार्ग) को जा रहे हैं ।

शब्दार्थ—भग = स्त्री सम्भोग ।

जोरु जूठणि जगत की, भले बुरे के बीच ।

उत्तम ते अलगे रहैं, निकटि रहैं तें नीच ॥१४॥

सन्दर्भ—स्त्री से दूर रहने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ और इसके संसर्ग में रहने वाला नीच होता है ।

भावार्थ—स्त्री सांसारिक विषय वासनाओ की बची हुई जूठन है । यह मनुष्य के भले और बुरे का अंतर बताती है । जो इससे अलग रहते हैं वे उत्तम कोटि के व्यक्ति होते हैं और जो इसके निकट रहते हैं वे नीच प्रकृति के होते हैं ।

शब्दार्थ—जोरु = पत्नी, नारी । उत्तम = उत्तम = श्रेष्ठ ।

नारी कुँड नरक का, बिरला थंभे बाग ।

कोइ साधू जन उबरै, सब जग मूवा लाग ॥१५॥

सन्दर्भ—स्त्री के सम्पर्क से ईश्वर भक्त ही बच पाते हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार नरक कुंड अपवित्र होता है उसी प्रकार स्त्री भी अपवित्र होती है अपनी इन्द्रियरूपी लगाम को विरले व्यक्ति ही रोक पाते हैं । संपूर्ण संसार स्त्री मोह में पडकर मरकर विनष्ट हो गया केवल कुछ साधु व्यक्ति ही इसके प्रलोभन से बचकर भव सागर पार कर पाते हैं ।

शब्दार्थ—थमै = थामना रोक पाना । वाग = लगाम ।

विशेष—रूपक अलंकार ।

सुंदरी थैं सूली भली, विरला बंचै कोइ ।

लोह निहाला अग्नि में, जलि बलि कोइला होय ॥ १६ ॥

सन्दर्भ—नारी दृढ चरित्र वाले को व्यक्ति को भी पथ भ्रष्ट कर देती है ।

भावार्थ—सुंदरी स्त्री से शूली फिर भी अच्छी होती है क्योंकि स्त्री के घातक प्रभाव से विरला व्यक्ति ही बच पाता है । श्रेष्ठ से श्रेष्ठ लोहे को भी अग्नि जलाकर कोयला बना देती है उसी प्रकार स्त्री भी श्रेष्ठ से श्रेष्ठ पुरुष को भी नष्ट भ्रष्ट कर देती है ।

शब्दार्थ—निहाला = डालना ।

अंधा नर चेतै नहीं, कटै न संसै सूल ।

और गुनह हरि बकससी, काँमी डाल न मूल ॥ १७ ॥

सन्दर्भ—कामी व्यक्ति के अवगुणों को ईश्वर क्षमा नहीं करता है ।

भावार्थ—कामान्ध व्यक्ति को कभी चेत नहीं आता वह सदैव असावधान ही रहता है उसके सशय का निवारण भी नहीं हो पाता है । अन्य गुनाहों को दोषों को तो ईश्वर क्षमा कर देता है किन्तु कामी व्यक्ति तो कहीं का भी नहीं रहता है न तो उसके हाथ में यह लोक रहता है और न परलोक ।

शब्दार्थ—अन्धा = कामान्ध । गुनह = गुनाह, दोष ।

भगति विगाड़ी काँमियाँ, इंद्रि केरै स्वादि ।

हीरा खोया हाथ थैं, जनम गँवाया वादि ॥ १८ ॥

सन्दर्भ—मानव जन्म का उद्देश्य एक मात्र प्रभु भक्ति ही है ।

भावार्थ—कामी पुरुषों ने इन्द्रियों के स्वाद के लिए भक्ति मार्ग को नष्ट कर दिया उन्होंने हीरा ऐसे अनमोल भक्ति मार्ग को अपने हाथ से खो दिया और सांसारिक विषयों में पड़ कर अपने जन्म को व्यर्थ ही खो दिया ।

शब्दार्थ—काँमियाँ = कामी पुरुष । वादि = व्यर्थ ।

विशेष—रूपक अलंकार ।

कामीं धर्मीं न भावई, विषई कौ ले सोधि ।
कुबोधि न जाई जीव की, भावै स्यंभ रहौ प्रमोधि ॥ १६ ॥

सन्दर्भ—स्वयं प्रभु के समझाने पर भी कामी पुरुषों को समझ नहीं आ पाती हैं ।

भावार्थ—कामी पुरुष को प्रभु भक्ति रूपी अमृत अच्छा नहीं लगता है वह तो इन्द्रियों के विषयों को खोज करता है यदि साक्षात् प्रभु ही आकर ऐसे जीव को उपदेश देने लगे तो भी उसकी कुबुद्धि नष्ट नहीं होती है ।

शब्दार्थ—अमी = अमृत । स्यंभ = शंभु, ईश्वर ।

विषै बिलंबी आत्मां, ताका मजकरण खाया सोधि ।

ग्यान अंकुर न ऊगई, भावै निज प्रमोध ॥ २० ॥

संदर्भ—उपदेशों का प्रभाव कामी पुरुषों पर नहीं पड़ता है ।

भावार्थ—विषय भोगों में लिप्त जीवात्मा के शरीर के मज्जा के प्रत्येक कण-कण को विषय की प्रवृत्ति खोज खोजकर खा लेती है । इस प्रकार के व्यक्ति के अंतःकरण में ज्ञान का अंकुर अंकुरित नहीं होता है उसे चाहे जितने उपदेश दिये जाय । उसे तो अपने आपका उपदेश ही अच्छा लगता है ।

शब्दार्थ—बिलंबी = लगी हुई । मजकरण = मज्जा का कण ।

विषै कर्म की कंचुली, पहरि हुआ नर नाग ।

सिर फोड़ै सूँझै नहीं, को आगिला अभाग ॥ २१ ॥

सन्दर्भ—विषय-वासना में लगा हुआ व्यक्ति आत्म तत्व को नहीं पहचान पाता है ।

भावार्थ—विषय वासना रूपी कर्मों की कंचुली को पहन कर मनुष्य सर्प तुल्य हो जाता है । जिस प्रकार सर्प कंचुली से ढका होने पर सिर पटक पटककर देखने पर भी आत्मस्वरूप को नहीं देख पाता है उसी प्रकार विषयी पुरुष भरसक प्रयास करने पर भी आत्मा स्वरूप को नहीं जान पाते हैं ।

शब्दार्थ—सिर फोड़ै = भरसक प्रयत्न करने पर भी ।

विशेष - दृष्टान्त अलंकार ।

कामीं कदे न हरि भजै, जपै न केसौ जाप ।

राम कथां थै जलि मरै, को पूरिबला पाप ॥ २२ ॥

सन्दर्भ—कामी पुरुष को प्रभु भजन अच्छा नहीं लगता है ।

भावार्थ—कामी पुरुष कभी भी ईश्वर का भजन नहीं करता है और न वह कृष्ण नाम का सकीर्तन ही करता है यह उसके पूर्व जन्म के पापों का ही परिणाम

है कि यदि उसके समक्ष कोई दूसरा भी व्यक्ति राम का नाम ले लेता है तो वह क्रोधाभिभूत हो जाता है ।

शब्दार्थ—करे = कभी । केसौ = केशव, प्रभु ।

कामी लज्या नां करै, मन मांहै अहिलाद ।

नींद न मांगै सांधरा, भूष न मांगै स्वाद ॥२३॥

सन्दर्भ—कामी पुरुष निजंजता के कारण भले बुरे पर ध्यान नहीं देता है ।

भावार्थ—कामी पुरुष लज्जा नहीं करता है अपितु उसके मन में अपने कुकर्मों के प्रति भी प्रसन्नता ही होती है । जिस प्रकार नींद में मस्त आदमी शैया की चिन्ता न कर कहीं भी सो जाता है और भूखा व्यक्ति स्वाद नहीं देखता कुछ भी खाकर भूख शान्त करने लगता है उसी प्रकार कामी पुरुष भले बुरे का ध्यान नहीं रखता है ।

शब्दार्थ—अहिलाद = आह्लाद, प्रसन्नता । सांधरा = शय्या ।

नारि पराई आपणीं, भुगत्या नरकहिं जाइ ।

आगि आगि सबरौ कहैं, तामैं हाथ न बाहि ॥२४॥

सन्दर्भ—कबीर मनुष्यों को नारी से अलग रहने का उपदेश देते हैं ।

भावार्थ—जो व्यक्ति दूसरे की स्त्री का उपभोग अपनी स्त्री के समान करते हैं वे सीधे नरक को ही जाते हैं । हे मनुष्य ! जिस स्त्री को सारा संसार अग्नि-अग्नि कहकर घातक बतलाता है उसमें तू अपना हाथ न डाल । उससे तू अलग ही रहने की चेष्टा कर ।

शब्दार्थ—भुगत्या = भोग करने पर । बादि = डाल ।

कबीर कहता जात हौ, चेतै नहीं गँवार ॥

वैरागी गिरही कहा, कामी वार न पार ॥२५॥

सन्दर्भ—काम वासना की ओर उन्मुख हुए व्यक्ति का कही, स्थान नहीं होता है ।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि मैं कहता हुआ जाता हूँ कि सासारिक प्राणियों को चेत नहीं आता है । चाहे वैरागी हो और चाहे गृहस्थ कामी पुरुष कही वार-पार नहीं होता है । उसे कही भी स्थान नहीं प्राप्त होता है ।

शब्दार्थ—गिरही = गृहस्थ ।

ग्यानी तौ नीडर भया, मानै नांही संक ।

इन्द्री केरे घसि पड्या, भूँचै विषै निसंक ॥२६॥

सन्दर्भ—ज्ञानी पुरुष के लिए भी विषय वासना का परित्याग आवश्यक है ।

भावार्थ—ज्ञानी व्यक्ति निडर हो जाता है उसे किसी प्रकार की शंका नहीं रहती है और वह निशंक होकर इंद्रियो के भोगो को भोगता रहता है किन्तु वह ज्ञानी ही कैसा ? जो इंद्रियो के भोगो को भोगे । उसे तो उससे अलग ही रहना चाहिए ।

शब्दार्थ—शंक = शंका ।

ग्यानी मूल गंवाइया, आपण भया करता ।

ताथै संसारी भला, मन में रहै डरता ॥२७॥४०४॥

सन्दर्भ—अपने आचरण के प्रति सचेष्ट रहने वाला व्यक्ति ही श्रेष्ठ है ।

भावार्थ—ज्ञानी व्यक्ति अपने को संसार का कर्ता मानकर मूल सपत्ति भी गंवा देता है आत्म तत्व को पहचान नहीं पाता है । उससे अच्छे तो वे सासारिक मनुष्य है जो अपने मन मे ईश्वर से डरते रहते हैं कि कही प्रभु उस पर क्रुद्ध न हो जाय और इस डर से वह कुकर्म नहीं करता है ।

शब्दार्थ = ताथै = उससे ।

२१. सहज कौ अज्ञ

सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोइ ।

जिन सहजै विषिया तजी, सहज कहीजै सोइ ॥१॥

सन्दर्भ—निष्काम भक्त विषय वासना का परित्याग कर देते हैं ।

भावार्थ—प्रत्येक मनुष्य ईश्वर प्राप्ति के मागं सहज (आसान) ही कहता है किन्तु उस सहज को कोई जानता नहीं है । परमात्मा को कोई नहीं जान पाता है । जो सरलतापूर्वक विषय वासनाओ का परित्याग कर देते हैं उन्ही को सरल एवं निष्काम भक्त कहना चाहिए ।

शब्दार्थ—चीन्है = जानना ।

विशेष—पुनरुक्ति अलकार ।

सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्है कोइ ।

पाँचू राखै परसती, सहज कही जै सोइ ॥२॥

सन्दर्भ—पंचेन्द्रियो को वश मे करने वाला व्यक्ति ही सच्चा निष्काम भक्त है ।

भावार्थ—ईश्वर प्राप्ति को सभी सरल कहते हैं किन्तु उस सरल ब्रह्म को कोई पहचान नहीं पाता है । जो व्यक्ति पाँचो इन्द्रियो को अपने वश मे कर लेता है वही सहज और निष्काम भक्त होता है ।

शब्दार्थ—पाँचू = पाँचो इन्द्रियो को । परसती = वश मे ।

विशेष— पुनरुक्ति अलंकार ।

सहजैँ सहजैँ सब गए, सुत धित कांमणि कांम ।

एकमेक ह्वै मिलि रहया, दासि कवीरा राम ॥३॥

सन्दर्भ—संसार की प्रत्येक वस्तु नश्वर है । केवल ईश्वर भक्त ही परमात्मा मे तदाकार हो जाता है ।

भावार्थ—कवीरदास जी कहते हैं कि पुत्र, धन, स्त्री और कामनाएं धीरे-धीरे एक-एक करके सभी चले गये । और सब के नष्ट होने पर सब से वैराग्य होने पर भक्त कवीर ईश्वर से मिल कर एकाकार हो गये ।

शब्दार्थ—सहजैँ सहजैँ = शनैः शनैः ।

सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्हैँ कोइ ।

जिन्ह सहजैँ हरिणी मिलै, सहज कहीजैँ सोइ ॥४॥४०८॥

संदर्भ—ईश्वर को सरलता से प्राप्त कर लेना ही सहजावस्था है ।

भावार्थ—ईश्वर प्राप्ति को सरल तो सभी कहते हैं किन्तु उस सरल को (ब्रह्म को) कोई जान नहीं पाता है । जिस व्यक्ति को सुगमता से प्रभु मिल जायें वही सहज साधक है और वही अवस्था सहजावस्था है ।

शब्दार्थ—हरि जी = परब्रह्म, परमात्मा ।

२२. साँच कौ अङ्ग

कबीर पूँजी साह की, तूँ जिन खोवैष्वार ।
खरी विगूचनि होइगी, लेखा देती बार ॥१॥

सन्दर्भ—जीव को सम्बोधित करते हुए कबीर दास जो कहते हैं कि आत्मा के सच्चे रूप को भुला देने से बड़ी परेशानी होगी ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि हे जीव ! तू परमात्मा रूमी सेठ की दी हुई पूँजी को व्यर्थ ही नष्ट मतकर अन्यथा मृत्यु के उपरान्त कर्मों का लेखा-जोखा देते समय तुझे भारी कठिनाई में पडना होगा ।

शब्दार्थ—ष्वार = व्यर्थ । विगूचनि = कठिनाई ।

लेखा देणां सोहरा, जे दिल साँचा होइ ।
उस चंगे दीवांन में, पला न पकड़ै कोइ ॥२॥

सन्दर्भ—सत्य प्रिय व्यक्ति को परमात्मा के समक्ष कोई कष्ट नहीं होता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि यदि तुम्हारा मन सच्चा है तो परमात्मा के समक्ष तुम्हें अपने कर्मों का हिसाब देने में आनन्द ही आयेगा कष्ट नहीं होगा । और उस परमात्मा के दरबार में सत्य प्रिय व्यक्ति का दामन नहीं कोई पकड़ सकता है कोई उसको निकाल नहीं सकता है ।

शब्दार्थ—सोहरा = अच्छा । पला = दामन ।

कबीर चित्त चमंकिया, किया पयाना दूरि ।
काइथि कागद काढ़िया, तब दरगहलेखा पूरि ॥३॥

सन्दर्भ—सच्चा व्यक्ति हिसाब-किताब में खरा निकलता है और जीव सत्कर्मों के द्वारा ही जीवन्मुक्त हो पाता है ।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि मेरी आत्मा ने दूर देश—ब्रह्म के समीप प्रयाण किया तो चित्त प्रसन्न हो गया और वहाँ पर जब चित्रगुप्त ने मेरे कर्मों का लेखा-जोखा निकाला तो वह पूर्ण निकला ।

शब्दार्थ—चमंकिया = प्रसन्न हुआ । पयाना = प्रयाण । काइथि = कायस्थ, चित्रगुप्त । दरिगह = दरवार ।

काइथि कागद काढ़िया, तब लेखै वार न पार ।
जब लग सांस सरीर में, तब लग राम सँभार ॥४॥

सन्दर्भ—जीवन रहते ही पापों के नाश हेतु राम नाम का जप करते रहना चाहिए ।

भावार्थ—मरणोपरान्त परमात्मा के दरवार में जिस समय चित्र गुप्त तेरे कर्मों का हिसाब-किताब लगाकर देखेगा उस समय तेरे कुकर्मों का कोई वारपार न होगा । नरक भोगना अवश्यंभावी हो जावेगा । इसलिए हे जीव ! जब तक तेरे शरीर में प्राण हैं तब तक सच्चे हृदय से राम नाम को अवश्य स्मरण कर जिससे पाप नष्ट हो जायें ।

शब्दार्थ—सास = प्राण ।

यहु सब भूठी बंदिगी, बरियां पंच निवाज ।
साचै मारै भूठ पढ़ि, काजी करै अकाज ॥५॥

सन्दर्भ—परमात्मा एक और सर्वव्यापक है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि मुसलमानों का पाँच वार नमाज पढ़ना और परमात्मा की प्रार्थना करना सब व्यर्थ है क्योंकि तू उन कुरान की आयतों पर स्वयं तो आचरण करता नहीं है और इस प्रकार कितना बड़ा अनर्थ करता है ।

शब्दार्थ—बंदिगी = अर्चना, पूजा । बरिया पंच = पाँच वार ।

कबीर काजी स्वादि बसि, ब्रह्म हतै तब दोइ ।
चढ़ि मसीति एकै कहै, दरि क्यूँ साँचा होइ ॥६॥

सन्दर्भ—ईश्वर और जीव एकही हैं उनमें कोई भेद नहीं है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि काजी जिस समय अपनी जिह्वा के स्वाद हेतु बकरे का हनन करता है तो वह यही समझकर मारता है कि ब्रह्म और जीव दोनों अलग हैं यद्यपि वास्तव में वह बकरा भी ब्रह्म ही है किन्तु मसजिद में खड़े होकर जिस समय वह यह कहने लगता है कि अल्लाह एक है उस समय उसकी बात को सत्य कैसे माना जा सकता है ?

शब्दार्थ—मसीति = मसजिद ।

काजी मुल्ला भ्रमियां, चल्या दुनीं के साथि ।
दिल थै दीन बिसारिया, करद लई जब हाथि ॥७॥

सन्दर्भ—धर्म का जीव हिसा से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि काजी और मुल्ला जी धार्मिक गुरु

होते हैं वे भी दुनिया के साथ ही साथ चलते हैं । वे भी जिस समय निरीह पशुओं की हिंसा हेतु कटार अपने हाथ में उठा लेते हैं ।

शब्दार्थ—भ्रमियाँ = भ्रम ग्रस्त । दुनी = दुनियाँ । दीन = धर्म । करद = कटार ।

जोरि करि जिवहै करें, कहते हैं ज हलाख ।

जब दफतर देखैगा दर्ई, तब ह्वैगा कौँण हवाल ॥८॥

सन्दर्भ—जीव हिंसा धर्म के प्रतिकूल है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि मुसलमान निरीह पशुओं को पकड़कर काटते हैं उस समय कहते हैं कि यह हलाल है धार्मिक विधान के अनुकूल है । किन्तु जब मृत्यु के उपरान्त विवाता के यहाँ कर्मों का हिसाब-किताब होगा उस समय तेरा क्या हाल होगा ।

शब्दार्थ—जिवहै = वध । दर्ई = प्रभु ।

जोरी कीयां जुलम है, माँगे न्याव खुदाइ ।

खालिक दरि खूनी खड़ा, मार मुहे मुहिं खाइ ॥९॥

सन्दर्भ—किसी व्यक्ति के साथ बल प्रयोग करना अत्याचार है ।

भावार्थ—जीव वध में शक्ति का प्रयोग करना बहुत बड़ा अपराध है । ईश्वर प्रत्येक प्राणी से न्याय पूर्ण व्यवहार की आशा करता है । यही खूनी व्यक्ति जिस समय परमात्मा के दरवार में खड़ा होगा उस समय उसके मुँह पर अनवरत प्रहार किए जाएंगे और उसे उतना ही कष्ट दिया जायगा जितना वह दूसरों को दे चुका है ।

शब्दार्थ—खालिक = ईश्वर । दरि = द्वार ।

साँई सेती चोरियाँ, चोरां सेती गुम्फ ।

जाणैगा रे जीवड़ा, मार पड़ैगी तुम्फ ॥१०॥

सन्दर्भ—ईश्वर से चोरी करना अक्षम्य अपराध है ।

भावार्थ—ऐ जीव ! तू परमात्मा से तो चोरी करता है और काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि चोरो से तू मित्रता रखता है । हे जीव ! जब तेरे इस आचरण पर परमात्मा तुझे दण्ड देगा तब तुझे अपने कपट पूर्ण व्यवहार का अनुमान होगा ।

शब्दार्थ—गुम्फ = मित्रता । जीवड़ा = जीवात्मा ।

क० सा० फा०—१४

सैप सबूरी बाहिरा, क्या हज काबै जाइ ।
जिनकी दिल स्याबति नहीं, तिनको कहाँ खुदाइ ॥११॥

सन्दर्भ—ईश्वर प्राप्ति के लिए अम और संशय का त्याग आवश्यक है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि हे शेख ! तू सतोष से परे है फिर तेरे हज और काबे जाने से कोई लाभ नहीं है जिनका हृदय सच्चा नहीं है उन्हें ईश्वर कही भी नहीं प्राप्त होता है ।

शब्दार्थ—सबूरी = सब्र, संतोष । स्याबति = पूर्ण, सच्चा ।

खूब खांड है खीचड़ी, माँहि पड़ै टुक लूँग ।
पेड़ा रोटी खाइ करि, गला कटावै कौण ॥१२॥

सन्दर्भ—मरणोपरान्त दण्ड से बचने के लिए सादा जीवन व्यतीत करना श्रेयकर है ।

भावार्थ—यदि खिचड़ी में थोड़ा सा नमक पड़ जाय तो वही खांड के समान मधुर हो जाती है । पेड़ा और रोटी खा करके भी मृत्यु के उपरान्त अपना गला मौन कटावे ? कष्ट कौन सहन करे ?

शब्दार्थ—टुक = थोड़ा सा । लूँग = नमक ।

पापी पूजा बैसि करि, भषै माँस मद दोइ ।
तिनकी दष्या मुक्ति नहीं, कोटि नरक फल होइ ॥१३॥

सन्दर्भ—वमं के नाम पर जीव हिंसा करने वालों को मुक्ति नहीं मिलती है ।

भावार्थ—पापी लोग पूजा के नाम पर बैठकर मांस और मदिरा का सेवन करते हैं ऐसे पापियों को इस दशा पर उन्हें मुक्ति नहीं मिल पाती है उनकी तो करोड़ों नरकों का फल भोगना पड़ता है । यातनार्थे सहन करनी पड़ती हैं ।

शब्दार्थ—बैसीकरि = बैठकर । दष्या = दशा मुक्ति = मुक्ति मोक्ष ।

सकल वरण इकत्र ह्वै, सकति पूजि मिलि खाँहिं ।
हरि दासनि की भ्राँति करि, केवल जमपुर जाँहिं ॥१४॥

सन्दर्भ—शाक्तों के जीव हिंसा के प्रति विरोध प्रदर्शित है ।

भावार्थ—शाक्त सम्प्रदाय को मानने वाले सभी लोग एकत्र होकर बलि चढ़ाकर शक्ति की पूजा करते हैं और फिर सभी मिलकर प्रसाद के रूप में उसका भक्षण करते हैं वे केवल ईश्वर-भक्त बनने के अम में पड़े रहते हैं वास्तविकता तो यह कि वे भी घे यमलोक जाते हैं ।

शब्दार्थ—सकति = शक्ति ।

कबीर लज्या लोक की, सुमिरै नाँही साच ।

जानि बूझि कंचन तजै, काठा पकड़ै काच ॥१५॥

सन्दर्भ—कुरीतियो का पालन किसी भी प्रकार श्रेयष्कर नहीं है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि मनुष्य लोक लज्जा के भय से सत्य का विस्मरण कर कुरीतियो का पालन करता है । ऐसा व्यक्ति जान-बूझ करके सोना रूपी परमात्मा का त्याग कर काँच रूपी असत्य को अपना रहा है ।

शब्दार्थ—लज्या = लज्जा ।

कबीर जिनि जिनि जाँणियाँ, करता केवल सार ।

सो प्राँणी काहै चलै, भूठे जग की लार ॥१६॥

संदर्भ—ईश्वर के अस्तित्व को समझ लेने के बाद मिथ्याचरण नहीं होते हैं ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि जिन-जिन लोगो ने यह समझ लिया है कि इस सृष्टि का कर्ता ब्रह्म ही सब कुछ है वह असली तत्व है वे व्यक्ति मोहान्धकार में पडकर सासारिक मिथ्या मार्ग पर आचरण नहीं करते हैं ।

शब्दार्थ—जिनि जिनि = जिन्होंने । करता = कर्ता । लार पंक्ति ।

भूठे कौ भूठा मिलै, दूणाँ बधै सनेह ।

भूठे कू साँचा मिलै, तबही दूटै नेह ॥१७॥४२५॥

संदर्भ—मैत्री समान गुणो में होती है ।

भावार्थ—यदि भूठे (ईश्वर विमुख) व्यक्ति से भूठा (ईश्वर विमुख) व्यक्ति मिल जाता है परिचय बढ़ता है तो स्नेह दूना बढ़ जाता है मैत्री बढ़ जाती है । और यदि ईश्वर विमुख से ईश्वर-प्रेमी मिल जाता है तो स्नेह सम्बन्ध टूट जाता है । मैत्री समाप्त हो जाती है ।

शब्दार्थ—दूणाँ = दुगुना । बधै = बढ़ै ।

२३. भ्रम विधों सण कौ अंग

पाहण केरा पूतला, करि पूजै करतार ।

इही भरोसै जे रहे, ते बूड़े काली धार ॥ १ ॥

सन्दर्भ—कबीर का मूर्ति पूजा के प्रति विरोध प्रदर्शित है ।

भावार्थ—मनुष्य पत्थर के पुतले को-मूर्ति को-ईश्वर मानकर पूजते हैं और जो इस पाषाण मूर्ति को ईश्वर ही मानते रहते हैं वे काली धारा में डूब जाते हैं ।

शब्दार्थ—पाहण = पाषाण । पूतला = मूर्ति ।

काजल केरी कोठरी, मसि के कर्म कपाट ।

पाँहनि बोई पृथमी, पण्डित पाड़ी बाट ॥ २ ॥

संदर्भ—कबीरदास ने मूर्ति पूजा को ढोग बताया है ।

भावार्थ—यह ससार काजल की कोठरी के समान है उसमें कालिमा युक्त कर्मों-कुकर्मों के क्वाड लगे हुए हैं और पंडितों ने अपना ढोग रचकर सम्पूर्ण पृथ्वी को पत्थरों की मूर्तियों से ढंक दिया है मानो उसी रास्ते से वे स्वर्ग जाने की तैयारी कर रहे हों ।

शब्दार्थ—पृथमी = पृथ्वी । पाड़ी = निकाली ।

पाहन कूँ का पूजिए, जे जनम न देई जाव ।

आंधा नर आसामुषी, यौहीं खोवै आव ॥ ३ ॥

संदर्भ—पत्थरों की पूजा व्यर्थ है ।

भावार्थ—कबीरदास जो कहते हैं कि उस पत्थर को पूजने से क्या लाभ ? जो जीवन भर उत्तर ही नहीं देती है और विभिन्न प्रकार की आशाओं को लगाए हुए मनुष्य मूर्ति पूजा कर करके अपने आत्म-सम्मान को व्यर्थ ही नष्ट कर रहा है ।

शब्दार्थ—जाव = जवाव, उत्तर । आंधा = अज्ञानी ।

हम भी पाँहन पूजते, होते रन के रोक्त ।

सतगुरु की कृपा भई, बारया सिर थै बोक्त ॥ ४ ॥

सन्दर्भ—कबीरदास कहते हैं कि हमने सतगुरु की कृपा से मूर्ति पूजा नहीं

की है ।

भावार्थ—यदि हम भी पत्थरो की पूजा करते होते तो युद्ध के गधो के समान सैनिको के खाद्य पशयं ढोया करते किंतु मेरे ऊपर तो सतगुरु की कृपा हो गई जिससे मेरे सिर से इन मूर्तियो का निरर्थक बोझा उतर गया ।

शब्दार्थ—रोझ = गधा, खच्चर ।

जेती देषों आत्मा, तेता सालिग राम ।

साधू प्रतषि देव हैं, नहीं पाथर सूकाम ॥ ५ ॥

संदर्भ—बहु देवो पासना पर व्यग्य है ।

भावार्थ—इस संसार मे जितनी जीवात्मार्थें हैं संख्या मे उतनी ही शालिग्राम की मूर्तियां हैं अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग देवता की पूजा करता है । कबीरदास जी कहते हैं कि सावू तो स्वयं हो देवता है फिर पत्थरो की पूजा करने से क्या लाभ ?

शब्दार्थ—प्रतषि = प्रत्यक्ष ।

सेवै सालिग राम कू, मन की भ्रांति न जाइ ।

सीतलता सुपनै नहीं, दिन दिन अधकी लाइ ॥ ६ ॥

संदर्भ—मन का भ्रम मूर्ति पूजा से दूर नहीं हो सकता है ।

भावार्थ—पत्थर की बनी हुई शालिग्राम की मूर्ति की पूजा करने से मन का भ्रम दूर नहीं हो सकता है । ऐसे मूर्ति पूजको को स्वप्न मे भी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती है दिन प्रतिदिन अशान्ति की अग्नि अधिकाधिक तीव्रता से प्रज्वलित होती है ।

शब्दार्थ—अधकी = अधिक । लाई = संताप की अग्नि ।

सेवै सालिगराम कूँ, माया सेती हेत ।

वोड़ें काला कापड़ा, नाँव धरावै सेत ॥ ७ ॥

संदर्भ—कुकरं करके कोई व्यक्ति धर्माचारी कहे जाने के योग्य है ?

भावार्थ—साधारण माया जन्य आकर्षणो के हेतु जो व्यक्ति शालिग्राम की पूजा किया किया करते हैं वे व्यक्ति काला वस्त्र धारण करके भी श्वेत वस्त्र धारी बनना चाहते हैं ढोंग रक्कर भी धर्माचारी बनना चाहते हैं ।

शब्दार्थ—सेत = श्वेत ।

जप तप दीसैं थोधरा, तीरथ व्रत वेसास ।

सूवै सैवल सेविया यौ, जग चल्या निरास ॥ ८ ॥

सन्दर्भ—जप, तप आदि पर विश्वास करने वालों को निराशा ही हाथ लगती है।

भावार्थ—जप, तप, तीर्थ, व्रत, एवं विभिन्न देवताओं में विश्वास करना निरर्थक है, थोथा है। उसमें तो व्यक्ति को उसी प्रकार निराशा हाथ लगती है जिस प्रकार सेवर के फल में टोट के मारने से तोते को निराशा ही होती है।

शब्दार्थ—थोथरा = थोथा। सूवै = सुआ, तोता।

विशेष—उपमा अलंकार।

तीरथै तै सब बेलड़ी, सब जग मेल्या छाइ।

कबीर मूल निकरिया, कौण हलाहल खाइ ॥ ६ ॥

सन्दर्भ—कबीर के मतानुसार तीर्थ व्रतादि सब व्यर्थ हैं।

भावार्थ—तीर्थ व्रत आदि जगली बेल के समान फैलकर पूरे संसार में छाए हुए हैं किन्तु कबीरदास जी ने इस मूल को जड़ से ही नष्ट कर दिया है फिर इसके विषाक्त फलों को कौन खाता। अर्थात् संसार इनके विषय प्रभाव से बच गया।

शब्दार्थ—बेलड़ी = बेल।

मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जाँणि।

दसवाँ द्वारा देहुरा, तामें जोति पिछाँणि ॥ १० ॥

संदर्भ—सभी तीर्थ स्थान और योग की क्रियाएँ शरीर में ही विद्यमान हैं।

भावार्थ—हे मनुष्यो! मन में ही मथुरा है और दिल में द्वारिका और इस शरीर को ही पवित्र काशी नगरी समझो जिसमें ब्रह्माण्ड ही इस शरीर रूपी मंदिर का दरवाजा है इसलिए उसमें प्रज्वलित निरंजन पुरुष की ज्योति को पहिचानना ही श्रेयष्कर है।

शब्दार्थ—दसवाँ द्वार = दशम द्वार, ब्रह्म रंघ्र।

विशेष—रूपक अलंकार।

कबीर दुनियाँ देहुरै, सीस नवाँवण जाइ।

हिरदा भीतरि हरि वसै, तूँ ताही सौँ ल्यौ लाइ ॥११॥ ४३६

संदर्भ—हृदय स्थित परमात्मा का ध्यान लगाने से ही परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि इस संसार के सभी व्यक्ति मंदिर में ईश्वर का निवास समझकर वहाँ सिर झुकाने जाते हैं किन्तु प्रभु तो तेरे हृदय के

भीतर ही निवास करते हैं तू उन्ही से अपने प्रभु की लौ लगा उन्ही की प्राप्ति का प्रयत्न कर ।

शब्दार्थ—देहरै = मन्दिर मे । ल्यौ = ध्यान ।

— — —

२४. भेष कौ अङ्ग

कर सेती माला जपै, हिरदै बहै डङ्गल ।
पग तौ पाला मैं गिल्या, भाजण लागी सूल ॥१॥

सन्दर्भ—सासारिक मनुष्य माया जाल मे फंसे रहते हैं ।

भावार्थ—हे जीवात्मा । तू हाथ से माला जप रहा है इस बात का प्रदर्शन कर रहा है कि मैं ईश्वर भक्त हूँ किन्तु मेरा हृदय माया जाल मे फंसा हुआ है । विषय-वासना रूपी पाले मे तेरे पैर गल गये हैं अब यदि इससे भागने का भी प्रयास करेगा तो तेरे पैरो मे काँटे चुभ जायेंगे ।

शब्दार्थ—सेती = से । डङ्गल = माया जाल ।

कर पकरै अँगुरी गिनै, मन धायै चहुँ ओर ।
जाहि फिराया हरि मिलै, सो भया काठ की ठौर ॥२॥

सन्दर्भ—ईश्वर की प्राप्ति सासारिक विषय वासनाओ से मन को अलग कर देने मे होती है ।

भावार्थ—ढोगी साधक हाथ मे माला लेकर उँगलियो से उनकी मनकाओ को गिनता जाता है किन्तु मन जिसकी स्थिरता से ही साधना सम्भव है वह चारो ओर दौड रहा है । जिस मन को ससार की ओर से घुमा देने पर अलग कर देने पर ईश्वर की प्राप्ति हो जाती है वह मन तो काठ के समान जड़ हो गया है ।

शब्दार्थ—ओर = ओर । काठ की ठौर = काष्ठवत् ।

माला पहरै मनसुषी, तायै कछू न होइ ।
मन माला कौ फेरतां, जुग उजियारा सोइ ॥३॥

सन्दर्भ—मन की माला को फेरने से ही ईश्वर प्राप्ति सम्भव है ।

भावार्थ—मनुष्य माला को गले में पहन कर उसे व्यर्थ ही घुमाता रहता है किन्तु उसका मन बहिमुखो हो जाता है वह सासारिक विषय वासनाओं में लिपटा रहता है इस प्रकार की पूजा से उपासना से कोई लाभ नहीं है। यदि वह मन की माला को सच्चे हृदय से फेरे तभी उसका यह लोक जौर परलोक दोनों सुधरेगा।

शब्दार्थ—मनसुषी = एक प्रकार की माला का नाम।

माला पहरै मनसुषी, बहुतै फिरै अचेत।

गाँगी रोलै बहि गया, हरि सूं नाहीं हेत ॥४॥

संदर्भ—मन पवित्र होने से हो जप तप उपासनादि का फल प्राप्त होता है।

भावार्थ—इस संसार में बहुत से व्यक्ति मनसुखी माला को पहने अचेत-वस्था-अज्ञानावस्था में घूमा करते हैं किन्तु जिस व्यक्ति का ईश्वर से सच्चा प्रेम नहीं है वह गंगा जैसी पवित्र नदी के पास भी जाकर स्नान नहीं कर पाता वरन् उसके प्रवाह में प्रवाहित हो जाता है। उसका कल्याण नहीं हो पाता है।

शब्दार्थ—अचेत = अज्ञान। गाँगी = गंगा के। रोलै = धारा में। हेत = प्रेम, भक्ति।

कबीर माला काठ की, कहि समझावै तोहि।

मन न फिरावै आपणां, कहा फिरावै मोहि ॥५॥

संदर्भ—सच्ची भक्ति तो संसार से चित्त वृत्ति को हटाकर प्रभु में केन्द्रित करना है।

भावार्थ—काठ की माला, माला घुमाने वाले साधक को समझाती हुई कहती है कि ऐ साधक! तू यदि अपने मन को परमात्मा की ओर उन्मुख नहीं करता है तो फिर मुझे घुमाने से क्या लाभ? कबीर कहते हैं कि सच्ची उपासना तो मन को प्रभु की ओर लगाना ही है।

शब्दार्थ—आपणा = अपना।

कबीर माला मनकी, और संसारी भेष।

माला पहर्यां हरि मिलै, तौ अरहट कै गलि देष ॥६॥

संदर्भ—कही माला पहनने से ईश्वर की प्राप्ति होती है?

भावार्थ—कबीरदास जो कहते हैं कि वास्तविक माला तो मन की होनी चाहिए और मालाएँ तो मत्र दिखावा मात्र हैं। यदि माला के पहनने से ही प्रभु

प्राप्ति सम्भव होती तो रहटको क्यो न प्रभु प्राप्ति हो जाती जिसके गले मे वाल्टियो की माला हमेशा घूमा करती है ।

शब्दार्थ—भेष = दिखावा । अरहट = रहट ।

मालाँ पहर्याँ कुछ नहीं, रूल्य मूवा इहि भार ।

बाहरि ढोल्या हींगलू, भीतरि भरी भंगारि ॥७॥

संदर्भ—माला पहनना तब तक व्यर्थ है जब तक मन विषय-वासना से अलग न हो ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि माला पहनने से कुछ नहीं होता है व्यर्थ मे ही शरीर उसके भार से दवा रहता है । बाहर से तो गेहूँ वस्त्र धारण कर लोग साधुओ का-सा बाना बनाए रहते हैं किन्तु उनके अन्तरण मे विषय-वासनाएं भरी रहती हैं ।

शब्दार्थ—रूल्य = शरीर । हींगलू = गेहूँ । भंगारि = गन्दगी ।

माला पहर्याँ कुछ नहीं, काती मन कै साथि ।

जब लागि हरि प्रगटै नहीं, तब लग पड़ता हाथि ॥८॥

संदर्भ—माला धारण करने के साथ-साथ परमात्मा का स्मरण करना भी आवश्यक है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं माला पहन लेने से ही कुछ नहीं होना जब तक मन नाना प्रकार के माया जन्य आकर्षणो मे फँसा रहेगा तब तक प्रभु भक्ति से कोई लाभ नहीं । माला पर हाथ तो तभी तक पड़ता है जब तक ईश्वर का स्वभाव समक्ष प्रकट नहीं हो जाता है और जैसे ही ईश्वर की प्राप्ति हो जाती है वैसे ही इन बाहरी आडम्बरो से कोई लाभ नहीं ।

शब्दार्थ—कराती = माया जन्य आकर्षण ।

माला पहर्याँ कुछ नहीं, गाँठि हिरदा की खोइ ।

हरि चरनूँ चित राखिये, ती अमरापुर होइ ॥९॥

संदर्भ—माला धारण की व्यर्थता की ओर कबीर का संकेत है ।

भावार्थ—माला धारण करने से कोई लाभ नहीं है जब हृदय के भीतर माया, मोह, राग और द्वेष की गाँठ न खोल दी जाये यदि हरि चरणो मे चित्त को लगा रखा जाय तो एक न एक दिन परमात्मा की प्राप्ति अवश्य होगी ।

शब्दार्थ—गाँठि = माया जनित रागद्वेष । अमरापुर = स्वर्गपुरी ।

माला पहर्याँ कुछ नहीं, भगति न आई हाथि ।

माथा मुँछ मुँडाइ करि, चल्यो जगत कै साथि ॥१०॥

संदर्भ—माला धारण करने से प्रभु-प्राप्ति संभव नहीं है ।

भावार्थ—माला धारण करने से कोई लाभ नहीं उससे भक्ति की प्राप्ति संभव नहीं है । सिर और मूँछो को मुडवाकर सासारिक ढोगियो के साथ चलने से कोई लाभ नहीं, ईश्वर प्राप्ति के लिये तो सच्चे उपासक की भाँति आचरण करना चाहिए ।

शब्दार्थ—मुँछ = मूँछ ।

साँई सेंती सांच चलि, औरां सूं सुध भाइ ।

भावै लम्बे केस करि, भावै घुरडि मुंडाइ ॥११॥

संदर्भ—एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के साथ सरल व्यवहार करना चाहिए और ईश्वर के साथ भी सत्य आचरण करना चाहिये ।

भावार्थ—हे जीव ! तू स्वामी (परमात्मा) के साथ सत्य का आचरण कर और साथ ही अन्य प्राणियों के साथ भी तू सरल भाव से आचरण कर और उसके वाद चाहे तू लवे लवे वाल बढा ले और चाहे सिर मुंडवा ले ।

शब्दार्थ—सुधमाह = सीधे भाव से । घुरडि = पूर्ण रूपेण ।

केसों कहा विगाड़िया, जे मूँडै सौ बार ।

मन कौ काहे न मूँडिये, जामैं विषय बिकार ॥१२॥

संदर्भ—कबीरदास जी सिर मुडाने के पक्ष में न होकर मन को विषय वासनाओं से अलग करने के पक्ष में हैं ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि इन वालो ने तेरा क्या विगाडा है जो तू इनको बार-बार मुडवाता रहता है । वास्तव में तू मन को क्यों नहीं मुडवाता जिसमें नाना प्रकार के सासारिक विषय वासनाएं भरी हुई हैं ?

शब्दार्थ—केसो = वालो ने ।

मन मैंवासी मंडि ले, केसों मूँडै काँइ ।

जे कुछ किया सु मन किया, केसों फीया नाँहि ॥१३॥

संदर्भ—सिर मुडवाने की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी मन को विषयो से अलग करने की है ।

भावार्थ—हे डोगी साधुओ ! तू वारम्बार सिर ही क्यों मुडवाया करता है । मनरूपी मदमस्त डाकू को मूड कर क्यों नहीं स्वच्छ करता जो कुछ भी पाप कर्म किए हैं वे सभी मन ने किए हैं वालो ने कुछ भी नहीं किया है फिर उनकी सफाई से क्या लाभ ?

शब्दार्थ—मैं वासी = मदमस्त डाकू । काँइ = क्यों ।

मूँड मुंडावत दिन गए, अजहूँ न मिलिया राम ।
राम नाम कहु क्या करै, जे मन के औरै काम ॥१४॥

सन्दर्भ—सासारिक कार्यों में रत होकर मन राम नाम का स्मरण नहीं कर पाता है ।

भावार्थ—सिर को मुड़वाते हुए मनुष्य की पूरी आयु क्षीण हो गई किन्तु अन्तिम समय तक राम (ब्रह्म) नहीं मिल सके । जब मन ही नाना प्रकार के माया जाल में फँसा हुआ है तो फिर भला बाहर से राम नाम का उच्चारण ही क्या कर सकता है ?

शब्दार्थ—दिन गए = आयु व्यतीत हो गई ।

स्वांग पहिरि सो रहा भया, खाया धूपिया धूँदि ।
जिहि सेरी साधू नीकले, सा तौ मेलही मूँदि ॥१५॥

सन्दर्भ—उपासना के वास्तविक मार्ग पर कुकर्मों के कारण साधक नहीं चल पाते हैं वे ऐश आराम में ही लगे रहते हैं ।

भावार्थ—हे कपटी साधक ! तू रग विरगे कपडों को ही पहनकर आनन्द-पूर्वक खा-पीकर मौन उड़ाता रहा किन्तु जिस मार्ग से होकर साधु जाते हैं अपने कुकर्मों के कारण तूने उस मार्ग को अपने लिए बन्द कर लिया है । उस पर तू चल ही नहीं सकता ।

शब्दार्थ—सोरहा = सुन्दर । धूँदि = आनन्द पूर्वक । सेरी = गली । मेलही मूँदि = बन्द कर ली ।

वैसनों भया तौ का भया, बूझा नहीं विवेक ।
छापा तिलक बनाइ करि, दग्ध्या लोक अनेक ॥१६॥

सन्दर्भ—केवल वैष्णव मत में दीक्षित हो जाने से ही प्रभु प्राप्ति नहीं होती है ।

भावार्थ—यदि तूने विवेक की ज्ञान की प्राप्ति नहीं की तो फिर वैष्णव मत में दीक्षित होकर वैष्णव बन जाने से ही क्या लाभ हुआ ? छापा-तिलक आदि लगाकर अनेको लोग इस सासारिक तापो में दग्ध होते रहते हैं । वास्तविकता तो यह है कि प्रभु वेष भूषा से नहीं वरन् सच्ची भक्ति से ही प्राप्त होते हैं ।

शब्दार्थ—वैसनो = वैष्णव । बूझा = समझा ।

तनकौ जोगी सब करै, मनकों विरला कोइ ।
सब विधि सहजै पाइए, जे मन जोगी होइ ॥१७॥

सन्दर्भ—मन इच्छारहित होकर ही सिद्धियों को प्राप्त कर सकता है ।

भावार्थ—इस शरीर को गेरुआ वस्त्रादि से ढंक कर तथा तिलक आदि लगाकर सभी योगी बना देते हैं शरीर देखने से ऐसा लगता है कि योगी ही हैं किन्तु मन को विरला व्यक्ति ही साधु बना पाता है और यदि वास्तव में किसी का मन योगी हो जाय तो वह सहज रूप से ही परमात्मा को प्राप्त कर सकता है ।

शब्दार्थ—सहजै = परमात्मा को ।

कबीर यहूतौ एक हैं, पड़दा दीया भेष ।

भरम करम सब दूरि कर, सब ही माँहि अलेख ॥१८॥

सन्दर्भ—जीवात्मा और परमात्मा एक है । भ्रम के कारण ही दोनों में भेद दिखाई देता है ।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि आत्मा और परमात्मा वास्तव में एक हैं किन्तु माया के आवरण के कारण दोनों में भेद दिखाई पड़ता है । यदि भ्रम और कुकर्मों को दूर कर दिया जाय तो वह अलक्ष ब्रह्म प्रत्येक प्राणी में प्राप्त हो सकता है ।

शब्दार्थ—यहु तौ = आत्मा और परमात्मा । अनेख = अलक्ष परमात्मा ।

भरम न भागा जीय का, अनन्तहि धरिया भेष ।

सत गुरु परचै बाहिरा, अन्तरि रहया अलेष ॥१९॥

सन्दर्भ—हृदयस्थित ब्रह्म का परिचय विना सच्चे गुरु के नहीं हो सकता है ।

भावार्थ—हे जीव ! तेरा भ्रम समाप्त नहीं हुआ तू भ्रम जाल में ही पड़ा रहा यद्यपि अनेकानेक योनियों में तूने जन्म ग्रहण किया । विना सतगुरु के उन अन्तःकरण में परिव्याप्त अलक्ष ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो पाती है ।

शब्दार्थ—अन्तहि = अनेक । भेष = शरीर ।

जगत जहदम राचिया, भूठी कुल की लाज ।

तन बिनसैं कुल बिनसि हैं, गहयौं न राम जिहाज ॥२०॥

सन्दर्भ—ससार-सागर को पार करने के लिए राम नाम रूपी नौका का संबल आवश्यक है ।

भावार्थ—मनुष्य अपनी मिथ्या प्रतिष्ठा के लोभ में ऐसे कार्य करता रहता है जिससे नरक की सृष्टि होती रहती है और वास्तविकता तो यह है कि हम शरीर के नष्ट होते ही सारी मर्यादायें स्वतः नष्ट हो जायेगी फिर संसार सागर से पार जाने के लिए राम नाम रूपी नौका का आश्रय क्यों नहीं ग्रहण करता ?

पष ले वूड़ी पृथमी, भूठी कुल की लार ।

अलष बिभायौ भेष मैं, वूड़े काली धार ॥२१॥

सन्दर्भ—परमात्मा कहीं आडम्बर से प्राप्त होता है ? वह तो सरल आचरण और व्यवहार से प्राप्त होता है ।

भावार्थ—सम्पूर्ण संसार के प्राणी कुल की भूठी परम्पराओ, मर्यादाओ और सम्मान हेतु अहं भाव का प्रदर्शन करते ही करते नष्ट हो गया किन्तु वह सब उसे प्राप्त न हो सका । इस बाह्य भेष-भूषा में ही लगे रहकर अलक्ष परमात्मा को मुलाकर तू नरक की काली नदी में ही डूब गया ।

शब्दार्थ—पष = पक्ष । पृथमी = पृथ्वी ।

चतुराई हरि नाँ मिलै, ए वातां की बात ।

एक निसप्रेही निरधार का, गाहक गोपी नाथ ॥२२॥

शब्दार्थ—ब्रह्म की प्राप्ति चतुराई से न होकर निष्काम भक्ति से होती है ।

भावार्थ—यह बात तो निश्चित ही है कि प्रभु की प्राप्ति चतुराई से नहीं हो पाती है । जो भक्त निष्पृह और निराधार होते हैं प्रभु उन्हीं भक्तों को अपनाते हैं ।

शब्दार्थ—निसप्रेही = निष्पृह, निष्काम ।

नव सत साजे कामनी, तन मन रही सँजोइ ।

पीव कै मनि भावै नहीं, पटम कीर्ये क्या होइ ॥२३॥

सन्दर्भ—वास्तविक भक्ति तो वही है जिससे प्रभु रीझ जाएँ । अन्य सब तो आडम्बर है ।

भावार्थ—स्त्री यदि बहुत ही मनोयोग से सोलहो शृंगार करके अपने प्रिय के समुख जाय और फिर भी वह प्रिय को अच्छी न लगे तो उसकी साज-सज्जा से क्या लाभ ? अर्थात् बाह्य वेषभूषा को धारण करने से ही क्या लाभ ? जिससे ब्रह्म की प्राप्ति न हो सके या जो बाह्य वेषभूषा प्रभु को अच्छी ही न लगे उसको धारण करने से क्या लाभ ? प्रभु को प्रमन्न करने के लिए तो हृदय की तल्लीनता आवश्यक है ।

विशेष—कालिदास ने भी कहा है कि—

“प्रियेषु सौभाव्य फलाहि चारुता ।”

कुमार सभवम्-पंचम सर्ग ।

सुन्दरता वही है जो प्रिय को अच्छी लगे ।

शब्दार्थ—नवसत = नव + सात = सोलह । पटम = शृंगार सज्जा ।

जब लग पीव परचा नहीं, कन्या कँवारी जाँणि ।
हथलेवा हौसै' लिया, मुसकलि पड़ी पिछाँणि ॥२४॥

सन्दर्भ—ईश्वर की प्राप्ति उतना आसान नहीं है जितना लोग उसे समझने हैं ।

भावार्थ—जब तक आत्मा रूपी कन्या का परमात्मा रूपी प्रियतम से परिचय नहीं हो जाता है तब तक उसे कुमारी ही समझना चाहिए । आत्मा बड़ी प्रसन्नता से प्रभु भक्ति के मार्ग पर अग्रसर तो हो जाती है किन्तु बाद में उसमें अनेको कठिनाइयाँ आकर पड़ जाती हैं ।

शब्दार्थ—परचा = परिचय । पिछाँणि = बाद में ।

कबीर हरि की भगति का, मन में परा उल्हास ।
मैं वासा भाजै नहीं, हूँण मतै निज दास ॥२५॥

संदर्भ—मनका अहंकार ही ईश्वर प्राप्ति में बाधक है इसलिए उसके नष्ट होने पर ही ईश्वर से साक्षात्कार होता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि जीव के हृदय में भगवान की भक्ति का बहुत उल्लास भरा हुआ होता है किन्तु अहंरूपी चोर के घर से न निकलने के कारण वह भक्त अपने वास्तविक भक्ति मार्ग से विचलित हो जाता है ।

शब्दार्थ—परा = बहुत । उल्हास = उल्लास । मैंवासा = चोर ।

मैंवासा मोई किया, दुरिजन काढ़ै दूरि ।
राज पियारे रामका, नगर वस्या भरि पूरि ॥२६॥४६२॥

सन्दर्भ—वासना और अहंकार को नष्ट कर देने पर तो प्रभु की प्राप्ति निश्चय ही हो जाती है ।

भावार्थ—अहंरूपी चोरो को मार दिया है और काम क्रोधादि दुर्जनो को भी अलग कर दिया है और इस प्रकार अब मेरे भीतर और बाहर परम प्रभु परमात्मा का ही राज्य है और समस्त कार्य उसी की प्रेरणा से हो जाते हैं ।

विशेष—तुलना कीजिए ।

उरप्रेरक रघुवंस विभूपन ।

—मानस

शब्दार्थ—मोई किया = मार डाला ।

२५. कुसंगति कौ अंग

निरमल बूंद अकास की, पड़ गई भोमि विकार ।

मूल बिनंठा मानवी, बिन संगति भठछार ॥१॥

प्रसंग—कुसंगति मे पडकर पवित्र आत्मा विकृत हो गई ।

भावार्थ—आकाश की निर्मल जल की बूंद पृथ्वी पर पडते ही गन्दी हो गई । इसी प्रकार मानव भी मत्संगति के अभाव मे भट्ठी की राख सदृश है और समूल नष्ट हो जाता है ।

शब्दार्थ—निरमल = निर्मल । आकास = आकाश । बिनंठा = बिनष्ट । भट = भट्ठी । छार = राख या क्षार ।

मूरषि संग न कीजिए, लोहा जलि न तिराइ ।

कदली सीप भवंग मुषी, एक बूंद तिहँ भाइ ॥२॥

प्रसंग—मूर्ख व्यक्ति का संग कभी नहीं करना चाहिए । अज्ञानी व्यक्ति कभी सात्विकता से पूर्ण नहीं हो सकता है ।

भावार्थ—मूर्ख का साथ न कोजिए । लोहे के समान वह जड तथा भारी है । भव जल मे तैर नहीं सकता है । संगीत का प्रभाव यह है कि आकाश से गिरी हुई एक बूंद केला, सीप तथा सर्प का संसर्ग प्राप्त करके विविध गतियों को प्राप्त करती है ।

शब्दार्थ—मूरषि = मूर्ख । संग = संगीत । जलि = जल मे । तिराइ = तैरता है । कदली = केला । मुषी = मुख ।

हरिजन सेती रूसणां, ससारी सूं हेत ।

ते नर कदे न नीपजै, ज्यूं कालर का खेत ॥३॥

प्रसंग—हरिभक्तो से द्वेष रखने वाला मानव कभी भी उन्नति नहीं कर सकता है ।

भावार्थ—वे व्यक्ति जो ईश्वर से प्रेम करने वाले व्यक्तियों से (हरिजनो) से प्रेम नहीं करते हैं रुष्ट रहते हैं, द्वेष करते हैं तथा सासारिक प्राणियों से स्नेह करते हैं । ऐसे पुरुषो का कभी उत्थान नहीं हो पाता है । वे उसी प्रकार हैं जिस प्रकार ऊसर भूमि मे पडा हुआ बीज ।

शब्दार्थ—हरिजन = ईश्वर भक्त । मेती = से । रुपणा = रुष्ट होगा ।
संसारी = समार मे । सू = ये । हेत = हित या प्रेम । ते = वे ।

मारी मरु कुसग की, केला कांठै वेरि ।
वो हालै वो चीरिये, साषित संग न वेरि ॥४॥

प्रसंग—कुसगति मे पड़कर मानव की वही गति होती है, जो वेर के पास वाले केले के वृक्ष की हुई ।

भावार्थ—आत्मा परमात्मा से कह रही है, कि मैं कुसंगति की मार से मृतप्राय हुई जा रही हूँ । केले के वृक्ष के समीप वेर का काटे से पूर्ण वृक्ष है और वह अपनी कटुता के कारण प्रेम से अपनी ओर खाने वाले वृक्ष को चीरता जा रहा है । केले के वृक्ष के सदृश ही मेरी दशा है । इसी कारण है परमात्मा तुम वेर के सदृश कटु शक्तो के संग से मेरी रक्षा करो ।

शब्दार्थ—मारी = मार से । मरी मृतप्राय । कुसंग = कुसंगति । केला = कदली वृक्ष ।

मेर निसाणी मीच की, कुसंगति ही काल ।
कबीर कहै रे प्राणियां, बाँणी ब्रह्म संभाल ॥

प्रसंग—कुसंगति ही काल है अतः कुसंगति का परित्याग कर देना चाहिए
भावार्थ—मेरा अहकार या अपनत्व की भावना ही मेरी मृत्यु का चिन्ह है यथा मैं जिन कुसंगो मे पडा हुआ हूँ वह स्पष्ट रूप से मेरी मृत्यु है इसी कारण कबीर दाम जी कहते हैं कि हे प्राणियो तुम अपनी वाणी को संभालकर ईश्वर की धाराधना एवं भजन मे लीन हो जाओ ।

शब्दार्थ—मेरा = अह को भावना । निसाणी = चिन्ह । मीच = मृत्यु ।
काल मृत्यु । संभाल = सुरक्षित कर ।

मापी गुड़ में गडि रही, पंप रही लपटाइ ।
ताली पीटै सिरि धुनै, मीठै वेई माइ ॥ ६ ॥

प्रसंग—माया मे लिप्त प्राणी की वही गति होती है जो गुड मे चिपटी हुई मक्खी की होती है ।

भावार्थ—जिस प्रकार मक्खी गुड मे चिपक जाती है और उसके पख भी उसमे चिपक जाते हैं उस समय वह हाँथ पैर चलाती है, सिर धुनती है । परन्तु वह मिठान ही माया है । जहाँ सांसारिक मधुरता है वही ही संसारी माया है । इस माया से दूर रहे ।

शब्दार्थ—भाषी = मक्खी । गडि = चिपक गई । पष = पख । बोई = बुराई ।

ऊँचै कुल क्या जनमियां, जे करणीं ऊँच न होइ ।

सोवन कलस सुरै भरया, साधू' निंघा सोइ ॥७॥४६६॥

प्रसंग—उच्चकुल में जन्म लेने से ही मानव महान नहीं बन जाता है । उसके कर्म ही उसे महान या नीच व्यक्ति बना सकते हैं ।

भावार्थ—उच्चकुल में जन्म लेने का कोई महत्त्व नहीं है जब तक कि हम उसके अनुरूप कार्य न करें । यह उसी प्रकार है कि स्वर्ण के कलश में सुरा भरी हो तो उस स्वर्ण के कलश की महिमा समाप्त हो जाती है । इसीलिए साधु जन के लिए बुरे कार्य निंदा के कारण होते हैं और सज्जन व्यक्ति उनकी आलोचना करते हैं ।

शब्दार्थ—ऊँचे कुल = उच्च वंश । जनमियां = जन्म लेना । करणी = कर्म । सोवन = स्वर्ण । सुरै = मदिरा । सोई = उसकी माँ । साधु = सज्जन ।

२६. संगति कौ अंग

देखा देखी पाकड़ै, जाइ अपरचै छूटि ।

धिरला कोई ठाहरै, सतगुर साँमी मूठि ॥१॥

प्रसंग—सद्गुरु ही संगति साधक का उचित पथ प्रदर्शन कर सकती है ।

भावार्थ—साधना के मार्ग पर साधक यदि किसी की देखा देखी में उसका अनुकरण करके चलता है तो वह पथ से भ्रमीभूत हो जाता है क्योंकि उस पथ से उसका परिचय नहीं है । कोई विरला व्यक्ति ही सद्गुरु की कृपा (मूठ भरके वाण का प्रहार) से ही साधना के उचित मार्ग पर अग्रसर हो कर ठहर पाता है ।

शब्दार्थ—पाकड़ै = पकड़ना । जाइ = जिससे । अपरचै = अपरचित । मूठि = सिर ।

देखा देखी भगति है, कदे न चढ़ई रंग ।

विपति पड़्याँ यूँ छाड़सी, ज्यूँ कंचुली भवंग ॥२॥

प्रसंग—सद्गुरु के अभाव में भक्ति नहीं हो सकती है । दूसरो का अनुकरण करके भक्ति मार्ग पर बढ़ने वाला मानव विपत्ति आने पर भक्ति छोड़ देता है ।

भावार्थ—दूसरो की देखा देखी जो भक्ति की जाती है उसमें स्थिरता नहीं होती है, वह अधिक दिन तक नहीं ठहर सकती है । साधना के मार्ग पर आने वाली विपत्तियों से डर कर वह सावक भक्ति को उसी प्रकार छोड़ देता है जिस प्रकार सर्प केंचुली को त्याग देता है ।

शब्दार्थ—भगति = भक्ति । कदे = कभी । चढई = चढ़ना । विपत्ति = विपत्ति । छाड़सी = छोड़ देना । केंचुली = केंचुल । भवंग = भुवग ।

करिए तौ करि, जांणिये सारीषा सूं संग ।
लीर लीर लोई थई, तऊ न छाड़ै रंग ॥३॥

प्रसंग—सद्गुरु की संगति को कोई विरला ही प्राप्त कर सकता है । सद्गुरु की पहचान है कि उसका भक्ति के रस में ही ध्यान रहता है ।

भावार्थ—सत्संग सदैव समान व्यक्तियों के साथ ही करना चाहिए । लोई को यदि चीर-चीर कर टुकड़े-टुकड़े करके देखा जाए तो भी उसका रंग नहीं छूटता है । ठीक उसी प्रकार सच्चा भक्त, सद्गुरु कभी अपनी भक्ति नहीं छोड़ता है । उसका भक्ति रूपी रंग कभी भी नहीं उतरता है ।

शब्दार्थ—लीर-लीर = चीर-चीर करके । सारीष = विश्वसनीय सद्गुरु । तऊ = तो भी । थई = थाह ली ।

यहु मन दीजै तास कौं, सुठि सेवग भल सोइ ।
सिर ऊपरि आरास है, तऊ न दूजा होइ ॥४॥

प्रसंग—यह मन ईश्वर के सच्चे भक्त को ही देना चाहिए ।

भावार्थ—मन को सच्चे ईश्वर भक्त की ओर ही लगाना चाहिए । अर्थात् सद्गुरु में पूर्ण आस्था होनी चाहिए । क्योंकि सच्चा भक्त सिर पर आरा तक सहन कर लेता है । कोई उसे चीर भी डाले तो भी वह अपने मार्ग से विचलित नहीं होता है ।

शब्दार्थ—सुठि = अच्छा । सेवग = सेवक । तास = उसको ।

पांहुण टांकि न तौलिए, हाडि न कीजै वेह ।
माया राता मानवी, तिन सूं किसा सनेह ॥५॥

प्रसंग—सामारिक माया में लिप्त मानव से कभी स्नेह नहीं करना चाहिए ।

भावार्थ—गत्थरो को टांकी लगा कर नहीं तौला जा सकता है और न हड्डी को तोड़ कर ही देखा जा सकता है । क्योंकि उनका रूप सदैव एक ही दिखाई पड़ेगा । वह भीतर और बाहर से एक है उनका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है । उसी प्रकार माया के फन्दे में फंसे हुए मनुष्य हैं । उनसे किनो प्रकार का क्षेह ? अर्थात् उनसे दूर रहना चाहिए ।

शब्दार्थ—वेह = विदीर्ण करना । राता = रगा हुआ । मानत्रो = मनुष्य ।

कबीर तासूँ प्रीति करि, जो निरवाहै ओड़ि ।

बानता बिबधि न राचिये, देषत लागै षोड़ि ॥ ६ ॥

प्रसंग—प्रेम उसी से करना चाहिए जा आदि से अन्त तक उपका निर्वाह कर सके ।

भावार्थ—कबीरदास जी का कथन है कि प्रेम उसी से करना चाहिए जिससे जीवन पर्यन्त निर्वाह हो सके । अनेक स्त्रियो और सम्पत्ति में अनुरक्त मानव को देखने से ही पाप लगता है ।

शब्दार्थ—तास = उससे । प्रीति = प्रेम । निरवाहै = निर्वाह । ओड़ि = अन्त तक । बनिता = स्त्री ।

कबीर तन पषी भया, जहाँ मन तहाँ उड़ि जाइ ।

जो जैसी संगति करै, सो तैसे फल खाइ ॥ ७ ॥

प्रसंग—कुसंगति का प्रभाव मानव पर बहुत ही शीघ्र पड जाता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि विषय वासनाओं में अनुरक्त मन, सासारिकता में लीन रहता है और शरीर रूपी पक्षी उसी मन के साथ उडा करता है । जो इच्छा उत्पन्न होता है उसी के अनुसार शरीर कार्य करता है उसी स्थान पर पहुँच जाता है जहाँ मन चाहता है । यह कुसंगति का ही परिणाम है । जैसी संगति होती है वैसा परिणाम भोगना पडता है ।

शब्दार्थ—तन = शरीर । पषी = पक्षी ।

काजल केरी कोठड़ी, तैसा यहु संसार ।

बलिहारी ता दास की, पै सिर निकसणहार ॥ ८ ॥

प्रसंग—ससार काजल की कोठरी के समान है ।

भावार्थ—यह ससार काजल की कोठरी के सदृश है, इसमें माया रूपी काजल सर्वत्र फैला हुआ है । जो भी इस काजल की कोठरी में प्रवेश करता है, उसके थोड़ा बहुत काजल अवश्य लग जाता है । कबीर दास कहते हैं मैं उस दास की अर्थात्

भक्त की वलि-वलि जाऊं जो प्रवेश करके उसके अभाव से अछूना निकल जाएं ।
अर्थात् ससार में रहकर भी सांसारिक माया से दूर रहे ।

शब्दार्थ—कोठडी = कोठरी । यह = यह । निकसणहार = निकलने वाला ।

२७. असाध को अज्ञ

कबीर भेष अतीत का, करतूति करै अपराध ।
बाहर दीसै साध गति, माँहै महा असाध ॥१॥

प्रसंग—वाह्य वेष-भूषा एवं करनी में साम्य न होने पर वह साधु नहीं
असाधु होता है ।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं वेष तो वैरागी के समान बनाए हुए है
और पाप कर्म में प्रवृत्त है । ऐसा साधु जो केवल वाह्यावरण से ही साधु दृष्टिगत
होता है, वह अन्तःकरण से परम असाधु अर्थात् नीच होता है ।

शब्दार्थ—अतीत = वैरागी (परे, उस लोक) । भेष = वेष । करतूति =
करनी ।

उज्ज्वल देखि न धीजिए, बग ज्युँ माडै ध्यान ।
धीरै वैठि चपेट सी, यूँ लै वूडै ज्ञान ॥२॥

प्रसंग—किसी को उज्ज्वल वेष-भूषा को देखकर उसके उज्ज्वलमना होने
का विश्वास नहीं करना चाहिए ।

भावार्थ—जिस प्रकार श्वेत रंग का वगुला मछली पकड़ने के लिए
ध्यानस्थ रहता है वैसे ही किसी का उज्ज्वल वेष देखकर विश्वास मत करो सम्भव
है कोई बग-ध्यानी हो जो अक्सर आने पर मछली के समान ही तुम्हें दबोच ले और
समस्त ज्ञान तथा विवेक को भी डूबा दे ।

शब्दार्थ—न धीजिए = दिश्वाम न कीजिए । माडै ध्यान = ध्यान करता
है । धीरै = निकट ।

जेता मीठा बोलणां, तेता साध न जाणि ।
पहली थाह दिखाइ करि, ऊँडे देमी आंणि ॥३॥५८०॥

प्रसंग—मिष्ट भाषियों को साधु नहीं समझना चाहिए ।

भावार्थ—यदु-माषियो को कभी भी साधु नहीं समझना चाहिए । वे पहले पार जाने योग्य उथला जल दिखा देते हैं और फिर बीच धार में गहरे पानी में लाकर डुबा देते हैं ।

शब्दार्थ—थाह = पार जाने योग्य, उथला जल । ऊँडै = गहरे पानी में । जेता = जितना । तेता = उनको ।



२८. साध कौ अङ्ग

कधीर संगति साध की, कदे न निरफल होइ ।

चन्दन होसी बाँवना, नीब न कहसी कोइ ॥१॥

प्रसंग—साधु की संगति कभी भी निरफल नहीं होती है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं, कि साधु अर्थात् सज्जन व्यक्ति की संगति कभी भी व्यर्थ नहीं जाती है । साधु संगति से तुम नीम के समान कड़वे से सुशीतलता एवं सुगन्धता देने वाले चन्दन बन जाओगे और फिर तुम्हें कोई कड़वा नहीं कह सकेगा । क्योंकि चन्दन के वृक्ष को कोई नीम नहीं कह सकता है ।

शब्दार्थ—कदे = कभी । निरफल = निरुत्पन्न । बाँवन = श्रेष्ठ ।

कधीर संगति साध की, बेगि करीजै जाइ ।

दुरमसि दूरि गँवाइसो, देसी सुमति बताइ ॥२॥

प्रसंग—साधु जनो की संगति शीघ्रता शीघ्र करनी चाहिए ।

भावार्थ—कबीर दासजी कहते हैं 'कि साधु संगति शीघ्र ही करनी चाहिए । उससे दुबुद्धि का नाश होता है । तथा सदबुद्धि की प्राप्ति होती है ।

शब्दार्थ—दुरमति = दुबुद्धि

मथुरा जावै द्वारिका, भावै जा जगनाथ ।

सांघ संगति हरि भगति बिन, कछु न आवै हाथ ॥३॥

प्रसंग—तीर्थ स्थलो से अधिक महत्वपूर्ण साधु संगति है ।

भावार्थ—कबीर दास का कथन है, कि चाहे मथुरा जाओ, या द्वारिका पुरी जाओ या इच्छा हो तो जगन्नाथ पुरी जाओ । परन्तु साधु संगति और प्रभु भक्ति के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता है ।

शब्दार्थ—भावै = भाये = अच्छा लगे,

मेरे संगी दोइ जणां, एक वैष्णों एक राम ।

वो है दाता मुक्ति का, वो सुमिरावै नाम ॥४॥

प्रसंग—मुक्ति एवं प्रभु का स्मरण कराने वाले ही साथी है ।

भावार्थ—कबीर का कथन है, मेरे साथी केवल दो ही है—एक वैष्णव दूसरा राम अर्थात् प्रभु । राम मुक्ति का प्रदाता है और वैष्णव राम का स्मरण कराता है ।

शब्दार्थ—विष्णो = वैष्णव ।

कबीर बन बन में फिरा, कारिण अपणों राम ।

राम सरीखे जन मिले, तिन सारे सब काम ॥५॥

प्रसंग—हरि भक्त की प्राप्ति से उद्देश्य की पूर्ति हो गई ।

भावार्थ—कबीर दास कहते हैं, कि राम की खोज में मैं वन-वन भटकता रहा । मुझे राम के भक्त मिल गये । जिन्होंने मेरा उद्देश्य सिद्ध कर दिया और प्रभु से मिला दिया ।

शब्दार्थ—सारे = पूर्ण किये ।

कबीर सोइ दिन भला, जा दिन संत मिलांहिं ।

अंक भरे भरि भेटिया, पाप सरीरौ जांहि ॥६॥

प्रसंग—जिस दिन सत्यसंगति हो, वही दिन सुन्दर है ।

भावार्थ—कबीर का कथन है कि वही दिवस श्रेष्ठ एवं सुन्दर है जिस दिन सत दर्शन हो जाएं । उनको प्रेम पूर्वक आलिंगन करने से शरीर के सारे पाप दूर हो जाते हैं ।

शब्दार्थ—भेटिया—आलिंगन ।

कबीर चन्दन का षिड़ा, वैठ्या आक पलास ।

आप सरीखे करि लिए, जे होते उन पास ॥७॥

प्रसंग—सत्संगति के प्रभाव से दुष्ट व्यक्ति भी सुधर जाते हैं ।

भावार्थ—कबीर दास का कथन है चन्दन जैसे सत्पुरुष को आक और पलास जैसे दुष्ट व्यक्तियों ने घेर लिया है । परन्तु उस सत्पुरुष ने उन सबको, अर्थात् दुष्टों को भी अपना जैसा सुगन्धि युक्त बना दिया ।

शब्दार्थ—विटा = वृक्ष ।

कबीर खाई कोट की, पांणी पिये न कोइ ।

जाइ मिले जब गंग में, तब सब गंगोदिक होइ ॥ ८ ॥

प्रसंग—सत्संगति से व्यक्ति का महत्व बढ़ जाता है ।

भावार्थ—कबीर दास जी का कथन है कि किले से निकलने वाली खाई अर्थात् गन्दी नाली का जल कोई नहीं पीता है । वही जब गंगा में जाकर मिलती है तो गंगा जल हो जाता है । जिसका सब श्रद्धा पूर्वक पान करते हैं ।

शब्दार्थ—कोट किला । गगोदक = गंगाजल ।

जांनि बूझि साचहिं तजै, करै भूठ सूँ नेह ।

ताकी संगति राम जी, सुपिनै ही जिनि देहु ॥ ६ ॥

प्रसंग—कुसंगति से कबीर दास दूर रहना चाहते हैं ।

भावार्थ—कबीर दास जी का कथन है, जो जान बूझ कर सचवो का तथा सत्य का परित्याग करते हैं और मिथ्याचारियो तथा भूठ से स्नेह करते हैं । हे राम । उनको संगति स्वप्न में भी मत दो ।

शब्दार्थ—सूँ = से । सुपिनै = स्वप्न में ।

कबीर तास मिलाइ, जास हियाली तूँ बसे ।

नहिं तर बेगि उठाइ, नित का गंजन को सहै ॥१०॥

प्रसंग - सत्संगति में ही रहना चाहिए ।

भावार्थ—कबीर दास का कथन है कि हे प्रभु । तुम मेरी भेट उससे करा दो, जिसके हृदय में तुम्हारा निवास हो । नहीं तो इस संसार से मुझे उठा लो । नित्यप्रति कुसंगति दुःखः कौन सहन करता रहे ?

शब्दार्थ—हियाली = हृदय में । गजन = दुःख ।

केती लहरि समन्द की, कत उपजै कत जाइ ।

बलिहारी ता दास की, उलटी मांहि समाइ ॥११॥

सन्दर्भ—कोई बिरला प्रभु-भक्त ही इस सासारिक भाषा को त्याग कर ब्रह्म में लीन हो जाता है ।

भावार्थ—इस भवसागर में न जाने कितने लोग जन्म लेते हैं और मृत्यु को प्राप्त करते हैं । यह जन्म और मृत्यु का क्रम ही संसार सागर में उठने व गिरने वाली न जाने कितनी लहरे हैं । कबीर दास जी का कथन है कि मैं उस दास (भक्त) की बलिहारी जाता हूँ जो इस संसार को त्याग कर ब्रह्म में लीन हो जाए ।

शब्दार्थ—समद = समुद्र । उपजै = उत्पन्न होती है ।

काजल केरी कोठड़ी, काजल ही का कोट ।

बलिहारी ता दास की, जे रहै राम की ओट ॥१२॥

सन्दर्भ—संसार काजल की कोठरी के समान है ।

भावार्थ—ग्रह संसार काजल की कोठरी के समान हैं, और जिसका कोट भी काजल से ही विनिर्मित हैं अर्थात् मनुष्य निर्मित । कबीर दास कहते हैं, कि मैं उस दास की बलिहारी जाता हूँ जो संसार में राम का सहारा लेकर माया, मोह से दूर रह जाए ।

शब्दार्थ—ओट = सहारा ।

भगति हजारी कपड़ा, तामें मल न समाइ ।

सापित काली काँबली, भावै तहाँ बिछाई ॥१३॥ ४६३ ॥

सन्दर्भ = भक्ति बहुमूल्य वस्त्र के समान है ।

भावार्थ—भक्ति बहुमूल्य वस्त्र के समान है । वह मलिनता को सहन नहीं कर सकती है । उसमें किंचित् मात्र भी पाप रूपी मैल नहीं छिप सकता है । दूसरी ओर शक्ति साधना वाले कम्बल जैसे हैं, जिसे जहाँ चाहो बिछा दो ।

शब्दार्थ—हजारी कापडा = एक सहस्र मूल्य वाला वस्त्र, बहुमूल्य ।
सापित = शाक्त ।

२६. साध साषीभूत कौं अङ्ग

निरवैरी निहकाँमता, साईं सेती नेह ।

विषिया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह ॥ १ ॥

संदर्भ—संतो के लक्षण क्या है ?

भावार्थ—किसी से शत्रुता न करना अर्थात् वैर भाव न रखना, प्रत्येक कार्य को विना फल की इच्छा (निष्काम भाव) के करना । प्रभु के प्रति भक्ति रखना, विषयो के प्रति त्रिगुणित, यह सत पुरुषो के स्वभाव का महत्वपूर्ण अंग है ।

शब्दार्थ—निहकाँमता = निष्काम रहना । साईं = स्वामी । सेती = के ।

संत न छाड़ै संतई, जे कोटिस मिलैं असन्त ।

चँदन भुवंग बेठिया, तड सीतलवा न तजंत ॥ २ ॥

संदर्भ—संतो का कर्म निम्नलिखित है ।

भावार्थ = कुसंगति में पड़कर भी संतजन अपने गुणों का परित्याग नहीं करते हैं, जिस प्रकार चन्दन के वृक्ष पर सर्प निपटे रहते हैं तो भी वह अपनी सीतलता का त्याग नहीं करता है ।

शब्दार्थ—कोटिक = करोडो । भुवग = सपं ।

कबीर हरि का भांवता, दूरें थैं दीसंत ।

तन षीणां मन उनमनां, जग रूठड़ा फिरंत ॥ ३ ॥

सन्दर्भ—हरि भक्त दूर से ही दृष्टिगत हो जाता है ।

भावार्थ—कबीर दास का कथन है कि हरि (राम) का प्यारा दूर से ही दिख जाता है । वह शरीर से क्षीण होता है, मन उन्मनी अवस्था अर्थात् भीतर ही केन्द्रित रहता है और वह संसार से विरक्त रहता है ।

शब्दार्थ—भांवता = प्रिय । षीणा = क्षीण । रूठडा = रूठा हुआ ।
उन्मना = उन्मन ।

कबीर हरि का भांवता, भीणां पंजर तास ।

रैणि न आवै नींदड़ी, अंगि न चढ़ई मास ॥ ४ ॥

सन्दर्भ—हरि के प्रिय को काया कृश होती है ।

भावार्थ—कबीर दास कहते हैं कि हरि भक्त का शरीर क्षीण होता है । हरि भक्त मे अनुरक्त रहने के कारण उसे रात भर नींद नहीं आती है । (हरि का जाप किया करता है) उस पर कभी मांस नही चढता है अर्थात् वह शरीर से पुष्ट नहीं होता है ।

शब्दार्थ—भीणा = कृश । पजर = शरीर तास = उसका ।

अणरता सुख सोवणां, रातै नींद न आइ ।

ज्यू जल दुट्टै मंछली, यूँ वेलत बिहाइ ॥ ५ ॥

संदर्भ—जिनकी वृत्ति प्रभु मे रमी हुई है वे सुख-निद्रा मे सो नहीं पाते हैं ।

भावार्थ—जो व्यक्ति ईश्वर से प्रेम नहीं करता है वह सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करता है पर जो प्रभु मे अनुरक्त उन्हे नींद नहीं आती है । उनकी अवस्था जल के अभाव मे तड़पती हुई मछली के समान है, वह प्रभु वियोग मे सदैव तड़पते रहते हैं ।

शब्दार्थ—अणरना जो अनुरक्त नहीं है । रातें जो अनुरक्त है । वेनत = तड़प कर ।

जिन्य कुछ जांण्यां नहीं, तिन्ह सुख नींदड़ी बिहाइ ।

मैर अबूभी दूभिया, पूरी पड़ी बिलाइ ॥ ६ ॥

सन्दर्भ—जिन्होंने ज्ञानार्जन का प्रयत्न नहीं किया । उन्होने सम्पूर्ण आयु सुख निद्रा मे व्यतीत कर दी ।

भावार्थ—जो अज्ञानी है वे सुख की नीद सोते हैं। मुझ अनजाने ने उसे जानने का प्रयत्न किया अर्थात् साधना में प्रवृत्त हुआ तो हरि वियोग की विपत्ति मेरे ऊपर आ पड़ी।

शब्दार्थ—जिन्य = जिन्होंने। जाण्या = जाना। नीदडी = नीद।

जांण भगत का नित मरण, अण जांणे का राज।

सर अपसर समझै नहीं, पेट भरण सूँ काज ॥ ७ ॥

सन्दर्भ—ज्ञानी भक्त का नित्य मरण है।

भावार्थ—ज्ञानी का मरण है, क्योंकि वह हरि वियोग की वेदना का अनुभव करता है और अज्ञानियों को आनन्द होता है क्योंकि वे उस वेदना का अनुभव नहीं कर पाते हैं हरि-भक्ति से उनका कोई प्रयोजन नहीं है। सासारिक आवश्यकता की पूर्ति अर्थात् जीवन की पाशविक वृत्तियों को ही सन्तुष्ट करने में जीवन व्यतीत कर देते हैं।

शब्दार्थ—जांणा = ज्ञानी। अण जाने = अज्ञानी। राज = आनन्द से। सर अपसर = अवसर।

जिहि घटि जांण विनाण है, तिहि घटि आवटणां घणा।

पिन पंडे संग्राम है, नित उठि मन सौ भूकणां ॥ ८ ॥

संदर्भ—जो ज्ञानी है, उसके हृदय में सताप की कमी नहीं है।

भावार्थ—जिसके हृदय में ज्ञान विज्ञान है, अर्थात् जो विवेकी है उसके हृदय में सताप की कमी नहीं, अर्थात् विरह अग्नि सदैव प्रज्वलित रहती है। निश्चय ही वह विना तलवार के अपने मन से युद्ध किया करता है। (जिससे मन अमर मार्ग की ओर प्रवृत्त न हो।)

शब्दार्थ—जांण-विनाण = ज्ञान विज्ञान। आवटणा = आटना। घणा = अर्थात् घट। पंडे = तलवार। भूकणा = युद्ध करना।

राम वियोगी तन विकल, ताहि न चीन्हें कोइ।

तंधोली के पान ज्यूँ, दिन दिन पीला होइ ॥ ९ ॥

संदर्भ—राम के वियोगी की वेदना को कोई नहीं जान पाता है।

भावार्थ—जो राम वियोगी होता है उसकी वेदना को कोई नहीं जान पाता है। तंधोली के पान के दृश्य वह नित्य पीला पड़ता जाता है।

शब्दार्थ—चीन्हें = रहवानना।

पीलक दीनी साइयां, लोग कहि पिड रोग।

छाने लंघण नित करे, राम पिचारे जोग ॥ १० ॥

सन्दर्भ—राम के वियोग के कारण शरीर पीला पड गया है ।

भावार्थ—साई, अर्थात् हरि के त्रियोगानुभव के कारण, शरीर नित्य पीला पडता जा रहा है । लोग समझते हैं कि इसे पीलिया हो गया है । परन्तु वह छिप-छिप कर नित्य लंघन करता है जिससे कि प्रियतम के मिलन हो सके ।

शब्दार्थ—पीलक = पीलापन । पिड रोग = रक्त हीनता का विकार । छानै = क्षीण ।

काम मिलावै राम कँ, जे कोई जाँणै राषि ।

कबीर विचारा क्या करै, जाकी सुखदेव बोलै साषि ॥ ११ ॥

सन्दर्भ—कबीर ने अपने वचनों का समर्थन स्थान-स्थान पर वैष्णवों के पूज्य ऋषियों एवं देवताओं द्वारा कराया है ।

भावार्थ—यदि कर्मों को उचित रीति से सम्पन्न किया जाए तो कर्म ही राम से मिला देते हैं । कबीर ऐसा कहकर कोई मिथ्या तत्व प्रतिपादित नहीं कर रहे हैं ? इसमें कबीर का क्या दोष ? इस कथन की साक्षी तो स्वयं शुकदेव जी ही दे रहे हैं ।

शब्दार्थ—साषि = साक्षी ।

कांमणि अंग विरक्त भया, रत भया हरि नाँइ ।

साखी गोरखनाथ उगूँ, अमर भये कलि माँहि ॥ १२ ॥

प्रसंग—गुरु गोरखनाथ इन कथन के साक्षी है ।

भावार्थ—जो कामिनी से विरक्त हो कर हरि में अनुरक्त हो गया । वह कलियुग में अमर हो गया । इसके साक्षी गुरु गोरखनाथ है ।

शब्दार्थ—कांमणि = कामिनी । रत = अनुरक्त ।

जदि विषै पियारी प्रीति सँ, तब अंतरि हरि नाँहि ।

जब अंतर हरि जी बसै, तब विषिया सूँचित नाँहि ॥ १३ ॥

सन्दर्भ—विषय वासनाओं में अनुरक्त मानव के हृदय में हरि का निवास हो सकता है ।

भावार्थ—जब तक मनुष्य को सांसारिक वस्तुओं के प्रति अनुराग है तब तक हृदय में हरि का निवास असम्भव है । जब हृदय में हरि का वास हो जाता है, तब चित्त विषयों की ओर नहीं जाता है ।

शब्दार्थ—विषै = विषय-वासनाएं । जदि = यदि । अन्तरि = अन्तर ।

जिहिं घट मैं संसौ बस, तिहिं घटि राम न जोइ ।

राम सनेही दास बिचि, तिणां न संचर होइ ॥ १४ ॥

सन्दर्भ—जिस हृदय में संशय है, वहाँ राम का निवास नहीं होगा ।

भावार्थ—जिस हृदय में संशय अर्थात् द्वैत भावना है, उसमें राम का निवास नहीं हो सकता है । राम एव भक्त दोनों के बीच में तृण तक का भी संचार नहीं हो सकता है ।

शब्दार्थ—विचि = मध्य में । तिणा = तृण ।

स्वारथ को सबको सगा, जब सगलाही जांणि ।

बिन स्वारथ आदर करै, सो हरि की प्रीति पिछांणि ॥१५॥

सन्दर्भ—हरि भक्त वही है, जो स्वार्थ रहित होकर सबका आदर करता है ।

भावार्थ—संसारिक प्राणियों को यह रीति है कि स्वार्थ से प्रेरित होकर सभी अपने वन जाते हैं परन्तु जो स्वार्थ रहित होकर दूसरो का आदर करता है तो समझ लो कि उसके हृदय में हरि की भक्ति विद्यमान है ।

शब्दार्थ—सगला = सगला । स्वारथ = स्वार्थ ।

जिहि हिरदै हरि आइया, सो क्यूं छांनां होइ ।

जतन जतन करि दाविये, तऊ उजाला सोइ ॥१६॥

सन्दर्भ—हरि की ज्योति को छिपाया नहीं जा सकता है ।

भावार्थ—जिस हृदय में हरि का पदार्पण हो गया है । उसके प्रकाश को कैसे छिपाया जा सकता है । चाहे जितना यत्न करके उस प्रकाश को छिपाया जाय तब भी उसका प्रकाश प्रकाशित ही होता रहेगा ।

शब्दार्थ—छाना = छिपाना ।

फाटै दीदै मैं फिरौं, नजरि न आवै कोइ ।

जिहि घट मेरा सांइयाँ, सो क्यूं छांनां होई ॥१७॥

सन्दर्भ—महात्मा दूर से ही दृष्टिगत हो जाता है ।

भावार्थ—मैं आँखें फाट-फाट कर चारों ओर देखता हूँ परन्तु कोई दिखाई नहीं पड़ता है । परन्तु जिस घट में मेरा साँइयाँ है, (हरि भक्त) वह छिपाया नहीं जा सकता है ।

शब्दार्थ—फाटै = फोड़कर । दीदै = नेत्र ।

सब घटि मेरा सांइयाँ, सुनी सेज न कोइ ।

भाग तिन्हों का है सग्री, जिहि घट परगट होइ ॥१८॥

सन्दर्भ—नरपद में हरि का निवास है ।

भावार्थ—सर्वत्र सभी प्राणियों में साई का निवास है, कोई भी हृदय शून्या उससे शून्य नहीं है। परन्तु हे सखी ! भाग्यवान वही है जिसके हृदय में वह प्रकट हो गये।

शब्दार्थ—परगट = प्रकट । भाग = भाग्य ।

पावक रूपी राम है, घटि घटि रह्या समाइ ।

चित चकमक लगे नहीं, ताथै धूवां ह्वै ह्वै जाइ ॥१६॥

सन्दर्भ—अग्नि रूपी राम घट घट में निवास करता है।

भावार्थ—राम उस अग्नि के समान है जो भस्मावृत रहकर प्रत्येक हृदय में समायी रहती है। परन्तु चित्त रूपी चकमक पत्थर उससे स्पर्श नहीं हो पाता है। इसी कारण अग्नि धुआँ दे देकर रह जाती है। तात्पर्य यह है कि चित्तवृत्तियाँ राम में केन्द्रित होने पर ही उसके दर्शन सम्भव है।

शब्दार्थ—पावक = अग्नि ।

कबीर खालिक जागिया, और न जागै कोइ ।

कै जागै विषई विष भर्या, कै दास बंदगी होइ ॥ २० ॥

सन्दर्भ—ईश्वर तथा हरि भक्ति और विषयी जागते रहते हैं।

भावार्थ—कबीर दास जी का कथन है कि उनका स्वामी (ईश्वर) सदैव जागता रहना है और कोई नहीं। इस संसार में या तो विषयी व्यक्ति नाना भोगों में संलित रह कर जागता है या फिर हरि भक्त जो सदैव भक्ति में निमग्न रहता है।

शब्दार्थ—खालिक = ईश्वर ।

कबीर चाल्या जाइ था, आगै मिल्या खुदाइ ।

मीरां मुक सौं यौ कह्या, किनि फुरमाई गाइ ॥ २१ ॥५१४॥

सन्दर्भ—ईश्वर प्राप्ति के अनुभव का गान ।

भावार्थ—कबीर का कथन है कि मैं अपनी धुन में मस्त चला जा रहा था, अर्थात् साधन के मार्ग पर अग्रसर था कि आगे चलकर ईश्वर से भेट हो गई। उन्होंने मुझसे कहा कि तू अपने विचारों को गाकर क्यों नहीं प्रस्तुत करता है।

शब्दार्थ—खुदाइ = ईश्वर । चाल्या = चला ।

३०. साध महिमा कौ अंग

चंदन की कुटकी भली, नां बँवूर की अबरांडं ।
वैशनों की छपरी भली, नां साषत का बड गाँउँ ॥ १ ॥

सन्दर्भ—वैष्णवों का छपर भला है, शाक्तों के बड़े-बड़े ग्राम अच्छे नहीं हैं ।

भावार्थ—चन्दन की लकड़ी का एक मुट्ठा अच्छा है और बबूल का पूरा जंगल अच्छा नहीं है । इसी प्रकार वैष्णवों की एक कुटिया शाक्तों के बड़े-बड़े गाँवों से श्रेष्ठ है । तात्पर्य यह है कि अच्छी वस्तु का थोड़ी मात्रा में ही प्राप्त होना अच्छा है ।

शब्दार्थ—कुटकी = चन्दन की लकड़ी का मुट्ठा । बँवूर = बबूल ।
अबरांडं = जंगल ।

पुरपाटण सूवस वसै, आनंद ठायें ठाँइ ।
राम सनेही बाहिरा, ऊँजड़ मेरे भाँइ ॥ २ ॥

सन्दर्भ—राम भक्त या राम प्रेमियों से रहित नगर उजाड़ है ।

भावार्थ—कवीर की दृष्टि में वह नगर उजाड़ है जिसमें राम के प्रेमी नहीं निवास करते हैं चाहे वह कितने ही सुन्दर ढग से बसा हुआ नगर हो, और स्थान स्थान पर आनन्द मनाये जा रहे हो ।

शब्दार्थ—सूवस = बसा हुआ । बाहिरा = बिना । ऊँजड़ = उजाड़ ।

जिहि घरि साध न पूजिये, हरि की सेवा नाहि ।
ते घर मड़हट सारपे, भूत वसै तिन माँहि ॥ ३ ॥

सन्दर्भ—साधु की पूजा एवं हरि सेवा आवश्यक है अन्यथा घर श्मशान के समान है ।

भावार्थ—जिस घर में साधु का सम्मान और सेवा तथा हरि भक्ति नहीं है । वे घर श्मशान के समान है और वहाँ भूत प्रेतों का निवास स्थान है अर्थात् वे घर श्मशान मृत्यु घूँघ और भयानक है तथा सासारिक क्लेशों के भूतों का वह स्थान है ।

शब्दार्थ—मड़हट = मरघट, श्मशान । घरि = घर ।

है गै गैवर सघन घन, छत्र धजा फरराइ ।
ता सुख थै भिष्या भली, हरि सुमिरत दिन जाइ ॥ ४ ॥

सन्दर्भ—हरि भक्ति मे लीन रहने वाला संसार के ऐश्वर्य प्राप्त प्राणी से श्रेष्ठ है ।

भावार्थ—किसी के पास अनेक हाथी, घोड़े व प्रजा से पूर्ण गाव हो, समस्त ऐश्वर्य की सामग्री हो, शीश पर छत्र हो व महल की अट्टालिकाओ पर ध्वजा फहराती हो, परन्तु हरि भक्ति न हो तो सब व्यर्थ है उन सब की अपेक्षा हरि स्मरण करने वाला वह भिक्षुक अच्छा है जो दिन भर मांग कर खाता है, परन्तु हरि स्मरण मे सम्पूर्ण दिवस लीन रहता है ।

शब्दार्थ— है = हय, घोड़े गै = गयंद, हाथी । सघन घन = घनी भूत जन-सख्या । भिष्या = भिक्षा ।

है गै गैवर सघन घन, छत्रपती की नारि ।
तास पटंतर नां तुलै, हरिजन की पनिहारि ॥ ५ ॥

संदर्भ—वैष्णव की चेरी, दासी समस्त ऐश्वर्यो से युक्त रानी से श्रेष्ठ है ।

भावार्थ—हाथी, घोड़े एवं समस्त ऐश्वर्यो से युक्त रानी से भी श्रेष्ठ वैष्णवो की चेरी है ।

शब्दार्थ—पटतर = बराबर । हरिजन = वैष्णव ।

क्यूँ नृप नारी नीदये, क्यूँ पनिहारी कौँ मांन ।

वा मांग संवारै पीव कौँ, वा नित उठि सुमिरै रांम ॥ ६ ॥

सन्दर्भ—दासी का मान और रानी की निन्दा क्यो होती है ।

भावार्थ—ऐश्वर्य युक्त राजा की रानी की निन्दा और दासी का सम्मान क्यो होता है ? किस कारण दासी रानी से श्रेष्ठ बताई गई है ? रानी लौकिक प्रियतम के हेतु शृङ्गार करती है और दासी नित्य अपने स्वामी राम का स्मरण करती है । इसलिए दासी श्रेष्ठ है ।

शब्दार्थ—मान = सम्मान ।

कबीर धनि ते सुंदरी, जिनि जाया बैसनौ पूत ।

रांम सुमरि निरभै हुवा, सब जग गया अऊत ॥ ७ ॥

सन्दर्भ—वह स्त्री धन्य है, जिसने वैष्णव पुत्र को जन्म दिया ।

भावार्थ—कबीर दास जी का कथन है कि पुत्र को जन्म देने वाली सुन्दरी धन्य है । वह राम के नाम का स्मरण करके निर्भय हो जाता है । इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण संसार तो निपूत ही रह गया ।

शब्दार्थ—अऊन = निपूत ।

कबीर कुल तौ सो भला, जिहि कुल उपजै दास ।

जिहिं कुल दास न ऊपजै, सो कुल आक पलास ॥ ८ ॥

सन्दर्भ—कुल की शोभा दास से ही होती है ।

भावार्थ—कबीर का कथन है कि वह कुल भला है अर्थात् श्रेष्ठ है जिन कुल में हरि का सेवक जन्म ले । और जिस कुल में हरि का सेवक जन्म न ले, वह कुल आक और प्लास (टेसू) के समान निष्प्रयोजन है ।

शब्दार्थ—पलास = टेसू । उपजै = उत्पन्न हो ।

सापत वांभण मति मिलै, वैसनौ मिलै चँडाल ।

अंक माल दे भेटिये, मांनों मिले गोपाल ॥ ९ ॥

सन्दर्भ—ब्राह्मण शाक्त से वैष्णव चाडाल श्रेष्ठ है ।

भावार्थ—कबीर का कथन है कि शाक्त ब्राह्मणों से मिलने की अपेक्षा चाण्डाल वैष्णव से मिलना ही अच्छा है उस वैष्णव से मिलना इस प्रकार भेट करनी चाहिए कि मानो ईश्वर से मिल रहे हो ।

शब्दार्थ—वैसनौ = वैष्णव । वांभण = ब्राह्मण ।

राम जपत दालिद भला, टूटी घर की छानि ।

ऊंचे मंदिर जालि दे, जहाँ भगति न सारंगपानि ॥ १० ॥

सन्दर्भ—जहाँ राम की भक्ति न हो उन प्रसादों को जला देना चाहिए ।

भावार्थ—राम का जप करते हुए दरिद्रता पूर्वक जीवन व्यतीत करना भी अच्छा है, चाहे घर का छप्पर भी टूट गया हो, अर्थात् दरिद्रतर अवस्था भी राम-भक्ति करते हुए अच्छी है जिन ऊंचे-ऊंचे प्रसादों में राम का जप न होता हो उन्हें भस्म कर देना चाहिए ।

शब्दार्थ—दालिद = दरिद्र सारंगपानि = विष्णु (अनाम ब्रह्म से तात्पर्य है) ।

कबीर भया है केतकी, भवर भये सब दास ।

जहाँ जहाँ भगति कबीर की, तहाँ तहाँ राम निवास ॥ ११ ॥१२५॥

सन्दर्भ—भयन केतकी के महल है और उसके दास भ्रमर के समान हैं ।

भावार्थ—कबीरदास जी का कथन है कि मैं केतकी के समान हूँ और मेरे दास भ्रमर के समान हैं । जो नित्य ही मुझे घेरे रहते हैं तथा जहाँ मेरी (कबीर की) भक्ति है वहाँ राम का निवास समझो ।

शब्दार्थ—केतकी = पुष्प । भवर = भ्रमर ।

३१. मधि कौ अंग

कवीर मधि अंग जेको रहै, तौ तिरत न लागै बार ।

दुहु दुहु अंग सँ लालि करि, डूबत है संसार ॥ १ ॥

सन्दर्भ—मध्यम मार्ग पर चलने वाला शीघ्र ही भवसागर को पार कर लेता है ।

भावार्थ—कवीरदास जी का कथन है कि जीवन में जो मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है वह इस संसार सागर को शीघ्र ही पार कर लेता है उसे देख नहीं लगती है परन्तु जो दो अति विरोधी मतों को स्वीकार करता है वह संघर्ष में पड़ कर नष्ट हो जाता है ।

शब्दार्थ—मधि = मध्य मार्ग, समन्वयी मार्ग । तिरत = तरने में ।

कवीर दुविधा दूर करि, एक अंग हूँ लागि ।

यहु सीतल बहु तपति है, दोऊ कहिये आगि ॥ २ ॥

सन्दर्भ—दुविधा में सताप है, उसे दूर कर दो ।

भावार्थ—कवीरदास का कथन है कि दुविधा अर्थात् संशय को दूर कर दो और मध्यम मार्ग का अनुसरण करो । क्योंकि दोनों अतिवादी मतों में कौन श्रेयस्कर है और कौन अश्रेयस्कर है ? यह दुविधा है दुविधा में सताप है । दो विरोधी मत यदि मैं एक यदि अतिशीतल है और दूसरा अत्यन्त उत्तप्त मान लिए जाए तो भी दोनों ही अग्नि की भाँति जलाने वाले हैं । अतः मध्यम मार्ग को ही अपनाना चाहिए ।

शब्दार्थ—सीतल = शीतल ।

अनल अकासां घर किया, मधि निरतर बास ।

बसुधा, व्यौम विरक्त रहै, बिनठा हर बिसवास ॥ ३ ॥

सन्दर्भ—जीवात्मामुक्त हो गई ।

भावार्थ—आत्मा ईश्वर ज्ञान के आलोक से प्रकाशित होकर ब्रह्म रन्ध्र में निवास करने लगी वह आकाश और पृथ्वी दोनों से विरक्त होकर उन्मत्त अवस्था में पहुँच गई ।

शब्दार्थ—अनल = अग्नि । अकासा = आकाश । मधि = मध्य । व्यौम = आकाश । विरक्त = विरक्त । बिनठा = बिनष्ट । बिसवास = विश्वास ।

वासुरि गमि न रैणि गमि, नां सुपनै तरगंम ।
कधीर तहाँ विलंबिया, जहाँ छांहड़ो न धंम ॥ ४ ॥

सन्दर्भ—अगम-प्रदेश मे कबीर ने प्रवेश किया ।

भावार्थ—जहाँ पर दिन-रात अथवा स्वप्न मे भी प्रवेश सम्भव नहीं है वहाँ पर कबीर ने प्रवेश किया ।

शब्दार्थ—रैणी = रात्रि । सुपनै = स्वप्न मे ।

जिहि पैडे पंडित गए, दुनियाँ परी बहीर ।
औघट घाटी गुर कही, तिहिं चढ़ि रखा कधीर ॥ ५ ॥

सन्दर्भ—सद्गुरु द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर कबीर चल कर कृतकृत्य हो गए ।

भावार्थ—जिस मार्ग पर पंडित लोग चले उसका अनुगमन ससार ने किया परन्तु सद्गुरु द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर कबीर दुगंम स्थान पर पहुँच गए ।

शब्दार्थ—औघट = दुगंम ।

श्रगनृकथेँ हूँ रखा, सतगुर के प्रसादि ।
चरन कवल की मौज मैं, रहिस्थूँ अन्तिरु आदि ॥ ६ ॥

सन्दर्भ—गुरु की कृपा से कबीर स्वर्ग-नरक के प्रलोभनो से ऊपर उठ गए ।

भावार्थ—सद्गुरु की कृपा से मैं स्वर्ग-नरक की कल्पना से दूर रहा अब तो मैं ईश्वर के चरण कमल मे दिन-रात आनन्दपूर्वक रम रहा हूँ ।

शब्दार्थ—श्रग = स्वर्ग । नृक = नरक । थैँ = से । प्रसादि = कृपा से ।

हिन्दू मूये राम कहि, मुसलमान खुदाइ ।
कहि कधीर सो जीवता, दुह मैं कदे न जाइ ॥ ७ ॥

सन्दर्भ—कबीर न सीमांता से परे अनहद क्षेय मे सद्गुरु की कृपा से विचरण करने लगे ।

भावार्थ—हिन्दू राम राम रटते-रटते मर गए और मुसलमान खुदा, खुदा कहते-कहते मर गए । कबीर कहते हैं कि वही जीवित है जो इन दोनों से परे प्रकृत का उपासक है ।

शब्दार्थ—मूये = मर गए ।

दुखिया मूवा दय यों, सुखिया सुख कों भूरि ।
नदा अनंशी राम के, जिनि सुख दुख मेल्हे दूरि ॥ ८ ॥

सन्दर्भ—राम के उपासक एवमे सुखो है ।

भावार्थ—दुखी दुख से पीडित हैं और सुखी सुख की खोज में दुखी हैं ।
सुख दोनों में से किसी को न मिला । राम के भक्त दुःख-सुख की भावना का परि-
त्याग करके आनन्द से विचरण करते हैं ।

शब्दार्थ—अनंदी = आनन्द से ।

कबीर हरदी पीयरी, चूना ऊजल भाइ ।
राम सनेही यूँ मिले, दून्यूँ बरन गँवाइ ॥ ६ ॥

सन्दर्भ—राम-सनेही संत-जन मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हैं ।

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि हल्दी पीली होती है और चूना उज्ज्वल
परन्तु संतजन इन दोनों सीमाओं का परित्याग करके प्रेम के रंग में मन का अनुरंजन
कर लेते हैं ।

शब्दार्थ—दून्यू = दोनों ।

कावा फिर कासी भया, राम भया रहीम ।
मोट चून मैदा भया, बैठि कबीरा जीम ॥ १० ॥

सन्दर्भ—कबीर ने भी मध्य मार्ग का अनुसरण किया ।

भावार्थ—मध्य मार्ग का अनुगमन करने पर कावा, काशी और रहीम तथा
राम में अन्तर मिट गया । पाप पूर्णं कर्म सूक्ष्म तत्त्व में परिवर्तित हो गए और इस
प्रकार कबीर सूक्ष्म तत्त्व का उपभोग करने लगा ।

शब्दार्थ—कासी = काशी ।

घरती अरु असमान बिचि, दोइ तूँ बड़ा अबध ।
षट दरसन संसै पढ़या, अरु चौरासी सिध ॥११॥५२६॥

सन्दर्भ—घरती और आँर आकाश दो तुम्बियो के सदृश है जिन्हें बीच में
बाधना बहुत कठिन है ।

भावार्थ—पृथ्वी और आकाश दो तुम्बियो के सदृश है जिन्हे मध्य से
बाधना कठिन है । षट-दर्शन और चौरासी सिद्ध सद्य सन्देह में पड़े रह गए ।

शब्दार्थ—अरु = और । तूँ बड़ा = तुम्बियो ।

३२. सारग्राही को अङ्ग

पीर रूप हरि नांव है, नीर आन व्यौहार ।
हंस रूप कोइ साध है, तत का जानण हार ॥१॥

सन्दर्भ—हंस रूपी साधु सार-तत्व के ज्ञाता होते हैं ।

भावार्थ—दूध एवं जल के सहश ईश्वर का नाम सासारिक माया एक दूसरे में मिले हुए है । हंस रूपी साधु ही इस सार तत्व के ज्ञाता होते हैं । और दूध एवं जल को अलग-अलग करके उसे पहचान लेते हैं । और क्षीर रूप ईश्वर के नाम को ग्रहण कर लेते हैं, माया रूपी जल को त्याग देते हैं ।

शब्दार्थ—पीर = क्षीर । नांव = नाम । आन = अन्य । तत = तत्व ।

कवीर सापत को नहीं, सबे वैशनों जाणि ।

जा मुखि, राम न उचरै, ताही तन की हांणि ॥२॥

सन्दर्भ—समस्त प्राणी वैष्णव ही है ।

भावार्थ—कवीर दाम जी का कथन है कि शाक्त कोई नहीं है, सभी को वैष्णव जानना चाहिए अर्थात् सभी वैष्णव है परन्तु जिसके मुख से राम नाम उच्चरित नहीं होता है, उसी का नाश होता है ।

शब्दार्थ—ऊचरै = उच्चरित होना । सपित = शाक्त ।

कवीर आंगुण नां गई, गुण ही कौं ले घीनि ।

घट घट महु के मधुप व्यूं पर आत्म ले चीन्हि ॥३॥

सन्दर्भ—गुणों को ही ग्रहण करना चाहिए ।

भावार्थ—कवीर दाम कहते हैं कि दूमरो के अवगुणों को ओर ध्यान नहीं देना चाहिए तथा उसके गुणों को चुन करके ग्रहण कर लेना चाहिए । जिस प्रकार मधुमाधिका विविध सुमनों में मधु सचय करती है उसी प्रकार दूमरो के सदगुणों को परमात्मा का अक्ष समक्षपर अपना लेना चाहिए ।

शब्दार्थ—अंगुण = अवगुण ।

धनुधा वन घटु भांति है, फूल्यी फूल्यी अनाध ।

मिष्ट सुमान कवीर गहि, विपम कहै किहि साध ॥४॥४४०॥

सन्दर्भ—पृथ्वी विविधता में दृश्य है, उससे से सार तत्व का घयन कर लेना चाहिए ।

भावार्थ—विविध प्रकार का वसुधा रूपी वन अपार फल फूलों से लदा हुआ है। कबीर का कथन है कि हमें मीठे फलों को ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि कटु फलों को ग्रहण करने से क्या लाभ ? अर्थात् इस संसार में विविधता है, हमें अत्येक सद्गुणों को ग्रहण कर लेना चाहिए। ऐसी स्थिति में उन्हें विषम क्यों कहे ?

शब्दार्थ—वसुधा = पृथ्वी । मिष्ट = मीठा ।

३३. विचार कौ अङ्ग

राम नाम सभ को कहै, कहिवे बहुत विचार ।

सोई राम सती कहै, सोई कौतिग हार ॥१॥

सन्दर्भ—राम नाम उच्चारण के पीछे विभिन्न विचारधाराएँ होती हैं ।

भावार्थ—राम नाम तो सभी उच्चारण करते हैं । परन्तु उसके उच्चारण में विभिन्न विचार रहते हैं । भक्त राम नाम का उच्चारण सती-भाव से करता है, राम के हेतु भक्त सती की भाँति अपने को भस्म कर देता है । केवल सती ही अपने पतिव्रत भाव का कौतुक दिखला सकती है ।

शब्दार्थ—कौतिग हार = कौतुक वाली ।

आगि कह्यां दाभै नहीं, जे नहीं चंपै पाइ ।

जब लग भेद न जाणिये, राम कह्या तौ कांइ ॥२॥

सन्दर्भ—जब तक यथार्थ का ज्ञान न हो जाए, राम नाम लेने से कुछ नहीं होता है ।

भावार्थ—अग्नि, अग्नि कहने वाला अग्नि की ज्वाला का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है जब तक कि वह अग्नि पर पैर नहीं रखता है और जल जाता है, उसी प्रकार जब तक माया और ईश्वर का अन्तर स्पष्ट न हो जाए उसका यथार्थ ज्ञान न हो जाए तो यदि राम नाम का उच्चारण भी किया तो क्या हुआ ? अर्थात् उससे कोई लाभ नहीं ।

शब्दार्थ—आगि = आग, अग्नि । दाभै = दग्ध होना । चापै = रखना ।

कबीर सोचि विचारिया, दूजा कोई नांहिं ।
आपा पर जब चीन्हियां, तव उलटि समाना मांहिं ॥३॥

सन्दर्भ—संसार मे ईश्वर ही सब कुछ है ।

भावार्थ—कबीर कहते हैं, कि गम्भीर विवेचन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि संसार मे ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है यह सब उसी का है । इस आत्म तत्व को जब जान लिया तब मेरी वृत्तियां अन्तर्मुखी होकर ईश्वर भक्त मे प्रवृत्त हो गई ।

शब्दार्थ—दूजा = दूसरा ।

कबीर पांणी केरा पूतला, राख्या पवन सँवारि ।
नांनां वांणी घोलिया, जोति धरी करतारि ॥४॥

सन्दर्भ—मानव पानी के बुदबुदे के सदृश है ।

भावार्थ—कबीर दास जी का कथन है, कि मनुष्य पानी के बुलबुले के समान है जिसको प्राण तत्व की वायु ने यह रूप दे रखा है । इस बुलबुले मे सृष्टिकर्ता निरंजन ने अपनी ज्योति स्थापित कर रखी है, जिसके कारण वह अनेक प्रकार से विविध रूपो मे अपने विचार प्रकट करता है ।

शब्दार्थ—सवारि = सम्भाल कर । जोति = ज्योति ।

नौ मण सूत अलूमिया, कबीर घर घर बारि ।
तिनि सुलभाया वापुड़े, जिनि जाणीं भगंति मुरारि ॥५॥

सन्दर्भ—ईश्वर भक्त ही इस भवजाल से मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।

भावार्थ—कबीर दास जी का कथन है, कि प्रत्येक मानव संसार के कर्म ज्ञान एव विचार समूह रूपी नौ मण सूत को सुलभाने मे लगा हुआ है जो घर घर के द्वार पर उलझा हुआ पटा है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति मायादिक प्रपञ्च रूपी उलझे हुए सूत को सुलभाने का प्रयत्न करता है, परन्तु इसे केवल वही सुलभा सका है जिसने ईश्वर की भक्ति की और उसमे ध्यान लगाया ।

शब्दार्थ—बारि = द्वार ।

विशेष—नौमण सूत = इसमें पंचविषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध,—तीन गुणों मत् रस, तम एव मन (तमसा नासारिक कर्मेण और परितोषों का उद्भायक) ।

आधी नापी निरि कटे, जोर विचारी जाइ ।
मानि परतीति न ऊपजै, ती राति दिवस मिलिगाइ ॥ ६ ॥

सन्दर्भ—आधा एवं विद्याग आवश्यक है ।

भावार्थ—किसी के द्वारा प्रतिपादित अर्थ सत्य प्राणो का ग्राहक हो जाता है । कबीर दास कहते हैं यदि मन मे श्रद्धा प्रेम और विश्वास नही है तो सखियो का दिन रात एकाग्र होकर गान करने से कोई लाभ नही ।

शब्दार्थ—परतीति = विश्वास ।

सोई अपिर सोई बैयन, जन जू जू वाचवंत ।

कोई एक मेलै लवणि, अमीं रसाइण हुंत ॥ ७ ॥

सन्दर्भ—काव्य के विषय मे कबीर का व्यापक विचार ।

भावार्थ—उन्ही अक्षरो और उस वाणी जिमका प्रयोग लोग नित्य पृथक्-पृथक् रूप से करते हैं, कोई बिरला एक व्यक्ति अर्थात् कवि उममे ऐमा लावण्य ला देता है कि अमृतमयी रसयुक्त कविता बन जाती है ।

शब्दार्थ—अपिर = अक्षर । बैयन = वचन । वाचवंत = बोलते हैं । लवण = नमक, लावण्य, रसाइण = काव्य ।

हरि मोत्यां की माल है, पोई काचै तागि ।

जतन करी भंटा घंणां, दूटैगी कहुँ लागि ॥ ८ ॥

सन्दर्भ—हरि भक्ति से प्राप्य एव तर्क से अप्राप्य है ।

भावार्थ—हरि उस मोतियो की माला के सदृश है जो कच्चे घागे मे पिरोई गई है, यदि उसके साथ यत्न करोगे, जोर लगाओगे तो अनेक भंफट उत्पन्न होंगे अर्थात् विचार सघर्ष से उलझने बढ जाएगी, सम्भव है कि इससे घागा दूट भी जाए ।

शब्दार्थ—मोत्यां की = मोतियो की । काचै तागि = कच्चा घागा । भंटा = भ्रमट ।

मन नहीं छाड़ै विषै, विषै न छाड़ै मन कौ ।

इनकों इहै सुभाव, पूरि लागी जुग जन कौ ॥ ९ ॥

सन्दर्भ—मन और विषय विकारो का सम्बन्ध है ।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि मन विषय का परित्याग नही करता और विषय मन को नहीं छोडता है । अर्थात् मन विषय-वासनाओ मे उलझ गया है और विषय वासनाएं मन मे घर कर चुकी है । इनका स्वभाव ही ऐसा है । ये दोनों मनुष्य के साथ परिपूर्ण रूप से चिपटे हुए हैं ।

शब्दार्थ—विषै = विषय, वासना । सुभाव = स्वभाव ।

खंडित मूल बिनास, कहौ किंम बिगतह कीजै ।

ज्यूँ जल में प्रतिव्यंब, त्यूँ सकल रामहिं जांणीजै ॥ १० ॥

संदर्भ—जल में प्रतिबिम्ब के सदृश, सबमें राम है ।

भावार्थ—संसार के प्रत्येक पदार्थ एवं तत्व में उस राम का प्रतिबिम्ब उसी प्रकार है जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्ब होता है । अर्थात् दृश्यमान जगत उसी के प्रकाश से प्रकाशित है । यदि कोई नास्तिक इसका खंडन करना चाहे तो प्रतिबिम्ब को खंडित करके बिम्ब का उन्मूलन कैसे कर सकेगा अर्थात् जब प्रतिबिम्ब—सम्मुख है संसार के रूप में तो बिम्ब-ईश्वर भी अवश्य होगा ।

शब्दार्थ—प्रतिव्यव = प्रतिबिम्ब ।

सो मन सो तन सो विपै, सो त्रिभवन-पति कहूँ कस ।

कहै कबीर व्यंद्हु नरा, ज्युं जल पूर्या सकल रस ॥११॥५४६॥

सन्दर्भ—निराकार निरंजन की वन्दना का उपदेश ।

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि जिन्हे हम अवतार मानते हैं उनमें मन परीर तथा उसके सम्बन्धित विषय सब वही है उन्हें त्रिभुवन पति कैसे कहूँ ? इस-लिए हम निराकार निरंजन की वन्दना करो जो रसों में जल के सदृश समस्त संसार में नमाया हुआ है ।

शब्दार्थ—व्यंद्हु = विद्यमान ।

३४. उपदेश कौ अंग

हरि जी यह विचारिया, सापी कहौ कबीर ।

भाँसागर में जीव है, जे कोइ पकड़ तीर ॥१॥

सन्दर्भ—सापिया भव सागर पार होने का सम्बल है ।

भावार्थ—हरि ने यही विचार किया अर्थात् प्रेरणा दी कि कबीर तुम मारो, (अनुभव मन्तित ज्ञान) संसार के सम्मुख प्रस्तुत करो । संसार रूपी समुद्र में घने जाल पड़े हैं जो भव सागर पार करने की आशा कर रहे हैं । सम्भव है कि कोई उन जालियों का सम्बल लेकर भव सागर पार हो जाए ।

शब्दार्थ—विचारिया = विचार किया ।

भाँसागर = संसार-समुद्र ।

कली काल तत्काल है, बुरा करो जिनि कोइ ।
अन भावै लौहा दांहिणै, बोवै सु लुणतां होइ ॥२॥

संदर्भ—कलियुग मे कर्मफल तत्काल प्राप्त होता है ।

भावाथ—कलिकाल मे किए हुए कर्मों का फल तत्काल ही प्राप्त हो जाता है अतः कबीर प्राणियों को उपदेश देते हैं कि कोई कुटिवत कर्म न करो । जिस प्रकार किसान बाँये हाथ मे फसल के पौधो को पकड़ता है और दाहिने हाथ मे अन्न काटने की हंसिया पकड़ता है और जो बोता है वही काटता है उसी प्रकार जैसे कर्म करोगे वैसा फल मिलेगा ।

शब्दाथ—अन = अन्न । लोहा = हंसिया ।

कबीर संसा जीव में, कोई न कहै समझाइ ।
बिधि बिधि बांणी बोलता, सो कत गया विलाइ ॥३॥

संदर्भ—जीव की स्थिति क्षणिक है ।

भावाथ—कबीरदास जी का कथन है कि जीव मे भ्रम है उसे कोई समझा कर नही बता सकता है । जीव के अस्तित्व के विषय मे विभिन्न आशकाएँ उत्पन्न हो जाती है । जो जीव मृत्यु से पूर्व अनेक प्रकार की वाणियाँ बोलता था वह कहाँ विलीन हो गया ?

शब्दाथ—संसा = संशय । विलाइ = नष्ट हो गया ।

कबीर संसा दूरि करि, जाँमण मरण भरंम ।
पञ्चतत्त तत्तहि मिलै, सुरति समाना मंन ॥४॥

सन्दर्भ—संशय को दूर कर दो ।

भावाथ—कबीरदास कहते हैं, कि हे मन संशय को दूर कर दो । जन्म-मरण का भ्रम इसी कारण है । संशय को दूर करने से जीवन मुक्त हो जायेगा तथा पंच तत्वो से विनिर्मित यह नश्वर शरीर उन्ही तत्वो मे मिल जायेगा और तब मन सुरति अवस्था मे पहुँच कर ईश्वर से साक्षात्कार करेगा ।

शब्दाथ—जाँमण मरण = जन्म-मरण ।

ग्रिही तौ च्यंता घणीं, बैरागी तौ भीष ।
दुहु कात्यां बिचि जीव है, दौ हनै संतौ सीष ॥५॥

सन्दर्भ—साधु-शिक्षा चिन्ताओ को नष्ट कर सकती है ।

भावाथ—गृहस्थ एव विरक्त दोनो को ही चिन्ता है प्रथम को गृहस्थी की तथा द्वितीय को भिक्षा की । अतः गृहस्थ एवं विरक्त (सन्यासी) दोनो अवस्थाओ मे

जीव उसी प्रकार नष्ट होता है जैसे कैची के दोनो फलको के बीच में फंसा हुआ वस्त्र । सन्तों की शिक्षा इस संशय को दूर कर देती है ।

शब्दार्थ—च्यता = विता । भीष = भिक्षा । हनै = नष्ट करे ।

वैरागी विरक्त भला, गिरहीं चित्त उदार ।

दुहूँ चूकां रीता पड़ै, ताकू वार न पार ॥६॥

सन्दर्भ—गृहस्थ को उदार एवं सन्यासी को विरक्त होना चाहिए ।

भावार्थ—वैरागी को विरक्त एवं गृहस्थ का उदार होना चाहिए । यदि ये दोनो अपने इन प्रकृत गुणों को त्याग देते हैं, तो सम्पूर्ण साधन व्यर्थ जाते हैं और इतना अनर्थ होगा कि उमका कोई ठौर-ठिकाना नहीं होगा ।

शब्दार्थ—विरक्त = विरक्त । गिरही = गृहस्थ ।

जैसी उपजै पेड़ सूं, तसी निवहै ओरि ।

पैका पैका जोड़तां, जुड़िसी लाप करोड़ि ॥७॥

सन्दर्भ—मार्ग पर सतत प्रयत्न करके चलने पर उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है ।

भावार्थ—पेड़ से जैसा सुन्दर फल गिरता है यदि उसे अन्त तक उसी रूप में सुरक्षित रखा जाए, अर्थात् आत्मा ब्रह्म से जैसे अलग हुआ वैसा अन्त तक बना रहे । परन्तु उसके लिए सतत प्रयत्न की आवश्यकता है जैसे एक-एक पैसा जोड़ने पर लाखों एकत्र हो जाते हैं उसी प्रकार साधना के मार्ग पर अग्रसर होकर धीरे-धीरे धनकार भी उद्देश्य की पूर्ति सम्भव है ।

शब्दार्थ—निवहै ओरि = अन्त तक निर्वाह । पैका = पैसा । जुड़िसी = जुड़ जाना ।

कबीर हरि के नांव सूं, प्रीति रहे इकतार ।

तौ मुख तँ मोती भड़ै, हीरे अंत न पार ॥८॥

सन्दर्भ—उपदेश के मूल में अनवरत भक्ति की अपेक्षा ।

भावार्थ—कबीर दाम का कथन है कि यदि साधक का हरि नाम में निरन्तर एक नमान प्रेम बना रहे, तो उनके वचनों से मोती भरने लगेंगे, और हीरा अर्थात् उद्देश्य या कोई अन्त न होगा ।

शब्दार्थ—इकतार = एक समान, लगातार । नांव = नाम ।

पेसी याणी बोलिये, मन का आपा मोह ।

अपना मन मीठल करे, औरन काँ मुख होइ ॥९॥

सन्दर्भ—वाणी का महत्व ।

भावार्थ—मन के अंह को अर्थात् अहंकार को विदूरित करके इतने सुन्दर बचन बोलने चाहिए जो अपने शरीर को शीतल करे और दूसरो के लिए भी सुखदायक हो अर्थात् श्रोता एवं वक्ता दोनों ही आह्लादित एवं प्रफुल्लित हो ।

शब्दार्थ—आपा = अपनत्व का भाव ।

कोई एक राखै सावधान, चेतनि पहरै जागि ।

वरतन वासन सूं खिसै, चोर न सकई लागि ॥१०॥५५६॥

सन्दर्भ—साधक की सजगता ।

भावार्थ—साधक को अपनी चेतना को इतना जाग्रत रखना चाहिए कि विषय-वासना रूपी चोर प्रविष्ट न हो सके और वस्त्र एवं वरतनो से यदि दूर रहो अर्थात् विषय-वासना से दूर रहो तो चोर कहीं आकर क्या लेगे ?

शब्दार्थ—चेतनि = चेतनता । वरतन-वासन = विषय-वासनाएं ।

३५. बेसास कौ अङ्ग

जिनि नर हरि जठरांह, उदिकंथें पंड प्रगट कियौ ।

सिरजे श्रवण कर चरन, जीव जीभ मुख तास दियौ ॥

उरध पाव अरध सीस, बीस पषां इम रषियौ ।

अंन पान जहां जरै, तहां तैं अनल न चषियो ॥

इहिं भाँति भयानक उद्र में, उद्र न कबहू छंछरै ।

कृषन कृपाल कबीर कहि, इम प्रतिपालन क्यौं करै ॥१॥

सन्दर्भ—जिस ब्रह्म ने जन्म दिया है, वही पालन पोषण करेगा ।

भावार्थ—जिस हरि ने माता के गर्भ में रज और वीर्य से रचना किया, जिसने कान, हाथ, पैर, जीभ, मुख दिया और जिसने पेट के भीतर जठराग्नि से रक्षा की, अग्नि का स्पर्श तक न हो पाया । दस मास तक गर्भ में ऊपर को पैर और नीचे को सिर करके लटकाए रखा । इस प्रकार भयानक उदर में कभी खाली पेट नहीं रहने दिया । कबीर कहते हैं कि कृष्ण (हरि) कृपालु है, और कौन इस प्रकार पालन-पोषण कर सकता है ?

शब्दार्थ—जठरांह = पेट में । उदिकथै = रज और वीर्य से । पंड = पिंड ।
तास = उत्तम । उरघ पाव अरघ सीस = मातृ गर्भ में शिशु की उल्टी स्थिति । अंन =
खान । चपियौ = छुआ नहीं । उद्र = उदर । छंछरै = खाली रहा ।

भूखा भूखा क्या करै, कहा सुनावै लोग ।
भांडा घड़ि जिनि मुख दिया, सोई पूरण जोग ॥२॥

सन्दर्भ—समस्त अभाव का पूरक ब्रह्म है ।

भावार्थ—हे प्राणी ! भूख भूख क्यों कहकर अपने अभावों की व्यथा का
गान कर रहा है ? जिस ब्रह्म ने उदर रूपी बरतन बनाया है वही इसको पूर्ण
करेगा ।

शब्दार्थ—भांडा = पात्र (उदर) । घड़ि = बनाकर । मु = मुह ।

रचनहार कूं चीन्हि लै, खैवे कूं कहा रोइ ।
दिल मंदिर में पैसि करि, तांणि पछेवड़ा सोइ ॥३॥

सन्दर्भ—ब्रह्म को पहचानने की चेष्टा करनी चाहिए ।

भावार्थ—हे प्राणी ! जिस ब्रह्म ने तेरा निर्माण किया है उसे पहचानने की
चेष्टा करना चाहिए । तू अभावों के पीछे क्यों रोता है, दिल रूपी मन्दिर में ब्रह्म
को पहचान कर विश्वास रूपी चादर ओढकर निश्चित हो जा ।

शब्दार्थ—खैवे = खाने को ।

राम नाम करि बौहडा, वांही बीज अघाइ ।
अंति कालि सूका पढ़ै, तौ निरफल कदे न जाइ ॥४॥

सन्दर्भ—राम नाम रूपी बीज की कृषि करने से खेती व्यर्थ नहीं जाती ।

भावार्थ—राम नाम रूपी बौहडा के द्वारा कम रूपी बीज को मन भरकर
बो दो, यदि अन्तोगत्वा सूखा भी पड जाए तो खेती व्यर्थ नहीं जायेगी ।

शब्दार्थ—बौहडा = फसल बोने की नलिका । वांही = बीज । अघाई =
भरपूर ।

अंतामणि मन में बसै, सोई चित्त में आंणि ।
यिन अंतता अंतता करै, इह प्रभू की आंणि ॥५॥

सन्दर्भ—ईश्वर ही मनकी चित्त रहती है ।

भावार्थ—हे प्राणी ! ब्रह्म तेरे मन में अज्ञात रूप से निवास करता है । यह
स्वतः मनकी चित्त रहता है; यही उनका स्वभाव है ।

शब्दार्थ—आंणि = प्रभूत कर दे । आंणि = प्रकृति ।

कधीर का तू चिंतवै, का तेरा च्यंत्या होइ ।
अण च्यंत्या हिरजी करै, जो तोहि च्यंत न होइ ॥६॥

सन्दर्भ—ईश्वर अप्रत्याशित रूप से समस्त अभागों को पूर्ति करता है ।
हे प्राणी ! तू व्यर्थ के लिए चिंता करता है । चिंता करने से क्या होगा ? बिना
सोचा हुआ अर्थात् अप्रत्याशित रूप से हरि जी सबकी ओर ध्यान रखते हैं ।

शब्दार्थ—अणच्यंत्या = अप्रत्याशित ।

करम करीमां लिखि रह्या, अब कछू लिख्या न जाइ ।
मासा घटै न तिल बधै, जौ कोटिक करै उपाइ ॥७॥

सन्दर्भ—ईश्वर हमारे कर्मों का सच्चा मूल्यांकन करने वाला है ।

भावार्थ—ईश्वर स्वतः हमारे कर्मों का लेखा-जोखा रखता है, इसलिए अब
कुछ भी नहीं कहते बनता । कोटिशः उपाय करने पर भी कर्मों के लेखा में अन्तर
नहीं पडता है ।

शब्दार्थ—करीमा = ईश्वर ।

जाकौ जेता निरमया, ताकौ तेता होइ ।
रंती घटै न तिल बधै, जौ सिर कूटै कोइ ॥ ८ ॥

सन्दर्भ—ईश्वर सबकी आवश्यकतानुसार देता है ।

भावार्थ—ईश्वर ने जिसको जिस योग्य बनाया है उसको उतना ही देता
है । न रंती घटता है, न तिल भर बढेगा चाहे कितना ही प्रयत्न मनुष्य कर ले ।

शब्दार्थ—निरमया = निर्धारित किया ।

च्यंता न करि अच्यंत रहु, साईं है सम्रथ ।

पसु पंपेरू जीव जंत, तिनकी गांडि किसान ग्रंथ ॥ ९ ॥

सन्दर्भ—हे प्राणी ! चिन्ता छोड दे, ईश्वर सबकी चिन्ता करता है ।

भावार्थ—हे प्राणी ! निश्चित होकर जीवन व्यतीत कर स्वामी बड़ा
समर्थ है पशु-पक्षी जीव-जन्तु आदि की चिन्ता कौन करता है ?

शब्दार्थ—सम्रथ = समर्थ, शक्तिमान । गांडि = गणना ।

संत न बांधै गांठड़ी, पेट समाता लेइ ।

साईं सूँ सनमुख रहै, जहाँ मांगै तहाँ देइ ॥ १० ॥

सन्दर्भ—सत सग्रह नहीं करते, केवल आवश्यकता भर ग्रहण करते हैं ।

भावार्थ—सतजन आवश्यकतानुसार ग्रहण करते हैं । वे सग्रह नहीं करते
हैं । वे ईश्वर की भक्ति में लीन रहते हैं । जहाँ जब जैसी आवश्यकता होती है,
स्वामी उन्हें देता है ।

शब्दार्थ—गाठड़ी = पोटली ।

राम नाम सूँ दिल मिली, जन हम पड़ी बिराइ ।

मोहि भरोसा इष्ट का, बंदा नरकि न जाइ ॥ ११ ॥

सन्दर्भ—जब से राम नाम से अनुराग स्थापित हुआ है तब से संसार भूल गया ।

भावार्थ—राम नाम से अनुराग हो जाने पर अब तो संसार से विराग हो गया है । अब मुझे ब्रह्म का भरोसा हो गया है अब मैं नरक नहीं जाऊँगा ।

शब्दार्थ—विराई = विराग ।

कबीर तूँ काहे डरै, सिर परि हरि का हाथ ।

हस्ती चढ़ि नहीं डोलिए, कूकर भुसैँ जु लाष ॥ १२ ॥

सन्दर्भ—ब्रह्म की शरण में जाकर तू अभय है ।

भावार्थ—हे प्राणी ! तेरे सिर पर ईश्वर का वरद हस्त है, तू क्यों विचलित होता है । क्या कुत्ते के भूकने के भय से तू हाथी पर चढ़ना छोड़ देगा ।

शब्दार्थ—कूकर = कुत्ता । भुसैँ = भौँके ।

मीठा खाण मधूकरी, भाँति-भाँति कौ नाज ।

दावा किसही का नहीं, बिन विलाइति बड़ राज ॥ १३ ॥

सन्दर्भ—भिक्षाजित अन्न मधुरान्न हैं ।

भावार्थ—भिक्षा में प्राप्त अन्न विविधता पूर्ण और मधुर होता है । उस पर किनो एक का अधिकार नहीं है, और उसका भोग करने वाला राजा से भी बड़ा होता है ।

शब्दार्थ—दावा = अधिकार ।

मांनि महात्म प्रेम रस, गरवा तण गुण नेह ।

ऐ सवहीं अह लागया जवहीं कख्या कुछ देह ॥ १४ ॥

सन्दर्भ—मानने से महत्व घटता है ।

भावार्थ—मान, महात्म्य प्रेम, गर्व गुण और स्नेह ये सब तभी समाप्त हो जाते हैं जब मनुष्य कृप्य याचना करता है ।

शब्दार्थ—महात्म = महात्म्य ।

मांगण मरण नमान है, पिरला वंचे कोइ ।

कई कपीर रघुनाथ सूँ, मतिर मँगावे मोहि ॥ १५ ॥

सन्दर्भ—याचना करना मृत्यु के समान है ।

भावार्थ—माँगना मृत्यु के समान है, परन्तु विरला ही माँगने से बच पाता है । कबीर कहते हैं कि हे ईश्वर ! माँगने से मुझे बचाए रखना ।

शब्दार्थ—माँगण = माँगना ।

पांडल पंजर, मन भँवर, अरथ अनूपम वास ।

राम नाम सींच्यां अमीं, फल लागा बेसास ॥ १६ ॥

संदर्भ—राम नाम रूपी अमृत से सोचने पर विश्वास विकसित होता है ।

भावार्थ—शरीर पांडुर-पुष्प के समान है, और मन भौरे के सदृश है, अर्थ रूपी अनुपम गन्ध प्रसारित है । राम नाम रूपी अमृत तत्व से सोचने पर विश्वास रूपी फल प्रस्फुटित होता है ।

शब्दार्थ—पांडल = पुष्प विशेष ।

मेर मिटी मुकता भया, पाया ब्रह्म विसास ।

अब मेरे दूजा को नहीं, एक तुम्हारी आस ॥ १७ ॥

सन्दर्भ—ममता और अह मिट गया ब्रह्म की कृपा से ।

भावार्थ—भेद भाव को भावना मिट गई और ब्रह्म विश्वास रूपी मुक्ता प्राप्त हो गया । हे नाथ ! अब तुम्हारे अतिरिक्त और मेरा कोई नहीं है ।

शब्दार्थ—मुक्ता = मुक्त, मोती के समान उज्ज्वल ।

जाकी दिल में हरि बसै, सो नर कल्पै काँइ ।

एकै लहरि समंद की, दुख दरिद्र सब जाइ ॥ १८ ॥

संदर्भ—हरि की कृपा से समस्त अभाव दूर हो जाते हैं ।

भावार्थ—जिसके हृदय में ब्रह्म का वास है वह क्यों दुखी है ? क्यों कल्प रहा है ? हरि की एक कृपा पूर्ण लहर से समस्त दुख दरिद्र दूर हो जायेगा ।

शब्दार्थ—कल्पै = कल्पना, दुखित होना ।

पद गाये लै लीन ह्यै, कटी न संसय पास ।

सबै पिछोड़े थोथरे, एक निनां बेसास ॥ १९ ॥

संदर्भ—विश्वास के बिना सब सूना है ।

भावार्थ—लीन होकर पद, साखियों का गान करते रहे, परन्तु सशय के पाश में मन बंधा रहा । एक विश्वास के बिना समस्त साधना व्यर्थ हो गई ।

शब्दार्थ—थोथरे = लाली ।

गांवण ही में रोज है, रोवण ही में राग ।

इक वैरागी ग्रिह में, इक गृही में वैराग ॥ २० ॥

सन्दर्भ—विरक्तो के लिए दुख और सुख सब बराबर है ।

भावार्थ—गाने में रोना और रोने में गाना समाहित है । दुख में सुख और सुख में दुख समाहित है । विरक्तो के लिए दोनों समान है, कोई गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी विरक्त रहता है और कोई विरक्त होते हुए भी गृहस्थाश्रम में अनुरक्त रहता है ।

शब्दार्थ—गावण = गाना । रोवण = रोना ।

गाया तिनि पाया गहीं, अणगाया थै दूरि ।

जिनि गाया विसवास सूं, तिन रांम रखा भरपूरि ॥ २१ ॥

संदर्भ—ब्रह्म अनिवंचनीय है ।

भावार्थ—जिसने ब्रह्म का प्रचार किया उसने ब्रह्म तत्व को प्राप्त नहीं किया और जिसने ब्रह्म का गुणगान नहीं किया वह उससे और भी दूर है । जिसने विश्वासपूर्वक गान किया है उसी ने ब्रह्म तत्व को प्राप्त किया है ।

शब्दार्थ—विसवास = विश्वास ।

३६. पीव पिछांणन कौ अङ्ग

संपटि मांहि समाइया, सो साहिव नहीं होइ ।

सफल मांड में रमि रखा, साहिव कहिए सोइ ॥ १ ॥

संदर्भ—कबीर का ब्रह्म, समस्त ब्रह्माण्ड में रमा हुआ है ।

भावार्थ—जो प्रचण्ड है, मन्दिर में बन्द है वह तो मेरा बाराध्य नहीं है परन्तु मेरा ग्यामी समस्त ब्रह्माण्ड में रमा हुआ है ।

शब्दार्थ—संपटि = सम्पुट, मन्दिर में । मांडि = ब्रह्माण्ड ।

रहै निराला मांड में, सकल मांड ता मांहिं ।

कबीर सेथे तास कूं, दूजा कोई नांहिं ॥ २ ॥

संदर्भ—ब्रह्म सगार से अलग, पूरे सगार में व्याप्त है ।

भावार्थ—ब्रह्म, ब्रह्माण्ड में पूरक और समस्त ब्रह्माण्ड उसी में रमा हुआ है । कबीर ऐसे ही ब्रह्म की धारापना में अनुरक्त हैं ।

शब्दार्थ—निराला = अलग ।

भोलै भूली खसम कै, बहुत किया विभचार ।

सतगुर गुरु बताइया, पूरिबला भरतार ॥३॥

संदर्भ—माया के कारण ब्रह्म को पूर्णतया भुला दिया ।

भावार्थ—माया के भ्रम में पड कर प्रिय को भुला दिया और बहुत सा अनाचार किया । जब से सद्गुरु ने मार्ग बताया तब से प्रिय फिर प्राप्त हो गया ।

शब्दार्थ—विभचार = व्यभिचार ।

भरतार = भर्ता, पति ।

जाके मुह माथा नहीं, नहीं रूपक रूप ।

पुहुप बास थै पतला, ऐसा तत अनूप ॥ ४ ॥५८४॥

सन्दर्भ—कबीर का ब्रह्म निराकार और निर्विकार है ।

भावार्थ—जो ब्रह्म मुख विहीन, मस्तक रहित, रूप-स्वरूप से परे है, जो पुष्प की गन्ध से भी भीना है । ऐसा अनुपम तत्व मेरा स्वामी है ।

शब्दार्थ—पुहुप = पुष्प ।

३७. विकंताई कौ अङ्ग

मेरै मन में पड़ि गई, ऐसी एक दरार ।

फाटा फटक पषाण ज्युं, मिल्या न दूजी बार ॥१॥

सन्दर्भ—सद्गुरु के प्रसाद से मेरा मन माया से पृथक हो गया ।

भावार्थ—सद्गुरु की कृपा से मेरे मन में एक दरार पड गई । मन माया से पृथक हो गया अब दोनों इस प्रकार से पृथक हो गए जैसे स्फटिक पत्थर टूट जाने पर नहीं मिलता है ।

शब्दार्थ—फटक = स्फटिक ।

मन फाटा बाइक बुरै, मिटी सगाई साफ ।

जौ परि दूध तिवास का, ऊकटि हूवा आक ॥२॥

सन्दर्भ—मन सगे सम्बन्धियों से विरक्त हो गया ।

क० सा० फा० --१७

भावार्थ—जिस प्रकार वासी दूध फट कर खराब हो जाता है और फिर वह अपने मौलिक रूप में नहीं परिवर्तित होता है, उसी प्रकार मेरा मन सम्बन्धियों ने विच्छिन्न हो गया है।

शब्दार्थ—बाइक घुरे = बुरी बातों से। सगाई = सम्बन्ध। साक = साख।
तिवाम = तीन दिन का।

चंदन भागां गुण करै, जैसे चोली पंन।

दोइ जन भागां नां मिलै, मुकताहल अरु मंन ॥३॥

सन्दर्भ—चन्दन, मोती और मन अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं।

भावार्थ—चन्दन टुकड़े-टुकड़े होने पर भी अपने गुण को नहीं छोड़ता है, परन्तु मन और मोती टूट जाने पर पुनः नहीं मिलते हैं।

शब्दार्थ—भागा = टूटा हुआ।

पासि विनंठा कपड़ा, कदे सुरांग न होइ।

कबीर त्याग्या ग्यांन करि, कनक कामनी दोइ ॥४॥

सन्दर्भ—विरक्त मन कभी भी पुनः नहीं मिल पाता है।

भावार्थ—यथा फटा हुआ कपड़ा पर रंग नहीं चढ़ता है, उसी प्रकार विरक्त मन माया के रंग में नहीं रंगा जा सकता। कबीर ने ज्ञान पूर्वक कनक और कामिनी दोनों का परित्याग कर दिया।

शब्दार्थ—विनंठा = विनष्ट हुआ। सुरांग = अच्छा रंग।

चित चेतनि में गरक हौ, चेत्य न देखै मंत।

कत कत की सालि पाड़िये, गल बल महर अनंत ॥५॥

संदर्भ—हे मन ! चेतन ब्रह्म में अनुरक्त क्यों नहीं होते ?

भावार्थ—हे मन ! ब्रह्म में लीन होकर चेतन में अनुरक्त होकर जीवन को छत्र कंधे नहीं करते ? इस सतार में किन-किस की कठिनाइयों में भाग लगे।

शब्दार्थ—कत-कत = किसकी-किसकी।

जाता है सो जाण दे, तेरी दसा न जाइ।

खे-बटिया की नाव ज्यू, घणै मिलैगे आइ ॥६॥

संदर्भ—जो प्राणी अपने प्राण मथित रह्यो।

भावार्थ—हे प्राणी जो जाता है उसे जाने दे तू पहले अपनी दशा की ओर ध्यान दे। नदी-नाइसोंग की नाव जाने किनके आकर मिलेंगे।

शब्दार्थ—दसा = दशा।

नीर पिलावत क्या फिरै, सायर घर घर बारि ।
जो त्रिषावंत होइगा, तो पीवेगा भूष मारि ॥७॥

संदर्भ—हे प्राणी ईश्वर भक्ति का प्यासा स्वयं भक्ति रूपी जल का पान करेगा ।

भावार्थ—हे साधक तू ईश्वर भक्ति का जल प्रत्येक को क्यों पिला रहा है । जो भक्ति का प्यासा होगा वह उस जल का पान स्वयं कर लेगा । भक्ति जल का सागर अर्थात् ईश्वर सबके हृदय में विद्यमान है ।

शब्दार्थ—नीर = जल ।

सत गंठी कोपीन है, साध न मानै संक ।
राम अमलि माता रहै, गिणौं इंद्र को रंक ॥८॥

संदर्भ—ब्रह्म के रंग में रंगा हुआ प्राणी इन्द्र को भी अवहेलना करता है ।
भावार्थ—फटी, गांठ लगी हुई कोपीन पहने हुए ब्रह्म के रंग में और राम की प्रेम की मदिरा में मस्त प्राणी इन्द्र को रंक मानता है ।

शब्दार्थ—गिणौं = गिनता है ।

दावै दाभण होत है, निरदावै निसंक ।
जे नर निरदावै रहैं, ते गिणौं इंद्र को रंक ॥९॥

संदर्भ—संसार का परित्याग किया हुआ प्राणी, इन्द्र को भी रंक के बराबर मानता है ।

भावार्थ—अधिकार प्रदर्शन से जलन होती है, अधिकार प्रदर्शन न करने वाला निसंक रहता है । ऐसा प्राणी इन्द्र को भी रंकवत् मानता है ।

शब्दार्थ—दावै = अधिकार ।

कबीर सब जग हंठिया, मंदित कंधि चढ़ाइ ।
हरि बिन अपनां को नहीं, देखे ठोकि बजाइ ॥१०॥५६४॥

सन्दर्भ—हरि के बिना अपना कोई नहीं है ।

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि इस अधम पंच तत्वों से विनिर्मित शरीर का भार ढोते हुए, समस्त संसार को देखा, परन्तु यह भली प्रकार देख लिया है कि हरि के बिना इस संसार में अपना कोई नहीं है ।

शब्दार्थ—हंठिया = घूम लिया ।

३८. सम्रथाई कौ अङ्ग

नां कुछ किया न करि सक्या, नां करणें जोग सरीर ।

जे कुछ किया सु हरि किया, ताथै भया कबीर कबीर ॥१॥

सन्दर्भ—हरि जगत-नियन्ता है ।

भावार्थ—न मैंने कुछ किया, न करने के योग्य हूँ, न कर सका हूँ । जो कुछ किया है वह हरि ने किया है । उन्हीं की कृपा से कबीर कबीर हो गए ।

शब्दार्थ—सरीर = शरीर ।

कबीर किया कुछ न होत है, अनकीया सब होइ ।

जे किया कुछ होत है, तौ करता औरै कोइ ॥२॥

सन्दर्भ—हरि जगत नियन्ता है ।

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि जो मैं चाहता हूँ वह नहीं होता है और जो नहीं करना चाहता वह पूर्ण हो जाता है । यदि मेरे करने से कुछ होता तो कर्ता मैं ही होता, परन्तु मैं कर्ता नहीं हूँ, करता तो ब्रह्म है ।

शब्दार्थ—करता = कर्ता ।

जिसहि न कोई तिसहि तूँ, जिस तूँ तिस सब कोइ ।

दरिगह तेरी साईयाँ, नाम हरु मन होइ ॥३॥

सन्दर्भ—जिसका कोई नहीं है, उसका ईश्वर है ।

भावार्थ—जिसका कोई नहीं है, उसका तू है और जिसका तू समर्थक है उसका सब कोई है । हे स्वामी ! जिस पर तू कृपालू है, वह हल्का होते हुए भी भारी बन जाता है ।

शब्दार्थ—जिनहि = जिसका । तिसहि = उसका ।

एक खड़े ही लहैं, और खड़ा विलगाइ ।

साईं मेरा सुलपनां, सूतां देइ जगाइ ॥४॥

सन्दर्भ—ईश्वर सबको आवश्यकतानुसार देता है ।

भावार्थ—पृथक् पृथक् को प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है । मटे-मटे लहें मिल जाता है और प्रतीक्षा करते-करते व्यथित हो जाते हैं । मेरा स्वामी क्या सुलपनां देता है, वह मोते को जगाकर देता है ।

शब्दार्थ—सुलपनां = सुलपनां सुल ।

सात समंद की मसि करों, लेखनि सब बनराइ ।
धरत सब कागद करों, तऊ हरि गुंण लिख्या न जाइ ॥५॥

सन्दर्भ—हरि के गुण = अनिवंचनीय ।

भावार्थ—सात समुद्रों में स्याही घोल लूँ और समस्त वृक्षों को लेखनी बना लूँ समस्त धरती को कागज के रूप में बना लूँ, फिर भी हरि के गुण का उल्लेख नहीं हो सकता है ।

शब्दार्थ—मसि = स्याही ।

अवरन कौं का बरनिये, मोपै लख्या न जाइ ।
अपना वाना बाहिया, कहि कहि थाके माइ ॥६॥

संदर्भ—ब्रह्म अनिवंचनीय है ।

भावार्थ—निराकार निर्विकार निगुण ब्रह्म अनिवंचनीय है । वह अचल है, सब लोग अपनी-अपनी अनुभूति का यथाशक्ति वर्णन करते हैं ।

शब्दार्थ—अवरन = अवर्णन ।

भल बाँवै, भल दाहिने, भलहि माँहि व्यौहार ।
आगे पीछे भलमई, राखै सिरजणहार ॥७॥

संदर्भ—माया की अग्नि चारों ओर जल रही है ।

भावार्थ—माया की अग्नि दाहिनी ओर जल रही है, बाई ओर जल रही है । समस्त ससार का व्यापार माया की अग्नि में ही संचालित हो रहा है । माया की अग्नि आगे जल रही है, पीछे जल रही है । रक्षक केवल ब्रह्म है ।

शब्दार्थ—भल = अग्नि । व्यौहार = व्यापार ।

साई मेरा बाँणियाँ, सहजि करै व्यौपार ।
बिन डांडी बिन पालडै, तौले सब संसार ॥८॥

संदर्भ—अपत्यक्षरूप से स्वामी सबके कर्मों का मूल्यांकन करता है ।

भावार्थ—मेरा स्वामी बनिया हैं, वह सहजरूप से व्यापार करता है । बिना तराजू और बिना पलड़ा के वह समस्त ससार को तौलता है ।

शब्दार्थ—बाणियाँ = बनियाँ ।

कबीर बारया नांव परि, कीया राई लूँण ।
जिसहि चलावै पंथ तूँ, तिसहि भुलावै कौण ॥९॥

सन्दर्भ—ईश्वर जिस पथ पर चलाता है, उसी पथ पर प्राणी चलता है ।

प्रकार की माया से सर्वथा अतीत है । जो उसको पिंड और ब्रह्माण्ड से अतीत बत-
लाता है, वही वास्तव-मे कबीर के मतानुसार परम तत्व को जानता है ।

- अलंकार—(१) सभग पद यमक—गुण •• निरगुण ।
(२) गूढोक्ति—वार • बहियै ।
(३) अनुप्रास—अजर अमर अलख ।
(४) सम्बन्धातिशयोक्ति—अलख जाई ।
(५) पुनरुक्ति प्रकाश—घटि घटि ।
(६) विरोधाभास—नातौ समाई ।

टिप्पणी—(1) गुण मे गुण है । तुलना कीजिए—

ज्ञान कहै अज्ञान विनु तम विन कहै प्रकास ।

निर्गुण कहै सगुण विनु सो गुरु तुलसीदास ॥

(ii) इस पद मे कबीर ने निर्गुण-राम-सम्बन्धी धारणा स्पष्टतः व्यक्त
हुई है ।

(iii) इसमे निर्गुण और सगुण मे तात्त्विक भेद का निषेध किया गया है ।
निर्गुण को अभावात्मक अथवा शून्य मानने का भी खण्डन है । इस प्रकार इनके
राम के भक्ति के आलम्बन होने मे कोई व्याघात उत्पन्न नहीं होता है ।

(१८१)

पषा पषी कै पेषणें, सब जगत भुलानां ॥

निरपष होइ हरि भजै, सो सीध सयांनां ॥ टेक ॥

ज्यूं पर सूं पर बंधिया, यूं वधे सब लोई ।

जाकै आत्म द्रिष्टि है, साचा जन सोई ॥

एक एक जिनि जाणियाँ, तिनहीं सच पाया ।

प्रेमी प्रीति ल्यौ लीन मन, ते बहुरि न आया ॥

पूरे की पूरी द्रिष्टि, पूरा करि देखै ।

कहै कबीर कछु समुझि न परई, ता कछु बात अलेखै ॥

शब्दार्थ—पषा पषी=पक्ष, विपक्ष, तेरा, मेरा । सर, खर, गघा ।

मूर्ख लोई—लोग । सच=मत्य ।

मन्दर्न—कबीर कहने हैं कि वह परम तत्व अखण्ड और अनिर्वचनीय है ।

भावार्थ—यह नगार परम तत्व को लेकर अपने पक्ष एवं मत के आश्रय
मे पड़ा हुआ भ्रमित हो रहा है अर्थात् सब अपनी-अपनी टपली पर अपना-अपना
राग बजा रहे हैं और भ्रम मे पड़े हुए भटक रहे हैं । जो व्यक्ति पृथग्विद् मे रहित
होकर-पक्ष-विपक्ष एवं मत मतान्तर अथवा मेरे-तेरे-की भावना मे परे होकर भगवान
का भजन करना है, नहीं जानी भावु है अथवा उगी व्यक्ति को नाघु और मच्छा
जानी समझना चाहिए ।

इस प्रकार एक गघा दूगरे गधे मे बँधा रहना है और एक गघा दूगरे मे

चाहे जिघर की ओर ले जाता है, उसी प्रकार ससार के लोग मूर्ख बने हुए एक दूसरे से बंधे हुए हैं और एक दूसरे की देखा देखी चाहे जिस मत एव वाद की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं । जो व्यक्ति आत्मा का दर्शन करता है अथवा प्राणी मात्र को आत्म रूप समझता है, वही वास्तव-मे सच्चा भक्त है । जिसने उस एक परम तत्व को अद्वैत रूप मे समझा है, उसी ने सत्य का साक्षात्कार किया है । जिस साधक का मन प्रभु के प्रेम मे लवलीन रहता है, उसका पुनरागमन नहीं होता है अर्थात् उसकी मोक्ष हो जाती है । ऐसी आप्तकाम एव आत्मज्ञानी स्वयं पूर्ण होता है और पूर्ण-ब्रह्म का साक्षात्कार करता है । कवीर कहते हैं कि इतना विचार-विनिमय करने के बाद भी परम तत्व का रहस्य कुछ समझ मे नहीं आता है । वह सर्वथा अलक्ष्य एव अगम्य है ।

अलकार—(1) वृत्यानुप्रास—पषा पषी पेषणे, सो साध सयाना, पूरे की पूरी पूरा ।

(II) उदाहरण—ज्यूँलोई ।

(III) यमक—एक-एक ।

(IV) अतिशयोक्ति—कहै—अलेखै ।

विशेष—(1) ज्यूँ, लोई । तुलना करें ।—

ऐसी गति संसार की, ज्यों गाडर का ठाटा ।

एक पडा जेहि खाड मे, सबै जाहि तेहि वाट । (कवीर)

(II) निरपष होइपयाना । तुलना करें—

कोउ कह सत्य भूठ कह कोऊ जुगल प्रबल कोउ मानै ।

तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(III) एक एक पाया—तुलना करे—

“धर्म की रसात्मक अनुभूति का नाम भक्ति है । धर्म है ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति जिसकी असीमता का आभास अखिल-विश्व-स्थिति मे मिलता है ।”

(IV) पूरे की देखे—जो आत्मस्वरूप को जानता है, वह स्वयं को ब्रह्म मानता है । जो स्वयं को ब्रह्म मानता है वह अद्वैत दर्शन करता है । जो अद्वैत दर्शन करता है, वह प्राणी मात्र को ब्रह्म रूप समझता है ।

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं । देखत ब्रह्म समान सब माहीं । —तुलसीदास

(V) प्रेम-प्रीति “ आया—तुलना करें—

प्रेम पंथ जो पहुँचै पारा । बहुरि न मिलै आइ एहि छारा । —जायसी

(V) कवीर अद्वैतवादी भक्त के रूप मे दिखाई देते हैं । गोस्वामी तुलसीदास प्रभृति भक्तों की भक्ति-पद्धति भी यही है । उच्चावस्था पर ज्ञान और भक्ति का भेद समाप्त होजाता है । श्रीमद्भागवत् की प्रार्थना ‘जन्माद्यस्य’ मे व्यास ने जिस अवस्था

का साक्षात्कार किया है, वह एक ही साथ ज्ञान, भक्ति और परम प्रेम के अद्वैत की अनुभूति है। कबीर कभी-कभी 'गहज' लय को बौद्धिक विषय बना देते हैं। इसी से कुछ समालोचकों के मतानुसार भागवतकार की अनुभूति की भूमिका की अपेक्षा कबीर की अनुभूति किसी सीमा तक निम्न भूमिका पर दिखाई देती है। हमारे विचार से अनुभूति की यह भूमिका भी अखंड है। इसमें स्तर-भेद सम्भव नहीं है। भेद केवल अभिव्यक्ति का है। इस दृष्टि से भागवतकार की अपेक्षा कबीर अवश्य ही कुछ हल्के पड़ते हैं।

(१८२)

अजहँ न संक्या गई तुम्हारी,

नाहि निसंक मिले बनवारी ॥ टेक ॥

बहुत गरब गरबे सन्यासी, ब्रह्मचरित छूटी नहीं पासी ॥

सुद्र मलेछ बसे मन मांही, आत्मरांस सु चीन्ह्यां नाहीं ॥

संक्या डांडणि बसे सरीरा, ता कारणि रांस रमै कबीरा ॥

शब्दार्थ—संक्या=शका । डांडणि=डाकिनी, चुडैल, काली की एक अनुचरी ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि जब तक संशय है, तब तक भगवान का दर्शन असम्भव है ।

भावार्थ—हे साधक, तुम्हारे मन का सदेह अभी भी नहीं गया है। इसी से सदेहातीत भगवान तुम्हें नहीं मिल रहे हैं, अथवा सदेह रहित हुए विना बनवारी के दर्शन नहीं होते हैं। सन्यासी अपने ज्ञान के गर्व में बहुत गर्विले बने रहते हैं। इसी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए भी उनकी आसक्ति का बन्धन अथवा मोह का बन्धन नष्ट नहीं होता है और वे जीवन-मुक्त नहीं हो पाते हैं। उनके मन में शूद्र-म्लेच्छ नमस्कृत की भावना रहती है और वह आत्मस्वरूप प्रभु का साक्षात्कार नहीं कर पाते हैं। इस शरीर में शका रूपी डायन का वास है। उसी की निवृत्ति के हेतु कबीर राम की भक्ति करता है।

अलंकार—(i) विशेषोक्ति ".... ब्रह्मचरित पासी ।

(ii) रूपवातिशयोक्ति—पासी ।

(iii) रूपक—संक्या डायनि ।

(iv) छेकानुप्रास—नाहि निसक, गरब गरब, रांस रमै ।

विशेष—(i) म्लेच्छ—यवनों को कहते थे। पश्चिम से आने वाले विदेशी आक्रमणकारी 'म्लेच्छ' कहे जाते थे ।

(ii) छुआछून के प्रति कबीर का विरोध मुख्य है। उन्होंने जीवन भर इस मृप्रदा का दृष्ट कर विरोध किया था ।

(iii) सदेहनीलता के दुष्परिणाम को नमस्कृत के लिए रामचरितमानस में वर्णित शिव-श्री प्रसंग समर्पण है। शिवजी के नमस्कृत पर नहीं जब यह हृदयगत

न कर सकी कि व्यापक ब्रह्म नरतनधारी हो सकता है, तब उनका जीवन कष्टमय होगया। सती सब प्रकार पवित्र एव उदात्त थी। परन्तु बौद्धिकता जन्य सदेह शीलता से उनकी निवृत्ति नहीं हो पाई थी। इसी कारण उन्हें पुनरागमन के चक्र में पडना पड़ा। शिवजी का कथन दृष्टव्य है—

शोरेहु कहे न संसय जाही। विधि विपरीत भलाई नाहीं।

होइहि सोइ जो राम रचिराखा। को करि तर्क बढावै साखा।

उमा को तत्त्व-ज्ञान तब प्राप्त हुआ, जब उन्होंने यह कहा—

तब कर अस विमोह अब नाहीं। राम कथा पर रुचि मन माहीं।

और अन्त में 'रामचरितमानस' का उपसहार शिव के प्रति उमा के इस कथन से होता है—

नाथ वृथा मम गत संदेहा। राम चरन उपजेउ नव नेहा।

(१८३)

सब भूले हो पाषंडि रहे,

तेरा बिरला जन कोई राम कहै ॥ टेक ॥

होइ अरोगि बूटी घसि लावै, गुर बिन जैसे भ्रमत फिरै ॥

है हाजिर परतीति न आवै, सो कैसे परताप धरै ॥

ज्यू सुख त्यू दुख द्विढ़ मन राखै एकदसी इकतार करै ।

द्वादसी भ्रम लष चौरासी, गर्भ वास आवै सदा मरै ॥

मै तै तजै तजै अपमारग चारि बरन उपरांति चढ़ै ।

ते नहीं डूबै पार तिरि लवै, निरगुण अगुण सग करै ॥

होइ मगन राम रँगि राचै, आवागवन मिटै धापै ।

तिनह उछाह सोक नही व्यापै, कहै कबीर करता आपै ॥

शब्दार्थ—अपमार्ग = कुमार्ग। पाखंड = वाह्याचार। धापै = सतुष्ट हो जाता है।

सदर्थ—कबीर राम-भक्ति का प्रतिपादन करते हैं।

भावार्थ—सब लोग व्यर्थ के वाह्याचारों में भ्रमित हैं अर्थात् वे इस भ्रम में हैं कि वाह्याचारों के द्वारा उनका उद्धार हो जाएगा। हे भगवान, तेरा कोई बिरला जीव ही सच्चे मन से तेरा स्मरण करता है। अगर कोई व्यक्ति जड़ी-बूटी घिस कर प्रयोग में लाता है (उपयुक्त उपचार करता है तो उसका रोग अवश्य ही नष्ट हो जाता है। और यदि वह ऐसा नहीं करता है, तो वह रोगी ही बना रहता है। ससार के लोगों की ठीक यही दशा है। वे गुरु के पास तो जाते नहीं हैं और इधर-उधर व्यर्थ ही भटकते फिरते हैं। वे ज्ञान-वैराग्य एव भक्ति रूपी बूटी के सेवन के अभाव में नाना प्रकार के वाह्याचारों में भटकते फिरते हैं। भगवान सर्वव्यापी हैं, परन्तु लोगों को इस बात पर विश्वास नहीं होता है। ऐसी स्थिति में वे प्रभु के ब्राह्मणिक ऐश्वर्य एव उनकी सामर्थ्य को क्यों कर समझते हैं? जैसे सुख में रहते हैं,

उगी प्रकार मन को पक्का करके व्यक्ति को दुःख में स्वस्थ चित्र बनाए रखना चाहिए और अपनी दसो इन्द्रियो एव ग्यारहवे मन को एकतान होकर भगवान में लगा देना चाहिए । परन्तु इसके विपरीत वह तो अपने बारह अंगो की पुष्टि लगा रहता है और चौरासीलाख योनियो में भटकता रहता है । फलतः वह गर्भ-वास करता-हुआ सदैव आवागमन के चक्कर में पडा रहता है । जो व्यक्ति में और 'तू' के भाव को त्याग देना है कुमार्ग (प्रवृत्ति मार्ग) को त्याग देता है । चातुर्वर्ण्य की उपेक्षा कर देता है, वह इस भव-सागर में नहीं डूबता है और तैरकर पार लाघ जाता है । ससार की माण-मोह एव विषय-वामनाओ से असम्पृक्त रहता हुआ वह जीव मुक्तावस्था को प्राप्त होजाता है, वह निर्गुण एव गुणातीत ब्रह्म के साथ एकाकार होजाता है । वह भगवान में तन्मय होकर राम के प्रेम में रग जाता है और उसका आवागमन समाप्त होजाता है तथा उसको परम सुख की प्राप्ति हो जाती है । कबीरदास कहते हैं कि ऐसे सिद्ध जीव को उत्साह (सुख) और शोक प्रभावित नहीं करते हैं । वह स्वयं कर्ता ईश्वर बन जाता है ।

अलंकार—(1) परिकराकुर—राम ।

(ii) छेकानुप्रास—एकादसी एकतार ।

(iii) रूपक—राम रग ।

(iv) उदाहरण—होइ अरोगि . . फिरै ।

(v) अनुप्रास—राम रग राचै ।

विशेष—(i) गुरु की महिमा का प्रतिपादन है ।

(ii) राम की भक्ति का प्रतिपादन है ।

(iii) निर्गुण-सगुण के अभेद का प्रतिपादन है ।

(iv) 'एकादशी' अद्वैत (निवृत्ति) का एव द्वादशी द्वैतभाव (प्रवृत्ति) का प्रतीक है । कबीर अद्वैत को सुख शान्ति कारक मानते हैं ।

(v) धारण । तुलना करें—

जाकी कृपा लवलेप तें मतिमंद तुलसीदास ह ।

पायो परम विश्राम राम समान प्रभु नाही कहैं ।—गोस्वामी तुलसीदास

(vi) एकादशी इकतार करे—समस्त ११ वृत्तियो को प्रभु में केन्द्रित कर दे । ग्यारह वृत्तियाँ हैं—श्रान्त, कान, नाक, त्वचा, हाथ, पाँव, गुदा, लिंग, मुख तथा मन ।

(vii) द्वादशी भ्रम—शरीर के १२ प्रमुख अंग हैं—शिर, नेत्र, कर्ण, प्राण, मूत्र, हाथ, पाँव, नाक कंठ त्वचा, गुदा, शिश्न ।

(viii) व्युत्पन्न नुग.....करें—तुलना करें स्थित प्रज्ञ के इन लक्षणों से—

मुक्त दुःखे समे कृन्वा लाभालाभी जयाजयी ।

ततो युदाय युज्यस्य नैव पापभवाप्स्यसि ।

कवहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ।
रघुनाथ-कृपालु कृपा तें सत-सुभाव गहौंगो ।

× × ×
परिहरि देह-स्त्रनित चिता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो ।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि भक्ति लहौंगो ।

विनयपत्रिका, गोस्वामी तुलसीदास

महारामायण में 'रम भक्त' सन्तो का स्वभाव इस प्रकार बताया गया है—

शान्त, समान मनसश्च सुशीलयुक्त,
स्तोषक्षमागुण दयामृजु बुद्धि युक्तः ।
विज्ञान ज्ञान विरति परमार्थवेत्ता,
निर्धामकोऽभय मन सच रामभक्त ।
(१८४)

तेरा जन एक आध है कोई ।

काम क्रोध अरु लोभ विवर्जित, हरिपद चीन्हें सोई ॥ टेक ॥
राजस तामस सतिग तीन्युं, ये सब तेरी माया ।
चौथे पद कौं जे जन चीन्है, तिनहि परम पद पाया ॥
अस्तुति निंदा वासा छांडै, तजै मान अभिमानां ।
लोहा कचन समि करि देखै, ते मूरति भगवानां ॥
च्यंतै तौ माधी च्यंतामणि, हरिपद रमै उदासा ।
त्रिस्ना अरु अभिमान रहित है कहै कबीर सो दासा ।

शब्दार्थ—विवर्जित=रहित । चौथा पद=मोक्ष । चार पुरुषार्थ धर्म अर्थ काम तथा मोक्ष । प्रथम तीन-तीन गुणो द्वारा आवद्ध हैं । मोक्ष सबसे विवर्जित है । चौथे पद का अर्थ 'सायुज्य' भी लिया जा सकता है । अभिप्रेत वही मोक्ष पद है ।

संदर्भ—कबीरदास भगवद्भक्त के लक्षणो का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—हे प्रभु ! कोई एक-आध व्यक्ति ही तेरा वास्तविक भक्त होता है । जो काम, क्रोध और लोभ से रहित होता है, वही भगवान के स्वरूप को पहिचानता है । राजोगुण, तमोगुण और सतोगुण—ये तीनों ही तेरी माया के स्वरूप हैं । जो व्यक्ति इन तीनों के परे चौथे पद मोक्ष (अथवा तुरीयावस्था) को जानता है वही परमपद का अधिकारी बनता है । जो स्तुति, निंदा एवं आशा को छोड़ देता है, मानापमान का अभिमान नहीं रखता है तथा जो लोहा और स्वर्ण को समान दृष्टि से देखता है (अर्थात् लोभ के परे हो जाता है) वह स्वयं ईश्वर रूप ही होता है । ऐसा व्यक्ति यदि किसी का चिन्तन करता है, तो केवल समस्त चिन्ताओं को मिटाने वाले चिन्तामणि रूप भगवान का ही चिन्तन करता है और वह ससार के विषयो के प्रति उदास रह कर भगवान के चरणारविन्दो में ही अनुरक्त रहता है । कबीर कहते

है इन प्रकार जो व्यक्तित्व सब प्रकार की उच्छ्रा और अहंकार से रहित होकर आचरण करता है, वही मच्चा भगवद् भक्त है ।

अलंकार—(i) पदमैत्री— राजस तामस ।

(ii) अनुभास—परम पद पाया ।

(iii) रूपक—माधव चिन्तामणि ।

(iv) विरोधाभास—रमै उदासा ।

विशेष— इस पद में पूर्वपद के समान सत, भगवद्भक्त अथवा स्थित प्रज्ञ के लक्षणों का वर्णन कुछ अधिक विस्तार के साथ किया गया है ।

पुरुष नपु सक नारि का जीव चराचर कोइ ।

सर्व भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ ।

(v) तेरा जन एक आध है कोई - तुलना करे—

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी । कोउ एक होइ धर्म ब्रतधारी ।

धर्मशील कोटिक महँ कोई । विषय विमुख विराग रत होई ।

कोटि विरक्त मध्य श्रुति कहई । सम्यक ग्यान सकृत कोई लहई ।

ग्यानवत कोटिक महँ कोऊ । जीवन मुक्त सकृत जग सोऊ ।

तिन्ह सहस्र सह सब सुख खानी । दुर्लभ ब्रह्म लीन विग्यानी ।

धर्म शील विरक्त अरु ग्यानी । जीवन मुक्त ब्रह्मपद प्राणी ।

सब ते सो दुर्लभ सुरराया । राम भगति रत गत सद माया ।

(रामचरितमानस, गोस्वामी तुलसीदास)

(१८५)

हरि नाम दिन जाइ रे जाकौ,

सोई दिन लेखै लाइ राम ताकौ ॥ टेक ॥

हरि नाम मैं जन जागै, ताकै गोव्यद साथी आग ॥

दीपक एक अभंगा, तामें सुर नर पड़ै पतंगा ॥

ऊँच नीच सम सरिया, ताथें जन कवीर निसतरिया ।

शब्दार्थ— जागै = जग रहा है । अभंगा = अखण्ड । सरिया = सरियाना या अर्ध व्यवस्थित करना । ठीक तरह से रखना है ।

संदर्भ— कवीर राम-नाम की महिमा का गायन करते हैं ।

भाषार्थ - व्यक्ति जो जो दिन भगवान के नाम-स्मरण में व्यतीत होता है, उगता सूर्यो दिन नष्ट होकर हुआ नमस्को । जो व्यक्ति हरि के नाम के प्रति सजग बना रहता है अर्थात् राम-नाम जिसका आधार है, उसके भगवान साथी हैं और रक्षक हैं । माया सभी दीपक अवाय गति में जलना है, जिसमें देवता और मनुष्य सभी पतंगे जगामति के कारण उड़ने रहते हैं । भगवान ने ऊँच-नीच सबको समान रूप में व्यवस्थित किया है अर्थात् भगवान ने सभी व्यवस्था की है कि ऊँच-नीच सबको

अपने उद्धार का समान अवसर प्राप्त हो सकता है। यही कारण है कि नीच कुल जुलाहा में उत्पन्न होने पर भी भगवान के सेवक कबीर का उद्धार हो गया।

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति—दीपक।

(II) रूपक—सुर नर पतगा।

विशेष—(1) पद का मुख्य भाव यह है कि—

जाति पाँति पूछे ना कोई। हरि को भजे सो हरि को होई।

(II) कबीर अन्यत्र कह चुके हैं—

माया दीप न नर पतग, भ्रमि भ्रमि इवै पडत।

(१८६)

जब थे आत्म तत विचारा।

तब निरबैर भया सबहिन थे, काम क्रोध गहि डारा ॥ टेक ॥

व्यापक ब्रह्म सबनि मैं एकै, को पडित को जोगी।

राणां राव कवन सूं कहिये, कवन बैद को रोगी।

इनमें आप आप सबहिन मैं, आप आपसू खेलै ॥

नांनां भांति घड़े सब भांडे, रूप धरे धरि मेलै।

सोचि विचारि सबै जग देख्या, निरगुण कोई न बतावै ॥

कहै कबीर गुंणी अरु पडित, मिलि लीला जस गावै।

शब्दार्थ—रक=निर्घन।

सन्दर्भ - कबीरदास ब्रह्म की अनिर्वचनीयता का वर्णन करते हैं।

भावार्थ—जब से मैंने आत्म-तत्त्व का चिन्तन आरम्भ किया है, तब से सबके प्रति मेरा विरोध भाव समाप्त हो गया है अथवा यह कहिए कि मेरे हृदय में सबके प्रति मैत्री भाव प्रस्फुटित हो गया है, और मैंने काम एवं क्रोध को पकड़ कर निकाल दिया है। विश्व में व्याप्त ब्रह्म सबमें एक ही है। फिर तात्त्विक दृष्टि से कौन पडित है और कौन योगी है? किसे राणा कहे, किससे राव कहे, किससे वैद्य कहे और किसको रोगी बताएँ? ये सब अन्तर ऊपरी और मिथ्या हैं। इन सबमें वही ब्रह्म तत्त्व है और शेष सब में भी वही है। वह आत्मा-आत्मा से खेलता है अर्थात् वही खिलाडी है और वही लीला है। ईश्वर ने अनेक जीव रूपी वर्तन बनाकर रखे हैं, उन्हें विभिन्न रूप देकर उसने यहाँ रख दिया है। परन्तु इन सबमें एक ही तत्त्व है, केवल आकार मात्र का भेद है। मैंने खूब सोच-विचार कर सम्पूर्ण जगत देख लिया और अनेक से उस परम तत्त्व के बारे में पूछा है, परन्तु उस अव्यक्त निर्गुण तत्त्व को ठीक तरह से कोई भी नहीं बता पाया है। (क्योंकि वह अगम्य एवं अनिर्वचनीय है)। कबीर कहते हैं कि ज्ञानी और पडित सब मिलकर उसकी लीला का यशोगान करते हैं।

अलंकार—(1) वक्रोक्ति—को पडित रोगी।

(II) सम्बन्धातिशयोक्ति—कोई न बतावै।

विशेष — (1) जानी भक्तों की भाँति कबीरदास सिद्धान्ततः ब्रह्म को निर्गुण मानते हैं, परन्तु व्यवहार में उसके सगुण स्वरूप को स्वीकार करते हैं। यथा—

(1) सब विधि अगम विचारें यातें सूर सगुन लीला पद गावैं । सूरदास
तथा — ज्ञान कहै अज्ञान विनु, तस विन कहै प्रकास ।

निर्गुन कहै सगुन विन । सो गुरु तुलसीदास । (तुलसीदास)

(II) अद्वैतवाद का सबल प्रतिपादन है। निमित्त कारण एव उपादान कारण दोनों ही स्वयं ब्रह्म हैं। लीला भी वही है, लीलाधारी भी वही है।

(III) 'धर्म रथ' का निरूपण करते हुए गोस्वामी तुलसीदास ने भी लिखा है कि धर्माचरण के फलस्वरूप समस्त विपक्षी भाव समाप्त हो जाता है—

सखा धर्ममय असरथ जाकैं । जीतन कहैं न कतहुँ रिपु ताकैं ।

(IV) जगत के प्रतीपमान भेद मिथ्या हैं।

(१८७)

तू माया रघुनाथ की, खेलण चड़ी अहेड़ै ।

चतुर चिकारे चुणि चुणि मारे, कोई न छोड्या नैडै ॥ टेक ॥

मुनियर पीर डिगंवर मारे, जनत करता जोगी ।

जगल सहि के जगम मारे, तूर फिरै बलिवंती ॥

वेद पढंतां वांछण मारा, सेवा करतां स्वामी ।

अरथ करतां मिसर पछाड्या, तूर फिरै मै मंती ॥

सापित कै तूँ हरता करता, हरि भगतन कै चेरी ।

दास कबीर राम कै सरनै, ज्यू लागी त्यूँ तोरी ॥

शब्दार्थ अहेड़े=शिकार । चिकारा=एक विशेष प्रकार का हिरण ।

टिगंवर=टिगवर, जैन-गुरु । मिसर=मिन्न, कथा वाचक । मैमती=मद मत्त ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि केवल राम भक्ति के द्वारा ही माया से मुक्ति सम्भव है ।

भावार्थ—हे रघुनाथजी की माया, तू इस जगत में सबका शिकार करती फिरती है । तूने चुन-चुन कर श्रेष्ठ हिरण रूपी व्यक्तियों को मारा है और तूने अपने जान-पान किये जो नशे छोटा है । तूने मुनि, (हिंदू चिन्तक), पीर (मुसलमानों के धर्म गुरु) जैनियों के धर्मगुरु तथा योगान्यास में सलग्न योगियों को मार दिया है । तूने जगत में निवान करने वाले जीवों (बटुक, वैखानस एव सन्यासियों) को मारा है । तू अत्यन्त बदवान बनी हुई चागे ओर घूमती फिरती है ।

तूने वेद पाठी शास्त्रों को मारा है, तूने सेवा करते-कराते स्वामियों महाशयों को नहीं छोटा है । शास्त्रों के अर्थ नमझाने वाले कथावाचक पंडित भी तूने पनाशित तो गये हैं । तू अत्यन्त उन्मत्त बनी हुई फिरती है । शाक्त यहाँ तो तू फल-गर्ना सब कुछ है (जैसा कि जगत-धर्म पूर्णतः मायामय ही है) परन्तु भक्तों को तू मार दामो तो । तू फिर कहते हैं कि भगवद् भजन तो रास ही जरण में रहना है ।

तू जैसे ही उस पर अपना फदा डालती है, वैसे ही वह उस फदे को तोड़ डालता है। अथवा इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है। कवीरदास राम की शरण में है। माया जैसे ही उसको प्रभावित करना चाहती है, वैसे ही राम की कृपा से उसका प्रभाव तुरन्त ही समाप्त हो जाता है।

- अलंकार—(i) छेकानुप्रास—चतुर चिकारे ।
 (ii) पुनरुक्ति प्रकाश—चुणि चुणि ।
 (iii) रूपकातिशयोक्ति—चिकारे (अपने आप को श्रेष्ठ बनने वाले ज्ञानी) ।
 (iv) पदमैत्री—करता हरता ।
 (v) मानवीकरण—माया को सम्बोधन किया गया है ।

विशेष—(i) अन्य समस्त साधनों की अपेक्षा भक्ति को श्रेष्ठ बताया गया है ।

(ii) शाक्त के प्रति विरोध प्रकट है। कवीर कहते हैं कि शाक्त की बात क्या करें ? उसकी तो तू सर्वस्व ही है। शाक्त तो आग्रह पूर्वक माया में लिप्त होता है ।

(iii) हरि भगतन की चेरी—तुलना कीजिए—

व्यापि रहेउ ससार महुँ माया कटक प्रचंड ।
 सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड ।
 सो दासी रघुदोर कै समुझै मिथ्या सोपि ।
 छूट न राम कृपा विनु नाथ कहउँ पद रोपि ।

माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ । नारि वर्ग जानह सब कोऊ ।
 पुनि रघुवीराहि भगति पियारी । माया खलु नर्तकी विदारो ।
 भगतिहि सानुकूल रघुराय । ताते तेहि डरपति अति माया ।
 तेहि विलोकि माया सकुचाई । करि न सकइ कछु निज प्रभुताई ।

(रामचरित्र मानस, गोस्वामी तुलसीदास)

(१८८)

जग सूं प्रीति न कीजिये, समझि मन मेरा ।
 स्वाद हेत लपटाइए, को निकसै सूरु ॥ टेक ॥
 एक कनक अरु कामनीं, जग मैं दोइ फदा ।
 इनपै जौ न बँधावई, ताका मैं वंदा ॥
 देह धर इन माहि वास, कहु कैसे छूटे ।
 सीव भये ते ऊवरे, जीवन ते लूटे ॥
 एक एक सूं मिलि रह्या, तिनही सचुपाया ।
 प्रेम मगन लै लीन मन, सो बहुरि न आया ॥

जहै कबीर निहचल भया, निरभै पद पाया ।

ससा ता दिन का गया, सतगुर समझाया ॥

शब्दार्थ—बदा=दास, सेवक । सीव=शिव, आनन्द तत्व ।

सदर्भ—कबीर कहते हैं कि ससार में लिप्त रहने वाले की मुक्ति सम्भव नहीं है ।

भावार्थ—हे मेरे मन ! तू म समझ लो जगत के प्रति आसक्त नहीं होना चाहिए । सासारिक विषयो के स्वाद में लिप्त होने पर जो माया के बन्धन से छूट सके, ऐसा कौन सा शूरवीर है । अर्थात् ऐसा कोई भी शूरवीर नहीं है । ससार में माया के दो फदे हैं—स्वर्ण और नारी । जो इन बन्धनों में नहीं बधता है (वही पूज्यनीय है) उसका सेवक (दास) होने को मैं तैयार हूँ । देह धारण करते ही मन का वाम इनमें हो जाता है अर्थात् जन्म के साथ ही जीव ससारी बन जाता है । फिर बताओ, वह इनमें कौन कर छूट सकता है ? केवल माया के बन्धन से बचते हैं, जो शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा में प्रतिष्ठित होकर शिव रूप हो जाते हैं, और वे ही जीवन का सच्चा आनन्द प्राप्त करते हैं । जो एक परम तत्व में तन्मय हो जाते हैं, वे ही मच्चे सुख-शान्ति को प्राप्त करते हैं । जिनका मन भगवान के प्रेम में लवलीन रहता है, उनका ससार में पुनरागमन नहीं होता है । कबीरदास कहते हैं कि भगवान के प्रेम में लिप्त व्यक्तियों का मन स्थिर हो जाता है और वे अभय पद को प्राप्त करते हैं । जिस दिन उनको सद्गुरु उपदेश देते हैं उसी दिन उसके ममस्त सशय समाप्त हो जाते हैं । और वे निर्मल बुद्धि को प्राप्त करते हैं ।

अलंकार—(i) वक्रोक्ति—को निकसै सूर ।

(ii) गूढोक्ति—कहु कैसे छूटै ।

(iii) यमक—एक एक ।

(iv) चपलातिशयोक्ति—ससा —समझाया ।

विशेष—तुलना कीजिए—

ईश्वर अस जीव अविनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी ।

सो माया बस भयउ गोसाई । बँध्यो कीर मरकट की नाई ।

जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई । जदपि मृषा छूटत कठिनई ।

तव ते जीव भयउ समारी । छूट न ग्रन्थि न होइ सुखारी ।

(गोरवामी तुलसीदास)

(१८६)

राम मोहि सतगुर मिलै अनेक कलानिधि, परम तत सुखदाई ।

काम अगति नत जरत रही है, हरि रसि छिरकि बुझाई ॥ टेक ॥

दरस परस तें दुरमति नासी, दीन रटनि लयी आई ।

पापउ भरम कपाट खोलि के, धनभे कथा सुनाई ॥

यहू संनार गंभीर अधिक जल, को गहि लाव तीरा ।

गाव जिहाज सेवदया सावू, उत्तरे दास कबीरा ॥

शब्दार्थ— छिटकि=छिड़क कर, सिंचित करके । अनभै=अनुभव ।

सन्दर्भ—कबीर सतो की महिमा बताते हैं ।

भावार्थ—हे भगवान मुझको सद्गुरु मिल गये हैं और उनकी कृपा से मुझे अनेक कलाओ के निधान एव सुखदायक परम तत्व का ज्ञान प्राप्त हो गया है । मेरा शरीर काम की अग्नि में जल रहा था । सद्गुरु ने भक्ति का रस छिड़क कर उसकी तपन को बुझा दिया । उनके दर्शन एव चरण-स्पर्श से मेरी दुर्बुद्धि का नाश हो गया (अर्थात् मेरी बुद्धि ठीक ठिकाने आ गई) । अब मैं दीनता पूर्वक अर्थात् अहंकार से रहित होकर भगवन्नाम स्मरण में लीं लगाए हुए हूँ । सद्गुरु ने मेरे हृदय लगे हुए भ्रम और पाषण के किवाड़ खोल दिए हैं तथा अपनी अनुभूति जन्य राम की लीला सुनाई है अथवा अभय प्रदान करने के लिए उन्होंने मुझको भागवत कथा का श्रवण कराया है । यह ससार रूपी सागर अत्यन्त गहरा है । उस सागर में डूबते हुए मुझको पकड़ कर उनके अतिरिक्त किनारे पर और कौन ला सकता था ? अर्थात् उस जल में डूबने से बचाकर मुझे किनारे पर लाने वाला सद्गुरु के अतिरिक्त और कौन हो सकता है ? राम-नाम रूपी जहाज एव साधु रूपी वेवट के सहारे से ही यह भक्त कबीर भवसागर के पार उत्तर सका है ।

अलंकार—(1) रूपक—काम अग्नि, हरि रस, पाषड भ्रम कपाट, ससार जल, नाव जहाज, खेवइया, साधु पदमैत्री-दरस परस ।

(III) वक्रोक्ति—को तीरा ।

विशेष—(1) गुरु एव सत्संग की महिमा का वर्णन है । तुलना कीजिए—
बिनु सत्संग विवेक न होई । राम कृपा बिन सुलभ कि सोई ।

—गोस्वामी तुलसीदास

(१६०)

दिन दहु चहु के कारणौ, जैसे सबल फूले ।
भूठी सूं प्रीति लगाइ करि, साचे कू भूले ॥ टेक ॥
जो रस गा सो परहरया, बिडराता प्यारे ।
आसति कहूं न देखिहूं बिन नांव तुम्हारे ॥
सांची सगाई राम की, सुनि आतम मेरे ।
नरकि पड़े नर बापुड़े, गाहक जम तेरे ॥
हस उड़्या चित चालिया, सगपन कछू नांहीं ।
माटीं सूं माटी मेलि करि, पीछे अनखांही ॥
कहै कबीर जग अँधला, कोई जन सारा ।
जिनि हरि मरम न जाणिया, तिनि किया पसारा ॥

शब्दार्थ—परहरया=छोड़ दिया । बिडराता=डूबर-उधर करना । बापड़े=बेचारे । चालिया=हट गया । पसारा=व्यर्थ का फैलावा (प्रपच) ।

सन्दर्भ—कबीर ससार की निस्सारता की ओर सचेत करते हैं ।

भावार्थ—हे जीव, तू दस-पाँच दिन के वैभव के कारण सेमल के फूल की तरह व्यर्थ ही फूल रहा है। तू सच्चे स्वामी भगवान को भूल गया है और मिथ्या ससार के प्रति आसक्त हो रहा है। जो वास्तविक आनन्द था, उसको तो तूने इधर-उधर फैलाकर छोड़ दिया। हे भगवन मैं (प्रण करता हूँ कि) आपके नाम के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को आसक्ति का पात्र नहीं समझूँगा। हे मेरे प्यारे आत्मा (मन भी हो सकता है)। तू ध्यान से सुन ले। केवल राम का सम्बन्ध ही सच्चा सम्बन्ध है। जिन अन्य व्यक्तियों से तू सम्बन्ध मानता है, उनका आह्वक तो केवल भ्रम है और वे सबके सब नरक में जायेंगे। जब हस रूपी प्राण तुझको छोड़ देगे, तब तेरी ओर से सबका मन हट जाएगा और किसी के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रह जाएगा। तेरे वे तथाकथित सम्बन्धी तेरे शरीर की मिट्टी में मिला कर पीछे से तेरे प्रति अवज्ञा प्रकट करेंगे। कबीर कहते हैं कि सासारिक सम्बन्धों में फँसे हुए सब लोग अंधे हो रहे हैं और वास्तविकता को नहीं देखते हैं। कोई व्यक्ति ही श्रेष्ठ है जो सांसारिक सम्बन्धों के मिथ्यात्व को समझता है। जो व्यक्ति परम तत्व (भगवान) के मर्म को नहीं जानते हैं, वे व्यर्थ ही इन प्रपंचों में फँसे रहते हैं अर्थात् भगवान के स्वरूप को न जानने के कारण ही लोगों ने जगत् के सम्बन्धों का यह पसारा बना रखा है।

अलंकार—(i) उपमा—जैसे सैवल।

(ii) पदमैत्री—यहूँ चहुँ जिनि तिनि।

(iii) सभग पद यमक—नरक नर, माटी माटी

विशेष—(i) जैसे सैवल फूलै—तुलना करै—

सैमर सुअना सेइया यह डेंडी की आस।

डेंडी फूटि चटाक दै, सुअना चला निरास।

(कबीर)

(ii) झूठी भूले—कबीर ने अन्यत्र भी कहा है—

साँची प्रीति विखँ—नाया सूँ, हरि भगतनि सूँ हाँसी।

(iii) माटी सूँ माटी मेनि—हिन्दू जलाकर राख कर देते हैं। मुसलमान जमीन में गाढ़ देते हैं। दोनों स्थितियों में मिट्टी का यह पुतला मिट्टी में ही मिल जाता है।

(iv) 'निर्वेद' सच्चा भाव की व्यञ्जना है। कबीर ने इस प्रकार का उद्बोधन प्रायः व्यक्त किया है कि—फूला फूला फिरै जगत् मे रे मन कैसा नागा रे।" तथा—

फिरहू फा फूने फूने फूने।

जो दग गाग उरघ मुत भूने सो दिन काहे नूले।

× × × ×

देनों नौ वर नारि मग है जाने नंग गहेला।

मृषक पान मंग दियो गटोला फिरि पुन हस अरेला।

(१६१)

माधौ मै ऐसा अपराधी,

तेरी भगति होत नहीं साधी ॥ टेक ॥

कारनि कवन आइ जग जनम्यां, जनमि कवन सचुपाया ।

भौ जल तिरण चरण च्यतामणि, ता चित घड़ी न लाया ॥

पर निंदा पर धन पर दारा, पर अपवादै सूर ।

ताथै आवागवन होइ फुनि फुनि, ता संग न चूरा ॥

कांम क्रोध माया मद मंछर, ए सतति हम मांहीं ।

दया धरम ग्यांन गुर सेवा, ए प्रभू सूपने नांहीं ॥

तुम्ह कृपाल दयाल दमोदर, भगत बछल भौ हारी ।

कहै कबीर धीर मति राखहु, सासति करौ हमारी ॥

शब्दार्थ—सच=सुख । चिन्तामणि=वह पत्थर विशेष जो समस्त चिन्ताओ को दूर कर देता है । चूरा=छूरा । सासति=शास्ति । संग=आसक्ति । सतति=सदैव । मत्सर=डाह, जलन ।

सन्दर्भ—कबीर दीनता पूर्वक अपने उद्धार की याचना करते हैं ।

भावार्थ—हे प्रभु ! मैं ऐसा अपराधी हूँ कि मुझसे न तो आपकी भक्ति हो सकी और न किसी प्रकार की साधना ही हो सकी । पता नहीं, किन पापकर्मों के परिणाम-स्वरूप मेरा जन्म इस ससार में हुआ । मैंने जन्म लेकर कौन सा सुख पाया । (तात्पर्य कोई नहीं) । मैंने ससार सागर से पार उतरने वाले भगवान् के चरण रूपी चिन्तामणि में घड़ी भर भी ध्यान नहीं लगाया (अन्यथा मेरी समस्त चिन्ताएँ दूर हो जाती) । दूसरो की निन्दा करने में, दूसरो के धन पर नजर लगाने में, पराई स्त्रियो को ताकने में तथा दूसरो पर लाच्छन लगाने में मैं शूरवीर रहा हूँ—अर्थात् इन कर्मों को पूरे उत्साह के साथ करता रहा हूँ । इन्ही कर्मों के फलस्वरूप मेरा बार-बार आवागमन होता है, परन्तु इतने पर भी मैंने इन बुरे कामों के प्रति आसक्ति का त्याग नहीं किया है । काम, क्रोध, माया (अपने पराए का भाव), मोह, मद एव मत्सर—ये अवगुण मेरे भीतर स्थायी रूप से निवास करते हैं । इसके विपरीत दया, धर्म (सदाचरण), त्याग, गुरुसेवा आदि ये सब गुण तो मेरे पास स्वप्न में भी नहीं फटक पाते हैं । हे दामोदर, तुम्ह कृपालु, दयालु, भक्तों के प्रिय एव ससार के विषयो से उत्पन्न दोषों को दूर करने वाले हो । कबीर कहते हैं कि आप मेरी बुद्धि को अपनी भक्ति में स्थिर कर दें तथा मेरा सुधार करके मेरा उद्धार कर दें ।

अलंकार—(1) अनुप्रास—कारनि, कवन, कवन, जग जनम्या जनमि ।
चरण चिन्तामणि, चित ।

(II) वक्रोक्ति—कवन सचु पाया ।

(III) रूपक—भौजल, चरण चिन्तामणि, भौहारी ।

(IV) पुनरुक्ति प्रकाश—फुनि फुनि ।

(VI) उल्लेख—कृपालु, दयालु, दामोदर भगत वदन ।

विशेष—(1) 'दैन्य' की मार्मिक व्यंजना है । 'दैन्य' भक्तों का बहुत बड़ा बल है ।

(II) 'दामोदर' जैसे सगुण सम्बोधन का प्रयोग सगुण-निर्गुण के अभेद की ओर संकेत करता है । इससे कवीर सगुण भक्त कवियों की पंक्ति में बैठे हुए दिखाई देने लगते हैं ।

(१६२)

राम राइ कासनि करौ पुकारा,

ऐसे तुम्ह साहिब जाननिहारा ॥ टेक ॥

इद्री सबल निबल मैं साधौ, बहुत करै बरियाई ।

लै धरि जांहि तहाँ दुख पइये, बुधि बल कछू न बसाई ॥

मैं बपरौ का अल्प सूढ मति, कहा भयो जे लूटे ।

मुनि जन सती सिध अरु साधिक, तेऊ न आयै छूटे ॥

जोगी जती तपी सन्यासी, अह निसि खोजै काया ।

मैं मेरी करि बहुत विगूते, विषै बाघ जग खाया ॥

ऐकत छांड़ि जांहि घर घरनीं, तिन भी बहुत उपाया ।

फहै कवीर कछू समझि न परई, विषम तुम्हारी माया ॥

शब्दार्थ—वरियाई=हठधर्मिता, हठधर्मी, वरजोरी, जवरदस्ती । वापुरौ=वेचारा विगूने=नष्ट हो गये । विषम=कठिन, जो आसानी से समझ में न आ सके । ऐकत = अकेली । विषै=विषय ।

संदर्भ- कवीर दैन्य को अभिव्यक्ति करते हैं ।

भावायं—कवीरदास कहते हैं कि हे राजा राम ! जब आप जैसा मेरे बारे में सब कुछ जानने वाला है, तब मैं अन्य किसको अपनी पुकार सुनाऊँ, किमके सम्मुख अपनी व्यथा निवेदन करूँ ? हे माधव ! मेरी इन्द्रियाँ बहुत बलवान हैं, मैं (मेरा मन) निर्दल है । ये इन्द्रियाँ मेरे साथ बहुत जवरदस्ती करती हैं । ये इन्द्रियाँ मुझको खींचकर जहाँ कहीं भी ले जाती हैं, वहाँ मुझको केवल दुख ही मिनता है । मैं सब कुछ जानता - समझता हूँ, परन्तु इनके आगे मेरे बुद्धि-विवेक धकित हो जाते हैं और मैं विषण होकर इनके विषयों की ओर खिंचा हुआ चला जाता हूँ । इन इन्द्रियों के फटने से बड़े-बड़े मुनि यती, सिद्ध, साधक आदि भी नहीं बच पाए तब मुझ अनजानी, निबुद्धि, तुच्छ व्यक्ति को चलाई ही क्या है ? यदि मैं इनके द्वारा लूटा जाता हूँ तो इसमें मेरा क्या दोष है ? योगी, यती, तपस्वी और सन्यास धारण करने वाले दिन-रात अपने परीरक्ष्य ब्रह्म को खोज में लगे रहते हैं अथवा शरीर रक्षा का उपाय करते रहते हैं । मैं-मेरा के चक्कर में नगर में न मालूम किनसे लोग बर्बाद हो गये ! विषय सभी शक्ति से शक्ति समार को ही चढ़ कर जाता है । जो पर और पर्यायी (पत्नी) को छोड़ कर पतन में चले जाते हैं, उनको

भी यह माया अनेक प्रकार से घेरती है । कवीरदास कहते हैं कि हे प्रभु तुम्हारी माया की लीला बड़ी टेढ़ी है । वह कुछ भी समझ में नहीं आती है ।

अलंकार—(1) पदमैत्री—सबल—निबल ।

(II) छेकानुप्रास—बुधि बल, घर घरनी ।

(III) सम्बन्धातिशयोक्ति—कछू न बसाई, तेऊ न आए छूटे ।

(IV) वृत्यानुप्रास—सती, सिद्ध, साधक, बहुत विगूते, विषय वाध ।

(VI) रूपक—विषय वाध ।

विशेष—(१) कवीरदास माया एव उसके सहयोगियो—इन्द्रियो के सम्मुख अपनी निर्बलता स्वीकार करते हैं ।

(२) कवीर भक्तों की भाँति अपने उद्धार का उपाय केवल प्रभु की कृपा में देखते हैं—“जाऊँ कहाँ तजि चरण तिहारे,” इत्यादि भाव से प्रभु के दरवार में ही पड़े रहना चाहते हैं । राम का गुलाम कहलाकर भी यदि उद्धार न हुआ, तो इसमें भक्त का कुछ भी न विगडेगा । इसमें भक्त की बदनामी होगी ।

यह बड मास दास तुलसी कहें, नामहँ पाप न जारौ ।

(३) यह पद वस्तुतः कवीर की विनयोक्ति है । यह विनय का है । कवीर यदि प्रभु की माया के रहस्य को नहीं जान सके हैं, तो इसका कारण माया की जटिलता नहीं है, इसमें उनका कोई दोष नहीं है । अतः उनका अपराध क्षम्य है ।

(१६३)

माधौ चले बुनावन माहा,

जग जीतै जाइ जुलाहा ॥ टेक ॥

नव गज दस गज गज उगनीसा, पुरिया एक तनाई ।

सान सूत दे गंड बहतरि, पाट लगी अधिकाई ॥

तुलह न तोली गज गजह न मापी, पहजन लेर अढाई ।

अढाई में जे पाव घटै तो, करकस करै बजहाई ॥

दिन की बैठि खसम सूं कीजै, अरज लगी तहां ही ।

भागी पुरिया घर ही छाडीं, चले जुलाह रिसाई ॥

छोछी नलीं कांमि नही आवै, लहटि रही उरझाई ।

छांड़ि पसारा राम कहि बौरे, कहै कवीर समझाई ॥

शब्दार्थ—माहा=माया । नौ=नव द्वार । दस गज=दस इन्द्रियाँ ।

उगनीसा=उन्नीसा । पुरिया=पुरी, साडी । सात सूत=सप्त धातु । गंड बहतर=

बहतर गण्डे=७२ × ५=३६० । पाट=पाटरपाण, कलफ । पहजन=पवज्जण,

स्वीकार करने को । करकस=कर्कशा, भगडालू स्त्री । बजहाई=बजाघात ।

रिसाई=रुष्ट होकर । छोछी नली=खाली नली । पसारा=प्रपच ।

सदर्भ — कबीर दास संसार की निरर्थकता बताकर भगन्नाम-स्मरण पर बल देते हैं ।

भावार्थ—हे माधव ! माया मुझ से वस्त्र बुनाने को चली अर्थात् उसने मुझ को जीविका के धन्वे में लगा दिया । परिणाम स्वरूप यह संसार जुलाहे कबीर को जीतता जा रहा है अर्थात् मैं माया के वशीभूत होता जा रहा हूँ । माया ने नवद्वार रूपी नौ गज तथा दस इन्द्रियाँ रूप दस गज अर्थात् कुल उन्नीस गज सूत निकालकर इस शरीर रूपी साडी तैय्यार की । इस शरीर के निर्माण में सप्त-धातुएँ रूपी सूत के ३६० नाडियाँ रूपी फेरे (गाँठें) दिए । इसके ऊपर वासना रूपी गहरी चमकवाली कलफ लगाई । इसको न कोई तौलने वाला है और न नापने वाला गजी इसको गज से नाप सका है । परन्तु है यह पक्की ढाई सेरी । इसके इन ढाई सेरो में यदि पाव भर भी जरा सी भी कमी आती है, तो यह दुष्टा नारी सघर्ष करने लगती है । जाग्रतावस्था में यह शरीर अपने स्वामी जीव के साथ बैठकी करता है और अपनी इच्छाओं की आवश्यकताएँ उससे निवेदित करके उन्हें पूर्ण करने के लिए विवश करता है । जब यह शरीर रूपी साडी संसार-रूपी घर छोड़ कर चली जाती है, तब जीव-रूपी जुलाहा भी इस शरीर से रुष्ट होकर चला जाता है । और ऐसा क्यों न हो ? मृत शरीर रूपी खाली सूत की नली अब जुलाहे के किस काम की रह जाती है । वह नली सूत में (अपने निर्माणकारी तत्त्वों) में उलझी हुई पड़ी रहती है अर्थात् पचतत्त्वों के विषय-भोग के लिए अनुपयोगी त्रिजीव शरीर उलझे हुए सूत की भाँति पड़ा रहता है । कबीर दास समझाकर कहते हैं कि हे जीव ! तू इस प्रपच को छोड़ और हे पागल, तू राम नाम का स्मरण कर ।

अलंकार—(i) रूपकातिशयोक्ति—सम्पूर्ण पद ।

(ii) वृत्त्यानुप्रास—जग जीत जाइ जुलाहा, गज की आवृत्ति,

(iii) सवधातिशयोक्ति—तुलह—मापी ।

विशेष—(i) 'निर्वेद' संचारी भाव की मार्मिक व्यंजना है ।

(ii) नौ = नवद्वार ।

(iii) दस गज — पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रवण, त्वचा, नेत्र, नासिका और रसना) तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ—हाथ, पैर, मुख, गुदा और उपस्थ ।

(iv) उन्नीस—टिप्पणी सख्या (ii) तथा (iii) के योग करने से १६ आनाते हैं ।

(v) गान — सप्त धातु—रस, रक्त, मांस, वना, मज्जा, अरिथ तथा शुक्र ।

(vi) विचारदाग ने नौ इसी प्रकार के भाव व्यक्त किए हैं, परन्तु उनके पदों में प्रतीकायं निम्न हैं । यथा—

गान = वाणी,

नौ गज = नौ ध्यातव्य ।

उन्नीस गज = सद्गुरु पुनाय तथा महाभारत । गान = जाग्रत, मज्जा दाग,

बीज जाग्रत, स्वप्न जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति । अथवा—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार तथा महत्व ।

(VII) माहा— डा० माताप्रसाद गुप्त ने लिखा है कि 'माया' के मानवीकरण के कारण उसके नाम की 'या' की ध्वनि 'हा' में परिवर्तित होगई है ।

(VIII) माघौ जुलाहा । कबीर ने कई पदो मे ससार को जीतने की बात कही है । उसके अनुसार इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार होगा कि माया ने मुझको जीविका मे फसाना चाहा, परन्तु मैं उसमे लिप्त नही हुआ और इस प्रकार जुलाहा कबीर ने इस ससार को जीत लिया है ।

(IX) इस पद की भाँति कई पदो मे कबीरदास ने जुलाहागीरी के प्रतीको का प्रयोग किया है । इससे स्पष्ट है कि कबीरदास के यहाँ जुलाहे का काम होता था ।

(१६४)

बाजै जत्र बजावै गुंनों,

राम ठांम बिन भूली दुनी ॥ टेक ॥

रजगुन सतगुन तमगुन तीन, पच तत ले साज्या बीन ।

तीनि लोक पूरा पेखनां, नांच नचावै एकै जनां ॥

कहै कबीर संसा करि दूरि, त्रिभवन नाथ रह्या भरपूरि ।

शब्दार्थ—प्रेक्षण=खेल । भरपूरि=व्याप्त । पेखना=दृश्यमान ।

सन्दर्भ—कबीरदास सर्वव्यापी परमात्मा जगत का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—यह ससार-रूपी यन्त्र बजता है, और परमात्मा रूपी गुणी कलाकार उसको बजाता है । 'राम-नाम के बिना यह दुनिया उसके सगीत मे भूली हुई है अर्थात् उसके प्रपच मे फँसी हुई है । तीन गुणो (रजोगुण सतोगुण और तमोगुण) तथा पच महाभूतो (पृथ्वी, जल तेज वायु आकाश) को लेकर इस जगत रूपी वीणा का निर्माण किया है । तीनों लोको तथा इस समस्त दृश्यमान जगत को वही एक सूत्रधार नाच नचा रहा है । कबीरदास कहते हैं कि इस अविद्या को दूर करो अर्थात् यह बात भूल जाओ कि यह सहार विषय-वासनाओ द्वारा निर्मित है अथवा विषय-वासनाएँ तुम्हे तृप्ति कर सकती हैं । वास्तविक तत्त्व तो वह तीनों लोको का स्वामी है जो सर्वत्र व्याप्त हो रहा है ।

अलकार—(1) रूपकातिशयोक्ति—जत्र, गुनी, बीन ।

विशेष—तीन लोक—जना । तुलना करें—

जग पेखन तुम्ह देखन हारे । विधि हरि सभु नचावन वारे ।

तोड न जानहिं मर्म तुम्हारा । और तुम्हहिं को जानन हारा ।

(१६५)

जंत्री जंत्र अनूपम बाजै,

ताका सबद गगन मै गाजै ॥ टेक ॥

सुर की नालि सुरति का तूँबा, सतगुर साज बनाया ।
 सुर नर गण गंध्रप ब्रह्मादिक, गुर बिन तिनहूँ न पाया ॥
 जिभ्या तांति नासिका करही, माया का मैण लगाया ।
 गमां वतीस मोरणां पांचौ, नीका साज बनाया ॥
 जंची जत्र तजै नहीं बाजै, तब बाजै जब बावै ।
 कहै कबीर सोई जन साचा, जंत्री सू प्रीति लगावै ॥

शब्दार्थ—जत्री=वादक, परमात्मा । जत्र=यन्त्र, जगत । गगन=सहस्रार ।
 गध्रव=गन्धर्व मैण=मोम । गमा=गमक पैदा करने वाले । मोरणा = तारों को
 कसने वाली खूंटियाँ । बावै=वजाता है ।

संदर्भ—कबीर भगवद्भक्ति का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—परमात्मा रूपी वादक इस जगत रूपी बाजे को अनोखे ढंग से
 वजाता है । इस वाद्य से उत्पन्न शब्द सहस्रार में अनहदनाद के रूप में सुनाई
 देता है ।

अपने शरीर के भीतर इस शब्द को प्रकट करने का उपाय बताते हुए कबीर
 कहते हैं कि यह शरीर ही इस शब्द को प्रकट करने की वीणा है जिसमें श्वास
 (प्राणवायु) रूपी नली है और सुरति रूपी तुम्बा लगता है । अनहद नाद उत्पन्न करने
 का यह वाजा गुरु के निर्देशानुसार ही तैयार होता है । देवता, मनुष्य, गधर्व, ब्रह्मा-
 आदिक कोई भी गुरु की सहायता के बिना इसको तैयार नहीं कर सके हैं । इस
 वीणा में जीभ रूपी तात है जिससे रामनाम का शब्द उत्पन्न होता है तथा नासिका
 ही करहीं (यत्र का अवयव विशेष-एक प्रकार की खूँटी) है और इसमें माया-रूपी
 मोम लगता है । वतीस दात ही गमक पैदा करने वाले गामा हैं तथा पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ
 ही तारों को कसने वाली खूंटियाँ हैं । इस प्रकार यह शरीर रूपी वाजा बहुत ही
 सुन्दर बना हुआ है । जब चैतन्य रूपी वादक इस वाजे को छोड़ देता है, तब यह
 वाजा नहीं वजता है । जब वह इसको अपना लेता है, तब यह वजने लगता है ।
 कबीर दाम कहते हैं कि वही सच्चा भक्त है जो इस यन्त्र के वाहक अर्थात् परमात्मा
 में प्रेम करता है ।

अलंकार—(i) साग रूपक—पूरे पद में ।

विशेष—(i) कावायोग और भक्ति का सुन्दर समन्वय है ।

(ii) कबीर का भक्त रूप स्पष्ट है ।

(iii) गुरु की महिमा दृष्टव्य है —तुलना करें—

गुरु विनु होय कि ज्ञान, ज्ञान कि होय विराग विनु
 गार्वाहि वैव पुरान, भय कि तरिय हरि भगत विनु ॥

—गोस्वामी तुलसीदास

(iv) अनहद नाद—देवों टिप्पणी पद सं० १५७ ।

(v) मुनि—देवों टिप्पणी पद सं० १६२ ।

(१६६)

अवधू नादे व्यद गगन गाजै, सबद अनाहद बोलै ।
 अंतरि गति नही देखै नेड़ा, दूँढत बन बन डोलै ॥ टेक ॥
 सालिगरांम तजौं सिव पूजौ, सिर ब्रह्मा का काटौं ।
 सायर फोडि नीर मुकलांऊं, कुँवा सिला दे पाटौं ॥
 चंद सूर दोड़ तूँवा करिहूँ, चित चेतनि की डांडी ।
 सुषमन तती बाजण लागी, इहि बिधि त्रिष्णां षांडी ॥
 परम तत आधारी मेरे, सिव नगरी घर मेरा ।
 कालहि षंडूँ मीच बिहंडूँ, बहुरि न करिहूँ फेरा ॥
 जपौ न जाप हतौं नहीं गुगल, पुस्तक ले न प्रढांऊं ।
 कहेँ कबीर परंम पद पाया, नहीं आंऊं नहीं जाऊं ॥

शब्दार्थ—व्यद=विन्दु, शरीर । नादै=शब्द होता है । नेडा=निकट, पास ।
 विखडित=छोटे-छोटे टुकड़े करना । हुनता=दृविष्य के रूप में अग्नि में डालना ।
 नेडै=पास । सायर=तालाब । कुँवा=सहस्रार ।

संदर्भ—कबीर कायायोग द्वारा मोक्ष प्राप्त करने की बात कहते हैं ।

भावार्थ—हे अवधूत (नाथ पथी सिद्ध योगी) । इस शरीर रूपी आकाश में शब्द गरज रहा है, और इस प्रकार अनहद नाद की व्वनि हो रही है । परन्तु जो अन्तर्मुखी नहीं है अर्थात् जो पास में ही होने वाले शब्द को अपने भीतर नहीं देखते हैं, वे अज्ञान बना उसको दूँढते हुए वन-वन मारे फिरते हैं । मैं बाह्याचार के प्रतीक शालिग्राम को त्याग करके परम तत्त्व के प्रतीक शिवजी का ध्यान करता हूँ । मेरी दृष्टि में ब्रह्मा का भी सिर कट गया है, अर्थात् ब्रह्मा का भी अस्तित्व मिट गया है । मैं मूलाधार-चक्र के सीमिन सागर की सीमाओं को तोड़कर उसके आनन्द रूप जल को विषयवासनाओं से मुक्त कर दूँगा और सहस्रार को खेचरी मुद्रा रूपी शिला से ढक दूँगा, जिससे उससे निस्सृत अमृत रूपी जल व्यर्थ न बह जाए । अनहद नाद सुनने के लिए चन्द्र-सूर्य के दो तूँबे तथा चित्त में प्रतिविम्बित चेतन को उस वीणा की डण्डी बनाऊँगा । इस प्रकार सुषुम्ना की वीणा बजने लगेगी और उस वीणा से प्रकट अनहद नाद द्वारा मैं तृष्णा को नष्ट कर दूँगा । वह परमतत्त्व ब्रह्मा ही मेरा सहारा है और शिव की नगरी में मेरा घर है । अब मैं काल को नष्ट (टुकड़े-टुकड़े) कर दूँगा और मृत्यु को पराजित (सूक्ष्म टुकड़ों में खण्डित) कर दूँगा । मैं न जप करता हूँ, न गुगल आदि के द्वारा हवन ही करता हूँ और न वेद-शास्त्रों का पठन-पाठन ही करता हूँ । कबीर कहते हैं कि मुझको परमपद (मोक्ष) की प्राप्ति हो गई है और आवागमन से मेरा छुटकारा होगया है ।

अलंकार—(1) रूपक—व्यद गगन, सुषमन तती, चंद सूर तूँवा, चित चेतनि की डांडी ।

(11) पुनरुक्ति प्रकाश—बन बन,

(iii) छेकानुप्रास—गगन गाजै, चित चेतन ।

(v) पदमैत्री—खड्ड विहड्ड, आऊ जाऊँ ।

विशेष—(1) प्रतीको का प्रयोग है ।

(ii) कांयायोग के साधनो से आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति तथा उन प्रतीको के माध्यम से आध्यात्मिक साधना का वर्णन है ।

(iii) अनहद नाद— देखें टिप्पणी पद संख्या १५७ ।

(iv) शून्य— देखें टिप्पणी पद संख्या १६४ ।

(v) नाद विदु— देखे टिप्पणी पद संख्या १८ ।

(vi) बाह्योपचारो का विरोध है ।

(vii) सालिगराम कार्टी— कहना यह है कि कबीर सालिगराम की पूजा छोड़ने से कबीर का तात्पर्य यह है कि वह सीमित तत्त्व की औपचारिक उपासना का त्याग कर देंगे और ब्रह्मादिक जो माया जनित देव हैं, उनका अस्तित्व ही मिटा देंगे ।

(viii) सायर फोडि पाटी— मूलाधार चक्र के जल का शून्य-शिखर के सरोवर-जल से सम्मिलन करूँगा अर्थात् विषयानन्द को साधनाजन्य आनन्द एवं आध्यात्मिक आह्लाद में समाहित कर दूँगा । गगन कूप की बू दो को टपक-टपक कर चण्डाग्नि में भस्म नहीं होने दूँगा अर्थात् उसकी शक्ति को विषय-वासनाओं में नष्ट नहीं होने दूँगा । उससे आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त करता रहूँगा ।

(viii) बन बन डोलै । तुलना करें—

कस्तूरी कुण्डल वसै मृग हूँडै बन साहि ।

ऐसे घट घट राम हैं दुनियां देखे नाहि । (कबीरदास)

(१६७)

बाबा पेड़ छाडि सब डालीं लागे, मूँढे जंत्र अभागे ।

सोइ सोइ सब रैणि विहांणी, भोर भयी तब जागे ॥ टेक ॥

देवलि जांऊ तौ देवी देखीं, तीरथि जांऊ त पाणीं ।

ओछी बुधि अगोचर वाणीं, नहीं परम गति जाणी ॥

साध पुकारे समझत नाहीं, आन जन्म के सूते ।

वांधे ज्यूं अरहट की टोडरि, आवत जात विगूते ॥

गुर विन इहि जग कौन भरीसा, काकै सगि ह्वै रहिये ।

गनिका के घरि बेटा जाया, पिता नांव किस कहिये ॥

कहे कबीर यह चित्र विरोध्या, बूझी अमृत वाणी ।

सोजत सोजत सतगुर पाया, रहि गई आवण जाणीं ॥

शब्दार्थ—रैण्ट=मून वस्तु । परमतत्त्व, ब्रह्म । डाली=शाखाएँ=अन्य देवता

वर्षादि व्यक्त रूप । मूँढे=मूँघे । जंत्र=शरीर, दृश्यमान जगत । रैणि=रात ।

विहांणी नमाप्त श्री । देवलि=देवालय । ओछी=तुच्छ । सूते=सोए हुए । अरहट=

रहट । टीडरि= घटिका, वर्तन । विगूते=बर्वाद कर दिया । गनिका=वेष्या । चित्र= दृश्यमान जगत । विरोध्या=विरोध किया । रहि गई=यही पडी रह गई अर्थात् उससे छुटकारा हो गया ।

सन्दर्भ—कबीर का कहना है कि दृश्यमान जगत से विमुख होकर ही परम पद की प्राप्ति होती है ।

भावार्थ— रे बाबा ! यह ससार पेड को छोडकर डालियो मे उलभा हुआ है अर्थात् इस दुनियाँ के लोग जगत के मूलाधार ब्रह्म का ध्यान न करके बाह्योपचारो मे फसे हुए हैं । ये अभागे एव मूर्ख लोग शरीर के प्रति आसक्त होकर रह गए हैं । इन्होने सो-सो कर (अज्ञान मे) सम्पूर्ण जीवन-रूपी रात्रि व्यतीत कर दी और अब अन्तिम समय मे इन्हे कुछ विवेक हुआ है । तब ये जागे है—होश मे आए हैं । (अब इस अल्प समय मे हो ही क्या सकता है ? बाह्योपचारो की निरर्थकता की ओर सकेत करते हुए कबीरदास कहते है कि मैं मंदिर मे जाता हूँ) तो वहाँ केवल देवी की मूर्ति दिखाई देती है (ज्ञान की बात कुछ नही मिलती) । और यदि तीर्थो मे जाता हूँ, तो वहाँ केवल पानी मे स्नान करने की चर्चा होती है—वहाँ भी ज्ञानार्जन की कोई बात नही दिखाई देती है । जीव अपनी छोटी एव सकुचित बुद्धि तथा असमर्थ वाणी द्वारा उस परमतत्त्व को न पहचान पाता है और न उसका वर्णन ही कर पाता है । सिद्धि को प्राप्त साधुजन पुकार-पुकार कर उस परम तत्त्व की चर्चा करते हैं, परन्तु मद बुद्धि जीवो की समझ मे कुछ नही आता है । ये लोग तो कई जन्मो से इसी प्रकार अज्ञानान्धकार मे सोते हुए चले आ रहे है । ये तो अज्ञान जन्य आखान गमन रूपी चक्र से रहट के पात्रो की भाँति बधे हुए हैं, और इन्होने बार बार जन्म लेकर तथा बार-बार मृत्यु का आलिगन करके अपने जीवन को नष्ट कर लिया है । गुरु के अतिरिक्त ससार मे और किसकी बात का विश्वास किया जाए । और किसके साथ रहा जाय ? अनेक मतवादो मे पडे हुए व्यक्तियो की सच्ची आस्था किसी के प्रति नही हो पाती है । ठीक ही है, वेष्या के यहाँ जन्म लेने वाला पुत्र किसको अपना पिता कहेगा ? कबीर कहते हैं कि मैंने इस जगत का विरोध किया अर्थात् मैं इस ससार के प्रति आसक्त नही हुआ । इससे मैं सद्गुरु की अमृतमयी वाणी को समझ सका हूँ । खोजते-खोजते अन्त मे मैंने सतगुरु को प्राप्त कर लिया और आवागमन यही पडा रह गया । अर्थात् जन्म मृत्यु के चक्र से मेरी मुक्ति हो गई अर्थात् मुझको परम पद की प्राप्ति हो गई ।

अलंकार—(1) लोकोक्ति—पेड छाडि डाली लागै ।

(II) रूपकातिशयोक्ति—पेड, डाली, जत्र ।

(III) पुनरुक्ति प्रकाश—सोइ सोइ । खोजत-खोजत ।

(IV) विशेषोक्ति की व्यजना—साधु . समुझत नाही ।

(V) उदाहरण—बाधे ज्यू टीडरिया ।

(VI) वक्रोक्ति—गुरु त्रिन . रहिये ।

(viii) निदर्शना—गनिका—कहिए ।

विशेष—(i) बाह्योपचार एव मतवाद का विरोध अभिव्यक्त है। तुलना करे —

श्रुति सम्मत हरि भक्ति-पथ संजुत विरति विवेक ।

ते परिहरहि विमोह बस कल्पाहि पंथ अनेक ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(ii) गुरु की महिमा का प्रतिपादन है ।

(iii) मोड़ सोड़ . . जागे । तुलना कीजिए—

रात गंवाई सोड़ कर दिवस गंवायो खाय ।

हीरा जनम अमोल का कौड़ी बदले जाय । (कबीरदास)

मोहि मूढ मन बहुत विगोयो ।

×

×

×

×

डासत ही गई वीति निसा सब, कबहुँ न नाथ नीद भरि सोयो ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(iv) खोजत जोणी । तुलना कीजिए—

सन्मुख होहि जीव मोहि जबही । जन्म कोटि अध नासाहि तबहीं ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(१६८)

भूली मालिनी,

हे गोव्यद जागतौ जगदेव, तूं करै किसकी सेव ॥ टेक ॥

भूली मालिनी पाती तोड़ै, पाती पाती जीव ।

जा मूरति कौं पाती तोड़ै, सो मूरति नर जीव ॥

टांचणहारै टांचिया, दै छाती ऊपरि पाव ।

जे तूं मूरति सकल है, तौ घड़णहारै कौं खाव ॥

लाडू लावण लापसी, पूजा न्है अपार ।

पूजि पुजारा ले गया, दे मूरति कै मुहि छार ॥

पाती ब्रह्मा पुहपे विष्णु, फूल फल महादेव ।

तीनि देवीं एक मूरति, करै किसकी सेव ॥

एक न भूला दोइ न भूला, भूला सब ससारा ।

एक न भूला दास कबीर जाके राम अधारा ।

शब्दार्थ—जागतौ = जेनन । टांचण हारै = गढ़ने वाला, टाकी से काट कर बनाने वाला नगतराज । नन्है = मन्ची एवं शक्ति सम्पन्न । घड़ण हारा = गढ़ने वाला । लाडू = लड्डू । लावण = लावन = घी । लापसी = लपटा—थोड़ा घी डालकर बनाया हुआ आटे का पन्ना इत्यादि । छार = धून ।

संदर्भ—कबीरदास बाह्योपचार के प्रति विरोध प्रकट करने है ।

भावार्थ—हे मालिनी, (पूजार्थि) तू भ्रम में पड़ी हुई है । तू तनिक यह तो

विचार कर कि जगत का सचेतन जीव मात्र ही भगवान है । पत्र-पुष्प तोड़कर तू इस जड़ मूर्ति के रूप में किसकी सेवा कर रही है । मालिन अज्ञान के वशीभूत होकर फूल पत्ती तोड़ती है । वह यह जानती ही नहीं है कि प्रत्येक पत्ती में जीव है— अर्थात् पत्ती तोड़कर वह हिंसा करती है । जिस पत्थर की मूर्ति के लिए वह पत्थर तोड़ती है, वह तो निर्जीव है । जिस कारीगर ने टाँकी से पत्थर को काट काट कर मूर्ति को बनाया है, उसने कार्य-काल में इस मूर्ति की छाती पर पैर रखकर ही यह कार्य किया है । यदि यह मूर्ति सच्ची और शक्ति सम्पन्न होती, तो छाती पर पैर रखने वाले उस कारीगर को अवश्य ही खा जाती । इस मूर्ति के ऊपर लड्डू मिठाई, लपसी आदि के रूप में बहुत सा पुजापा चढाया जाता है । पुजारी इस मूर्ति की पूजा करके इस मूर्ति की आँखों में घूल भोक कर इस समस्त चढावे को लेकर चलता बनता है । पत्ती ब्रह्मा हैं, पुष्प विष्णु हैं तथा फल-फूल महादेव हैं । इन तीनों में एक ही देव विराजता है । अब आप ही स्वयं विचारें कि किसको किस देव पर चढा कर पूजा जाए ? (सर्वत्र एक ही परम तत्त्व व्याप्त है) । अज्ञान जनित इस बाह्योपचार में एक या दो व्यक्ति नहीं अपितु समस्त सारा ससार ही भ्रमित है । इस भ्रम में केवल एक कबीरदास नहीं भूले हैं, क्योंकि उन्होंने परमतत्त्व राम का आश्रय ग्रहण किया है ।

अलंकार— (1) गूढोक्ति— तू-सेव ।

(II) पुनरुक्ति प्रकाश— पाती पाती ।

(III) वक्रोक्ति— तौं . . . खाव ।

(IV) अनुप्रास— लाडू, लावण, लापसी, मे ला की आवृत्ति ।

विशेष— (1) मुहावरो का प्रयोग— छाती ऊपर पाव, दै मूरति मुह छार ।

(II) मूर्ति पूजा का विरोध है एव सच्ची उपासना की स्थापना है ।

(III) मगलेनी में 'लक्षणा' है ।

(IV) पाती महादेव ।

अद्वैतवाद का प्रतिपादन है । त्रिमूर्ति की कल्पना अद्वैतवाद के अनुकूल है ।

कबीर का विरोध बुतपरस्ती अथवा अज्ञान जन्य मूर्ति पूजा से है ।

कबीर पेड़ों में भी जीवन मानते हैं । इससे अधिक भगवान की सर्वव्यापकता क्या हो सकती है ?

तुलना करें—

पत्रे ब्रह्मा कली बिसनो फल मछदे रुद्रम देवा ।

तीनि देव का छेद किया तुम्हें करहु कौन की सेवा । (गोरखवानी)

(V) एक न भूला . . . अधार ।

पाठान्तर देख लीजिए—

मालिनी भूली जग भुलाना हम भुलाने नाहि ।

कहु कबीर हम राम राखे क्रिया करि हरि राइ ।

(१६६)

सेइ मन समझि समर्थ सरणांगता, जाकी आदि अति मधि कोइ न पावै ।
 कोटि कारिज सरै देह गुण सबजरै, नैक जो नांव पतिव्रत आवै ॥ टेक ॥
 आकार की ओट आकार नही ऊबरै, सिब बिरंचि अरु विष्णु ताई ।
 जास का सेवक तास कौं पाइहै, इष्ट कौं छांडि आगे न जांहीं ॥
 गुणमई मूरति सेई सब भेष मिली, निरगुण निज रूप विश्राम नांही ।
 सनेक जुग बदिगी बिबिध प्रकार की, अति गुण का गुणहीं समाहीं ॥
 पांच तत तीनिगुण जुगतिकरि सांनियां, अष्टदिन होत नहीं क्रम काया ।
 पाप पुन वीज अंकुर जांसै मरै, उपजि बिनसै जेती सर्व माया ॥
 क्तिम करता कहै परम पद क्यूं लहै, भूलि भ्रम सै पड़्या लोक सारा ।
 कहै कबीर राम रमिता भजे, कोई एक जन गए उतरि पारा ॥

शब्दार्थ—पातिव्रत=एकनिष्ठता । त्रिगुणमयी मूर्ति=प्रतिमा । निजु=ठीक-ठीक । साना=मिश्रित । कृत्रिम=वनावटी, प्रतिमा आदि । कोई-एक बिरला ।

संदर्भ—कबीरदास राम नाम की महिमा का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—रे मन, तू इस समर्थ भगवान की शरण में जाकर सेवा कर जिसका, आदि अत और मध्य कोई नहीं पा सकता है । पातिव्रत धर्म के समान बुरी निष्ठा के साथ उसका नाम भजने से तुम्हारे करोड़ों कार्य सिद्ध होंगे और शरीर की ममन्त आवश्यकताएँ पूरी हो जाएँगी (भाव यह है कि उसका नाम स्मरण करने से तुम्हारा परलोक सुघर जाएगा और इस लोक में सुख की प्राप्ति होगी) । भले ही आकार (पूति) शिव, ब्रह्मा और विष्णु तक का हो, परन्तु आकार (प्रतिमा, मूर्ति आदि) की पूजा करने से आकारधारी इस शरीर का उद्धार सम्भव नहीं है । जो भगवान के जिस स्वरूप की पूजा करता है, वह उसी स्वरूप को प्राप्त होता है । वह उनके आगे नहीं जा सकता है, क्योंकि आदर्श ही साध्य होता है । भगवान के सगुण स्वरूप की पूजा करने पर भक्त को सब प्रकार के भेषों की (मानस्य मुक्ति) की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु निर्गुण में एवं आत्मस्वरूप में उसकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है । अनेक युगों तक विविध प्रकार की प्रतिमाओं की पूजा करने पर भक्त इस सगुण में ही समाहित होता है । शरीर निर्माण के लिए पाँचों तन्वों तथा तीनों गुणों को वृत्तिपूर्वक मिलाया गया है । उन आठों के बिना शरीर की उत्पत्ति का प्रम ही नहीं बैठता है । पाप और पुण्य के बीजों के अंकुर (अर्थात् पाप-पुण्य के फल) उन शरीर में उत्पन्न होते हैं और हमसे ही मरते हैं अर्थात् इस शरीर से ही पाप-पुण्य के फल भोगने पढ़ते हैं । इस जगत में जो कुछ भी उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, सब माया का ही प्रमाण है । जब लोग इन बनाई हुई प्रतिमाओं को ही परमात्मा मन्ते हैं तब फिर उनकी अव्यक्त परम पद की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है ? यह माना मन्तार हम सोपाधिक को ही परम

तत्व मानने के भ्रम में भूला हुआ है। कबीर कहते हैं कि कोई बिरला ही सब में रमने वाले राम को भजता है और भवसागर के पार उतरता है।

अलंकार—(1) अनुप्रास—सेइ समधि समर्थ सरणागता ।

(II) सम्बन्धातिशयोक्ति—कोइ न पावै ।

(III) चपलातिशयोक्ति कोटि—आवै ।

(IV) रूपक—पाप—अकुर ।

(VI) गूढोक्ति—कितम लहैं ।

विशेष— (1) निगुण निरुपाधि ब्रह्म का प्रतिपादन है। समस्त साकार जगत (त्रिमूर्ति तक) उसी एक परम तत्व का अभिव्यक्त रूप है।

(II) जास का सेवक जाही।—तुलना करें—

यो यो यां या तनुं भक्त श्रद्धायार्चितुमिच्छति ।

तस्य तस्याचलां श्रद्धातामेव विदधाम्यहम् ।

बहूना जन्म नामन्ते ज्ञानवान्सां प्रपद्यते ।

वासुदेव सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ ।

(श्री भगवद्गीता ७/२१,५)

(२००)

राम राइ तेरी गति जांणीं न जाई ।

जो जस करिहै सो तस पहहै, राजा राम नियाई ।। टेक ॥

जैसी कहै करै जो तैसी, तौ तिरत न लागै बारा

कहता कहि गया सुनता, सुणि गया, करणीं कठिन अपारा ॥

सुरही तिण चरि अमृत सरवै, लेर भवगहि पाई ।

अनेक जतन करि निग्रह कीजै, बिषै बिकार न जाई ॥

संत करै असंत की सगति, तासू कहा बसाई ।

कहै कबीर ताके भ्रम छूटै, जे रहे राम ल्यौ लाई ॥

शब्दार्थ—नियाई=न्यायी, न्यायकर्ता । सुरही=सुरमी, गाय । तिण=तृण, घास । असृत=अमृत, दूध । सखै=सुवित करती है । लेर=लार की तरह जमीन पर टपकने वाली कोई भी वस्तु । पृथ्वी पर गिर जाने वाले दूध को सर्प चाट लेता है । भवगहि=सर्प । निग्रह=दमन, निवारण । लौ=सच्ची लग्न ।

सदर्थ—कबीरदास भगवद्प्रेम का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—हे जगत के स्वामी राम, तेरी लीला किसी की समझ में नहीं आती है । परन्तु एक बात अवश्य है । तुम बड़े न्यायकारी हो । जो जैसा करता है, उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है । व्यक्ति जैसा करता है, यदि वैसा ही करे, तो उसको इस भवसागर से पार उतरते देर न लगे । परन्तु इस ससार में प्रायः ऐसा देखा जाता है कि उपदेश देने वाला उपदेश दे जाता है और सुनने वाला सुन लेता है, परन्तु इसके अनुसार आचरण करने वाला अत्यन्त कठिनाई से दिखाई

देता है। गाय घास खाकर अमृतोपम दूध देती है और इसको चाटकर सर्प भी बल प्राप्त करता है—उसके भी विष की वृद्धि होती है। अभिप्रेत अर्थ यह है कि दुष्ट जन अच्छी से अच्छी बात का दुरुपयोग करते हैं। अनेक प्रकार के उपायो द्वारा वासना को दमन करने पर भी विषयो के प्रति आसक्ति निःशेष नहीं हो पाती है। जो साधु-वेप धारण करके भी दुष्टों की संगति करता है, उसके लिए क्या कहा जाए और क्या किया जाए? कबीरदास कहते हैं कि जो व्यक्ति भगवान राम में पूर्ण रूप से अनुरक्त होते हैं, उन्हीं का मोह भ्रम नष्ट होता है।

अलंकार - (I) सम्बन्धातिशयोक्ति—राम • जाई ।

(II) पदमैत्री—जस तस ।

(III) दृष्टान्त—कहता न जाई ।

(IV) विशेषोक्ति—अनेक • जाई ।

(V) रूपकातिशयोक्ति—अमृत, भवगम ।

(VI) सभग पद यमक—सन्त असन्त ।

(VII) गूढोक्ति—तासू • बसाई ।

विशेष—जैसी कहै • अपारा ।

तुलना कीजिए—

कर्म प्रधान विश्व कर राखा । जो जस करइ सो तस फल चाखा ।

तथा— परउपदेस कुसल बहुतेरे । जे आचरहि ते नर न घनेरे ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(२०१)

कथणीं वदणीं सब जंजाल,

भाव भगति अरु राम निराल ॥ टेक ॥

कथै वदै सुणै सब कोई, कथै न होई कीयै होइ ।

कूड़ी करणी राम न पावै, साच टिकै निज रूप दिखावै ॥

घट में अग्नि घर जल अवास, चैति बुझाई कबीरदास ।

शब्दायं - कथणी = कहना, धर्मोपदेश । वदणी = देश सम्बन्धी आचरण अर्थात् वाह्योपचार । कूड़ी = निकामी, व्यर्थ की । करणी = आचरण । वदै = विवाद, अवाग = निवास स्थान । अग्नि = वासनाओं की अग्नि । जल = आनन्द रूपी जल ।

मंदर्भ—कबीरदास कहते हैं कि आत्म-ज्ञान के द्वारा ही कल्याण सम्भव है ।

भावार्थ—धर्मोपदेश एवं वाह्योपचार सब व्यर्थ का भ्रमेला है । भगवान राम का स्वस्व एवं उनके प्रति भक्ति भाव—ये दोनों अनोखी वस्तु हैं । धर्मोपदेश, विवाद तथा अवाग सब करने हैं, परन्तु वास्तविक लाभ तो धर्मान्तरण से होता है, उनसे करने पर न कुछ नतीजा होता है । व्यर्थ के निकामे आचरणों (कृत्यों) में भगवान नहीं मिलते हैं । स्वस्व-आचरण का ही प्रभाव रखाया होता है और उगी स

द्वारा आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार होता है । जीव के शरीर में वासना रूपी अग्नि रहती है और जीव का मूल निवास-स्थान आत्मानन्द रूपी जल है । कबीर कहते हैं कि हे जीव, तू चेत जा और आत्मानन्द के जल से वासना की अग्नि को बुझा दे ।

अलंकार—(1) भेदकातिशयोक्ति—भाव—निराल ।

(II) पदमैत्री—व्यथै बदै सुणे कथें ।

(III) रूपकातिशयोक्ति—अग्नि, जल ।

विशेष—(1) कबीर कायायोग द्वारा अमृत-पान की विधि तो बताते हैं, परन्तु उनके मतानुसार कायायोग की साधना पर्याप्त नहीं है । ज्ञान और भक्ति का योगदान अनिवार्य है । इस प्रकार वह भक्ति को ही साध्य मानते हैं और ज्ञानी भक्त ठहरते हैं ।

(II) इस पद में भी कबीर ने यही कहा है कि—

पर उपदेस कुसल बहुतेरे । जे आचरहिं ते नर न घनेरे ।

तथा— सूधे मन सूधे वचन सूधी सब करतूति ।

रघुवर सूधी सकल बिधि, रघुबर प्रेम प्रसूति ।

एव— निर्मल मन जन सो मोहि पावा ।

मोहि कपट छल जिद्र न भावा ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(२०२)

ऐसी रे अवधू की वांणीं,

ऊपरि कूवटा तलि भरि पांणी ॥ टेक ॥

जब लग गगन जोति नही पलटै, अविनासी सू चित नहीं चिहुटै ॥

जब लग भवर गुफा नही जानै, तौ मेरा मन कैसे मानै ।

जब लग त्रिकुटी संधि न जानै, ससिहर कै घरि सूर न आनै ॥

जब लग नाभि कवल नही सोधै, तौ हीरै हीरा कैसे बेधै ।

सोलह कला संपूरण छाजा, अनहद कै घरि बाजै बाजा ॥

सुषमन कै घरि भया अनंदा, उलटि कवल भेटे गोव्यदा ।

मन पवन जब परचा भया, ज्यू नाले रांषी रस मइया ॥

कहै कबीर घटि लेहु विचारी, औघट घाट सींचि ले क्यारी ॥

शब्दार्थ—कूवरा=कूप, कुआँ । गगन=शून्य । जोति=ज्योतिस्वरूप ब्रह्म-रन्ध्र । त्रिकुटी=दोनो भौहो के बीच का स्थान, आँख नाक और मस्तिष्क का सन्धि-स्थल । ससिहर=चन्द्रमा, पिंगला नाडी । सूर=सूर्य अथवा इडा नाडी । नाभिकवल=नाभि में स्थित मणिपूरक चक्र । इस चक्र पर चिन्तन करने वाला साधक इच्छाओं का स्वामी होजाता है । कहते हैं कि वह साधक अपनी इच्छाओं

के अनुसार अन्य शरीर में प्रवेश कर सकता है। उस साधक को स्वर्ण-निर्माण, की सामर्थ्य और गुप्तधन की दृष्टि भी प्राप्त होजाती है।

सन्दर्भ—इस पद में हठयोग के साधक अवधूत का कथन है। कुण्डलिनी से ब्रह्म रन्ध्र तक पहुँचने की प्रक्रिया का वर्णन है।

भावार्थ—ऊपर सहस्रार का कूप है और नीचे रहने वाली कुण्डलिनी इसका पानी भरती है। जब तक सहस्रार रूपी गगन में शुद्धात्मा की ज्योति प्रति-फलित होकर साधक को दिखाई नहीं देती तब तक अविनाशी ब्रह्म के प्रति उसका मन अनुरक्त नहीं होता है।

कबीरदास अपने आपको साधक मानकर कहते हैं कि जब तक मुझे ब्रह्मरन्ध्र का ज्ञान प्राप्त न हो, तब तक भला मुझे (अथवा किसी साधक को) किस प्रकार संतोष प्राप्त हो सकता है? जब तक साधक त्रिकुटी की सधि से परिचित होकर सहस्रार स्थित चन्द्र और मूलाधार स्थित सूर्य को पास-पास नहीं लाता है—पिंगला और इडा नाडियों के मध्य समन्वय स्थापित नहीं करता है, जब तक वह नाभि-स्थित मणिपूरक चक्र का चिन्तन नहीं करता है, तब तक वह शुद्ध चित्त रूपी हीरे द्वारा शुद्धात्मा रूपी हीरे को कैसे वेध सकता है? अभिप्रेत भाव यह है कि आज्ञा-चक्र में स्थित त्रिकुटी का ज्ञान प्राप्त होजाने पर इडा और पिंगला का अन्तर समाप्त हो जाता है तथा मणिपूरक चक्र पर चिन्तन करने पर ही ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव होती है। नोलह कला से युक्त चन्द्र जहाँ सहस्रार पर सुशोभित रहता है, वही अनाहत का वाद्य भी बजता है। भाव यह है कि ब्रह्मरन्ध्र वाले सहस्रदल कमल में ब्रह्म का निवास है। सिद्धि प्राप्त कर लेने पर योगी को वही पर अनाहदनाद (The voice of the silence) मुनाई पडता है। सिद्धि मिलने पर ही सुषुम्ना में आनन्द उत्पन्न होता है तथा सहस्रार के उलटे कमल में गोविन्द को प्राप्त करता है। नाचना द्वारा जब मन और प्राण वायु मिल जाते हैं, तब मन और परमात्मा मिलकर उस प्रकार एक होजाते हैं जिस प्रकार नाले-नालियों का जल गंगा के बहते हुए जल में मिलकर एक मेल होजाता है। कबीरदास कहते हैं कि इस प्रकार अपने शरीर के भीतर ही सब कुट्ट समझलो तथा सहस्रार के घाट-रहित स्थान में मोक्ष की बरसात को आनन्दानृत से सींच लो।

खलंकार—(i) अनगति—ऐसी वाणी।

(ii) चपक — भवर गुफा, नाभि कमल, हीरे मन, हीरे पवन, औघट घाट बरसी।

(iii) विरोधाभास की व्यञ्जना — औघट घाट।

(iv) यमक—हीरे हीरा।

(v) उदाहरण—जू भट्ट्या।

विशेष —(i) कबीरदास ने हठयोग की प्रक्रिया को बड़े ही कवित्वपूर्ण ढंग पर मोनक शैली में वर्णित किया है। उन्हीं वर्णित है कि किस प्रकार शरीर में

षट्-चक्र-वेधन—जो कि प्रकारान्तर से शरीर-साधन ही है—के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति होती है ।

(II) अनहद नाद के लिए देखें टिप्पणी पद स० १५७

(III) शून्य के लिए देखें टिप्पणी पद स० १६४

(IV) त्रिकुटी के लिए देखें टिप्पणी पद स० ७

(V) भँवर गुफा के लिए देखें टिप्पणी पद स० ३, ४

(VI) ज्युँ नाले राषी रस मइया—साधक के चित्त के परमात्म तत्त्व के साथ मिलकर एक हो जाने की तुलना प्रायः नाले के पानी के गगाजल में मिल जाने से की जाती है । भक्त कवियों ने भी इस प्रकार का कथन प्रायः किया है । यथा—

हमारे प्रभु ! औगुन चित न धरौ ।

×

×

×

इक नदिया इक नार कहावत, मैलो नीर भरौ ।

जब मिलिगे तब एक बरन मे, सुरसरि नाम धरौ । —महात्मा सूरदास

(VII) 'उलटि कँवल' का अर्थ कुछ टीकाकारों ने इस प्रकार किया है—“इस प्रकार कुण्डलिनी के नीचे से ऊपर चलने के कारण—उलटे मार्ग द्वारा गोविंद से सहस्रदल में भेंट होती है ।” हमारे विचार से यह अर्थ उचित नहीं है । चन्द्र प्रक्रिया का सम्यक् ज्ञान न होने कारण ही इस प्रकार के अर्थ की सम्भावना की जा सकती है । 'चक्र' वस्तुतः कुण्डलिनी के शक्ति केन्द्र (Transformers) हैं । इनकी बनावट सीधी तश्तरी (concave) मानी जाती है । जब चक्र गतिशील होता है, तो उलटा (convex) हो जाता है और कुण्डलिनी की शक्ति को अगले चक्र में प्रेषित कर देता है । स्पष्ट है कि जब सहस्रदल कमल चक्र पूर्णतया गतिशील होगा, तब वह भी उलटा (convex) हो जाएगा और तभी ब्रह्म ज्योति का साक्षात्कार होगा—तभी Mind और Supramental का सम्बन्ध स्थापित होगा । गौतम बुद्ध प्रभृति सिद्ध पुरुषों की प्रतिमाओं, मूर्तियों आदि में सिर के ऊपर एक गुमटी सी निकली हुई रहती है । यह गुमटी उलटे हुए (convex) सहस्रार चक्र का द्योतन करती है ।

(२०३)

मन का भ्रम मन ही थै भागा,

सहज रूप हरि खेलण लागा ॥ टेक ॥

मै तै तै मै ए द्वै नाही, आपै अकल सकल घट मांहीं ॥

जब थै इनमन उनमन जानां, तब रूप न रेख तहां ले बांनां ।

तन मन मन तन एक समांनां, इन अनभै माहै मन मांनां ॥

आत्मलीन अषडित रांमां, कहै कवीर हरि मांहि समांनां ।

शब्दार्थ - हरि=आत्माराम, परमात्मा । उनमन=मन की अवस्था विगेष ।

रूप-न-रेख=रूप रेख । बांना=आकार । अनभै=अभय ।

सदर्भ—कवीरदास सिद्धावस्था का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—मन की साधना के द्वारा ही मन में व्याप्त भ्रम समाप्त हो गया है तथा जीव अपने सहस्र आनन्द रूप को प्राप्त करके परमात्मा के रूप में क्रीडा करने लगा है अर्थात् 'मैं'—जीव और 'तू' ब्रह्म एक हो गए हैं—पृथक् नहीं रह गए हैं। यह विश्वास दृढ हो गया है कि 'मैं' और 'तू'— जीव और ब्रह्म अथवा 'मैं' और 'मैं नहीं'— ये दो नहीं हैं तथा मायारहित वह अखण्ड परम तत्त्व ही समस्त अन्तःकरणों में तथा सर्वत्र व्याप्त है। जब से इस मन ने उस मन को जान लिया है अर्थात् व्यष्टि-जीव ने समष्टि-जीव का साक्षात्कार कर लिया अर्थात् मन योग की 'उन्मनि' अवस्था को प्राप्त हो गया है, तब से जीव रूप-रेखा तथा आकारादि की मर्यादाओं के ऊपर उठकर उस मायातीत अवस्था में तन्मय हो गया है। अब शरीर उस चेतन में समा गया है और चेतन का प्रकाश सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो गया है। इस निर्भय परम तत्त्व के साक्षात्कार की अवस्था में व्यष्टि-चेतन उस परम चेतन में समाहित हो गया है। कबीर कहते हैं कि मन आत्म-लीन होकर अखण्ड परमात्मा-रूप राम और हरि में तन्मय हो गया है। यही मेरी सिद्धावस्था है।

अलंकार—(i) विरोधाभास की व्यञ्जना—मन का भ्रम "भागा, मैं तू" नाही।

(ii) रूपक—सहज रूप हरि।

(iii) पदमैत्री—सकल अकल, इनमन उनमन, तन मन मन तन।

(iv) सभग पद यमक—इन मन उन मन।

(v) वृत्यानुप्रास—मन मन माहें मन माना।

विशेष—(i) अद्वैतावस्था का वर्णन है।

(ii) विश्व चेतना स्वरूप राम की प्राप्ति ही जीवन का परम लक्ष्य है। गीताकार ने इसी को लक्ष्य करते हुए कहा है कि—'यन्प्राप्य न निवर्तन्ते तद्दाम परम मम् अथवा सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरणं ब्रज।'

(iii) सहज रूप ... लागा—भावुक कवि इस अद्वैतावस्था का वर्णन काव्योचित रसमिक्त शैली में करते आए हैं। यथा—

राधिका, कान्ह को ध्यान धरे, तब कान्ह ह्वे, राधिका के गुन गावे।
 त्यों अमुया धरमे धरमाने को पाती लिये लिखि राधिके ध्यावे।
 राधे ह्वे जावत है छिन में वह प्रेम की पाती लै छाती लगावे।
 आपु में आपुन ही उरभे, सुरभे, विरभे समुभे, समुभावे।
 (द्वय)

यह पूर्ण आत्म-योग की अवस्था है।

(iv) मन, उन्मन आदि मन-गम्प्रदाय की पारिभाषिक जटिलताओं के माध्यम से परम अन्तर्गत प्राप्ति का वर्णन किया गया है।

‘उन्मनि’— योग की सिद्धावस्था है, जिसमें मन समाधिस्थ हो जाता है ।

‘आज्ञाचक्र’ के समीप ही कारण शरीर से सम्बन्धित सात कोष माने गये हैं । इनमें ‘उन्मनी’ भी एक है । साधक इस ‘उन्मनी’ कोष में पहुँचने पर पुनरागमन को प्राप्त नहीं होता है, और वह समाधिस्थ होकर अजर अमर हो जाता है । इस स्थिति को प्राप्त होने वाला साधक निरन्तर अमृत रस-पान किया करता है । कबीर ने इस ‘उन्मनि’ शब्द का बार-बार प्रयोग किया है । उन्होंने स्वयं इस अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है कि—

उन्मनि ध्यान घट भीतर पाया, अवधू मेरा मन मतिवारा ।

उन्मनि चढ़ा गगन रस पीवै, त्रिभुवन भया उजियारा ।

नाथ-पथी हठयोगी भी इस शब्द का प्रचुर प्रयोग करते थे । इस अवस्था में वे भी आनन्द की अनुभूति मानते थे । एक स्थल पर स्वयं गुरु गोरखनाथ ने इसके विषय में लिखा है कि—

उन्मनि लागा होइ आनन्द ।

वास्तव में ‘उन्मनि’ को तुरीयावस्था कहा जा सकता है । इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए साधक त्रिकुटी पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है और ध्यानमग्न अथवा आत्म-चेतना के केन्द्रित हो जाने के फलस्वरूप साधक का शरीर एकदम बाह्य बातों के प्रति विरक्त एवं उदासीन हो जाता है । इस अवस्था को प्राप्त करके साधक द्वैत भाव भूल कर पूर्ण अद्वैतावस्था की अनुभूति में रमने लगता है । जैसा कि कबीर ने लिखा है कि—

उन्मनि मनुआं सुन्य समाना, दुविधा दुर्गति भागी ।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्मनि अवस्था शून्य में केन्द्रित अर्थात् समाहित होने में समर्थ होती है । मन की समस्त दुविधाएँ समाप्त हो जाती हैं, मन एक दम निश्चल एवं शांत हो जाता है । द्वैत अथवा भेद बुद्धि जनित उसके समस्त सकल्प-विकल्प नष्ट हो जाते हैं । कबीर ने ‘उन्मनि’ शब्द का प्रयोग ध्यानमगनावस्था, समाधि एवं विशेषण रूप में प्रयुक्त होने पर ‘समर्थस्थिति’ के रूप में ही अधिकतर किया है ।

(२०४)

आत्मां अनदी जोगी,

तीवै महारस अमृत भोगी ॥ टेक ॥

ब्रह्म अग्नि काया परजारी, अजपा जाप उनमनीं तारी ॥

त्रिकुट कोट मै आसण मांडै, सहज समाधि बिषै सब छांडै ॥

त्रिवेणी विभूति करै मन मजन, जन कबीर प्रभू अलष निरजन ॥

शब्दार्थ—महारस=प्रेमरस ।

सन्दर्भ—कबीर कायायोग के द्वारा प्रभु भक्ति की प्राप्ति करते हैं ।

भावार्थ—योगी आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होकर आनन्द प्राप्त करता है ।

वह ज्ञान और भक्ति के समन्वय से उत्पन्न प्रेम के महारस का पान करने वाला है और कायायोग एवं ध्यान योग द्वारा प्राप्त होने वाले अमृत का भक्षण करता है । वह ज्ञान की अग्नि से शरीर को जलाने वाली वासनाओं को भस्म कर देता है तथा अजपा जाप (अनहद नाद) में लवलीन रहता है । वह जप विमुख होकर चेतना को त्रिकुटी में स्थित कर देता है और इस प्रकार समाधि हो जाता है । सहज समाधि में स्थित होकर वह समस्त विषयों को त्याग देता है वह इडा, पिंगला एवं सुषुम्ना के मिलन-बिन्दु रूप त्रिवेणी में अवगाहन करता है तथा आनन्द की विभूति को अपने अन्तःकरण में समाकर मन को वासनाओं से रहित करके पवित्र करता है । कबीर अलख निरजन प्रभु की भक्ति करता है ।

अलंकार—(1) रूपक—महारस अमृत, ब्रह्म अग्नि, त्रिवेणी विभूति ।

(II) विरोधाभास—अजपा जाप ।

विशेष—(1) भक्तों की भाँति कबीरदास निर्गुण ब्रह्म की भक्ति करते हैं और सेव्य-सेवक भाव का आरोप करते हैं ।

(II) कायायोग, ज्ञान एवं भक्ति की त्रिवेणी दृष्टव्य है ।

(III) अमृत—देखें टिप्पणी पद स० ४

अजपा जाप—देखें टिप्पणी पद स० १५७

उन्मनी— देखें टिप्पणी पद स० २०३

त्रिकुटी—देखें टिप्पणी पद स० ४

अलख निरजन—देखें टिप्पणी पद स० १४२ व १६६

सहज समाधि—देखें टिप्पणी पद स० ७

(IV) त्रिवेणी— देखें टिप्पणी पद स० ४, ७

(V) इस पद में कायायोग और भक्ति का सुन्दर समन्वय है ।

(२०५)

या जोगिया की जुगति जु बूझै,

रांम रमै ताकौं त्रिभुवन सूझै ॥ टेक ॥

प्रगट कथा गुप्त अधारी, तामै मूरति जीवनि प्यारी ॥

है प्रभु नैरै खोजै दूरि, ग्यान गुफा में सींगी पूरि ॥

अमर बेलि जो छिन छिन पीवै, कहै कबीर सो जुगिजुगि जीवै ।

शब्दार्थ— कथा = गुदटी । कथा घारी = योगी । अधारी = गाँधी । नकटी । नैरै = पार । सींगी = शृंगी, योगियों द्वारा प्रयुक्त सींग का । अमरबेलि = जानकपी बेलि ।

संदर्भ—कबीरदास कायायोग की महिमा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—इस कायायोग की साधना करने वाले साधक योगी की । वे शरीर को जानकर जो राम में रामण करना है अर्थात् जो रामदास की जेठे डगडो पीनो लोक दिगाई देगे जगो दे अली पर तीनों तीनों म

साक्षात्कार करता है। बाहर से दिखाई देने वाली गुदड़ी वस्तुतः योगी के शरीर की ही है। उसकी लकड़ी नामक 'अधारी' वह आधार है जिसमें अवस्थित होकर परम तत्त्व की साधना करता है। उसी मूल तत्त्व में उसकी प्राण-प्यारी मूर्ति निहित है। वे प्रभु जीव के सदैव पास (हृदय) में ही रहते हैं, परन्तु जीव उनको र-उधर (अपने आप से पृथक् स्थलो में) खोजता रहता है। अनहद नाद रूपी अन्तःकरण (सहस्रार) रूपी गुफा में उपलब्ध है, परन्तु जीव शृंगी में शब्द के उस अनहद नाद को सुनना चाहता है अर्थात् वह अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित की अपेक्षा शृंगीनाद का श्रवण करता है। अभिप्रेत अर्थ यह है कि इस प्रकार योगी आत्म स्वरूप में प्रतिष्ठित होने की अपेक्षा बहिरंग में ही उलभा रहता परन्तु जो साधक ज्ञान और भक्ति रूपी महारस की अमर बेलि के रस को क्षण पीता रहता है, वह अमरत्व को प्राप्त होता है।

अलंकार—(1) छेकानुप्रास—जोगिया जुगति ।

(II) रूपकातिशयोक्ति—कथा, अधारी, गुफा ।

(III) रूपक—अमर बेलि ।

(IV) पुनरुक्ति प्रकाश—छिन छिन, जुगि जुगि ।

विशेष—(1) कथा, शृंगी, अधारी—ये योगियों की साधना एवं वेष के ही उपकरण हैं।

(II) कबीर ने अपने स्वभावानुसार इस पद में भी बाह्याचार के प्रति विरोध किया है।

(III) है प्रभु दूरि—तुलना करे—

कस्तूरी कुंडल बसै, मृग ढूँढ़े बन माँहि ।

ऐसे घट घट राम हैं, दुनियाँ देखे नाहि । — कबीरदास

अपुनपौ आपुन ही में पायो ।

× × ×
राजकुमारि कंठ मनि-भूषन, भ्रम भयो, कहूँ गवायो ।

दियो बताइ और सखियन, तब तन को ताप नसायो । —सूरदास

(IV) राम रमै सूँझै—प्रभु का साक्षात्कार विश्व-चेतना की प्राप्ति की

ते है। श्रीमद्भगवद्गीता के 'विश्वरूप-दर्शन योग' के अन्तर्गत यही बात स्पष्ट गई है। भगवान राम के मुख में प्रविष्ट करने वाले कागभुसु डि भी समस्त ण्ड का दर्शन करते हैं—

उदर माझ सुनु अडज राया । देखेउँ बहु ब्रह्माड निकाया ।

× × ×
भिन्न भिन्न मै दीख सबु अति विचित्र हरिजान ।

अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन ।

× × ×
तब ते मोहि न व्यापी माया । जब तें रघुनायक अपनाया । (रामचरितमानस)

(v) अमर वेलि.....जीवै—श्रद्धालु साधक को सर्वत्र श्रेष्ठ बताया गया गया है। तुलना करे—

योगनामपि सर्वेषां मद्गते नान्तरात्मना ।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ।

(श्रीमद्भगवद्गीता ६/४७)

(२०६)

सो जोगी जाके मन मै भुद्रा

राति दिवस न करई निद्रा ॥ टेक ॥

मन मै आसण मन मै रहणां, मन का जप तप मन सूं कहणां ॥

मन मै खपरा मन मै सीगी, अनहद बेन बजावै रंगी ॥

पंच परजारि भसम करि भूका, कहै कबीर सो लहसै लंका ॥

शब्दार्थ—मुद्रा = खेचरी मुद्रा। लहसै = विजय प्राप्त करना। पच = पचाग्नि।

भूका = शरीर—शारीरिक आवश्यकताएँ।

संदर्भ—कबीर सच्चे योगी का वर्णन करते हैं।

भावार्थ—सच्चा योगी वही है जो कुण्डल आदि बाहरी मुद्राओं को त्याग कर मन में खेचरी मुद्रा धारण करता है अर्थात् जो परम तत्त्व की प्राप्ति के अनुरूप मन की अवस्थिति बना लेता है। ऐसा साधक योगी रात और दिन कभी नहीं सोता है अर्थात् वह सदैव सजग रहता है और कभी भी अज्ञान में नहीं फँसता है। वह मन में ही आसन जमाता है और उसी में अवस्थित रहता है अर्थात् वह आत्म-स्वरूप में ही अवस्थित हो जाता है। वह मन में जप-तप करता है। और अपने जप-तप को अपने मन को ही सुनाता है। वह मन में ही खप्पर (भिक्षा-पात्र) रखता है और मन को ही शृंगी बजाता है। ज्ञान भक्ति रूपी महारस का प्रेमी यह योगी अनहद नाद की वीणा अपने मन में ही बजाता है। कबीरदास कहते हैं कि जो योगी पंचाग्नि में शरीर को जलाकर भस्म कर देता है वही लंकारूपी ससार पर विजय प्राप्त करता है अर्थात् अद्वैतावस्था को प्राप्त होता है।

अलंकार—(i) अनुप्रास—मन की आवृत्ति (३री पक्ति)।

(ii) पदमैत्री—जप तप, रहणां कहणा।

(iii) रूपक—अनहद बेन।

(iv) रूपकातिशयोक्ति—पच, लंका।

(v) लोकानुप्रास—जोगी जाके, पंच परजारि, भसम भूका।

विशेष—(i) मुद्रा आसन, खपरा, सीगी, बेन, पच, भसम—ये योगियों की गायना एवं वेद के बहरी उपकरण एवं आचार हैं।

(ii) इस पद में कबीर ने अन्न-साधना और वाद्याचार का सुन्दर गमन्वय प्रस्तुत किया है।

(III) मुद्रा—खेचरी मुद्रा । योग की अगभूत एक मुद्रा जिसमे जीभ उलट कर तालू मे लगाई जाती है और दृष्टि त्रिकुटी पर स्थापित की जाती है ।

(IV) मन में • कहणा—तुलना कीजिए—

वाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा
विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोग युक्तात्मा
सुखमक्षयमश्नुते ।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यमाश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवो ।
प्राणायानौ समैकृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।
पत्रोपरमते चित्त निरुद्धं योगसेवय ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनितुष्यति ।

(श्रीमद्भगवद्गीता ५/२१, ५/२७, ६/२०)

भावुक कवि जन इसी अद्वैतावस्था का वर्णन काव्यात्मक शैली मे करते आए हैं—

राधिका, कान्ह को ध्यान धरै तब कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावै ।
ज्यों अँसुवा बरसे बरसाने को पाती लिखै लिखि राधिके ध्यावै ।
राधे ह्वै जावत है छिन में वह प्रेम की पाती लै छाती लगावै ।
आपु में आपुन ही उरभँ, सुरभँ, बिहभँ, समुभँ, समुभावै । —देव

(V) अनहद - देखें टिप्पणी पद स० १५७ ।

(VI) पच परिजारि... • भूका—इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि जो योगी काम क्रोधादि पच विकारो को समाप्त करके शरीर की आवश्यकताओ से मुक्त हो जाता है वह द्वैत रूपी लका पर विजय प्राप्त करता है ।

(VII) लंका—ससार अथवा द्वैत भाव । 'रामचरित मानस' मे गोस्वामी तुलसीदास ने लका' का प्रयोग उस शरीर के लिए किया है, जिसमे 'अहकार' रूप रावण का निवास है । यथा—

सखा धरम मय अस रथ जाकें ।
जीतन्ह कहें न कतहुँ रिपु ताकें ।

स्पष्ट है कि गोस्वामीजी 'विपक्षी भाव' से रहित हो जाने को ही शत्रु पर विजय मानते हैं ।

(VIII) ज्ञान के क्षेत्र मे जो अद्वैत है, योग के क्षेत्र मे वही समाधि है ।

(IX) इस पद के अन्तर्गत डा० भगवत्स्वरूप मिश्र की टिप्पणी दृष्टव्य है ।

यथा—

“बाहरी उपकरणो मुद्रा, श्रुती आदि को तत्त्व-प्राप्ति का मूलतः साधन मानने का खण्डन किया गया है । इनके मूल प्रतीकार्थों को ग्रहण करके इनको आभ्यन्तर साधनो के रूप मे अपनाने का संदेश दिया गया है । 'मुद्रा' निम्नलिखित

तीनों अर्थों में गृहीत शब्द था । (i) भू-स्पर्श आदि अग-स्थिति रूप मुद्रा, (ii) कुण्डल आदि शरीर पर धारण करने वाली वस्तुएँ, (iii) मैथुन तथा बिन्दु रक्षा के तांत्रिक अनुष्ठानों के लिए स्वीकृत सह-साधिका नारी । कबीर इन तीनों को तत्त्व प्राप्ति का साधन नहीं मानते । ऐसी श्रृंगी और खपरा के बाह्य रूप भी तत्त्व प्राप्ति के साधन नहीं । अतः कबीर इनको आध्यात्मिक अर्थ दे रहे हैं ।”

(२०७)

बाबा जोगी एक अकेला,

जाकै तीर्थ ब्रत न मेला ॥ टेक ॥

झोली पत्र बिभूति न बटवा, अनहद बेन बजावै ॥

मांगी न खाइ न भूखा सोवै घर अगनां फिर आवै ॥

पांच जनां की जमाति चलावै, तास गुरु मै चेला ॥

कहै कबीर उनि देसि सिधाये, बहुरि न इहि जगि मेला ॥

शब्दार्थ—पच जना=पांच जन=पांच ज्ञानेन्द्रियाँ । जमात=समूह ।
चलावै=नियंत्रित करता है ।

सन्दर्भ—कबीरदास सिद्ध योगी का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—योगी ससार में अपने ढंग का एक अनोखा ही व्यक्ति होता है । उसको तीर्थ, ब्रत, मेला इत्यादि से कोई प्रयोजन नहीं होता है । उसे झोली, पत्र, बटुआ, बिभूति आदि बहिरंग साधनों की कोई आवश्यकता नहीं होती है । वह तो आत्म-स्वरूप में स्थित होकर अनहद-नाद रूपी वीणा बजाता है । वह न तो भूख मारता है और न भूखा ही सोता है । (उसको अपने स्थान पर बैठे-बैठे और बिना मांगे हुए जीवन-यापन के साधन उपलब्ध हो जाते हैं) । वह अपने घट रूपी घर के हृदय रूपी आंगन में ही वापिस आ जाता है अर्थात् वह सब ओर से अपना मन हटा कर आत्म स्वरूप में स्थित हो जाता है । वह अपनी पांचों ज्ञानेन्द्रियों के समूह को अपने नियन्त्रण में रखता है । कबीरदास ऐसे ही योगी के चले बनने की नैर्घ्यार हैं, जो अपनी साधना के द्वारा इस संसार को छोड़कर उस देश को चले गये हैं अर्थात् जिन्होंने परमनन्द का साक्षात्कार कर लिया है और पुनः इस ससार में नहीं आणेंगे अर्थात् जो आवागमन के चक्र में फिर नहीं पड़ेंगे ।

अनंकार—(i) भेदकातिशयोक्ति की व्यञ्जना—एक अकेला ।

(ii) रूपक—अनहद बेन ।

(iii) विरोधानाम—मांगी खाइ न भूखा ।

(iv) रूपकातिशयोक्ति—पाच जना ।

विशेष—(i) इन पदों में भी बाह्य साधना के प्रतीकों (तीर्थ, ब्रत, मेला, झोली, पत्र बिभूति, बटुआ बेन) को आन्तरिक-साधना-परक अर्थ दिए गए हैं ।

(ii) ज्ञान स्वरूप स्थिति एवं निष्कृता योगी के प्रमुख लक्षण हैं ।

(III) उन देसि सिधाए—इम वाक्याश मे 'रहरय भावना' की मार्मिक व्यजना है । तुलना कीजिए—

देखि मानसर रूप सोहावा । हिय हुलास पुरइति होइ छावा । (जायसी)

चकई री ! चलि चरन-सरोवर जहाँ न प्रेम-वियोग ।

निसि दिन राम नाम की वर्षा भय रुज नहिं दुख सोग । (सूरदास)

(IV) पाँच जना—कान, आख, नाक, जिह्वा तथा त्वचा । (शब्द, रूप, गंध, रस तथा स्पर्श)

(२०८)

जोगिया तन कौ जत्र बजाइ,

ज्यूं तेरा आवागवन मिटाइ ॥ टेक ॥

तन करि तांति धर्म करि डांडी, सत की सारि लगाइ ।

मन करि निहचल आंसण निहचल, रसनां रस उपजाइ ॥

चित करि बटवा तुचा मेपली, भसमै भसम चढाइ ।

तजि पाषंड पांच करि निग्रह, खोजि परम पद राइ ॥

हिरदै सींगी ग्यांन गुंणि बांधी, खोजि निरजन साचा ।

कहै कबीर निरंजन की गति, जुगति बिनां प्यंड काचा ॥

शब्दार्थ—जन्त्र=यन्त्र, वाद्य, वाजा । ज्यूं=जिससे । आवागवन=जन्म मृत्यु का चक्र । तत=परम तत्त्व । सारि=लोहा । निहचल=निश्चल, एकाग्र और दृढ । प्यंड=पिंड, शरीर । काचा=कच्चा, व्यथ, निष्प्रयोजन । बटवा=बटने वाला । मेपली=मेखला, करधनी । पांच पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा । गुणि=रस्सी ।

सन्दर्भ—कबीरदास गेरुआ वस्त्रधारी साधुओं से कहते हैं कि मच्ची साधना से ही परमेश्वर की प्राप्ति होती है । अतः साधना करो, ढोंग छोड़ दो ।

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि हे गेरुआ वस्त्र-धारी साधुओ ! तुम इन श्रृंगी आदि वाजो को बजाना छोड़कर अपने शरीर का ही वाजा बजाओ और उससे अतहृदनाद की ध्वनि उत्पन्न करो, जिससे आवागमन का तेरा चक्र समाप्त हो जाए अर्थात् तुम्हें मोक्ष की प्राप्ति हो जाए । कबीरदास अब उस वाद्य-यन्त्र को बजाने का उपाय बताते हुए कहते हैं कि तत्त्व ज्ञान की ताँत बनाओ, धर्माचरण की डडी बनाओ तथा उसमें सत्य का लोहा लगाओ, फिर मन और आसन को स्थिर करो एवं जीभ में मधुर वाणी का रस उत्पन्न करो । अपने मन को बटवा बनाओ, त्वचा को ही मेखला समझ लो, और इस मिट्टी के शरीर पर काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह को जलाकर उसकी भस्म चढाया आरम्भ करो । समस्त बाहरी दिखार्यों को छोड़कर पाँचों इन्द्रियों के ऊपर नियन्त्रण करो और तब परम पद के राजा या ब्रह्म (हरि) की खोज करो । अपने हृदय को श्रृंगी वाजा बनाओ और ज्ञान की करधनी को धारण करो अर्थात् अपने आपको ज्ञानाचरण की सीमाओं में बाँध दो

और फिर मृत्यु रूप अविकारी निरजन की खोज करो । कबीरदास कहते हैं कि मेरे मतानुसार ब्रह्म की गति का ज्ञान प्राप्त किए बिना यह शरीर कच्चे घड़े के समान निष्प्रयोजन मिट्टी होता है अर्थात् जो व्यक्ति ब्रह्म की खोज में नहीं लगता है, उसका जीवन व्यर्थ है ।

अलंकार—(1) साग रूपक—पूरा पद । शरीर और वाद्य के मध्य साम्य द्वारा ।

(ii) पदमैत्री—सत तत ।

(iii) सभग पद यमक रस रसना, गति जुगति ।

विशेष—(1) कबीरदास सन्यासियों को सच्चा योगी बनने को कहते हैं । बाह्याचार के प्रति कबीर का विरोध स्पष्ट है ।

(ii) योग की प्रक्रियाओं के लिए देखें टिप्पणी पद संख्या ४, १५७, १६४ तथा २०२ ।

(२०६)

अवधू ऐसा ज्ञान विचारी,

ज्यू बहुरि न ह्वै संसारी ॥ टेक ॥

च्यत न सोज चित बिन चितवै, बिन मनसा मन होई ।

अजपा जपत सुनि अभि अतरि, यहु तत जानै सोई ॥

कहै कबीर स्वाद जब पाया, बंक नालि रस खाया ।

अमृत झरै ब्रह्म परकासै, तब ही मिलै राम राया ॥

संदर्भ—कबीरदास राम-मिलन के मार्ग का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—रे साधक योगी ! तुम ऐसा ज्ञान धारण करो जिससे तुम्हें इस समाज में फिर दोबारा न आना पड़े । उस परम तत्त्व का चिन्तन करो जो बिना चित्त के ही सम्पूर्ण विश्व की चिन्ता करता है तथा जिसका मन तृष्णा आदि के विक्षेपों से रहित है । जो योगी अपने हृदय एवं शून्य मण्डल में अपने माया रहित आत्मस्वरूप में अवस्थित रह कर अजपा (बिना बोले) जाप करता है, वही परम तत्त्व को जानता है । कबीर कहते हैं कि जब व्यक्ति इस तत्त्व के साक्षात्कार का म्याद एक बार चमक लेता है तो वह आध्यात्मिकता की ब्रह्मनाल का रस पीने के लिए निरन्तर क्षान्तर बना रहता है और उसका स्वाद लेता रहता है । जब ज्ञान का यह अमृत निरन्तर भरता रहता है और ब्रह्म ज्योति का प्रकाश होना रहता है तभी वह मानना चाहिए कि भगवान राम मिल गये हैं । कायायोग का ब्रह्मनाल से प्राप्त रस तथा कमलों में प्राप्त ज्योति माया के विषय-जगत की ही वस्तुएँ हैं ।

अलंकार—(1) विभावना—च्यत . . . होई ।

(ii) विरोरामाय—अजपा जाप ।

विशेष—'अजपा जाप' में तात्पर्य है 'अनहद नाद' । देखें टिप्पणी पद सं० १५७ ।

(२१०)

गोब्यन्दे तुम्हारै वन कन्दलि, मेरो मन अहेरा खेलै ॥
 वपु बाड़ी अनगु मृग, रचिही रचि मैलै ॥टेक॥
 चित्त तरउवा पवन खेदा, सहज मूल बांधा ।
 ध्वान धनक जोग करम, ग्यान बांन सांधा ॥
 षट चक्र कंवल बेधा, जारि उजारा कीन्हां ।
 काम क्रोध लोभ मोह, हाकि स्यावज दीन्हां ॥
 गगन मण्डल रोकि बारा, तहाँ दिवस न राती ।
 कहै कबीर छांडि चले, बिछुरे सब साथी ॥

शब्दार्थ—कदलि = कदली, केला । अहेरा = शिकार । वपु = शरीर ।
 बाड़ी = बाटिका । अनग = मृग । तरउवा = साथ लगे रहने वाला, पदाति । खेदा
 = खदेडने वाला, श्वापदों को आखेट-स्थल की ओर भगाकर ले जाने वाला ।
 मूल = मूलाधार चक्र । ध्वान = ध्यान । धनक = धनुष । स्यावज = सावज, शिकार ।

सन्दर्भ—कबीर शिकार के साथ रूपक बाँधते हुए कायायोग की साधना
 का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—हे गोविन्द ! तुम्हारे इस कदली वन में अर्थात् जगत् में मेरा
 साधक मन रूपी शिकारी शिकार खेल रहा है । इस शरीर रूपी बाटिका में काम-
 देव रूपी पशु पर यह साधक मन ताक-ताक कर बाण चलाता है । इस शिकार में
 चित्त रूपी तरउवा पवन रूपी खेदा की सहायता से पशुओं को खदेड कर एक स्थान
 पर बाँध देता है । भावार्थ यह है कि चित्त की चेतना ही वह पदाति है जो इस वन
 से भली भाँति परिचित है । वह इस साधक मत का मार्ग-दर्शन करता है ।
 प्राणायाम की पवन ने इन विकाररूपी पशुओं को खदेड कर एव एक स्थान पर
 एकत्र करके उन्हें सहज स्वरूप की जड से बाँध दिया है । इस शिकार के लिए
 साधक ने ध्यान रूपी धनुष लेकर योग-रूपी कर्म से ग्यान रूपी बाण का सधान
 किया है अर्थात् लक्ष्य-भेद (विकार-शून्य सहज अवस्था की प्राप्ति) के प्रति उसको
 साधा है । इस साधक शिकारी ने कुण्डली जगा कर षटकमल चक्रों का भेदन कर
 लिया है और ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करके प्रकाश कर दिया है । काम क्रोध
 लोभ मोह रूपी जानवरों का हाँका कर दिया गया है अर्थात् उनका शिकार कर
 दिया गया है । गगनमण्डल को रोककर शिकार का यह बाड़ा बनाया गया है ।
 वहाँ न दिन है, न रात है । समाधिस्थ होने पर साधक को दिनरात का ज्ञान
 नहीं रहता है । दूसरी ओर शिकार करते समय दिनरात का विचार नहीं रह
 जाता है । कबीर कहते हैं कि साधक मन अब अद्वैतावस्था को प्राप्त हो गया है
 और उसके समस्त विकार रूपी साथी छूट गए हैं । इस पद का अर्थ अन्य प्रकार
 भी किया जा सकता है । इस शिकार में अर्थात् उस सहज अवस्था की प्राप्ति में
 अन्य साधनाओं तथा कर्मों में रत अन्य साधक विच्छुड गए हैं अर्थात् वे उस अवस्था

नहीं पहुँच पाते हैं। केवल ज्ञानी साधक ही सहजावस्था को प्राप्त होना है।

अलंकार—(i) साग रूपक—सम्पूर्ण पद।

(ii) पुनरुक्ति प्रकाश—रुचि-रुचि।

(iii) पदमैत्री—ग्यान वान।

विशेष—(i) द्वितीय पक्ति का पाठान्तर इस प्रकार है—रचिहीं रचि मेलै।
का अर्थ होता है कि जिगमे इसे तूने भली भाँति रचकर भेज दिया है।

(ii) पटचक्र—देखे टिप्पणी पद सख्या ४, ७

(iii) गगन मण्डल—देखे टिप्पणी पद सख्या १६४

(iv) महज रूप—देखे टिप्पणी पद सख्या ५, १५५

(v) पवन खेदा—देखे टिप्पणी पद सख्या ८

(vi) तुलना करें—कूटस्थ चित्त ही कवीर का साधक मन है—

रघुवर कहेउ लखन भल छाटू।

करहु कतहुँ अब ठाहर ठाटू।

लखन दीख पय उतर करारा।

चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा।

नदी पनच सर सम दम नाना।

सकल फलुष कलि साउज नाना।

चित्रकूट जनु अचल अहेरी।

चुकइ न घात मार मुठ भेरी।

(रामचरितमानस, गोस्वामी तुलसीदास)

दृष्टव्य—योग साधना के अन्तर्गत प्रायः अष्टचक्रों का उल्लेख प्राप्त होता है। कवीर प्रायः पटचक्रों का ही वर्णन करते हैं। इन्होंने सून्यचक्र एवं सुरति चक्रों को छोड़ दिया है। कवीर के द्वारा संकेतित पटचक्र निम्नस्थ प्रकार हैं—

(i) मूलाधार—इसका स्थिति-स्थान योनि माना गया है। इसमें चार होने हैं। यह रक्त वर्ण का होता है। इसका लोक भू है। इसका ध्यान करने का प्रकार की ध्वनि होती है, वह क्रमशः वँ, शँ, पँ, मँ की होती है। उससे शक्ति होने पर मनुष्य बका, भवविद्या विनोदी, आरोग्य, मनुष्यो में श्रेष्ठ, अज्ञान तथा ज्ञान-प्रवध में समर्थ हो जाता है।

(ii) व्याधिष्ठान चक्र—इसका स्थिति-स्थान पेट माना गया है। इसमें चार होने हैं। यह विद्वत् वर्ण का होता है। इसका लोक भुव है। इसका ध्यान करने की विशेष प्रकार की ध्वनि कट्टन होती है, वह क्रमशः भ, य, रँ, लँ, वँ की होती है। इसके निम्न लाभ में अज्ञान विकार का नाश, योगियों में श्रेष्ठ, रहित और मनुष्य की रचना में समर्थ विशेषगुण मनुष्य में उत्पन्न हो जाते हैं।

(iii) मणिपूर चक्र—इसका स्थिति-स्थान नाभि कहा गया है। इसमें

दस दल होते हैं। यह नील वर्ण का होता है। इसका लोक 'स्व' है। इसका ध्यान करने से क्रमशः ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, की ध्वनियाँ भ्रुकृत होती हैं। इसके सिद्ध लाभ होने से मनुष्य सहार पालन में समर्थ तथा वचन-रचना में हो जाता है, और उसकी जिह्वा पर सरस्वती निवास करती है।

(iv) अनाहत चक्र—इसका स्थिति-स्थान हृदय में होता है। इसमें दस दल होते हैं। यह अरुण वर्ण का होता है। इसका लोक 'मह' है। इसका ध्यान करने से एक प्रकार का अनहद नाद भ्रुकृत होता है। वह क्रमशः क, ख, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ का होता है। इसके सिद्ध लाभ होने से वचन रचना में समर्थ, ईशित्व सिद्धि प्राप्त योगेश्वर, ज्ञानवान, इन्द्रियजित्, शक्ति सम्पन्न हो जाता है।

(v) विशुद्ध चक्र—यह चक्र कण्ठ-स्थान में स्थित होता है। इसके १६ दल होते हैं। यह धूम्र वर्ण का होता है। इसका लोक 'जन' है। इसका ध्यान करने से क्रमशः अ से लेकर अ तक सोलह स्वरों की अनहद ध्वनि भ्रुकृत होती है। इसके ध्यान सिद्ध होने पर मनुष्य काव्य-रचना में समर्थ, ज्ञानवान्, उत्तम वक्ता, चित्त, त्रिलोकदर्शी, सर्वहितकारी, नीरोग, चिरजीवी और तेजस्वी होता है।

(vi) आज्ञा चक्र—इसका स्थिति-स्थान दोनों भ्रुवों के मध्य में होता है। इसमें दस दल होते हैं। यह श्वेत वर्ण का होता है। इसका लोक तप है। इसका ध्यान करने से ह, श का अनहद नाद क्रमशः ध्वनित होता है। इसके सिद्ध लाभ से योगी वाक्य सिद्धि प्राप्त होती है।

(२११)

साधन कचू हरि न उतारै,

अनभै ह्वै तौ अर्थ बिचारै ॥टेक॥

बांणी सुरंग सोधि करि आणौ, आणौ नौ रग धागा ।

चन्द सूर एकन्तरि कीया, सोवत बहु दिन लागा ॥

पत्र पदार्थ छोड़ि समानां, हीरै मोती जड़िया ।

कोटि बरस लूँ कचू सीया, सुर नर धधै पड़िया ॥

निस बासुर जे सोवै नांही, ता नरि काल न खाई ।

कहै कबीर गुर परसादे, सहजे रह्या समाई ॥

शब्दार्थ—कचू=कचुकी । अनभै=अभय, भय रहित ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि साधना और गुरु की कृपा के द्वारा स्वरूप की प्राप्ति होती है ।

भावार्थ—भगवान से यही प्रार्थना है कि वह साधन-धाम शरीर रूपी को आत्मा से विलग न करे । जो जन्म-मरण के भय से मुक्त है, वही मेरे ड के वास्तविक अर्थ को समझ सकता है, (क्योंकि प्रभु की प्राप्ति अनेक साधना के फलस्वरूप प्राप्त होती है तथा साधना के लिए 'साधन धाम')

द्वारा' मानव शरीर नितान्त आवश्यक है। जन्म-मरण वस्त्र-परिवर्तन मात्र है)। इस शरीर रूपी कंचुकी के वस्त्र को बनाने के लिए खोज कर बहुत सुन्दर करघा तथा नौ रंग के धागे लाए गए हैं। अर्थात् इस शरीर को साधना के योग्य बनाने के लिए गुरु के सुन्दर उपदेश रूपी धागे द्वारा नव-द्वारों को आपूरित किया गया है। चन्द्र और सूर्य नाडियों को एक स्थान पर सुपुम्ना के साथ मिलाया गया है। इस प्रकार से साधन योग्य यह शरीर तैयार करने में बहुत समय लगा है। पाँचों इन्द्रियों के विषयो (रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गन्ध) का त्याग करके साधना रूपी वस्त्र को ज्ञान और भक्ति के हीरे-मोतियों से युक्त किया गया है। जिन दिनों अनेक देवता और अन्य मनुष्य सासारिक विषयो में फसे हुए थे, उन दिनों करोड़ों वर्षों तक साधना करके इस साधना योग्य शरीर को तैयार किया गया है। जो व्यक्ति रात-दिन सजगता पूर्वक साधना करके इस शरीर के द्वारा साधना करता है, उसको काल नहीं खाता है अर्थात् वह अमर हो जाता है। कबीर कहते हैं कि गुरु की कृपा के फलस्वरूप वही व्यक्ति सहज-स्वरूप को प्राप्त होता है।

अलंकार—(1) साग रूपक—सम्पूर्ण पद में।

(II) रूपकातिशयोक्ति—साधन, नौ रंग, हीरे मोती।

(III) छेकानुप्रास—सहजै, समाई।

विशेष—(1) 'कंचुकी' से ईश्वर के प्रति पतिभाव की व्यंजना है। साधक निष्ठापूर्वक पतिरूपी परमेश्वर की आराधना करे। अन्तःकरण को भक्ति-भावना और ईश्वर-प्रेम के उपयुक्त बना लेना ही इस शरीर रूपी कंचुकी को तैयार करना है।

(II) कोटि वरम " सीया—तुलना कीजिए—

कोटि जन्म मृति जतन कराहीं। अत राम कहि आवत नाहीं।

(गोस्वामी तुलसीदास)

घरना जन्म नामन्ते ज्ञान वाग्म प्रपद्यते।

वानुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ।

(श्रीमद्भगवद्गीता ७/१६)

(III) निरा वामुर सोवै नाही—तुलना कीजिए—

वा निशा सर्वभूताना तस्वाम् जागति संयमी।

यन्वाम जाग्रति भूतानि ता निशा पश्यतो मुने।

(श्रीमद्भगवद्गीता २/६६)

(२१०)

जीवत जिनि मारै न्वा मनि न्यारै,

मास चिहंणा घरि मत आवै हो कंता ॥टेक॥

नर दिन पुर दिन चच दिन, नग चिहंणा मोई।

सो न्यावत जिनि मारै कता, जारै गगत मास न होई ॥

पैली पार के पारधी, ताकी धुनही पिनच नही रे ।
ता बेलि को हूंक्यौ मृग लौ, ता मृग कंसी सनहीं रे ॥
मारचा मृग जीवता राख्या, यहु गुर ग्यांन मही रे ।
कहै कबीर स्वामी तुम्हारे मिलन कौं, बेली है पर पात नहीं रे ॥

शब्दार्थ—जिनि=मत । मुवा=मृत, मरा हुआ । विहूणा=रहित । मास=गोसास, इन्द्रियो द्वारा प्राप्त होने वाला भक्ति एव ज्ञान का रस । स्यावज=शिकार । रगत=रक्त । पैली पार के=श्रेष्ठ । पारधी=शिकारी । धुनही=धनुही, धनुष । पिनच=प्रत्यचा । बेली=बेल । पान पत्ते । विक्षेप=सकल्प-विकल्प ।

सदभं—जीवात्मा अपने ही साधक-रूप को पति मानकर कह रही है ।

भाषार्थ—हे मेरे प्रियतम, मन रूपी मृग को जीवित मत मारो और मरे हुए मृग को भी घर मत लाओ । अभिप्रेत यह है कि मन का दमन उचित नहीं है । दमित मन निर्जीव हो जाता है । उसका भी कोई उपयोग नहीं है । भावुक मन ही जीवन का लक्षण है । यदि मन निर्जीव होजाएगा, तब फिर ईश्वर के प्रति प्रेम करने का साधन ही क्या रह जाएगा ? यदि शरीरस्थ मनोवेग समाप्त हो जाएँगे ? तब फिर ईश्वर के प्रति ललक कहाँ रह जाएगी ? परन्तु तुम मास रहित भी घर मत आना अर्थात् तुम मन का उन्नयन करना, जिससे वह निर्जीव तो हो नहीं और उसी के द्वारा तुमको भक्ति और ज्ञान रूपी महारस की प्राप्ति हो जाए । जब तक भक्ति और ज्ञान के महारस द्वारा समस्त इन्द्रियाँ आप्लावित न हो जाएँ, तब तक तुम अपनी साधना में लगे रहना मेरे बारे में चिन्तन तक न करना, क्योंकि जब तक रास्ता पूरा न होजाए, तब तक घर पहुँचना कैसा ?

इस तुच्छ साधना से कुचले हुए मन-रूपी मृग के न हृदय है, न खुर है, न मुख है और न शरीर है । हे पति, उस जन्तु का शिकार मत कर जिसमें न रक्त है, और न मांस ही है । तुम अत्यन्त श्रेष्ठ शिकारी हो तुम्हारे धनुष में प्रत्यचा ही नहीं है । अर्थात् तुम कृच्छ्र साधनाओं के बिना ही इस मन-रूपी मृग को अपने वश में कर लेने की सामर्थ्य रखते हो । इस वशीभूत मन-रूपी मृग ने सासारिक माया-रूपी बेल के वासना-रूप पत्तों को नष्ट कर दिया है । इस साधक-मन रूपी मृग के अब सिर नहीं है अर्थात् अहकार एव विषयो को ग्रहण करने की इसकी सामर्थ्य समाप्त होगई है ।

गुरु के ज्ञान की यही महिमा है कि साधक ने इस मन-रूपी मृग को मार भी लिया है और जीवित भी रखा है, अर्थात् इसकी विषय-भोग की आकांक्षा एव उनमें लिप्त होने की भावना नष्ट होगई है, पर यह भगवद् भक्ति के अनुरूप विषयो को ग्रहण करता है । कबीरदास कहते हैं कि हे स्वामी ! अब आपसे मिलने

के समय मेरे पास स्वानुभूति रूपी बेल मात्र है, उसके विक्षेप रूपी पत्ते नष्ट हो चुके हैं।

अलंकार—(1) साग रूपक—सम्पूर्ण पद।

(ii) विरोधाभास—जीवन कता, मार्या.....राख्या,
बेलि पात नही।

(iii) विभावना की व्यजना—उर बिन.....सोई, मृग कै सीस
नही रे, धुनही पिनच नही रे।

(iv) अनुप्रास—तृतीय पक्ति, व की आवृत्ति।

विशेष—(1) वैराग्य की कुछ साधनाओ मे मन को कुचल कर विषयो से असम्पृक्त करना न उचित है और न सम्भव ही है। कबीरदास ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि भावनाओ का उन्नयन करके विषयो को भक्तिमय बना देना ही काम्य है।

(ii) उर बिन... विहूना—मन का हृदय उसकी सरसता है, 'खुर' आदि से व्यजित आकार भी संकल्प-विकल्प एव वासना रूप ही हैं। वे सब इस कृच्छ्र साधना से छिप गए हैं। ऐसे पशु का शिकार ही क्या करना, क्योंकि विषयो से वचित की गई इन्द्रियाँ मृतवत् प्रतीत होती हैं।

(iii) रगत न मारा—उस साधना मे तल्लीन मत होओ जिसमे केवल ज्ञान-वैराग्य की शुष्कता है और प्रेम भक्ति के रस का अभाव है। इन पक्तियो मे कबीर का भावुक भक्त उभर आया है।

(iv) ता बेल को ली—विक्षेपरहित माया पर साधक मन का अधिकार होगया है—उसको वह देव भर रहा है।

(v) तुम्हरे मिलन .. पात नही रे—अब मेरी मनस्थिति विक्षेपरहित है। पत्ते रहने पर वृक्ष को परिवेष्टित करने मे कुछ व्यवधान रहता है, परन्तु पत्तो के अभाव मे बेल पूरी तरह से वृक्ष से लिपट सकती है। अतएव विक्षेपरहित जीवात्मा अपने माध्य प्रियतम से पूर्णतया आवृद्ध (एकाकार) होने की स्थिति को प्राप्त होगई है। मायारहित जीव अपने पति परमेश्वर मे पूर्णत तदाकार होने को प्रसन्न है।

(vi) ता पत्तियो मे सूफियो के गहरयवार की व्यजना है। भक्तजन भी आवरणरहित होकर ही प्रभु-मिलन को काम्य मानते हैं। ब्रज की गोपियो ने भी कृष्ण को नभी प्राप्त किया था, जब उन्होंने पूर्ण नरनावस्था को मह्यं स्वीकार कर लिया था। शोष्यो के ग्हायं पूर्ण तभी आए थे जब उमने अपनी धोती की गाँठ का पगल छोड़कर शोनी ताप उने करने मुगनी को पुकारा था। अहंकाररहित साधक मन ही इस प्रकार मनोवैज्ञानिक है।

(vii) उर बिन... सोई... मृग कै सीस नही रे... धुनही पिनच नही रे।
(viii) ता बेल को ली—विक्षेपरहित माया पर साधक मन का अधिकार होगया है—उसको वह देव भर रहा है।

(viii) भाव साम्य के लिए देखे—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन ।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।

(श्रीमद्भगवद्गीता २/५६)

(२१३)

धीरौ मेरे मनवां तोहि धरि टांगों,

तै तौ कियौ मेरे खसम सूं षांगों ॥ टेक ॥

प्रम की जेवरिया तेरे गलि बांधूं, तहां लै जांउं, तहां मेरौ माधौ ॥

काया नगरी पैसि किया मै बासा, हरि रस छाड़ि विषै रसि माता ॥

कहै कबीर तन मन का ओरा, भाव भगति हरि सूं गठजोरा ॥

शब्दार्थ—खागों=खोट, बुराई । जेवरिया=रस्सी । माता=मत्त, लिप्त ।

गठ-जोरा = ग्रथि-बधन, विवाह ।

संदर्भ—साधक कबीर ज्ञान की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं ।

भ वार्थ—कबीर कहते हैं कि रे मेरे विषयी मन, तू जरा धैर्य धारण कर अथवा तू जरा ठहर जा । मैं तुझको अभी पकड कर टांगता हूँ अर्थात् दण्डित करता हूँ । 'धरि टांगौ' का अर्थ 'उलटा टांगना' भी हो सकता है । तब इसका अर्थ इस प्रकार होगा कि मैं तुम्हें विषयाभिमुख न रहने देकर आत्माभिमुख करता हूँ । तुमने मेरे पति भगवान के साथ खोटाई (बुराई) की है ।

मैं तेरे गले में भगवद्प्रेम की रस्सी डालूँगा और बांधकर तुम्हें वहाँ ले जाऊँगा जहाँ मेरे माधव हैं ।

मन उत्तर देता है कि मैंने इस कायारूपी नगरी में प्रविष्ट होकर भक्ति रस को छोड़ दिया था, और मैं विषय-रस में लिप्त होकर अपने आपको भूल गया था । पर अब मैंने तन-मन भगवान को अर्पित कर दिए हैं और मेरी भाव भक्ति का गठबन्धन भगवान से होगया है ।

अलंकार—(1) छेकानुप्रास—धीरौ धरि, भाव भगति, मेरो माधौ ।

(ii) रूपक—प्रेम की जेवरिया, काया नगरी हरिरस ।

(iii) पदमैत्री—तन मन ।

विशेष—(1) मन का मानवीकरण ।

(ii) खसम—सत सम्प्रदाय का प्रतीक है । दाम्पत्य भाव के आवरण में भक्ति-भावना की व्यजना है । यह सूफियों का प्रभाव है ।

(iii) भाव साम्य देखे—

अवलों नसानी, अव न नसैहों ।

राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागें पुनि न डसैहों ।

×

×

×

परवस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहों ।

मन मधुकर मन कै तुलसी रघुपति-पद-कमल वसैहौं ।

—गोस्वामी तुलसीदास

(२१४)

पारब्रह्म देख्या हो तत बाड़ी फूली, फल लागा बडहूली ।
सदा सदाफल दाख विजौरा कौतिकहारी भूली ॥ टेक ॥
द्वादस कूँवा एक बनमाली, उलटा नीर चलावै ।
सहजि सुषमनां कूल भरावै, दह दिसि बाड़ी पावै ॥
ल्यौकी तेज पवन का ढीकू, मन मटका ज बनाया ।
सत की पाटि सुरति का चाठा, सहजि नीर मुकलाया ॥
त्रिकुटी चढची पाव ढौ ढारै, अरध उरध की क्यारी ।
चंद सूर दोऊ पाणति करिहै, गुर मुषि बीज बिचारी ॥
भरी छावड़ी मन वैकुठा, साईं सूर हिया रगा ।
कहै कबीर सुनहु रे सतौ, हरि हम एकै सगा ॥

शब्दार्थ— बडहूली = बडहूल, बडे-बडे । सदाफल = हमेशा फलने वाला ।
दाख = अगूर । द्वादस कूँवा = बारह कुएँ, यहाँ १२ पखुडी वाले अनाहत चक्र से
तात्पर्य है । कूल = किनारा । ली = ध्यान । तेज = रस्सी । पवन = प्राणायाम ।
ढीकू = ढीकुली । पाट = पाटी । चाठा = कुए का किनारा । मुकलाया = मुक्त किया,
बहाया । पाव ढौ ढारै = पानी बहाकर क्यारियो को भलीभाँति भरना । अरध =
नीचे । उरध = ऊपर । पाणति = पानी को फैलाना । मुषि = मुख । छावड़ी =
उलिया । वैकुठा = वैकुठ को प्राप्त, अत्यधिक उल्लसित । सूर = शूर । हिया रगा =
हृदय प्रेम में रग गया ।

संदर्भ—पूर्व पद के समान ।

भावार्थ—परब्रह्म के दर्शन से अन्त करण रूपी बगिया आनन्दित होगई है और
उसमें विभिन्न सिद्धियों के बडे-बडे फल लग गए हैं अर्थात् वह पुरुषार्थ चतुष्टय रूपी
बडे फलों में युक्त होगई है । अथवा यो कहिए कि उसमें मोक्ष-रूपी बडहूल का फल
लग गया है ।

उसमें गन्ध नकल्प आदि के प्रतीक सदाफल अगूर, विजोरे जैसे फल हमेशा
रे लिए लग गए हैं । जीवात्मा इन विभिन्न ऐश्वर्यों एवं सिद्धियों के फलों को देख
कर आश्चर्यचकित है । इन १२ बारह कुएँ हैं और केवल नाथक मन रूपी केवल एक
नामी है । अथवा यह कहिए कि हृदयस्थ अनाहत चक्र के द्वादश दल ही बारह कुएँ
हैं । नाथक मन इनमें आनन्द रूपा अन्न पीच कर उलटा बहाना है । इसमें जल
ऊपर से गिरता है नीचे से नहीं । इस नाथना में चेतना का प्रवाह आनन्द की
मोक्ष में परिपूर्ण न रह कर अन्नर्मुगी एवं आत्ममुषी होजाता है । यही उलटा
नीर बहाना है ।

इस अर्थात् में मधुकर का मन मटका ज बनाया गया है । जगैर

की वाडी इस जल से दशो दिशाओ मे सर्वत्र अभिपिक्त हो जाती है । अर्थात् समस्त इन्द्रियाँ इस आनन्द के जल से आप्लावित होजाती हैं ।

ध्यान की रस्सी, प्राणायाम की ढीकुली, मन का घडा, सतोगुण की पटिया, तथा सुरति रूपी कूप का किनारा—जल निकालने के इन साधनो से साधक रूमी बनमाली ने सहज आनन्द का बहुत सा जल बहा दिया है । त्रिकुटि मे अवस्थित यह साधक अपने पैर से पुर दुरकाकर नाडियो अथवा इन्द्रियो रूपी नीची-ऊँची सब क्यारियो को पानी देता है । चन्द्र और सूर्य नाडियाँ इस पानी को विभिन्न नालियो के द्वारा चारो ओर फैलायेगी, तथा सत् गुरु के मुख से निकले हुए विचार-पूर्ण शब्द अर्थात् ज्ञानोपदेश ज्ञान और भक्ति के बीज रूप हैं अर्थात् ईश्वर के प्रति जाग्रत अनुराग से जनित सरसता मे गुरु के मुख से निकले हुए उपदेश ही बीजो के रूप मे विकीर्ण होकर भक्ति एव तत्त्वज्ञान के रूप मे पल्लवित होंगे । मन की डलिया अब आत्मबोध भक्ति आदि के फलों से भर गई है, और हृदय इस प्रकार उल्लसित है मानो उसे स्वर्ग मिल गया हो । मन शूरवीर परमात्मा के प्रेम मे रग गया है । कबीरदास कहते हैं कि हे सतो ! सुनो । अब मैं और हमारे प्रभु परमात्मा एक साथ ही रहने लगे है ।

भलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति—फल, कौतिक हारी, छाबडी ।

(II) सभग पद यमक—सदा सदाफल ।

(III) चपलातिशयोक्ति—देखा . . . फूली ।

(IV) छेकानुप्रास—सहजि सुषुम्ना, दह दिसि, साई सूर,
हरि हम ।

(V) रूपक—लौ . . . चाठा, बीज बिचारा ।

(VI) वृत्यानुप्रास—सुनहु सतौ सगा ।

विशेष—(1) हरि हम एकै सगा—सालोक्य मुक्ति की व्यजना है । वैसे व्यग्र्य भाव यही है कि कबीर और भगवान का तादात्म्य होगया है । अन्यत्र भी लिखा है कि—

तव हम वैसे, अब हम ऐसे, इहै जनम का लाहा ।

ज्यूं जल में जल पैसि न निकसै, यूं हरि मिल्या जुलाहा ।

तथा— बालम आओ हमारे गेह रे ।

×

×

×

एकमेक ह्वै सेज न सोवै, तव लगि कैसा नेह रे ।

नित्य दर्शन की आकाक्षा करने वाले भक्तजन सालोक्य मुक्ति की ही कामना करते आए हैं ।

(II) नाथ सम्प्रदाय के प्रतीको का प्रयोग है ।

(III) कायायोग की सम्पूर्ण सिद्धियाँ प्रेम एव तत्व दर्शन से प्राप्त हो जाती है । कबीर का भक्त रूप स्पष्ट ही व्यजित है ।

(२१५)

रांम नांम रंग लागौ, कुरंग न होई ।

हरि रंग सौ रंग और न कोई ॥ टक ॥

और सबै रंग इहि रंग थै छूटै, हरि रंग लागे कदे न खूटै ॥

कहै कबीर मेरे रंग रांम राई, और पतंग रंग उड़ि जाई ।

शब्दार्थ—कुरंग=फीका, भद्दा । कदे=कभी । खूटै=छूटता है । पतंग =

पतंगी, कच्चा ।

सन्दर्भ—कबीरदास राम-प्रेम की महिमा का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—राम नाम के प्रति प्रेम हो जाने पर अन्य किसी के प्रति आसक्ति उत्पन्न नहीं होती है । राम प्रेम एक ऐसा रंग है जो कभी हल्का नहीं होता है । भगवान के प्रेम के समान अन्य किसी का प्रेम नहीं है । हरि-प्रेम हो जाने पर अन्य समस्त वस्तुओं के प्रति आकर्षण समाप्त हो जाता है । हरि प्रेम का रंग एक बार लगने पर कभी भी कहीं छूटता है । कबीर कहते हैं कि भगवान राम का प्रेम रूपी रंग मेरे ऊपर चढ़ गया है । अन्य समस्त रंग तो अस्थायी है । वे सब उड़ जाते हैं । अभिप्रेत यह है कि राम के प्रति प्रेम स्थायी रहता है । इसी से कबीरदास ने राम से प्रेम कर लिया है ।

अलंकार—(i) नभग पद यमक—रंग कुरंग ।

(ii) अनन्वय - हरि रंग सौ कोई ।

(iii) अनुप्रास—अन्तिम दो चरण ।

(iv) विशोक्ति की व्यञ्जना—कदे न खूटै ।

(v) रूपक—हरि रंग ।

(२१६)

कबीरा प्रेम कूल ढरे, हंमारे राम बिना न सरे ।

वांघिले घोरा सींचि ले वयारी ज्यू तू पेड़ भरै ॥ टक ॥

काया बाड़ी मांहे माली, टहल करै दिन राती ।

कवहू न सोवै काज सवारे, पाणतिहारी माती ॥

सेभू कूवा स्वांति अति सीतल, कवहू कुवा वनहीं रे ।

भाग हमारे हरि रखवाले, कोई उजाड़ नहीं रे ॥

गुर दीज जमाया कि रखि न पाया, मन की आपदा खोई ।

औरै स्यावढ करै पारिसा, सिला करै सब कोई ॥

जो धरि आया तो सब ल्याया, सबही काज सवारचा ।

कहै कबीर सुनहु रे मत्तो, यकित भया मे हारचा ॥

शब्दार्थ—कूल=दिनाग । सरे=काम न जाता है । घोरा=धुरा, गिनतार
जो ज्यू वनहीं रे मत्तो पति माती । टहल=सेवा । पाणतिहारी=पानी को उपर-ठगर
मोड़ कर उदारिणी से पानी देना जाता है । माली=पुस्तक । दि रमि न पाया=मिर्गि

निपाया । कुवाव=बुरी हवा, कुवायु । स्यावढ=सावढ, रवामी, साधक से तात्पर्य । खारिसा=खालिस, एकाधिकार । सिला=सिलोच्छ । फसल कटने के बाद खेत में पड़े हुए दाने, इच्छवृत्ति । औरै=निराला । स्वाति=शाति । सभै=सहज ।

सन्दर्भ—कबीरदास भगवद्प्रेम का वणन करते हैं ।

भावार्थ—कबीर के राम-प्रेम के किनारे ढल गए हैं । अब राम के बिना उनका काम नहीं चलता है । रे जीव, तू प्रेम-जल को प्रवाहित करने योग्य नाली बना ले अथवा अपने मन-मानस को प्रेम जल के प्रवाह-योग्य माध्यम बना ले और अपनी जीवन रूपी क्यारी में इस प्रेम-जल को भर ले जिससे तेरा मन रूपी वृक्ष किसी प्रकार रसमिक्त हो जाए । यह शरीर ही वाटिका है और साधक जीव ही माली है जो इस प्रेम-वाटिका की रखवाली करता है । यह माली दिन रात वाटिका की सेवा करता है । यह रखवाला कभी नहीं सोता है । और अपने काम को सब तरह से ठीक रखता है अथवा अपने काम के प्रति सदैव सजग रहना है और उसकी कभी उपेक्षा नहीं करता है, जबकि जल की नालियों को इधर-उधर मोड़कर क्यारियों में पानी देने वाली उसकी इन्द्रियाँ अत्यन्त मस्त हैं । और वे इस प्रेम-जल का सम्यक् उपयोग नहीं करती हैं । वे अपने रग में मस्त हैं और प्रेम-जल का बहुत बड़ा भाग व्यर्थ ही नष्ट होता रहता है । इस खेती की सिंचाई के लिए सहज-स्वरूप का अत्यन्त शीतल और मधुर जल वाला कुआ है । वहाँ पर कभी भी कुवायु नहीं चलती है अर्थात् वहाँ लू आँधी आदि का भय नहीं है—सदैव शान्ति का साम्राज्य रहता है । (सहज आनन्द स्वरूप का नित्य लक्षण ही यह है) ।

इस प्रेम की बाड़ी के रखवाले स्वयं भगवान हैं । यही हमारा परम सौभाग्य है । इसी से कोई भी इस बाड़ी को नष्ट नहीं कर पाता है ।

गुरु ने इस बाड़ी में प्रेम का बीज बोया है । साधक मन ने उस खेती को निष्पादित किया अथवा उससे उत्पन्न खेती के फलों को प्राप्त किया है और मन के समस्त सशय आदि नष्ट हो गए हैं । खेती पर पूर्ण अधिकार करने वाला साधक निराला ही होता है—वह कुछ भिन्न प्रकार का ही होता है । सामान्य साधक तो खेत में पड़े हुए अनाज के दानों को ही—सामान्य सिद्धियों को ही—प्राप्त करके सतुष्ट हो जाते हैं । जो सम्पूर्ण फसल को एकत्र करके लाता है, सब काम ठीक करता है और उसी का घर आना सार्थक है । अभिप्रेत यह है कि जो पूरी तरह से भगवान में लवलीन हो जाता है, वही सहज स्वरूप को प्राप्त होता है और उसी की साधना सफल मानी जाती है । कबीर कहते हैं कि हे सतो ! सुनो, मैं तो प्रेम-साधना का उपदेश देते-देते थक कर हार गया हूँ—मैं प्रेम का उपदेश देते-देते थक गया हूँ । ससार के लोगों पर कुछ भी असर नहीं हुआ है । अतः मैं हार मान कर बैठ गया हूँ ।

अलंकार—(1) साग रूपक—प्रथम चार पक्तियाँ ।

(11) रूपकातिशयोक्ति—माली, पेड़, बीज ।

(iii) भेदकातिशयोक्ति—औरै स्यावढ ।

विशेष—(i) प्रतीको का प्रयोग है ।

(ii) स्यावढ एव 'मिला' शब्दो के द्वारा जैन एव हिन्दू धर्मविलम्बी साधको के प्रति सकेत है ।

(iii) 'घर आना' मुहावरा है । तात्पर्य है स्व-स्वरूप-स्थिति ।

(iv) हरि से तात्पर्य आत्माराम है ।

(v) भाग हमारेखोई— भाव साम्य देखिए—

जतन विनु मिरगनि खेत उजारे ।

× × ×

बुधि मेरी किरधी, गुरु मेरो विभुका, अक्खर दोइ रखवारे ।

फहै कबीर अव जान न देहौं, वरियाँ भलो संभारे ।

(कबीरदास)

(२१७)

राजा राम विनां तकती घो घो ।

राम विनां नर क्यूं छूटीगे, जम करे नग घो घो घो ॥ टक ॥

मुद्रा पहरचां जोग न होई, घूँघट काढचां सती न कोई ।

माया के संगि हिलि मिलि आया, फोकट साटे जनम गवाया ॥

कहै कबीर जिनि पद हरि चीन्हें मलन प्यड थै निरमल कीन्हें ॥

शब्दार्थ—नाटे = सट्टा । फोकट = व्यर्थ । प्यड = शरीर । नग = श्रेष्ठ व्यक्ति ।

संदर्भ—कबीर का कहना है कि राम नाम के विना जीवन व्यर्थ है ।

भावार्थ—राम की कृपा के विना मनुष्य का शरीर "धौं-धौं" करके जलता है और दुनियां देखनी रहती है अथवा कोई भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता है । राम की कृपा के विना मनुष्य किसी तरह भी मृत्यु के फदे से नहीं बच सकता है । यमराज बटे-बटो को घो-घो कर (असहाय बनाकर) जला देता है । केवल मुद्रा धारण करने मात्र से योग की साधना नहीं होती है । घूँघट निकाल लेने मात्र से कोई स्त्री सती नहीं कहलाती है । जीव भगवान में ध्यान न लगाकर माया के माघ हिम-मिन जाता है, और इन प्रकार मर्त्य के व्यापार की भाँति अपने जन्म को व्यर्थ ही नष्ट कर देता है । कबीरदास कहते हैं कि जिन्हें भगवान के स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है, अथवा जिन्होंने हरि के चरणों में ध्यान लगा लिया है, उन्हीं का जन्म नार्थक है, उन्हींसे इन पाप-मलिन शरीर को पुण्य-स्थान बना लिया है ।

अन्वय—(i) पुनर्जन्मप्रणालि—घो घो ।

(ii) यशोनि—जम क्यूं छूटीगे ।

(iii) यशोनि—जिनि मिलि ।

विशेष—मुद्रा ... कोई—साधनाकार का विशेष है । कबीर बार-बार मर्त्य

कहते हैं कि बाहरी वेप धारण करने से नहीं अपितु सच्ची भावना से व्यक्ति भक्त अथवा साधक बनता है । ठीक ही है—

जप माला छापै तिलक सरै न एको काम ।

मन काचे नाचे वृथा साँची राची राम । (बिहारी)

(२१८)

हैं कोई राम नाम बतावै,

वस्तु अगोचर मोहि लखावै ॥ टेक ॥

राम नाम सब कोई बखानै, राम नाम का मरम न जानै ॥

ऊपर की मोहि बात न भावै, देखै गावै तो सुख पावै ।

कहै कबीर कछु कहत न आवै, परचै बिनां मरम को पावै ।

शब्दार्थ—अगोचर = इन्द्रियो के लिए अगम्य । लखावै = दिखावै । ऊपर की बात = कही सुनी अथवा पढी-पढाई । परचै = परिचय ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि आत्मानुभूति के बिना राम का रहस्य समझ मे नहीं आता है ।

भावार्थ—क्या कोई ऐसा सन्त है जो मुझे राम नाम के रहस्य को समझाकर उस अगम्य एव अगोचर परम तत्व का साक्षात्कार करा दे ? वैसे राम-नाम की चर्चा तो सभी लोग करते हैं परन्तु राम नाम के वास्तविक रहस्य को कोई नहीं जानता है । सुनी-सुनाई अथवा पढी-पढाई बातों की चर्चा मुझको अच्छी नहीं लगती है । यदि कोई व्यक्ति भगवान के स्वरूप का साक्षात्कार करके इसका वर्णन करता है तो उसकी बात सुनकर मुझको आनन्द की प्राप्ति होती है अथवा आत्मानुभव करने वाले की बात सुनना ही मुझको रुचिकर प्रतीत होता है । कबीर कहते हैं कि उस परम तत्व (भगवान) के विषय मे कुछ कहते नहीं बनता है अर्थात् वह शब्दातीत है । साक्षात्कार के बिना उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान किसी को प्राप्त नहीं होता है ।

अलंकार—(i) वक्रोक्ति—प्रथम एव अन्तिम पक्ति ।

(ii) विरोधाभास—वस्तु लखावै ।

(iii) विशेषोक्ति की व्यजना—राम नाम जानै ।

(iv) पदमैत्री—भावै पावै, आवै पावै ।

(v) अनुप्रास—कहै कबीर कछु कहत ।

विशेष - (1) कबीर सच्ची अनुभूति प्राप्त करने के लिए सदैव उत्सुक रहा करते थे । बाह्याचार उन्हें किसी भी दशा मे रुचिकर नहीं था । बाह्याडम्बर को वह प्राय डोग ही मानते थे ।

(ii) राम का स्वरूप वर्णनातीत एव अगम्य है । उसका मर्म कोई नहीं जानता है । यह ता गू गे का गुड है । इसकी अगम्यता का वर्णन दार्शनिक एव भक्तजन समान रूप से करते आए हैं । देखें—

जगु पेवन तुम देखन हारे । विधि हरि सभु नचावन वारे ।
सोउ न जानहि मर्म तुम्हारा । और तुम्हहि को जाननिहारा ।

—गोस्वामी तुलसीदास

(२१६)

गोव्यंदे तूं निरंजन तूं निरंजन तूं निरंजन राया ।

तेरे रूप नहीं रेख नाही मुद्रा नहीं माया ॥ टेक ॥

समद नाही सिषर नाही, धरती नाही गगनां ।

रवि ससि दोउ एकै नांही, बहत नांही पधनां ॥

नाद नाही व्यंद नाही, काल नांही काया ।

जब तें जल व्यव न होते, तब तू ही राम राया ॥

जप नांही तप नांही, जोग ध्यान नहीं पूजा ।

सिव नांही सक्ती नांही, देव नही दूजा ॥

रुग न जुग न स्यांस अथरवन, वेद नहीं ध्याकरनां ।

तेरी गति तूंही जानै, कबीर तो सरनां ॥

शब्दार्थ—निरंजन=निलिप्त । मुद्रा=भावसूचक मुखचेष्टा । समद=समुद्र । सिषर=शिखर, पर्वत या पर्वत की चोटी । व्यद=विदु, शरीर ।

सन्दर्भ—कबीर भगवान को शब्दातीत अथवा वर्णनातीत बताते हैं ।

भावार्थ—हे परमात्मा ! तू सब प्रकार माया से अतीत एव निलिप्त तथा अनक्षय है । न तुम्हारा कोई आकार है और न तुम्हारे आकार की कोई रूप-रेखा ही है । तुम्हें प्राप्त करने के लिए कोई शारीरिक चेष्टा एव मन की मुद्रा ही निर्धारित की जा सकती है । तुम्हें माया भी नहीं व्यापती है । न तुम्हारे शुद्ध स्वरूप में समुद्र है, न शिखर (पर्वत) है, न पृथ्वी है और न आकाश ही है । उसमें सूर्य तथा चन्द्र में एक भी नहीं है, न वहाँ पवन की गति है, न वहाँ शब्द है, न रूप है, न काल है, न काया है । तुम्हारे शुद्ध स्वरूप में न जल रह जाता है और न उसमें पड़ने वाला प्रतिबिम्ब रह जाता है । उस समय न जप रहता है न तप रहता है, न योग रहता है न ध्यान और उपासना का ही अस्तित्व रह जाता है । उस समय न शिव रह जाते हैं और न शक्ति रह जाती है । उस समय तेरे अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा देवता रह ही नहीं जाता है । उस समय ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा ऋषि या प्रतिपाद्य व्याकरण कुछ भी नहीं रह जाते हैं । कबीरदास कहते हैं कि हे प्रभु ! अपनी सीमा तू ही जानना है । मैं तो केवल तेरी शरण में आया हूँ ।

धर्मकार—अनुमान—आद्यन्त ।

टिप्पणी—(i) अद्वैतवाद का महत्त्व-व्यापारिक प्रतिपादन है । अद्वैतत्वस्था में ज्ञान, ज्ञेय एवं ज्ञान का भेद मिट ही जाता है ।

(ii) 'तू निरंजन' का अर्थ—मन-बचन-कर्म तीनों में स्वयंमत्ता बताई है ।

(iii) 'आद्यन्त' का अर्थ—'नैति नैति' का अर्थ पर 'अद्वैत' का प्रतिपादन है ।

(iv) नही माया—माया के द्वारा लिप्त होते ही देश-काल की सीमाएँ आ जाती हैं । इसी से कबीर कहते हैं कि तुझे माया व्यापती नहीं है और तू रूप-रेख आदि के परे बना रहता है ।

(v) जल में ... होते—शुद्ध चैतन्यावस्था में मूल प्रकृति और उसमें चैतन्य के प्रतिबिम्ब स्वरूप जगत दोनों का अभाव रहता है । प्रतिबिम्ब का हेतु उपाधि है । अतः अभाव के अभाव में उम समय प्रतिबिम्ब नहीं होता है ।

(vi) तेरी गति सरना—तुलना कीजिए—

सोइ जाने जेहि देउ जनाई । जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई ।

तुम्हरिह कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन । जानत भगत भगत उर चन्दन ।

—गोस्वामी तुलसीदास

(vii) इस पद के नीचे लिखी गई यह टिप्पणी सर्वथा सार्थक है—‘स्वगत सजातीय एव विजातीय इन तीनों प्रकार के भेदों से रहित अद्वैत-तत्त्व का ज्ञान और भक्ति के मिश्रण वाली शैली में प्रतिपादन है । ‘सदेव सोम्य अग्रे आसीत्’ से तुलना कीजिए । कबीर इसमें ‘सत्’ भी नहीं कहना चाहते । यह भी निर्वचन हो जाएगा । परमतत्त्व ‘नाद’ और बिन्दु से भी परे है । इसी सर्वातीत तत्त्व का प्रतिपादन है ।

(२२०)

राम कै नांइ नीसांन बागा, ताका मरम न जाने धोई ।

भूख त्रिषा गुण बाकै नांहीं, घट घट अंतरि सोई ॥ टेक ॥

वेद बिबजित भेद बिबजित, बिबजित पाप रु पुंन्यं ।

ग्यांन बिबजित ध्यान बिबजित, बिबजित अस्थूल सुन्य ॥

भेष बिबजित भोख बिबजित, बिबजित डच भक रूप ।

कहै कबीर तिहू लोक बिबजित, ऐसा तत्त अनूपं ॥

शब्दार्थ—नाइ=नाम । नीसान=निशान, नगाडा । बागा=बजता है ।

त्रिषा=प्यास । बिबजित=परे । डिभ=दम्भ ।

सन्दर्भ—कबीर दास परमतत्त्व की अपरिमेयता एव निलिप्तता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—रामनाम का जो नगाडा बजता है, उसका वास्तविक रहस्य कोई नहीं समझता है, अर्थात् रामनाम के सर्वत्र व्याप्त सगीत को कोई नहीं समझ रहा है । वह घट-घट में व्याप्त है, उसको भूख प्यास आदि भौतिक आवश्यकताएँ नहीं सताती हैं । वह वेदों से परे है, वह समस्त भेदों (लौकिक सीमाओं) से परे है, वह पाप-पुण्य (लौकिक नियमों) से परे है, वह ज्ञान से परे है (सामान्य लौकिक ज्ञान (अपरा ज्ञान) के द्वारा उसको नहीं जाना जा सकता है), वह स्थूल और शून्य (लौकिक विज्ञान, जो पदार्थ को स्थूल और सूक्ष्म की सीमाओं में बाधता है) से परे है, न उसका कोई रूप है और न उसको इस लोक में किसी से प्राप्त ही किया जा सकता है (वह आत्मानुभूति का विषय है) । वह समस्त बाह्याचारों के परे है, अर्थात् किसी

भी प्रकृत के बाह्याचार द्वारा उसके रूप का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है। कबीरदास कहते हैं कि फिर वह तीनों लोको से परे है। वह परम तत्त्व ऐसा अनोखा है।

अलंकार—(1) मवधातिशयोक्ति—मरम न जानै कोई ।

(II) पुनरुक्तिप्रकाश—घट-घट ।

(III) पदमैत्री—विवर्जित की पुनरावृत्ति ।

(२२१)

राम राम राम राम रहिये,

सापित सेतो भूलि न कहिये ॥ टेक ॥

का सुनहां कौं सुमृत सुनाये, का सापित प हरि गुन गांये ।

का कऊवा कौं कपूर खवांये, का विसहर कौं दूध पिनांये ॥

सापित सुनहां दोऊ भाई, बो नीदै वौ भौंकत जाई ।

अमृत ले ले नीव स्यंचाई, कहै कबीर वाकी वांनि न जाई ॥

शब्दार्थ—सापित = शाक्त । सेती = से । सुनहा = श्वान, कुत्ता । सुमृति = धर्मशास्त्र । विसहर = सर्प । नीव = नीम । स्यंचाई = सींचा जाए । वांनि = स्वाभाविक गुण ।

सन्दर्भ—कबीर राम शाक्तों के प्रति अपना विरोध प्रकट करते हैं ।

भावार्थ—राम में मन वचन, कर्म से (सब प्रकार) रामे रहो परन्तु भूलकर भी राम नाम की चर्चा शाक्त से नत करो । वह इसका पात्र नहीं है, उससे राम नाम की चर्चा नवंधा व्यर्थ है । जैसे कुत्ते को धर्मशास्त्र सुनाने से क्या लाभ है, वैसे ही शाक्त में नमस्त्र हरिगुण-गान का क्या उपयोग हो सकता है ? कौए को कपूर गिनाने से तथा सर्प को दूध पिनाने से क्या लाभ है ? शाक्त और कुत्ता दोनों भाई हैं । शाक्त नदीव भगवान के भक्तों की निन्दा करता है और कुत्ता सदैव दूसरों पर भौंकता रहता है । कबीर कहते हैं कि नीम के वृक्ष को चाहे अमृत से सींचा जाए, परन्तु वह अपनी स्वाभाविक कड़वाहट नहीं छोड़ता है ।

अलंकार—(I) पुनरुक्तिप्रकाश—राम राम राम ले-लो ।

(II) अनुप्रास—राम राम राम, सुनहा, सुमृत सापित ।

(III) श्रम—सापित सुनहा " नीदै भौंकत ।

(IV) उदाहरण—का सापित " गांये ।

(V) दृष्टान्त—का कऊवा " पिनांये ।

(VI) यत्नोक्ति—राम सुनहा " पिनांये ।

(VII) विरोधोक्ति—अमृत ले ले " न जाई ।

प्रयोग—(I) अमृत ले ले " न जाई—अमृत पान में नीम प्रचलित द्रव्य को पीने से स्वाभाविक कड़वाहट नहीं छोड़ता है ।

नदीव नदीव भगवान के भक्तों की निन्दा करता है और कुत्ता सदैव दूसरों पर भौंकता रहता है ।

(11) इस पद का समभाव देखिए—

छाडि मन हरि-विमुखन को सग ।

जिनके सग कुबुधि उपजत है, परत भजन मे भग ।

कहा होत पय पान कराये, विष नाहि तजत भुजंग ।

कागहि कहा कपूर चुगाये, स्वान न्हावाये गंग ।

खर को कहा अरगजा-लेपन, मरकट भूषन अंग ।

गज को कहा न्हावाये सरिता, बहुरि घरै खेहि छंग ।

पाहन पतित वान नाहि वेधत, रीतौ करत निषग ।

'सूरदास' खल कारी कामरि, चढत न दूजौ रग । — सूरदास

(२२२)

अब न बसूँ इहि गाँइ गुसाई ,

तेरे नेवगी खरे सयाँने हो राम ॥ टेक ॥

नगर एक तहां जीव धरम हता, बसै जु पंच किसानां ।

नैनूँ निकट श्रवनूँ रसनूँ, इंद्रो कह्या न मानै हो राम ॥

गाँइ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै ।

जोरि जेवरी खेति पसारै, सब मिलि मोकों मारै हो राम ॥

खोटौ महतौ बिकट बलाही, सिर कसदम का पारै ।

बुरौ दिवाँन दादि नाहि लागै, इक बांधै इक मारै हो राम ॥

धरमराइ जब लेखा मांग्या, बाकी निकसी भारी ।

पांच किसानां भाजि गये हैं, जीव धर बांध्यौ पारी हो राम ॥

कहै कबीर सुनहु रे संतौ, हरि मजि बांधौ भेरा ।

अबकी बेर बकसि बदे कौं, सब खत करौ नबेरा ॥

शब्दार्थ—गाँइ=गाँव शरीर अथवा ससार से तात्पर्य है । नेवगी=नेगी,

हिसाब लेने वाले कर्मचारी । जीवधरम हता=जीवात्मा जिसका धर्म नष्ट हो गया

है अथवा जीवो के धर्म नष्ट हो गए हैं । नैनूँ=नेत्र । स्वामी=काल । निकट=

नाक । रसनूँ=जीभ । इंद्रो=इन्द्रिय, त्वचा से तात्पर्य है । गाँइ कु ठाकुर=गाँव

का ठाकुर, 'मन' से तात्पर्य है । खेत=शरीर । नेपै=नाप रहा है । काइथ=

कायस्थ, पटवारी । बकसि=रहम, दया करो अथवा क्षमा कर दो । जोरि जेवरी=

जर्जर बधन । लेखा=हिसाब । पांच किसाना = पांच ज्ञानेन्द्रियाँ । खत=बकाया

हिसाब । नबेरा=चुकता ।

संदर्भ—कबीरदास ससारजन्य कष्टों की ओर सकेत करते हुए अपने राम से निवेदन करते हैं कि वह अब इस ससार (अथवा जन्म-मरण के चक्र) से छुटकारा चाहते हैं ।

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि हे राम ! मैं अब इस शरीर रूपी गाँव में नहीं रहूँगा, क्योंकि आपके नेग लेने वाले (उगाही करने वाले) कर्मचारी अत्यधिक

चतुर हैं—इसने प्रत्येक कर्म का पूरा हिमाव देना पडता है यानी यज्ञों कारण-कार्य का नियम ऐसे निर्वाच रूप में कार्य करता है कि प्रत्येक कर्म का उपयुक्त फल मिलता है । यह एक ऐसा नगर है जहाँ रहने वाले प्रत्येक जीवात्मा का धर्म भ्रष्ट होगया है और यहाँ पाँच किसान (नेत्र, कान, नाक, मुँह तथा त्वचा) रहते हैं, जो जीव रूपी स्वामी का कहना नहीं मानते हैं । इस गाँव का ठाकुर काल समय-समय पर इस शरीर रूपी खेत को नापता रहता है और मन रूपी पटवारी अपना हिस्सा नहीं छोड़ता है । भाव यह है कि काल तो प्रत्येक क्षण सिर पर सवार रह कर यह देखना है कि शरीर कहीं खराब तो नहीं हो गया है और मन रूपी पटवारी मुझसे शरीर का व्योम माँगता रहता है । वस्तुस्थिति यह है कि यह शरीर प्रत्येक क्षण क्षीण होता रहता है और इस कारण काल ठाकुर का भय मुझे हर घड़ी सताता रहता है । साथ ही पटवारी के डर के कारण मैं मनचाहे ढंग पर शरीर का उपभोग भी नहीं कर सकता हूँ । मेरे मन ने मेरे इस शरीर को विषय-वासनाओं के जर्जर बंधनों से बुरी तरह जकड़ दिया है जिसके कारण मेरे शरीर को अत्यधिक कष्ट होता रहता है । इस गाँव का उधार देने वाला मेहता अर्थात् प्रारब्ध कर्म अत्यन्त दुष्ट है और क्रियमाण कर्मरूपी बलाही (कर्मचारी) भी बड़ा दुष्ट है । वह मुझे विषय मार्गों में उलझाता रहता है । वह तो अच्छे-अच्छे जमीदारों के सिर के बाल भी नोच लेता है—उत्तम प्रेम एवं सद्बृत्तियों की निधि छीन कर उन्हें दरिद्र कर देता है । इस नगर का वृद्धि-रूप दीवान भी व्यथाओं के प्रति सहानुभूति रखता हुआ न्याय नहीं कर पाता है । पिछले जन्मों का अनुभव यह है कि शरीरात् होने के अवनर पर धर्मराज ने जब मुझसे इस शरीर का पूरा हिमाव-किताव मागा तो मेरी ओर बहुत बकाया निकला था । उस समय मेरे शरीर रूपी खेत को नष्ट करने वाले इन्द्रिय रूपी पाँचों किसान मुझे छोड़ कर भाग गए और हे राम ! बेचारा जीवान्मा ही सब प्रकार के बंधनों से बाँध दिया गया । इसीलिए कवीरदास कहते हैं कि हे माधुओ ! मेरा कहना गाँठ बाँधलो और भगवान (हरि) का भजन करके इस भयमागर में पार उतरने के लिए बेटा बाँधो । इसके पश्चात् वह भगवान से प्रार्थना करने हुए कहते हैं कि हे राम ! इस वार तो इस जीव (मुझको) क्षमा कर लीजिए । अगले जन्म में मैं आपका पूरा हिमाव चुकता कर दूँगा—अपने शरीर को विषय-लोगों से बचाकर अधिक अच्छा करके रखूँगा ।

अनंतर - (i) सागरपक—पूरा पद ।

(ii) सपत्तिनयोनित—गाँव ।

टिप्पणी—(i) गन्त सम्प्रदाय के अनेक प्रतीकों का प्रयोग है ।

(ii) कर्मात्मक न ज्ञानेन्द्रियों के नाम इस प्रकार लिए हैं मानो उनके प्रति आयोग प्रयोग कर रहे हों ।

(iii) शरीर में रहने से शरीर क्षीण हो जाता है । इसी को काल द्वारा मन का नापना कहा गया है । अन्त में रहने की भीति शरीर नापना एक नया मुतावना

गठ लिया है । गर्दन नापने का अर्थ होता है—प्राण लेने की तैयारी । 'शरीर नापना' भी इसी अर्थ में प्रयुक्त किया गया है । भाव यह है कि शरीर क्षीण होते देखकर काल उसको नष्ट करने की योजना बनाता रहता है अर्थात् ज्यो-ज्यो शरीर क्षीण होता जाता है । त्यो-त्यो अन्त काल निकट आता जाता है ।

(iv) विषय के बन्धन जर्जर होने के कारण यद्यपि सहज ही तोड़े जा सकते हैं तथापि वे शरीर के लिए बहुत कष्टकारी होते हैं और जीवात्मा उनमें फँसा रहता है । यही विरोधाभास है ।

(v) शरीरान्त होने पर स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है । अतएव समस्त इन्द्रियाँ नष्ट हो चुकी होती हैं । कर्म का हिसाब जीवात्मा को देना पड़ता है । काम-मनस को अपने कर्मफल को पूरा करना पड़ता है । पिछले कृत्यों के परिणाम सामने आने पर काम-मनस को अपार कष्ट होता है, क्योंकि उसकी इच्छाशक्ति बनी रहती है । काम-मनस की यह विवशता ही प्रेतयोनि, नरक-निवास आदि नामों से अभिहित की जाती है ।

(vi) समभाव के लिए सूरदास का यह पद देखें—

अवकी माधव मोहि उधारो ।

मगन हौं भव अम्बुनिधि में कृपासिधु मुरारी ।

नीर अति गम्भीर माया लोभ लहरि तरंग ।

लिए जात अगाध जल में गहे ग्राह अनंत ।

मीन इन्द्रिय अतिहि काटत कोट अघ सिर भार ।

पग न इत-तन धरन पावत उरभि मोह सेवार ।

काम क्रोध समेत तृष्णा पवन अति भकभोर ।

नहिं चितवन देत तिय सुत नाम नौका ओर ।

थक्यो बीच बेहाल विह्वल उनहु करना मूल ।

स्याम भुज गहि काढि डारहु 'सूर' ब्रज के कूल ।

अन्य भक्तों ने भी इस जन्म की दारुण व्यथा का वर्णन करते हुए प्रभु से उद्धार करने की कामना प्रकट की है ।

(२२३)

ता भै थै मन लागौ रांम तोही,

करौ कृपा जिनि बिसरौ मोही ॥ टक ॥

जननीं जठर सह्या दुख भारी, सो सक्या नहीं गई हमारी ।

दिन दिन तन छोड़ै जरा जनावै, केस गहें काल बिरदग बजावै ॥

कहै कबीर करुणांमय आगै, तुम्हारी क्रिया बिना यहु बिपति न भागै ।

शब्दार्थ—भै = भय । जठर = उदर, पेट । छोड़ै = नष्ट हो जाता है । जरा = वृद्धावस्था । बिरदग = मृदग ।

सन्दर्भ—कबीर भगवान से उद्धार की प्रार्थना करते हैं ।

भावार्थ—हे प्रभु राम ! संसार अथवा जन्म-मरण के भय के कारण यह मेरा मन तुम्हारे प्रति अनुरक्त हो रहा है । माता के गर्भ में रहने पर मैंने बहुत दुःख सहना था । उस कष्ट का समापन मुझे अभी तक है और उसका भय मेरे हृदय में समा गया है । दिन प्रतिदिन यह शरीर क्षीण हो रहा है और मुझे वृद्धावस्था के आगमन का ज्ञान कराता है । काल मेरे बाल पकड़कर मृदंग बजा रहा है अर्थात् मृत्यु मेरे मिर पर सवार है और मेरे अन्तःकरण को निकट आता देखकर आनन्द मना रही है । कबीर कहते हैं कि अब मैं करुणामय भगवान की शरण में हूँ । हे भगवान ! तुम्हारी कृपा के बिना इस संसार का दुःख दूर नहीं हो सकता है ।

अलंकार—पुनरुक्तिप्रकाश - दिन दिन ।

विशेष—कबीर इस पद में एक सच्चे भक्त के रूप में दिखाई देते हैं । दैन्य भक्तों का बड़ा बल है । वे सदा से प्रभु की कृपा पर अवलम्बित रहते आए हैं ।

यथा—

(I) तुलसिदास रघुनाथ-विमुख नाह मिटै विपति कबहूँ ।

(II) तुलसिदास बस होइ तबहि जब प्रेरक प्रभु वरजै ।

तथा— अब हौं नाच्यो बहुत गोपाल ।

× × ×

सूरदास की सबेँ अविद्या, पूरि करौ नन्दलाल ।

—सूरदास

(२२४)

कब देखूँ मेरे राम सनेही,

जा बिन दुख पावै मेरी देही ॥ टेक ॥

हूँ तेरा पथ निहारुं स्वांसी, कब रमि लहुगे अंतरजांमीं ।

जैसे जल बिन मीन तलपै, ऐसे हरि बिन मेरा जियरा कलपै ॥

नित दिन हरि बिन नौद न आवै, दरस पिघासी राम क्यूँ सचुपावै ।

फहै कबीर अब बिलव न फीजै, अपनौ जांनि मोहि दरसन दीजै ॥

शब्दार्थ—रमि=रमण करके । लहुगे=अपनाओगे । कलपै=व्यथित होता है । गनु=चैन, सुख-प्राप्ति ।

संदर्भ—कबीरदास भगवान के साक्षात्कार के प्रति अपनी आतुरता व्यक्त करने के ।

भाषार्थ— मैं अपने प्रिय राम का कब दर्शन करूँगा ? उनके बिना मेरा यह भौतिक शरीर (मृदुल शरीर या शरीर एवं मन का समुच्चय) अत्यन्त कष्ट का अनुभव कर रहा है । हे रामजी, मैं तुम्हारी याद देख रहा हूँ । हे अन्तर्यामी, आप मेरे हृदय में समा करके मुझको अपनाते ही कृपा का प्रदर्शन करें ? जैसे जल के अभाव में मीन मरता है वैसे ही राम के दर्शन के बिना मेरा मन व्यथित हो रहा है । राम के दर्शन के बिना ही दिन नौद नगै आती है । राम के दर्शनों के अभाव में मैं दुःख में ही जी रहा हूँ । कबीर की विरहिणी जीयात्मा

कहती है कि हे प्रभु ! अब देर मत कीजिए । मुझको अपना समझकर अब शीघ्र ही दर्शन दीजिए ।

अलंकार—(1) उदाहरण—जैसेँ ****कल्पे ।

(11) गूढोक्ति—क्यूँ सचुपावै ।

विशेष—पत्नी के रूप में ईश्वर प्रेम का वर्णन है । जीवात्मा दाम्पत्य विरह का अनुभव करती है । यह रहस्यवादी भक्ति की व्यजना है ।

तुलना कीजिए—

कब की बैठी जोवती, वाट तिहारी राम ।

जिय तरसै तुव मिलन कूँ, मन नाहीं विश्राम ।

—कबीर

अबहूँ मया दिस्टि करि, नाह न्ठुर ! घर आउ ।

मन्दिर उजार होत है नव कै आइ बसाउ ।

—जायसी

पिया बिनु नागिन कारी रात ।

×

×

×

मन्त्र न फुरै जन्त्र नहिं लागे आपु सिरानो जात ।

सूर स्याम बिनु बिकल बिरहिनी मुरि मुरि करवट खात ।

—सूरदास

घडी एक नहिं आवडै, तुम दरसन बिनु मोइ ।

तुम हो मेरे प्राण जी, कासूँ जीवण होइ ।

×

×

×

धान न भावै नीद न आवै, विरह सतावै मोइ ।

घायल सी घूमत फिरूँ, दरद न जाणै कोइ ।

×

×

×

पथ निहारूँ, डगर बुहारूँ, ऊभी मरग जोइ ।

मीराँ के प्रभु कबरे मिलोगे, तुम मिलियाँ सुख होइ ।

—मीराँबाई

(२२५)

सो मेरा राम कबे घरि आवै,

ता देखें मेरा जिय सुख पावै ॥ टेक ॥

बिरह अग्नि तन दिया जराई, बिन दरसन क्यूँ होइ सराई ।

निस बासुर मन रहै उदासा, जैसे चातिग नीर पियासा ॥

कहै कबीर अति आतुरताई, हमकोँ बेगि मिलौ राम राई ॥

शब्दार्थ—सराई=शीतल ।

सदर्भ—पूव छन्द (२२४) के समान ।

भावार्थ—विरहविकला जीवात्मा कहती है कि 'हे मेरे पति राम, मेरे घर कब आओगे ? जिससे आपके दर्शन करके मेरा हृदय सुख प्राप्त करे । विरह रूपी अग्नि ने मेरे शरीर को जला दिया है । आपके दर्शन रूपी जल के बिना वह किस प्रकार शीतलता (शांति) का अनुभव कर सकता है ? जिम प्रकार चातक स्वाति

नक्षत्र के जल के लिए प्यासा रह कर व्याकुल रहता है उसी प्रकार आपके अभाव में मेरा हृदय रात-दिन बेचैन बना रहता है। कबीरदास की जीवात्मा कहती है कि राम से मिलने के लिए मुझे अत्यधिक विकलता है। हे स्वामी राम ! आप शीघ्र ही मुझ में मिले।

- अलंकार— (i) रूपक— विरह-अग्नि ।
 (ii) वक्रोक्ति—क्यू होइ सहाई ।
 (iii) उदाहरण—निस वासुर पियासा ।
 (iv) पदमैत्री—जराई सराई, उदासा पियासा ।

विशेष—(i) पद सख्या २२४ के समान ।

(ii) समभाव के लिए देखे—

बलि सांवरी सूरत मोहनी मूरत, आंखिन को कबौं आइ दिखाइए ।

चातक सी मरं प्यासी परी, इन्हें पानिप रूप सुधा कबौं प्याइए ।

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

(iii) सगुण और साकार तथा अवतारी एवं शरीरधारी भगवान की भक्ति के वर्णन की भाँति निर्गुण और निराकार की भक्ति की व्यंजना की गई है।

(२२६)

मैं सासने पीव गौंहनि आई ।

साई सगि साध नहीं पूगी, गयी जोवन सुपिना की नाई ॥ टेक ॥

पंच जनां मिलि मडप छापी, तीनि जनां मिलि लगन लिखाई ।

सखी सहेली मगल गांवै, सुख दुख माथै हलद चढाई ॥

नानां रंगे भांवरि फेरी, गांठि जोरि बाबै पति ताई ।

पूरि सुहाग भयी विन दूलह, चौक के रंगि धर्यौ सगौ भाई ॥

अपने पुरिष मुख कवहूँ न देख्यौ, स-नी होत समझी समझाई ।

कहै कबीर हूँ सर रचि मरिहूँ, तिरौं कत ले तूर बजाई ॥

शब्दार्थ— गौंहनि= गीने। पंच जना= पांच महाभूत तीनि जना= तीन गुण (मा, रज, तम)। सखी सहेली= वामना व आशा। हलदी= सुख-दुख अथवा सांसारिक जीवन। बाबै= मंचित कर्म नवी बाबा। सर= चिता। सगा भाई= मन।

संदर्भ— कबीर कहते हैं कि जीवात्मा किस प्रकार स्थूल शरीर को धारण करती है और जन्म में विपन्न रहने में बाद वह जीवन की निरर्थकता का अनुभव करती है।

भावार्थ— अपने प्रियतम के प्रणय का आनंद लेने के लिए मैं (जीवात्मा) इस जन्म में भी जन्मग्रह में गीने आई हूँ। परन्तु पति के साथ आनंद लेने की मेरी आवश्यकता पूर्ण नहीं है और यह जीवन भी जीवन की ही स्वप्न की भाँति व्यतीत होगी।

सांसारिक पति के विना के शरीर का निर्माण करने हुए कबीर कहते हैं

कि पाचो तत्वो (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) ने इस विवाह मण्डल की रचना की थी और तीनो गुणो ने मिलकर इसकी लगन लिखी अर्थात् गुणो की अभिव्यक्ति के साथ ही द्वैत भाव उत्पन्न होगया और मेरा प्रियतम का सम्बन्ध अव्यक्त से व्यक्त होगया । वासना और आशा रूपी सखियो ने मंगल गान किया— मेरे ससारी बनने पर वासना और आशा को अपनी अभिव्यक्ति का अवसर प्राप्त होगया— इससे वे आनन्दित हो उठी । उन्होने ही सुख-दुःख रूपी हल्दो जीवात्मा के शरीर पर चढा दी और उसको ससार मे प्रवृत्त होने के लिए सब तरह तैय्यार कर दिया । अनेक प्रकार के राग-रग ही इस विवाह के भाँवर हैं । सचित-कर्म रूपी बाबा ने ईश्वर-रूप पति की प्राप्ति के लिए गठ बधन कर दिया अर्थात् यह जन्म दिया । परन्तु पति के वास्तविक सहवास के बिना ही जीवन-रूप सम्पूर्ण सुहाग व्यतीत होगया । चौक पर बैठते ही अर्थात् विवाह के होते ही मैने काम रूपी सगे भाई को पति रूप मे वरण कर लिया । अज्ञानी जीवात्मा ने ईश्वर-रूप अपने पति के वास्तविक दर्शन कभी नहीं किए । पर सच्ची भक्ति न होने पर भी अन्य साधनाओ मे फँसी हुई जीवात्मा अपने आपको सती मानने का दम्भ करती रही । जीवात्मा कहती है कि अब मुझे बोध होगया है । कि अब मैं चिता रचकर मरूँगी और पति को साथ लेकर तुरही बजाती हुई भवसागर के पार होजाऊँगी ।

अलंकार—(1) उपमा— सुपने की नाई ।

(II) रूपक— सुख-दुख हलदि ।

(III) साग रूपक—पच जना—नाई ।

विशेष—(1) सासरे पीव, पच जना इत्यादि प्रतीको का सफल प्रयोग है ।

(II) सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण का मिश्रण ही जीवन-सृष्टि है । यही लगन लिखना है ।

(III) जीवन मे व्यष्टि जीव बारम्बार अपने शुद्ध स्वरूप मे प्रतिष्ठित होता रहता है । उस समय उसे आनन्द की अनुभूति होती है । दो वृत्तियो की सधियो मे जीव अपने शुद्ध स्वरूप मे प्रतिष्ठित होने से आनन्द का अनुभव करता है । जीव और ईश्वर का यह मिलन ही विवाह है और यही जीवन है । जीवन मे यह आनन्द इन्द्रियो के माध्यम से प्राप्न होता है । यही मण्डप-निर्भाव है ।

(IV) ससार मे आते ही जं व माया द्वारा आवृत्त होकर ब्रह्म से विलग हो जाता है । यही जीवात्मा का विधवा हो जाना है ।

(V) जीव-भाव के साथ ही माया के कारण जीवात्मा मोह और अज्ञान मे फस जाती है । इसी से वह जीवात्मा का भाई है ।

(VI) इस पद मे ज्ञान और प्रेम की अग्नि मे अपने अज्ञान को भस्म करना ही चिता रचकर मरना है तथा ईश्वर के साथ प्रणय एव तन्मयता के अनुभव को तुरी बजाकर कत के साथ तिरना कहा गया है । सती होने के कारण ही वह स्वय

अपने हाथो ही चिता बनाने तथा तुरी वजाकर मोक्षधाम को जाने की बात कहती है।

(vii) पूरि—दूलह-जीव को संज्ञा होना और जीव का ब्रह्म से विमुख या विलग हो जाना दोनों ही कार्य एक साथ होते हैं। शुद्ध चैतन्य माया से सपृक्त होते ही 'जीव' कहलाता है। माया का आवरण पड़ते ही जीव का शुद्ध बुद्ध आनन्द स्वरूप तिरोहिन हो जाता है। इसी से कहते हैं कि जीवात्मा चौक पर बैठते ही विधवा हो जाती है। इस रूपक में कवीर की दार्शनिक-दृष्टि की तीक्ष्णता सचमुच स्पृहणीय है।

(२२७)

धीरे धीरे खाइवौ अनत न जाइवौ,

राम राम राम रमि रहिवौ ॥ टेक ॥

पहली खाई आई माई, पीछे खँहूँ सगौ जवाई ।

खाया देवर खाया जेठ, सब खाया सुसर का पेट ॥

खाया सब पटण का लोग, कहै कवीर तब पाया जोग ।

शब्दार्थ—खाइवौ=नष्ट करना। अनत=अन्यत्र, और कही। माई=माता, माया से तात्पर्य है। जवाई=जीव से तात्पर्य है। पटण=नगर।

संदर्भ—कवीर का कहना है कि माया तथा माया से उत्पन्न विकारों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् ही योगावस्था प्राप्त हो सकती है।

भाष्य—कवीर कहते हैं कि धीरे-धीरे करके माया तथा सासारिक सम्बन्धों को समाप्त करना है। इसके लिए केवल राम-नाम का स्मरण करते हुए उस परम तत्व राम में ही रमण करना है। अन्य किसी साधना को अपनाने की आवश्यकता नहीं है। मैं इसी कल्याण मार्ग को अपनाऊँगा पहले माया-रूपी माता तथा घाय को खाया। फिर माया ने उत्पन्न विषय-वामना रूपी पुत्री के पति जीव रूपी जमाई को समाप्त किया। नायक जीव ने अहंकार रूपी जेठ तथा चंचल रूपी देवर को भी खा लिया। इनके पश्चात् अज्ञान-रूपी श्वशुर के पेट में उत्पन्न समस्त परिवार (मोह, मोह, मोह, नाम इत्यादि) को खाया। इसके बाद मैंने इस शरीर रूपी नगर में माया में उत्पन्न जो अनेक विकार रूपी नगरवासी रहते थे, मैंने उन सबको खाया। कवीर कहते हैं कि इनके विकारों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् ही मुझे योग दाना ही प्राप्ति हुई है।

असंवार—(i) पुनर्गति प्रकाश - धीरे धीरे। राम राम राम ।

(ii) पदमैत्री—माईको माइवौ, माई माई, माई, जवाई ।

(iii) उपशान्तिनियोगि—खाई माई जवाई देवर जेठ श्वशुर ।

विशेष—शब्दायोग—योग में योगसाधना तथा उन्मत्त-प्राप्ति दोनों ही अर्थ समानित हैं।

(iv) प्रतीकों के प्रयोग राम मुन्मत्त रूपक बाधा है।

(v) खाने वाली डाकिनी जीवात्मा है । यह मायाजन्य समस्त परिवार को समाप्त करती है । विभिन्न सम्बन्धियों को खाने के बाद योग की प्राप्ति होती है । इसका आशय यह है कि ससार के जितने भी सम्बन्ध हैं जब तक उन्हें समाप्त करके एक मात्र स्वामी (हरि) में चित्त को लगा कर उनका स्मरण नहीं किया जाता है, तब तक उनसे संयोग नहीं होता है ।

(vi) इस पद में यह भी ध्वनित है कि सासारिक सम्बन्धों से विमुख होकर ही भगवान की प्राप्ति हो सकती है । ठीक ही है । दो घोड़ों की सवारी असम्भव है । उस दुनियाँ में जाने के लिए इस दुनियाँ को छोड़ना ही पड़ेगा ।

(vii) तीन बार 'राम' शब्द कहने का अभिप्राय यह है कि मनसा, वाचा कर्मणा 'राम' के प्रति प्रकृति एवं अनुरक्ति होनी चाहिए ।

(२२८)

मन मेरौ रहटा रसनां पुरइया,

हरि कौ नांउ लै लै काति बहुरिया । टेक ॥

चारि खूँटी दोइ चमरख लाई, सहजि रहटवा दियो चलाई ।

सासु कहै काति बहूँ ऐसै, बिन कातै निसतरिबौ कंसै ॥

कहै कबीर सूत मल काता, रहटां नहीं परम पद दाता ।

शब्दार्थ—रहटा=चरखा । रसना=जीभ । पुरइया=सूत पूरने वाली तकुली । चार खूँटी=अन्तःकरण । चतुष्टय—मन, बुद्धि, चित्त अहकार । चमरख=चर्म के टुकड़े जिनमें से होकर तकुआ घूमता है । यहाँ तात्पर्य है प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्ग ।

संदर्भ—कबीर अपनी आत्मा को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि वह । तू प्रभु का नाम ले लेकर प्रभु-प्रभु का सूत कात ।

भावार्थ—मेरा मन ही चरखा है और जीभ ही सूत पूरने वाली तकुली है । हे आत्मा रूपी बहूँ तू राम का नाम लेती हुई इस चरखे के द्वारा भक्तिमय जीवन के सूत कात । मन, बुद्धि, चित्त एवं अहकार ही इस चरखे की चार खूँटियाँ हैं तथा प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्ग वे चमड़े के टुकड़े हैं जिनमें होकर यह चरखा घूमता है । इस चरखे को सहज समाधि के मार्ग पर चलादो । भाव यह है कि साधक जीभ से राम का नाम ले, अन्तःकरण चतुष्टय को प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्ग के मध्य समन्वित करदे और सहज समाधि प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो जाए ।

गुरु रूप सास साधक जीव रूप बहूँ को चेतावनी दे रही है कि इस चरखे रूपी मन से भक्ति रूपी सूत कात अन्यथा जीवन का निस्तार नहीं है अर्थात् विना ऐसा किए हुए जीवन सफल नहीं होगा । कबीरदास कहते हैं कि यदि इस जीवन रूपी चरखे से भक्ति रूप सूत भली प्रकार काता जाए, तो यह जीवन रूपी चरखा केवल भक्ति रूपी सूत कातने का साधन ही न होकर मोक्ष प्रदान करने का माध्यम बन जाएगा ।

अन्तिम पक्ति का अर्थ एक अन्य प्रकार भी किया जा सकता है। कबीर कहते हैं कि मैंने यह जीवन सूत्र अच्छी प्रकार काता है। मुझे यह सामान्य चरखा नहीं अपितु परम पद का दाता—साधन धाम मोक्ष का द्वार—प्रतीत हुआ है।

अलंकार—(i) सागरूपक—पूरे पद में।

(ii) पुनरुक्ति प्रकाश लै लै।

(iii) छेकानुप्राय—चारि चमरख, काति कातै।

(iv) गूढोक्ति—निसतरिवो कैसें।

(v) अपन्हति—रहटा नहीं परम पद दाता।

(vi) पदमैत्री—लाई चलाई, ऐसें कैसें, काता दाता।

विशेष—(i) पाठान्तर—चौथी पक्ति—द्यौ माल तागा वरिस दिन कुकुरी, लोग बोलै भन कातल वपुरी।

(ii) सासू इसका अभिप्राय गुरु के उपदेश-श्रवण से उत्पन्न 'बोधवृत्ति' भी हो सकती है।

(iii) विन कातै निसतरिवो कैसें—इसका अभिप्राय यह भी हो सकता है—मनन, निदिध्यायन, निरन्तर के नाम स्मरण एवं अनुराग के बिना इस जीवन में निम्नार नहीं है।

(iv) कबीर जुलाहे का काम करते थे। यहां उन्होंने जुलाहे के काम आने वाली सामग्री को लेकर प्रतीक-विधान किया है। यह प्रतीक विधान सर्वथा सार्थक और सफल है। जीवन सचमुच एक चरखा है जिसकी सार्थकता सुन्दर सूत कातने में ही है। ज्ञान और भक्ति मय जीवन ही मानव-योनि की सार्थकता है। मानव-तन बड़े भाग्य में मिलता है। यह पाप का हेतु भी हो सकता है और मोक्ष का द्वार भी बनाया जा सकता है। कबीर कहते हैं कि मैंने इसको परम पद प्राप्ति का साधन बना लिया है। तुमभी मेरे अनुभव में लागान्वित होने का प्रयत्न करो।

(२२६)

अब की घरि मेरो घर करसो,

साध सगति ले मोकी तिरसी ॥ टेक ॥

पहली को चाल्यो भरमत डोल्या, सच कबहूँ नहीं पायो ।

अब की घरनि घरी जा दिन थै, सगली भरम गमायो ॥

पहली नानि मदा कुलवती सासू सुसरा मानै ।

देवर जेठ सबनि की प्यारी, पिघ की मरम न जानै ॥

अब की घरनि घरी जा दिन थै, पीय सूं वांन वन्यूं रे ।

बहूँ कशीर भग वपुरी को, आइरु राम सुन्यूं रे ॥

मल्लार्थ—पहली पहली घर में गयी रूई। घर करनी = घर बनाएगी।

तिरसी—पहली पहली उदार करेगी। पहली साधन दाता, मोकी = हुआ। मरम = मुग

दुःखों की। वन्यूं रे = वन्योई। कशीर = कशीर। आइरु राम सुन्यूं रे = साधन - साधन-

मोह । देवर जेठ = अहकार वासनायम मन इत्यादि बहान । बन्धू = बालक बन गया । ठीक-ठीक निर्वाह हो रहा है । बपुरी = बेचारी ।

संदर्भ—कबीरदास ज्ञानोदय की अवस्था का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—साधक जीव कहता है कि मैंने गुरु के उपदेश के फलस्वरूप निवृत्ति (बोध-वृत्ति) रूप स्त्री को पत्नी रूप में रख लिया है । इसके ढग को देखकर मुझे विश्वास हो गया है कि यह मेरा घर बसायेगी और साधु-सगति के द्वारा यह मेरा उद्धार करेगी । मेरी पहली पत्नी प्रवृत्ति (आसक्ति) थी । उसके मारे तो इधर-उधर भटकता फिरता रहा और मुझे कभी भी सुख प्राप्त नहीं हुआ अथवा कभी भी सत्य का साक्षात्कार नहीं हुआ । अबकी बार जिस दिन से मैंने इस गृहिणी को रखा (निवृत्ति मार्ग को अपनाया है) उसी दिन से मेरा सम्पूर्ण भ्रम नष्ट हो गया है । सासारिक आसक्ति रूप पहली पत्नी कुल की मर्यादा का बहुत ध्यान रखने वाली थी । वह मायामोह रूप सास-श्वसुर का कहना मानती थी । वह अहकार एव वासनायम मन रूपी देवर तथा जेठ को प्रिय थी । परन्तु वह जीव रूप अपने पति की वास्तविक आवश्यकता को नहीं समझती थी । परन्तु अबकी बार जिस दिन से मैंने निवृत्ति (बोध वृत्ति) रूपी इस नवीन गृहिणी को अपनाया है, उसी दिन से मेरा वानक बन गया है - मेरे जीवन में सामञ्जस्य उपस्थित हो गया है । कबीर कहते हैं कि यह इस बेचारी का ही सौभाग्य है कि भगवान राम ने सुन ली है अर्थात् मेरी वृत्ति राम के प्रति हो गई है ।

अलंकार—(1) साग रूपक—सम्पूर्ण पद ।

(II) पदमैत्री—घाल्यौ डोल्गौ ।

(III) चपलातिशयोक्ति की व्यजना—अबकी गमायी ।

(IV) छेकानुप्रास - धरनि-धरी, बाँन बन्धू ।

विशेष—(1) लोक प्रचलित उक्ति है ।

(II) पारिवारिक जीवन के प्रतीको को लेकर बहुत ही सुन्दर रूपक खड़ा किया है ।

(III) पहली नारि मानै—यह सत्य है कि कुल वशी नारी को मर्यादा के निर्वाह का बहुत अहकार भी रहता है और ध्यान भी रहता है । फलतः वह पति के लिये बड़ा सिर, दर्द बनी रहती है । वह केवल अपनी मर्यादा का ध्यान रखती है । वह यह नहीं देखती है कि मेरे पति की सीमायें क्या हैं और उनके आग्रह-पर कुल मर्यादा के निर्वाह में पति को कितनी व्यथा हो रही है । शुद्ध चैतन्य का अधिष्ठित एव सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त मूला अविद्या की ही यह तूला अविद्या (आसक्ति) पुत्री है । अतः बड़े कुल की पुत्री होने के कारण यह कुलवती (कुलीन) है और इस कुलीनता के प्रति वह सदैव सजग रहती है ।

(IV) जीव मूलतः ज्ञान-स्वरूप एव निसर्ग है । मूल अविद्या उसको उस दिशा में नहीं बढ़ने देती है । पर जाग्रत बोध-वृत्ति जीव के वास्तविक स्वरूप की प्रतिष्ठा

में सहायक होती है। यही पति के साथ उसका सामजस्य है और इसी से साधक जीव के जीवन में समन्वय स्थापित हो जाता है।

(v) जानोदय की दशा का बहुत ही सुन्दर चित्रण है।

(vi) इस पद में कबीर के व्यक्तिगत पारिवारिक जीवन की छाया है। कबीर की दो स्त्रियाँ थीं। पहली का नाम लोई था, जो कुरूप थी। दूसरी स्वरूपवान और सुलक्षणा थी। इसका नाम धनिया था जिसे लोग रमजनिया कहते थे। कबीर इसके प्रति बड़े अनुरक्त थे। सन्त-साक्ष्य में उपलब्ध गृहस्थ जीवन सम्बन्धी कबीर की ये पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

मेरी बहुरिया को धनिया नाउ । लैराख्यो रमजनियाँ नाउ ।

तथा—हम तुम बीच भयी नहि कोई । तुमहि सुकंत नारि हम सोई ।

फहत कबीर सुनहु रे लोई । अब तुमरी परतीति न होई ।

(२३०)

मेरी मति वौरी राम बिसारयो, किहि विधि रहनि रहूँ हो दयाल ।

सेजं रहूँ नैन नहीं देखौं, यहु दुख कासौ कहूँ हो दयाल ॥ टेक ॥

सासु की दुखी समुर की प्यारी, जेठ के तरसि डरौं रे

नणद सहेली गरब गहेली, देवर के विरह जरौं हो दयाल ॥

बाप सावकी करै लराई माया सद मतिवाली ।

सगौ भईया लै सलि चढ़िहूँ, तव ह्वै हूँ पोयहि पियारी ॥

सोचि विचारि देखौं मन मांहौं, औसर आइ बन्युं रे ।

फहै कबीर सुनहु मति सुंदरि, राजा राम रमूं रे ॥

शब्दार्थ—गहेली = ग्रस्त । सगौ भईया—सहज बाधा । सलि = चिता ।

सदभं—कबीर कहते हैं कि इस जीवन की सार्थकता यही है कि राम के प्रति प्रेम किया जाय ।

भाषार्थ—विषयात्मिक के कारण मेरी बुद्धि पागल हो गई है, (ठिकाने नहीं रही है) और इन कारण मेरे पति राम ने मुझको भुला दिया है। हे दयालु प्रभु ! मैं अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत करूँ ? मैं सर्व अपने पति ईश्वर की शैथ्या पर ही रहती हूँ परन्तु फिर भी उम ईश्वर रूपी पति को आँवों से नहीं देख पाती हूँ। पति के साथ निरन्तर उभी की मज पर सोते हुये भी उसे न देख सकने (उमके द्वारा उभैयिता करने की अनाप व्यवसा में किमको सुनाऊँ ? मैं माया-रूप राम ने दुःखी हूँ तथा अज्ञान रूपी श्वनुर को प्रिय हूँ। मैं मोह रूपी जेठ के आम से निरन्तर अलसीत रहती हूँ। बुद्धि रूप नन्द भरी मन्दी है। वह दुःखग्रहों से ग्रस्त तथा अज्ञानी है। हे दयालु प्रभु ! मैं योगात्मक मन रूपी देवर के विरह से व्यथित हूँ जहाँ दिग्द पागलाओं के लिए सर्व वृत्ति रहती हूँ। (जन्म का हेतु) अज्ञान रूपी विष निरन्तर अज्ञान अज्ञान रहता है। माया रूपी माता निन्द्य मन में नृप रहती है। मैं तो अब सर्व शोष-रूप मेरे नाई के साथ चिता पर चढ़ूँगी। तब मैं

अपने प्रियतम की प्यारी हो पाऊँगी । अर्थात् तब मेरे समस्त अज्ञान नष्ट हो जायेगे । मैंने खूब सोच-विचार करके देख लिया है कि अब इस ससार से छुटकारा पाने का अवसर आ गया है । कबीर कहते हैं कि हे मेरी बुद्धि रूपी सुन्दरी, अब तुम स्वामी राम के साथ रमण करो ।

अलंकार - (I) रूपकातिशयोक्ति अलंकार - अनेक प्रतीकात्मक उपमानों का प्रयोग है ।

(II) विशेषोक्ति की व्यजना - सेजै • देखौं ।

(III) विरोधाभास—बाप ... लराई ।

(IV) पदमैत्री—सहेली, गहेली ।

(V) अनुप्रास—माया मद मतवाली ।

विशेष—(I) सेजै रहूँ देखौं—ईश्वर और जीव का शाश्वत अभेद है । यह फिर भी अज्ञान द्वारा आवृत्त हो जाने के कारण जीव ईश्वर से विलग सा बना रहता है । अज्ञान के कारण ही जीवात्मा प्रभु का साक्षात्कार नहीं कर पाता है और दुःखी बना रहता है—

ईश्वर अस जीव अविनासी । चेतन अमल सहज सुख रासी ।

सो मायावस भयउ गोसाईं । बँध्यौ करि मरकट की नाईं ।

तब ते जीव भयउ संसारी । छूट न ग्रथि न होइ सुखारी ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(II) अन्तिम पक्ति का अर्थ एक अन्य प्रकार भी किया जा सकता है । आत्मा या विव्रेक रूपी सुन्दरी अपने आपको सम्बोधन करके कहती है कि, 'हे सुन्दरी अब तुम विषयाशक्ति का कुपरिणाम देख चुकी । अब तुम भगवान राम के साथ रमण करो ।'

(III) दाम्पत्य भाव का आवरण इस विरह-वेदना का विम्ब-विधायक बन गया है ।

(IV) यहाँ अर्द्ध प्रवृद्ध जीवात्मा द्वारा अपनी वृद्ध अवस्था एवं मुक्त होने की विकलता का मर्मस्पर्शी एवं सागोपाग वर्णन कराया गया है ।

(V) यह पद उलटबांसी जैसा है । अन्तिम पक्ति में पद की कुँजी मिल जाती है । पहले चरण में मति (बुद्धि) की शिकायत है और अंत में उसी को सही दिशा में उन्मुख किया गया है ।

(IX) तुलना करें—

एकहि पलंग पर कान्ह रे, मोर लख दूर देस मान रे ।

(विद्यापति)

(२३१)

अवधू ऐसा ग्यांन बिचारी,

ताथै भई पुरिष थै नारी ॥ टेक ॥

नां हूँ परनी नां हूँ क्वारी, पूत जन्मूँ छौ हारी ।
 काली मूँड कौ एक न छोड्यौ, अजहूँ अकन कुवारी ॥
 वाम्हन कँ वम्हनेटी कहियौँ, जोगी कँ घरि चेली ।
 कलमां पढ़ि पढ़ि भई तुरकनीं, अजहूँ फिरौँ अकेली ॥
 पीहरि जांऊं न रहूं सासुरै, पुरषहि अंगि न लांऊं ।
 कहै कबीर सुनहु रे संतौ, अंगहि अग न छूवांऊं ॥

शब्दार्थ—अवधू=अवधूत, वाम पथी सिद्ध योगी । परनी=परिणीता, विवाहिता । क्वारी=अविवाहिता । काली मूँड कौ कामनी । छौहारी=दिन दिन, नित्यप्रति । अकन=अखण्ड । कलमा=वह वाक्य जो मुसलमानों के धर्म-विश्वास का मूल मन्त्र है - ला इलाह इल्लिलाह, मुहम्मद रसूलिल्लाह ।

सन्दर्भ—कबीरदास माया के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—हे नाथ पथी सिद्ध योगी ! तुम इस रहस्य पर विचार करो जिससे यह ज्ञान हो सके कि चैतन्य पुरुष से इस माया-रूपी नारी का जन्म किस प्रकार हुआ ? माया स्वयं कहती है कि वह न विवाहिता है और न कुमारी ही है । मैं हमेशा अनेक पुत्रों को जन्म देती रहती हूँ । मुझ काली मूँड वाली (कामिनी) ने एक भी नवयुवक को नहीं छोड़ा है, अर्थात् प्रत्येक समझदार व्यक्ति पर अपना आवरण डाला है । इस प्रकार सबने मेरा उपभोग किया है, परन्तु फिर भी मैं अखण्ड कुमारी बनी हुई हूँ । मेरा प्रभाव सबव्यापी है । ब्राह्मण के घर मैं ब्राह्मणी कही जाती हूँ और योगी के घर चेली हूँ अर्थात् योगी को चेली बनकर घेरती हूँ । ला इलाह इल्लिलाह, मुहम्मद रसूल लिल्लाह धर्म-विश्वास मूलक मन्त्र को पढ़ कर मुसलमान विवाह करता है और मैं मुसलमानी के रूप में उसके यहाँ पहुँच जाती हूँ । न मैं पीहर जाती हूँ, और न सुसराल ही जाती हूँ—मेरा इहलोक और परलोक में भी आना-जाना नहीं है । मैं चैतन्य स्वरूप परम पुरुष के अंगों का स्पर्श नहीं करती हूँ अर्थात् शुद्ध बुद्ध चैतन्य से सर्वदा दूर रहती हूँ । कबीरदास कहते हैं कि हे संतों ! माया का यह कथन सत्य है कि मैं अपने अंगों को परमपुरुष के अंगों से नहीं छुआती हूँ । अभिप्राय यह है कि माया और चैतन्य एक दूसरे से सदैव अलग-थलग रहने हैं ।

अर्थ—(i) मानवीकरण—माया का ।

(ii) विगोषाभास की व्यञ्जना—नाहूँ परनी.....जन्मूँ
 छौहारी, काली-छोड्यो कुवारी, फिरौँ अकेली ।

(iii) वामपथ—वामानतुरकनी ।

(iv) पुनर्गति प्रकाश—पढ़ि पढ़ि ।

(v) अपर्शान्त्योक्ति—पीहरि सासुरै ।

(vi) सनग एड दमर—अंगहि अग ।

विशेष-- (i) माया के ससारी तथा तात्त्विक रूप का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है ।

(ii) यह पद उलटवासी जैसा है । इसमें परस्पर विरोधी बातें कह कर अनिर्वचनीय माया के स्वरूप की व्याख्या की गई है ।

(iii) कबीर के मतानुसार नारी ही माया का व्यक्त स्वरूप है । व्यग्र्य यह है कि माया से बचने के लिए साधक को 'नारी' से दूर रहना चाहिए । नारी से संपृक्त होते ही ब्रह्म शुद्धबुद्ध चेतन न रह कर 'जीव' भाव को प्राप्त हो जाता है ।

(iv) विविध मनोविकार ही माया के पुत्र हैं ।

(v) माया का पीहर मोह या अज्ञान है । इसकी समुराल 'आत्मज्ञान' है ।

(vi) तुलसी प्रभृति भक्त कवियों ने भी माया को नारी बताया है—

माया भगति सुनहु तुम दोऊ । नारिवर्ग जाने सब कोउ ।

यह माया सबको अपने वश में करने वाली है —

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा ।

यत्सत्नादमृषैव भाति सकल रज्जौ यथाहेर्भ्रम ।

(vii) ना हूँ • चौहारी—परम पुरुष से विवाहित होने का तात्पर्य है चैतन्य के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाना अर्थात् माया का अभाव । यदि माया चैतन्य से पूर्णतः असम्पृक्त रहनी है, तो कुमारी कहलानी चाहिए । परन्तु ऐसा भी नहीं है । इसी कारण ब्रह्म की भाँति ब्रह्म की माया भी अनिर्वचनीय है ।

माया हमेशा अनेक पुत्रों को जन्म देती रहती है । इसका तात्पर्य यह है कि वह सब जीवों के जीवभाव का कारण है । यह चैतन्य-पुरुष के साथ सहवास का ही परिणाम है ।

माया ने किसी को नहीं छोड़ा, परन्तु कोई भी इसको भोग नहीं सका । ठीक ही है—“भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता.” । माया असत् रूप है । अपत् का भोग क्या ? अतएव जीव कभी भी माया का भोग कर ही नहीं पाता है, माया का भोग भी मायाजनित भ्रम ही है । पारमार्थिक दृष्टि से असत् माया कभी भी चैतन्य का स्पर्श नहीं कर पाती है । अतः सर्वव्यापी है ।

(viii) बाह्यन • फिरौं अकेली—ब्राह्मण आदि के साथ माया का सत्य सम्बन्ध नहीं हो पाता है—जीवात्मा का सम्बन्ध होता ही नहीं है । इसी कारण वह अकेली ही रहती है । वह किसी से बद्ध नहीं है—न जीव से न ब्रह्म से । इसी से वह न पीहर जाती है और न समुराल ही जाती है । माया की दृष्टि से आवागमन भी मिथ्या है ।

(ix) पुरुषहि... • • • • • न छुवाऊँ—इन पक्तियों में माया की चर्चा वस्तुतः एक वेश्या के रूप में की गई है । वह भी एक चतुर पातुरी के रूप में, जो शरीराग का स्पर्श नहीं करने देती है और नजरो से ही दिल बहलाती रहती है ।

(२) इन पद में काव्योचित शैली में शाकर मायावाद का प्रतिपादन किया गया है ।

(२३२)

मीठी मीठी माया तजी न जाई,

अग्यांती पुरिष कौं भोलि भोलि खाई ॥ टेक ॥

निरगुंण सगुंण नारी, ससारि पियारी,

लक्षमणि त्यागी गोरषि निवारी ॥

कोड़ी कुंजर मै रही समाई,

तीनि लोक जीत्या माया किनहूँ न खाई ॥

कहै कबीर पद लेहु विचारी,

ससारि आइ साजा किनहूँ एक कही पारी ।

शब्दार्थ—भोलि=भुलावा देकर । निवारी = निवारण किया, हटा कर दूर कर दिया । कीरी=चीटी । कुंजर=हाथी । पारी=खारी, कडुवी ।

सदर्थ—कबीरदास माया के सर्वव्यापी प्रभाव का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—यह मधुर एवं आकर्षक लगने वाली माया किसी से छोड़ते नहीं बनती है । यह अज्ञानी व्यक्तियों को तरह-तरह के भुलावों में डाल कर खाती रहती है । यह एक ऐसी नारी है जिसके सगुण और निर्गुण दोनों ही रूप हैं । यह समस्त नमार को प्यारी लगती है । लक्ष्मण ने इस माया का परित्याग किया और गुरु गोरखनाथ ने इसे अपने हृदय से हटा दिया । यह चीटी से लेकर हाथी तक में—छोटे-छोटे प्राणी से लेकर बड़े से बड़े जीव में—समा रही है । इसने तीनों लोकों के प्राणियों को अपने वश में कर रखा है । इसको कोई भी समाप्त नहीं कर सका है । कबीरदास कहते हैं कि इस पद में कथित मेरे कथन पर गम्भीरता पूर्वक विचार करो । नमार जन्म लेने वाले समस्त प्राणियों को यह मधुर लगती है । कोई विरले ही इसको कडुवा बताकर इसकी ओर आकर्षित नहीं हुआ है ।

अनंकार—(i) पुनरुक्ति प्रकाश—भोलि-भोलि ।

(ii) निरगुण सगुण—विरोधाभास ।

(iii) संबन्धातिशयोक्ति—माया किनहूँ न खाई ।

विशेष—(i) वासना एवं अगत रूप होने के कारण माया निर्गुण और सगुण रूप विनया नारी है । इसमें विरोधी तत्व हैं ।

(ii) कबीर ने अन्यत्र भी लिखा है कि—

गुपना डरपनु रू मेरे भाई ।

X

X

X

या सजागी मृगय न मानं, मय वृनिषां डहकायो ।

गना-गप रक लो ह्यार्य, बनि-करि प्रीत सवायो ।

साक्षरि साक्षि से मेरि अजानक, पाहु न देति दिखार्द ।

(२३३)

मन कै मैलौ बाहरि ऊजलौ किसौ रे,
खांडे की धार जन कौ धरम इसौ रे ॥ टेक ॥
हिरदा कौ बिलाव नैन बग ध्यानीं,
ऐसी भगति न होइ रे प्रांनीं ॥
कपट की भगति करै जिन कोई,
अत की बेर बहुत दुख होई ॥
छांडि कपट भजौ राम राई,
कहै कबीर तिहूँ लोक बड़ाई ॥

शब्दार्थ—खांडे=तलवार । जन=भक्त । बिलाव=बिल्ली । बग=बगुला ।

सदभ—कबीर सच्ची निश्छल भक्ति का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—यदि मन विषय-वासना के विकारो से दूषित है, तो शरीर को साफ-सुथरा रखने से क्या लाभ है ? ईश्वर-प्रेम का यह मार्ग भक्त के लिए तलवार की धार के समान है । यदि व्यक्ति का मन बिल्ली की तरह विषय-वासनाओ से ग्रस्त एव हिंसा वृत्ति से पूर्ण है और वह बगुले की भाँति घोखा देने के लिए अर्खें बन्द करके ध्यान लगाता है, तो हे साधक ! ऐसे व्यक्ति से भक्ति नहीं हो सकती है । केवल घोखा देने के लिए दिखावे की भक्ति किसी को नहीं करनी चाहिए । ऐसी भक्ति के फलस्वरूप बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं । कबीरदास कहते हैं कि, हे नीव ! तू समस्त कपट छोड़ कर राजा राम का भजन करो । इससे तुम्हारा यश तीनों लोको मे फैलेगा ।

अलंकार—(1) विषम—मन....ऊजलौ ।

(11) उपमा—खांडे की धार ।

विशेष—(1) बाह्याचार एव दम्भ का विरोध है तथा निर्मल मन द्वारा प्रभु भक्ति का प्रतिपादन है—

जय माला छापै तिलक सरै न एक काम ।

मन काँचे नाचै वृथा साँचे राचै राम । —विहारी

सूधे मन सूधे वचन सूधी सब करतूनि ।

तुलसी सूधी सकल धिधि रघुवर प्रेम प्रसूति ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(11) खांडे की धार समभाव के लिए देखें—

प्रेम को पथ कठोर महातलवार की धार पै धावनो है । (घनानन्द)

ग्यान पथ कृपान की धारा । परत खगेस होत नहि वारा ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(२३४)

चोखी वनज व्यौपार करीजै,
 आइने दिसावरि रे राम जपि लाहौ लीजै ॥ टेक ॥
 जब लग देखौ हाट पसारा,
 उठि मन बणियों रे, करि ले बणज सवारा ॥
 वेगे हो तुम्ह लाद लक्षानां,
 औघट घाटा रे चलनां दूरि पयानां ।
 खरा न खोटा नां परखानां,
 लाहे कारनि रे सब मूल हिरानां ॥
 सब ल दुनी मै लोभ यियारा,
 मूल ज राखै रे सोई बनिजारा ॥
 देस भला परिलोक विरानां,
 जन दोइ चारि नरे पूछौ साध सयानां ॥
 सायर तीर न वार न पारा,
 कहि समझावै रे कबीर बणिजारा ॥

शब्दार्थ—चोखी=चोखा, अच्छा, लाभकारी । वनज=वाणिज्य । दिसावरि
 =देसावर, विदेश । लाहौ=लाभ । हाट = बाजार । सवारा=सिद्दीनी, जल्दी ही ।
 औघट=अवघट=अटपटा । पयाना=प्रमाण, चलना, जाना । वेगे - शीघ्र ही ।
 लाहे=लाभ । मूल=मूलधन, गांठ की पूँजी । हिराना=गवाना । खोगया, नष्ट
 हो गया । बनिजारा=वाणिज्य करने वाला । सयाना=चतुर । सायर=सागर ।
 तीर=किनारा ।

सन्वर्भ—कबीर कहते हैं कि इस ससार में रह कर धर्मपूर्ण आचरण ही
 हितकारी है ।

भाषार्थ—कबीर जीव को तुलना एक व्यापारी बणिक के साथ करते हुए
 कहते हैं कि रे जीव ! तुम्हें अच्छा—लाभकारी वाणिज्य व्यापार करना चाहिए ।
 इस दुनियाँ की विदेश में आकर भगवान राम के नाम का स्मरण करते हुए
 लाभकारी व्यापार करना चाहिए । जब तक इस जगत और जीवन के बाजार का
 पनास है, अर्थात् जब तक जीवन की बाजार चल रहा है, उसी समय में तू उठकर
 जल्दी में अपना लाभकारी व्यापार कर ले । तुम्हें शीघ्र ही नदना-लक्षना होगा
 अर्थात् तुम्हें जल्दी ही अपना हाट नभेठ कर इस जीवन-रूपी बाजार में उठकर
 पार देना होगा और काफी दूर पार कर अटपटे घाट पर पहुँचना होगा । तुमने न
 खरा-खोटा देना । न दूर पयाना । लाभ के लोभ में तुमने अपनी गांठ की पूँजी
 (धन) भी नष्ट की । नाक यह है कि तुमने इस जगत में नरे-मोटे की पत्थ नहीं
 मरी और न बणिक पदवी के लोभ में तुमने अपना मूल चैतन्य-स्वरूप को भी
 भुग दिया । इस व्यापार में हाट की पूँजी खोने के समान ही हुआ । मार्ग

दुनियाँ में लोभ सबको प्यारा है अर्थात् सारा ससार लोभी है । व्यजना यह है कि लाभ का लोभ कोई बुरी बात नहीं है । परन्तु सफल व्यापारी वही है जो अपने मूलधन की रक्षा कर ले । अर्थात् जो अपने चैतन्य स्वरूप को धनाए रखे उसी जीव का जीवन सार्थक है । अपना देश ही अच्छा है, विदेश तो पराया ही रहता है । यह बात तुम दो चार साधु और समझदार व्यक्तियों से भले ही पूछ लो । इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि इस जगत् में दो चार ही भक्त हैं । भले ही सयाने साधुओं से पूछ कर देख लो । उनका भी यही मत है । इस भवसागर के किनारे का कही भी आदि अत नहीं है—तू ऐसे सागर के तीर पर खड़ा है जिसका वार-पार नहीं है । कबीरदास इस जीवरूपी बनिए को यह बात समझाकर कह रहे हैं ।

अलंकार — (1) सागररूपक—पूरा पद ।

(11) रूपकातिशयोक्ति सायर ।

विशेष—(1) राम की भक्ति के द्वारा ही वह जीवन सार्थक बनाया जा सकता है और इस भव-सागर के पार जाना सम्भव हो सकता है ।

(11) जब लग—सवारा — रे जीव अपने कर्तव्यों को शीघ्र ही पूरा कर ले । तुम्हें अपने पारमार्थिक कल्याण के लिए पूर्ण प्रयास करना है । साधना का यह मार्ग अत्यन्त दुर्गम है । वह स्थान भी दृश्यमान जगत् से विलक्षण है । अतः औघट घाट है । वह स्थान ससार की वासनाओं से दूर भी है ।

(२३५)

जौ मैं ग्यांन बिचार न पाया,

तौ मैं यौंही जन्म गँवाया ॥ टेक ॥

यहु ससार हाट करि जांनूं , सबको बणिजण आया ।

चेति सकै सो चेतौ रे भाई सूरिख मूल गँवाया ॥

थाके नैन बैन भी थाके, थाकी सुदर काया ।

जांमण मरण ए द्वै थाके, एक न थाकी माया ॥

चेति चेति मेरे मन चचल, जब लग घट मै सासा ।

भगति जाव पर भाव न जइयौ, हरि के चरन निवासा ॥

जे जन जांनि जपै जग जीवन, तिनका ग्यांन न नासा ।

कहै कबीर वै कबहुँ न हारै, जांनि न ढारै पासा ॥

शब्दार्थ — हाट = बाजार, पेठ, व्यापार करने की जगह । भक्ति = स्थूल भक्ति = बाह्याचार = औपचारिक भक्ति । भाव = भक्ति-भाव । पासा = चौसर के खेल में फेंका जाने वाला वह चौपहला लम्बोतरा हड्डी या लकड़ी का बना टुकड़ा जिस पर विदिया बनी होती है । पासा ढारना = विरोधी को हगने वाला दाँव मारना ।

संदर्भ — कबीरदास मच्चो भक्ति के स्वरूप और उसकी महिमा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ — कबीर कहते हैं कि अगर मैंने ज्ञान का रहस्य न समझा, तो मैंने अपना जीवन व्यर्थ ही गँवा दिया । मैं तो इस ससार को कर्म रूपी व्यापार स्थल (हाट) करके जानता हूँ और यहाँ समस्त प्राणी कर्म-व्यापार के हेतु आए हैं । हे जीव, सजग होकर समझ सको, तो सावधान होकर समझ लो । मूर्ख लोग इस ससार टपी हाट में आकर अपने मूल (गाँठ की पूजी) को भी गँवा देते हैं—अर्थात् वे अपने चैतन्य स्वरूप को विस्मृत कर बैठते हैं । इस कर्म-व्यापार में नेत्र, वाणी, सुन्दर शरीर— सब थक जाते हैं । उनके जन्म-मरण भी थक जाते हैं अर्थात् व्यक्ति बार-बार जन्म लेते-लेते और मरते-मरते भी ऊब जाते हैं, परन्तु यह माया—ससार के प्रति आमक्ति नहीं थकती है । हे मेरे चंचल मन, जब तक इस शरीर में प्राण हैं, तब तक (इसी बीच में) तू सावधान होकर वस्तु-स्थिति को समझ ले । चाहे औपचारिक भक्ति न कर सको, परन्तु भक्ति की भावना बनाए रखना जिससे भगवान के चरणों में मन का निवास बना रहे । जो लोग ससार के प्राणाधार भगवान के वास्तविक स्वरूप को समझ कर प्रभु का स्मरण करते हैं, उनके ज्ञान और विवेक नष्ट नहीं होते हैं । कबीरदास कहते हैं कि जो जानबूझ कर किसी को पराजित करने का प्रयत्न नहीं करते हैं, उसकी इस जीवन में कभी पराजय नहीं होती है । अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति विरोधी भाव या शत्रु-भाव से रहित हैं, उनकी सदैव विजय ही विजय होती है ।

अलंकार (i) रूपक—ससार हाट ।

(ii) रूपकातिशयोक्ति — वणिजन, मूल ।

(iii) पदमैत्री—नैन नैन, जाव भाव ।

(iv) अनुप्रास—थाके थाके थाकी, जे जन जानि जपे जग जीवन । कहें कबीर कबहूँ ।

(v) पुनरुक्ति प्रकाश—चेति चेति ।

(vi) विरोधाभास—भगति जाव पर भाव न जइयो ।

विशेष—थाके नैन ... माया ।—तुलना करें—

माया मरी न मन मरे, मरि मरि जात सरीर ।

जाना नृणा ना मरी कहूँ गएँ दास कबीर ।

'व्यामर्शि' कर्म का व्ययन नैव्याह करती है । यही यामा है । कर्म का व्ययन 'नृणा' का समुहोत्पत्ति है । नृणा जन्म देने की प्रेरणा प्रदान करती है । इसी में दर्शाते हैं कि 'माया' नहीं थकती है ।

(vii) भगति जाव भाव न जइयो—भक्ति-भाव में नान्यत्वं है कि प्रभु की भक्ति से प्रती प्रेरण तब कृत्य भाव भाव अपने भाव में नान्यत्वं का अनुभव । औप-चारिकता भरे ही शोध से, प्रत्यक्ष भक्ति का भव मन-न बना रहना चाहिए—

सो अनन्य गति जाके नति न टरह अनुमंत ।

में सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत । (रामचरितमानस)

(111) जानि न ढारै पासा—जगत के प्रति सेवा का भाव होने के कारण विरोध-भावना अथवा द्वैत भाव स्वयमेव समाप्त हो जाते हैं । धर्मशील एव सच्चे भक्त का लक्षण ही यह है कि विपक्षी की भावना निर्मूल हो जाए और सब आत्मीय प्रतीत होने लगे—

सखा धर्ममय अस रथ जाकें । जीतन कहें न कतहुँ रिपु ताके ।

महा अजय ससार रिपु जीति सकइ सो बीर ।

जाके अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मति धीर ।

(रामचरितमानस, तुलसी)

इसी से कबीर ने कहा है कि जीतता वही है जो किसी को हराने का प्रयत्न नहीं करता है ।

(२३६)

लावौ बाबा आगि जलावौ घरा रे,

ता कारनि मन धंधे परा रे ॥ टेक ॥

इक डांइनि मेरे मन में बसै रे, नित उठि मेरे जीव को डसै रे ।

या डांइन्य के लरिका पांच रे, निस दिन मोहि नचाँवे नाच रे ॥

कहै कबीर हूं ताकौ दास, डांइनि कै सगि रहै उदास ।

शब्दार्थ—लावौ=लाओ । घराने=घर, काम मनस ससार । धंधे=झुंझुट, बन्धन । डाइन=चुड़ल । डसै=डसती है, काटती है । पांच लडके=काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर । नाच नचाना=परेशान करना ।

संदर्भ— कबीर विषयासक्ति से विरत होने का उपदेश देते हैं ।

भावार्थ—हे बाबा ! मुझे ज्ञान की अग्नि ला दो, जिससे मैं विषय-वासनाओ के घर काम-मनस (Mindelity) को जलाकर भस्म करदूँ । इसके कारण ही यह मन अनेक झुंझुटो (बन्धनो) में पड़ा हुआ है । आसक्ति रूपी एक चुड़ल मेरे मन में घुस कर बैठ गई है । वह नित्य प्रति अपना सिर उठा कर मेरे अन्त करण को काटती-कचोटती है । इस चुड़ल के काम क्रोध, लोभ, मोह और मत्सर-नामक पांच लडके हैं, जो मुझे दिन-रात तरह-तरह से परेशान करते रहते हैं । कबीर कहते हैं कि मैं उस व्यक्ति का दास हूँ अथवा उस व्यक्ति को अपना गुरु बनाने को तैय्यार हूँ जो इस आसक्ति-रूपी चुड़ल की ओर न तो ध्यान देता हूँ और न उससे प्रभावित ही होता हूँ ।

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति—आगि, घर, डायनि, लरिका पच ।

विशेष—(1) मुहावरा—नाच नचाना ।

(11) आसक्ति पर विजय अत्यन्त कठिन है ।

(२३७)

बदे तोहि बदिगी सौ कांम, हरि बिन जांनि और हरांम ।
 दूरि चलणां कंच वेगा, इहां नही सुकांम ॥ टेक ॥
 इहा नही कोई पार दोस्त, गांठि गरथ न दाम ।
 एक एकें संगि चलाणां, बीचि नहीं विश्रांम ॥
 ससार सागर विषम तिग्णां, सुमरि लै हरि नांम ।
 कहै कबीर तहां जाइ रहणां नगर बसत निधांन ॥

शब्दार्थ बदे दास, भक्त । बदिगी=सेवा, भक्ति । हराम=शरअ (गुनलमान धर्म शास्त्र) के विरुद्ध, निषिद्ध । कूच=रवानगी । वेगा=शीघ्र । मुकाम = वाग स्थान, घर । गरथ=सम्पत्ति । निधान=कृपानिधान, भगवान ।

गन्दर्भ—कबीरदास ससार के प्रति उदासीन होकर भगवान को याद करने का उपदेश देते हैं ।

भावार्थ—रे भक्त ! तुम्हें तो भगवान की भक्ति से काम है । भगवान की भक्ति के अनिश्चित अन्य सब बातों को तुम निषिद्ध यानी धर्मशास्त्र के विरुद्ध समझो । तेरा गन्तव्य बहुत दूर है । अतएव यहाँ से जल्दी ही रवाना हो जाओ । इस सगर में तुम्हारे वास-स्थान नहीं है अथवा यहाँ टिकासरा लेना उचित नहीं है । इस दुनियाँ में तुम्हारा कोई हितैषी एव युभचितक भी नहीं है और यहाँ पर पत्रं करने के लिए तेरे पास विशेष सम्पत्ति भी नहीं है (क्योंकि तुम अपने पुण्यों का धय कर चुके हो) । तुमको इस यात्रा में अकेले ही चलना है और बीच में कहीं विश्राम-स्थल भी नहीं है । इस ससार रूपी सागर को पार करना बहुत कठिन काम है । तुम उगको पार करने के लिए भगवान का नाम स्मरण करो । कबीर कहते हैं कि तुमको तो वहाँ जाकर रहना है जिन नगर में स्वयं कृपानिधान भगवान निवास करते हैं ।

अर्थकार—(i) रूपक—ससार सागर ।

(ii) नाग रूपक—बटोही नाविक का रूपक ।

विशेष—(i) कबीर का कहना है कि भवन को ससार के प्रति एकदम विदूर हो जाना चाहिए, क्योंकि परम धर्म की प्राप्ति ही उसका एक मात्र लक्ष्य है ।

(ii) यह ससार भवा के लिए नहीं है । यह माया का स्थान है । माया और लज्जादि का कुछ संतुलन में पीछे सम्बन्ध नहीं होता है । इसी कारण माधक का कोई सा शोभ नहीं होता है । सभी को सर्वोन्म की यह पवित्र पूज्य बापू के दृश्य का पार हो जाना चाहिये ।

(iii) नाग रूपक—कबीरदास का निधान-स्थान जो निधान है । कबीरदास पर न पड़ने का लक्ष्य है । कबीरदास के लक्ष्य में कबीरदास निधान है । "कीर्ति नहीं निधान ।"

(२३८)

भूठा लोग कहें घर मेरा ।

जा घर मांहीं बोलै डोलै, सोई नहीं तन तेरा ॥ टेक ॥

बहुत बंध्या परिवार कुटुंब मै, कोई नही किस केरा ।

जोवत आँषि मूँदि किन देखौ, ससार अथ अँधेरा ॥

बस्ती मै थै मारि चलाया, जंगलि किया बसेरा ।

घर कौं खरच खबरि नही भेजी, आप न कीया फेरा ॥

हस्ती घोड़ा बैल बांहणी, सग्रह किया घरगोरा ।

भीतरि बीबी हरम महल मै, साल मिया का डेरा ॥

बाजी की बाजीगर जानै के बाजीगर का चेरा ।

चेरा कबहुँ उझकि न देखै, चेरा अधिक चितेरा ॥

नौ मन सूत उरझि नही सुरभै, जनमि जनमि उरभेरा ।

कहै कबीर एक रांम भजहु रे, बहुरि न ह्वैगा फेरा ॥

शब्दार्थ—बध्या=बधे हुए । केरा==का । बांहणी=सवारी । हरम=

अन्त पुर ।

सन्दर्भ—कबीर ससार की असारता का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि जीवन की सार्थकता भगवद्-भजन में ही है ।

भावार्थ—हे जीव, दुनियाँ के लोग व्यर्थ ही कहते हैं कि यह घर मेरा है । जिस शरीर रूपी घर में यह जीव बोलता है और क्रियाशील रहता है, वह शरीर भी तुम्हारा नहीं है । तुम परिवार और कुटुम्ब के प्रति बहुत आसक्त हो, पर यह नहीं जानते हो कि कौन किसका है—अर्थात् तुम यह नहीं जानते हो कि कोई किसी का नहीं है । तुम अपने जीवन में आँख बन्द करके देखलो । तुम्हें चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा दिखाई देगा । कहने का अभिप्राय यह है कि तुम एक बार भूठ-मूठ ही मर कर देखो । तुम्हें ज्ञात हो जाएगा कि तुम्हारा कोई नहीं है । मृतक तुल्य व्यक्ति को मार कर शहर के बाहर निकाल देते हैं और उसको जंगल में रहना पडता है । वह भी घर को न खर्च भेजता है और न खबर ही भेजता है । सब लोग उसको इस प्रकार भूल जाते हैं कि घर लौट कर आने को इसका मन ही नहीं होता है । वह फिर लौट कर आता ही नहीं है ।

हाथी, घोड़े, बैल, बैली (सवारी) कितने भी धन का सग्रह किया जाए, सब व्यर्थ है । महल के अन्तपुर के भीतर विषय भोग के लिए पत्नी एवं सुन्दरियाँ रहती हैं, परन्तु मृततुल्य पति को अब वहाँ स्थान नहीं रह जाता है । उन्हें महल के बाहर परकोटे में कहीं न कहीं स्थान दे दिया जाता है । जीवन के इस विचित्र व्यवहार को देखकर कबीर कहते हैं कि यह जगत केवल एक तमाशा है । इसे या तो ईश्वर रूपी बाजीगर समझता है अथवा उसका भक्त कोई तत्वज्ञ ही जानता है । चेता स्वयं बहुत बड़ा चित्रकार या बाजीगर बन जाता है । वह ससार-रूपी

खेल के प्रति भूल कर भी आसक्त नहीं होता है। यह जीवन उलझे हुए नौ मन मूत की भाँति है। जीव इसकी गुत्थियों को जन्म जन्मान्तर तक सुलझाने का प्रयत्न करते रहते हैं। कबीर कहते हैं कि हे जीव, तुम किसी अन्य साधना के फेर में मत पड़ो, केवल एक राम का भजन करो जिससे तुम्हारा पुनर्जन्म न हो और कहीं तुम्हें इस उलझन में न पडना पड़े।

अलंकार—(i) रूपक धर तन ।

(ii) गूढोक्ति—नहीं किस केरा ।

(iii) पुनरुक्ति प्रकाश—जनमि जनमि ।

(v) रूपकातिशयोक्ति—बाजी, बाजीगर, नौ मन सूत ।

विशेष—(i) नौ मन सूत मुहावरा है। कतिपय आलोचकों ने इसका प्रती-
कात्मक अर्थ किया है—पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त
एव अहंकार) ।

(२३६)

हावड़ि धावड़ि जनम गवावै,

कवहूँ न राम चरन चित लावै ॥ टेक ॥

जहां जहां दाम तहा मन धावै, अगुरी गिनतां रैन विहावै ।

तृया का वदन देखि सुख पावै, साध की सगति कवहूँ न आवै ॥

सरग के पथि जात सब लोई, सिर धरि पोट न पहुँच्यो कोई ।

कहै कबीर हरि कहा उवारै, अपणै पाव आप जी मारै ॥

शब्दार्थ—हावड़ि धावड़ि = आपा वापी, दौड़ धूप । दाम = धन । धावै =
दौड़ता है । विहावै = व्यतीत करता है । तृया = त्रिया, स्त्री । पोट = गठरी ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि विषय-भोग के प्रति आसक्त जीव का उद्धार सम्भव नहीं है ।

भावार्थ—यह समझी जीव विषय-वासनाओं की दौड़ धूप में ही अपना जन्म व्यतीत कर देता है। वह कभी भी भगवान के चरणों में चित्त नहीं लगाता है। वह जहाँ भी धन देखता है, वही उसका मन दौड़ना है। धन के लोभ की यिगता में वह अगुलियों पर घटे-घटो गिनगिन कर रातें व्यतीत करता है। काम-कर्म की नाशे का मुग्ध देखने में मुग्ध का अनुभव करता है और साधुओं की कतिपय नहीं समझता है। सब लोग स्वर्ग के मार्ग पर जाना चाहते हैं, परन्तु वे इस गूढी यिगता में कि गिन पर पाप-कर्म की पोटनी रखकर कोई भी यहाँ नहीं पहुँच पाता है। कबीर कहते हैं कि जो व्यक्ति स्वयं अपने पैरों में मुन्हाड़ी मारता है क्योंकि जन्म सुख का पाप-कर्म में प्रवृत्ति होता है, उसका उद्धार भगवान की कृपा से सम्भव है।

अलंकार—(i) रूपक प्रकाश—राम ।

(ii) पुनरुक्ति प्रकाश—राम ।

(iii) लोकोक्ति—अपणै पाव आप मारना ।

(iv) रूपकातिशयोक्ति—फोट ।

विशेष—(i) मुहावरो का प्रयोग—हावडि धावडि, अगुली पर गिनना ।

(ii) उद्धार के लिए सत्कर्म आवश्यक है । भगवान भी उन्ही का उद्धार करते हैं जो स्वयं अपने उद्धार में प्रयत्नशील होते हैं “God helps those who help themselves

(२४०)

प्राणी काहे कै लोभ लागि, रतन जनम खोयौ ।
बहुरि हीरा हाथि न आवै, राम बिनां रोयौ ॥ टेक ॥
जल बूंद थै ज्यनि प्यड बाध्या, अगिन कुंड रहाया ।
दस मास माता उदरि राख्या, बहुरि लागी माया ॥
एक पल जीवन वी आशा नांही, जस निहारे सासा ।
बाजीगर ससार कबीरा जानि ढारौ पासा ॥

शब्दार्थ—काहे कै = किसके । बहुरि = फिर । हीरा = हीरा रूपी मानव । जीवन । प्यड = शरीर । बाध्या = तैय्यार किया । अगिन कुंड = गर्भ । जानि = सोच समझकर । ढारौ पासा = आचरण करी ।

संदर्भ—कबीर कहते हैं कि विवेकपूर्ण आचरण ही जीवन का सर्वस्व है ।

भावार्थ—हे प्राणी ! तूने किस लोभ के वशीभूत होकर रत्नरूपी जीवन नष्ट कर दिया । हीरा रूपी यह मानव जीवन फिर दुबारा प्राप्त नहीं होगा । राम की भक्ति न करने के कारण अब केवल पश्चाताप ही तुम्हारे हाथ रह गया है । भगवान ने वीर्य और रज की बूंद से तुम्हारा शरीर उत्पन्न किया और उसको गर्भ की अग्नि में सुरक्षित रखा । दस महीने तक भगवान माता के पेट में उस गर्भ की रक्षा करते रहे । परन्तु तुमने उन भगवान का ध्यान तो किया नहीं, और जन्म लेते ही माया में लिप्त हो गए । तुमने यह विचार नहीं किया कि इस जीवन का पलभर भी भरोसा नहीं है । इसको ले जाने के लिए यम एक-एक श्वास गिनता रहता है, अर्थात् यमराज सदैव यह देखते रहते हैं कि कब श्वासें पूरी हो और मैं इस जीव को लेजाऊँ । कबीर कहते हैं कि यह ससार बाजीगर की तरह घोखा देने वाला है । इसमें विवेक पूर्वक आचरण करना चाहिए ।

अलंकार—(i) रूपक—रतन जनम ।

(ii) रूपकातिशयोक्ति—हीरा, अगिन कुंड ।

(iii) उपमा—बाजीगर ससार ।

विशेष—(i) मुहावरो का प्रयोग—हाथ आना, पासा ढारना ।

(ii) गर्भवास के कष्ट तथा ससार की असारता का वर्णन करके कबीर भय-दर्शन द्वारा जीव को सदाचरण की प्रेरणा प्रदान करते हैं ।

(iii) वैराग्य एवं निर्वेद की व्यजना है ।

(२४१)

फिरत कत फूल्यौ फूल्यौ ।

जब दस मास उरध मुखि होते, सो दिन काहे भूल्यौ ॥ टेक ॥

जौ जारै तौ होई भसम तन, रहत कृम ह्वै जाई ।

काचं कुंभ उद्यक भरि राख्यो, तिनकी कौन बड़ाई ।

ज्यू माषी मधु सच्चि करि, जोरि धन कीनो ।

सूये पीछे लेहु लेहु करि, प्रेत रहन क्यूं दीनू ॥

ज्यूं घर नारी सग देखि करि, तब लग संग सुहेलौ ।

मरघट घाट खेचि करि राखे, वह देखिहु हस अकेलौ ॥

रांस न रमहु मदन कहा भूले, परत अंधेरै कूवा ।

कहै कबीर सोई आप बधाधौ, ज्यू नलनी का सूवा ॥

शब्दार्थ—उरध मुख = ऊपर को मुख किए हुए अर्थात् उलटा मुख किए हुए । मापी = मक्खी, शहद की मक्खी से तात्पर्य है । घर नारी = व्याहता स्त्री, व्याही हुई । नजन सहेली = स्वजन एव माथी । कूवा = कुँआ, यहाँ तात्पर्य अज्ञान का कुआ । नलिनी = पोले वाम की नली जो तोता पकडने के काम में आती है ।

सन्दर्भ — समार के बाह्य आवर्पक रूप पर मोहित एव ऐश्वर्य में मदमत्त मानव को कबीरदास सावधान करते हैं ।

भावार्थ — हे भोले मानव ! तू गर्व में फूला हुआ क्यों फिर रहा है ? क्या तू उस व्यथा को भूल गया जो तुझे गर्भ में दस माह तक उलटे लटके रहने के कारण हुई थी ? जन्म के समय जितनी व्यथा हुई थी, मृत्यु के समय भी वैसी ही व्यथा होगी, यह संकेत करते हुए, कबीर कहते हैं कि मरने पर तेरा शरीर जब जलाया जायगा, तब भस्म होकर समाप्त हो जायगा और यदि जलाया नहीं गया, और यों ही पड़ा रहा, तो उसे कोड़े-मकोड़े मारा जाएँगे । इस शरीर की इतनी ही महिमा है जितनी महिमा पानी में भरे हुए कच्चे घड़े की होती है जो शीघ्र ही फूट जाता है । जिस प्रकार मधुमक्खी तनिक-तनिक (थोड़ा-थोड़ा) करके शहद इकट्ठा करती है, उसी प्रकार तुमने भी थोड़ा-थोड़ा करके कुछ धन संचित कर लिया है ; तुम्हारे मरने ही कुछ लोग 'लेनी, लेनी' कहते हुए इस धन को आपस में बाँट लेंगे और तुम्हारे इस शरीर को उठाकर बाहर फेंक देंगे, क्योंकि प्रेत को कौन घर में रहना चाहता है भाव यह है कि तुम्हारा प्राणान्त होते ही लोग तुम्हारे इस धन को लेने की बात करने लगेंगे और तुम्हारे शरीर को प्रेत कह कर घर के बाहर नुस्त कर देंगे । मर जाने पर विवाहिला पत्नी को घर की देहली (द्वार) तक साथ देनी है और रिहोदार-जोशार एव मित्र लोग उसको घर से बाहर ले जाते हैं । कुटुम्ब के लोग मरणा (समझाने पट्ट) तक ले जाते हैं । लोग उससे ताद जीवात्मा धोखा यह प्राण है । कबीरदास कहते हैं कि कत मधु मापी ज्यू, पौर जानी हूँ, भी है मानव ! तू अपना मधु मास दे लो नली नलिनी है ? उर्यौ, नाम नाम तौ तब मधो नली

करता है ? मोह मे पडा हुआ तू, क्यों अपने आपको काल के अवे कुएँ मे डालने की तैयारी कर रहा है ? कवीरदास कहते है कि मनुष्य अपने आाको सासारिक बन्धनो मे उसी प्रकार बँधा देता है जिस प्रकार तोता स्वय आकर अपने आपको नलिनी मे कैद हो जाता है ।

अलंकार—(1) गूढोत्तर — फिरत कत कहा परत ।

(II) पुनरुक्ति प्रकाश — फूल्यौ-फूल्यौ, जोरि जोरि, लेहु लेहु ।

(III) उपमा—ज्यूँ माषी, ज्यूँ सूवा ।

(IV) रूपक - अँवरे कुआ ।

विशेष—(1) इस पद मे ससार की असारता का प्रतिपादन है ।

(II) वैराग्य एव निर्वेद की व्यजना है ।

(III) जीव एव जीवन की तुच्छता का वर्णन है ।

(IV) कहै कवीर... .. नलिनी को सूवा । शुक को पकडने के लिए पहले बधिक एक घूमने वाली लगा देता है —उसे पौनी या नलिनी कहते हैं । शुक आकर उप पर बैठ जाता है । वह उलटा हो जाता है और नली के घूमने के साथ वह भी फिरने लगता है । इससे वह समझता है कि नली से बँध गया है । बस, इसी बीच मे बधिक आकर शुक को पकड लेता है । यही दशा मानव की है । वह सासारिक प्रपच मे स्वय लिप्त होता है और समझता यह है कि ससार ने उसे पकड रखा है । अस्तु ।

(V) तोते के नलिनी मे स्वय आकर बद्ध होने का कथन सूरदास ने भी किया है—

अपुनपौ आपुन ही बिसर्यो ।

× × ×
हरि-सौरभ मृग नाभि बसत है, द्रुम-तृण सूँघि फिर्यो ।

× × ×
मरकट सूँठि छाँड़ि नहिं दीनी, घर-घर द्वार फिर्यो ।

सूरदास, नलिनी को सुवटा, कसि कौने पकड्यो ।

(२४२)

जाइ रे दिन हों दिन देहा,

करि लै बौरी रांम सनेहा ॥ टेक ॥

बालापन गयौ जोबन जासो, जुरा मरण भौँ सकट आसी ।

पलटे केस नैन जल छाया, मूरिख चेति बुढापा आया ॥

रांम कहत लज्या क्यूँ कीजै, पल पल आउ घट तन छोजै ।

लज्या कहै हू जम की दासी, एकै हाथि सुदिगर दूजै हाथि पासी ।

कहै कवीर तिनहू सब हार्या, रांम नाम जिति मनहु बिसार्या ॥

शब्दार्थ— जाइरे=क्षीण हो रही है । जुरा=जरा, बुढापा । आसी=आएगा । पलटे केस=वालो का रग बदल गया है अर्थात् बाल सफेद हो गए है ।

लज्या=लज्जा ।

सन्दर्भ—वकीरदास मानव को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि उसे रामनाम का स्मरण करना चाहिए ।

भावार्थ—री पागल जीवात्मा ! दिन प्रतिदिन यह शरीर क्षीण हो रहा है । हे पगली ! भगवान राम के प्रति मन को अनुरक्त कर ले । तुम्हारा बचपन तो नष्ट हो ही गया है, जवानी भी चली जाएगी और बुढापा तथा मृत्यु का भय उपस्थित होंगे । तुम्हारे बाल सफेद हो गए हैं, नेत्रों में कमजोरी के कारण सदैव पानी डब-डबाता रहता है । हे मूर्ख ! अब भी होश में आजा । देख, बुढापा तो आ ही घमका है । राम-नाम का उच्चारण करते हुए तुझ को शर्म क्यों लगती है । प्रत्येक क्षण तेरी वायु कम हो रही है और तेरा शरीर दुर्बल होता चला जा रहा है । लज्जा कहती है कि मैं यमराज की दासी हूँ । इसी कारण इसको राम-नाम कहने से पराङ्मुख करती रहती हूँ । मेरे एक हाथ में मुगदर है और दूसरे हाथ में फदा है । जिनमें यमराज को इसे मारकर बाँधकर ले जाने में विलम्ब न लगे) । कबीरदास कहते हैं कि जिन्होंने मन से भी राम-नाम को भुला दिया है, उनका जीवन सर्वथा निरर्थक हो गया है ।

अलंकार—(1) मानवीकरण—लज्जा कह्यौ ।

(11) पुनरुक्ति प्रकाश—पल-पल ।

विशेष—(1) व्यजना यह है कि राम-नाम के स्मरण से मृत्यु पर विजय हो जाती है ।

(11) निर्वेद सचारी भाव की व्यजना है ।

(२४३)

मेरी मेरी करतां जनम गयो,

जनम गयो परि हरि न कह्यौ ॥ टेक ॥

बारह बरस बालापन खोयो, बीस बरस कछू तप न कीयो ।

तीस बरस फँ राम न सुमिर्यौ फिरि पछितानों विरघ भयो ॥

बूकँ सरवर पालि बंधावै, नुगै खेत हठि बाडि करै ।

आयो चोर नुरंग मुनि ले गयो मोरी राखत मुगध फिरै ॥

गोस घरन कर कंपन लागे, नैन नीर अस राल बहै ।

जिन्या बचन सूघ नहीं निकसै, तब सुकरित फी बात कहै ॥

बाहँ कबीर गुनहारे मंती, धन मंचरो फछू संगि न गयो ।

बाहँ तनव गोपाल नाट फी, मंती मंदिर छाडि चल्यौ ॥

अर्थ—मेरी मेरी करतां मेरा, तब तेरा या भाव । विरघ = वृद्ध, बुढ़ा ।

बूकँ = बूकँ । सरवर = पाट मिट्टी का बाँध । नुगै = बाटा हुआ । बाहँ = मेरा ।

गोस करन की रक्षा के अर्थ में । हठि = हठ पूर्वक क्रिय करने । नुरंग =

चोर । मंती = मन्त्री के अर्थ में । मोरी = मेरी । विरघ = वृद्ध, बुढ़ा ।

मुग्ध=मूर्ख । राखत=रक्षा करता हुआ । अमराल=असधार, आँसुओ की धार ।
जिभ्या=जीभ । सुकरति=सुकृत, पुण्य । तलव=बुलावा ।

सदर्भ—कबीर जीवन की क्षण भंगुरता का प्रतिपादन करते हैं और कहते हैं कि राम-नाम का स्मरण अवश्य करना चाहिये ।

भावार्थ—हे जीव ! अहभाव तथा अपना-तेरी के फेर में तेरा सम्पूर्ण जीवन व्यतीत हो गया । तूने अपना सम्पूर्ण जीवन इसी प्रकार व्यर्थ गँवा दिया, परन्तु भगवान का नाम नहीं लिया । प्रारम्भ के बारह वर्षों तक तो तू बालक बना रहा और वह समय बालकपन के नाम पर खेलकूद में नष्ट कर दिया । इसके बाद बीस वर्ष की अवस्था तक (किशोरावस्था में) किसी प्रकार की साधना नहीं की । तीस वर्ष की अवस्था तक (अथवा युवावस्था में) तूने राम का भजन न किया इसके बाद तेरी वृद्धावस्था आ गई और अब तू पश्चाताप करने लगा । जीवन व्यतीत हो जाने पर पश्चाताप करना व्यर्थ है । यह तो तालाब के सूख जाने के बाद उसके चारों ओर मेड़ बाँधने के समान है अथवा काटे हुए खेत की रखवाली के लिए उसके चारों ओर बाड़ लगाना है । यह तो ऐसा ही है जैसे चोर आकर किसी का घोड़ा चुरा कर ले गया हो और उसका मूर्ख स्वामी उसकी रास पकड़े घूम रहा हो (और इस भ्रम में हो कि घोड़ा उसके अधिकार में है ।) अब तो सिर, पैर, हाथ सभी अग काँपने लगे हैं और आँखों से बराबर पानी बहता रहता है । जीभ (मुख) से ठीक तरह बोला नहीं जाता है । पूर्ण शक्तियों के नष्ट हो जाने के बाद अब तू पुण्य-कृत्य की बात करता है । कबीरदास कहते हैं कि हे सतो ! अनेक व्यक्तियों ने धन का सचय किया । वह धन-सम्पत्ति किसी के साथ नहीं गई । भगवान का बुलावा आते ही उन्हें गृह द्वार छोड़कर चला जाना पड़ा । अथवा इस जीव ने भी बहुत सी सम्पत्ति एकत्र कर रखी है । अन्य जीवों की भाँति इसके साथ भी कुछ नहीं जाएगा और भगवान का बुलावा आने पर इसको भी घर-द्वार, महल, मन्दिर सब कुछ छोड़कर चल देना पड़ेगा ।

अलंकार—(1) पुनरुक्ति प्रकाश—मेरी मेरी ।

(II) वृत्यानुप्रास—बारह बरस बालकन, बीस बरस ।

(III) दृष्टान्त—सूकै . फिरँ ।

विशेष—समभाव के लिए शंकरचार्य का भज गोविन्द स्तोत्र देखें - अग गलित तलितं गुड इत्यादि ।

(२४४)

जाहि जाती नांव न लीया,

फिरि पछितावै गौ रे जीया ॥ टेक ॥

धधा करत चरन कर घाटे, आउ घटी तन खीना ।

विषै बिकार बहुत रुचि मांनी, माया मोह चित दीन्हं ॥

जागि जागि नर काहे सोवै, रोइ सोइ कब जागैगा ।
जब घर भीतरि चोर पड़ेगे, तब अंचलि किसकै लागेगा ॥
कहै कबीर सुनहु रे सतौ, करि त्यों जे कछु करणां ।
लख चौरासी जोनि फिरौंगे, बिनां राम की सरनां ॥

शब्दार्थ—जाति जाती=व्यर्थ जाते हुए । जीया=जीव । चरन=पाँव ।
कर=हाथ । घारे=क्षीण हो गये, थक गये । आउ=आयु ।

सदर्थ—कबीरदास जीव को रामभक्ति की ओर प्रेरित करते हैं ।

भावार्थ—रे जीव ! जीवन व्यर्थ जाते हुए देखकर भी यदि तूने भगवान का नाम नहीं लिया तो बाद में तुम्हें पछानना पड़ेगा । ससार के धन्धों को करते-करते तेरे हाथ-पाँव दुर्बल हो गए हैं, आयु घटती जा रही है और शरीर क्षीण हो गया है । विषय-विकारों के प्रति तू सदैव अनुरक्त रहा और माया-मोह में उलझा रहा, अर्थात् 'मैं मेरा' के चक्कर में पडा रहा । रे जीव ! जागजा । अज्ञान निद्रा में क्यों सो रहा है । आखिरकार इस अज्ञान-रूपी निद्रा को तू कब छोड़ेगा ? अर्थात् यदि अब भी नहीं जागा, तो आखिर कब जागेगा ? जब इस शरीर रूपी घर में यम-दूत रूपी चोर तेरे जीवन को ले जाने के लिए घुस आँयेंगे, तब तू उस समय अपने रक्षार्थ किमकी शरण में जायगा ? कबीर कहते हैं कि हे सतौ ! सुनो जो कुछ भगवन्नाम-स्मरण करना है, उसे कर लो । राम की शरण में गए बिना तुमको बार-बार जन्म लेकर चौरामी लाख योनियों में निरन्तर भटकते रहना पड़ेगा ।

अलंकार—(1) पुनरुक्तिप्रकाश—जागि जागि ।

(II) रूपकातिशयोक्ति—घर चोर ।

(III) गूढोक्ति—अंचलि किमके लागेगा ।

विशेष—'निर्वेः' संचारी भाव की मार्मिक व्यंजना है ।

(२४५)

माया मोहि मोहि हित फीन्हां,

तायै मेरौ श्यांन घ्यांन हरि लीन्हा ॥ टेक ॥

संतार ऐमा सुपिन जैसा, जीव न सुपिन समांन ।

चाँच करि नरि गांठि बांध्यो, छाड़ि परम निधान ॥

नैन नेह पतंग हलनै पसू न पेखै आगि ।

घाग पासि जु मृगध बांध्या, कलंक कांमिनीं लागि ॥

करि विचार विकार परदरि, तीरण तारण सोइ ।

कहै कबीर रघुनाथ भजि नर, दूजा नाहीं फोइ ॥

शब्दार्थ—नारि=मायाविश प्रपञ्च । हलनै=उत्थानित होना है । पासि=

दृष्ट, कर=हाथ । परदरि=व्यापार । तीरण=तारण, नीचा । तारण=तारने

वाला । कलंक=दूषण ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि माया द्वारा मोहित गनुष्य को समझ लेना चाहिये कि एक मात्र राम-भजन द्वारा ही उसका उद्धार सम्भव है ।

भावार्थ—जीव कहता है कि मैंने मुग्ध हो-होकर माया से प्रेम किया । इसी कारण उसने मेरा ज्ञान (आत्म-बोध) एव विवेक (ईश्वर का ध्यान) हरण कर लिया । यह संसार ऐसा अस्थायी है जैसा स्वप्न होता है और यह जीवन स्वप्न की भाँति मिथ्या है । परन्तु फिर भी मैंने परम निधान (सबके आश्रय) प्रभु को छोड़कर ससार को सच्चा समझकर गाँठ में बाँधा अर्थात् सासारिकता के प्रति आसक्त हुआ । पतिंगा नेत्रों की वासना की तृप्ति के फलस्वरूप पतंग प्रसन्न होता है और इस विषय-सुख के कारण वह पशु उनकी ओर जाते समय यह नहीं देखता है कि अग्नि उसको जला देगी । हे मूर्ख जीव ! तू जो काल-पाश में बाधा गया है, वह कनक और कामिनी के प्रति आसक्त होने के कारण बाधा गया है । कबीर कहते हैं कि तू विचार करके काम, क्रोध, लोभ, मोह, मदादि विकारों को छोड़ दे और रघुनाथजी का भजन कर । वही ससार से तारने वाले हैं—नाव भी हैं और तारने वाले भी हैं । इस जगत में अन्य कोई ऐसा नहीं है जिसका आश्रय ग्रहण किया जा सके ।

- अलंकार—(1) उपमा—ससार सुपिन ऐसा, जीवन सुपन समान ।
 (II) पुनरुक्ति प्रकाश—मोहि मोहि ।
 (III) रूपक—काल-पाशि ।
 (IV) उदाहरण—नैह नैह " लागि ।
 (V) छेकानुप्रास—नैह नैह, तिरण तारण ।
 (VI) अनन्वय की व्यजना—दूजा नाही कोइ ।
 (VII) वृत्यानुप्रास—माया मोहि मोहि, पतंग पसू पेखै ।
 (VIII) पदमैत्री—सुपिन जीवन, करि विचार बिकार ।

विशेष—(1) निर्वेद एव वैराग्य का प्रतिपादन है ।

(II) कबीर एक ज्ञानी भक्त की भाँति भगवद्भजन का उपदेश देते हैं ।

(२४६)

ऐसा तेरा भूठा सीठा लागा,

ताथे साचे सू मना भागा ॥ टेक ॥

भूठे के घरि भूठा आया, भूठा खांन पकाया ।

भूठी सहन क भूठा गाह्या, भूठे भूठा खाया ।

भूठा ऊठण भूठा बैठण, भूठी सबै सगाई ।

भूठे के घरि भूठा राता, साचे को न पत्याई ॥

कहै कबीर अलह का पगुरा, साचे सू मन लावौ ।

भूठे केरी सगति त्यागौ, मन बछित फल पावौ ॥

शब्दार्थ—सहन = सहनक = थाली । बाह्या = किया । पगुरा = वच्चा ।

सन्दर्भ—कबीर सबको भूठा कहकर भगवान के प्रति अनुरक्त होने को कहते हैं ।

भावार्थ—हे मनुष्य तेरा ऐसा स्वभाव बन गया है कि तुझे भूठ ही मधुर लगता है अथवा हे मनुष्य तेरी वृत्ति मिथ्या आनन्दो में अत्यधिक रमती है । फल यह हुआ कि तू नृत्य से सत्यानन्द से पराङ्मुख हो गया । इस मिथ्या ससार में भूठा जीव आया (ससार और जीव भाव ही मिथ्या हैं ।) वह मिथ्या विषय-वासनाओं में पड़ गया । इसी को लक्ष्य करके कबीर कहते हैं कि इस मिथ्या ससार ने उसके लिये भूठी विषय-वासना रूपी भोजन तैयार किया । माया रूपी भूठी थाली में भूठा भोजन परोसा गया और भूठे जीव ने उसमें विषय-वासना रूपी भूठे भोजन का भोग किया । यह उठना-बैठना एव समस्त सम्बन्ध भूठे (परमार्थतः मिथ्या) है । इन प्रकार भूठे रंग में भूठा अनुरक्त हो गया है । वह सत्य तत्व पर विश्वास नहीं करता है । कबीर कहते हैं कि हे खुदा के बच्चो (परमात्मा के पुत्रो) ! तुम परम तत्व स्वरूप सत्य में मन लगाओ और इस मिथ्या ससार के प्रति अपनी आसक्ति का त्याग कर दो । इसी से तुमको मन वाञ्छित फल (मोक्ष) की प्राप्ति होगी ।

अलंकार—(i) रूपकातिशयोक्ति एव यमक की व्यंजना—'भूठा' ।

विशेष—(i) जगत, जीव-भाव, विषय-वासना आदि सबको 'मिथ्या' कहने वाले कबीर ने प्रकारान्तर से शकर के 'मायावाद' का प्रतिपादन किया है ।

(ii) 'निर्वेद' सचारी की व्यंजना है ।

(iii) वैराग्य का प्रतिपादन है ।

(२४७)

कौण कौण गया राम कौण कौण न जासी,

पड़सी काया गढ माटी थासी ॥ टेक ॥

इंद्र सरीसै गये नर कोड़ी, पांचो पांडों सरिपी जोड़ी ।

धू अचिचल नहीं रहसी ताग, चद सूर की आइसी वारा ॥

फहै कबीर जग देखि समारा, पड़सी घट रहसी निरकारा ।

शब्दार्थ—जागी = जाणगा । गढ = किन्ना । पड़सी = गिरेगा । थासी = हो जाणगा । कोड़ी = बीगियो । घट = कबीर अथवा दृश्यमान जगत ।

मदम कबीर ससार की नरपत्नी का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—हे राम ! इस जगत में कौन-कौन नहीं चला गया और कौन-कौन नहीं चला गया ? (अथवा इन पाँचों में किसे लोग धरने गये हैं । कौन नहीं चला गया ?) कबीर-भाषी भगवति के लिए पते । और मिट्टी हो जाणगा । इंद्र के समान शरीर की लालसा अन्तर्गत नहीं । तागा पाण्डवों जैसी जोड़ियाँ नहीं गई । यह धूम्रपान भी नहीं रहता । चन्द्र और सूर के जाने का भी अन्तर्गत थाणगा । अन्तर्गत होने से ही तू जगत में इस नाजवानु ससार को दूख, यह घटाकाश

(दृश्यमान जगत) गिर कर समाप्त हो जाएगा और एक मात्र निराकार परम तत्त्व ही रह जाएगा । (वही शाश्वत सत्य है ।)

- अलंकार—(1) गूढोक्ति—कौण कौण गया ।
 (II) वक्रोक्ति—कौण कौण न जासी ।
 (III) रूपक - वाया गढ ।
 (IV) उपमा—इन्द्र सरीखे, पाडौ सीखी ।

विशेष—(1) धू अविचल नहीं रह सी—शास्त्र विरुद्ध कथन होने के कारण यहाँ 'दुष्क्रात्व' दोष है ।

- (II) शाकर ब्रह्मवाद—'ब्रह्म सत्य' जगन्मिथ्या का प्रतिपादन है ।
 (III) 'राम' के द्वारा 'आत्मा' को सम्बोधित किया गया है ।

(२४८)

तथै सेविये नारांइणां,

प्रभू मेरौ दीनदयाल दया करणा ॥ टेक ॥

जौ तुम्ह पंडित आगम जाणौं, विद्या व्याकरणां ।
 तंत मत सब ओषदि जाणौं, अंति तऊ मरणां ॥
 राज पाट स्थंघासण आसण, बहु सु दरि रसणां ।
 चदन चीर कपूर बिराजत, अंति तऊ मरणां ॥
 जोगी जती तपी संन्यासी, बहु तीरथ भरमणां ।
 लु चित मु डित मोनि जटाधर, अति तऊ मरणां ॥
 सोचि विचारि सबै जग देख्या, कहू न ऊबरणां ।
 कहै कबीर सरणाई आयौ, भेटि जामन मरणां ॥

शब्दार्थ—तथै=इसलिए । सेविये=सेवा कीजिए । आगम=शास्त्र ।
 चीर=वस्त्र । लु चित=जिन्होंने अपने बालो को नोच-नोच कर निकाल दिया है ।
 जामन=जन्म ।

संदर्भ—कबीर दृश्यमान जगत की नश्वरता का वर्णन करते हैं ।

रे मानव ! नारायण की सेवा इसलिए करनी चाहिए क्योंकि वे प्रभु दीनो पर दयालु हैं तथा दया एव करुणा करने वाले हैं । तुम भले ही पंडित हो, शास्त्रो के ज्ञाता हो, विद्या व्याकरण जानते हो, तन्त्र-मन्त्र एव सम्पूर्ण आयुर्वेद का तुम्हे ज्ञान है, परन्तु फिर भी तुम्हे अन्त मे मरना ही है । तुम्हारे राज-पाट है, तुम सिंहासन पर विराजते हो, अनेक सुन्दरियो के साथ रमण करते हो, चदन और कपूर से चर्चित वस्त्रो से सुशोभित होते हो, तब भी तुम्हे अत मे मरना ही है । चाहे कोई योगी है, पति है, तपस्वी है, संन्यासी है, अनेक तीर्थों मे भ्रमण किया हुआ व्यक्ति है, लु चित मु डित, मौनी, जटाधारी किसी भी प्रकार का साधु है, पर अतत. उसको भी मरना है । कबीर कहते हैं कि मैंने सोच समझकर सारा ससार ढूँढ़ लिया है,

परन्तु मृत्यु से किसी प्रकार नहीं बचा जा सकता है । अतः हे भगवन् ! मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ । जन्म-मरण के चक्र से मेरी रक्षा करो ।

(२४६)

पांडे न करसि वाद विवाद,

या देही विन सबद न स्वाद ॥ टेक ॥

अंड ब्रह्मांड खड भी माटी, माटी नवनिधि काया ।
माटी खोजन सतगुर भेटचा, तिन कछू अलख लखाया ॥
जीवत माटी सूवा भी माटी, देखौ ग्यांन बिचारी ।
अति कालि माटी मै बासा, लेटं पांव पसारी ॥
माटी का चित्र पवन का थंभा, व्यद संजोगि उपाया ।
भाने घड़े सवारै सोई यहु गोव्यद की माया ॥
माटी का मदिर ग्यान का दीपक, पवन वाति उजियारा ।
तिहि उजियारै सब जग सूभै, कवीर ग्यांन विचारा ॥

शब्दार्थ—थभा = स्तम्भ, खम्भा, सहारा । व्यद = विदु, वीर्य । भाने = दूटे हुए । वाति = वत्ती । उजियारा = प्रकाशित है ।

संदर्भ— कवीरदास समाज की अमारता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ— कवीर कहते हैं कि अरे पाण्डित ! तुम वाद-विवाद (शास्त्रार्थ) मत करो । इन शरीर के विना न शब्द रह जाएगा और न स्वाद रह जाएगा—न तो शास्त्रार्थ ही रह जाएगा और न शास्त्रार्थ का आनन्द ही रह जाएगा । तुम्हारा शास्त्रार्थ तो अवलम्बित है शरीर और शरीर की स्थिति यह है कि यह समष्टि जगत और इन विश्व का प्रत्येक अणु—सभी कुछ मिट्टी है । यह नवनिधियों को नोचने वाला शरीर भी मिट्टी ही है । उसी मिट्टी के समार में खोजते-खोजते (विभिन्न नाथनाथों में भटकते हुए) गद्गुरु ने मेरी भेट हो गई । उन्होंने मुझको उस अलक्ष्य परम तत्त्व का दृष्टि ज्ञान करा दिया । हे मानव ! तू ज्ञान पूर्वक मनन करके देख । यह शरीर जीवन अवस्था में भी मिट्टी है और मरने पर भी मिट्टी है । इस शरीर को अन्न मिट्टी में ही मिन जाना पड़ता है और अन्न समय में यह जीव जमीन पर (मिट्टी में) पैर फैला कर बैठ जाता है । यह शरीर मिट्टी का ही पतला है और प्राण वायु का आधार रखता है तथा केवल वीर्य एवं रज की बूदों के संयोग में यह उपद्रव निदा गया है । भगवान् तो यही जानते हैं कि वही घटे-रूपी शरीरों को नष्ट करता है और यही अन्त निर्माण करता है । कवीरदास ज्ञान पूर्वक विचार कर कहते हैं कि मिट्टी से इस शरीर तथा मदिर में ज्ञान रूपी दीपक जलना है । प्राण वायु की वनी इसमें प्रकाशित है— इस ज्ञान दीपक के प्रकाश के द्वारा ही सम्पूर्ण अन्तर्गत का अन्तर्गत जान होना है ।

शब्दार्थ— (१) शिवायुप्राम— याद दिवाद, मवद स्वाद ।

(२) पदमति— जद प्रद्विद मवद । सूवा माटी ।

- (iii) रूपकातिशयोक्ति—माटी ।
 (iv) विरोधाभास — अलख लखाया, जीवत मारी मूवा माटी ।
 (v) रूपक—माटी का चित्र पवन का थभा ।
 (vi) माटी का मन्दिर, ज्ञान का दीपक, पवन वाति ।
 (vi) रूपकातिशयोक्ति— चित्र ।

विशेष—(i) ससार की नश्वरता का वर्णन है ।

(ii) पवन व ति—प्राण के आवागमन से ही यह शरीर चेतन प्रतीत होता है । इसी से प्राण वायु को इसका आधार भी कहा है और उसकी बत्ती के साथ समता की है ।

(२५०)

मेरी जिभ्या बिस्न नैन नाराइन, हिरदै जपौ गोविदा ।
 जम दुवार जब लेख मांग्या, तब का कहिसि मुकदा ॥ टेक ॥
 तूँ ब्राह्मण मै कासी का जुलाहा, चीन्हि न सोर गियाना ।
 तै सब मांगे भूपति राजा, सोरे राम धियाना ॥
 पूरब जनम हम ब्राह्मण होते, वोछे करम तप हीना ।
 राम देव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीन्हां ॥
 नौमी नैम दसमीं करि सजम, एकादसी जागरणां ।
 द्वादसी दान पुनि की बेलां, सर्व पाप छ्यौ करणां ॥
 भौ बूड़त कछु उपाइ करीजै, ज्यू तिरि तीरा ।
 राम नाम लिखि भेरा बांधौ, कहै उपदेस कबीरा ॥

शब्दार्थ — मुकुन्द = कृष्ण, विष्णु ।

सदर्भ—कबीर कर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि मेरी जीभ विष्णु का, नेत्र नारायण का तथा हृदय गोविन्द का जप करते हैं । परन्तु हे जीव ! तुम तो भगवान का जप करते नहीं हो । तुम से यम के द्वार पर जब कर्मों का हिसाब मागा जाएगा, तब क्या तुम यह कह सकोगे कि तुमने जीवन में विष्णु का नाम-स्मरण किया था ? तुम तो ब्राह्मण हो और मैं काशी में उत्पन्न जुलाहा हूँ । तुम मेरे ज्ञान को नहीं समझते हो । तुम जैसे सब लोग भगवान से पृथ्वी के आधिपत्य एवं राज्य की याचना करते हैं (अर्थात् सासारिक सुखोपभोग की आकांक्षा करते हैं) पर मुझे तो केवल भगवान राम का ध्यान ही चाहिए । पूर्व जन्म में हम भी ब्राह्मण थे । हमारे कर्म ओछे थे और हम तप से रहित थे । भगवान राम की सेवा करना हम भूल गए । अतः भगवान ने पकड़ कर हमको जुलाहा बना दिया । तुम नवमी के दिन नियमादिक का पालन करते हो । दशमी को संयम करते हो, एकादशी को जागरण करते हो, द्वादशी को दान-पुण्य का अवसर मानते हो और इस प्रकार सब पापों का क्षय करने का साधन करते हो । इनसे पुण्य-संचार का अहंकार वहन करते हो, (पर ये पाप-क्षय के पूर्ण

एव नफल साधन नहीं हैं ।) अतः भव-नागर में डूबने से बचने के लिए कोई अन्य उपाय करना चाहिए जिसमें तैर कर इसे पार करके दूसरे किनारे पर पहुँच सको । कवीर का उपदेश तो यही है कि राम-नाम के स्मरण की नाँव तैयार करो जिससे उस भव-नागर को पार कर सको ।

अन्कार—(1) गूढोक्ति—तब का—मुकन्दा ।

(II) रूपक—राम-नाम मेरा ।

विशेष— (1) भक्ति का प्रतिपादन है । वही एक ऐसा साधन है जिससे भव-नागर को पार किया जा सकता है ।

(II) इन पद के अनुसार उच्च जाति में पैदा होने से नहीं उच्च कर्म करने से ही व्यक्ति उच्च बनता है ।

(III) पुरव जनम कीन्हा - उन पक्तियों में कर्म-फल सिद्धान्त एवं पुनर्जन्म के भारतीय सिद्धांत की स्पष्ट स्वीकृति है ।

(IV) भक्ति ही उच्चतम कर्म है । यह व्यजित है ।

(V) मेरी जिन्हा गोविंदा—तुलना कीजिए—

मिय-राम तरुप अगाध अनूप, विलोचन मीनन को जलु है ।

लुति राम कथा, सुत राम को नाम हिये पुनि रामहि को थलु है ।

मनि रामहि सो, गति रामहि सो, रति राम सो रामहि को बलु है ।

नबको न कहै, तुलसो के मते, इतनो जग जीवन को फलु है ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(२५१)

कहू पाडे सुचि बवन ठांच,

जिहि घरि भोजन बैठि खाऊ ॥ टेक ॥

माता जूठी पिता पुनि जूठा, जूठे फल चित लागे ।

जूठा भांवन जूठा जानां, चेतहु क्यूं न अभागे ॥

अंन जूठा पांनो पुनि जूठा, जूठे बैठि पकाया ।

जूठी कड़्यो अन परोस्या, जूठे जूठा खाया ॥

चीका जूठा गोवर जूठा, जूठी को ढीकारा ।

कहै कवीर तेई जन सूचे, जे हरि भजि तजहि विकारा ॥

शब्दार्थ—पाडे=पण्डित । सुचि=शुचि=पवित्र । ठाऊं=स्नान । काग=केसा, लोह । क्यूं=क्यों ।

संदर्भ—कवीर कहते हैं कि भगवद् भजन के अनिरिक्त मद्य मुद्र उद्विग्न हैं ।

भाषार्थ—ये पण्डित हैं कवीर, पौन-मा स्थान पवित्र हैं जहाँ पर बैठ कर मैं भोजन करता हूँ, माता जूठी हैं, पिता जूठा है मेरे मन में विषम-भरी उन्हें पत्र लक्ष्य है । अन्ना-पांनो का भोजन कर ही मुझ पर, मा. क्यूं नो जूठा है । अथ कवीर

कुछ जूठा है, तो हे अभागे जीव, अब तो चेत कर । अन्न और पानी सब जूठे हैं और इनको पकाने वाले जूठे हैं । जूठी कडछी से यह अन्न परोसा गया है । खाने वाला भी जूठा है और जिस गोबर से इस चौके की जूठन उतारी गई है वह गोबर भी जूठा है । इस चौके में जो लीक लगाई गई है, वह भी जूठी है । इस प्रकार सम्पूर्ण ससार में जूठन का ही अधिकार है । कबीरदास कहते हैं कि वे ही व्यक्ति पवित्र हैं जो भगवान का भजन करके अपने हृदय के सम्पूर्ण विकारों का त्याग कर देते हैं ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति—कवन ठाउ ?

(II) 'जूठा' शब्द की पुनरावृत्ति के कारण अनुप्रास एवं पदमैत्री की छटा दृष्टव्य है ।

विशेष—(1) ससार का कोई भी स्थान, कोई भी व्यक्ति एवं इसकी कोई भी वस्तु नितान्त नवीन एवं अछूती नहीं है । सभी कुछ उच्छिष्ट एवं मुक्त है । जीव भी शुद्ध चैतन्य नहीं है वह भी माया द्वारा आवृत है । जीव विषयो से मुक्त है ही । विषयो का भोग अनादि काल से हो रहा है । अतः वे जूठे हैं । उन्हीं विषयो के सस्कार मन में हैं, उन्हीं का भोग मन करता है । अतः मन 'जूठन' का भोग करता है । इस प्रकार कबीर ने 'सर्व उच्छिष्टम्' की भावना को जगाकर जगत् के प्रति वैराग्य' का प्रतिपादन किया है ।

(II) भगवान का भक्त विषयो का स्पर्श नहीं करता है । अतः वह 'जूठन' से बच जाता है । अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित भक्त ही 'जूठन' के भाव से बच सकता है ।

(III) वैराग्य के साथ वाह्याचार के प्रति निरर्थकता के भाव को भी जगाना इस पद का उद्देश्य प्रतीत होता है ।

(२५२)

हरि बिन भूठे सब व्यौहार,

केते कोऊ करौ गँवार ॥ टेक ॥

भूठा जप तप भूठा ग्यान, राम बिन भूठा ध्यान ।

बिधि नखेद पूजा आचार, सब दरिया मै वार न पार ।

इंद्री स्वारथ मन के स्वाद, जहाँ साँच तहाँ मांडै बाद ॥

दास कबीर रह्या ल्यौ लाइ, भर्म कर्म सब दिये बहाइ ॥

शब्दार्थ—गँवार = अज्ञानी, मूर्ख । नखेद = निषेध विधि = शास्त्र जिन कामों को करने का आदेश देता है । निषेध = शास्त्र में जिन कामों की मनाई है । मांडै = सजोते हैं । दरिया = नदी ।

सन्दर्भ—कबीरदास वाह्याचार का विरोध करते हैं ।

भावार्थ—भगवान की भक्ति के बिना समस्त सासारिक व्यवहार भूठे (व्यर्थ) हैं । अज्ञानी व्यक्ति उनके प्रति चाहे जितने आसक्त क्यों न

हो जाएँ (अथवा राम भक्ति के बिना समस्त साधनाएँ व्यर्थ हैं। मूर्ख लोग चाहे जितना उनका पालन करे। सारा जप-तप भ्रूण है, सम्पूर्ण शास्त्र-ज्ञान व्यर्थ है। राम की भक्ति के बिना समस्त ध्यान एवं साधना भ्रूणी है। शास्त्रों के द्वारा निर्धारित विधि-निषेध, पूजा-शाचार का कोई अन्त नहीं है। ये मत्र नदी में डुबा देने योग्य हैं। स्वार्थी व्यक्तियों ने इन्द्रियों के भोग एवं मन को प्रमत्त करने के लिए अनेक 'बादों' और पूजा पद्धतियों का विकाम कर रखा है। कबीरदास कहते हैं कि इसी में मैंने समस्त भ्रमों को नष्ट करके और अन्य प्रकार की साधनाओं में मुँह मोड़ कर भगवान में अपना मन लगा दिया है।

अलंकार—गूढोक्ति एवं विशेषोक्ति ही व्यञ्जना -

विशेष—प्रथम चरण।

वाह्याचार का विरोध है। सच्ची भक्ति का प्रतिपादन है।

(२५३)

चेतनि देखै रे जग धंधा ।

राम नाम का मरम न जानै, माया कै रसि अघा ॥ टेक ॥

जनमत हीरु कहा ले आयो, मरत कहा ले जासी ।

जैसे तरवर वसत पखेरु, दिवस चारि के वासी ॥

आपा थापि अवर कौ नन्दै, जन्मत हीं जड़ फाटी ।

हरि की भगति बिनां यहु देही घव लोटै ही फाटी ॥

कांम क्रोध मोह मद मछर, पर अपवाद न सुणिये ।

कहे कबीर साध की संगति, राम नाम गुण भणिये ॥

शब्दार्थ—वसत = बसते हैं। पखेरु = पक्षी। थापि = स्थापना करके, बढ़ाई करके। घव लोटे = देह धो लोटे = दौट धूप। फाटी = विदीर्ण हो गई, नष्ट हो गई। भणिये = कहिए।

सन्दर्भ—कबीर का कटना है कि जीव को संसार के प्रपञ्च त्याग कर राम की भक्ति करनी चाहिए।

भावार्थ—हे जीव! तू केवल संसार के धन्धों के प्रति आकर्षित है। अथवा रे जीव, तू आगेकर क्यों नहीं देखता है कि यह संसार एक जाल है। तू राम के नाम के वास्तविक मूल्य को नहीं जानता है और मायाजन्य सुखों में निष्ठ होकर वास्तविक स्थिति को न देखने का कारण अज्ञान ही रहा है। जन्म के माथ तू अपने माथ पीत ना बन-तनय नाया का और मरने पर अपने माथ क्या ले जायगा? जिस प्रकार पक्षी चार दिन के मेषमान की तरह वृक्ष पर चार दिन तक (दृष्ट हो २३) निश्चय करने से उसी प्रकार यह जीव ही इस संसार में बंध लोटै जिसे तू मरना है। तू मरने पर भी जो प्राणियां जन्मा है तैर समझे ही सुखें हरता है। इस प्रकार अपने संसार की भावना बदला है जन्मा कारण करने तू जन्म के माथ

ही अपनी जड़ काटती है अर्थात् अपने उद्गम स्थल ब्रह्म से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है। हरि की भक्ति विना यह देह विषयो के पीछे दौड़-धूप करते हुये नष्ट हो गई है। कबीरदास चेतावनी देते हुये कहते हैं कि हे जीव, तू काम, क्रोध, मोह, मद और मत्सर की ओर ध्यान मत दे और साधुओ की सगति करो तथा राम के नाम का गुणगान करो।

अलंकार—(1) उदाहरण—जैसे... वामी।

(11) वक्रोक्ति—जनमत जासी।

विशेष—(1) जड़ काटी, धव लौटे—मुहावरो का सुन्दर प्रयोग है।

(11) व्यक्ति को चाहिए कि वह ससार के प्रति आसक्त न होकर भगवान की भक्ति करे। साधु-सगति एव भगवन्नाम-स्मरण के द्वारा मिथ्यात्व का विश्वास होता है और उसके प्रति आसक्ति समाप्त हो जाती है।

(२५४)

रे जम नांहि नवै व्यौपारी,

जे भरै जगाति तुम्हारी ॥ टेक ॥

बसुधा छांड़ि बनिज हम कीन्हों, लाछो हरि को नांऊ ।

राम नाम की गूनि भराऊं, हरि के टांडै जांऊं ॥

जिनके तुम्ह अगिवानी कहियत, सो पूंजी हम पासा ।

अबै तुम्हारी कछु बल नांही, कहै कबीरा दासा ॥

शब्दार्थ—जगाति=पेशावर से आने वाले माल पर लगने वाला कर, आयात कर। गूनि=वोरा। टांडै=सार्थ, कारवाँ, काफिला। अगिवानी=आगे आगे चलने वाले।

सन्दर्भ—कबीर ज्ञान प्राप्ति की दशा का वर्णन करते हैं।

भावार्थ—हे यम ! हम वे व्यापारी नहीं हैं जो तुम्हारी चुगी दें। मैंने ससार के प्रति आसक्ति का परित्याग करके आत्म-बोध में जीवन लगाया है (निज व्यापार किया है) और मैंने हरि नाम की खेप लादी है अर्थात् मेरे मन-मानस में हरि-नाम व्याप्त है। मैंने राम-नाम रूपी सामग्री से जन्म रूपी बोरी भर ली है और हरि भक्तों के काफिले (समूह) के साथ (मोक्षधाम) को जाऊँगा (जिन भगवान के नाम पर तुम जीवधारियों को लिवा ले जाने के लिये आते हो, वे उन भगवान की भक्ति रूपी पूंजी ही हमारे पास है (जिस पर तुम्हारा कोई इजारा नहीं है) कबीर दास यमराज को सम्बोधित करके कहते हैं कि अब हमारे ऊपर तुम्हारा कोई वश नहीं चलेगा (पिछले जन्मों की बात अब नहीं रही है।)

अलंकार—(1) रूपक—रामनाम की गूनि।

(11) गूढोक्ति—नाहिन वैव्यापारी।

विशेष—(1) जे धरै जगाति—अज्ञान के कर्म पाप-पुण्य होते हैं। उनके अनुसार यम जीव का हिसाब-किताब लेकर उसको नरक-स्वर्ग भेजते हैं। परन्तु

‘आत्म-बोध’ का साधक-कर्म-निलिप्त रहना है । अतः उस पर यमराज का कोई अधिकार नहीं रहता है । यमराज के अधिकार की सीमा में आकर उसके निर्णय के अनुसार व्यवहार करने को विवश होना ही ‘यमराज की चुगी भरना’ है ।

(२५५)

मीया तुम्ह सौं बोल्या बणि नहीं आवे ।

हम मसकीन खुदाई वदे, तुम्हारा जस मनि भावै ॥ टेक ॥

अलह अवलि दीन का साहिब, जोर नहीं फुरमाया ।

मुरिसद पीर तुम्हारै है को कहौ कहाँ थै आया ॥

रोजा करे निवाज गुजारै, कलमे भिसत न होई ।

सतरि कावे इक दिल भीतरि, जे करि जानै कोई ॥

खसम पिछाँनि तरस करि जिय मै, माल मनी करि फीकी ।

आपा जानि साईं कूं जानै, तब ह्वै भिस्त सरीकी ॥

माटी एक भष धरि नांनां, सब मै ब्रह्म समानां ।

कहै कबीर भिस्त छिटकाई, दोजग ही मन मानां ॥

शब्दार्थ—मीया=मिया, मालिक, सम्मानित जन का बोधक (श्रीमन् की भाँति) । मसकीन=मिस्कीन=दीन, अकिंचन । वदे—सेवक, दास । अवलि—सर्व प्रथम । फुरमाया=आज्ञा दी । मुरिसद=मुरशिद=सीधा मार्ग दिखाने वाला, गुरु । पीर=महात्मा, सिद्ध । कलमा=वह वाक्य जो मुसलमानों के धर्म-विश्वास का मूल मन्त्र है—ला इलाह इतिल्लाह, मुहम्मद, रसूलिल्लाह । भिसत=वहिष्ट, स्वर्ग । सतरि=सत्तर । कावे=मक्का की एक चौकोर इमारत जिसकी नींव इब्राहीम की रखी हुई मानी जाती है । खसम=स्वामी । तरस=करुणा । माल मनी=मान-मन, वैभव के प्रति आसक्ति । फीकी=कम, मद । सरीकी=सम्मिलित शिरकतदार=शामिल होने का अधिकारी । छिटकाई=आसक्ति छोड़ दी । दोजस=नरक । मन माना=मन को आश्वस्त कर लिया है ।

संदर्भ—कबीर इस पद में विशेष रूप से मुसलमानों के वात्साचार का विरोध करके एकत्व का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—हे मियाँ जी (आदरणीय मुसलमान साधक), तुमने कुछ कहते नहीं बनना है (तुमने बहुत कौन परे) हम अकिंचन लोग तो भगवान के सेवक हैं, तुम हमको पादों सेना नमस्कार दो । भगवान तो सर्वप्रथम दीन व्यक्तियों का स्वामी है । तुमने किसी पर और आज़माने (दीनों पर अत्याचार करने) का आशा नहीं दी है । कसब के प्रयोग का मार्ग बताने वाले तुम्हारे कौन से गुरु एवम् महात्मा है और ये वहाँ से आए हैं ? रोजा रखना, नमाज़ पढ़ने और बन्दगा पढ़ने आदि में स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होगी है । यदि जोई दीन उम्माह म समझना चाहोगे तो उसकी समझ में यह बात ही आयेगी कि प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में जीवित मनन (अनोद) कार्य स्थित है । अपने स्वामी भगवान को पहिचान कर (है दे दी नमरे उद्गम वाग्म है) है

हृदय में दया-करुणा का भाव जगा और सामारिक वैभव के प्रति अपनी आसक्ति को कम (तिरोहित) कर दे। अपने स्वरूप को पहिचान कर जब तू अपने स्वामी भगवान के स्वरूप को समझेगा, तब कही जाकर तू स्वर्ग की प्राप्ति का अधिकारी बनेगा। मिट्टी (उपादान कारण मूल प्रकृति) एक ही है और उसी से विभिन्न रूपात्मक योनियो रूपी वर्तनों का निर्माण हुआ है। इस प्रकार समस्त दृश्यमान जगत में ब्रह्म समाया हुआ। कबीर कहते हैं कि (इसी विवेक के फलस्वरूप) मैंने स्वर्ग के प्रति आसक्ति को त्याग दिया है और नरक के प्रति मन को आश्वस्त कर लिया है, अर्थात् सबको समान समझने के फल स्वरूप मुझको यदि नरक में जाना पड़ेगा तो मुझे किसी प्रकार का दुःख नहीं होगा।

अलंकार—(1) छेकानुप्रास—अलह अवलि।

(11) गूढोक्ति—मुरशिद आया।

विशेष—(1) जोर नहीं फुरमाया—सबके मूल स्थान भगवान से क्या पीर मुरशिद नहीं आये, जो वे उसी भगवान से आने वाले अन्य प्राणियों पर जोर-जबरदस्ती करने का उपदेश देते हैं ?

(11) दो जग ही मन माना—इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—

रे मिया, तुमने जोर जुल्म और वाह्याडम्बरो में विश्वास करके वास्तव में स्वर्ग छोड़कर नरक में ही अपना मन लगा लिया है, और इस कारण तुमको नरक ही मिलेगा।

वैसे कबीरदास सदा यही कहते आए हैं कि मैं तो नरक में भी ब्रह्म के आनन्द रूप का साक्षात्कार कर लूँगा। इस कारण मेरे लिए स्वर्ग-नरक समान हैं। ज्ञानोदय के फलस्वरूप मेरी भेद-बुद्धि समाप्त हो गई है—

अनजाने को नरक सरग है, जाने को कुछ नाहीं।

जेहि डर को सब लोग डरत हैं, सो डर हमरे नाहीं।

(111) मुसलमान धर्म के वाह्याचारों का इतना सबल विरोध कबीर जैसे साहसी साधक ही कर सकते हैं। अन्यथा हिन्दुओं की तरह मुसलमानों के धार्मिक विश्वासों के विरुद्ध मुँह खोलना आसान नहीं है।

(iv) माटी एक ...समाना—एकेश्वरवाद एवं अद्वैतवाद का सुन्दर समन्वय है।

(v) सतरि कावे इक दिल भीतरि—तुलना करें—

हमारें तीरथ कौन करे ?

मन में गगा मन में जमुना भटकत कौन फिरे ? इत्यादि

तथा—

दिल के आइने में है तस्वीरेयार।

जब जरा गरदन झुकाई देख ली।

(२५६)

अलह ल्यो लायें काहे न रहिये,

अह निसि केवल राम नाम कहिये ॥ टेक ॥

गुरमुखि जलमां ग्यांन मुखि छुरी, हुई हलाल पंचू पुरी ॥

मन मसीति मै किनहूँ न जानां, पच पीर मलिम भगवांनां ॥

कहै कबीर मै हरि गुंन गाऊं, हिंदू तुरक दोऊ समझाऊं ॥

शब्दार्थ—ल्यो=ली, लगन । अह=दिन । हलाल=विहित, शरई रीति से पमुवध । कलमा=वह उक्ति जो मुसलमानो के धर्म-विश्वास का मूल मंत्र है --ला इलाह इन्लिल्लाह, मुहम्मद रसूललित्लाह । मसीत=मस्जिद ।

सन्दर्भ—कबीरदास अन्तर्मुखी होने का उपदेश देते हैं ।

भावार्थ—हे भाई ! तुम भगवान मे ली लगाकर क्यो नही रहते हो ? दिन रात केवल राम-नाम कहते रहो । गुरु के मुख से कलमा का उपदेश सुन कर तथा ज्ञान रूपी छुरी से पांचो इन्द्रियो के विषयो रूपी पशुओ का वध करके ईश्वरार्पण कर देना चाहिये । मन रूपी मस्जिद के भीतर भाँक कर किसी ने नही देया है । वहाँ पर पच पीरो के स्वामी भगवान का स्थायी निवास है । कबीर कहते हैं कि मैं (वाह्याचारो को त्याग कर) भगवान का गुण-गात करता हूँ तथा हिन्दू मुसलमान दोनो को ऐसा ही करने को कहता हूँ ।

अलकार—(i) गूढोक्ति—काहे न कहिए ।

(ii) रूपक—ग्यान मुखि छुरी, मनमसीति ।

(iii) रूपकातिशयोक्ति—पचूपुरी ।

(iv) ऐकानुप्रास—पंचू पुरी, पचपीर, मन-मसीति ।

विशेष—(i) कबीर वाह्याचारो को छोडकर सच्चे मन से भगवान को याद करने का उपदेश बार-बार देते हैं और आशा करते हैं कि हिन्दू-मुसलमान पारस्परिक भेद-भाव को भूल जायेंग ।

हिन्दू-तुरक की एक राह है, सतगुरु इहे बतवाई ।

कहत कबीर गुनो, हो नन्तो ! राम न कहें छुदाई ।

(ii) इस पद में निश्चिन्त रूप से मुस्लिम वाह्याचारो के प्रति विरोध व्यक्त किया है ।

(iii) पाँच इन्द्रियो का उनके विषय इन प्रकार है—कान—शब्द, जिह्वा—रस, आँसु—रूप नाम—संघ शक्त स्वचा—स्पर्श ।

(iv) कलमा का अर्थवत्त्व का प्रतिपादन है—अद्वैत ज्ञान है । अतः कबीर के मतानुसार कलमा का अर्थ अज्ञान, अविद्या के प्रति मनवृत्ति एवं प्रेम भावना का अभाव है । कबीर का अर्थ है—इन्द्रियो का अभाव न होकर विषयो के प्रति वैराग्य है । अतः कबीर पद में ली लगाकर पशुओं को वध करके ईश्वरार्पण करने का उपदेश देते हैं ।

(२५७)

रे दिल खोजि दिलहर खोजि, नां परि परेसानी मांहि ।
 महल माल अजीज औरति, कोई दस्तगीरी क्यूं नांहि ॥टेक॥
 पीरां मुरीदां काजियां, मुलां अरु दरवेस ।
 कहाँ थें तुम्ह किनि कीये, अकलि है सब नेस ॥
 कुराना कतेवां अस पढ़ि पढ़ि, फिकरि था नही जाइ ।
 टुक दम करारी जे करै, हाजिरां सूर खुदाइ ॥
 दरोगां बकि हूहि खुसियां, बे अकलि बकहि पुमांहि ।
 इक साच खालिक म्यानें, सो कछु सच सूरति मांहि ॥
 अलह पाक तू, नापाक क्यू अब दूसर नांहों कोइ ।
 कबीर करम करीम का, करनों करै जानै सोइ ॥

शब्दार्थ—दिल हर=प्रियतम । सहर - शहर । माल=धन-दौलत । अजीज
 =अजीज, प्रियजन । दस्तगीरी=हाथ पकडने वाला, सहायक । पीरा=गुरु ।
 मुरीदा=चेला । काजी=मुसलमान न्यायाधीश जो शरा के अनुसार मामलो का
 निर्णय करे, निकाह पढाने वाला मौलवी । मुला=मुल्ला, मस्जिद में रहने या नमाज
 पढाने वाला, मस्जिद, की रोटियाँ खानेवाला । अकलि है सब नेस (नेस्त ।, नेस्त=
 नष्ट, विवेक शून्यता । दरवेस=दरवेश, फकीर । कतेवाँ=किताबे । टुक =जरा,
 थोडा । दम करारी=दम का घैय, आत्म-नियन्त्रण । सूर=आनद । हाजिरा=
 उपस्थित, साक्षात्कार । दरोग = भूठा । हहि खुसिया = खुशी होते हैं । बेअकलि=
 मूर्ख । पुमाहि = प्रमत्त, गर्व करते हैं । सचु=सत्य । साचु=सत्यता । खलक=
 सृष्टि । खालिक=सृष्टि कर्ता । म्यानें=मे, मध्य । सैल=मकल, समस्त । सूरत=
 रूप । पाक=पवित्र । नापाक =अपवित्र । कम=करम दया । करीम =दयालु ।

सदर्थ—कबीरदास मुसलमानों के बाह्याचार का विरोध करते हैं और
 ब्रह्मवाद का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ - रे हृदय (मन), तू अपने आपको खोज और उसको खोज जो इस
 दिल में रहता है । अर्थात् तू अपने प्रियतम को खोज । (व्यर्थ की) अन्य परेशानियों
 में मत पड़े । सहर, धन-दौलत, प्रियजन, पत्नी कोई भी तेरा सहायक नहीं है । हे
 पीरो (धर्म गुरुओं), चेलाओं, काजियों, मस्जिद की रोटियाँ खाने वाले मुल्लाओं
 तथा खुदा के नाम पर दर-दर भीख माँगने वाले फकीरों, तुमको कहाँ से और किसने
 बनाया है ? तुम्हारी सब अक्ल मारी गई है अर्थात् तुम्हारी सब बातें विवेक शून्य
 हैं । कुरान तथा अन्य धर्म ग्रन्थों को पढ़ पढ़ कर तुम्हारी चिन्ताएँ दूर नहीं हो
 सकती हैं । जो अपने ऊपर थोडा सा नियन्त्रण कर लेते हैं, उन्हें ईश्वरीय आह्लाद
 का साक्षात्कार हो जाता है । मिथ्या बातों अर्थात् शास्त्र की बातों को बक बक कर
 लोग प्रसन्न होते हैं । अज्ञानी व्यक्ति ही इस प्रकार की बातें करके गव करते हैं ।
 जिस प्रकार 'सत्य' में सत्यता निहित होती है, उसी प्रकार सृष्टि समाई हुई है और

वह (नृष्टि कर्ता) नृष्टि के गमगत रूपो (दृश्यमान जगत) में व्याप्त है। यदि परमात्मा (अल्लाह) पवित्र है, तो तू (जीव) अपवित्र किस प्रकार हुआ ? अब तू समझ ले कि ससार में अल्लाह (परम तत्त्व) के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। कबीरदास कहते हैं कि उन दयालु की जिग पर दया होती है वही उसकी लीला (करनी) के रहस्य को जान सकता है।

अलंकार—(i) पुनरुक्ति प्रकाश—खोजि खोजि । पढि पढि । बकि बकि ।

(ii) विशेषोक्ति—कुराना नहीं जाइ ।

(iii) दृष्टान्त—सचु..... माहि ।

(iv) सभग पद यमक—पाक नापाक ।

(v) गूढोक्ति—तू नापाक क्यूँ ।

(vi) अनुप्रास—करम करीम करनी करै ।

विशेष—(i) बाह्याचार का विरोध है ।

(ii) आत्म-बोध का उपदेश है ।

(iii) शांकर अद्वैतवादी ब्रह्मवाद का प्रतिपादन है—सैल सूरति माहि—
नवंम् खन्विदरब्रह्म । अब दूमर नाही कोई— एकोऽह द्वितीयो नास्ति । जीवो ब्रह्मैव
ना पर । अलह पाक तू नापाक क्यूँ—‘अह ब्रह्मास्मि’ । (ईश्वर अंश जीव
अविनाशी । चेतन अमल महज सुखरासी) । इसी आधार पर सूफी धर्म ने भी
अनह्नक की आवाज उठाई थी ।

(iv) यम करीम का—जानै सोइ ।

जानी भक्त की भाँति कबीरदास ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रभु के अनुग्रह पर
अवलम्बित है ।

तुलना शीर्षक—

यह गुन साधन ते नहि होई । तुम्हरो कृपा पाउ कोइ कोई ।

सोइ जानहि जेहि देहु जनार्ण । जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई ।

पर— है श्रुति विदित उपाय नफल नुर, केहि केहि दीन पियारे ।

तुलनादाम यहि जीव मोह-रजु, जोई चाँधो सोइ छोरै ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

नया— अ-भिगत गति जानी न परं ।

×

×

×

गुर पवित तनि जाइ छनक में प्रभु जो नेकु ठरै । — गुरदास

(२५८)

गात्रिक हरि कहीं दर हान ।

पंजर जनि फरद दुगमन, मुन्द करि पैमाल ॥ टेक ॥

भिन्न हमारां बीजगा, दुंदर दरान दि वाल ।

पतनांन परदा ऐत धानम, जहर जंगम जान ॥

हम रफत रहबरहु समां, मै खुर्दा सुमां बिसियार ।
हम जिमां असमान खालिक, गुंद मुसिकल कार ॥
असमान म्यांनै लहग दरिया, तहाँ गुसल करदा बूद ।
करि फिर रह सालक जसम, जहां स तह्रां मौजूद ॥
हम चु बूंदनि बूंद खालिक, गरक हम तुम पेस ।
कबीर पनह खुदाइ की, रह दिगर दावानेस ॥

शब्दार्थ - खालिक = सृष्टिकर्ता । दर हाल = इसी समय । पच = पाँच तन्मायाएँ (मूल पच महाभूतो का सूक्ष्म रूप) अथवा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ । रजसि = रजिश करके । मुरद = मुर्दा । मिस्त = वहिश्त = स्वर्ग । दोजगा = दोजख, नरक । दुंद = द्वन्द्व = अशांति । ईत = ईति = दुख दुरापद । आतस = आतिश, अग्नि । जगम = जन्तु । रफत = जाने वाले । खुर्दा = अत्यल्प । बिसिमार = महान । असमान = आसमान, ब्रह्मरन्ध्र । दरिया = नदी । गुसल = स्नान । बूद = जानो । बूदनि = जानना बूद = जानना है । गरक = गरक = तन्मय, लीन । पेस = पेश, सामने, समक्ष । पनह = शरण । दिगर = दीगर = दूसरा । दावा = अधिकार । नेस = नेस्त, नहीं है । पैमाल = पामाल, पैरो से कुचलना । दराज = लम्बी । आतस = आतिस, अग्नि, ताप । सुमो = तू । रहबर = मार्ग दर्शक । लहग = चर्बी । बूद अस्तित्व ।

सदर्भ - कबीर भगवान के प्रति अनन्य समर्पण को अभिव्यक्ति करते हैं ।

भावार्थ - सृष्टिकर्ता हर जगह मौजूद है । वह इस समय यहाँ भी है । हड्डियो के इस ढाँचे के अर्थात् इस असार शरीर ने मेरे साथ दुश्मन जैसा व्यवहार किया है और पैरो से कुचल कर मुझ को मुर्दा (मृतकतुल्य) बना दिया है । स्वर्ग और नरक उसी के हैं । यह ससार रूपी लम्बी दीवाल उसी की छाया है । समस्त भेदभाव, दुरापद, ताप, पशुओ के जहर आदि इस ससार रूपी जाल में भरे पडे हैं । हम राहगीर हैं । तू हमारा रहनुमा (मार्गदर्शक) है । मैं अत्यन्त छोटा हूँ, तू अत्यन्त महान है । हम जमीन (नीचे) हैं । सृष्टिकर्ता ऊपर आसमान के समान हैं । दोनों को एक करना बड़ा ही कठिन काम है । आसमान में चरवी की नदी बहती है और उसमें आत्म तत्त्व स्नान करता है अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में होकर अमृत भरता है और आत्मस्वरूप जीव उसका भोग करता है । इस शरीर द्वारा तू उस मालिक की चिन्ता कर और धर्म एव नीति का आचरण कर । उसका साक्षात्कार तुम्हें हर स्थान पर होगा । स्वयं अपने को जानना तुम्हें मरजन हार को जान लेना है । हम तुम्हारे सम्मुख तुम्हारे ध्यान में मग्न हैं ।

कबीर कहते हैं कि मैं भगवान की शरण में हूँ यहाँ कोई दूसरा दावेदार नहीं है ।

विशेष— (1) कबीर प्रभु के प्रति पूर्ण समर्पण भाव दिखाते हैं ।

(II) हम रफत काल—तुलना कीजिए—

राम सो बड़ो है कौन मोसो कौन छोटी ।

राम सो खरो है कौन मोसो कौन खोटो ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(III) लहग दरिया—ब्रह्माण्ड मे से सवित रस धारा को चर्वी का दरिया कहना वृत्ति सगत ही है ।

एवं— है लुति विदित उपाय सकल सुर, केहि केहि दीन निहोरै ।

(२५६)

अलह राम जीऊँ तेरे नाँई,

बदे ऊपरि मिहर करौ मेरे साँई । टेक ॥

वधा ले माटी भुँइ सूँ मारै, वधा जल देह न्हावायै ।

जोर करै मसकीन सतावै, गुन हीं रहे छिपाये ॥

वधा तु जू जर मजन कीये, वधा मसीति सिर नांयै ।

रोजा करै निमाज गुजारै, वधा हज आवै जांयै ॥

ब्राह्मण ग्यारसि करै चौवीसौं, काजी महरम जांन ।

ग्यारह मास जुदे व्यू कीये, एकहि मांहि समांन ॥

जोर जुदाइ मसीति बसत है, और मुलिक किस केरा ।

तीरथ सूरति राम निवासा, दुहु मै कितहू न हेरा ॥

पूरिव दिसा हरी का वासा, पछिम अलह सुकांमा ।

दिल ही खोजि दिलै दिल भीतरि, इहां राम रहिमांनां ॥

जेती औरति मरवां कहिये, सब मै रूप तुम्हारा ।

कबीर पंगुड़ा अलह राम का, हरि गुर पीर हमारा ॥

शब्दायं— नाँई = नाम पर । बदे = सेवक पर, दास पर । मिहर = मेहर वानी । नाँई = स्वामी । मिट्टी = शरीर भुँइ सूँ मारै = जमीन पर पटका जाए । जोर करै जन्म करता है । मसकीन = दीन, दुःखी । मजन = मज्जन, शरीर की संशुद्धि के लिए मज्जने हुए कुशादि से जल छिड़कना । मसीति = मस्जिद । हज = हज निमित्त वाज पर काबे के दर्शन और प्रदक्षिण करना, मक्के की यात्रा । रोजा = मक्के की एक चौकीर इमारत जिगकी नीचे इब्राहीम की रखी हुई मानी जाती है । महरम = मुहरम मुसलमानों नाल का पहला महीना जिसकी दसवीं तारीख को उम्मासुमैन महीन हुए थे । मुलिक = मुक्त, नगार । हेरा । पंगुड़ा = शम शेष ।

सन्दर्भ— कबीर बाल्याचार की निरचंयता बताते हुए भगवान की अनन्य भक्ति का प्रतिपादन करते हैं ।

भाषा— 'हे राम ! मैं तुम्हारा नाम स्मरण करके ही राह हूँ । तेरे बिना मैं जहाँ तक मैं जाऊँगा वहाँ तक मैं नहीं जाऊँगा । तेरे बिना मैं जन्म करने दीन-दुःखी की राह हूँ और बाल्याचार (ब्रह्म-पाठ आदि) के ज्ञान देने वाले की भी निरचंयता बताते हैं । इसका अर्थ है कि मैं तुम्हारे बिना ही नहीं रहूँगा ।

परका जाए अथवा उसको पानी में डुबा दिया जाए ? इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि उस व्यक्ति के शरीर पर किसी तीर्थ-स्थान की मिट्टी मलने से अथवा उसको तीर्थ-जल से स्नान कराने से क्या लाभ है ? ऐसे पाखण्डी एवं अत्याचारी व्यक्ति को सम्बोधित करते हुए कबीर कहते हैं कि तुम्हारे बजू (जू-नमाज से पहले यथाविधि हाथ-पाँव और मुँह धोना) । जप मार्जन (जल छिड़क कर पवित्र होना), से क्या लाभ है ? तुम मसजिद में जाकर सिर झुकाते हो, इससे क्या लाभ है ? रोजा रखने, नमाज पढ़ने, तथा हज एवं काबे जाने (तीर्थाटन) से क्या लाभ है ? ब्राह्मण वर्ष की चौबीसो एकादशियों को उपवाम रखता है और काजी मोहर्रम के पूरे महीने भर इमामहुसैन की शहादत के लिए शोक मनाता है । पर इनका क्या उपयोग है ? रमजान के महीने को छोड़कर शेष ग्यारह महीनों को अलग क्यों कर दिया ? सभी महीने समान हैं—(सभी में धार्मिक कृत्य करने चाहिए ।) अगर खुदा केवल मस्जिद में ही रहता है, तो शेष समस्त ससार किसका है ? हिन्दुओं के अनुसार तीर्थों में और मूर्तियों में भगवान (राम) का निवास है । परन्तु उसके दर्शन तो दो में से किसी में भी किसी ने नहीं किए हैं । हिन्दुओं के मतानुसार पूर्व दिशा में भगवान का निवास है । मुसलमानों की राय में पश्चिम में अल्लाह का निवास-स्थान है । (इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों ही भगवान को मानते सर्वव्यापी नहीं मानते हैं) हे मानव, तुम अपने हृदय को ही ढूँढो । वही तुमको राम और रहीम (ईश्वर और खुदा) दोनों के दर्शन हो जाएगे । कबीर कहते हैं कि हे प्रभु । ससार के जितने भी नारी-पुरुष (नर-मादा) हैं, उन सबके भीतर तुम्हारा स्वरूप विद्यमान है अथवा वे सब तुम्हारे ही अव्यक्त रूप के व्यक्त रूप हैं । (मैं तो राम ईश्वर और अल्लाह दोनों का ही दास हूँ । भगवान मेरे गुरु और पीर दोनों ही हैं ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति-क्या ले . . सम्पूर्ण पद ।

विशेष—(1) बाह्याचार की निरर्थकता एवं राम रहीम का प्रभेद बताकर कबीर ने हिन्दू और मुसलमानों की एकता का प्रतिपादन किया है ।

(11) कबीर भगवान को सर्वव्यापी बताते हैं और इसी आधार पर प्रभु-भक्ति का निर्वाह करना चाहते हैं—

सो अनन्य गति जाकें मति न टरै हनुमंत ।

मैं सेवक सचराचर रूप-स्वामि भगवंत ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(111) क्या ले माटी मुँह सूँ मारै—भक्त जन तीर्थ की परिक्रमा 'लेट-लेट' कर भी लगाते हैं—इसको दडौती परिक्रमा कहते हैं । ऐसा करते हुए उनके शरीर में जमीन की मिट्टी चिपक जाना स्वाभाविक है । सम्भवतः कबीर का संकेत इस ओर भी हो सकता है ।

(२६०)

मैं बड़ मैं बड़ मैं बड़ मांठी,

मण दसना जट का दस गांठी ॥ टेक ॥

मैं बाबा का जोध ५ हाऊ, अपनी मारी गीद चलाऊ ।

इनि अहकार घणों घर घाले, नाचत कूदत जमपुरि चाले ॥

कहै कबीर करता की बाजी, एक पलक मैं राज बिराजी ।

शब्दार्थ— नाटका=नाज - टका । टका=रुपया (वगला प्रयोग) । जोध=योद्धा । गीद—गेद । घणों—बहुत से । घाले—नष्ट किए । बाजी—खेल, लीला । बिराजी—राज्य रहित ।

सदृश—कबीर सत्कार की असारता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ— अहकारवश व्यक्ति कहने लगता है कि "मैं बड़ा हूँ, मैं बड़ा हूँ ।" परन्तु यह बड़प्पन मिट्टी (व्यर्थ, अत्यन्त अल्प मूल्य) है । दस मन अनाज एव गाठ में दस रुपए होने के कारण होने वाले बड़प्पन का आधार सर्वथा तुच्छ है । मैं बाबर का योद्धा हूँ अर्थात् गाँव के मुखिया का कृपापात्र हूँ और जो अपनी मनमानी करता है । इस प्रकार के अहकार के फलरूप अनेक घर (परिवार) नष्ट हो गये । ये अहकारी नाचते कूदते मर गए । कबीरदास कहते हैं कि यह सब उस सृष्टिकर्ता की लीला है । एक पल के भीतर वह राजा को बिना राज का कर देता है । इस शक्ति का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—जब भगवान की बाजी पडती है, तब वह एक क्षण में ही सब कुछ उलट-पुलट कर देता है ।

अलंकार— (i) अनुप्रास— प्रथम शक्ति । घणों घर घाले ।

विशेष— (i) 'निवेद नचारी' भाव की व्यञ्जना ।

(ii) मृदावर्णन का प्रयोग— (i) बट मांठी (ii) बाबा का जोध । (iii) अपनी मारी गेद चलाऊ । (iv) घर घालना ।

(२६१)

फाहें बीहो मेरे साथी, हँ हाथी हरि केरा ।

चीरानी लख जाने मुख मैं, सो च्यंत फरैगा मेरा ॥ टेक ॥

कहाँ कौन पिये कहीं कौन गाजे, कहाँ ये पाणी निसरे ।

ऐसी कला अनत हैं जाके, सो हंम को क्यू विसरे ॥

जिनि नामांट रच्यो यह रचना, बाव बरन गति सूरा ।

पादक पंच पाणि जाके प्रकटै, सो क्युं कहिये दूरा ॥

नैन नामिना जिनि हरि गिरजे दमनबमन विधि काया ।

साहू जन को सो क्युं विगरे, ऐसा है राम राया ॥

को साहू का मन्म भ जाने, मैं मरनांगति लेरी ।

कहाँ कौन रूप नाम राया, हंमति रागहू मेरी ॥

सदृश— बाबा का जोध, हीरानी । चीरानी—व्यर्थ देने की । च्यंत—व्यर्थ ।

निसरै=निस्सृत होता है, बरसता पाइक=पावक । वाव=वायु । बरन=वरुण ।
पाइक=पाँच । प्रहमि=पृथ्वी । हुरमति=हुरमत, असमत, इज्जत ।

भावार्थ— कबीर माया-मोह को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि 'मेरे साथी, तुम मुझे क्यों सताते हो ? मैं तो भगवान का साथी हूँ । जिसके भीतर चौरासी लाख योनियाँ समाई हुई हैं । अर्थात् जन्म-मरण का सम्पूर्ण नरक जिसके सहारे चल रहा है, वही भगवान मेरी चिंता करेगा । कहो, समुद्र में जल कौन भरता है ? बादलो के रूप में गर्जना कौन करता है ? तथा यह वर्षा का जल कहाँ से बरसता है । अर्थात् वही सब कुछ करता है । जिस भगवान की ऐसी विशाल शक्ति है, वह हमको कैसे भूल जाएगा ? जिसने इस ब्रह्मांड में अनेक रचनाएँ की हैं, जिसने वायु, वरुण, चन्द्र और सूर्य को बनाया है, जिससे पाँचों अग्नियाँ और यह पृथ्वी प्रकट हुई हैं, उस भगवान को दूर कैसे कहा जा सकता है ? (क्योंकि वह तो सर्वव्यापी एवं सर्व नियता है ।) जिस भगवान ने आँख, नाक, दाँत आदि अंग, वस्त्र एवं शरीर आदि बनाए हैं, वह भगवान साधु भक्तों को भला कैसे भुला सकता है ? भगवान राजाराम तो बड़े ही उदार हैं । कोई किसी का रहस्य नहीं जानता है । मैं तो भगवान की शरण में हूँ । कबीर कहते हैं कि हे पिता ! राजा राम, माया के इन चक्करो से मेरी इज्जत की रक्षा करो ।

(1) पदमंत्रि—साथी, हाथी । दसन बसन ।

(II) गूढोत्तर—कहाँ कौन कहिए दूरा ।

(III) वक्रोक्ति—साधुजन बिसरै ।

विशेष—(1) हाथी हरि केरा=मैं उनकी सवारी हूँ तथा उनकी प्रेरणा पर चलना हूँ । सत्य ही है । यह स्थूल शरीर 'आत्म तत्व' का वाहन है ।

(II) पंच अग्नि—प्रकाश, उष्णता गरमी, पित्त एवं जठराग्नि ।

(III) भगवान की शरणागति एवं उनके प्रति पूर्ण समर्पण भाव का चित्रण है ।

(२६२)

राग सोरठि

हरि कौ नाँव न लेह गँवारा,

क्या सोचै बारंबारा ॥ टेक ॥

पंच चोर गढ मंझा, गढ लूटें दिवस र सझा ॥

जौ गढपति मुहकम होई, तौ लूटि न सकै कोई ॥

अँधियारै दीपक चाहिये, तब बस्त अगोचर लहिये ॥

जब बस्त अगोचर पाई, तब दीपक रह्या समाई ॥

जौ दरसन देख्या चाहिये, तौ दरपन मजत रहिये ।

जब दरपन लागै काई, तब दरसन किया न जाई ॥

का पढिये का गुनिये, का वेद पुराना सुनिये ॥

पढ़े गुने मति होई, मै सहजे पाया सोई ॥

कहै कबीर मैं जानां, मैं जानां मन पतियानां ॥

पतियानां जी न पतीजै, तौ अंधै कू का कीजै ॥

शब्दार्थ—गँवारा=अज्ञानी, मूर्ख । पच चोर=पाँच विकार (काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर) । गढ़=शरीर रूपी दुर्ग । मुहिकम=दृढ़, वस्तु । मति=बुद्धि ।

संदर्भ—कबीरदास कहते हैं कि ज्ञान प्राप्ति के लिए मन की शुद्धि परम आवश्यक है ।

भावार्थ—हे मूर्ख जीव ! भगवान का नाम क्यों नहीं लेता है ? तू इस बारे में बार-बार क्या सोचता है ? अथवा तू यह क्यों बार-बार सोचता है कि सासारिक चिन्ताओं से मुक्त होने के लिए क्या करना चाहिए । इस शरीर-रूपी दुर्ग में काम, क्रोध, लोभ, मद एवं मत्सर रूपी पाँच चोर हैं । ये इसको दिन-रात लूट रहे हैं । अगर दुर्ग का स्वामी मजबूत हो, तो दुर्ग को कोई नहीं लूट सकता है । अभिप्राय यह है कि ये पच विकार जीव की चेतना एवं स्वरूप-स्थिति की क्षमता को नष्ट कर रहे हैं । यदि जीव-चैतन्य अपने स्वरूप में दृढ़ता पूर्वक स्थित रहे, तो इसकी क्षमता को कौन नष्ट कर सकता है ? अविद्या रूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए ज्ञान रूपी दीपक चाहिए । उसी के द्वारा अगोचर परम तत्व की प्राप्ति होती है । उन परम तत्व के साक्षात्कार में यह ज्ञान रूपी दीपक भी इसी परम तत्व में समाहित हो जाता है । अगर कोई उस परम तत्व का साक्षात्कार करना चाहता है, तो उसे अपने अन्तःकरण रूपी दर्पण को स्वच्छ बनाए रखना चाहिए । जब दर्पण के ऊपर मैल जम जाता है—जब अन्तःकरण मलिन हो जाता है, तब उस परम तत्व का साक्षात्कार नहीं होता है । पढ़ने और मनन (स्वाध्याय) करने से क्या होता है ? वेद-पुराण सुनने से क्या होता है ? पढ़ने एवं मनन करने से मतवाद रूपी अहंकार उत्पन्न हो जाता है और तब परम तत्व का साक्षात्कार सम्भव नहीं होता है । उसको साक्षात्कार मुझको तो सहज भाव में हो गया है । अथवा यह कहिए कि जो ज्ञान ज्ञान्याध्यायन में तो है, वह मुझे सहज ही प्राप्त हो गया है । कबीर कहते हैं कि मैंने उस परम तत्व को जान लिया है और उस परम तत्व में मेरी निष्ठा दृढ़ हो गई है । उस परम तत्व का ज्ञान प्राप्त होने पर उसके प्रति जिसके मन में अज्ञान-विद्या दृढ़ नहीं होती है, उसे अज्ञानी का क्या किया जाए ?

अन्वय—(१) स्वकानिजयोक्ति—चोर, गढ़, गढ़पति, दीपक ।

(२) गढ़—शरीर अगोचर ।

(३) विद्योपान्तम—अगोचर लक्ष्य ।

(४) पदमैत्री—दरसन दर्शन ।

(५) द्योति—रा परिश्रम—मुनिये ।

(६) द्योति—इस दुर्ग का कीजै ।

विद्योपान्तम—अज्ञान-विद्या दृढ़ नहीं होती है ।

दुर्ग—शरीर—अज्ञान-विद्या दृढ़ नहीं होती है ।

(iii) मन चित बुद्धि एव अहकार के समुच्चय का नाम अन्त करण है ।

(iv) ज्ञान-दीपक—अह ब्रह्मास्मि की वृत्ति । तुलना कीजिए—

एहि विधि लेसँ दीप तेज रासि बिग्यान मय ।

जातहिं जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब ।

सोहस्मि इति वृत्ति अखंडा । दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा ।

आतम अनुभव सुख सु प्रकासा । तब भवभूत भेद भ्रम नासा ।

प्रबल अविद्या कर परिवारा । मोह आदि तम मिटइ अवारा ।

तब सोइ बुद्धि पाइ उँजियारा उर गृह बैठि ग्रंथि निरुआरा ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(२६३)

अधे हरि बिन को तेरा,

कवन सूँ कहत मेरी मेरा ॥ टेक ॥

तजि कुलाक्रम अभिमानां, भूठे भरमि कहा भुलांनां ॥

भूठे तन की कहा बड़ाई, जे निमष मांहि जरि जाई ॥

जब लग मनहिं बिकारा, तब लगि नही छूटै ससारा ॥

जब मन निरमल करि जांनां, तब निरमल माहि समानां ॥

ब्रह्म अगनि ब्रह्म सोई, अब हरि बिन और न कोई ॥

जब पाप पु नि भ्रम जारी, तब भयौ प्रकास मुरारी ॥

कहै कबीर हरि ऐसा, जहाँ जैसा तहाँ तैसा ॥

भूलै भरमि परै जिनि कोई, राजा राम करै सो होई ॥

शब्दार्थ—निमष=निमिष, पल ।

सन्दर्भ—कबीरदास ज्ञानी भक्त की भाँति भगवान के प्रति अनन्यता का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—हे मूर्ख ! भगवान को छोड़ कर तेरा कौन है ? इस ससार में तुम किसको अपना कह रहे हो ? उच्च कुल में उत्पन्न होने का अभिमान छोड़ दो । इस कुलीनता के भूठे भ्रम में व्यर्थ ही भूल रहे हो । उस नाशवान शरीर के प्रति आसक्ति क्या करना (यह आसक्ति व्यर्थ है) । जो एक क्षणभर में जल कर नष्ट हो जाता है । जब तक मानव के मन में विकार (काम, क्रोध, लोभ आदि) हैं, तब तक इस ससार (आवागमन एव उससे उत्पन्न कष्ट) से छुटकारा नहीं है । जब व्यक्ति विषय-वासनाओं एव विकारों को त्याग कर अपने मन को निर्मल कर लेता है, तब वह शुद्ध मन शुद्ध तत्व में समा जाता है । जो ब्रह्म का ज्ञान कराने वाली ज्ञानाग्नि है वही वस्तुतः ब्रह्म है । ज्ञान उत्पन्न होने पर ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ रह ही नहीं जाता है । जब पाप-पुण्य (कर्म) का भ्रम नष्ट हो जाता है—अथवा जब व्यक्ति निष्पृह होकर कर्म करने लगता है, तब मात्र भगवान का साक्षात्कार कराने वाली ज्योति रह जाती है । कबीर कहते हैं कि भगवान का

स्वप्न ऐसा है कि जो जैना है उसको वह वैसा ही दिखाई देता है अर्थात् उसका स्वप्न अनिवंचनीय है । व्यक्ति अपने चेतना विकास के अनुसार उसकी अनुभूति करता है । किसी को कर्त्तापन के भ्रम में नहीं पडना चाहिए । समझ लेना चाहिए कि राजा राम जैसा करते हैं वैसा ही होता है अर्थात् मानव कुछ नहीं करता है, सब कुछ भगवान् का ही किया हुआ होता है ।

अलंकार—(i) वक्रोक्ति अन्वे—मेरा ।

(ii) गूढोक्ति—कहाँ भुजाना ।

(iii) रूपक—ब्रह्म अग्नि ।

विशेष—(i) जाति पाँति का विरोध है ।

(ii) मन की शुद्धि का प्रतिपादन है ।

(iii) अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया गया है—जब मन कोई । साथ ही ब्रह्म की अनिवंचनीयता का प्रतिपादन किया गया है—‘जहाँ जैसा तहाँ तैसा । कबीर ने अन्यत्र भी कहा है कि—‘ऐसा नहीं वैसा वो । मैं किम विधि कहूँ कैसा लो ।’

(iv) उम पद में प्रधानतः ज्ञान और भक्ति का प्रतिपादन है । कतिपय पक्तियों में सामारिक नैरात्म्यवाद की ओर भी संकेत किया गया है ।

(२६४)

मन रे सरचो न एकी काजा,

ताये भज्यो न जगपति राजा ॥ टेक ॥

वेद पुरांन सुमृत गुन पढि, पढि पढि गुनि सरम न पावा ।
संध्या गाइत्री अरु पट करमां, तिन थै दूरि बतवावा ॥
बनखंडि जाई बहुत तप कीन्हां, कंद पूल खनि खावा ।
बिर्ह्य गियानी अधिक धियानों, जम के पट लिखावा ॥
रोजा किया निमाज गुजारी, बंग दे लोग सुनावा ।
हिन्दं कपट मिलै य्यू साईं, क्या हज कावै जावा ॥
पहरचो काल सकल जग ऊपरि, माहि लिखे सब ग्यांनो ।
बहे कबीर ते भये पालसैं, राम भगति जिनि जानी ।

शब्दार्थ—सर्वो = दृष्टा । ताये = इनमें । पट करमा = श्रावणों के छ कर्म (उपवास, व्रत, दान, दान, दान और प्रतिग्रह) । पालना—पालना, वह श्रावणों का उपासना या इशारा अथवा प्रवचन सरकार स्वयं करें और जो किसी की आशय या उपासना न हो । पालि = पालन कर ।

परम—श्री कबीरदास साक्षात्कार का त्याग करके सर्वो प्रभु भक्ति का उपदेश देते हैं ।

भावार्थ—‘मन सरचो न एकी काजा’ इस अर्थ है स्वामी भगवान् का भक्तन नहीं किया । ‘ताये भज्यो न जगपति राजा ॥ टेक ॥’ इस अर्थ है, पुराण, वेद, पुराण, स्मृतियों को पढ़ने

रहे तथा उनका मनन करते रहे परन्तु उस परम तत्व के रहस्य को नहीं समझ सके । तुमने सध्या की, गायत्री मन्त्र का जप किया और शास्त्र विहित ब्राह्मणोचित छोटे कर्म (अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह) किए । परन्तु यह परम तत्व इनसे भी परे बताया गया है । तुमने घर छोड़ कर वन में जाकर कठोर तपस्या की, वहाँ तुम कदमूल-फल खोद कर खाते रहे । ब्रह्मज्ञानी बन कर तुमने अनेक प्रकार से ध्यान लगाया, परन्तु इन समस्त बाह्याचारों के फलस्वरूप तुम अपने कर्म बन्धन में वृद्धि करते रहे और पाप-पुण्य का हिसाब रखने वाले रामराज के खाते को बढ़ाते रहे । तुमने रोजा रखे नमाज पढ़ी तथा जोर से अजान की आवाज भी लगाकर लोगों को सुनाई । परन्तु इन सबका भी कोई विशेष फल नहीं निकला । ठीक ही है । जब हृदय में कपट भरा हुआ हो, तो भगवान कैसे मिल सकते हैं ? कपट पूर्ण हृदय लेकर कावा और हज जाने से क्या लाभ हो सकता है ? समस्त ससार के ऊपर काल का प्रभाव छाया हुआ है - जगत की सारी भूमि पर यमराज का पट्टा है । उसके अन्तर्गत समस्त ज्ञानी भी सम्मिलित हैं । कबीरदास कहते हैं कि जो राम के भक्त हैं, वे उस पट्टे से मुक्त हैं अर्थात् उनकी व्यवस्था स्वयं भगवान करते हैं, उनकी जमीन पर यमराज का इजारा नहीं है ।

- अलंकार—(i) पुनरुक्ति प्रकाश—पढि पढि,
 (ii) विशेषोक्ति—वेद पुरान न पावा,
 (iii) छेकानुप्रास—खनिखावा जिनि जानी ।
 (iv) पदमैत्री—गियानी धियानी,
 (v) वक्रोक्ति - मिलै क्यूँ जावा ।
 (vi) मानवीकरण—काल का मूर्तीकरण ।
 (vii) रूपक—काल ।

विशेष—(i) हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के बाह्याचारों का विरोध है ।

(ii) कर्मरहित होना ही मोक्ष है ।

(iii) सध्या—प्रातः, दोपहर, या शाम का वह समय जब दिन के भागों का मेल होता है तथा इन समयों पर किये जाने वाले धार्मिक कृत्य ।

(iv) गायत्री—वैदिक स्तोत्र जिसमें आठ आठ वर्णों के तीन चरण होते हैं, इसका उपदेश उपनयन संस्कार के अवसर पर द्विज बालक को दिया जाता है ।

(v) कावा—मक्के की एक चौकोर इमारत जिसकी नींव इब्राहीम की रखी हुई मानी जाती है ।

(vi) हज्ज - नियत काल पर कावे के दर्शन और प्रदक्षिणा करना—मक्के की यात्रा ।

(vii) सब ज्ञानी—ब्रह्म ज्ञानी छोड़ कर अन्य सब प्रकार के ज्ञानियों से तात्पर्य है—बौद्धिक ज्ञानी, ज्ञान के अहकारी इत्यादि ।

(२६५)

मन रे जब ते राम कह्यौ,

पीछै कहिबे कौ कछु न रह्यौ ॥ टेक ॥

का जोग जगि तप दांनं, जौ ते राम नाम नही जानं ॥

काम क्रोध दोऊ भारे, ताथै गुरु प्रसादि सब जारे ॥

कहै कबीर भ्रम नासी, राजा राम मिले अविनासी ॥

सन्दर्भ—कबीर राम-नाम की महिमा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—रे मन, जब से तूने राम नाम कहना आरम्भ कर दिया है उसके बाद अन्य कुछ कहने के लिए रह ही नहीं गया है । (उसी में सब कुछ कह दिया है ।) यदि राम के नाम का महत्त्व न जाना, तो योग, जप, तप तथा दान करने से क्या लाभ है ? काम और क्रोध दोनों अत्यन्त प्रबल होते हैं । इसलिए मैंने गुरु की कृपा से उन्हें नष्ट कर दिया है । कबीरदास कहते हैं कि काम क्रोध के समाप्त हो जाने के फलस्वरूप मेरे समस्त भ्रमों का नाश हो गया है और अब मुझे अविनाशी भगवान राम की प्राप्ति हो गई है ।

विशेष—जब तक 'काम' है, तब तक विकार है । जब तक विकार हैं तब तक मोह एव भ्रम का रहना स्वाभाविक ही है । यही माया का प्रपञ्च है । समभाव के लिए देखें—

ध्यायतो विषयान्प्र स. सङ्गस्तेषूपजायते ।

सङ्गात्सजायते काम कामात्क्रोधोऽभिजायते ।

क्रोधाद्भवति संमोह समोहात्स्मृतिविभ्रम ।

स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।

रागद्वेषवियुक्तस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवश्यंविधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।

(श्रीमद्भगद्गीता—२/६२—६४)

(२६६)

राम राइ सो गति भई हंमारी,

मो पै छूटत नहीं ससारी ॥ टेक ॥

यूं यखी उड़ि जाइ आकासां, आस रही मन मांही ।

छूटी न आस दूट्यौ नहीं फंधा, उडिबौ लागा कांहीं ॥

जो सुख करत होत दुख तेई, कहत न कछु बनि आवै ।

कुंजर ज्यूं फसतूरी का मृग, आपै आप बँधावै ॥

कहै कबीर नही बस मेरा, सुनिये देव मुरारी ।

इत भैभीत डरौ जम दूतनि, आये सरनि तुम्हारी ॥

शब्दार्थ—लागी काही=क्या लाभ ?

संदर्भ— कवीर दुःख-निवृत्ति हेतु भगवान की शरण को एक मात्र अवलम्बन मानते हैं ।

भावार्थ—रे राजा राम ! मुझसे ससार का मोह छोड़ते नहीं बनता है । मेरी भी हालत उम पक्षी की तरह हो गई है जो आकाश में ऊँचा उड़ तो जाता है परन्तु भोजन-वासना के कारण उमका मन पृथ्वी से बँधा रहता है । मन से वासना जाती नहीं है । इस कारण मोह का बन्धन टूटना नहीं है । तब आकाश में उड़ने से—ज्ञान-ध्यान से क्या लाभ है ? मैं जो काम सुख-प्राप्ति के लिए करता हूँ, वे दुःख के हेतु बन जाते हैं । जैसे हाथी हथिनी के प्रति मोह के कारण अपने आपको बँधा देता है तथा कस्तूरी-मृग सुगन्ध की वासना के बशीभूत होकर इधर-उधर भटकता रहता है, वैसे ही जीव भी मोह एवं वासनाओं के कारण अपने आपको सामारिक प्रपचों में फँसा देता है तथा अपनी वासनाओं के बशीभूत होकर चारों ओर भटकता फिरता है । कवीरदास कहते हैं कि हे मुरारी । मेरी प्रार्थना सुनो । सासारिक वासनाओं पर मेरा कोई बंधन नहीं चल रहा है । मैं सासारिक बन्धनों से भयभीत हूँ तथा यम के दूतों से डरा हुआ हूँ । इसलिए तुम्हारी शरण में आया हूँ ।

अलंकार - (I) उदाहरण—सोगति मनमाही ।

(II) अन्योन्य—छूटी न आसफदा ।

(III) गूढोक्ति—लागी काही ।

(IV) विरोधाभास—जो सुख.... दुख तेई ।

(V) सम्बन्धातिशयोक्ति—कहत न.... आवै ।

(VI) उपमा—कु जर ज्यूँ कस्तूरी का मृग ।

(२६७)

राम राइ तूँ ऐसा अनभूत अनूपम, तेरी अनभै थै निस्तरिये ।
जे तुम्ह कृपा करौ जगजीवन, तौ कतहू न भूलि न परिये ॥ टेक ॥
हरि पद दुरलभ अगम अगोचर, कथिया गुर गमि विचारा ।
जा कारंनि हम दूढत फिरते, आथि मर्यो ससारा ॥
प्रगटी जोति कपाट खोलि दिये, दगधे जंम दुख द्वारा ।
प्रगटे विस्वनाथ जगजीवन, मैं पाये करत विचारा ॥
देख्यत एक अनेक भाव है, लेखत जात अजाती ।
विह कौ देव तवि दूढत फिरते, मडप पूजा पाती ॥
कहै कवीर करुणांमय किया, देरी गलियां बहु विस्तारा ।
राम के नांव परंम पद पाया, छूटै विघन विकारा ॥

शब्दार्थ—अनभै = अनुभूति । गमि = अनुभूति द्वारा प्राप्ति । आसि = व्याप्त । जात = जन्मा । अजाती = अजन्मा । विह = उम । तव = पहले । गलिया = विभिन्न मत-पथ ।

संदर्भ—कबीरदास मत-पथों की व्यर्थता की ओर संकेत करके राम भक्ति का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—रे मेरे स्वामी राम, आप ऐसे साक्षात् अनुभूतिस्वरूप एवं अनुपम हो कि तेरी अनुभूति मात्र से भवसागर पार किया जाता है । हे जगत् के प्राण, यदि तुम कृपा करते रहो तो कहीं भी भूलकर भी जीव माया के बन्धन में नहीं पड़ता है । भगवान का स्वरूप अत्यन्त दुर्लभ दुष्प्राप्य एव इन्द्रियातीत है । गुरु ने अपनी अनुभूति से प्राप्त ज्ञान के आधार पर यह विचार प्रकट किया है । जिस परम तत्त्व को हम ढूँढते फिरते हैं, वह सम्पूर्ण ससार में व्याप्त है । गुरु के उपदेश द्वारा मेरे हृदय में जो ज्ञान ज्योति प्रकट हुई है, उसके द्वारा मेरे अन्तःकरण के किवाड़ खुल गए हैं आन्तरिक चक्षु खुल गए हैं और उसके द्वारा यम के कष्ट-कर्मफल के बन्धन समाप्त हो गए हैं । अब जगत के प्राण विश्वनाथ प्रकट हो गए हैं । मैंने विवेक पूर्वक चिन्तन करते हुए उनको प्राप्त किया है । वही एक परम तत्त्व अनेक भावों (रूपों) में देखा जाता है । वह अजन्मा भी जन्मा हुआ सा वर्णित है । उसी देवता को हम पहले मडप में फूल पत्ती की पूजा के द्वारा प्राप्त करना चाहते थे । कबीर कहते हैं कि हे करुणामय ! तेरे नाम पर जो अनेक मत-पथ प्रचलित हैं, मैं उनमें भटकता रहा और इसी कारण तेरे साक्षात्कार में मुझको इतनी देर हो गई । राम के नाम के द्वारा मैंने परम पद की प्राप्ति कर ली है और मेरे समस्त विघ्न (कचन कामिनी आदि) एव विकार (काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर आदि) दूर हो गए हैं ।

अलंकार— (1) अनुप्रास - अनभूत अनुपम अनभै, अगम अगोचर । दगधे दुख द्वारा । परम पद पाया ।

(11) रूपकातिशयोक्ति—कपाट ।

(111) विरोधाभास - जात्य अजाती ।

विशेष - (1) वाह्याचार की निरर्थकता की ओर संकेत है । तुलना करें—

तुलसीदास व्रत दान ग्यान तप, सुद्धिहेतु स्रुतिगावै ।

राम-चरन अनुराग-नीर-बिनु मल अति नास न पावै ।

एव— नाहिन आवत आन भरोसो ।

×

×

×

बहुमत सुनि बहु पथ पुराननि जहाँ तहाँ भगरो सो ।

गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहि लागत राजडगरो सो ।

×

×

×

राम नाम बोहित भव-सागर चाहै तरन तरसो ।

—गोस्वामी तुलसीदास

(२६८)

राम राइ को ऐसा बैरागी,

हरि भजि मगन रहै विष त्यागी ॥ टेक ॥

ब्रह्मा एक जिनि सिष्टि उपाई, नांव कुलाल धराया ।
 बहु बिधि भांडै उनहीं घड़िया, प्रभू का अन्त न पावा ॥
 तरवर एक नांनां बिधि फलिया, ताकै मूल न साखा ।
 भौजलि भूलि रह्या रे प्राणीं, सौ फल कदे न चाखा ॥
 कहै कबीर गुर बचन हेत करि, और न दुनियां आथी ।
 माटी का तन मांटी मिलि है, सबद गुरु का साथी ॥

शब्दार्थ—कुलाल=कुम्हार । भांडै=वर्तन । घड़िये=गढ़े, बनाए ।
 भौजलि=भव-जल, ससार-रूपी जल । कदे=कभी । आथी=अस्तित्व वाली ।

संदर्भ—कबीर ससार की निरर्थकता तथा गुरु की महिमा का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—हे राम-ऐसा वैरागी बहुत कठिनाई से मिलता है जो विषयो को छोड़कर भगवान के भजन में मग्न रहे । एक ब्रह्मा हुए जिन्होंने सृष्टि उत्पन्न की और अपने आपको कुम्हार कहलवाया । उन्होंने अनेक शरीर रूपी वर्तनों को बनाया, परन्तु वह भी भगवान के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान सके । ससार-रूपी एक वृक्ष में अनेक प्रकार की विषय-वासनाओं के फल लगे हैं । इस वृक्ष की न जड़ है और न उसके शाखाएँ ही हैं । यह प्राणी ससार के इन फल रूपी विषयो की मृग तृष्णा के जल में अपने वास्तविक स्वरूप एवं वास्तविक लक्ष्य को भूला हुआ है । विषय रूपी ये फल उसको खाने के लिए कभी नहीं प्राप्त होते हैं अर्थात् वह विषयो के द्वारा सच्चे सुख की प्राप्ति कभी नहीं कर पाना है । कबीरदास कहते हैं कि गुरु के वचनों पर विश्वास करो । शेष ससार अस्तित्वहीन (मिथ्या) है । मिट्टी का यह शरीर मिट्टी में ही मिल जाएगा । केवल गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान ही हमारा सच्चा साथी है ।

- अलंकार—(1) वक्रोक्ति—को ऐसा वैरागी ।
 (II) रूपकातिशयोक्ति—कुलाल, भांडे, तरवर ।
 (III) निदर्शना—भौजल . . . चाखा ।
 (IV) विभावना—तरवर एक . . . साखा ।
 (V) रूपक—भौजल ।

विशेष—(1) निर्वेद सचारी भाव की व्यजना है ।

(II) तुलना कीजिए—

जगु देखन तुम पेखन हारे । विधि हरि समु नचावन वारे ।
 तेउ न जानइ मर्म तुम्हारा । और तुम्हे को जाननि हारा ।

(२६६)

नैक निहारि हो साया बीनती करै,

दीन बचन बोले कर जोरे, फुनि फुनि पाइ परै ॥ टेक ॥

कनक लेहु जेहु जेता मनि भावै, कांमनि लेहु मंन हॅरनीं ।
 पुत्र लेहु विद्या अधिकारी, राज लेहु सब घरनीं ॥
 अठि सिधि लेहु तुम्ह हरि के जनां, नवै निधि हँ तुम्ह आगे ।
 सुर नर सकल भवन के भूपति, तेऊ लहै न मांगै ॥
 ते पापणी सबै संघारे, काकौ काज संवारचौ ।
 जिनि जिनि सग कियौ है तेरौ, को येसासि न मारचौ ॥
 दास कबीर राम कै सरनै, छाडी भूठी माया ।
 गुर प्रसाद साध की संगति, तहां परम पद पाया ॥

शब्दार्थ— फुनि फुनि = पुनः पुनः, बार बार । कनक = स्वण । कामनि = कामिनी स्त्री । ये सासि = विश्वास ।

सन्दर्भ— कबीरदास ज्ञान दशा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ— माया भगवान के भक्तों से प्रार्थना करती है, अत्यन्त दीन वचन बोलती है और बार-बार पैर पड़ती हुई कहती है कि हे हरि भक्तों ! जरा मेरी ओर कृपा की दृष्टि कर दो । जैसा और जितना सुवर्ण चाहिए ले लो, मन-भावनी और मन-हरण करने वाली कामिनी स्त्री ले लो, तुम विद्वान पुत्र लो, सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य ले लो । आठो सिद्धियाँ और नव निधियाँ ले लो । हे हरि के भक्तों जिन वैभवों और सिद्धियों को देवता, मनुष्य एवं सम्पूर्ण पृथ्वी के राजा मागने पर भी प्राप्त नहीं कर पाते हैं, वे सब तुम्हारे समक्ष तुम्हारी सेवा में प्रस्तुत हैं । भक्त जन उत्तर देते हुए कहते हैं कि हे पापिन तूने सबको नष्ट किया है । क्या तूने आज तक किसी का काम बनाया है ? जिन-जिन लोगों ने विश्वास करके तेरा साथ किया है उन सबको तूने विश्वासघात करके मारा ।” भक्त कबीर का कहना है कि वह तो भगवान राम की शरण में है । उन्होंने भूठी माया को त्याग दिया है । गुरु की कृपा और साधु जनो की संगति के द्वारा कबीर ने परम पद प्राप्त कर लिया है ।

अलंकार—(1) गूढोत्तर— पूरा पद ।

(II) पुनरुक्ति प्रकाश— पुनि-पुनि ।

(III) मानवीकरण— माया ।

(IV) पदमैत्री— लेहु जेहु लेहु ।

(V) विशेषोक्ति की व्यजना— लहै न माजै ।

विशेष—(1) प्रश्नोत्तर शैली में माया और भक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध का सुन्दर निरूपण है । इसमें उपनिषद् का प्रभाव स्पष्ट है ।

(II) कबीर बताते हैं कि माया ज्ञान प्राप्ति की अन्तिम अवस्था तक प्रलोभन देकर साधक को पथ भ्रष्ट करना चाहती है । इसी से तो कहते हैं कि सिद्धि के प्रत्येक फूल के पीछे वासना का सर्प छिपा रहता है । वह जाने कब सिर निकाल कर काट ले । इसी कारण साधक को अन्त समय तक सावधान रहने का उपदेश दिया जाता है ।

(iii) माया वीनती करै—समभाव के लिए देखें—

भागती फिरती थी दुनिया जब तलब करते थे हम ।

अब जो नफरत हमने की, वह खुद बखुद आने को है ।

(iv) आठ सिद्धियाँ—योग सिद्धि से मिलने वाली आठ सिद्धियाँ या अलौकिक शक्तियाँ—अणिमा, महिमा, गरिमा, लछिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ।

(v) नौ निधियाँ—कुवेर की नौ निधियाँ—पद्म, महापद्म, शख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील, और खर्व ।

(vi) कबीरदास माया के प्रति सदा सावधान रहने का उपदेश बराबर देते आए हैं । यथा—

सुवटा ! डरपत रहु मेरे भाई ।

× × ×

या मजारी मृगध न मानै, सब दुनियाँ डहकायी ।

× × ×

कहत कबीर, सुनहु रे सुवटा ! डवरै हरि-सरनाई ।

कबीर ऐसे स्थलो पर ज्ञानी भक्त के रूप में उभर कर एकदम सामने आ जाते हैं ।

(२७०)

तुम्ह घरि जाहु हंमारी बहनां,

बिष लागै तुम्हारे नैनां ॥ टेक ॥

अजन छाडि निरजन राते, नां किसही का देनां ।

बलि जांड ताकी जिनि तुम्ह पठई, एक माइ एक बहनां ॥

राती खांडी देख कबीरा, देखि हमारा सिंगारौ ।

सरग लोक थै हम चलि आई, करन कबीर भरतारौ ॥

सर्ग लोक मै क्या दुख पडिया, तुम्ह आई कलि मांही ।

जाति जुलाहा नाम कबीरा, अजहू पतीजौ नांही ॥

तहां जाहु जहां पाट पटबर, अगर चंदन घमि लीनां ।

आइ हमारे कहा करौगी, हम तौ जाति कर्मीनां ॥

जिनि हम साजे साज्य निवाजे, बांधे काचै धागै ।

जे तुम्ह जतन करौ बहुतेरा, पांणों, आगि न लागै ॥

साहिब मेरा लेखा मांगै, लेखा बयूं करि दीजै ।

जे तुम्ह जतन करौ बहुतेरा, तौ पांहण नीर न भीजै ।

जाकी मै मछी सो मेरा मछा, सो मेरा रखवालू ।

दुक एक तुम्हारे हाथ लगाऊं, तौ राजा राम रिसालू ॥

जाति जुलाहा नाम कबीरा, बनि बनि फिरौ जदासी ।

आसि पासि तुम्ह फिरि फिरि वैसो, एक माड एक मासी ॥

शब्दार्थ— विष=काम वाराना का जहर । अंजन=माया, विषयासक्ति । राती=प्रेमिका । खाडी=खडी हूँ । अथवा खाडी का अर्थ रमणी । पतीजी विश्वास । पटबर=रेशमी वस्त्र । पाट=रेशमी वस्त्र । रिसालू=अप्रसन्न हो जाएगा ।

सन्दर्भ— कबीर माया को दुत्कारते है ।

भावार्थ—कबीर माया को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि, रे वहिन, तुम अपने घर जाओ । तुम्हारे नेत्र मुझे जहर मालूम होते हैं (अर्थात् तुम्हारी ओर देखते हुए मुझे डर लगता है) । मैंने तो सासारिकता का त्याग करके माया से रहित निरजन परमतत्त्व के प्रति अनुराग कर लिया है । अब मुझे किसी से कुछ लेना-देना नहीं है । मैं तो उसकी सूझ-बूझ पर वलिहारी जाता हूँ जिसने तुमको मुझे अपनी ओर आकर्षित करने के लिए भेजा है । तुम तो मेरी माता और वहिन के समान हो । (शरीर को बनाने वाली होने के कारण माया जीव की माता है तथा निर्माता ईश्वर की पुत्री होने के कारण माया जीव की वहिन है ।) माया कबीर को उत्तर देती हुई कहती है कि, 'हे कबीर देखो तो सही । मैं तुम पर आसक्त नारी की भाँति खडी हूँ । तुम मेरे शृंगार की ओर तो देखो मैं कबीर को पति रूप में वरण करने के लिए स्वर्ग लोक से चलकर यहाँ आई हूँ ।' कबीर कहते हैं "वहाँ स्वर्ग लोक में तुम्हारे ऊपर ऐसी क्या विपत्ति आ पडी जो तुम यहाँ मृत्यु लोक में आ गई हो । मेरे पास क्या रखा है ? मैं जाति का जुलाहा हूँ । मेरा नाम कबीर (बुजुर्ग बड्ढा) है । अब तो तुम्हको मेरी तुच्छता एवं असमर्थता पर विश्वास हो जाना चाहिए । तुम उनके पास जाओ जो रेशमी वस्त्र धारण करते हैं और अगर तथा घिसे हुए चन्दन का लेप करते है । हमारे यहाँ आकर तुम क्या करोगी ? हम तो एक बहुत ही निम्न जाति में उत्पन्न जुलाहे है । जिन भगवान ने हमको बनाया है और इस सुन्दर स्वरूप द्वारा सजाया है उन्होंने मुझको अपने प्रेम के डोरे में बांध लिया है । तुम कितना भी प्रयत्न करो, परन्तु मेरे मन में तुम्हारे प्रति आसक्ति उत्पन्न नहीं होगी । पानी में आग नहीं लग सकती है ? मेरा स्वामी जब मुझ से मेरे कार्यों का हिसाब-किताब मागेगा, तब मैं उनको क्या हिसाब दे सकूँगा । मुझे आकर्षित करने के लिए कुछ भी करो, परन्तु मैं तुम्हारे प्रति कभी भी आकर्षित नहीं हो सकूँगा, क्योंकि पानी के द्वारा पत्थर कभी भी गीला नहीं हो सकता है । मैं भगवान की मछली हूँ, भगवान ही मुझको पकड़ने वाला मछवा है और वह मेरा रक्षक भी है । अगर मैं रत्न मात्र भी तुम्हारा स्पर्श कर लूँ तो राजा राम मुझ से अप्रसन्न हो जाएँगे । कबीर कहते हैं कि मैं जाति का जुलाहा हूँ । मेरा नाम कबीर है । मैं ससार से विमुख होकर जगलो में मारा-मारा घूमता हूँ । (अर्थात् जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विषयो से उदासीन होकर घूम रहा हूँ । तुम आस-पास से हटकर दूर बैठो । एक तो तुम मेरी माता (शरीर के नाते) हो और ऊपर से सगी माता के समान होने के कारण मेरी मौसी हो ।

अलंकार—(1) पद मैत्री—अजन निरजन ।

- (II) रूपकातिशयोक्ति—विष ।
 (III) पुनरुक्ति प्रकाश—बनि बनि ।
 (IV) निदर्शना—पानी आगि न लागै ।
 (V) दृष्टान्त—जे तुम्ह भीजै ।

विशेष—(1) इस पद पर उपनिषद की प्रश्नोत्तर शैली के द्वारा ज्ञान तत्त्व का प्रतिपादन है ।

(II) इसमें कबीर के चरित्र की शुद्धि एवं दृढता व्यक्त हैं ।

(III) ना किसी का दैनां समभाव देखे—

काहू की बेटो सो बेटा न व्याहव काहू की जाति बिगारौ न सोऊ ।

भांगि कं खंबो मसीत को सोइबौ, लेबे को एक न देव को दोऊ ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(२७१)

ताकूँ रे कहा कीजै भाई,

तजि अमृत विषै सूँ ल्यो लाई ॥ टेक ॥

बिष सग्रह कहा सुख पाया,

रचक सुख कौं जनम गँवाया ॥

मन बरजै चित कह्यौ न करई,

सकति सनेह दीपक मै परई ॥

कहति कबीर मोहि भगति उमाहा,

कृत करणीं जाति भया जुलाहा ॥

शब्दार्थ—सकति = आसक्ति ।

सन्दर्भ—कबीरदास कहते हैं कि आसक्ति के वशीभूत जीव अपना जीवन नष्ट कर देता है ।

भावार्थ—उस व्यक्ति के लिए क्या किया जाए अथवा उसको किस प्रकार समझाया जाए, जो राम-भक्ति रूपी अमृत को छोड़ कर विषयासक्ति रूपी विषय के प्रति आकर्षित रहता है ? जीव को इन्द्रिय भोगों के सग्रह से क्या सुख मिल सकता है ? ऐसा व्यक्ति जरा से क्षणिक सुख के लिए अपने सम्पूर्ण जीवन को नष्ट कर देता है । मन (विवेक बुद्धि) के मना करने पर भी उसका प्रवृत्त्यात्मक चित्त नहीं मानता है और वह आसक्ति के वशीभूत होकर विषयरूपी दीपक में गिर जाता है । कबीर कहते हैं कि मेरे हृदय में भक्ति का उत्साह जाग्रत हो गया है । जाति का जुलाहा मैं अपने कर्मों के द्वारा कृत-कार्य हो गया हूँ । अर्थात्, मैं जुलाहा जैसी निम्न जाति में भले ही उत्पन्न हुआ, परन्तु भक्तिपूर्ण आचरण करके मैंने अपना जीवन सार्थक कर लिया है ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति—ताकूँ भाई, विष पाया ।

(II) विशेषोक्ति की व्यञ्जना—मन... करई ।

(III) रूपकातिशयोक्ति—तजि अमृत.... लाई ।

(IV) रूपक—सकति सनेह दीपक ।

विशेष—(1) जातिवाद की निरर्थकता का प्रतिपादन है । कबीर बार-बार यही कहते हैं कि—

जागति पांति पूछै नहि कोई । हरि कहँ भजै सो हरि का होई ।

वह तो अन्यत्र भी कह चुके हैं कि—

गुरु प्रसाद साधु की सगति जग जीतै जाय जुलाझा ।

(II) मन बरजै • करई—इस पद में कबीर ने व्यक्ति के अन्तर में होने वाले संघर्ष की ओर बड़ी ही कुशलता के साथ संकेत किया है । निश्चयात्मकता बुद्धि सन्मार्ग का निर्धारण करती है, परन्तु प्रवृत्त्यात्मक मन उस ओर नहीं जाता है । फलतः हमारे बुद्धि जगत एवं भाव-जगत के मध्य—हमारी कथनी और करनी के मध्य सदैव संघर्ष चलता रहता है । हम सब प्रायः सोचते ठीक हैं, परन्तु अपनी विषयासक्ति के प्रबल होने के कारण तदनुसार आचरण नहीं कर पाते हैं । इसी कारण अपने जीवन और पुण्य-क्षेत्र को क्षीण करते रहते हैं ।

(२७२)

रे सुख इब मोहि बिष भरी लागा,

इनि सुख डहके मोटे मोटे छत्रपति राजा ॥ टेक ॥

उपजै बिनसै जाइ बिलाई, सपति काहू कै सगि न जाई ॥

धन जोवन गरब्यौ संसारा, यहु तन जरि बरि ह्वै है छारा ।

चरन कवल मत राखि ले धीरा, राम रमत सुख कहै कबीरा ॥

शब्दार्थ—इब=अब । डहके=डहके=धोखा खाया । बिनसै=नष्ट होता है । बिलाई=विलीन होता है । कवल=कमल । मोटे=बड़े । मत=मति, बुद्धि ।

संदर्भ—कबीर का साधक जीवात्मा अपने मन को सम्बोधित करके कहता है कि राम भक्ति में ही वास्तविक आनन्द है ।

भावार्थ—रे मन ! सासारिक सुख अब मुझे जहर से भरा हुआ लगता है । इन इन्द्रिय सुखों के द्वारा बड़े-बड़े छत्रपति राजाओं ने धोखा गया है अथवा वे इनके द्वारा ठगे गए हैं । ये सासारिक सुख-सम्पत्ति उत्पन्न होती है, क्षीण होती है और अन्ततः सर्वथा नष्ट हो जाती है । यह सम्पत्ति किसी के साथ नहीं जाती है । धन एवं यौवन के मद में संसार के समस्त प्राणी गर्वित रहते हैं । उन्हें समझ लेना चाहिए कि यह (पंचभौतिक) शरीर जल-बल कर राख हो जाएगा । कबीरदास कहते हैं कि हे जीव, तू अपनी बुद्धि को स्थिर करके भगवान के चरणारविंद में लगा दे । राम में अनुरक्त होने में ही वास्तविक सुख की प्राप्ति होती है ।

अलंकार—(1) पुनरुक्ति प्रकाश—मोटे-मोटे ।

(II) पदमैत्री—जरि-वरि ।

(III) रूपक—चरन कवल ।

(1v) छेकानुप्रास—राम रमत ।

विशेष—निर्वेद एव वैराग्य की व्यजना है ।

(२७३)

इब न रह माटी के घर में,

इब मैं जाइ रहू मिलि हरि मैं ॥ टेक ॥

छिनहर घर अरु झिरहर टाटी, घन गरजत कंपे मेरी छाती ॥

दसवै द्वारि लागि गई तारी, दूरि गवन आवन भयौ भारी ॥

चहुँ दिसि बैठे चारि पहरिया, जागत मुसि गये मोर नगरिया ॥

कहै कबीर सुनहु रे लोई, भानड़ घड़ण सवारण सोई ॥

शब्दार्थ पाटी का घर=पंचभौतिक जगत । छिनहर=जीर्ण=टूटा फूटा ।

झिरहर—झिरीवाला, सुराखी वाला । दसवाँ द्वार—ब्रह्मरन्ध्र । घन—बादल, काल । तारी—त्राटिका । गवन—अवन—जीवन-मरण । चारि—अहंकार चतुष्टय, मन, चित्त बुद्धि अहंकार । मुसि गये—नष्ट-भ्रष्ट कर गये । भानण—भजन करने वाला । घड़ण—गढ़ने वाला, बनाने वाला । सवारण—सवारने वाला अर्थात् पालन (रक्षा) करने वाला ।

संदर्भ—कबीरदास सासारिकता की निस्सारता का प्रतिपादन करते हुए प्रभु भक्ति का सकल्प करते हैं ।

भावार्थ— अब मैं इस मिट्टी के घर अर्थात् मृण्मय शरीर के प्रति आसक्त नहीं रहूँगा । अब मैं भगवान में तदाकार हो जाऊँगा । वासनाओं का भंडार यह शरीर रूपी घर अत्यन्त जीर्ण है और इसके ऊपर जो वासनाओं का आवरण है, वह भी छेदो वाला है अर्थात् वापनाएँ भी मेरी रक्षा नहीं कर सकती है । काल रूपी बादल जब गरजते हैं अर्थात् जब मुझे मृत्यु का स्मरण आ जाता है, तब मेरा हृदय कांपने लगता है । गुरु की कृपा से माटिका लग गई है । इससे ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा अब प्राण बाहर नहीं जा सकेंगे । इस कारण आवागमन का चक्र समाप्त हो गया है । इस ससार की स्थिति तो यह है कि मन, चित्त, बुद्धि एव अहंकार रूपी चार पहरेदार चारों ओर से इस शरीर की रक्षा करते रहते हैं अर्थात् अन्तःकरण चतुष्टय के वशीभूत मनुष्य किसी प्रकार मरना नहीं चाहता है, परन्तु इन पहरेदारों के सजग रहते हुए भी काल रूपी चोर इस शरीर रूपी नगर को लूट ले जाता है । कबीरदास कहते हैं कि हे लोई ! सुनो मनुष्य सर्वथा विवश है । सबका नाश, सृजन एवं पालन करने वाला केवल वही एक ईश्वर ही है ।

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति—माटी का घर,

(ii) घन चारि पहरिया, नगरिया ।

(iii) विरोधाभास—यहु दिसिनगरिया ।

विशेष—(1) निर्वेद संचारी भाव की व्यजना है ।

(ii) लोई कबीर की पत्नी का नाम है। कुछ लोग लोई को कबीर की शिष्या मानते हैं। इस प्रकार इस पद में चरितपरक संकेत है।

(iii) समभाव देखिए—

अवलों नसानी, अब न नसैंहीं ।

× × ×

मन मधुकर पन कै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैंहीं ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(२७४)

कबीर बिगरचा राम दुहाई,

तुम्ह जिनि बिगारौ मेरे भाई ॥ टेक ॥

चन्दन कै ढिग बिरष जु भैल, बिगरि बिगरि सो चन्दन ह्वैला ॥

पारस कौं जे लोह छिवैगा, बिगरि बिगरि सो कचन ह्वैला ॥

गगा मै जे नोर मिलैगा, बिगरि बिगरि गंगोदिक ह्वैला ॥

कहै कबीर जे राम कहैला, बिगरि बिगरि सो रामहि ह्वैला ॥

शब्दार्थ—ह्वैला=हो जाएगा। पारस=वह पत्थर जिसके स्पर्श से लोहा स्वर्ण बन जाता है। छिवैला=छुएगा, स्पर्श करेगा।

संदर्भ—कबीरदास सत्सग की महिमा का वर्णन करते हैं।

भावार्थ—राम की दुहाई देकर सच कहता हूँ कि भगवद् भक्ति करके मैं तो बिगड ही गया हूँ अर्थात् ससार के उपयुक्त नहीं रह गया हूँ। पर मेरे भाइयो! अब तुम मेरी तरह भगवद् भक्ति के मार्ग पर चल कर मत बिगडना। तुम संसार में ही अनुरक्त बने रहो—यही व्यजना है। प्रकृति का नियम ही यह है कि जो वृक्ष चन्दन के वृक्ष के पास होगा, वह चन्दन के सम्पर्क के कारण धीरे-धीरे परिवर्तित होकर चन्दन ही बन जाएगा। जो लोहा पारस का स्पर्श करेगा, वह क्रमशः परिवर्तित होकर स्वर्ण हो जाएगा। जो पानी गगा में मिलेगा, वह गगा जल के रूप में परिवर्तित हो जाएगा। कबीरदास कहते हैं कि जो व्यक्ति राम का नाम लेगा, वह धीरे-धीरे (अज्ञान से मुक्त होकर) राम-रूप ही हो जाएगा।

अलंकार—(i) पुनरुक्ति प्रकाश—बिगरि-बिगरि।

(ii) तद्गुण—चन्दन ह्वैला, पारस ह्वैला, गगा ह्वैला।
रामहि ह्वैला।

विशेष—(i) बिगारि' में लक्षण लक्षणा है तथा ससारी व्यक्तियों के प्रति तीक्ष्ण व्यंग्य है।

(ii) सत्सग की महिमा का वर्णन है—तुलना करें—

(क) सठ सुधरहि सतसंगति पाई। पारस परस कुघात सुहाई।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(ख) हमारे प्रभु ! अंगुन चित न धरौ ।

×

×

×

इक लोहा पूजा में राखत इक घर बधिक परो ।
सो सुविधा पारस नहिं राखत, कंचन करत खरो ।
इक नदिया इक नारि कहावत, मैलो नीर भरो ।
जब मिलिगे तब एक बरन भे, सुरसरि नाम परो ।

(महात्मा सूरदास)

(२७५)

राम राइ भई बिकल मति मोरी,

कै यह दुनी दिवानी तेरी ॥ टेक ॥

जे पूजा हरि नाहीं भावै सो पूजनहार चढ़ावै ॥

जिहि पूजा हरि भल मानै, सो पूजनहार न जानै ॥

भाव प्रेम की पूजा, ताथै भयौ देव थै दूजा ॥

का कीजै बहुत पसारा, पूजी जै पूजनहारा ॥

कहै कबीर मै गावा, मै गावा आप लखावा ॥

जो इहि पद मांहि समांता, सो पूजनहार सयांता ॥

शब्दार्थ—बिकल = व्याकुल, खराब । दुनी = दुनियाँ । दिवानी = दीवानी,

पागल । पूजनहार = पूजने वाले, पुजारी लोग ।

सदर्भ—कबीर का कहना है कि साधक मानव को शुद्ध, आत्म स्वरूप की आराधना करनी चाहिए ।

भावार्थ—हे स्वामी राम, मेरी बुद्धि ही खराब हो गई है अथवा तुम्हारी यह सारी दुनिया ही पागल है । भगवान को जो सेवा-पूजा प्रिय नहीं है, उसी प्रकार की पूजा उसको पूजने वाले करते हैं । जो पूजा भगवान को प्रिय है, उस पूजा को ये पूजने वाले जानते ही नहीं हैं । भावपूर्वक एव प्रेमपूर्वक पूजा करने के लिए ही जीव ब्रह्म से पृथक हुआ है अथवा प्राणी का जन्म हुआ है । बहुत अधिक बातें बनाने से क्या लाभ है । पूजने वाले को अपने शुद्ध स्वरूप—शुद्ध बुद्ध आत्मा की पूजा करनी चाहिए । कबीर कहते हैं कि मैंने इस पूजा के वास्तविक रहस्य को गाकर स्पष्ट कर दिया है । जो लोग इस पद में किए गए वर्णन के अनुसार प्रभु की आराधना करते हैं, वे ही ज्ञानी एव चतुर पूजने वाले हैं ।

अलंकार—(1) सदेह—कै तेरी ।

(II) विषम की व्यञ्जना—जे पूजा चढ़ावै ।

(III) रूपक—भाव-प्रेम की पूजा ।

(IV) गूढोक्ति—का कीजै पसारा ।

विशेष—(1) अद्वैत मत का काव्य मय प्रतिपादन है ।

(II) वाह्याचार का विरोध व्यंजित है ।

(III) सच्ची भक्ति-भावना का प्रतिपादन है ।

(IV) सच्चा ईश्वर प्रेम ही जीवन का चरम फल है । यह मीधी-सी बात लोगो की समझ में नहीं आती है । इसी बात को देखकर कबीर हैरान हैं ।

(२०६)

रांम राइ भई बिगूचनि भारी,

भले इन ग्यांनियन थै संसारी ॥ टेक ॥

इक तप तीरथ औगांहे, इक मांनि महातम चांहे ॥

इक मै मेरी मै बीभै, इक अहंमेव मै रीभै ।

इक कथि कथि भरम लगांवै, समिता सी वस्त न पावै ॥

कहै कबीर का कीजै, हरि सूभै सो अंजन दीजै ॥

शब्दार्थ—विगूचनि=उलझन, कठिनाई, असमंजस, औगाहै=अवगाहन (स्नान) करते हैं । मांनि=मान, सम्मान । बीभै=बीधे, बघते हैं । अहंमेव=“मैं ही हूँ”—मिथ्याभिमान । कथि कथि=विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना । समिता=समाप्त अथवा सवित् आत्मबोध । वस्त=वस्तु । अजन=काजल, लक्षण से ज्ञान, आँखों की दृष्टि को शुद्ध करे ।

संदर्भ—कबीर के विचार से 'विवेक' ही भगवद् प्राप्ति का उचित सोपान है ।

भावार्थ—हे भगवान, मेरे सामने तो बड़ी भारी कठिनाई उपस्थित हो गई है । इन तथाकथित ज्ञानियों (ढोगी एव पाखण्डी लोगो) की अपेक्षा तो ये ससारी लोग (गृहस्थ लोग) ही अच्छे हैं । इन ज्ञानियों में कोई तो तप करते हैं, कोई तीर्थों में स्नान करते हैं, कोई मान चाहते हैं और कोई अपने आपको (भगत जी आदि) कहलाकर) बड़ा दिखाना चाहते हैं । इनमें बहुत से 'मैं मेरा' के मोह-बन्धन में फँसे हुए हैं और किन्हीं को अपनी शेखी बघारने की लत पड गई है । इनमें कुछ लोग विभिन्न धार्मिक सिद्धान्तों का वर्णन करते हुए अपने आपको भ्रम में फँसाए हुए हैं । परन्तु इनमें कोई भी ऐसा नहीं है जिसको आत्म-बोध अथवा समभाव जैसी वस्तु की प्राप्ति हो गई हो । कबीरदास कहते हैं कि तथाकथित ज्ञान और ज्ञानियों से छुटकारा कैसे हो ? यथार्थ बात तो यह है कि उस ज्ञान की प्राप्ति की जानी चाहिए जिससे भगवान का दर्शन प्राप्त हो सके ।

अलंकार—(1) पुनरुक्ति प्रकाश—कथि कथि ।

विशेष—(1) 'अजन' ज्ञान का प्रतीक है ।

(II) अहंकारी एव ढोगी ज्ञानी की अपेक्षा वह गृहस्थ कहीं अधिक अच्छा है जो निष्ठा पूर्वक अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करता है । सच्चे गृहस्थ की प्रशंसा एव ढोगी ज्ञानी की भर्त्सना है ।

(III) इसमें तत्कालीन सामाजिक जीवन की भी एक झलक प्राप्त हो जाती है ।

(२७७)

काया मजसि कौन गुना,

घट भीतरि है मलनां ॥ टैक ॥

जौ तू हिरदै सुध मन ग्यानीं, तौ कहा बिरोलै पानी ।

तू बी अठसठि तीरथ न्हाई, कड़वापन तऊ न जाई ॥

कहै कबीर बिचारी, भवसागर तारि सुरारी ॥

शब्दार्थ—मजसि=मज्जसि, घोता है । कौन गुना=किस उपयोग के लिए बिलोलै=बिलोडित करता है, मथना अर्थात् पानी मे से किसी वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न करना । तूबी=तु बी, कडवी लौकी ।

संदर्भ—कबीर वाह्याचार की निरर्थकता का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—पूजा-पाठ आदि वाह्याचारो मे लिप्त व्यक्तियो को सम्बोधित करते हुए कबीरदास कहते हैं कि “तुम्हारे शरीर के भीतर तो मैला भरा हुआ है । तब फिर तुम शरीर को बाहर से क्यो धोते हो ? अभिप्राय यह है कि जब हृदय के भीतर विषय-वासना रूपी मैल भरा हुआ है, तब तीर्थों मे मल मल कर स्नान करने से कोई लाभ नही है । यदि तुम हृदय से शुद्ध और विवेक पूर्ण मन वाले हो, तब फिर तुम इन तीर्थों के जल को मथ कर क्या प्राप्त करना चाहते हो ? अभिप्रेत यह है कि जल को मथने पर कुछ भी हाथ नही लगता है । जल-मथन तो वही करता है जो एक दम मूर्ख होता है । अत जो तीर्थों मे स्नान करके मोक्ष की आशा करते है, वे निरे अज्ञानी हैं । विवेकी ऐसा मूर्खतापूर्ण व्यवहार कदापि नही करेगा ।

जल मे स्नान करके मोक्ष की आशा करने वालो को लोक-व्यवहार का दृष्टांत देकर कवि समझता है कि कडुवी लौकी जल मे तैरती हुई इधर-उधर अनेक तीर्थों मे भले ही स्नान करले, परन्तु उसका कडुवापन नही जा पाता है । इसी प्रकार तीर्थ-स्नान से मानव मन की वासनाओ का मैल समाप्त नही हो पाता है । कबीर कहते हैं कि इन्ही सब बातो का विचार करके मैं भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि हे मुरारि, तुम मुझको इस ससार रूपी सागर से पार उतार दो अर्थात् आवागमन के चक्र से मेरा उद्धार कर दो ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति—काया गुना, जौत पानी ।

(II) दृष्टांत—तूबी . जाई ।

(III) विशेषोक्ति—तऊ न जाई ।

(IV) रूपक—भवसागर ।

(VI) परिकराकुर—मुरारि ।

विशेष—(1) लक्षण—बिरोलै पानी ।

(II) वाह्याचार का विरोध है ।

(III) पाठान्तर—हिरदै कपट मुख ग्यानी । भूठै कहा बिलोवसी पानी ।

(२७८)

कैसे तू हरि कौ दास कहायौ,

करि बहु भेषर जनम गंवायौ ॥ टेक ॥

सुध बुध होइ भज्यौ नहि सांई, काछ्यौ डचंभ उदर कै तांई ॥

हिरदै कपट सू नही साचौ, कहा भयौ जे अनहद नाच्यौ ॥

भूठे फोकट कलू संझारा, राम कहैं ते दास नियारा ॥

भगति नारदी मगन सरीरा, इहि बिधि भव तिरि कहै कबीरा ॥

शब्दार्थ - काछ्यौ = वेष धारण किया । डचंभ = दंभ, पाखण्ड । उदर के ताई = उदरपूर्ति के लिए । अनहद = अनाहत नाद के नाम पर अथवा वेहद । कलू = कलियुग । नियारा = न्यारे, अनोखे ।

संदर्भ—कबीरदास नारद द्वारा प्रतिपादित प्रेमा भक्ति का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—रे साधु का वेष धारण करके अपने आपको भक्त कहने वाले प्राणी ! तुम अपने आपको भगवान का भक्त क्योकर कहलाते हो ? तुमने तो तरह-तरह के अनेक वेष धारण करके अपना सम्पूर्ण जीवन नष्ट किया है । तुमने कभी भी शुद्ध बुद्धि द्वारा भगवान का भजन नहीं किया । तुम तो उदर पूर्ति के निमित्त केवल पाखण्ड करके अनेक वेष धारण करते रहे हो । तेरे हृदय में कपट है और तुमने भगवान से कभी सच्चा प्रेम नहीं किया है । यदि तू केवल दिखाने के लिए हृदय में उठने वाले संगीत का नाम लेकर तरह तरह से नाचता रहा है, तो इससे क्या लाभ है ? इस भूठे एव निस्मार कलियुग में राम का नाम लेने वाले सच्चे भक्त और ही होते हैं अर्थात् सच्चे भक्तों के लक्षण न्यारे ही होते हैं । कबीर कहते हैं कि अपने शरीर को नारद द्वारा कथित प्रेमा भक्ति में तन्मय करो और इस प्रकार इस संसार-सागर के पार हो जाओ ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति—कैसे... .. कहायौ ।

(II) पदमैत्री—सुध बुध ।

(III) वक्रोक्ति—कहा भयौ .. नाच्यौ ।

(IV) भेदकातिशयोक्ति—दास नियारा ।

(VI) रूपक—भव ।

विशेष—(1) अनहद—देखें टिप्पणी पद सं० १५७ ।

(II) बाह्याचार का स्पष्ट विरोध है ।

(III) इस पद में कबीर “नारदी भक्ति” की चर्चा करते हुए वैष्णव भक्तों के एक दम निकट आ जाते हैं । कतिपय आलोचकों के मतानुसार ‘भगति नारदी’ में कबीर का तात्पर्य ‘नारद-भक्ति-सूत्र’ में वर्णित भक्ति के प्रकार से नहीं है । परन्तु हमारे मतानुसार कबीर का तात्पर्य ‘नारद भक्ति सूत्र’ में वर्णित भक्ति-पद्धति से ही

है । कबीर की विचार-धारा (मगन-सरीरा आदि) हमें तो एक दम उसी के अनुकूल दिखाई देती है—

तदर्पिता खिला चारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ।

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृत स्वरूपा च ।

(२७६)

राम राइ इहि सेदा भल मानै,

जै कोई राम नाम तत जानै ॥ टेक ॥

रे नर कहा पपालै काया, सो तन चीन्हि जहां थं आया ॥

कहा दिभूति जटा पट बाँधे, काजल पंस हुतासन साधे ॥

र राम मां दोई अखिर सारा कहै कबीर तिहूं लोक पियारा ॥

शब्दार्थ—तत=तत्त्व, रहस्य । पपालै=प्रक्षालित करता है, धोता है ।

पट=वस्त्र । हुतासन=अग्नि, हवन करना अथवा पचाग्नि की साधना ।

सुन्दर—कबीरदास राम नाम की महिमा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—जिसको राम-नाम के तत्त्व का ज्ञान है, उसी की सेवा (भक्ति) को भगवान राम अच्छा समझते हैं । रे मानव ! तू इस शरीर को क्यों धो रहा है ? उस परम तत्त्व को जानने का प्रयत्न कर जो तेरा उद्गम कारण है अर्थात् जहाँ से तेरा जन्म हुआ है । भस्म रमाने, जटा रखने तथा विशेष प्रकार के वस्त्र धारण करने से क्या होता है ? तीर्थों के जल में स्नान करने से अथवा पचाग्नि में तपने से किंवा हवन करने का भी कोई उपयोग नहीं है । 'रकार' और 'मकार' अर्थात् 'राम' ये दो अक्षर ही सार पदार्थ हैं । कबीर कहते हैं कि तीनों लोको में ये दो अक्षर ही प्रिय वस्तु हैं—ये ही सुन्दर एवं मंगलकारी हैं ।

अलंकार—(1) गोढोक्ति—रे नर आया ।

(2) वक्रोक्ति—कहा पपालै साधे ।

(3) पदमैत्री—बाँधे साधे ।

विशेष—(1) बाह्याचार का विरोध है ।

(2) ज्ञान-लक्षण भक्ति ही श्रेष्ठ है ।

(3) 'राम-राम' के स्मरण में ही जीवन की सार्थकता है । तुलना कीजिए—

आखर मधुर मनोहर दोऊ । वरन बिलोचन जन जिय जोऊ ।

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू । लोक लाहु परलोक निवाहू ।

× × ×

एकु छत्रु एकु मुकुटमनि सब वरननि पर जोउ ।

तुलसी रघुवर नाम के वरन विराजत दोउ ।

× × ×

राम नाम मनिदीप घरु जीह देहरी द्वार ।

तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजियार । - गोस्वामी तुलसीदास

(२८०)

इहि विधि राम सू ल्यौ लाइ ।
 चरन पाषे निरति करि, जिभ्या जिनां गुंण गाइ ॥टेक॥
 जहाँ स्वांति बू द न सीप साइर, सहजि मोती होइ ।
 उन मोतियन मै नीर पोयौ, पवन अम्बर धोइ ॥
 जहाँ धरनि बग्घै गगन भीजै, चन्द सूरज मेल ।
 दोइ मिलि तहाँ जुड़न लागे, करत हंसा केलि ॥
 एक विरष भीतरि नदी चाली, कनक कलस समाइ ।
 पंच सुवटा आइ बैठे, उदै भई बनराइ ॥
 जहाँ बिछट्यौ तहाँ लाग्यौ, गगन बैठो जाइ ।
 जन कबीर बटाऊवा जिनि मारग लियौ चाइ ॥

शब्दार्थ—ल्यौलाइ = ली लगा । साइर = सागर । नीर = पानी, काति ।
 हंसा = शुद्ध बुद्ध जीवात्मा । विरष = वृक्ष । नदी = सुषुम्ना । कनक-कलश = सोने
 का कलशा, सहस्रार । पंच सुवटा = पांच तोते (पंच प्राण—प्राण, अपान, उदान,
 समान तथा व्यान) । बनराइ = बनराजी, विभिन्न सद्वृत्तियाँ । जन = भक्त ।
 बटाऊवा = पार्थक । चाइ = चाव पूर्वक । मारग लीयौ = मार्ग अपना लिया है ।

सन्दर्भ—कबीरदास कायायोग की साधना का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—रे साधक ! तू भगवान राम मे इस प्रकार ली लगा । उनके
 चरण-कमलो के समीप नृत्य कर । जीभ के बिना उनका गुण-गान कर अर्थात् मन मे
 उनके गुणो का स्मरण कर । जहाँ न स्वाति नक्षत्र के जल की बूँद गिरती है, न
 सीपी है और न सागर है, वही मोक्ष रूपी मोती सहज रूप से प्राप्त होता है ।
 अभिप्राय यह है कि आत्म समर्पण करने पर कार्य-कारण सम्बन्धो से प्रतीत सहज
 अनुभूति रूप मोती प्राप्त होगा । उस मोती मे परमानन्द रूप काति समायी हुई है
 और प्राण रूप पवन एव ज्ञान-रूप आकाश उसे निर्मल रखते हैं । अभिप्राय यह है
 कि प्राण-साधना एव ज्ञानानुभूति के द्वारा उसको सम्पूर्ण विकारो से रहित बना
 दिया गया है ।

इस अवस्था मे कुण्डलिनी रूपी पृथ्वी से अमृत भरता है और ब्रह्मरन्ध्र रूप
 गगन उस अमृत का पान करता है । अभिप्राय यह है कि कुण्डली-शक्ति के जाग्रत
 होने पर शून्य-गगन-मडल अमृत की वर्षा से अभिसिंचित हो जाता है । इस अवस्था
 मे चन्द्र और सूर्य (इडा-पिंगला) नाडियाँ मिलकर तदाकार होने लगती हैं तथा ज्ञानी
 जीवात्मा आनन्दमग्न हो जाता है । इस शरीर रूपी वृक्ष मे सुषुम्ना रूपी नाडी
 प्रवाहित होती है और सहस्रार रूपी स्वर्ण कलश आध्यात्मिक आनन्द द्वारा आपूरित
 हो जाता है ।

इस अवस्था मे पंचप्राण यहाँ केन्द्रित हो जाते हैं और अन्तःकरण मे
 सद्वृत्तियो का उदय हो जाता है, मानो वनस्थली हरी-भरी हो उठी हो । (कतिपय

आलोचक 'पंच सुवटा' का अर्थ "पाच ज्ञानेन्द्रियाँ" करते हैं। तब भी इसके मूल भावार्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। तब इसका अर्थ इस प्रकार होगा कि पाँचों इन्द्रियाँ रूपी तोते यहाँ आकर बैठ जाते हैं, अर्थात् इन्द्रियाँ बाह्य विषयो से विमुख होकर इस आनन्दानुभूति का भोग करने लगती हैं।) कबीर कहते हैं कि मेरी चेतना की अवस्थिति शून्य में हो गई है अर्थात् आत्म चेतना का पर्यवसान विश्व-चेतना में हो गया है। मैं जहाँ से बिछुड़ा था, वही आकर बैठ गया हूँ अर्थात् मैं अब तक भगवान (परमात्मा) से वियुक्त था, अब उसी में समाहित (तन्मय) हो गया हूँ। यह भक्त कबीर परमपद के मार्ग का पाथिक है। उसको अपना अभीप्सित मार्ग मिल गया है और उसने उसको पूरे उत्साह के साथ अपना लिया है।

अलंकार—(1) विभावना—जिम्हा .. गाइ, जहाँ .. होइ, पवन अबर
घोइ।

(II) श्लेष पुष्ट रूपक—मोती।

(III) रूपकातिशयोक्ति—पवन, अम्बर, हसा, सुवटा।

(IV) विरोधाभास—घरनि बरसै भीजै, चद सूरज मेलि,

(V) जहाँ बिछड़्यौ .. लाग्यौ।

विशेष—(1) रूपको तथा प्रतीको का प्रयोग है।

(II) कुण्डलिनी शक्ति पृथ्वी से उद्भूत होती है। इसी से उसको 'घरती' कहते हैं।

(III) इस पद में 'उलटवासी' की पद्धति अपनाई गई है।

(IV) काया योग की सिद्धियों का वर्णन है।

(V) जहाँ .. लाग्यौ — अद्वैतावस्था की ओर सकेत है।

(VI) निर्विकल्प समाधि का वर्णन है। इसी को भूमा का सुख भी कहा गया है।

(VII) कनक कलस—विश्व-चेतना की अवस्था की अनुभूति को ही अरविन्द ने 'स्वर्ण-वर्षा' कहा है।

(VIII) पंच सुवटा आई बैसे—इन्द्रियों का अन्तर्मुखी होना ज्ञान-प्राप्ति दशा का महत्त्वपूर्ण लक्षण है—

हैं अपनापौ तब खानिहों, जब मन फिरि परि है।

तथा— सन्मुख होइ जीव मोहिं जवहीं। जन्म कोटि अध नासहि तवहीं।

—गोस्वामी तुलसीदास

(IX) कुण्डलिनी—देखें टिप्पणी पद २१६।

(X) विश्ववृक्ष—देखें टिप्पणी पद ११, १६४।

(XI) जहाँ बिछड़्यौ—देखें टिप्पणी पद २६।

(XII) शून्य—देखें टिप्पणी पद १६४।

(२८१)

ताथै मोहि नाचिबौ न आवै,

ऊभर था ते सूभर भरिया, त्रिष्णां गागरि फूटी ।
हरि चिंतन मेरौ मदला भीनों, भरम भोयन गयो छूटी ॥
ब्रह्म अग्नि मै जरी जु ममिता, पाषड अरु अभिमानां ।
काम चोलनां भया पुराना मोपे होइ न आना ॥
जे बहु रूप किये ते कीये, अब बहु रूप न होई ।
थाकी सौज संग के बिछुरे राम नाम मसि घोई ॥
जे थे सचल अचल ह्वै थाके, करते बाद बिबादं ।
कहै कबीर मै पूरा पाया, भया राम परसादं ।

शब्दार्थ—ऊभर=खाली । सूभर=शुभ्र । मदला=मन रूपी बाजा ।
मोपन=वह आटा जो ध्वनि में ठनक उत्पन्न करने के लिए मदल पर लगाया जाता
है । सौज = राज, सज्जा, भोग-सामग्री । संग=विषय विकार रूपी साथी । मसि=
पापकालिमा । परसाद = कृपा ।

संदर्भ—कबीरदास ज्ञान-दशा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि मुझ पर भगवान की कृपा हो गई है । इससे
अब मुझ से ससार के भाँति-भाँति के नाच नहीं नाचे जाते हैं । मेरा जो चित्त रूपी
घड़ा भक्ति के जल से शून्य था वह अब भक्ति के शुभ्र जल से भर गया है और मेरी
तृष्णा-रूपी गगरी फूट गई है । हरि के चिन्तन के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले आनंद
जल से मेरा मन रूपी मदला बाजा भीग गया है और वह मन्द पड गया है । भ्रम-
रूपी भोयन (आटा) से मेरे मन रूपी मदला की मुक्ति हो गई है । ज्ञान की अग्नि
में ममता, पाषण्ड और अभिमान जल गए हैं । कामवासना रूपी मेरा वस्त्र पुराना
पड गया है । अब मेरे पास अन्य कोई वस्त्र नहीं है—अर्थात् मैं अब काम-वासना
रहित हो गया हूँ । अब तक मैंने इच्छाओं के वशीभूत होकर जो अनेक जन्म धारण
कर लिए सो कर लिए परन्तु अब वे रूप मैं धारण नहीं करूँगा । कर्म-भोग रूपी
मेरी समस्त सामग्री समाप्त हो गई है और विषय-विकार रूपी साथियों से मेरा
छुटकारा हो गया है तथा राम-नाम ने मेरे समस्त पूर्व कलुषों को धो दिया है । जो
वासनाएँ अब तक चंचल थीं और आपस में झगडती रहती थीं अर्थात् जिनके कारण
मेरा मन चंचल बना रहता था, वे अब उदात्तीकृत हो गई हैं और निष्क्रिय हो गई
हैं । कबीरदास कहते हैं कि मुझ पर राम की कृपा हो गई है और मुझे पूर्ण परम
तत्त्व का साक्षात्कार प्राप्त हो गया है ।

अलंकार—(i) सभग पद यमक—ऊभर सूभर । सचल अचल ।

(ii) रूपक—त्रिष्णा गागर, भरम भायन ।

(iii) ब्रह्म अग्नि, काम चोलना ।

(iv) रूपकातिशयोक्ति—मदला, सौज ।

(v) अनुप्रास—भरम, भोयन भीनों ।

(vi) श्लेष पुष्ट रूपक—मसि ।

(vii) विरोधाभास—अचल है याके ।

विशेष—(1) ज्ञान दशा का मार्मिक वर्णन है ।

(ii) तार्थे भरिया—समभाव देखै—

अध जल गगरी छलकत जाए ।

(iii) मन का मर्दल न बजाना और ताल न देना विविध जागतिक कार्यों के लिए उसका सहयोग न देना है । चित्त के घट का भरना सतोष से पूरित होना है । मन के मर्दल के भीगने का तात्पर्य उसका शिथिल होना है । सग के लोग विषय विकार हैं अथवा ससार के सम्बन्धी भी हो सकते हैं ।

(iv) ज्ञान और भक्ति का समन्वय ही जीवन की सार्थकता है । यही कबीर का दर्शन है । कबीर जीवन के सामान्य क्रिया बलापो के प्रति नवीन दृष्टि उत्पन्न करना ही ज्ञान-प्राप्ति का लक्षण मानते हैं ।

(v) तुलना कीजिए—

अबलों नासानो, अब न नसैहों ।

राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे पुनि न डसैहों ।

पायो नाम चारु चिंतामनि, उर करते न खसैहों ।

स्थामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहि कसैहों ।

परवस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहों ।

मन मधुकर पन कै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहों ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

तथा — अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल ।

काम-क्रोध को पहिरि चोलना, कण्ठ विषय की माल ।

× × ×

सूरदास की सबे अविद्या, दूर करौ नन्दलाल ।

(२८२)

अब क्या कीजै ग्यांन बिचारा,

निज निरखत गत ब्यौहारा ॥टेका॥

जाचिग दाता इक पाया, धन दिया जाइ न खाया ।

कोई ले भरि सकै न सूका, औरनि पै जानां चूका ॥

तिस बाझ न जीव्या जाई, वो मिलै त घालै खाई ।

वो जीवन भला कहाई, बिन मू वां जीवन नांहीं ॥

घसि घदन बनखडि बारा, बिन नैननि रूप निहारा ।

तिहि पूत बाप इक जाया, बिन ठाहर नगर बसाया ॥

कहै कबीर सो पाया, प्रभु भेटत आप गंवाया ॥

शब्दार्थ—निज निरखत=आत्म ज्ञान । गत=समाप्त । मूका=मुट्ठी (मुक्का) । वाभ=विना ।

सन्दर्भ—कबीरदास ज्ञान-बोध की चर्चा करते हैं ।

भावार्थ—अब विवेक-विचार आदि की क्या आवश्यकता है ? आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार हो जाने पर सम्पूर्ण सासारिक व्यवहार (विधि-निषेध) समाप्त हो गए हैं । इस साधक रूपी पाचक जीव को परमात्मा रूपी एक ऐसा दाता मिल गया है जिसका दिया हुआ ज्ञान-भक्ति रूपी धन भोग करने पर भी समाप्त नहीं होता है । उस धन को कोई अपनी मुट्ठी में भी नहीं भर सकता है अर्थात् उसके ऊपर एकाधिकार भी नहीं कर सकता है तथा उस धन को प्राप्त करने के पश्चात् किसी अन्य के पास याचना करने के लिए जाने की आवश्यकता भी नहीं रह जाती है । अर्थात् अन्य साधनाओं को अपनाने की आवश्यकता नहीं रह जाती है । उस धन के विना जीवित नहीं रहा जाता है । यदि वह धन मिल जाता है तो हमारे सासारिक अस्तित्व (अहम् भाव) को मार कर समाप्त कर देता है । भक्ति पूर्ण यह जीवन ही अच्छा कहलाता है और विना मरे इस जीवन की प्राप्ति नहीं होती है अर्थात् जब तक व्यक्ति का अहभाव (सासारिकता के प्रति आसक्ति) नहीं मर जाता है, तब तक वह भक्ति के आनंद पूर्ण जीवन का अधिकारी नहीं बन पाता है । जब व्यक्ति भक्ति के चन्दन को विसकर ज्ञान और वैराग्य की अग्नि प्रकट करता है और उससे विषय विकारों के जगल को जला डालता है, तब उसको साधना रूपी नेत्रों के विना ही सहज भाव से हृदय में भगवान का साक्षात्कार हो जाता है । वह भक्त एक उस पुत्र के समान है जो परमात्मज्ञान रूपी पिता को जन्म देता है तथा स्थान के विना ही नगर बसा देता है अर्थात् सासारिकता में लिप्त हुए विना ही ससार के व्यवहार चलाता रहना है । जो जीवित रहते हुए मरना जानता है अर्थात् शरीर को रखते हुए सासारिकता (आसक्ति) का परित्याग करके ससार के लिए मृत हो जाता है, वही साधक पाँचों प्राणों द्वारा प्राप्त सामूहिक सुख का वास्तविक आनंद प्राप्त करता है । कबीरदास कहते हैं कि भगवान की खोज में मैंने अपने ससारी रूप को नष्ट करके उस परम तत्त्व को प्राप्त किया है ।

अलंकार—(i) वक्रोक्ति—अब विचारा ।

(ii) विशेषोक्ति—धन खाया ।

(iii) सम्बन्धातिशयोक्ति—कोई मूका ।

(iv) विरोधाभास—तिरुवाभुखाई, विन मूवा नाही, घसि वारा, तिहि जाया, जीवत । जानै तथा प्रभु भेटत गवाया ।

(v) विभावना—विन निहारा, विन ठाहर वमाया ।

विशेष—(1) यह पद उलटवासी का है ।

(ii) प्राप्त किया हुआ धन आत्मा, भूति का है। दाता आत्मा है। इस प्रकार इस पद में विभिन्न प्रतीको का सुन्दर प्रयोग है।

(iii) भक्ति किसी सिद्धि का साधन नहीं है। इसी से लिखा है कि धन दिया जाहूँ न खाया तथा “औरनि पै जाना चूका।”

(iv) चदन को घिस डालने तथा वन खड को जला डालने का आशय उपासना के बाह्य उपकरणों को समाप्त करना भी हो सकता है।

(v) पच शैल—पच प्राण, प्राण, अपान, उदान समान और ध्यान।

(vi) इस पद में कबीरदास ने ईश्वर और जीव का तथा ज्ञान और भक्ति का अभेद व्यक्त किया है। यह भी बताया है कि भक्ति से ज्ञान-बोध का जन्म होता है।

(vii) समभाव देखिए—

जग जांचिये कोऊ न जांचिए जो जिय जांचिये जानकी जानहि रे।

जेहि जांचत जाचकता जरि जाइ जो जारति जोरि जहा नहि रे।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(२८३)

अब मैं पायौ राजा राम सनेही,

जा बिनु दुख पावै मेरी देही ॥टेक॥

वेद पुरान कहत जाकी साखी, तीरथि व्रति न छूटै जम की पासी ॥

जाथे जनम कहत नर आगे, पाप पुनि दोऊ भ्रम लागै ॥

कहै कबीर सोई तत जागा, मन भया मगन प्रेम सर लाग़ा ॥

शब्दार्थ—पाक्षी=पाश, बन्धन। जन्म=दिव्य जन्म।

सदर्भ—कबीर भगवत् प्रेम की प्राप्ति का वर्णन करते हैं।

भावार्थ—अब मुझे मेरे प्रेमी भगवान राम की प्राप्ति हो गई है। उनके बिना मेरा जीवन दुखी रहता था। वेद, पुराण इस बात के साक्षी हैं कि तीर्थ-व्रत आदि के द्वारा काल-चक्र का बन्धन नहीं छूट पाता है। भाव-प्रेम के द्वारा मनुष्य को दिव्य योनि प्राप्त होती है अर्थात् मुक्तावस्था प्राप्त होती है। इसके उदय हो जाने पर पाप-पुण्य दोनों ही भ्रम प्रतीत होने लगते हैं क्योंकि ये दोनों ही बन्धन कारक हैं। कबीर कहते हैं कि मेरे मन में तत्त्व ज्ञान जाग गया है। भगवत्प्रेम रूपी वाण मेरे हृदय में समा गया है और मेरा मन उसी में तन्मय हो गया है।

अलंकार—रूपक—प्रेम सर।

विशेष—(1) सच्चे भगवत्प्रेम की महिमा का वर्णन है।

(ii) बाह्याचार की निरर्थकता के प्रति सकेत है। समभाव के लिए देखें—

जों लों मन-कामना न छूटै।

तौ कहा जोग-जग्य-व्रत कीन्हे, बिनु कन भुस को फूटै।

कहा स्नान किये तीरथ के, अग भसम जट-जूटै।

कहा पुरान जु पढे अठारह, उरध घूम के घूटे ।
जग सोभा की सकल बड़ाई, इन ते कल्ल न खूटे ।
करनी और कहनी कछु औरें, मन दसहूँ दिसि दूटे ।
काम क्रोध मद लोभ सत्र हैं, जो इतननि सों छूटे ।
सूरदास तव ही तम नासै, ग्यान-अगिनि-भर फूटे ।

—महात्मा सूरदास

(२८४)

विरहिनी फिरै है नाथ अधीरा,
उपजि बिनां कछु समझि न परई, बांझ न जानै पीरा ॥टेक॥
या बड़ बिथा सोई भल जानै, राम विरह सर मारी ।
कैसो जानै जिनि यहु लाई, कै जिनि चोट सहारी ॥
संग की बिछुरी मिलन न पावै सोच करै अरु काहै ।
जतन करै अरु जुगति बिचारै, रटै राम कूं चाहै ॥
दीन भई बूझै सखियन कौं, कोई मोहि राम मिलावै ।
दास कबीर मीन ज्यूं तलपै, मिलै भलै सचुपावै ॥

शब्दार्थ—उपजि=विरह जन्य अधीरता की उत्पत्ति । बड़=बड़ी । सहारी
=सहन की । काहै=कराहती है ।

सन्दर्भ—कबीरदास की आत्मा रूपी पत्नी अपने पति राम के वियोग में
व्याकुल है ।

भावार्थ—हे नाथ ! यह विरहिणी आपके वियोग में अधीर हुई मारी-मारी
घूम रही है । जिसके हृदय में विरह की यह पीडा उत्पन्न नहीं हुई है वह मेरी इस
व्यथा को नहीं समझ सकता है । ठीक ही है, बांझ नारी प्रसव की पीडा को नहीं
जान सकती है । इस बड़ी व्यथा को वही अच्छी तरह समझ सकती है, जिसको
राम के विरह का वाण लगा है । प्रेम की पीडा की अनुभूति या तो उसे होनी है
जिसने यह प्रेम-पीडा को उत्पन्न किया है अथवा वह जिसने इसकी चोट को सहन
किया है । हे भगवान, आपकी साथिन यह जीवात्मा आपसे बिछुड गई है और आपसे
मिल नहीं पा रही है । इसी कारण वह चिन्तित है और कराह रही है । वह आपसे
मिलने के लिए उपाय सोचती है और तरह-तरह की तरकीबों पर विचार करती है ।
वह निरन्तर प्रियतम राम को ही रटती रहती है और उन्हीं में पूर्णतः अनुरक्त है ।
यह अत्यन्त दीन बनी हुई अन्य भक्त आत्माओं रूपी सखियों से मिलन का उपाय
पूछती रहती है और अनुनय करती है कि मुझे कोई भी राम से मिला दे । भक्त
कबीरदास कहते हैं कि यह जीवात्मा राम के वियोग में जल से वियुक्त मछली की
तरह तडपती है । उनसे मिलने पर ही इसको सच्चे सुख की प्राप्ति होगी ।

अलंकार—(1) निदर्शना—बांझ न जानै पीरा ।

(ii) रूपक—विरहसर

(III) उपमा— मीन ज्यू तलपै ।

विशेष—इस पद में रहस्य भावना एवं भक्ति भावना का सुन्दर समन्वय है । इसमें समन्वित प्रेमानुभूति का विप्रलम्भ रूप है । समभाव के लिए देखिए—

मैं हरि बिन क्यो जिऊँ रो माई ।

पिव कारन वौरी भई, ज्यों घुन काठहि खाइ ।

×

×

×

मीराँ के प्रभु लाल गिरधर । मिलि गये सुख दाइ । —मीराबाई

(२८५)

जातनि बेद न जानैगा जन सोई,

सारा भ्रम न जानै राम कोई ॥टेक॥

चषि बिन दिवस जिसी है सज्ञा, व्यावन पीर न जानै बज्ञा ।

सूझै करक न लागै कारी, बैद बिधाता करि मोहि सारी ॥

कहै कबीर यहु दुख कासनि कहिये, अपने तन की आप ही सहिये ॥

शब्दार्थ—करक=पीडा ।

सन्दर्भ—कबीर की विरहिणी आत्मा भगवत्दर्शन के लिए व्याकुल है ।

भावार्थ—जिसके हृदय में विरह की पीडा है वही भगवत्प्रेमी उसको समझ सकता है । शेष समार को भ्र . मात्र है । राम के प्रेम की अनुभूति तो किसी किसी को होती है । नेत्रहीन के लिए तो जैसा दिन है वैसी ही सध्या है अर्थात् अन्वे के लिए तो दिन-रात समान हैं । बन्ध्या नारी प्रसव की पीडा नहीं समझ सकती है । विरहिणी को अपनी पीडा भर दिखाई देती है और वह उसको बुरी भी नहीं लगती है । विरहिणी जीवात्मा कहती है कि हे भगवान रूपी वैद्य, मेरी व्यथा को ठीक कर दो तुम वैद्य बन कर आओ और दर्शन रूपी औषधि द्वारा मुझे स्वस्थ कर दो । कबीर कहते हैं कि इस प्रेम पीडा को किससे कहूँ । अपनी व्यथा स्वयं ही सहनी पडती है ।

अलंकार—दृष्टान्त—चषि वभा ।

विशेष—(I) समभाव देखिए—

घायल की गति घायल जानै और न जानै कोय ।

तथा—घायल-सी घूमत फिरूँ, दरद न जाणे कोइ ।

घान न भावै, नीद न आवै विरह सतावै मोइ ।

—मीराबाई

(II) अपने तन को आपन सहिये । ठीक ही है—

रहिमन मन की बिथा मन में राखी गोइ ।

लोग हँसाई सब करै वाँट न लेहै कोई ।

—रहीम

(२८६)

जन की पीर हो,

राजा राम भल जानै, कहूँ काहि को मानै ॥टेक॥

नैन का दुख बैन जानै, बैन का दुख श्रवनां ।
 प्यंड का दुख प्रांन जानै, प्रांन का दुख मरनां ॥
 आस का दुख प्यासा जानै, प्यास का दुख नीर ।
 भगति का दुख रांम जानै, कहै दास कबीर ॥

सन्दर्भ—कबीरदास की विरह-व्यथा वर्णनातीत है ।

भावार्थ—भक्त के हृदय की पीडा को भगवान राम अच्छी तरह जानते हैं । उसको किससे कहूँ और उस पर कौन विश्वास करेगा ? प्रियतम को न देखने के कारण जो दुःख होता है, उसका वर्णन वाणी द्वारा किया जाता है । वाणी द्वारा वर्णित दुःख को सुनकर कानों को दुःख होता है अर्थात् दुःख का वर्णन सुनने वाला दुखी होता है । शरीर के कण्ठ को प्राण समझते हैं और प्राणों की व्यथा का ज्ञान मरने पर ही पाता है । आशा में कितनी व्यथा समाई रहती है, इसका अनुभव पानी की आशा में जीवित रहने वाला प्यासा व्यक्ति जानता है । प्यासे व्यक्ति की व्यथा को जल समझता है । कबीरदास कहते हैं कि भक्ति के कारण उत्पन्न होने वाली व्यथा का ज्ञान राम को ही है । भाव यह है कि जल ही यह जानता है कि उसके बिना उसके प्यासे को कितना कष्ट होता है । इसी प्रकार भगवान राम यह जानते हैं कि उनके प्रेमी भक्त को उनके दर्शन के अभाव में कितनी व्यथा होती है ।

अलंकार—(1) निदर्शना—नैन का दुःख ' राम जानै ।

(ii) वक्रोक्ति—कहूँ काहि को मानै ।

विशेष—(1) लाक्षणिक शैली का प्रयोग है ।

(ii) रहस्य भावना की अभिव्यक्ति है ।

(iii) मार्मिक व्यथा की मार्मिक व्यंजना हैं ।

(iv) शब्द विधान में प्रवाह एवं सगीतात्मकता है ।

(२८७)

तुम्ह बिन रांम कवन सौं कहिये,

लागी चोट बहुत दुख सहिये ॥टेक॥

बेध्यो जीव बिरह कै भालै, राति दिवस मेरे उर सालै ॥

फो जानै मेरे तन की पीरा, सतगुर सबद बहि गयो सरीरा ॥

तुम्ह से बैद न हमसे रोगी, उपजी बिथा कैसे जीवै बियोगी ॥

निस वासुरि मोहि चितवत जाई, अजहूँ न आइ मिले रांमराई ॥

कहत कबीर हमकोँ दुख भारी, बिन दरसन वयूँ जीवहि मुरारी ॥

संदर्भ—कबीरदास की जीवात्मा पत्नी की विरह-व्यथा का वर्णन है ।

भावार्थ—हे राम ! तुम्हारे अतिरिक्त मैं अपने मन की व्यथा किससे कहूँ ?

विरह-व्यथा की चोट मुझे गहरी लगी है और उसके कारण मुझे बहुत दुःख सहन करना पड रहा है । विरह रूपी भाले ने मेरे जीवात्मा को वेध दिया है और यह व्यथा रात-दिन मेरे हृदय में कसकती रहती है । मेरे अन्तःकरण में जो विरह-व्यथा

है, उसको कोई नहीं जानता है। सद्गुरु का सदुपदेश रूपी वाण मेरे हृदय में समा गया है। (उसी से प्रेम की यह पीड़ा उत्पन्न हुई है)। हे भगवान, तुम्हारे समान कोई प्रेम का उपचार करने वाला वैध नहीं है और मेरे समान कोई अन्य प्रेम से व्यथित रोगी नहीं है। मेरे मनमें उत्कट प्रेम-व्यथा उत्पन्न हो गई है। अब मैं आपके वियोग में किस प्रकार जीवित रह सकती हूँ? रात-दिन मुझे आप की राह देखते हुए व्यतीत होते हैं। हे राजा राम, आप अभी भी आकर मुझसे नहीं मिले हैं। कबीर कहते हैं कि इस विरह के कारण हमको बहुत भारी दुःख है। हे मुरारी! आपके दर्शनों के बिना मैं किस प्रकार जीवित रह सकूँगा?

- अलंकार—(1) रूपक—विरह कै भालै ।
 (II) वक्रोक्ति—को जाने पीरा, बिन मुरारी ।
 (III) अनन्वय—तुमसेरोगी ।
 (IV) गढोक्ति—उपजी..... वियोगी ।
 (V) परिकराकुर—मुरारी ।

- विशेष—(1) रहस्य भावना की व्यजना है ।
 (II) भक्ति के विप्रलम्भ-पक्ष का मार्मिक वर्णन है ।
 (III) “विरह कै भालै”—सदृश कथन पर फारसी की ऊहात्मक शैली का स्पष्ट प्रभाव है ।

(२८८)

तेरा हरि नामै जुलाहा,
 मेरै राम रमण का लाहा ॥टेक॥
 दस सै सूत्र की पुरिया पूरी, चद सूर दोइ साखी ।
 अन्तै नांव गिनिं लई मजूरी, हिरदा कवल मै राखी ॥
 सुरति सुमृति दोइ खू टी कीन्ही, आरंभ कीया बमेकी ।
 ग्यान तत की नली भराई, बुनित आतमां पेषी ॥
 अविनासी धन लई मजूरी, पूरी थापनि पाई ।
 रस बन सोधि सोधि सब आये निकटै दिया बताई ॥
 मन सूधा कौ कूच कियो है, ग्यान बिथरनीं पाई ।
 जीव की गांठि गुठी सब भागी, जहां की तहां ल्यो लाई ॥
 बेठि बेगारि बुराई थाकी अनभै पद परकासा ।
 दास कबीर बुनत सच पाया, दुख ससार सब नासा ॥

शब्दार्थ—राम-रमण=आत्मा में रमना । चद सूर=इडा पिंगडा ।

सन्दर्भ—कबीरदास आत्म-दर्शन का वर्णन करते हैं ।

हे भगवान! मैं तेरे नामरूपी वस्त्र के बुनने वाला जुलाहा हूँ। इस व्यवसाय में मुझको यह लाभ है कि मुझे राम में रमण करने का (आत्म-साक्षात्कार) का अवसर प्राप्त होता है। मैंने हजार सूत्रों की पुटरी भरली है अर्थात् अन्तःकरण की

सहस्रो भावनाएँ ही इस नाम स्मरण द्वारा आपूरित हो गई हैं। वे ही इस वस्त्र की उपादान बन गई हैं। सूत को उलझने से बचाने के लिए इडा और पिंगला नामक दोनो नाडियो को दो डडो (गोडो) का रूप दिया गया है। इस वस्त्र को बुनने के परिश्रमिक के रूप में मैंने अनंत नाम-स्मरण के रूप में प्राप्त किया है, अर्थात् तुम्हारे अनंत नामों को गिन कर उन्हें मैंने अपनी मजदूरी के रूप में लिया है। इस अमूल्य निधि को मैंने अपने हृदय में ही रखा है। हरि-स्मरण रूपी इस वस्त्र के लिए मैंने सुरति और स्मृति की दो खूटियाँ बना ली हैं। इस प्रकार विवेक-रूपी वस्त्र बुनना आरम्भ कर दिया है। मैंने ज्ञान तत्व से नली भरली है और इस प्रकार इस वस्त्र को बुनते हुए मैंने आत्मसाक्षात्कार किया है। इस बुनाई की मजदूरी में मुझको अविनाशी भगवान की प्राप्ति रूपी धन प्राप्त हुआ है और मैं पूर्ण रूपेण आत्मस्थित हो गया हूँ। अन्य साधक इस आत्म तत्व को इधर-उधर सब जगह अनेक साधनाओं-रूपी अरण्यों और वनों में खोजते रहते हैं मैंने इस तत्व को निकट ही बता दिया अर्थात् मैंने उन साधकों के स्वरूप में ही इस तत्व का सहज रूप से निर्देश कर दिया। मैंने शुद्ध मन की कूची बनाई है और ज्ञान की बिथरती (सूत को अलग सलग रखने वाला यन्त्र) पाई है और इस प्रकार जीव के मन की गाँठी और ममता की घुडियाँ समाप्त हो गई हैं और जहाँ की तहाँ लय लग गई है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेम की कूची से मैंने विषय वासनाओं एवं बाह्याडम्बर के ऊपरी मैल को साफ किया है, तथा विवेक के द्वारा मन में किसी प्रकार की द्विविधा उत्पन्न नहीं होने दी है। इस प्रकार अहंकार की गाँठी और ममता के बन्धनों से मुक्त होकर जीव की ली आत्मस्वरूप में लग गई है। माया के फेर में जो बैठे-ठाले के व्यर्थ के काम थे, वे भी समाप्त हो गए हैं और इस प्रकार आत्मा में अभय पद प्रकाशित हो गया है। कबीरदास कहते हैं कि इस हरि-स्मरण रूपी वस्त्र को बुनते हुए मुझे परम सुख (परम सत्य के साक्षात्कार) की प्राप्ति हुई है और दुःख-रूप ससार का नाश हो गया है।

अलंकार— (1) रूपकातिशयोक्ति— सम्पूर्ण पद।

(II) साग रूपक— दस = पाई।

(III) विरोधाभास— अनंत नाउ गिनि लई।

विशेष— (1) साधना के प्रतीकों का प्रयोग है।

(II) नाम स्मरण की महिमा का निर्देश है। इसमें ज्ञान और योग दोनों का योग है। साधक कबीर का आत्म-विश्राम दृष्टव्य है।

(२८६)

भाई रे सकहु न तनि बुनि लेहु रे,

पीछे रांमहि दोस न देहुरे ॥टेक॥

करगहि एक बिनांनी ता भीतरि पंच परांनी ॥

तामै एक उदासी, तिहि तणि बुणि सबै बिनासी ॥

जे तूँ चौसठि बरियां धावा, नही होइ पच सूँ मिलावा ॥
 जे तै पांसै छसै तांणी, तौ तूँ सुख सूँ रहै पराणी ।
 पहली तणियां ताणां पीछै बुणिया बांणां ॥
 तणि बुणि मुरतब कीन्हां, तब राम राइ पूरा दीन्हां ॥
 राछ भरत भई संज्ञा, तारुणी त्रिया मन बधा ॥
 कहै कबीर बिचारी, अब छोछी नली हमारी ॥

शब्दार्थ— तनि=तानकर । करगहि=शरीर रूपी करघा । विनानी=विज्ञानी एव विवेकी । उदासी=उदासीन (प्रतिबिम्बित चैतन्य से तात्पर्य है । आत्मा छसै ताणी=छ चक्रों में प्राण-संचार करोगे । मुरतब=मुरत्तब, तैयार । राछ=ताने का तराव उठाने गिराने का जुलाहो का औजार । सभा=सन्ध्या । तरुणी त्रिया=युवती पत्नी । छोछी=छूँछी, खाली ।

सन्दर्भ—कबीरदास कायायोग के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—कबीरदास ससारी जीवों को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि रे भाई, यदि कर सको तो हरि-स्मरण रूपी ताना-बाना (वस्त्र) बुन लो । बाद में भगवान् (भाग्य) को दोष मत देना इस वस्त्र को बुनने के लिए तुम्हारे पास मानव-शरीर रूपी करछा है जो विज्ञानमय एव विवेकी है । इस करछे में पाँच प्राण (प्राण, अपान, उदान, समान एव व्यान) रूपी पाँच प्राणी हैं । इसमें एक आत्मा (प्रतिबिम्बित चैतन्य) भी है, जो साक्षी स्वरूप उदासीन है । ससारी जीव ने अपने प्रकार के विषय-विकारों में फस कर उसको नष्ट कर दिया है । अगर तुम चौसठ बार (६४ घड़ी) अर्थात् दिन रात भी प्राणायाम करोगे, तब भी उन पाँच प्राणों से तुम्हारा संयोग नहीं हो पाएगा । अगर तुम षट्चक्रों में प्राण-संचार रूप बाना बुनोगे तो हे प्राणी ! तुम्हें परम आनन्द की प्राप्ति होगी । (अगर तुम पाँचों प्राणों को उसी साधना की ओर उन्मुख करने रूप ताना तानोगे बाद में मन सहित बुनोगे, तो तुम्हें परम आनन्द की प्राप्ति होगी) । यही क्रम है कि पहले ताना तनना चाहिए, बाद में बाना । अर्थात् पहले इन्द्रियों के विषयों को वश में करना चाहिए । बाद में वृत्तियों को ईश्वरोन्मुख । इस प्रकार के ताने-बाने से हरि-स्मरण रूप वस्त्र बुनने पर स्वयं राम ही पूर्ण तत्व के दर्शन रूप पारिश्रमिक देंगे । सामान्य जीवों की दशा यह है कि राछ भरते-भरते ही सायकाल हो जाता है अर्थात् बुनाई से सम्बन्धित औजारों को भरने में ही समस्त दिन व्यतीत कर देते हैं । तात्पर्य यह है कि वे पूजा-पाठ आदिक वाह्याचार में ही पूरी आयु व्यतीत कर देते हैं । उसके बाद सायकाल होते ही उन्हें अपनी युवती पत्नी का मोह सताने लगता है, और वे सोने की तैयारी करने लगते हैं । तात्पर्य यह है कि जीवन की सध्या आजाने के पश्चात् वे मृत्यु की गोद में सो जाते हैं । कबीरदास विचार पूर्वक कहते हैं कि हमने तो ठीक तरह से बुनकर वस्त्र पूरा कर दिया है और अब हमारी नली एक दम खाली है अर्थात् हमारे समस्त कर्म निश्चेष्ट हो गए हैं और हमारा पुनर्जन्म नहीं होगा ।

अलंकार—(1) रूपक—करघा रूपी शरीर ।

(II) व्यतिरेक—करगहि एक विनानी ।

(III) पदमैत्री—तणि वुणि, तणिया ताणां वुणियाँ बाणा ।

(IV) विशेषोक्ति की व्यजना—जेतू . . . मिलावा ।

विशेष—(1) जुलाहे के व्यापार को लेकर साधना का रूपक बाँधा है ।
अपने प्रति प्रेम एवं अपने धर्म के प्रति आस्था भगवत्प्राप्ति का मूल मन्त्र है ।
कबीर ने जुलाहा का काम करते हुए मोक्ष पद की प्राप्ति की । ठीक ही है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मो निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।

(श्रीमद्भगवद्गीता, ३/३५)

कागभुसु डि जी ने भी तो यही कहा था—

यातें यह तन मोहि प्रिय भयउ राम पद नेह ।

निज प्रभु नैनन देखेउँ, गयेउ सकल संदेह ।

(रामचरितमानस)

(II) राछ भरत बधा—तुलना कीजिए—

मोहि मूढ मन बहुत विगोयो ।

याके लिए सुनहु करुनामय, मै जग जनमि जंतमि दुख रोयो

× × ×

डासत ही गई बीति निसा सब, कइहूँ न नाथ नींद भरि सोयो ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(२६०)

वै क्यू काशी तजै मुरारी,

तेरी सेवा चोर भये बनवारी ॥टेका॥

जोगी जती तपी सन्यासी, मठ देवल बसि परसै काशी ॥

तीन बार जे नित प्रति न्हावै, काथा भीतरि खबरि न पावै ॥

देवल देवल फेरी देहीं नांव निरंजन कबहुँ न लेहीं ॥

चरन बिरद काशी कौन दैहं, कहै कबीर भल नरकहि जैह ॥

शब्दार्थ—देवल=देवालय । अरसै=स्पर्श, उपयोग । बिरद=यश ।

सन्दर्भ—कबीरदास बाह्याचारी दभियो की निंदा करते हैं ।

भावार्थ—हे मुरारी, जिन लोगो ने भगवान की सेवा मे चोरी की है वे काशी को क्यों छोडने लगे ? तात्पर्य यह है कि जिन्होने भगवान का नाम नहीं लिया है, वे काशीवास द्वारा ही अपने उद्धार की आशा कर सकते हैं । योगी, यती, तपस्वी, सन्यासी ये सब मठो और देवालये मे रहते हुए काशी-वास का उपभोग करते हैं । वे नित्य प्रति तीन बार स्नान (गंगा स्नान) करते हैं, परन्तु अन्तःकरण मे विराजमान परम तत्व की ओर ध्यान नही देते हैं । वे मंदिर-मंदिर घूमते फिरते

हैं, परन्तु निराकार निर्गुण ब्रह्म का नाम कभी नहीं लेते हैं। कबीर कहते हैं कि (मोक्ष की प्राप्ति तो भगवान के चरणों की कृपा से सम्भव है) भगवान के चरणों का यह यश मैं काशी को कभी नहीं दूँगा, चाहे मुझे नरक में ही क्यों न जाना पड़े।

अलंकार—(1) पुनरुक्ति प्रकाश— देवल देवल ।

विशेष—(1) मुक्ति का श्रेय भगवान को ही है, काशी को नहीं। अनन्य भक्त की भाँति कबीरदास अपने इष्टदेव की महिमा को अक्षुण्ण मानते हैं। वह तो अन्यत्र भी कह चुके हैं कि 'जो कासी तन तजै कबीरा, रामहि कहा निहोरा ?'

(11) काशी में मृत्यु होने पर मुक्ति हो जाती है। इस रूढिबद्ध धारणा का खण न है।

(111) इस पद में मगहर के पूर्व काशी-त्याग का उनका सकल्प व्यक्त हुआ है, क्योंकि काशी-वास से मुक्ति-लाभ में इनका विश्वास बिल्कुल नहीं था।

(२६१)

तब काहे भूलौ बनजारे,

अब आयौ चाहै संगि हमारे ॥टेक॥

जब हम बनजी लौंग सुपारी, तब तुम्ह काहे बनजी खारी ।

जब हम बनजी परमल कस्तूरी, तब तुम्ह काहे बनजी कूरी ॥

अमृत छाड़ि हलाहल खाया, लाभ लाभ करि मूल गँवाया ॥

कहै कबीर हम बनज्या सोई, जाथे आवागमन न होई ॥

शब्दार्थ—बनजारे=व्यापार करने वाला ।

संदर्भ—कबीरदास अज्ञानी साधक को एक नादान व्यापारी के रूप में सम्बोधित करते हैं ।

भावार्थ - रे साधक रूपी व्यापारी, उस समय तो तू डधर-उधर की साधनाओं में भटकता रहा और अब (जीवन को सन्ध्या समय) तू मेरा अनुयायी बनना चाहता है ? जब हम यम-नियम (भक्ति) रूप लौंग सुपारी का व्यापार करते थे, उस समय तुम विषय वासना रूप नमक के व्यापार में उलझे रहे। जब हम ज्ञान और भक्ति रूप कस्तूरी एवं अन्य सुगन्धित वस्तुओं का व्यापार करते थे, तब तुम व्यर्थ की साधनाओं रूप कारी जैसी घाम के व्यापार में फँसे रहे। तुमने भक्ति-रूपी अमृत छोड़कर विषय-वासना रूप विष का पान किया है। तुमने अत्यधिक मुनाफे के चक्कर में गाँठ की पूँजी भी गँवादी है अर्थात् तुमने सासारिक लाभ के लोभ में अपने शुद्ध स्वरूप रूप मूल धन को भी खो दिया है। कबीरदास कहते हैं कि हमने तो भगवत्प्रेम रूपी उसी व्यापार को किया जिससे ससार में आवागमन नहीं होता है अर्थात् जिससे फिर ससार में जन्म नहीं लेना पड़ता है।

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति—लौंग सुपारी, खारी, अमल कस्तूरी, कूरी, अमृत, हलाहल मूल ।

(ii) गूढोक्ति—अव.....हमारे ।

(iii) पुनरुक्ति प्रकाश—लाभ लाभ ।

विशेष—(1) कबीरदास विषयासक्त व्यक्तियों को सावधान करते हैं ।

(ii) कबीर की यथार्थवादी दृष्टि दृष्टव्य है ।

(२६२)

परम गुरु देखो रिदै बिचारी,

कछू करौ सहाइ हंमारी ॥टेक॥

लवानालि तंति एक समि करि, जत्र एक भल साजा ।

सति असति कछू नही जानू, जंसे बजावा तैसे बाजा ॥

चोर तुम्हारा तुम्हारी आग्या, मुसियत नगर तुम्हारा ।

इनके गुनह हमह का पकरौ, का अपराध हमारा ॥

सेई तुम्ह सेई हम एकै कहियत, जब आपा पर नहीं जाना ।

ज्यू जल मै जल पैसि न निकसै, कहै कबीर मन माना ॥

शब्दार्थ—रिदै=हृदय । सहाइ=सहायता । लवा=लौकी के तूबा ।

नालि=नली, डडा । तत=तांत, अनेक शिराएँ । एक समि=एकत्र । सत असत=

सही गलत । चोर=काम क्रोधादि । मुसियत=लूटते है । सेई=वही ।

सन्दर्भ—कबीरदास परमात्मा को सम्बोधित करके कहते हैं कि “जो कुछ है सब तोर ।”

भावार्थ—हे परम गुरु परमात्मा, आप अपने हृदय पर हाथ रख कर विचार करो कि मेरी क्या गलती है । और मेरी कुछ सहायता करो । आपने अनेक अंग रूपी तुम्बा, मेरु दण्ड रूपी नालि तथा विभिन्न शिराएँ रूपी तात एकत्र करके यह शरीर रूपी सुन्दर बाजा तैयार किया । इस शरीर रूपी बाजे से निकलने वाली ध्वनि भली है अथवा बुरी, यह मैं कुछ नहीं जानता हूँ । आप इसको जिस प्रकार बजाते हैं, उस प्रकार यह बजता रहता है । कहने का तात्पर्य यह है कि मैं प्रत्येक कार्य आपकी प्रेरणा से करता रहता हूँ । औचित्यानीचित्य का विचार मैं नहीं करता हूँ । इस शरीर मे काम क्रोधादि विकार रूप जो चोर रहते हैं, वे भी तुम्हारी ही प्रेरणा स्वरूप रहते हैं । वे तुम्हारे ही नगर रूपी इस शरीर को लूटते रहते हैं । इन चोरो के अपराध के लिए आप मुझको क्यों दण्डित करना चाहते हैं ? यदि ये चोर आपकी प्रेरणा से इस नगर को नष्ट कर रहे हैं, तो इसमे मेरा क्या दोष है ? जो आप हैं, वही मैं हूँ । मैं तो अपने और पराए का भेद जानता ही नहीं हूँ । कबीर कहते हैं कि जिस प्रकार जल मे प्रवेश करने वाला जल उसी के साथ एकाकार हो जाता है और फिर उससे पृथक नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार मैं भी आपके साथ तदाकार हो गया हूँ ।

अलंकार—(1) साग रूपक—लवानालि वाजा ।

(ii) सभग पद यमक—सत असति ।

(iii) असगति की व्यजना—इनके.....हमारा ।

(iv) उदाहरण—ज्यू... माना ।

विशेष—(1) यन्त्र शरीर है चोर पच विकार हैं । नगर शरीर या मन है ।

(ii) कबीर के हृदय में तो यह विश्वास सुदृढ जम गया है कि जो कुछ भगवान और गुरु हैं, वही हक है । जीवात्मा और परमात्मा अभिन्न है । जीवात्मा उस परम तत्त्व से कभी पृथक् नहीं हो सकता । कबीर कहते हैं कि हमारा जीवात्मा परम तत्त्व से पूर्णतः तदाकार हो गया है । अद्वैतवाद का सुन्दर प्रतिपादन है ।

(iii) जीव के निर्लिप्त भाव, अकर्तृपन, समर्पण एव परम तत्त्व के विलय का सुन्दर एव भावपूर्ण चित्रण है ।

(२६३)

मन रे आइर कहाँ गयो.

ताथे मोहि बैराग भयो ॥टे॥

पंच तत ले काया कीन्हीं, तत कहा ले कीन्हां ।

करमों के बसि जीव कहत है, जीव करम किनि दीन्हां ॥

आकास गगन पाताल गगन, दसों दिसा गगन रहाई ले ॥

आनंद भूल सदा परसोतम, घट बिनसै गगन न जाई ले ॥

हरि में तन है तन मैं हरि है, है सुनि नाहीं सोई ॥

कहै कबीर हरि नाम न छाँड़ूँ, सहजे होइ सो होई ॥

शब्दार्थ—गगन = शून्य अथवा चैतन्य ।

संदर्भ—कबीर परम तत्त्व की सर्वव्यापकता पर विचार करते हैं ।

भावार्थ—रे मन ! तुम आकर कहाँ चले गये ? अर्थात् ईश्वरोन्मुख मन स्थिति कहाँ चली गई ? यह सोचकर कि मन अस्थिर एव चंचल वस्तु है, मुझे इस मन के प्रति वैराग्य हो गया है । पंच तत्वों (पृथ्वी, जल, वायु, तेज तथा आकाश) के द्वारा इस शरीर का निर्माण हुआ है । परन्तु विचारणीय यह है कि उन पंच तत्वों को कहाँ से निर्मित किया गया है ? उनका मूलभूत कारण क्या है ? कहा जाता है कि जीव कर्मों के वशीभूत रहता है । परन्तु जीव को कर्मों के वशीभूत किमने किया ? आकाश के मूल में गगन है, पाताल के मूल में गगन है । तथा दशो दिशाओं में भी वही गगन विराजमान है । इस प्रकार पुरुषोत्तम भगवान ही शाश्वत अनन्द के मूल स्थान है । शरीर नष्ट होता है परन्तु उसका गगन तत्व नष्ट नहीं होता है । शरीर भगवान में है, एव शरीर में भगवान व्याप्त है । शरीर है भी और नहीं भी है (शरीर वास्तव में नहीं है ।) कबीर कहते हैं कि मैं भगवान का नाम स्मरण नहीं छोड़ूँगा । उससे जो जैसा होगा वैसा अपने आप हो जाएगा । अर्थात् जो तत्व जैसा है वह तत्व सहज रूप में वैसा ही है । उसका निरूपण करने में वाणी अममथं है । वह सहज भाव से ही प्राप्य है ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति—पंच तत्व दीन्हां ।

(II) अनुप्रास—गगन की पुनरावृत्ति ।

विशेष—परम तत्व की अनिवर्चनीयता का सुन्दर वर्णन है । और ठीक ही है—

जो समझ में आगया वह लाइन्तहा कैसे हुआ ?

जो जहन से आ गया, वह खुदा कैसे हुआ ?

(२६४)

हमारै कौन सहै सिरि भारा,

सिर की सोभा सिरजनहारा ॥टेक ॥

टेढ़ी पाग बड जूरा, जरि भए भस्म कौ कूरा ॥

अनहद की गुरी बाजी, तब काल द्रिष्टि भै भागी ॥

कहै कबीर राम राया, हरि कै रंगे मूड मुडाया ॥

शब्दार्थ—सिरि भारा=सिर पर बोझा । जूटा=जूडा, केश-विन्यास की पद्धति विशेष । पुरी=तन्त्री, बाजा । कालद्रिष्टि=मृत्यु । मूड मुडाया=बलिदान होने की तैयारी अथवा विरक्त होना ।

सन्दर्भ—कबीर वाह्याचार का विरोध और भगवत्प्रेम का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ - मैं सिर पर पगडी आदि का बोझा क्यों सहूँ, जब मेरे सिर की शोभा वह सृष्टिकर्ता है । भाव यह है कि पगडी इत्यादि धारण करके शिर को सजाना व्यर्थ है । शिर की शोभा तो इसी में है कि वह भगवान के सामने झुकता रहे । सँवार कर लगाई गई तिरछी पगडी और सँवार कर बनाया हुआ बालों का जूडा, सब जल कर भस्म का ढेर हो जाते हैं । जब अनहद नाद का बाजा बजता है, तभी मृत्यु भय भागता है । कबीर कहते हैं कि मैंने तो भगवान राम के प्रेम में अनुरक्त होकर सब कुछ त्याग दिया है ।

अलंकार—(I) गूढोक्ति—हमारै भारा ।

(II) अनुप्रास—सिर सोभा सिरजन हारा ।

विशेष—(I) लक्षणा—सिरि भार, मूड मुडाया ।

(II) निर्वेद की व्यजना ।

(III) अनहद—देखें टिप्पणी पद संख्या १५७ ।

(IV) वाह्याचार दम्भ के लक्षण है । आन्तरिक अनुभूति ही काम्य है ।

(२६५)

कारनि कौन संवारै देहा,

यहु तनि जरि बरि ह्वै है षेहा ॥टेक॥

चोवा चंदन चरचत अंगा, सो तन जरत काठ के संगी ॥

बहुत जतन करि देह मुठ्याई, अगिन दहै के जंबुक खाई ॥

जा सिरि रचि रचि बांधत पागा, ता सिरि चंच सँवारत कागा ॥

कहि कबीर तब भूडा भाई, केवल राम रह्यो ल्यो लाई ॥

शब्दार्थ—खोहा = धूल । चोवा = सुगन्धित द्रव कई गध द्रव्यो को मिलाकर बनाया जाने वाला एक सुगन्धित द्रव्य । मुठ्याई = पुष्ट की । जम्बुक = गीदड । चंच = चोच ।

सदर्थ—कबीर ससार की असारता का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—इस शरीर का साज-शृंगार किस लिए किया जाए ? यह शरीर जल भुनकर राख की ढेरी हो जाएगा । जिस शरीर पर सुगन्धित द्रव्यो और चन्दन का लेप किया जाता है, वही शरीर चिता में लकड़ियो के साथ जल जाता है । जिस शरीर को अनेक यत्न करके पुष्ट किया जाता है, वह शरीर अग्नि में जल जाता है अथवा उसको गीदड खाते हैं । जिस सिर पर सजा-सजा कर पगडी बाधी जाती है, उस सिर पर कौए अपनी चोच सँवारते है (मारते हैं) । कबीर कहते हैं कि हे भाई ! तब यह शरीर नाशवान और मिथ्या है । हमे केवल राम के प्रति ही अपनी लौ (अपना ध्यान) लगाना चाहिए ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति—कारन देहा ।

(II) अनुप्रास—चोवा चन्दन चरचत ।

(III) पुनरुक्ति प्रकाश—रचि रचि ।

विशेष—'निर्वेद' एव वैराग्य-भाव की मार्मिक व्यजना है ।

(२६६)

धन धंधा ब्यौहार सब, माया मिथ्यावाद ।

पांणी नीर हलूर ज्यूं, हरि नांव बिना अपवाद ॥टेक॥
 इक राम नाम निज साचा, चित चेति चतुर घट काचा ॥
 इस भरमि न भूलसि भोली, बिधना की गति है औली ॥
 जीवते कू मारन धावै, मरते कौं बेगि जिलावै ॥
 जाकै हुहि जम से बेरी, सो द्यू सोवै नींद घनेरी ॥
 जिहि जागत नींद उपावै, तिहि सोवत क्यूं न जगावै ॥
 जलजत न देखिसि प्राणी, सब दीसै भूठ निदानों ॥
 तन देवल ज्यू धज थाछै, पड़िया पछितावै पाछै ॥
 जीवत ही कछू कीजै, हरि राम रसाइन पीजै ॥
 राम नाम निज सार है, माया लागि न खोई ॥
 अति कालि सिरि पोटली, ले जात न देख्या कोई ॥
 कोई ले जात न देख्या, बलि विक्रम भोज ग्रस्टा ॥
 काहू कैं सगि न राखी, दीसै वीसल की साखी ॥
 जब हस पवन ल्यौ खेलै पसरचौ हाटिक जब मेलै ॥
 मानिख जनम अवतारा, नां ह्वै है बारबारा ॥
 कबहू ह्वै किसा बिहाना, तर पंखी जेम उडानां ॥
 सब आप आप कू जाई, को काहू मिलै न भाई ॥

सूरखि मनिखा जनम गवाया, बर कौडी ज्यूं डहकाया ॥
 जिहि तन धन जगत भुलाना, जग राख्यौ परहरि माया ॥
 जल अजुरी जीवन जैसा, ताका है किसान भरोसा ॥
 कहै कबीर जग धधा, काहे न चेतहु अधा ॥

शब्दार्थ—व्योहार सब = समस्त क्रिया कलाप । मिथ्यावाद = नाशवान ।
 हबूर = हिलोर, लहर । अपवाद = निंदा । घट = शरीर । काचा = कच्चा । भोली
 = मूर्ख जीवात्मा । औली = विचित्र, अनोखी । घनेरी = गहरी । जल जन्त = जल
 जन्तु, जल के जीव । रेवल = देवायल, मन्दिर । धज = ध्वज । हाटिक = स्वर्ण ।
 मानिख = मनुष्य । बिहाना = छोड़कर । डहनाया = खो देता है । अजुरी = अजलि ।
 ताका = उसका । गरिहठ = सम्मानित ।

सन्दर्भ—कबीर जीवन और जगत की निस्सारता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—धन, ससार के धन्धे तथा समस्त क्रिया कलाप मायारूप और
 नाशवान हैं । ये सब पानी में उठने वाली लहर के समान क्षणिक हैं । भगवान के
 नाम के बिना ये समस्त पदार्थ निंदा के हेतु हैं । केवल राम नाम ही मूलत
 सत्य है । रे चतुर, तू अपने में विचार करके देखले । यह शरीर कच्चे घड़े के समान
 है । रे भोली जीवात्मा ! तू इस शरीर को सब कुछ समझने की भूल मत कर । यह
 भ्रम है । भगवान की लीला बड़ी ही विचित्र है । यह जीवित को मारने के लिए
 उद्यत रहती है । अथवा मार देती है तथा मरते हुए को जीवन-दान कर देती है ।
 जिस जीव का यमराज के समान शत्रु हो अर्थात् जिसके सिर पर मृत्यु सदैव नाचती
 रहे, वह किस प्रकार निश्चिन्त होकर सो सकता है । जो जागते हुए भी नींद
 उत्पन्न करता है अर्थात् ज्ञान स्वरूप होते हुए भी अज्ञान द्वारा ग्रस्त रहता है, उसको
 सोते हुए से क्यों न जगाया जाए ? अर्थात् अज्ञान द्वारा ग्रस्त प्राणियों को ज्ञान
 अवश्य दिया जाना चाहिए । गुरुज्ञान के द्वारा मोह निद्रा में ग्रस्त व्यक्ति ज्ञान और
 भक्ति की ओर अग्रसर हो सकते हैं । प्राणी जल में छिपे हुए जल-जन्तुओं को नहीं
 देख पाता है और वे जन्तु इस को खा जाते हैं । उसी प्रकार सासारिक व्यवहार
 के पीछे छिपे हुए नाश को प्राणी नहीं देख पाता है, और अन्ततः नाश होने पर
 ससार का मिथ्यात्व प्राणी की समझ में आता है । यह शरीर देवालय की भाँति
 अपने अहंकार रूप ध्वजा को फहराता रहता है । शरीर के पडने पर अर्थात् मृत्यु
 के समय केवल पश्चात्ताप मात्र ही शेष रह जाता है । अतएव व्यक्ति को चाहिए
 कि वह अपने जीवन काल में ही ज्ञान-भक्ति का कुछ आचरण करे । उसे राम रूपी
 रसायन का पान करना चाहिए । राम-नाम का स्मरण ही वास्तव में सार तत्व
 है । माया में फँस कर मनुष्य को अपना जीवन नहीं खोना चाहिए । सासारिक
 वैभव एकत्र करने वालों को हमने अन्तकाल में उन गठरी को अपने सिर पर ले
 जाने हुए नहीं देखा है । (सबको खाली हाथ ही जाते देखा है) । बलि, विक्रमादित्य
 भोज जैसे सम्मानित राजाओं में से भी किसी को इस वैभव को साथ ले जाते हुए

नहीं देखा । इस धन-दीनत ने किसी का भी साथ नहीं दिया । राजा भी इसकी साक्षी (गवाही) हैं । जब जीवात्मा प्राणायाम के द्वारा शून्य तत्व में लौ लगा कर क्रीडा करता है, तब उसको सर्वत्र व्याप्त आनन्द रूप सुवर्ण की प्राप्ति होती है । मनुष्य का जन्म बार-बार नहीं मिलता है । ये जीवन क्षण भगुर है । ये प्राण किसी समय शरीर को छोड़कर ऐसे चले जाएँगे जैसे वृक्ष को छोड़कर पक्षी उड़ जाता है । ससार का प्रत्येक प्राणी अपने-अपने रास्ता अकेला ही जाना है । परलोक-गमन के मार्ग में कोई किसी से नहीं मिलता है । मूर्ख जीव मनुष्य का जन्म (विषय भोग में) व्यर्थ ही गँवा देता है और कौड़ी के मूल में ही उसको खो देता है । जिस शरीर और धन के कारण ससार के लोग अपने आप को भूले हुए हैं और जगत जिसकी रक्षा में लीन है, उसी माया का परित्याग करो । यह जीवन हाथ की अजलि में भरे हुए पानी के समान क्षण-स्थायी है । इसका क्या भरोसा ? कबीर कहते हैं कि यह ससार व्यर्थ का प्रपच है । रे अज्ञानी जीव, तू क्यों नहीं चेतता है—होश में आता है ?

अलंकार—(i) छेकानुप्रास—धन घघा, माया मिथ्यावाद ।

(ii) कछु कीजै, राय रसायन, जगत जग । जल जीवन । मूरख मनिषा ।

(iii) उपमा—हलूर ज्यू । जम से । देवल जूँ । पखी जेम । कौडी ज्यूँ । जाल अजुरी जैसा ।

(iv) वृत्यानुप्रास—चित चैति चतुर, भरमि भूलसि भोली । पडिया पछतावै पाछै ।

(v) श्लेषपुष्ट रूपक—घट ।

(vi) वक्रोक्ति—क्यूँ घनेरी । तिहि जगावै ।

(vii) विरोधाभास—जगत नीद उपावै ।

(ix) दृष्टान्त - जलजत .. निदानी ।

(x) रूपकातिशयोक्ति की व्यजना—घज । हाटिक ।

(xi) रूपक—राम रसाइन ।

(xii) गूढोक्ति—ताका भरोस ।

(xiii) पदमैत्री—राम नाम, घघा अघा ।

विशेष—(i) जीवन और जगत की असारता का प्रतिपादन है ।

(ii) 'निर्वेद' की मार्मिक व्यजना है ।

(iii) जीवन की क्षणिकता को व्यक्त करने के लिए 'जल अजुरी जीवन जैसा' बड़ी ही सार्थक उपमा का प्रयोग किया गया है ।

(v) हस, पवन, हारिक - नाथ सप्रदाय के प्रतीको का प्रयोग है ।

(iv) मानेख जन्म बारबारा—तुलना करें—

बड़े भाग मानुष तन पावा । सुरदुरलभ सद ग्रन्थन गावा ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(vi) वर कौड़ी.....डहकाया—समभाव देखें—

रात गँवाई सोय कर, दिवस गँवायो खाय ।

हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय ।

(vii) बलि—यह एक पीराणिक पात्र है । यह एक प्रसिद्ध प्रतापी दानी राजा थे । विष्णु ने वामन अवतार धारण करके इनसे तीन पग पृथ्वी दान माँगी थी । दो पगो मे विष्णु ने समस्त पृथ्वी नाप ली थी और तीसरा पग इनके सिर पर रखा और बलि को पाताल भेज दिया । इस प्रकार इनकी दानशीलता की ओट मे विष्णु ने बलि को छला था । बलि विरोचन के पुत्र और प्रह्लाद के पौत्र कहे जाते है ।

(viii) राजा विक्रमादित्य, राजा भोज तथा राजा वीसलदेव ऐतिहासिक पात्र है ।

विक्रम—यह एक बडे प्रतापी और प्रसिद्ध राजा हुए हैं । महाकवि कालिदास इन्ही के दरबार के नवरत्नो मे एक थे—ऐसा कहा जाता है । विक्रम सवत् के प्रस्थापक आप ही थे । आपके विषय मे 'सिंहासन बत्तीसी' और अनेक दन्तकथायें प्रचलित है ।

भोज—यह उज्जैन के राजा थे जिन्होंने अपनी राजधानी धारा बनाई थी । इनका पालन-पोषण इनके चाचा राजा मुज द्वारा हुआ था । राजा भोज एक सुयोग्य शासक थे । वह स्वयं बहुत बडे विद्वान थे और विद्वानो का आदर करते थे । उनकी राजसभा के पण्डितो की भी बहुत सी कथाएँ प्रचलित हैं ।

वीसलदेव—वीसलदेव अजमेर के चौहान राजा थे । इनका नाम विग्रहराज चतुर्थ भी है । इनका समय सवत् १२२० के आसपास है ।

यह बडे ही प्रतापी और वीर राजा थे । इन्होंने मुसलमानो के विरुद्ध कई चढाइयाँ की थी और कई प्रदेशो को खाली कराया था । इनके वीरचरित का बहुत कुछ वर्णन इनके राजकवि सोमदेव-रचित 'ललित विग्रहराज' नाटक मे है । जिसका कुछ अंश बडी-बडी शिलाओ पर खुदा मिलता है । नरपति नाल्ह ने इन्ही के चरित को लक्ष्य करके 'वीसलदेव रासो' की रचना की थी ।

(२६७)

रे चित चेति च्यंति लै ताही,

जा च्यतत आपा पर नाहीं ॥टेक॥

हरि हिरदै एक ग्यांन उपाया, ताथै छूटि गई सब माया ॥

जहां नाद न व्यंद दिवस नाहीं राती, नहीं नरनारि नही कुल जाती ।

कहै कवीर सरब सुख दाता, अविगत अलख अभद विधाता ॥

शब्दार्थ — च्यति = ध्यान कर, चिन्तन कर । ताही = उसी का । आपा पर

= अपना-पराया ।

सन्दर्भ—कवीरदास परम तत्त्व के साक्षात्कार का वर्णन करते है ।

भावार्थ—रे चित्त तुम सावधान होकर उस परम तत्त्व का ध्यान करो जिसके चिन्तन से अपने-पराए का भेद नष्ट हो जाता है। मेरे हृदय में भगवान ने वह ज्ञान उत्पन्न कर दिया है जिससे सम्पूर्ण माया-मोह का बन्धन नष्ट हो गया है। उस परम तत्त्व के साक्षात्कार की अवस्था में न नाद है, और न बिन्दु (शरीर) है। उस अवस्था में नर, नारी, कुल एव जाति किसी प्रकार का भी भेद नहीं है। (वह सम अवस्था है।) कबीर कहते हैं कि उस परम तत्त्व का साक्षात्कार सब सुखों का देने वाला है। उस परम तत्त्व को ज्ञानेन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता है, उसको स्थूल दृष्टि द्वारा देखा नहीं जा सकता है, सामान्य बुद्धि द्वारा उसका निरूपण नहीं किया जा सकता है क्योंकि वह पूर्ण एकत्व (अभेद) को प्राप्त है, और वही सबका सिरज, नहार है।

अलंकार— अनुप्रास—चित्त चेति च्यति, अविगत अलख अभेद।

विशेष—(1) परम तत्त्व एव उसकी अनुभूति अनिर्वचनीय है।

(11) 'परा तत्त्व' के साक्षात्कार की अवस्था में नाद और बिन्दु के भी न होने की बात कह कर कबीर ने परम तत्त्व को 'कायायोग' द्वारा प्राप्त अवस्था से भी अतीत बता दिया है।

(२६८)

सरवर तटि हसणी तिसाई

जुगति बिनां हरि जल पीयां न जाई ॥टेक॥

पीया चाहै तौ लै खग सारी, उडि न सकै दोऊ पर भारी ॥

कु भ लीयै ठाढी पनिहारी, गुन बिन नीर भरै कैसे नारी ॥

कहै कबीर गुर एक बुधि बताई, सहज सुभाइ मिलै राम राई ॥

शब्दार्थ—तिसाई=तृषिता, प्यासी। खग=पक्षी। ससिनी=आत्मा।

जुगति युक्ति, साधना, भक्ति। पीया=पीना। सारी=गमन करने वाला।

कु भ=घडा। गुण=नाम स्मरण।

भावार्थ—आत्मानन्द रूपी तालाब के तट पर बैठी हुई जीवात्मा रूपी हसिनी प्यासी है। इसमें आश्चर्य की क्या बात है? साधना रूपी युक्ति के बिना परमानन्द रूपी जल का पान सम्भव नहीं होता है। रे जीवात्मा रूपी हसिनी, यदि तू उस जल को पीना चाहती है, तो तू वहाँ तक गमन कर। परन्तु वस्तु स्थिति यह है द्वैत भाव एव सशय के कारण तेरे दोनों पख उडने में असमर्थ हैं। कुण्डली रूपी पनिहारिन साधना रूपी घडा लिए खडी है, परन्तु भगवान के नाम-स्मरण रूपी रस्सी के अभाव में वह अमृत-जल नहीं भर सकती है। कबीर कहते हैं कि मेरे गुरु ने इस आनन्दामृत पान की भक्ति रूपी एक युक्ति बता दी है। उसी के द्वारा भगवान राम सहज भाव से प्राप्त हो गए हैं।

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति—सम्पूर्ण पद।

(11) विरोधाभास—सरवर... ससाई।

विशेष—(1) नाथ पथ के प्रतीको का प्रयोग है ।

(II) कायायोग की साधना की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता एव सुगमता का प्रतिपादन है ।

(III) कुण्डलिनी — देखें टिप्पणी पद सं० २१६ ।

(IV) कायायोग की साधना के लिए देखे टिप्पणी पद संख्या ४ ।

(२६६)

भरथरी भूप भया बैरागी ।

विरह वियोग बनि बनि ढूँढै, वाकी सुरति साहिब सौं लागी ॥ टेक ॥

हसती घोड़ा गांव गढ़ गूडर, कनड़ा पा इक आगी ।

जोगी हवा जांणि जग जाता, सहर उजीणीं त्यागी ॥

छत्र सिंघासन चवर दुलंता राम रग बहु आगी ।

सेज रमणी रभा होरी, तासौं प्रीति न लागी ॥

सूर बीर गाढा पग रोप्या, इह बिधि माया त्यागी ।

सब सुख छाडि भज्या इक साहिब, गुरु गोरख ल्यौ लागी ॥

मनसा वाचा हरि हरि भाखै, गंधर्प सुत बड भागी ।

कहै कबीर कुदर भजि करता, अमर भणे अणरागी ॥

शब्दार्थ—भूप=राजा । सुरति=लय, लगन । साहिब=स्वामी, ब्रह्म । हसती=हाथी । गूडर=गढी, छोटा किला । उजीडी=उज्जैन । गाढा = दृढ । रोप्या, लगाया । कुदर=कुदरत, ईश्वरीय शक्ति ।

संदर्भ— कबीरदास राम-भजन की महिमा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—राजा भर्तृहरि बैरागी हो गया । उसकी लगन ब्रह्म से लग गई थी और वह भगवान के वियोग में विरह-दुःख से पीड़ित होकर अपने प्रभु को वन-वन ढूँढता फिरा । हाथी, घोड़ा, ग्राम, किला, गढी, ऐश्वर्य आदि उपकरण उसके लिए अग्नि स्वरूप थे । समस्त समार जानता है कि वह जोगी हो गए थे और उन्होंने (अपनी राजधानी) उज्जैन नगर का त्याग कर दिया था । उनके पास छात्र, सिंहासन चारों ओर डोलते हुए चँवर आगे होते हुए अनेक प्रकार के राग रग तथा शैल्या पर रम्भा जैसी मुन्दरी रमणियाँ थी । उन सबके प्रति वह राजा आसक्त नहीं हुआ । उन सबके विरोध में उस वीर शूरमा ने अपने पाँव दृढता पूर्वक जमा दिये अर्थात् उनका आकर्षण उसको टस से मस नहीं कर सका और इस प्रकार उसने माया (ममस्त आसक्तियों) का परित्याग कर दिया । उसने समस्त सासारिक सुखों को त्याग कर एक भगवान का भजन किया और गुरु गोरखनाथ में ही अपनी लौ लगा दी । मन और वाणी से उसने भगवान का भजन किया । वह गंधर्प सुत बडा ही भाग्यशाली था कबीर कहते हैं कि वह ईश्वर के प्रति अनुरक्त राजा ईश्वरीय शक्ति का स्मरण करते हुए अमर पद को प्राप्त हुआ ।

अलकार—(i) अनुप्रास— भरथरी, भूप भया, बिरह वियोग बनि बनि वाकी,
गाँव, गढ, गूडर ।

(ii) पुनरुक्ति प्रकाश—बनि बनि, हरि हरि ।

(iii) रूपक—रमैणी रभा ।

विशेष—(i) राम भक्ति के प्रति आस्था स्पष्ट है ।

(ii) कबीर पौराणिक आख्यानों के महत्व को स्वीकार करते हैं ।

(iii) भरथरी— यह उज्जैन के राजा थे जिन्हें अपनी रानी पिंगला का चरित्र देखकर वैराग्य उत्पन्न हो गया था । अतएव यह अपना सब राज-पाट अपने भाई विक्रमादित्य को देकर योगी हो गए थे । यह बड़े ही विद्वान थे । इनके द्वारा लिखे हुए तीन शतक-शृंगार शतक, नीति शतक एव वैराग्य शतक—बहुत प्रसिद्ध हैं ।

(iv) गोरखनाथ—यह नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक एव नौ नाथों में सर्वप्रथम माने जाते हैं । कबीर ने अनेक स्थलों पर इनको सद्गुरु के रूप में इनका उल्लेख किया है । कहते हैं कि इन्होंने अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का उद्धार किया था । कहा भी जाता है—“जाग मच्छेन्द्र गोरख आया ।”

गोरखनाथ के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है । उनका समय विक्रम की १० वीं और १३ वीं शताब्दी के बीच माना जाता है ।

राग केदारो

(३००)

सार सुख पाइये रे,

रगि रमहु आत्मांराम ॥ टेक ॥

बनह बसे का कीजिये, जे मन नही तजै बिकार ।

घर बन तत समि जिनि किया, ते बिरला संसार ॥

का जटा भसम लेपन किये, कहा गुप्त मै बास ।

मन जीत्यां जग जीतिये, जौ विषया रहै उदास ॥

सहज भाइ जे उपजै, ताक किसा मांन अभिमान ।

आपा पर समि चीनियै, तब मिलै आत्मांराम ॥

कहै कबीर कृपा भई, गुर ग्यांन कह्या समझाइ ।

हिरदै श्री हरि भेटियै, जे मन अनतै नहीं जाइ ॥

शब्दार्थ—सार - सच्चा । तत = इसलिए । समि = समाना विषया = विषयो के प्रति ।

सदर्भ - कबीरदास अ त. साधना का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—रे जीव, अपने आत्माराम के प्रेम में रग कर उसी में रम जाओ और इस प्रकार वास्तविक सुख की प्राप्ति करो । अगर मन के विकार (काम, क्रोध, लोभ मोह एव मत्सर) नहीं छूटते हैं, तो सन्यासी बन कर वन में जाकर रहने से

क्या लाभ हो सकता है ? ऐसे व्यक्ति ससार में बहुत थोड़े ही हैं जिन्होंने सच्ची साधना की दृष्टि से घर को ही वन के समान कर लिया है। जटा रखने, भस्म रमाने अथवा गुफा में वास करने से कोई लाभ नहीं होता है। यदि विषयो के प्रति उदास रह कर मन को जीत लिया जाए, तो ससार को जीत लिया जाता है। जिसके हृदय में भगवान के प्रति स्वाभाविक प्रेमानुभूति उत्पन्न हो जाती है अथवा सहज की अनुभूति जाग जाती है, वे मानापमान के परे हो जाते हैं—उनको न किसी प्रकार का अहंकार रह जाता है और न उन्हें किसी प्रकार के मान-मर्यादा की इच्छा शेष रह जाती है। जब व्यक्ति अपने और पराए को समान समझने लगता है, तभी उसे आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार होता है—अर्थात् समबुद्धि के द्वारा ही आत्मदर्शन सम्भव है। कबीर कहते हैं कि हमारे ऊपर तो गुरु की कृपा हो गई है। उन्होंने हमें आत्म-ज्ञान समझा दिया है। अगर मन इधर-उधर न भटके तो हृदय में ही भगवान के दर्शन हो जाते हैं।

अलंकार—(1) वक्रोक्ति—का..... वास ।

(II) अनुप्रास—जीत्या जग जीतिये ।

(III) सभग पद यमक—भाव अभिमान ।

विशेष—औपनिषदिक ज्ञान का प्रभाव स्पष्ट है। उपनिषद् और गीता में अनेक स्थानों पर समबुद्धि का प्रतिपादन किया गया है तथा मानापमान रहित होना सफल साधक का लक्षण बताया गया है। यथा— देखे श्रीमद्भगवद्गीता के ये वचन—

दुःखेदवनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृह ।

वीतराग भयक्रोध स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।

(७/५६)

तथा—

निर्मको निरहंकार. स शान्तिमधिगच्छति ।

(२/७१)

तथा—

“आत्मवत् सर्वभूतेषु य पश्यति स पश्यति ।”

—श्रीमद्भगवद्गीता

(३०१)

है हरि भजन कौ प्रवांन ।

नीच पांवै ऊच पदवी, बाजते नीसान ॥ टेक ॥

भजन कौ प्रताप ऐसो, तिरे जल पाषान ।

अधम भील अजाति गनिका, चढ़े जात बिदांन ।

नव लख तारा चलै मंडल, चलै ससिहर भांन ।

दास धूकों अटल पदवी, राम को दीवांन ॥

निगम जाकी साखि बोलै, कहै संत सुजांन ।

जन कबीर तेरी सरनि आयी राखि लेहु भगवांन ॥

शब्दार्थ—प्रवान=प्रमाण । नीसान=निशान, डंका । पाषान=पत्थर
धू=ध्रुव । दीवान=शाहीदरवार, प्रधानमंत्री ।

संदर्भ— कबीरदास भगवद्भजन के प्रभाव का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ— यह हरि के भजन के कल्याणकारी प्रभाव का प्रमाण है कि नीच व्यक्ति भी डके की चोट उच्च पद को प्राप्त हो जाता है। भगवान के भजन का ऐसा प्रभाव है कि पत्थर भी पानी में तैरने लगते हैं। अधम भील (गुह निपाद, शबरी) एव निम्न जाति की वेष्या भी विमान पर बैठकर वैकुण्ठ चले गये। नौ लाख तारो का समूह, चन्द्रमा और सूर्य सब निरन्तर गतिशील बने हुए हैं, पर भक्त ध्रुव की पदवी अटल है—ध्रुवतारा अपने स्थान पर स्थिर बना रहता है, उसको अन्यान्य ग्रह नक्षत्रो की भाँति भ्रमित नहीं होना पड़ता है। वह भगवान राम के दरबार में उच्च आसन पर प्रतिष्ठित है। उसकी भक्ति की साक्षी वेद देते हैं तथा सत एव ज्ञानी सब उसका गुणगान करते हैं। कबीर कहते हैं कि हे भगवान, यह दास आपकी शरण में आया है। उसको अपने चरणों में स्थान दे दीजिए।

अलकार— विरोधाभास— नीच पदवी।

विशेष—(1) भील— केवट, गुह और निषाद एक ही व्यक्ति हैं। यह जाति का भील था। वनवास के समय इसने राम की बहुत सेवा की थी। उसके प्रेमपूर्ण व्यवहार से प्रभावित होकर राम उसे भाई के समान मानने लगे थे।

(iii) गणिका— यह पिंगला नाम की वेष्या थी। एक बार वह शृगार किए हुए आधी रात तक अपने प्रेमी की प्रतीक्षा करती रही, परन्तु वह नहीं आया। इससे उसके ऊपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। उसको बड़ी आत्मग्लानि हुई। उसने वेष्यावृत्ति छोड़ दी, और वह भगवान का भजन करने लगी। कहते हैं कि एक बार तोते को 'राम' पढ़ाते हुए उसको भगवान ने स्वर्ग भेज दिया था।

अजाति—अनेक ऐसे भक्त हो गए हैं जिनका जन्म निम्न जाति अथवा मूढ योनि में हुआ था, परन्तु भजन के प्रभाव से वे स्वर्ग के अधिकारी हुए। इनमें कतिपय नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। यथा—कुब १, जटायु, जामवन्त, वाल्मीकि।

ध्रुव—राजा उत्तानपाद के दो रानियाँ थी—सुनीति और सुरुचि। सुनीति के ध्रुव और सुरुचि से उत्तम नामक पुत्र उत्पन्न हुए। राजा सुरुचि को अधिक प्यार करते थे। इस कारण उनको उत्तम भी अधिक प्रिय था। एक दिन राजा उत्तानपाद उत्तम को गोद में खिला रहे थे। उसी समय ध्रुव भी वहाँ पहुँच गया और राजा की गोद में चढ़ने का प्रयत्न करने लगा। यह देखकर सुरुचि ने व्यंग्य किया कि तप करने पर ही राजा की गोद में बैठने का सौभाग्य प्राप्त होता है। यह कहते हुए उसने ध्रुव को एक ओर धकेल दिया। ध्रुव रोता हुआ अपनी माता के पास पहुँचा और रोते हुए उसने अपने अपमान का हाल अपनी माता को सुनाया। माता ने भी उसको तप करके उच्च आसन प्राप्त करने की सलाह दी। ध्रुव ने कठोर तप करके भगवान के दर्शन किए और अटल पद प्राप्त किया।

तिरे जल पाषाण— नील और नल दोनो वानर भाइयों को यह वरदान था कि उनके द्वारा स्पर्श किया हुआ पत्थर डूबेगा नहीं। इन्हीं दोनो ने लका पर

चढाई के समय सागर पार करने के लिए सेतु बाँधा था । यह राम की कृपा द्वारा ही सम्भव हो सका था ।

(iii) यह पद ज्यो का त्यो सूरसागर मे भी मिलता है । अन्तर केवल 'कबीर' और 'सूर' का है । कबीर ने लिखा है कि 'जन कबीर तेरी सरनि आयो', और सूर लिखते हैं कि, "सूर हरि को सरन आयो ।" देखिए—

हे हरि भजन को परवान ।

नीच पावै ऊँच पदवी बाजते निशान ।

भजन को परताप ऐसे जन तरै पाषान ।

अजामिल और भील गणिका चढ़े जात विमान ।

चलत तारे सकल मण्डल चलत शशि अरु भान ।

भक्त ध्रुव को अटल पदवी राम के दीवान ।

निगम जाको सुयश गावत सुनत संत सुजान ।

सूर हरि को शरण आयो राखि ले भगवान ।

(सूरसगतिसार — पद ८०)

(३८२)

चलौ सखी जाइये तहां,

जहां गय पांइयै परमानंद । टेक ॥

यहु मन आमन धूमनां, मेरो तन छोजत नित जाइ ।

च्यंतामणि चित चोरियौ, ताथे कछु न सुहाइ ॥

सु नि सखी सुपनै की गति ऐसी, हरि आए हम पास ।

सोवत ही जगाइया, जागत भए उदास ॥

चलु सखी विलम न कीजिये, जब लग सास सरीर ।

मिलि रइये जगनाथ सू, यूं कहै दास कबीर ।

शब्दार्थ—आमन=आने=जाने । धूमना=धूमने वाला । छोजै=क्षीण होता है ।

सन्दर्भ—कबीरदास मन को भगवद् प्रेम के लिए प्रेरित करते हैं ।

भावार्थ—हे जीवात्मा (सखि) । इस ससार को छोडकर वहाँ चलो जहाँ परमानन्द की प्राप्ति होती है । यह मेरा मन तो अत्यन्त चंचल है — यह निरतन्त्र आने जाने वाला और धूमने वाला है (कभी अनुकूल रहता है और कभी प्रतिकूल हो जाता है) । और यह शरीर निरन्तर क्षीण होता जाता है । चिंतामणि स्वरूप भगवान ने मेरा मन चुरा लिया है । इस कारण मुझको ससार की कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती है । रे सखि ! सुन, स्वप्न मे कुछ ऐमा हुआ कि भगवान मेरे पास आए और उन्होंने मुझको सोते से जगा लिया । परन्तु जगते ही मेरा मन उदास हो गया । रे सखि, जब तक इस ससार मे प्राण हैं, तब तक जल्दी से यह काम कर

लो । देर मत करो । भगवान से मिलने के लिए चल पडो । कबीर कहते है कि प्राण रहते हुए जल्दी ही भगवान के साथ तदाकार होने का प्रयत्न करना चाहिए ।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति 'सखि, च्यतामणि ।

विशेष—(1) सोवत " उदास—इस स्वप्नवत् जगत मे अचानक भगवत्प्रेम जाग गया और ऐसा प्रतीत हुआ कि पति रूप भगवान मेरे समीप ही आ गए थे । भगवान के इस प्रकार आगमन से अज्ञान की निद्रा समाप्त हो गई । यह बोध हुआ कि मैं भगवान से विछुड कर व्यर्थ ही इतने दिनों से भटक रही थी । इस आत्मग्लानि के कारण मन का उदास हो जाना स्वाभाविक ही है । अथवा यह कहिए कि आत्मबोध के फलस्वरूप मेरा मन ससार के प्रति उदासीन हो गया ।

(II) स्वप्न और जागरण के रूपक ने कवि ने लौकिक स्तर के दाम्पत्य प्रेम के विम्बो द्वारा अलौकिक एव रहस्यवादी प्रेम तथा ज्ञान एव भक्ति की समन्वित हृदय स्पर्शी एव सशक्त व्यजना की है ।

(III) समभाव देखे—

चकई री ! चलि चरन-सरोवर जहाँ नहि प्रेम वियोग ।

निसि दिन राम नाम को भक्ती भय रुज नहि दुख सोग ।

तथा — सुवा चलिवा वन को रस पीजै ।

जा वन राम नाम अमृत रस श्रवण पाय भरि लीजै । (सूरदास)

(IV) सोवत • उदास— इसी कोटि के लौकिक दाम्पत्य प्रेम की अभिव्यक्ति देखिए—

हौं सपनें गई देखन कौं, कहू नाचत नद-जलोमति को नट ।

वा मुसकाय कै भाव बताय कै, मेरोई खं चि खरो पकरो पट ।

तौ लागि गाइ बगाइ उठी, कहि देव, वधूनि, मथ्यौ दधि को मट ।

जागि परी तौन कान्ह कहूँ, न कदव, न कुंज, न कालिन्दी को तट । (देव)

(३०३)

मेरे तन मन लागी चोट सठौरी ॥

बिसरे ग्यान बुधि सब नाठी, भई बिकल मति बौरी ॥ टेक ॥

देह बदेह गलित गुन तीनुं, अचत अचल भइ ठौरी ।

इत उत जित कित द्वादस चितवत, यहु भई गुपत टगौरी ॥

सोई पै जानै पीर हमारी, जिहि सरीर यहु व्यौरी ।

जन कबीर ठग ठग्यौ है बापुरौ, सुनि समानी त्यौरी ॥

शब्दार्थ—सठौरी=सही स्थान, मर्म । ज्ञान=सामान्य ज्ञान । नाठी=नष्ट हो गई । ठगौरी=जादू । व्यौरी=विवृत, व्यक्त । सुनि=शून्य । त्यौरी=त्रिकुटी ।

सन्दर्भ—कबीरदास ज्ञान दशा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—मेरे शरीर और मन पर (गुरु उपदेश एव प्रभु की) चोट ठीक

स्थान (मर्म) पर लगी है। इससे मेरी समस्त लौकिक ज्ञान, एव विवेक नष्ट हो गए हैं और मेरे बुद्धि प्रभु के विरह में व्याकुल होकर पागल हो गई है। मेरी देह विदेह हो गई है अर्थात् इस शरीर एव उसके सुखों के प्रति मेरी आसक्ति समाप्त हो गई है और तीनों गुण समाप्त हो गए हैं। जो अवयव चल रहे थे, वे जहाँ के तहाँ स्थिर हो गए हैं अर्थात् मेरे शरीरांगों ने कार्य करना बन्द कर दिया है। शरीर के बारह अंगों की क्रियाएँ अस्त-व्यस्त हो गई हैं। इस गुप्त मार्मिक चोट ने जादू का काम किया है। हमारी व्यथा को वही समझ सकता है जिसके शरीर में यह पीड़ा व्यक्त हुई हो अर्थात् जिसको यह व्यथा भोगनी पड़ी हो। कबीरदास कहते हैं कि मैं भक्त तो प्रभु प्रेम के जादू रूपी ठग द्वारा ठग लिया गया हूँ और मेरी त्रिकुटी शून्य में लग गई है, अर्थात् मेरी समस्त चित्तवृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो गई हैं।

अलंकार—(1) सभग पद यमक—देह वदेह।

(II) विरोधाभास—चलत अचल भई।

(III) पदमैत्री इत उत जित कित।

(IV) रूपक—ठग।

विशेष—(1) बारह अंग पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन एव बुद्धि।

(II) तीन गुण—सत्त्व गुण, रजोगुण तथा तमोगुण।

(III) त्रिकुटी—देखें टिप्पणी पद स० ३, ४, ७।

(IV) शून्य—देखें टिप्पणी पद स० १६४।

(V) सोई वै—व्योरी “जागे लगे सोई जाने विथा” अथवा दरद न जानै जाके फटी विवाई ना।

(VI) सोई व्योरी ईश्वर प्रेम एव ज्ञान की दशा में अवधूत व्यक्ति की सासारिक विषयों के प्रति आसक्ति नहीं रह जाती है। इससे वह ससार के व्यवहार में पटु न रहकर पागल एव मूर्ख प्रतीत होते हैं।

(३०४)

मेरी अंखियाँ जान सुजान भई।

देवर भरम सुसर संग तजि करि हरि पीव तहां गई ॥ टेक ॥

वात्.पने के करम हमारे, काटे जानि दई।

वांह पकरि करि कृपा कीन्ही, आप समीप लई ॥

पानों की बूंद थें जिनि प्यड साज्या, ता सगि अधिक करई।

दास कबीर पल प्रेम न घटई, दिन दिन प्रीति नई ॥

शब्दार्थ—जानि=जानबूझ कर। दई=भगवान। प्यड=शरीर।

नाजा=वनाया।

सन्दर्भ—कबीर ज्ञान दशा का वर्णन करते हैं।

भावार्थ—भगवान के प्रेम में अनुरक्त जीवात्मा कहती है कि प्रभु-दर्शन

के प्रभाव से मेरी दृष्टि अब विवेक पूर्ण एवं सुविज्ञ हो गई है । अर्थात् अब मैं अपने-पराए को पहिचानने लगी हूँ । मैं भ्रम रूपी देवर और अज्ञान रूपी श्वसुर का साथ छोड़कर अपने पति भगवान के पास पहुँच गई हूँ । बाल्यावस्था में अथवा अज्ञानावस्था में किए हुए मेरे कर्मों के दोषों को भगवान ने जानबूझ कर समाप्त कर दिया है । उन्होंने मेरे ऊपर कृपा की और मेरी बाँह पकड़ कर अपने पास स्थान दे दिया है । जिस भगवान ने पानी की एक बूँद (वीर्य) द्वारा मेरे इस शरीर का निर्माण किया, उन्हीं भगवान के साथ मैं अब रमण करने लगी हूँ । दास कबीर कहते हैं कि भगवान के प्रति मेरा प्रेम एक क्षण के लिए भी कम नहीं होता है । उसके प्रति मेरी प्रीति दिन प्रतिदिन नवीन ही बनी हुई है । अर्थात् उसमें मुझको नित्य नए आनन्द की प्राप्ति होती है ।

अलंकार— (1) रूपक—देवर भ्रम ।

(II) पुनरुक्ति प्रकाश—दिन दिन ।

विशेष (1) रहस्यवादी शैली पर दाम्पत्य प्रेम का सुन्दर चित्रण है ।

(II) प्रेम भक्ति एवं ज्ञान दशा का मार्मिक वर्णन है ।

(III) नाथ सम्प्रदाय के प्रतीको का प्रयोग है ।

(IV) भगवान की कृपा का उल्लेख 'पुष्टि भक्ति' के प्रभाव का व्यञ्जक है ।

(३०५)

हो बलिया कब देखोंगी तोहि ।

अह निस आतुर दरसन कारनि, ऐसी व्यापै मोहि ॥ टेक ॥

नैन हमारे तुम्ह कू चाहैं, रती न मानै हारि ।

बिरह अगिन तन अधिक जरावै ऐसी लेहु बिचारि ॥

सुनहुं हमारी दादि गुसाई,, अब जिन करहु बधीर ।

तुम्ह धीरज मै आतुर स्वामीं काचै भांडं नीर ॥

बहुत दिनन कै बिछुरे माधौ, मन नहीं बांधै धीर ।

देह छतां तुम्ह मिलहु कृपा करि आरतिवत कबीर ॥

शब्दार्थ—दादि=दाद, विनती । बधीर=बधिरता, अनसुनी । भांडं=

वर्तन । छता=अछत, रहते हुए । आरतिवत=दुखी ।

सन्दर्भ—कबीर की जीवात्मा प्रभु-दर्शन के लिए अपनी आतुरता व्यक्त करती है ।

भावार्थ—हे भगवान ! मैं आपकी बलिहारी जाती हूँ । मैं आपके दर्शन कब कर सकूंगी ? आपकी विरह में वियोग व्यथा मुझे इतना सता रही है कि तुम्हारे दर्शनों के लिए मैं दिन-रात व्याकुल रहती हूँ । मेरे नेत्र केवल तुम्हें ही देखना चाहते हैं और इसमें वे रत्ती भर भी पीछे हटने को तैयार नहीं हैं । विरहाग्नि मेरे शरीर को बहुत जलाती है । इस बात पर आप विचार कर लें (कही ऐसा न हो कि मैं इसके कारण जल कर मर जाऊँ और आपको दर्शन न देने का पछतावा

हो) । हे स्वामी, हमारी विनती सुन लीजिए तथा अब अधिक अनसुनी मत कीजिए । हे भगवान ! आप तो धैर्य-स्वरूप हैं परन्तु मैं आतुर हूँ — दर्शन करने के लिए उतावली हो रही हूँ । मेरे प्राण इस शरीर के बाहर चाहे जब निकल सकते हैं जिस प्रकार कच्चा घड़ा चाहे जब फूट सकता है और उसमें भरा हुआ पानी बाहर निकल सकता है । हे माधव, तुम मुझसे बहुत दिनों के बिछुड़े हुए हो, अर्थात् मे तुमसे अनेक जन्मों पूर्व बिछुड़ी थी । अब मेरा मन अधिक धैर्य धारण नहीं कर सकता है । कबीरदास की जीवात्मा कहती है कि मैं बहुत ही दुःखी हूँ । आप शरीर में प्राण रहते हुए मुझसे मिलने की कृपा करें— अर्थात् इस जीवन में ही मेरा उद्धार करने की कृपा करें ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति हो तोहि ।

(II) रूपक—विरह अग्नि ।

(III) उपमा काचै भाडै नीर ।

विशेष—(1) भगवत्प्रेम का बिम्ब-विधायक एवं मर्म स्पर्शी वर्णन है ।

(II) इसमें सूफी शैली की दाम्पत्य प्रेम परक विरह-व्यथा की तीव्रता की सफल अभिव्यक्ति हुई है ।

(III) मिलन की आतुरता कबीर ने कई स्थानों पर व्यजित की है । 'कबीर' शरीर रहते ही भगवान के दर्शन की इच्छा करते हैं । इसका अर्थ है कि वह मोक्ष की इच्छा न करके जीवन मुक्त होना चाहते हैं । यह आकाक्षा सगुण भक्तों जैसी है ।

(३०६)

वै दिन कब आवैगे माइ ।

जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबो अंगि लगाइ ॥ टेक ॥

हौं जानूँ जे हिल मिलि खेलूँ, तन मन प्रांत समाइ ।

या कामनां करौ परपूरन, समर्थ हौ राम राइ ॥

मांहि उदासी साधौ चाहे, चिपबत रंनि बिहाइ ।

सेज हमारी स्यघ भई है, जब सोऊ तब खाइ ॥

यहु अरदास दास की सुंनिये, तन की तपनि बुझाइ ।

कहै कबीर मिलै जे सांई मिलि करि मगल गाइ ॥

शब्दार्थ—स्यघ = सिंह, वाघ । अरदासि = अर्जा, प्रार्थना ।

सन्दर्भ—कबीर की प्रभु-मिलन की आतुरता का वर्णन करते हैं ।

भावायं — रो सखि ! वह दिन कब आएगा जब मैं इस शरीर धारण करने के उद्देश्य को पूरा कर सकूँगी ? जिस भगवान की प्राप्ति के लिए यह मानव शरीर मिला है, उससे अग से अग मिलाकर कब मिलना हो सकेगा ? मेरे मन की यह तीव्र आकाक्षा है कि मैं अपने पति भगवान के साथ हिल-मिल कर खेलूँ और अपने तन, मन प्राण को पति रूप परमेश्वर में समाहित कर दूँ । हे स्वामी राम ! आप सब तरह समर्थ हो । मेरी मनोकामना को पूर्ण कर दो । मैं इतने दिनों तक

आपसे न मिल सकने के कारण मेरा मन एक दम गिर गया है । इस उदासी को दूर करने के लिए मैं अपने पति माधव का सान्निध्य चाहती हूँ । उनकी बाट देखते हुए मैं सारी रात व्यतीत हो जाती है । मेरी शय्या तो बाघ की तरह प्रतीत होती है । जब भी उस पर लेटना चाहती हूँ, तब ही वह मुझको काट लेने को दौडती है । हे भगवान, इस दासी की प्रार्थना सुन लीजिए और विरहाग्नि में उत्पन्न इस शरीर की जलन को शांत कर दीजिए । कबीर कहते हैं कि अगर मुझे स्वामी राम मिल जाएँ, तो मैं उनके साथ मिनकर मंगल के गीत गाऊँ ।

अलंकार—(1) पदमैत्री—हिल मिल । तन मन प्रान ।

(11) रूपक—स्यघ भई है ।

विशेष—(1) प्रभु के प्रति दाम्पत्य प्रेम परक विरह-व्यथा का मार्मिक वर्णन है ।

(11) सूफियो की शैली पर जीवात्मा के विरह की व्यजना है ।

(111) इस पद में भक्त कवियों की पद्धति पर 'मनोराज्य' की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है । यथा--

मैं हरि बिन क्यों जिऊँ रो माइ ।

× × ×

पिय हूँ बन बन गयी, कहूँ मुरली धुनि आइ ।

मीराँ के प्रभु लाल गिरधर ! मिलि गये सुखदाइ ।

तथा— नन्हों नन्हों बूँदन मेहा बरसै, शीतल पवन सुहावन की ।

मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, आनन्द-मंगल गावन की । (मीराबाई)

(1V) जीवात्मा का ब्रह्म से तदाकार हो जाना ज्ञानमार्गियों के निकट परम पुरुषार्थ है । परन्तु भक्त और रहस्यवादी का दृष्टिकोण थोड़ा सा भिन्नता के लिए रहता है । वह ब्रह्म के साक्षात्कार से उत्पन्न रागात्मक अनुभूति में तन्मय होना चाहता है । कबीर के इस पद में ज्ञान, भक्ति और रहस्य भावना तीनों का समन्वय दिखाई देता है । इस त्रिवेणी का सस्पर्श ही ज्ञानी भक्त कबीर का सर्वस्व है । दाम्पत्य भाव का रूपक इस अनुभूति को व्यक्त करने का सबसे अधिक सफल एवं सशक्त माध्यम है । कबीर ने इसी पद्धति का अवलम्बन किया है ।

(V) प्राण समाई—पति परमेश्वर के विभिन्न गुणों में तन्मय होकर रसा-स्वादन करने की व्यजना है ।

(VI) रैन बिहाई—'रैन' का अर्थ यदि मोह-निद्रा हो, तो इसके द्वारा अज्ञान मय जीवन की सुन्दर व्यजना हुई है । कही अज्ञान निद्रा फिर से सताने लगे—इसी कारण कबीर ने 'चितवत् रैन बिहाइ'— वाली बात कही है । यथा—

मैं बिरहिणी बैठी जागूँ जागत सब सोवै रो आली ।

× × × ×

तारा गिण-गिण रैन बिहागी सुख की घड़ी कब आवै ।

मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, मिलि कै विछुणि न जावै ।

(मीराबाई)

(VII) सेज तब खाई—यह लौकिक विम्ब-विधान दृष्टव्य है । शय्या माया रूप है ।

(VIII) या " राम राई—लौकिक प्रेम के प्रतीको के माध्यम से आध्यात्मिक विप्रलम्भ का वर्णन है ।

(३०७)

बालम आव हमारे गेह रे,

तुम्ह बिन दुखिया देह रे ॥ टेक ॥

सब को कह तुम्हारी नारी, मोकों इहै अदेह रे ।

एकमेक त्व सेज न सोवै तब लग कैसा नेह रे ॥

आन न भावै नीद न आवै, ग्रिह बन धरै न धीर रे ।

ज्यूं कांसीं कौं काम पियारा, ज्यूं प्यासे कूं नीर रे ॥

है कोई ऐसा परउपगारी, हरि सूं कहै सुनाइ रे ।

ऐसे हाल कबीर भये हैं, बिन देखे जीव जाइ रे ॥

शब्दार्थ—अदेह=अदेशा, दुख, अथवा संदेह । आन=अन्न ।

सदर्भ—कबीरदास प्रेमी भक्त की विरह व्यथा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—जीवात्मा वियोगिनी पत्नी के रूप में अपने पति भगवान को बुलाती हुई कहती है कि, हे प्राण बल्लभ, तुम हमारे घर आओ । तुम्हारे वियोग में यह शरीर अत्यन्त दुखी है । सब लोग मुझे तुम्हारी पत्नी कहते हैं और आप मुझे दर्शन तक नहीं देते हैं । मुझे इसी बात का बहुत दुख है । अथवा मुझको इनके इस कथन पर विश्वास नहीं होता है, क्योंकि जब तक मैं तुम्हारे साथ आलिंगन में आवद्ध होकर एक ही चारपाई पर न सोऊँ, तब तक कैसे विश्वास किया जाए कि हमारे बीच में दाम्पत्य-सम्बन्ध है अथवा आप मुझको पत्नी के रूप में प्रेम करते हैं ? न तो मुझे भोजन अच्छा लगता है और न मुझको नीद ही आती है । घर में अथवा वन में कहीं भी मेरे मन को धैर्य (चैन) धारण करते नहीं बनता है । जैसे कामी पुरुष को अपनी वासना की तृप्ति का माध्यम प्रिय होता है तथा जल के प्रति प्यासे व्यक्ति की आसक्ति होती है, उसी प्रकार मुझे अपने प्रियतम के प्रति अदम्य आसक्ति सताती है । क्या कोई ऐसा उपकारी है जो मेरी यह विरह-व्यथा भगवान को सुना दे । कबीर कहते हैं कि भगवान को साक्षात्कार के बिना मेरी दशा बहुत ही दयनीय हो गई है । पति-परमेश्वर के दर्शन के बिना मैं मरणासन्न हो रहा हूँ—मेरे प्राण चाहे जब निकल सकते हैं ।

अलंकार—उदाहरण—ज्यूं नीर रे ।

विशेष—(1) प्रतीक विधान द्वारा आत्मा-परमात्मा के दाम्पत्य प्रेम की सुन्दर अभिव्यक्ति है । बालम, गेह, नारी, सेज इत्यादि प्रतीक हैं ।

(ii) आन न भावै—कुछ आलोचकों ने 'आन' का अर्थ 'अन्य' करके इस वाक्यांश का अर्थ इस प्रकार किया है—मुझे अन्य किसी की उपासना अभीष्ट नहीं है। हमारे विचार से "नीद न आवै" के साथ "आन न भावै" का अर्थ 'अन्य अच्छा नहीं लगता है,' ही अर्थ उपयुक्त होना चाहिए। समभाव की अभिव्यक्ति अन्यत्र देखिए—

धान न भावै नीद न आवै, विरह सतावै सोइ ।

खायल-सी घूमत फिरूँ दरद न जाणे कोइ । (मीराबाई)

(iii) ज्यू कामी कौं काम पियारा—तुलनात्मक दृष्टि से देखिए—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।

तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(iv) है कोउ..... सुनाइ रे—तुलना करें—

प्रीतम कूँ पतियाँ लिखूँ रे कउवा ! तू ले जाइ ।

जाइ प्रीतम सूँ येँ कहूँ रे, विरहणि धान न खाइ ।

×

×

×

वेनि मिलौ प्रभु अतर जामी, तुम बिन रह्यौ न जाइ । (मीराबाई)

(३०८)

माधौ कब करिहौ दया ।

काम क्रोध अहंकार व्यापै, नां छूटे माया ॥ टेक ॥

उत्पति ब्यंद भयौ जा दिन थै, कबहु सच नहीं पायौ ।

पच चोर सगि लाइ दिए हैं, इन सगि जनम गंवायौ ॥

तन मन डस्यौ भुजग भामिनी, लहरी वार न पायौ ।

सो गारडू मिल्यौ नहो कबहु, पसर्यौ विष विकराला ॥

कहै कबीर यहु कासूँ कहिये, यह दुख कोइ न जानै ।

देहु दीदार बिकार दूरि करि तब मेरा मन मानै ॥

शब्दार्थ—साँच=सुख । भुजग=सर्प । भामिनी=सुन्दरी । गारडू=सर्प

का जहर उतारने वाला । विकराला=विकराल, भयकर । दीदार=साक्षात्कार-दर्शन ।

सन्दर्भ—कबीर एक भक्त की तरह भगवान की तरह से दर्शन देने की प्रार्थना करते हैं ।

भावार्थ—हे भगवान ! आप मेरे ऊपर दया करके मुझको कब दर्शन देंगे ? काम क्रोध और अहंकार ने मुझको घेर रखा है और माया मुझसे छोटते नहीं बनती है । जिस दिन से बिन्दु (पिता के वीर्य) से मेरा जन्म हुआ है, उस दिन से मुझे कभी भी सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं हुई है । पाँच चोर (काम, क्रोध, लोभ, मोह एव मत्सर) जन्म से मेरे साथ लगे हुए हैं । इनके साथ मैंने अपना सम्पूर्ण

जीवन व्यर्थ ही व्यतीत कर दिया है। सुन्दरी नारी रूपी साँप ने मेरे शरीर और मन को डस लिया है और काम रूपी विष की लहर ऐसी फैल रही है कि उसका कोई आदि अन्त (ओर छोर) नहीं है। उप विष को दूर करने वाला कोई भी गुरु रूप गारूडी अब तक नहीं मिल सका है। यह भयानक विष मेरे शरीर में फैल गया है। कवीर कहते हैं कि मैं दुख का वर्णन किससे करूँ। मेरे इस दुख को कोई नहीं जानता है। हे भगवान् ! मेरे नमस्त अवगुणों को दूर करके मुझे आने दर्शन दीजिए। तभी मेरा मन सुख-शांति का अनुभव कर सकेगा।

अलंकार—(1) रूपक - भुजग भामिनी, गुर गारूड ।

(II) छेकानुप्रास—काम क्रोध ।

(III) रूपकातिशयोक्ति—चोर, लहरी, विष ।

विशेष—(i) इसे हम विनय का पद कह सकते हैं ।

तुलना करे —

नाचत ही निस दिवस मरयो ।

तब ही तें न भयो हरि । थिर जब तें जिव नाम धर्यो ।

× × ×

जेहि गुन तें बस होहु रीझि कोई, सो मोहि सब विसरयो ।

तुलसिदास निज भवन-द्वार प्रभु, दीजै रहन पर्यो ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(३०६)

मैं जनभूला तूँ समझाइ

चित्त चंचल रहै न अटक्यौ, विषै बन कू जाइ ॥ टेक ॥

ससार सागर सांही भूल्यौ, थक्यौ करत उपाइ ।

मोहनी माया बाधनी थै, राखि लं राम राइ ॥

गोपाल सुनि एक बीनती, सुमति तन ठहराइ ,

कहै कवीर सुनि यहु कांम रिप है, मारै सबकूँ ढाइ ॥

शब्दार्थ—बाधनी=शेरनी । राखि लं=रक्षा करो ।

सदर्भ—कवीर भगवान् से रक्षा की प्रार्थना करते हैं ।

भावार्थ—हे भगवान् ! मैं तेरा यह सेवक माया-मोह में पडकर अपने स्वरूप को भूल गया हूँ। तुम मुझे विवेक-बुद्धि दो। यह मेरा चंचल चित्त तुझसे अटकता नहीं है अर्थात् तेरे प्रति अनुरक्त नहीं होता है और वह बार-बार विषय-रूपी वन की ओर भाग कर जाता है। मैं इस ससार रूपी सागर में भटक गया हूँ। उद्धार की चेष्टा करते करते थक गया हूँ। हे राजा राम ! मोहिनी माया रूपी बाधिन से मेरी रक्षा कीजिए। हे गोपाल, मेरी एक बिनती सुन लीजिए। मेरे मन में बुद्धि को स्थिर कर दो अथवा मुझको स्थिर बुद्धि प्रदान कर दो। कवीर कहते हैं

कि यह काम रूपी शत्रु हम सबको पछाड कर नष्ट कर रहा है । (इसी से बचाने की आवश्यकता है ।)

अलंकार—(1) रूपक—विषै वन, ससार सागर, माया वाघिनी । काम रिपु ।

(II) परिकराकुर—गोपाल ।

(II) छेकानुप्रास—चित्त चचल, ससार सागर, मोहिनी माया, राम राइ ।

विशेष—यह विनय भक्ति का पद है ।

(३१०)

भगति बिन भौजलि डूबत है रे ।

बोहिथ छःड़ि बैसि करि डूँडै, बहुतक दुख सहै रे ॥ टेक ॥

बार बार जम पे ढहकावै, हरि को ह्वैन रहै रे ।

चोरी के बालक की नाई, कासू बात कहै रे ॥

नलिनी के सुवटा की नाई, जग सूं राचि रहै रे ।

बंसा अगनि बंस कुल निकसै, आपहि आप दहै रे ॥

खेवट बिनां कवन भौ तारे, कैसे पार गहै रे ।

दास कवीर कहै समझावै, हरि की कथा जीवै रे ॥

राम की नांव अधिक रस मीठौ, बारबार पीवै रे ॥

शब्दार्थ— भौजलि भवजल, -ससार सागर । बोहिथ=बोहित, जहाज । डूँडै=डूँड पर, ठूँठ पर, लकड़ी के लठ्ठे पर । ढहकावै=धोखा खाता है, ठगा जाता है । राचि=आसक्त । वसा अगनि=वासो की रगड़ उत्पन्न होकर वन में लगने वाली अग्नि ।

संदर्भ—कवीरदास राम की भक्ति का पतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—रे जीव ! तू भगवान की भक्ति के बिना इस ससार सागर में डूब रहा है । तूने भक्ति रूपी जहाज को छोड़कर अन्य साधन रूपी काठ के लठ्ठों पर बैठकर इस भवसागर को पार करने का विफल प्रयत्न किया । इसी कारण तुझको अनेक दुख सहने पड़े हैं । तू बार-बार यमराज के द्वारा ठगा जाता है अर्थात् बार बार जन्म-मरण के चक्कर में पड़ता है, परन्तु भगवान का भक्त होकर नहीं रहता है । दासी पुत्र की भाँति तू किसी को भी अपना पिता नहीं कह सकता है अर्थात् विभिन्न साधनाओं में भटकने वाला व्यक्ति किसी एक साधन के प्रति निष्ठावान नहीं रह पाता है । यदि 'वाप' के स्थान पर बात पाठ हो, तो इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार होगा । तूने भगवान की भक्ति से जी चुराया है । तेरी हालत उस बालक की भाँति है जो चोरी करता है और लज्जा के कारण किमी के सामने मुँह नहीं खोल पाता है । हे जीव ! काठ की नली पर क्रीडा करने वाले तोते की भाँति तू इस माया मय जगत के प्रति आसक्त बना हुआ है । जैसे बड़वाग्नि वासो की ही रगड़ से प्रकट

होती है और उन्हीं को भस्म कर देती है, उसी प्रकार कामग्नि प्राणी में ही उत्पन्न होती है और उसी को नष्ट कर देती है। भगवान् रूपी केवट के बिना इस संसार रूपी सागर से कोई पार नहीं कर सकता है। बिना भगवान् के तू किस प्रकार पार जा सकेगा ? कबीरदास समझाकर कहते हैं कि भगवान् के गुण-गान के सहारे ही सुख-पूर्वक जं वन व्यतीत किया जा सकता है। राम के नाम-स्मरण द्वारा प्राप्त होने वाला रस बड़ा ही मीठा होता है, उसको बारम्बार पीना चाहिए अर्थात् भगवान् का नाम-स्मरण निरन्तर करते रहना चाहिए।

- अलंकार - (1) रूपक—भोजलि, भो ।
 (II) रूपकातिशयोक्ति—वोहिथ, डू डै, खेवट ।
 (III) पुनरुक्ति प्रकाश—बार-बार ।
 (IV) उपमा—बालक की नाई, सुवटा की नाई ।
 (V) दृष्टान्त—दंसा' . दहै रे ।
 (VI) वक्रोक्ति—कवन गहै रे ।

विशेष—(1) इस पद में कबीर की भक्ति-भावना व्यक्त है।

(II) नलिनी को सुवटा—तोतो को पकडने के लिए शिकारी बाँस की पोनिया लटका देते हैं। जैसे ही तोता पानी पर बैठता है, वैसे ही पानी घूम जाती है और तोते का सिर नीचे और पाँव ऊपर हो जाते हैं। इस पानी को ही नलिनी कहते हैं। तोता पानी को छोड़ता नहीं है और डर के मारे वही लटकता रहता है। इसी प्रकार जीव भी उद्धार की सामर्थ्य होते हुए भी संसार के प्रति आसक्त बना रहता है। अज्ञान वश संसार में आवद्ध जीव को 'नलिनी का सुवटा' कहना कवि-परम्परा है। यथा—

अपनपी आपुन ही बिसर्यो ।

×

×

×

मरकट मूँठि छाँड़ि नहिं दीनी, घर-घर द्वार फिर्यो ।

सूरदास, नलिनी को सुवटा, कहि, कौने पकर्यो । (सूरदास)

(III) कबीर ने अनन्य भक्ति पर जोर दिया है।

(३११)

चलत कत टेढौ टेढौ रे ।

नऊं दुवार नरक घरि मूँदे, तू दुरगंधि को बँढौ रे ॥टेक॥

जे जारें तौ होइ भसम तन, रहित किरम जल खाई ।

सूकर स्वॉन काग कौ भखिन, तामें कहा भलाई ॥

फूटे नैन हिरदे नाही सूभै, मति एकै नही जानी ।

मया मोह ममिता सूँ बाँध्यौ, बूडि मूत्री विन पांनी ॥

बारू के घरवा में बैठी, चेतत नहीं अयांनां ।

कहै कबीर एक राम भगती विन, बूडे बहुत सयांनां ॥

शब्दार्थ—नरक=मल, मला । मूँदे=आपूरित । बैठो=ढेर, थाला ।
किरम=कृमि, कीड़े । भिखन = भोजन । मुवो=मर । ये ।

सदर्भ—कबीर शरीर की असारता बताकर राम भक्ति का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—रे मानव, तुम क्यों इतरा रहे हो ? तुम्हारे शरीर की इन्द्रियो रूपी नौ द्वार (दो आँख, दो कान, दो नासा-द्वार, मुख तथा मल मूत्र के द्वार) मैले से भरे हुए हैं और इस प्रकार तू गन्दगी का ढेर अथवा पाला है । मरने पर यदि इस शरीर को जलाया जाएगा, तो यह भस्म का ढेर हो जाएगा और जो शेष बचेगा, उसको जल के कीड़े-मकोड़े खाएँगे । यह शरीर, सुअरो, कुत्तो तथा कौओ का भोजन है । इस पर गर्व करने से क्या लाभ है ? ससार की यह निस्सारता देखने के लिए तुम्हारी आँखे फूट गई हैं, हृदय में तुम्हें इसकी अनुभूति नहीं होती है तथा ज्ञान की बातों से तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है । तू माया मोह और ममता के वशीभूत बना हुआ है और इस प्रकार तुम इस ससार सागर में बिना पानी के ही (अकारण ही) डूब गये हो । रे प्राणी, यह शरीर रेत का महल है । तुम इसमें बैठे हुए अपने आपको सुरक्षित समझते हो । रे मूख, तुम होश में आकर समझते ही नहीं हो कि यह शरीर क्षण-भंगुर है । कबीरदास कहते हैं कि राम भक्ति का अवलम्बन ग्रहण न करने के कारण बहुत से तथा कथित चतुर (पुनियादार) लोग इस भवसागर में डूब गये ।

- अलंकार—(1) गूढोक्ति—चलत . रे ।
(II) रूपकातिशयोक्ति —नव द्वारा बारू के घरवा ।
(III) छेकानुप्रास—दुवार, दुरगधि ।
(IV) वक्रोक्ति—तामैं भलाई ।
(V) विभावना—बूडि पानी ।
(VI) विरोधाभास—बूडे सयाना ।

विशेष—(1) बूड़े बिन पानी—वस्तुतः यह ससार अमत् है । इसमें विषय जल भी परमार्थतः है नहीं । जीव मिथ्या विषयो में ही डूबा रहता है । यही बिना जल के भव-सागर में डूबना है ।

(II) बारू के घरवा में बैठो—समभाव देखें—

मोम को मन्दिर माखन को मुनि बैठो हुतासन आसन दीन्हे । (देव)

(३१२)

अरे परदेसी पीव पिछाँनि ।

कहा भयो तोकों समझि न परई, लागी कैंसी बाँनि ॥टेक॥

भोमि बिडाणी मैं कहा रातौ, कहा कियो कहि मोहि ।

लाहै कारनि मूल गमावै, समझावत हूँ तोहि ॥

निस दिन तोहि बयूँ नीद परत है, चितवत नांही ताहि ।
जम से बेरी सिर परि ठाढे, पर हथि कहाँ बिकाइ ॥
भूठे परपंच मै कहा लागौ, ऊठे नांहीं चालि ।
कहै कबीर कछू बिलम न कीजै, कौने देखी काल्हि ॥

शब्दार्थ—वानि = आदत । भोमि = भूमि । बिडाणो = विरानी, पराई ।
रातो = अनुरक्त । लाहै = लाभ । काल्हि = कल का दिन ।

सन्दर्भ—कबीर जीवन और जगत की क्षण भंगुरता के प्रति जीव को सावधान करते हैं ।

भावार्थ—रे परदेशी जीवात्मा, तू अपने प्रियतम को पहचान । तुम्हें क्या हो गया है । तुम्हें अक्ल (विवेक बुद्धि) क्यों नहीं आती है । सासारिक विषयो में लिप्त रहने की तेरी यह क्या आदत पड गई है । तू पराई भूमि में क्यों अनुरक्त हो गये हो । मुझे बताओ तो सही कि इस प्रकार आसक्त होकर तुमको क्या लाभ हुआ है । सासारिक विषयो के सुख रूपी लाभ के लोभ में तुमने अपने मूलधन रूपी सहज शुद्ध बुद्ध स्वरूप को भी नष्ट कर दिया है । यह बात मैं तुमको समझाकर कहता हूँ । तुम्हें रात दिन नीद क्यों आती है अर्थात् तुम सदैव अज्ञान के वशीभूत हुए परम तत्त्व को क्यों भूले रहते हो ? तुम उस परम तत्त्व को जानने का प्रयत्न क्यों नहीं करते हो ? तेरे सिर पर यमराज सहस्र प्रबल शत्रु खडा हुआ है और तू अपने वास्तविक स्वरूप को भूल कर माया के हाथों क्यों बिक गया है । हे जीव ! तुम ससार के इस भूठे प्रपंच में क्यों फँसे हुए हो ? संसार से विमुख होकर भगवान की भक्ति करने के लिए क्यों नहीं चल पडते हो ? कबीर कहते हैं कि ईश्वर भक्ति में देर मत करो । इस कार्य को अभी और यही करो । कल किसने देखा है अर्थात् कल का क्या भरोसा है ?

अलंकार—गूढोक्ति—सम्पूर्ण पद ।

विशेष—(i) प्रतीको का प्रयोग है—परदेशी, पीव, भोमि बिडाणी, भूल ।

(ii) ससार की क्षण भंगुरता का प्रतिपादन है ।

(iii) शात रस की व्यंजना है ।

(iv) परदेशी—मूल स्थान ब्रह्म से विच्छुड कर जगत में आने वाली जीवात्मा परदेशी है ।

(v) पराई—जीवात्मा का निवास स्थान तो ब्रह्म है । संसार तो माया का निवासस्थल है । इसी कारण वह जीवात्मा के लिए पराई भूमि है ।

(vi) कहा कियो कहि मोहि—इस कथन में जीवात्मा की भारी भूल अभिव्यंजित है ।

(vii) जम से बैरी—समभाव देखें—

जम करि गृह नरहरि पर्यौ, महि घरि हरि चित लाउ ।

विषय वृषा अजहँ तज्यौ नरहरि के गुन गाउ । (विहारी)

(viii) ऊठै नाही चालि—अन्तर्मुखी होने की ओर सचेत है । यथा—

हौं अपनायो तब जानिहौ जब मन फिरि परिहै ।

तथा—सन्मुख होहि जीव मोहि जब ही । जन्म कोटि अध नासहि तब ही ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(i) कौने देखी काल्हि । इस भाव को व्यक्त करने वाले अनेक कथन लोक में प्रचलित है । यथा—

(क) जिसके बीच में रात । उसकी क्या बात ?

(ख) सामान सौ बरस का, पल की खबर नहीं ।

(ग) करना है सो आज कर, आज करे सो अब ।

पल में प्रलय होयगी, बहुर करेगा कब ?

(कबीर)

(३१३)

भयौ रे मन पाहुँनडौ दिन चारि ।

आजिक काल्हिक माँहि चलैगो, ले किन हाथ सँवारि ॥टेक॥

सौंज पराई जिनि अपणावैं, ऐसी सुणि किन लेह ।

यहु ससार इसौ रे प्राणी, जैसी धूवरि मेह ॥

तन धन जोबन अँजुरी कौ पानी, जात न लागे बार ।

संबल के फूलन परि फूल्यौ, गरब्यो कहा गबार ॥

खोटी खाट खरा न लीया, कछू न जानीं साटि ।

कहै कबीर कछू वनिजन की गौ, आयौ थौ इहि हाटि ॥

शब्दार्थ—पाहुँनडौ = पाहुना, मेहमान । सौन = सम्पत्ति । धूवरि = घुआं ।

खाट = सग्रह किया । साटि = विनिमय । वनिज = व्यापार । हाटि = बाजार ।

सन्दर्भ - कबीरदास जीवन की निस्सारता का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—रे जीव, तुम इस ससार में चार दिन के मेहमान हो । आत-कल में ही तुमको इस ससार से चला जाना है । फिर तुम अपने हाथों को बुरे कामों से क्यों नहीं हटा लेते हो ? तुम पराई वस्तुओं के प्रति आसक्त होने की चेष्टा मत करो (यह ससार तुम्हारा घर नहीं है । और तब इसकी वस्तुएँ तुम्हारी क्यों कर हो सकती हैं ?) । तू मेरी इस सनाह को क्यों नहीं सुनता है ? रे प्राणी यह ससार तो घुँए के समूह द्वारा निर्मित बाल के समान है, जो न जल देता है, न शीतलता । वह तो केवल धोखा ही है । शरीर, सम्पत्ति और धौवन अजलि में भरे हुए जल के समान है, जो धीरे-धीरे रिसकर स्वयमेव शीघ्र ही समाप्त हो जाता है । इस ससार का वैभव सैमर के फूल की तरह है जिसका वाह्य तो बहुत आकर्षक है, परन्तु जिसमें सारतत्त्व बिल्कुल नहीं है । इस मिथ्या एवं सारहीन सासारिक वैभव के ऊपर हे अज्ञानी ! तू क्यों गर्व करता है ? तूने विषय वासना रूपी खोटी वस्तुओं का तो सग्रह किया और ज्ञान-मुक्ति रूपी, खरी वस्तुओं को ग्रहण नहीं किया । तुम्हें जीवन में विनिमय करना नहीं आया अर्थात् तुम्हें यह ज्ञान नहीं हुआ

कि क्या खरीदना चाहिए और क्या नहीं खरीदना चाहिए । कबीरदास कहते हैं कि तुम इस ससार रूपी बाजार में आकर तुमने लाभ का कुछ भी व्यापार नहीं किया अर्थात् तुम शुभ कर्मों को अर्जन बिल्कुल नहीं कर सकते ।

- अलंकार—(1) गूढोक्ति—ले . . सवारि ।
 (II) उपमा—जैसी धूँवरि मेह, अजुरी की पानी ।
 (III) रूपकातिशयोक्ति—सेँवर के फूलन ।
 (IV) अनुप्रास—खोटी खाटँ खरा
 (V) रूपक—हाटि ।

विशेष—(1) प्रतीको का प्रयोग है—खोटी, खरा, बनिज ।

- (II) संसार की असारता का वर्णन है ।
 (III) विषय—लिप्त जीव की भर्त्सना की गई है ।
 (IV) धूँवरि मेह । समभाव की अभिव्यक्ति देखे—

जग नभ-बाटिका रही है फलि फूलि रे ।

धुवाँ कैसे धौरहर देखि तू न भूलि रे ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(V) सेँवर के फूलन । समभाव के लिए देखें—

सेमर सुअना सेइया मुइ ढँढी की आस ।

ढँढी फूट चटाक दै सुअना चला निरास ।

(कबीर)

(३१४)

मन रे राम नामहि जानि ।

थरहरी थूनी परयो मदर सूतौ खूटी तानि ॥टेक॥

सैन तेरी कोई न समझै, जीभ पकरी आनि ।

पाँच गज दोवटी माँगी, चूँन लीयौ सांनि ॥

बसदर पाषर हाँडी, चलयौ लादि पलांनि ।

भाई बध बोलाई बहु रे, काज कीनों आंनि ॥

कहै कबीर या मै भूठ नाहीं, छाडि जिय की बांनि ।

राम नाम निसंक भजि रे, न करि कुल की कांनि ॥

शब्दार्थ—थरहरी = हिलती हुई । थूनी = खम्भा । सूतौ = सोता है । खूटी तानि = वेफिक्री के साथ । सैन = इशारा । बसदर = अग्नि । पलांनि = पलायन ।

सन्दर्भ—कबीर ससार की निस्सारता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—रे मन, तू राम-नाम से अपना नाता जोड़ । इस शरीर रूपी मन्दिर का प्राण-रूपी आधार स्तम्भ हिलने लगा है । यह शरीर रूपी मन्दिर गिरने ही वाला है और तू निश्चिन्त होकर सो रहे हो अर्थात् तुम्हें मृत का ध्यान ही नहीं है । अन्त समय का घर्षण करते हुए कबीर कहते हैं कि तेरी जीभ को यमदूती ने आकर पकड़ लिया है अर्थात् तेरा बोल बन्द हो गया है तू अपना मन्तव्य प्रकट करने

के लिए शोर करता है, परन्तु उन इशारों को कोई नहीं समझता है। तुम्हारी शव-यात्रा की तैयारी हो रही है। पाँच गज कफन मगाया जा चुका है। पिण्ड-दान के लिए आटा मान लिया गया है। खानी हाँडी में अग्नि रख ली गई है और लोग तुम्हको लाद कर शमशान की ओर चल दिए हैं। बहुत से भाई-बन्धुओं को बुलाकर तेरी अन्त्येष्टि क्रिया सम्बन्धी समस्त कार्य सम्पन्न कर दिए हैं। कबीरदास कहते हैं कि मेरे इस कथन में कुछ भी झूठ नहीं है। तू विषय-वासना में लिप्त बने रहने की अपनी आदत को छोड़ दे। और निश्चिन्त होकर भगवान राम का भजन कर। कुल की मिथ्या-मान-मर्यादा के अहकार में मत फँस।

अलंकार—(1) रूपक—धूँनी, मन्दिर।

(11) अनुप्रास—करि कुल की कानि।

विशेष—(1) वैराग्य भावना का प्रतिपादन है।

(11) शात रस की व्यजना है।

(111) विम्ब-विधान द्वारा अन्त समय का सजीव चित्रण है।

(1V) मृत के साथ शमशान तक जानेवाले उपकरणों का वर्णन यह घोषित करता है कि कबीर लोक-व्यवहार से पूर्णतः परिचित थे। यह उनके गृहस्थ होने का भी प्रमाण है।

(V) जिस भाँति वल्लभाचार्य ने भक्ति के मार्ग में 'कुलकानि' परित्याग की बात कही, उसे हम कबीर में भी पाते हैं। मीराबाई ने तो सचमुच कुल की कानि छोड़ ही दी थी—

छाँड़ि दयो कुल की कानि कहा करिहै कोई ।

सतन ढिग बैठि-बैठि, लोक-लाज खोई ।

इसी बात को गोस्वामी जी ने थोड़े से फेर के साथ कहा है—

जो पै रहनि राम सो नाहीं ।

×

×

×

कीरति, कुल करतूति, भूति भलि सील सरूप अलोने ।

तुलसी प्रभु-अनुराग-रहित जस सालन साग सलोने ।

(३१५)

प्राणों लाल औसर चलयौ रे बजाइ ।

मुठी एक मठिया मुठि एक कठिया, सग काहू कै जाइ ॥टेक॥

देहली लग तेरी मिहरी सगी रे, फलसा लग सगी माइ ।

मड़हट लूँ सब लोग कुटबी, हस अकेलौ जाइ ॥

कहाँ वै लोग कहां पुर पटण, बहुरि न मिलबौ आइ ।

कहै कबीर जगनाथ भजहु रे, जन्म अकारथ जाइ ॥

शब्दार्थ—लाल=सुन्दर । औसर=दाव । पहण=बाजार । बजाइ=

खिलकर ।

संदर्भ कबीर जीवन की नश्वरता एवं सगे-सम्बन्धियों के साहचर्य की क्षणिकता की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए जीव को भगवत्भज्जग की प्रेरणा देने है।

भावार्थ—यह सुन्दर प्राणी अपना जीवन-दाव खेलकर अब जा रहा है। उसकी एक मुट्ठी में आटे का पिण्ड है और एक हाथ उसकी काठी (जनाजे) पर रख दिया गया है। परन्तु यह आटे का पिण्ड भी किसी के साथ नहीं जाता है। घर की देहरी तक पत्नी सगी रहती है अर्थात् देहरी तक रोती हुई पत्नी जाती है और दरवाजे तक माता सगी रहती है। सब कुटुम्बी लोग श्मशान तक जाते हैं, परन्तु आगे की यात्रा में यह जीव अकेला ही जाता है। ये सब सगे-सम्बन्धी, नगर, बाजार कहीं साथ जाते हैं? वे सब यही रह जाते हैं। इन सबसे फिर मिलना नहीं होता है। कबीर कहते हैं कि इन सब बातों पर विचार करके जगत के स्वामी भगवान का भजन करो। भजन के बिना यह जन्म व्यर्थ ही जा रहा है।

अलंकार - (1) अनुप्रास—मुठी मठि मठिया।

(II) पदमैत्री—मठिया कठिया।

(III) गूढोक्ति - (1) कहीं वेपरण।

विशेष—शात रस की व्यजना है। 'निर्वेद' भाव का परिपाक दृष्टव्य है।

(II) फलशा का पाठान्तर 'दुआरै' है। इसीसे इसका अर्थ 'द्वार' कर दिया है।

(III) प्राणी लाल औसर चलयौ रे वजाय। डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है। औसर-अवसर-नृत्य-सगीतादि की सभा है। 'लाल' है ललक-रवपूर्ण। रे प्राणी, तू रवपूर्ण अवसर (संगीत का कार्यक्रम) बजाकर अब वापिस चल पडा है। उनके द्वारा इस अर्थ की कल्पना का आधार यह पाठान्तर है—चारि दिन अपनी नउबति चले वजाइ।”

हम तो 'लाल' का अर्थ महाशय करते हैं। हे प्राणी लाल अथवा प्राणी महाशय। कह कर तीव्र सम्बोधन की व्यजना की गई है। वजाई का अर्थ है—'अजाम देकर'। अर्थ होगा—तुमको जो मानव जन्म देकर एक श्रेष्ठ अवसर प्रदान किया गया था, उसको पूरा करके हे प्राणी महाशय चल दिए और तुमने इस जन्म को व्यर्थ गँवा दिया। जो समय वचा है, उसीमें भगवान का नाम लेलो। इसी भाव को अभिप्रेत मानकर हमने उपर्युक्त अर्थ किया है। हमारे विचार से उपर्युक्त अर्थ ही युक्तियुक्त है। डा० गुप्त द्वारा किए गए अर्थ में हमको खीचतान अधिक दिखाई देती है। नीचे वजाने वाली कबीर की यह माखी इस प्रकार है—

कविरा नीवत आपनी दिन दस लेहु वजाय।

ये पुर पहन ये गली वहरि न देखी आय।

(३१६)

राम गति पार न पावै कोई।

द्यंतामणि प्रभु निर टि छ़ाड़ि करि, भ्रमि भ्रमि मति बुधि खोई ॥टेक॥

तीरथ बरत जपै तप करि करि, बहुत भांति हरि सोधै ।
 सकति सुहाग कहौ क्यू पावै, अछता कत विरोधै ॥
 नारी परिष बसै इरु सगा, दिन दिन जाइ अबोलै ।
 तजि अभिमान मिलै नही पीव कूं, ढूढ़त बन बन डोलै ॥
 कहै कबीर हरि अकथ कथा है, बिरला कोई जानै ।
 प्रेम प्रीति बेघी अंतर गति, कहूँ काहि को मानै ॥

शब्दार्थ - सोधै = खोजे । गति = महिमा । सुहाग = सौभाग्य ।

संदर्भ—कबीर ज्ञान-दशा का वर्ण करते हैं ।

भावार्थ—राम की महिमा का रहस्य कोई नहीं पाता है । लोग अपने स्वरूप से अभिन्न प्रभु रूपी चिन्तामणि (मनचाही वस्तुएँ देने वाली मणि) को छोड़ कर इधर-उधर विभिन्न साधनाओं एवं सिद्धियों में भटकते रहते हैं और इस प्रकार अपनी विवेक-बुद्धि भी खो देते हैं । तीर्थ, व्रत, जप-तप आदि करते हुए लोगो ने भगवान को बहुत प्रकार से खोजा, (परन्तु उन्हें भगवान की प्राप्ति नहीं हुई) । कोई नारी अपने पति का विरोध करते हुए भला पति-मिलन सौभाग्य-सुख क्यों कर प्राप्त कर सकती है ? जो स्त्री और पुरुष साथ-साथ रहते हुए आपस में बिन बोले ही समय व्यतीत करते हैं, उनके जीवन में आनन्द कहाँ से आसकता है ? व्यजना यह है कि जो जीवात्मा अपने पति परमात्मा के साथ निरन्तर रहते हुए भी उससे विमुख रहती है, उस आत्मा सुन्दरी को प्रेमानन्द और परमानन्द की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है ? यह जीवात्मा उस नारी के समान है जो मान वश प्रियतम से विमुख रहती है और प्रेमानन्द की प्राप्ति के लिए इधर-उधर चारों ओर मारी-मारी फिरती है । यह जीवात्मा अपने पृथक्त्व के भाव को त्याग कर परमात्मा में अपने अस्तित्व को तो मिलती नहीं है और आत्मानन्द की प्राप्ति के लिए जगतों में जाकर तपस्या आदि करती है । कबीर कहते हैं कि भगवान के प्रेम की महिमा वर्णनातीत है । इसके महत्व को कोई बिरला ही जान पाता है । मेरा अन्त करण उस प्रेम-प्रीति द्वारा बिद्ध हो गया है । इस अनुभूति का वर्णन मैं किससे करूँ और कौन इस पर विश्वास करेगा ।

अलंकार - (1) सम्बन्धातिशयोक्ति—राम ... कोई ।

(II) रूपक—च्यतामणि प्रभु ।

(III) पुनरुक्ति प्रकाश—अ मि अ मि, करि करि, दिन दिन, बन बन ।

(IV) वक्रोक्ति—सकति विरोधै । को मानै ।

(V) निदर्शना—सकति ... डोलै ।

(VI) विरोधाभास—अकथ कथा ।

(VII) गूढोक्ति—कहूँ काहि ।

(VIII) रूपकातिशयोक्ति—नारी, पुरुष ।

विशेष—(1) बाह्याचार का विरोध व्यक्त है

(ii) जीवात्मा और परमात्मा का अभिन्नत्व प्रतिपादित है । पृथक्त्व भाव भ्रम है । इसकी निवृत्ति द्वारा ही जीव का कल्याण सम्भव है । सूफी कवि कहते आए हैं—“इशरते कतरा है दरिया मे फना हो जाना ।”

(iii) च्यातमणि—खोई । समभाव देखे—

कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग हूँ बँ बन माँह ।

ऐसे घट घट राम हैं दुनियाँ देखे नाँह ।

(iv) विरला कोई जाने । तुलना करे—

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी । कोउ एक होइ धर्म ब्रतधारी ।

धर्म सील कोटिक महँ कोई । विषय विमुख विराग रत होई ।

कोटि विरक्त मध्य स्तुति कहई । सम्यक ज्ञान सकृत कोउ लहई ।

ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ । जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ ।

तिन्ह सहस्र महँ सब सुख सानी । दुर्लभ ब्रह्म लीन बिग्यानी ।

इत्यादि—गोस्वामी तुलसीदास

(३१७)

राम बिनां संसार धंध कुहेरा,

सिरि प्रगट्या जाम का पेरा ॥ टेक ॥

देव पूजि पूजि हिंदू सूये, तुरक सूये हज जाई ।

जटा बांधि बांधि योगी सूये, इनमै किनहूँ न पाई ॥

कवि कवीनै कविता सूये, कापड़ी के दारौं जाई ।

केस लूँचि लूँचि सूये बरतिया, इनमै किनहूँ न पाई ॥

धन सचते राजा सूये, अरू ले कंचन भारी ।

बेद पढे पढि पंडित सूये, रूप भूले सूई नारी ॥

जे नर जोग जुगति करि जानै खोजे आप सरीरा ।

तिनकूँ सुकति का ससा नाहीं, कहत जुलाह कबीरा ॥

शब्दार्थ—धंध=धुंध, धुए का आवरण । कुहेरा=कुहासा, कुहारा ।

जाम=जम । पेरा=पेरने (दबाव डाल कर रस निचोडने) वाला यन्त्र, लक्षण से

आरा अथवा फादा । हज=मक्के की यात्रा । कापड़ी=कार्यटिक, तीर्थयात्री । लूँचि-

लूँचि=नोच-नोच कर । बरतिया=व्रत करने वाले, जैन साधु ।

संदर्भ—कबीर आत्म-साक्षात्कार का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—भगवान राम की भक्ति के बिना यह संसार धुंध और कोहरे के समान निस्मार है । भावार्थ यह है कि राम भक्ति के अतिरिक्त अन्य समस्त साधनाएँ अज्ञान मशय एव दिग्भ्रम में डालने वाली हैं । मानव को समझ लेना चाहिए कि यमराज का आरा उसके मिर के ऊपर निरन्तर लटकता रहता है । देवता पूज-पूज कर हिन्दू मर गये हैं, मुसलमान मक्का की यात्रा कर करके मर गये तथा योगी

जटा-जूट बाँध बाँध कर मर गये, परन्तु किसी को भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हुई । कविगण कविता करके मर गये, तीर्थ यात्री केदारनाथ में जाकर मर गये, जैन मतावलम्बी व्रती साधुओं ने बाख नोच नोच कर प्राण दे दिए, परन्तु इनमें से भी किसी को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हुई । धन एकत्र करते हुए और बहुत सा स्वर्ण बटोरते हुए राजे मर गये, वेदों का अध्ययन करते हुए पंडित मर गये, रूप के अहंकार में नारियाँ मर गईं, परन्तु उद्धार किसी का नहीं हुआ । जो व्यक्ति भगवान से मिलने की युक्ति जानना चाहते हैं, वे अपने शरीर के भीतर ही भगवान (परम-तत्व) को खोजते हैं । जुलाहा कबीर कहता है कि जो व्यक्ति अपने घर के भीतर भगवान को खोजते हैं उन्हें निश्चित रूप से मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

अलंकार—(1) रूपक—ससार धध कुहेरा ।

(II) पुनरुक्ति प्रकाश = पूजि पूजि, बोधि बोधि, लू चि लू चि ।

(III) वृत्त्यानुप्रास—कवि कवीनै कविता कापडी, ।

विशेष—(1) धध कुहेरा—“असत् एव अचित्” अभिप्रेत है ।

(II) बाह्याचार की निरर्थकता प्रतिपादित है ।

(III) अह-भावना एवं आ-क्ति के प्रति तीव्र विरोध व्यक्त है ।

(IV) जुलाहा—जात्याभिमानियों के प्रति व्यंग्य है ।

(३१८)

कहू रे जे कहिवे की होइ ।

नां को जानै नां को मानै, तार्थे अचिरज मोहि ॥ टेक ॥

अपनें अपनें रंग के राजा, मानत नांही कोई ।

अति अभिमान लोभ के घाले, चले अपन पौ खोइ ॥

मै मेरी करि यहू तन खोयो, समझत नहीं गवार ।

भौजलि अधफर थाकि रहे हैं, बुड़े बहुत अपार ॥

मोहि आग्या दई दयाल दया करि काहू कू समझा ।

कहै कबीर मै कहि हार्यौ, अब मोहि दोस न लाइ ॥

शब्दार्थ—घाले = मारे हुए, वशीभूत । भौजल = भव जल, भवसागर ।

अधफर = फर = युद्ध-लक्षण से मार्ग ।

संदर्भ—कबीरदास ससार के व्यक्तियों के अज्ञान के प्रति अपना क्षोभ प्रकट करते हैं ।

भावार्थ—मैं तो वे ही बातें कहता हूँ जो कहने योग्य होती हैं । परन्तु उनको न तो कोई समझता है और न उन पर कोई विश्वास ही करता है । इसी से मुझे आश्चर्य होता है । सभी लोग अपने अपने रंग में मस्त हैं । इसी लिए कोई मेरी बात को मानता नहीं है । वे अत्यन्त अभिमान और लोभ के वशीभूत हैं । उन्होंने अपनत्व को खो दिया है अर्थात् वे अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप को भूल गये हैं । ये मूर्ख वास्तविकता तो समझते नहीं हैं । इन्होंने “मैं और मेरी” के फेर में ही

अपना समस्त जीवन नष्ट कर दिया है। ये लोग भव-सागर में आवे रास्ते पर पहुँच कर थक गये हैं और इनमें बहुत से तो इस भव-सागर में डूब चुके हैं। कबीर कहते हैं कि दयालु भगवान ने कृपापूर्वक मुझको आज्ञा दी है कि मैं भव-सागर में डूबते हुए इन व्यक्तियों से कुछ को तो विवेक-बुद्धि दे दूँ। मैं कह-कह कर थक गया हूँ। मेरी बात कोई नहीं सुनता है। अतः अब मुझको कोई दोष न दे (कि मैंने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया)।

अलंकार—(1) पदमैत्री—ना जानै, ना मानै, घाले चले।

(II) पुनरुक्ति प्रकाश—अपने अपने।

(III) वृत्यानुप्रास—दर्ई, दयाल, दया, करि काहूँ कूँ।

(V) छेकानुप्रास—अति अभिमान।

(VI) रूपक—भौजलि।

(VII) पुनरुक्तिवदाभास—बहुत। अपार।

विशेष—(1) रग के राजा—मुहावरा है—तुलना करे—

मारग सोइ जाकहँ जो भावा। पडित सोइ जो गाल बजावा।

(गोस्वामी तुलसीदास)

यह लोकोक्ति भी प्रचलित है—“अपनी अपनी ढफली और अपना अपना राग।”

(II) विभिन्न साधनाओं में पड़े हुए मानव अपने जीवन को नष्ट करते रहते हैं—यही इस पद का अभिप्रेत अर्थ है। यही बात गोस्वामी तुलसीदास ने कही है—

श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ सजुत बिरित विवेक।

जे परिहरहि विमोह बस कल्पहि पथ अनेक।

(III) कबीर को ज्ञानोपदेश की प्रेरणा भगवान की मंगल-विधायिनी शक्ति से प्राप्त हुई थी। इस कथन में कबीर का आत्म-विश्वास भी व्यक्त है, साथ ही उनकी गर्वोक्ति की छाया भी है। ये दोनों तत्व कबीर के व्यक्तित्व पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। कबीर पूरे आत्म-विश्वास के साथ यह मानते थे कि उन्हें आत्म-साक्षात्कार हो गया था तथा वह परमात्मा के सदेश-वाहक थे।

(IV) कबीर ने उन लोगों पर गहरा व्यंग्य किया है जो प्रभु के स्वरूप को जाने बिना ही उसके विषय में तरह-तरह की बातें कहते रहते हैं।

(३१६)

एक कोस बन मिलांन न मेला

बहुतक भाँति करै फुरमाइस, है असत्रार अकेला ॥ टेक ॥

जोरत कटक जुधेरत सब गढ़ करतव भेली भेला ।

जोटि कटक गढ़ तोरि पातिसाह, खलि चल्थौ एक खेला ॥

कूंच मुकाम जोग के घर मैं, कछू एक दिवस खटांनां ।
 आसन राखि बिभूति साखि दे, फुनि ले सटी उडांनां ॥
 या जोगी की जुगति जु जानै, सो सतगुर का चेला ।
 कहै कबीर उन गुर की कृपा थै, तिनि सब भरम पछेला ॥

शब्दार्थ—मिलान = मिलाने की क्रिया । असवार = जीवात्मा रूपी सवार ।
 फुरमायस = अनुनय-विनय, प्रार्थना । करक = सेना, विकारो की सेना । गढ = शरीर
 रूपी किला । भेली भेला = भेलना । वादशाह = साधक जीव । कूंच = यात्रा ।
 मुकाम = गन्तव्य स्थान, परम पद । खटाना = कस के काम किया । फुनि = फिर ।
 पछेला = पीछे छोड़ दिया । मटी = मटिया, समाधिस्थ चेतना ।

संदर्भ—कबीर परमपद की प्राप्ति का निरूपण करते हैं ।

भावार्थ—(माया-मोह में फँसा हुआ) यह जीवन एक कोश का वीहड जगल
 है । इसमें न तो कोई परमात्मा से मिलने की क्रिया ही बताता है और न कोई
 उससे मिल ही पाता है । जीवात्मा-रूपी यह घुडसवार अपनी जीवन-यात्रा में अकेला
 ही है । वह ससार रूपी जगल को पार करने के लिए अनेक साधनाओं में भटकता
 है । (काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं मत्सर) विकार पूरी सेना एकत्र करके जीव को
 शरीर-रूपी गढ में ही घेर लेते हैं । गढ में आवद्ध जीव का धर्म ही अनेक कष्टों को
 भेलना है । परन्तु साधक जीव रूप राजा अपनी साधना रूपी सेना का सचय करके
 उस शरीर रूपी किले के घेरे को तोड़कर बाहर आ जाता है अर्थात् देहाव्यास एवं
 विषयासक्ति को छोड़ देता है । इस प्रकार वह जीवन के इस संघर्ष को खेल के रूप
 खेलकर अपने गन्तव्य परमपद की ओर प्रस्थान कर देता है । इस यात्रा में वह
 कायायोग में निवास करता है और कायायोग की साधना में उसको कुछ समय तक
 कठिन श्रम करना पड़ता है । उसके बाद अपने आसन पर शरीर की मिट्टी को
 साक्षी रूप छोड़कर वह अपनी समाधिस्थ चेतना को लेकर चला जाता है । जो इस
 प्रकार के योग करने वाले साधक की साधना को समझता है, वही सद्गुरु का सच्चा
 शिष्य है अर्थात् सद्गुरु की कृपा प्राप्त करके ही यह साधना की जा सकती है ।
 कबीर कहते हैं कि उसी गुरु की कृपा से योगी साधक सम्पूर्ण भ्रमों को पीछे छोड़
 कर परम पद को प्राप्त करता है ।

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति—पूरा पद ।

(II) छेकानुप्रास—मिलाननि मेला, असवार अकेला, भेली भेला,
 खेलि खेला । जोगी, जुगति ।

विशेष—(1) जीवन-संग्राम का सुन्दर रूपक है । इस पद में पारमार्थिक
 जीवन क्रम का उल्लेख है ।

(II) कायायोग साधन न होकर साधन मात्र ही है ।

(III) गुरु की महिमा व्यजित है ।

(iv) ले मठी उडाना—समाधिस्थ चेतना द्वारा वह ब्रह्मलीन हो जाता है—
 भूल उठी झोली जली खपरा फूटिम फूटि ।
 जोगी था सो रमि गया, आसन रही विभूति ।

राग झारू

(३२०)

मन रे राम सुमिरि, राम सुमिरि, राम सुमिरि भाई ।
 राम नाम सुमिरन बिनां, बूढ़त है अधिकाई ॥ टेक ॥
 दारा सुत ग्रेह नेह, सपति अधिकाई ।
 यामै कछु नांहि तेरौ, काल अवधि आई ॥
 अजामेल गज गनिका, पतित करम कीन्हां ।
 तेऊ उतरि पारि गये, राम नाम लीन्हां ॥
 स्वांन सूकर काग कीन्हौ, तेऊ लाज न आई ।
 राम नाम अमृत छाड़ि, काहे विष खाई ॥
 तजि भरम करम विधि नखेद, राम नाम लेही ।
 जन कबीर गुरु प्रसादि, राम करि सनेही ॥

शब्दार्थ—नरवेद=निषेध । दारा=स्त्री । करम=कर्म-काण्ड ।

सदर्भ—कबीर राम-नाम की महिमा का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—रे मेरे भाई मन, राम का स्मरण करो, राम का स्मरण करो,
 राम का स्मरण करो । राम नाम के स्मरण के बिना इस भव सागर में और अधिक
 डूब जाओगे अर्थात् माया मोह में अधिकाधिक लिप्त होते जाओगे । स्त्री, पुत्र, घर
 एष इनके प्रति स्नेह तथा अतुल सम्पत्ति इनमें तेरा कुछ भी नहीं है । अपना समय
 आने पर ये सब नष्ट हो जाएँगे । अथवा तेरे जीवन की अवधि समाप्ति के निकट
 आ रही है और ये सब तुझ से छूट जाएँगे । अजामिल, हाथी और पिंगला वेश्या ने
 नीच कर्म किए । परन्तु राम का नाम लेने से वे भी ससार-सागर के पार हो गए ।
 अर्थात् उनका भी उद्धार हो गया । रे जीव, तुम कुत्ता, सूअर, कौआ आदि जैसी
 निम्न योनियों में भटक चुके हो, परन्तु तुमको तब भी पाप कर्म करते हुए शर्म नहीं
 आती है । तुम राम भक्ति रूपी अमृत को छोड़कर विषयासक्ति रूपी विष का सेवन
 करते हो । तुम अन्य साधनाओं के द्वारा उद्धार की सम्भावना के भ्रम तथा कर्म
 काण्ड के विधि-निषेध को छोड़कर राम के नाम का स्मरण करो । भक्त कबीरदास
 कहते हैं कि तुम गुरु की कृपा-प्राप्त करो और भगवान राम के प्रति अनुरक्त
 हो जाओ ।

अलंकार—(i) पुनरुक्ति प्रकाश --राम सुमिरि की आवृत्ति ।

(ii) गूढोक्ति—तेऊ पार—लीन्हा ।

(iii) रूपक—राम नाम अमृत ।

(iv) रूपकातिशयोक्ति - विष ।

(v) पदमैत्री—भरम करम ।

विशेष—(i) कबीर ज्ञानी भक्त के रूप में प्रकट हैं ।

(ii) तजि करम विधि निषेद - कबीर शास्त्र विहित कर्मकाण्ड के प्रति विरोध प्रकट करते हैं ।

(iii) पौराणिक आरकानों की परम्परा का प्रयोग है । यहाँ कबीर वैष्णव भक्तों की परम्परा में दिखाई देते हैं—

मैं हरि पतित पावन सुनै ।

× × ×
 व्याध गनिका गज अजामिल साखि निगमन भने ।
 और अधम अनेक तारे जात कापै गने ।
 जानि नाम अजानि लीन्हें नरक जमपुर मने ।
 दास तुलसी सरन आयो, राखिये अपने ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(iv) प्रयुक्त पौराणिक आख्यान इस प्रकार हैं—

अजामेल (अजामिल)—अजामिल एक ब्राह्मण था । वह बड़ा पापी था । उसके पुत्र का नाम 'नारायण' था । मृत्यु के समय उसने अपने पुत्र 'नारायण' को नाम लेकर पुकारा । 'नारायण' की पुकार सुनते ही भगवान के दून वहाँ आगए और यमदूतों से उसको छुड़ाकर भगवान के घाम को ले गये । इस प्रकार भगवन्नाम स्मरण मात्र से अजामिल का उद्धार हो गया ।

(ख) गज (गजेन्द्र या गजराज)—हाथियों का एक अत्यन्त बलवान राजा था । उसे अपने बल का बड़ा घमण्ड था । एक बार जब वह नदी में पानी पी रहा था, तब एक मगर ने उसका पैर पकड़ लिया । हाथी ने पूरा जोर लगाया, परन्तु मगर ने उसका पैर नहीं छोड़ा । उलटे वह हाथी को जल के भीतर खींच ले गया । जब हाथी की सूँड का ऊपरी भाग ही पानी के ऊपर रह गया, तब आर्त स्वर से उसने भगवान को पुकारा । उसकी पुकार सुन कर भगवान उसके रक्षार्थ भागे और उन्होंने सुदर्शन चक्र द्वारा मगर का वध करके गजराज का उद्धार किया ।

(ग) गनिका—यह पिगला नाम की वेश्या थी । एक बार अपने व्यवसाय से निराश होकर उसने भगवान के भजन का सकल्प कर लिया था और इसका उद्धार हो गया ।

इसकी कथा एक अन्य प्रकार भी है । यह वेश्या अपने तोते को राम-राम पढ़ा रही थी । बस, इसी राम-नाम उच्चारण से उसका उद्धार हो गया था—मुवा पढ़ावत गणिका तारी । तारी मीराबाई । इत्यादि ।

(३२१)

रांम नांम हिरदै धरि, निरमोलिक हीरा ।
 सोभा तिहूं लोक, तिमर जाय त्रिविधि पीरा ॥ टेक ॥
 भिसनां नै लोभ लहरि, कांम क्रोध नीरा ।
 मद मछर कछ मछ, हरषि सोक तीरा ॥
 कांमनी अरु कनक भवर, बोये बहु बीरा ।
 जन कबीर नवका हरि, खेवट गुरु कीरा ॥

शब्दार्थ—निरमोलिक—अमूल्य, बहुमूल्य, । तिमर=तिमिर, अन्धकार, अज्ञान । बोये=डुवोये । कीरा=कीट=शुकदेव । यदि पाट कोरा है, तो अर्थ 'केवल' होगा ।

सदर्भ—कबीरदास गुरुप्रसाद और हरि कृपा द्वारा भव सागर पार करने का उपदेश देते हैं ।

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि रे जीव, तुम हृदय मे राम नाम रूपी बहुमूल्य हीरे को अपने हृदय मे धारण करो । इससे तीनों लोकों मे तेरी शोभा (इज्जत) होगी तथा तेरा अज्ञानान्धकार एव तेरे तीनों प्रकार (दैहिक, दैविक, भौतिक) कष्ट नष्ट हो जाए गे । (भव सरिता मे) काम और क्रोध रूपी जल भरा हुआ है, इसमे लोभ और तृष्णा की लहरे उठती रहती हैं, इसमे मद और मत्सररूपी मछलियाँ और कछुए हैं, सुख और दुःख इसके किनारे हैं तथा इसमे कामिनी और कचन रूपी भँवरें पड रही हैं । इस भव नदी मे अनेक वीर डूब चुके हैं । भगवान के भक्त कबीरदास कहते हैं कि भव-नाम की नाव तथा गुरु शुकदेव रूपी केवट के सहारे ही इसको पार किया जा सकता है । अथवा यह कहिए कि इसको पार करने के लिए भगवन्नाम ही नाव है और केवल गुरु ही इस नौका का केवट है ।

अलंकार—(I) साग रूपक—पूरा पद ।

(II) व्यतिरेक की व्यजना—निरमोलक हीरा ।

(III) छेकानुप्रास—तिमिर, त्रिविध । लोभ लहरि, काम क्रोध, मद मछर ।

(IV) पदमैत्री—कछ मछ ।

(V) वृत्यानुप्रास—बोये बहु बीरा ।

(VI) श्लेष पुष्ट रूपक—तिमर

विशेष—(I) त्रिविध पीर—दैहिक=शारीरिक । दैविक=देवकृष्ण । भौतिक=अत सम्बन्धी ।

(II) त्रिपना—तृष्णा भोग की इच्छा, अप्राप्त वस्तु को पाने की तीव्र इच्छा । बुद्ध ने इन्ही को 'तनहा' कहा है । इसी के वशीभूत होकर जीवात्मा जन्म धारण करने को प्रेरित होता है ।

(111) हरषि सोक तीरा—प्रत्येक कार्य की परिप्रगति इष्ट की प्राप्ति (सुख) अथवा इष्ट के वियोग एव अनिष्ट की प्राप्ति (दुख) में होती है ।

(111) वीर काम क्रोधादि पर विजय प्राप्त करने के लिए साधना करने वाला ही 'वीर' है । जैन धर्म के 'जिन' का अर्थ 'वीर' ही है । गोस्वामी तुलसीदास ने भी लिखा है कि—

महा अजय संसार रिपु जीति सकय सो वीर ।

(रामचरितमानस)

(३२२)

चलि-मेरी सखी हो, वो लगन राम राया ।

जब तब काल बिनासै काया ॥ टेक ॥

जब लग लोभ मोह की दासी, तीरथ व्रत न छूटै जम की पासी ।

आवेंगे जम के घालेंगे बांटी, यहु तन जरि वरि होइगा माटी ॥

कहै कबीर जे जनहरि रगिराता, पायौ राजा राम परम पद दाता ।

शब्दार्थ—लगन=प्रेम । बोटी=कुचल कर ।

सदर्भ—कबीरदास भगवद् भक्ति का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—रे मेरी जीवात्मा सखी ! तू राजा राम के प्रेम में मग्न हो जाओ ।

यह काल किसी भी क्षण इस शरीर को नष्ट कर सकता है । तुम जब तक लोभ और मोह की दासी हो तथा वीर-व्रत आदि के फेर में पड़ी हुई हो, तब तक यम के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकोगी । यम दूत आएँगे और तुमको कुचल कर (पीस-पास कर) मार डालेंगे । तुम्हारा यह शरीर जल-जल कर मिट्टी हो जाएगा । कबीरदास कहते हैं कि जो लोग राम के प्रेम में अनुरक्त हैं, वे उन राजा राम को प्राप्त करते हैं जो परम पद को देने वाले हैं ।

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति सखी ।

(11) जरि वरि, जब तब, बांटी माटी ।

(111) विशेषोक्ति की व्यजना तीरथ पासी ।

(1V) वृत्थानुप्रास—पायौ, परम पद ।

विशेष—(1) बाह्याचार का विरोध है ।

(11) राम-भक्ति की महिमा का प्रतिपादन है ।

(111) 'सखी' शब्द जीवात्मा अथवा अन्तःकरण की वृत्ति के लिए उपलक्षण है ।

(३२३)

तू पाक परमांनदे ।

पीर पैकंबर पनह तुम्हारी, मै गरीब क्या गदे ॥ टेक ॥

तुम्ह दरिया सबही दिल भीतरि, परमांनद पियारे ।

नेक नजरि हम ऊपरि नांही, क्या कमिबखत हमारे ॥

हिमकति करै हलाल बिचारै, आप कहाँवे मोटे ।
चाकरी चोर निवालै हाजिर, साईं सेती खोटे ॥
दांइम दूवा कम्द बजावै, मैं क्या करूं भिखारी ।
कहै कबीर मैं बंदा तेरा, खालिक पनह तुम्हारी ॥

शब्दार्थ—पीर=मुसलमानों के धर्म गुरु, धर्मगुरु । पैकवर=पैगबर — पैगामबर, ईश्वर का दूत (मुहम्मद साहब) । गदे=गदा (फारसी), भिखारी, रक निर्धन । दरिया=नदी । कमिबखत=दुर्भाग्य । हिमकति=चिकित्सा, युक्तियाँ । हलाल=पशु हिंसा । मोटे=बड़े । निवालै=भोजन के समय । साईं=स्वामी । सेती=से, प्रति । खोटे=बुराई करने वाले । दांइम=दामन (अरबी शब्द), सदैव, उम्रभर । दूवा=छुरी, चाकू । दूवा=दुआ । बदा=सेवक । खालिक=सृष्टिकर्ता ।

सन्दर्भ—कबीरदास भगवान से शरणागति की प्रार्थना करते हैं ।

भावार्थ—हे भगवान तू पवित्र और परमानन्द स्वरूप हो । धर्मगुरु और मोहम्मद साहब जैसे तेरे सदेश-वाहक भी जब तेरी शरण में रहते हैं, तब मुझ गरीब भिखारी की तो गिनती ही क्या है ? हे प्यारे परमानन्द, तुम दया की नदी स्वरूप होकर सबके हृदय में निवास करते हो । यह मेरा कैसा दुर्भाग्य है कि मेरे ऊपर आपको जरा भी दया दृष्टि नहीं है । लोग दूसरों को उद्धार की युक्तियाँ बताते हैं और स्वयं हृदय में हिंसा धारण करते हैं । ऐसे ही व्यक्ति बड़े कहे जाते हैं । व्यक्ति भगवान की सेवा से जी चुराते हैं, अर्थात् कर्तव्य का पालन ठीक तरह से नहीं करते हैं परन्तु भोजन के समय सदैव प्रस्तुत दिखाई देते हैं और इस प्रकार स्वामी के प्रति सदोष व्यवहार करते हैं । ये लोग उम्र भर दुआ मागते हैं और छुरी चलाते हैं (हिंसा करते हैं । इन्हीं का सम्मान होता है) । इन लोगों पर मुझ भिखारी का क्या वश चल सकता है ? कबीरदास कहते हैं कि मैं तो सेवक हूँ । हे सृजन हार, मैं तुम्हारी शरण में हूँ—मेरे ऊपर अनुग्रह कर दीजिए ।

अलंकार—(i) अनुप्रास—पीक पैकवर पनह ।

(ii) छेकानुप्रास—पाक परमानन्दे, दरिया दिल, चाकरी चोर साईं सेती, दाइम दूवा, हिमकति हलाल ।

(iii) वक्रोक्ति—मैं . . . गदे ?

(v) श्लेष पुष्ट रूपक " दरिया ।

(iv) गूढोक्ति—क्या . . . हमारे ।

(vi) विपम—चाकरी उजावै ।

विशेष—(i) धर्म के ठेकेदारों के प्रति करारा व्यंग्य है ।

(ii) इस पद में कबीर ने काजी-मुल्लाओं के मास भक्षण के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त किया है ।

(iii) फारसी-अरबी के शब्दों के प्रयोग ने भावाभिव्यक्ति को सर्वथा स्वाभाविक बना दिया है ।

(३२४)

अब हम जगत गौहन तै भागे,

जग की देखि गति रांमहि ढूरि लागे ॥ टेक ॥

अयांन पने थै बहु बौरानें, संमझि परी तब फिरि पछितानें ।

लोग कहौ जाकै जो मनि भावै, लहै भुवगम कौन डसावै ॥

कबीर बिचारि इहै डर डरिये, कहै का हो इहां नै मरिये ।

शब्दार्थ - गौहन = गोहन, सग साथ । ढूरि लागे = ढुलक गये, भुक गये ।

अयांन = अज्ञान । भुवगम = सर्प, मोह भ्रम ।

सन्दर्भ—कबीरदास ज्ञान-दशा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—अब मैं जगत के प्रति आसक्ति को त्याग रहा हूँ । ससार का जो दुःख दायी ढग है, उसको देखकर अब मैं भगवान की ओर भुक गया हूँ । अज्ञान के कारण मैंने माया मोह के वशीभूत होकर अनेक पागलपन के काम किये । परन्तु अब ज्ञान हो जाने पर मैं अपने किए हुए कर्मों पर पश्चाताप कर रहा हूँ । मेरे बारे में लोग जो चाहें सो कहे । परन्तु मैं अब भगवद्प्रेम के मार्ग को नहीं छोड़ूँगा । ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भ्रम एव मोह रूपी सर्प कोई क्योकर डसावेगा ? कबीर खूब सोच-समझ कर कहते हैं कि विषय-वासना रूपी सर्प के डर से डरते रहना चाहिए । किसी के कहने से क्या होता है ? विषयासक्ति में फँस कर अपना जीवन नष्ट नहीं करना चाहिए ।

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति—भुवगम ।

(II) वक्रोक्ति पुष्ट निदर्शना लहै 'डसावै' ।

(III) गूढोक्ति—कहै का हो ।

विशेष—ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् विषयासक्ति का सर्प सदृश भयावह प्रतीत होना सर्वथा स्वाभाविक है । विषयासक्ति और ज्ञानावस्था परस्पर विरोधी हैं । समभाव की अभिव्यक्ति देखें—

मैं अब नाच्यो बहुत गुपाल ।

काम क्रोध को पहिरि चोलना कण्ठ विषय की माल । (सूरदास)

तथा— अबलों नसानी, अब न नसैहों ।

×

×

×

मन मधुकर पन कै तुलसी, रघुपति-पद-कमल बसैहों ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(३२५)

राग भैरुं

ऐसा ध्यान धरौ नरहरी,

सबद अनाहद च्यतन करी ॥ टेक ॥

पहली खोजी पंचे बाइ, बाइ ब्यंद ले गगन समाइ ॥

गगन जोति तहां त्रिकुटी सधि, रवि ससि पवनां मेली बधि ॥

मन थिर होइत कवल प्रकासै कवला मांहि निरंजन बासै ॥
 सतगुरु सपट खोलि दिखावै, निगुरा होइ तो कहां बतावै ॥
 सहज लछिन ले तजो उपाधि, आसण दिह निद्रा पुनि साधि ॥
 पुहुप पत्र जहां हीरा मणीं, कहै कबीर तहां त्रिभुवन धणीं ॥

शब्दार्थ—बाइ = पच प्राण । व्यंद = बिंदु, शरीर । गगन = शून्य, ब्रह्मरन्ध्र
 रवि ससि = सूर्य और चन्द्र नाडिया, इडा पिंगला । कवल = कमल, सहस्रार
 कमल । प्रकाश = खिलता है । निरजन = निर्गुण निराकार ब्रह्म । सपट = संपुट,
 पुष्प कोष, डब्बा । निगुरा = बिना गुरु का जिसने गुरु से दीक्षा न ली हो ।
 उपाधि = जगत के धर्म । निद्रा = समाधि । पुहुप पत्र = सहस्रदल कमल । हीरा
 मणि आत्मानन्द रूप द्वबहु मूल्य पदार्थ ।

सदर्भ—कबीरदास कायायोग का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—रे जीव, भगवान नरहरि का गम्भीर रूप से ध्यान करो और
 अनहद शब्द का चिन्तन करो । पहले पच प्राणों के स्वरूप का अनुसन्धान करो और
 शरीर की प्राणवायु लेकर ब्रह्मरन्ध्र में समाहित करो । त्रिपुटी की सन्धि में ही
 गगन ज्योति (दिव्य ज्योति) के दर्शन होते हैं । सुषुम्ना में ऊपर की ओर चढ़ने
 वाली प्राणवायु इडा और पिंगला नाडियों के मध्य समन्वय स्थापित कर देती है ।
 इससे मन स्थिर होता है और सहस्रार कमल प्रकाशित होता है । उसी कमल में
 निराकार निरजन का निवास है । सतगुरु इस कमल का संपुट होकर साधक शिष्य
 को निरंजन के दर्शन करा देता है । परन्तु जिसने गुरु से दीक्षा नहीं ली है, उसको
 इस विषय में क्वचित् बताया जाए अर्थात् गुरु के बिना निरजन का दर्शन हो ही नहीं
 सकता है । अतः गुरु से दीक्षा लेकर सहज स्वरूप का साक्षात्कार करो और सासा-
 रिक उपाधियों (स्थूल जगत के धर्मों) को छोड़ दो । आसन जमा कर बैठ जाओ
 और समाधिस्थ होने का प्रयत्न करो (अज्ञान रूपी निद्रा पर अधिकार करने की
 साधन करो) । कबीर कहते हैं कि सहस्रार कमल के पत्तों के मध्य में ही आनन्द
 रूप हीरा-मणि है और वही पर त्रिभुवन पति का निवास है (उसी परम तत्त्व में
 ध्यान लगाओ और उसी का चिन्तन करो) ।

अलंकार—(1) वक्रोक्ति—निगुराबतावै ।

विशेष—(1) नाथ सम्प्रदाय के प्रतीको का सुन्दर प्रयोग है ।

(II) कायायोग की साधना का सुन्दर वर्णन ।

(III) कायायोग साधन मात्र है ।

(IV) पचवायु—पच प्राण । यथा-प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान ।

(३२६)

इहि विधि सेविये श्री नरहरी,

मन की दुविध्या मन परहरी ॥ टंक ॥

जहां नहीं जहां नहीं तहां कछू जांणि, जहां नही तहां लेहु पछांणि ॥

नाहीं देखि न जइये भागि, तहां नहीं तहाँ रहिये लागि ॥
 मन मजन करि दसवै द्वारि, गंगा जमुना सधि बिचारि ॥
 नादहि ब्यंद कि ब्यदहि नाद, नादहि ब्यद मिलै गोब्यंद ॥
 गुणातीत जस निरगुन आप, भ्रम जेबड़ी जग कीयौ साप ॥
 तन नाहीं कब्र जब मन नांहि, मन परतीत ब्रह्म मन मांहि ॥
 परहरि बकुला ग्रहि गुन डार, निरखि देख निधि वार न पार ॥
 कहै कबीर गुर परम गियांन, सुंनि मंडल मै धरौ धियांन ॥
 प्यड परें जीव जैसे जहां, जीवन ही ले राखौ तहां ॥

शब्दार्थ—दसवै द्वारि=ब्रह्मरन्ध्र । जेवडी=रस्सी । बकुला=वल्कल,

त्रिगुणात्मक आवरण । ग्रहि=पकडो । गुनडार=तात्त्विक गुण ।

सदर्थ—कबीरदास कायायोग की साधना का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—भगवान नरहरि की सेवा इस प्रकार करनी चाहिए कि मन की दुविधाओ का मन त्याग कर दे । जहाँ पर तुमको कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता है, वहाँ भी उस तत्त्व वस्तु को पहचानो । उसी अगोचर तत्त्व में जगत् है । उसको पहचानने का प्रयत्न करो । जहाँ तुमको कुछ भी न दिखाई दे, वहाँ से भागो मत । जहाँ गोचर तत्त्व न हो, वहाँ उसकी अनुभूति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील बने रहना चाहिए । (शून्य में विराजमान परमतत्त्व में अपना मन रमाओ) । मन को आसक्ति रहित करके पवित्र करो और उसको ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा दो । इडा और पिंगला के मिलन-स्थल (त्रिपुटी) पर ध्यान एकाग्र करो । इस प्रकार ध्यान करो कि नाद-रूप परमतत्त्व ही सृष्टि-तत्त्व रूप बिन्दु है अथवा बिन्दु ही नाद है । इनमें से कौन सा तत्त्व-नाद अथवा बिन्दु-यथार्थ एव मूल तत्त्व है । यह भी ध्यान करो कि ये नाद और बिन्दु दोनों गोविन्द (परम प्रभू) में ही समाहित हैं । इस स्थिति की प्राप्ति होने पर न देवी-देवता रह जाते हैं और न पूजा एव जप रह जाते हैं, न भाई-बन्धु रह जाते हैं और न माता-पिता ही रह जाते हैं । स्वयं साधक गुणातीत होकर निर्गुण ब्रह्म के समान हो जाता है । यह जगत तो केवल रस्सी में भ्रम से आरोपित सर्प सदृश ही प्रतीत होने लगता है । जब सकल्प-विकल्पात्मक मन का लय हो जाता है, तब शरीर भी नहीं रह जाता है । (उसका पुनर्जन्म नहीं होता है) । आत्मस्वरूप के प्रति निष्ठा जागने पर ब्रह्म-साक्षात्कार होने लगता है । त्रिगुणात्मक उपाधियों को छोड़कर तात्त्विक गुण की डाल को पकड लो और फिर उस अनन्त परमतत्त्व के दर्शन करो । कबीर कहते हैं कि परम ज्ञानी गुरु का उपदेश है कि शून्यमण्डल में अपना ध्यान एकाग्र करो । इस शरीर को छोड़ने पर जीव जिस अवस्था को प्राप्त होता है, उस अवस्था की प्राप्ति इस शरीर द्वारा ही कर लो । भाव यह है कि उपाधि के समाप्त होने पर व्यष्टि चैतन्य जिस परम चैतन्य में लवलीन हो जाता है, शरीर धारण किए हुए ही जीव-चैतन्य की उसी परम चैतन्य में प्रतिष्ठा बनाए रखने की साधना ही काम्य है ।

- अलंकार—(1) विरोधाभास—मन की' . . . परहरी । व्यंज तहाँ ।
 (II) विभावना की व्यजना—जहाँ 'पछांणि । जहाँ' . . . लागि ।
 (III) सदेह की व्यजना—नादहिं . . . नाद ।
 (IV) सभग पद यमक—व्यद गो व्यंद । नादहिं नाद ।
 (V) उपमा—गुणातीत जस आप ।
 (VI) रूपक—भ्रमजेवणी . . . साप । परिहरि डाटि ।
 (VII) अतिशयोक्ति—वार न पार ।
 (VIII) पदमैत्री—निरखि देखि, वार न पार ।

- विशेष—(1) नाथ सम्प्रदाय के प्रतीको का वर्णन है ।
 (II) कायायोग की प्रक्रिया का वर्णन है उसके माध्यम से ज्ञान, उपासना एवं भक्ति का समन्वय प्रस्तुत किया है ।
 (III) नाद सूक्ष्म जीव तत्व है और बिन्दु सूक्ष्म शरीर तत्व है ।
 (IV) व्यष्टि की चेतना का विश्व चेतना में पर्यवसान ही साध्य है । इसी का प्रतिपादन है ।

(३२७)

अलह अलख निरंजन देव,

किहि मिधि करौ तुम्हारी सेव ॥टेक॥

बिन्दु सोई जाको विस्तार, सोई कृस्न जिनि कीयौ ससार ।
 गोब्यद ते ब्रह्मंडहि गहै, सोई राम जे जुगि जुगि रहै ॥
 अलह सोई जिनि उमति उपाई, दस दर खोलै सोई खुदाई ।
 लख चौरासी रब परवरै, सोई करोम जे एती करै ॥
 गोरख सोई ग्यांन गमि गहै, महादेव सोई मन की लहै ।
 सिध सोई जो साधै इती, नाथ सोई जो त्रिभुवन जती ॥
 सिध साधू पैकंवर हूवा, जपै सु एक भेष है जूवा ।
 अपरंपार का नांउ अनत, कहै कबीर सोई भगवत ॥

शब्दार्थ—अलह=अल्लाह, अलम्य । 'अलख' एवं 'निरंजन' के संदर्भ में 'अलम्य' ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । अलख=अलक्ष्य । निरंजन=माया रहित । उमति=उम्मत=सम्प्रदाय । रब=परमेश्वर, पालन पोषण करने वाला ।

संदर्भ—कबीरदास नामो की विभिन्नता बताते हुए ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—हे अलम्य, अलक्ष्य तथा मायारहित भगवान् । मैं आपकी सेवा किस प्रकार करूँ ? विष्णु वही है जो सर्वत्र व्याप्त है, कृष्ण वही है जिसने सारे ससार की मृष्टि की है, गोविन्द वही है जो ज्ञान से ब्रह्माण्ड को ग्रहण करता है, राम वही है जो युग युगान्तर तक व्याप्त है । अल्लाह वही है जिसने पैगवर के नाम पर सम्प्रदाय उत्पन्न किया । जो इस शरीर के दस द्वारों (अथवा दसम् द्वार ब्रह्मरन्ध्र)

को खोलकर ज्ञान प्रदान करता है, वही 'खुदा' है। जो चौरासीलाख योनियों का पालन-पोषण करता है, वही वास्तव में 'रब' (ईश्वर) है। इतनी उदारता दिखाने वाला ही वास्तव में करीम (दया करने वाला) है। गोरख वही है जो ज्ञान द्वारा प्राप्त तत्व का साक्षात्कार कर लेता है। जो मन की बात को अन्तर्यामी होकर ग्रहण करता है, वही महादेव है। सिद्ध पुरुष वही है जो साधना द्वारा इतने तत्वों को जानता है। 'नाथ' वही है जो त्रिभुवन (सर्वज्ञ) यती (सयतेन्द्रिय) बन कर रहता है। सिद्ध, साधु, पैगम्बर आदि जो भी हुए हैं, वे सब एक ही तत्व का जप करते हैं। उसके भेष तो भिन्न-भिन्न रहे हैं अर्थात् ये भेद तो बाहरी आडम्बर मात्र हैं। वह तत्व अपार है और उसके अगणित काम हैं। कबीर कहते हैं कि अनेक कामों द्वारा अभिव्यक्त वह एक परम तत्व ही भगवान है।

अलंकार—(1) छेकानुप्रास—अलह, अलख, विष्णु विस्तार दस दर।

(II) पुनरुक्तिप्रकाश—जुगि श्रुगि।

(III) वृत्यानुप्रास—सिध साई साधै।

(IV) एक ही तत्व के अनेक नाम।

(V) परिकरांकुर—कई नाम साभिप्राय है, जैसे अलह, अलख, करीम।

विशेष—(1) विष्णु आदि विभिन्न भगवान न होकर विभिन्न तत्व हैं। यह है कबीर की वैज्ञानिक बुद्धिवादी दृष्टि।

(II) परमात्मा मायारहित है। जीवन की क्रियाएँ माया द्वारा आवद्ध या ससीम है। इसी से परमात्मा की सेवा सम्भव नहीं है। उसका तो ध्यान मात्र ही किया जा सकता है।

जो जहन में आगया, वह खुदा कैसे हुआ ?

(III) उस एक परम तत्व के ही विभिन्न कार्यों के कारण विभिन्न नाम हैं। एक ही व्यक्ति पिता, पुत्र, पति, चाचा भाई आदि कहा जाता है।

(IV) अद्वैतवाद का सुन्दर प्रतिपादन है।

(V) इस पद में कबीर ने विभिन्न सम्प्रदायों में भगवान के लिए प्रयुक्त होने वाले विभिन्न कामों के मूल में रहने वाली भावना का उद्घाटन किया है। वे भगवान के विभिन्न गुणों के बोधक शब्द हैं। जो जिस गुण का साक्षात्कार कर लेता है, वह उसी के आधार पर भगवान का नामकरण कर लेता है। इस प्रकार वे विभिन्न नाम इन गुणों की उपाधि से उमी एक तत्व के व्यजक हैं। प्रत्येक नाम के द्वारा उसी एक ही तत्व की उपासना ही वास्तव में सच्ची उपासना है। शेष केवल साम्प्रदायिक आडम्बर मात्र हैं। इस प्रकार कबीर ने बौद्धिक दृष्टि से एव दार्शनिक आधार पर समस्त सम्प्रदाय के उपास्य एव उपासना में तात्त्विक अभेद स्थापित किया है।

(३२८)

तहां जौ राम नाम ल्यौ लागै,

तौ जुरा मरण छूटे भ्रम भागै ॥टेक॥

अगम निगम गढ़ रचि ले अवास, तहुवां जोति करै परकास ।
 चमकै बिजुरी तार अनत, तहां प्रभू बैठे कवलाकंत ॥
 अखड मंडिल मंडित मड, त्रि स्नान करै त्रिखड ।
 अगम अगोचर अभिअतरा, ताकौ पार न पावै धरणींधरा ॥
 अरध उरध विचि लाइ ले अकाम, तहुवां जोति करै परकास ।
 टारचौ टरै न आवै जाइ, सहज सुनि मैं रह्यौ समाइ ॥
 अबरन बरन स्यांम नहीं पीत, हाहू जाइ न गावै गीत ।
 अनहद सबद उठे झणकार, तहां प्रभू बैठे समरथ सार ॥
 कदली पुहुप दीप परकास, रिदा पंकज मै लिया निवास ।
 द्वादस दल अभिअंतरि म्यत, तहां प्रभू पाइसि करिलै च्यत ॥
 अमिलन मलिन घांम नहीं छांहां, दिवस न राति नहीं है तहां ।
 तहां न ऊगे सूर न चद, आदि निरजन करै अनंद ॥
 ब्रह्मंडे सो प्यंडे जानि, मानसरोवर करि असनांन ।
 सोहं हसा ताकौ जाप, ताहि न लिपै पुन्य न पाप ॥
 काया मांहे जानै सोई जो बोलै सो आपै होई ।
 जोति मांहि जे मन थिर करै, कहै कबीर सो प्राणीं तिरै ॥

शब्दार्थ—गढ़ = कपाल, शून्य, ब्रह्मरन्ध्र । बिजुरी = बिजली । कुण्डलिनी
 त्रिखण्ड = तीनों लोक, तीनों गुण । त्रिअस्नान = तीनों कालों में (सदैव) स्नान करते
 हैं । धरणींधरा = शेषनाग । रिदा = हृदय ।

संदर्भ—कबीरदास प्रतीको के माध्यम से परम तत्त्व की अनुभूति-दशा की
 व्यंजना करते हैं ।

भावार्थ—सहस्रार कमल में विराजमान राम में यदि ध्यान लगजाता है, तो
 जरा-मरण का बन्धन छूट जाता है और समस्त अज्ञान जन्य भ्रम समाप्त हो जाता
 है । ब्रह्मरन्ध्र रूपी किले में एक आवांम बना हुआ है । वहाँ तक चेतना का पहुँचना
 अत्यंत कठिन है और वहाँ पहुँचने पर समस्त गति समाप्त हो जाती है । (अर्थात्
 वहाँ पहुँच जाने पर पुनरावर्तन नहीं होता है) । वही पर ब्रह्म-ज्योति का प्रकाश
 होता है । वहाँ पर कुण्डलिनी रूपी बिजली चमकती है और अनन्त तारागण भी
 खिले हुए हैं । वही पर भगवान कमलाकांत विराजमान हैं । वही पर प्रकाश के
 अखण्ड मण्डलों से मंडित परम ब्रह्म की ज्योति के दर्शन होते हैं । इस ज्योति में
 तीनों कालों में (सदैव) इसके त्रिगुण रूप निमज्जित रहते हैं । यह अगम्य और
 अगोचर प्रकाश आभ्यन्तर तत्त्व है (गुहानिहित है) । शेषनाग भी इसका पार नहीं
 पा सके हैं । पिण्ड और ब्रह्माण्ड के मध्य में व्याप्त गगन-तत्त्व का ध्यान करो । वही

पर ज्योति का प्रकाश भी है । सहज रूप से शून्य में प्रतिष्ठित रहने वाला यह चैतन्य-स्वरूप तत्त्व टस से मस नहीं होता है और न उसका आवागमन ही होता है । न तो उसे वर्णहीन कहा जा सकता है और न उसका कोई वर्ण (रंग) ही बताया जा सकता है अर्थात् वह वर्णनातीत है । वह न काला है, न पीला है । वहाँ पर न हा-हू (शोरगुल) है और न गीत-नाच ही है । अर्थात् वहाँ पर लौकिक शब्द नहीं होता है । वहाँ पर अनाहद नाद की मधुर झंकार होती है । वही पर समर्थ एव सारभूत तत्त्व भगवान् विराजमान हैं । कदली पुष्प के समान हृदय-कमल में उस दीपक स्वरूप ज्योति का प्रकाश है । हृदय-कमल में स्थित अनाहद चक्र के बारह पंखड़ी वाले कमल के भीतरी भाग पर ध्यान केन्द्रित करो और उसी का चिन्तन करो । वही तुमको प्रभु का साक्षात्कार होगा । वहाँ न अपवित्रता है और न पवित्रता, न धूप है, न छाँह है, न दिन है न रात है, वहाँ न सूर्य का उदय होता है और न चन्द्रमा ही उदित होता है । ऐसे स्थल पर वह आदि निरजन पुरुष आनन्द पूर्वक निवास करता है । जो कुछ ब्रह्माण्ड में है उसको पिण्ड में जान लो । इस अभेद-ज्ञान रूप मुक्तावस्था को प्राप्त करके जो आत्म-स्वरूप रूपी मानसरोवर में स्नान करते हैं, निमग्न हो जाते हैं और ज्ञान स्वरूप होकर सोऽह (जीव-ईश्वर के अभेद द्वार व्यजित चैतन्य) का शाश्वत ध्यान करते हैं, वे पाप-पुण्य से लिप्त नहीं होते हैं अर्थात् वे कर्म-बन्धन से परे हो जाते हैं । शरीर में उस परम तत्त्व को विराजमान जानकर, जो राम का नाम बोलता है वह आत्म-स्वरूप हो जाता है । कबीर कहते हैं कि जो व्यक्ति उस परम ज्योति में मन को दृढतापूर्वक लगा देते हैं अथवा जिनका मन अविचल भाव से इस परम ज्योति में लग जाता है, वे इस भवसागर से पार हो जाते हैं ।

अलकार—(i) रूपकातिशयोक्ति—प्रायः सम्पूर्ण पद में नाथ पथ के प्रतीको का प्रयोग हुआ है ।

(ii) सभग पद यमक—अवरन वरन, अमलिन मलिन,

(iii) पदमैत्री—अबास परकास, अगम निगम, अरघ उरघ ।
म्यत च्यत ।

(iv) वृत्यानुप्रास—अगम अगोचर अभिअतरा, सहज सुनि समाइ,
शाहन गावै गीत,

(v) सम्बन्धातिशयोक्ति—पार न-घरणीघरा ।

(vi) विशेषोक्ति—टार्यौ टरै न ।

(vii) छेकानुप्रास—टार्यौ टरै । समरथ सार,

(viii) रूपक—रिदा पकज । मानसरोवर ।

विशेष—(i) परम तत्त्व को इन्द्रयातीत एव वर्णनातीत बताया है । वह लौकिक वाणी के प्रतीत है ।

(ii) तार अनंत—प्रतीयमान विरोधो का वहाँ सामजस्य है ।

(III) 'हउ'—गीत—वह शब्द लोक-वाणी के परे है । डा० माताप्रसाद गुप्त ने 'हंउ' का अर्थ 'हाहू -- एक गधर्व विशेष लिखा है और इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है— "जहाँ पर न हाहू (गधर्व-विशेष) जाता है और न वह गीत गाता है ।"

(IV) तहाँ न - ससार की इन सब वस्तुओं, प्रमेयों और बच्चों से परे का वह तत्व है ।"

(V) जरा मरण छूटै तथा तहाँ न ऊगै सूर—इत्यादि । समभाव के लिए देखें—

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।

(श्रीमद्भगवद्गीता—१५/६)

(VI) नाथपथी प्रतीको का प्रयोग है ।

(३२६)

एक अचंभा ऐसा भया,

करणीं थै कारण मिटि गया ॥टेक॥

करणी किया करम का नास, पावक माँहि पुहुप प्रकास ॥

पुहुप माँहि पावक प्रजरै, पाप पुंन दोऊ भ्रम टरै ॥

प्रगटी बास वासना धोइ, कुल प्रगट्यौ कुल घाल्यौ खोइ ॥

उपजी च्यत च्यत मिटि गई, भौ भ्रम भागा ऐसी भई ॥

उलटी गंग मेर कूँ चली, धरती उलटि अकासहि मिली ॥

दास कबीर तत ऐसा कहै, ससिहर उलटि राह कौँ गहै ॥

शब्दार्थ—करणी=कार्य, साधना । कारण=(1) अज्ञान, (II) जन्म-मरण का मूलभूत कारण । पावक=(1) अग्नि, ज्ञान की अग्नि, (II) मूलाधार चक्र की चण्डाग्नि । पुष्प=(1) अनासक्ति का आनंद (II) सहस्रार कमल । पावक=(1) ज्ञानाग्नि, (II) निरजन रूपी परमतत्व । वास-वासना=(1) वासना-रूप दुर्गंध, (II) कमल से निकलने वाली सुगंध । कुल प्रगट्यौ=साधको के कुल का ज्ञान प्रकट हो गया है । कुल घाल्यौ=अज्ञान के कुल का नाश हो गया है । च्यत=ज्ञान । च्यत=सासारिक चिन्ताएँ । धरती=(1) जड माया, (II) मूलाधार चक्र । आकाश=(1) ब्रह्म, (II) शून्य चक्र, ब्रह्मरन्ध्र । ससिहर=चन्द्रमा (1) चैतन्य सहस्रार से निस्सृत अमृत । राहु=(1) अज्ञान, (II) विषयो का विष ।

सन्दर्भ—इस पद में कबीर आत्म-स्वरूप प्राप्ति की साधना का वर्णन करते हैं । इस साधना के दो पक्ष हैं—(1) ज्ञान एवं भक्ति तथा (II) काया योग । इस पद का अर्थ दोनों ही पक्षों में पूर्णतः घटित हो जाता है । यथा—

ज्ञान एवं भक्ति परफ अर्थ—एक ऐसे आश्चर्य की बात होगई कि कार्य के द्वारा कारण समाप्त हो गया अर्थात् साधना के द्वारा अज्ञान का नाश होगया । साधना ने कर्तव्य के अभिमान एवं कर्मों के प्रति फलासक्ति को समाप्त कर दिया

और ज्ञान रूपी साधना की अग्नि में अनासक्ति का आनन्द रूपी पुष्प विकसित हो गया । अनासक्ति के इस पुष्प के मध्य ज्ञान की अग्नि जलती है । इससे पाप-पुण्य दोनों ही प्रकार की फलासक्ति भ्रमरूप होकर समाप्त होगई है । उस कमल की सुगन्ध के प्रकट होने से समस्त विषय-वासना समाप्त होगई है और कुल सासारिक बन्धनों को समाप्त करके पूर्ण ज्ञान का उदय हो गया है । चिन्तामणि स्वरूप भगवान का बोध जाग गया है और सासारिक चिन्ताएँ समाप्त होगई हैं । इससे कुछ ऐसी अनोखी बात होगई है कि सासारिक भ्रम दूर हो गया है । इन्द्रियों के प्रवाह (विषयासक्ति) की गंगा उल्टी होकर (विषयो से पराङ्मुख होकर) हिमालय पर्वत (उद्गम स्थल) की ओर चल दी है, अर्थात् इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होकर अपने मूलभूत कारण शुद्ध चैतन्य की ओर अभिमुख होगई हैं । जड माया (सासारिक विषय-वासनाओं की प्रवृत्ति) जो अभी तक बहिर्मुख थी, अब अन्तर्मुख होकर ज्ञान और भक्ति में समाहित होगई है । भक्त कबीर उस रहस्य का उद्घाटन करते हुए इस प्रकार कहते हैं कि इस स्थिति के प्राप्त होने पर चन्द्रमा उलट कर राहु को ही ग्रस लेता है अर्थात् चैतन्य अपने आपको आवृत्त करने वाले अज्ञान को खा जाता है ।

काया योग परक अर्थ — एक ऐसा आश्चर्य घटित होगया है कि योग की साधना से जन्म-मरण का मूलभूत कारण समाप्त हो गया । इससे कर्म के बन्धन भी समाप्त होगये । मूलाधार चक्र की चण्डाग्नि द्वारा विभिन्न चक्र विकसित होगये उनमें स्फूर्ति आगई । चक्र तेज युक्त हो गये और इससे पाप एवं पुण्य का भ्रम समाप्त हो गया । इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि— मूलाधार चक्र की चण्डाग्नि से सहस्रार कमल विकसित हो गया । इस कमल के निरजन रूपी परमतत्त्व अग्निवत् प्रज्वलित हो गया है और पाप-पुण्य का भ्रम समाप्त हो गया है ।

इस कमल में निकली हुई सुगन्ध ने सासारिक वासनाओं का कल्मष धो डाला है । अथवा समस्त वासनाओं को समाप्त करके इन विभिन्न कमल-चक्रों की सुगन्ध प्रकट हुई है । अब पूर्ण तत्त्व का प्रकाश हो गया है तथा ससार मिट गया है । साधना से प्राप्त ज्ञान-रूपी चिन्तामणि के प्राप्त होने पर साँसारिक चिन्ताओं से मुक्ति मिल गई है और सबसे विचित्र बात यह हुई कि सासारिक सशय भी समाप्त हो गये हैं । कुण्डलिनी मूलाधार चक्र से उत्थित होकर सहस्रार की ओर चल दी है तथा कुण्डलिनी रूपी पृथ्वी की शक्ति शून्य-गगन तत्त्व में समाहित हो गई है । सहस्रार-कमल में उदित चन्द्रमा का अमृत विषयो के विपरूप राहु को आत्मसात् कर रहा है अर्थात् अमृतत्व पूर्ण आत्मानुभव मोह को नष्ट कर रहा है । कबीरदास ने ऐसे ही कायायोग के रहस्य को स्पष्ट किया है ।

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति—प्रायः समस्त पद—करणी, कारण, पावक पुहुप इत्यादि ।

- (ii) विरोधाभास— करणी तें कारण का मिटना, करणी तें कारण का नास । उपजी च्यत—गई । ससिहर—गहे ।
- (iii) विषय—पावक माहि पुहुप प्रकास, पुहुप माहि पावक प्रज रै ।
- (iv) वृत्यानुप्रास— करणी क्रिया करम, पावक पुहुप प्रकास । पुहुप पावक प्रजरै पाप पुन्य, भौ भ्रम, भागा ।
- (v) रूपक—वास—वासना, भौ भ्रम ।
- (vi) श्लेष—आद्यन्त
- (vii) यमक—कुल कुल, च्यत च्यत
- (viii) भेदकातिशयोक्ति की व्यजना—ऐसी भई ।

विशेष— (i) इस पद मे उलट बासी शैली की प्रतीकात्मकता दर्शनीय है ।

(ii) प्रतीको के माध्यम से परम तत्व की अनुभूति दशा की सुन्दर व्यजना है ।

(iii) इस पद मे कायायोग की साधना का सुन्दर वर्णन है ।

(iv) चक्र—देखे टिप्पणी पद सख्या ४, २१०

विकास देखे टिप्पणी पद सख्या ४ ।

उलट बासी—देखे टिप्पणी पद स ८०

शून्य गगन तथा निरजन—देखे टिप्पणी पद स १६४ ।

चित्तामणि—देखे पद स० १२३ । समभाव के लिए यह पद दृष्टव्य है—
अबलों नसानी, अब न नसैंहीं ।

राम कृपा भव-निसा सिरानी, जागे पुनि न डसैंहीं ।

पायो नाम चारुचित्तामनि, उर कर तें न खसैंहीं ।

स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, वित कंचनहि कसैंहीं ।

परवस जानि हँस्यौ इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैंहीं ।

मन मधुकर पन कै तुलसी, रघुपति-पद-कमल बसैंहीं ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(v) इस पद की कई पक्तियों के श्लिष्ट प्रयोग से ज्ञानयोग और कायायोग दोनों का अर्थ निकलता है । परन्तु विशेषता यह है कि दोनों का प्राप्य भ्रम नाश, ज्ञान तथा ईश्वर प्रेम है ।

(३३०)

है हजूरि क्या दूरि बतावै,

हुंदर वार्धे सुन्दर पावै ॥टेक॥

सो मुलनां जो मन सूं लरै, अह निसि काल चक्र सूं भिरै ॥

काल चक्र का सरदै मान, तां मुलनां कूं सदा सलांम ॥

फाजी सो जो काया विचारै, अहनिसि ब्रह्म अगनि प्रजारै ॥

सुप्पनै बिंद न देई झरनां, ता काजी कूं जुरा न मरणां ॥
 सो सुलितांन जुद्धै सुर तांनै, बाहरि जाता भीतरि आनै ॥
 गगन मंडल मै लसकर करै, सो सुलितांन छत्र सिरि धरै ॥
 जोगी गोरख गोरख करै, हिंदू रांभ नाम उच्चरै ॥
 मुसलमान कहै एक खुदाइ कबीरा कौ स्वांभी घटि घटि रह्यौ समाइ ॥

शब्दार्थ - हजूरि=समीप । दु दर=द्वन्द्व, भेदभाव । बाध=वश मे करले, अपने नियन्त्रण मे करले । मुलना=मुल्ला, मसजिद मे नमाज पढाने वाला । बिंद न देई झरना=काम के वशीभूत न होना । जुटा=जटा, वृद्धावस्था । सुलतान=बादशाह । लसकर=लशकर, सेना ।

सन्दर्भ—कबीर पैगम्बरी मुसलमानों को उनकी सकुचित वृत्ति के प्रति सावधान करते हैं ।

भावार्थ—रे मुल्ला, वह भगवान तो तेरे पास है । तुम उसको दूर (सातवें आसमान पर) क्यों बताते हो ? जो अहंकार जन्य भेद-भावना पर नियंत्रण कर लेता है अर्थात् सम्प्रदाय-भावना के परे हो जाता है वही उस सुन्दर परम तत्त्व का साक्षात्कार करता है । असली मुल्ला वही है जो अपने मन के विकारों से सघर्ष करता है और रात-दिन काल चक्र से लड़ता है अर्थात् मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है । जो काल चक्र का मान नष्ट कर देता है अर्थात् मृत्यु (मृत्यु के भय) को जीत लेता है, वह मुल्ला सदैव वदनीय है । वास्तविक काजी वही है जो अपने शरीर मे विद्यमान चैतन्य-तत्त्व का चिन्तन करता है और इस प्रकार रात-दिन ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करता रहता है । जो काजी स्वप्न मे भी वीर्यपात नहीं होने देता अर्थात् कभी भी काम के वशीभूत नहीं होता है, उसको न वृद्धावस्था सताती है और न मृत्यु ही उसको व्यापती है । वास्तविक बादशाह वही है जो अपने श्वास प्रश्वास रूपी दो स्वरो को नियंत्रित रखता है और बाहर जाते हुए प्राणों को पूरक एव कुम्भक द्वारा भीतर ले जाता है, इस प्रकार नाव को ऊर्ध्व गति देते हुए युद्ध करता है । वही सुलतान सिर पर छत्र धारण करता है, अर्थात् राज्य का अधिकारी बनता है, जो शून्य मण्डल मे जाकर अपना डेरा डाल देता है अर्थात् अपनी चेतना को ब्रह्मरन्ध्र मे स्थित कर देता है । गोरखपथी योगी 'गोरख' जपता है, हिन्दू राम-नाम का उच्चारण करता है, मुसलमान कहते हैं कि उनका खुदा ही एक मात्र परमात्मा है, परन्तु कबीरदास कहते हैं कि उनका स्वामी (भगवान) प्रत्येक घट मे समाया हुआ है अर्थात् वह सर्वव्यापी है ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति—है—बतावै ।

(II) पदमैत्री—दु दर सुन्दर,

(III) रूपकातिशयोक्ति—द्वसुर, लसकर

(IV) यमक—गोरख गोरख,

(V) पुनरुक्ति=घट घट

विशेष—(1) इस पद में साम्प्रदायिक भावना के ऊपर करारी चोट है।

(ii) कबीर का कहना है कि सभी सम्प्रदायों में भेद-बुद्धि है। अतः ये अपने ईश्वर को एक विशेष रूप में सीमित करके देखते हैं।

(iii) विभिन्न शब्दों के व्युत्पत्तिपरक अर्थ देकर मूल धर्म-भावना के उद्बोधन का प्रयास है।

(३३१)

आऊँगा न जाऊँगा, मरूँगा न जीऊँगा ।

गुरु के सबद मैं रमि रमि रहूँगा ॥टेक॥

आप कटोरा आपै थारी, आपै पुरिखा आपै नारी ॥

आप सदाफल आपै नीबू, आपै मुसलमान आपै हिंदू ॥

आपै मछ कछ आपै जाल, आपै झीवर आपै काल ॥

कहै कबीर हम नाहीं रे नाही, नां हम जीवत न भुवले माँहीं ॥

शब्दार्थ—भुवले=मरे हुए। सदाफल=नारियल।

सन्दर्भ—कबीरदास जीवन के मिथ्यात्व द्वारा एक परम तत्त्व की सत्ता का प्रतिपादन करते हैं।

भावार्थ—शुद्ध चैतन्य का प्रतिनिधित्व करते हुए कबीर कहते हैं कि मैं, न जन्म लूँगा, न मरूँगा और न यह सामान्य जीवन ही व्यतीत करूँगा। मैं गुरु के उपदेश द्वारा प्रतिपादित परम तत्त्व (राय) में ही रमता रहूँगा। आत्मा तत्त्व को सब कुछ बताते हुए वह कहते हैं कि वही थाली है और वही कटोरा है। वह स्वयं ही पुरुष है, और वही नारी है। वही सदैव फलने वाला नारियल है, वही नीबू है, वही मुसलमान है और वही हिन्दू है। वही मछली है, वही कछुआ है। वही उनको फँसाने वाला जाल है, वही उस जाल को फँसाने वाला मछुआ है तथा वही उनको मारने वाला काल है। कबीरदास कहते हैं कि हमारा कोई किसी प्रकार का अस्तित्व नहीं है। हम न जीवित कहे जा सकते हैं और न मरे हुए ही कहे जा सकते हैं।

अलंकार—(1) पद मंत्री—आइ गा—जीऊँगा। मछ कछ।

(ii) पुनरुक्तिवदाभास—जाऊँगा मरूँगा।

(iii) उल्लेख—एक ही तत्त्व का विभिन्न रूपों में वर्णन होने के कारण।

(iv) पुनरुक्ति प्रकाश—नाही रे नाही,

विशेष—(1) समस्त दृश्यमान जगत् (रूपात्मक जगत्) के मूल में एक ही तत्त्व की सत्ता बताकर 'अद्वैतवाद' का प्रतिपादन है।

(ii) आऊँगा—रहूँगा—शुद्ध चैतन्य सर्वव्यापी एवं सदा रहने वाला तत्त्व है। अतः उमका न आने का प्रश्न है और न जाने का, न जन्म का और न मरण का। जड़ माया चैतन्य में त्रिना गतिशील नहीं हो सकती है। जड़ में गति, और

जन्म मृत्यु आदि की धारणा ही कबोकर की जाए ? अतः जन्मादिक, लोक-परलोक मे जाना आदि प्रतीति मात्र है ।

(111) कहै कबीर माँही । जीव की पृथक् सत्ता केवल मिथ्या प्रतीति मात्र है । पर वह माया के ससर्ग से पृथक् लगना है । शुद्ध आत्मतत्त्व के लिए जन्म-मरण शब्दों का व्यवहार व्यर्थ एव अनुपयुक्त है । प्राण तथा इन्द्रिय-व्यापार से असंपृक्त होने के कारण साधक जीव सामान्य व्यवहार मे जीवित नहीं है । परन्तु ससार का व्यवहार करते हुए प्रतीत होने के कारण मरे हुए भी नहीं कहे जा सकते हैं । इसी से न हम जीवित हैं और न मरे हुओ मे ही हैं ।

(३३२)

हंम सब माँहि सकल हम माँही,

हम थै और दूसरा नाही ॥टेक॥

तीनि लोक मै हमारा पसारा, आवागमन सब खेल हमारा ॥

खट दरसन कहियत हम भेखा, हमही अतीत रूप नहीं रेखा ॥

हमही आप कबीर कहावा, हमही अपनां आप लखावा ॥

सदर्थ—कबीर उसे अवस्था का वर्णन करते हैं जब अश-अशी, भक्त भगवान, आत्मा-परमात्मा मे कोई अन्तर नहीं रह जाता है ।

भावार्थ—हम सभी मे हैं और सब हम मे हैं । हम से भिन्न और कोई नहीं है । तीनों लोको मे हमारा ही प्रसार है तथा यह जन्म मृत्यु मेरी लीला मात्र है । छ दर्शन हमारे ही वेष कहे जाते हैं अर्थात् छ हो दर्शनो मे हमारे (शुद्ध चैतन्य) के ही विभिन्न रूपो का वर्णन है । हम अर्थात् चैतन्य सबमे परे का तत्व है । हमारा न कोई रूप है और न कोई आकार है । हम स्वय ही कबीर कहे जाते हैं और हमी ने अपना आत्म तत्व विभिन्न रूपो मे दिखाया है ।

शब्दार्थ—अलंकार—यमक— आप-आप

विशेष—(1) तीन लोक—आकाश, पृथ्वी, पाताल

(II) षट्दर्शन— साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमासा और वेदात ।

(III) उस स्थिति का वर्णन करता है जब साधक 'अह' ब्रह्मास्मि का उद्घोष कर उठता है ।

(IV) अद्वैतवाद का सुन्दर प्रतिपादन है ।

(V) वह परमतत्त्व सर्वथा वर्णनातीत है । इसी से विभिन्न प्रकार से उसका वर्णन करके वाणी की असमर्थता प्रकट की गई है ।

(३३३)

सो घन मेरे हरि का नांउ,

गाँठि न बाँध्यौ बेचि न खांउँ ॥टेक॥

नांउ मेरे खेती नांउ मेरे बारी, भगति करौं मै सरन तुम्हारी ॥

नांउ मेरे सेवा नांउ मेरे पूजा, तुम्ह बिन और न जानौं दूजा ॥

नाँउ मेरे बंधव नाँव मेरे भाई, अत बिरियाँ नाँव सहाई ॥
नाँउ मेरे निरधन ज्यूं निधि पाई, कहै कबीर जैसे रंक मिठाई ॥

शब्दार्थ—बारी=वाटिका । बंधन=बान्धव ।

संदर्भ—कबीरदास प्रभु-नाम को महिमा का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ मेरे पास हरि का नाम रूपी वह धन है जिसे मैं न गाँठ में बाँधता हूँ और न बेचकर खाता हूँ । यह नाम ही मेरी खेती है और यही मेरी बारी है । मैं तुम्हारी ही भक्ति करता हूँ और तुम्हारी शरण में हूँ । आपका नाम ही मेरी सेवा है, नाम ही पूजा है । मैं आपके अतिरिक्त अन्य किसी देवता को नहीं जानता हूँ । भगवान का नाम ही मेरे लिए बान्धव है और भगवन्नाम ही मेरा भाई है । अन्त समय में मुझको आपके नाम का ही सहारा है । भगवान का नाम मेरे लिए निरधन को प्राप्त हो जाने वाले खजाने के समान है । कबीर कहते हैं कि (गुरु के द्वारा प्राप्त) भगवन्नाम मेरे लिए ऐसे ही है जैसे किसी भिखारी को मिठाई मिल गई हो ।

अलंकार—(1) रूपक—हरि को नाँउ धन ।

(II) व्यतिरेक—गाँठ—खाऊँ ।

(III) उल्लेख—नाम का विभिन्न रूपों में वर्णन है ।

(IV) उपमा—नाँउ . मिठाई ।

विशेष—(1) गाँठ न बाँध्यौ बेचि न खाऊँ तथा नाम मेरे सेवा आदि कथन के द्वारा कवि यह कहना चाहता है कि हरि का नाम साधन न होकर साध्य ही है । सामान्य धन की भाँति न तो वह उसका सग्रह (Hoardings) ही करते हैं और न उसके बदले वह किसी अन्य उपयोगी वस्तु को प्राप्त करने की आशा ही करते हैं । हरिनाम के द्वारा कबीर भुक्ति-मुक्ति कुछ भी प्राप्त नहीं करना चाहते हैं ।

(II) खेती-बारी सासारिक वैभव से तात्पर्य है ।

(III) इस पद में अनन्यता की अभिव्यक्ति है तथा भक्ति को साधन एवं साध्य दोनों ही बताया गया है । गोस्वामी तुलसीदास भी भक्ति का सबसे बड़ा फल भक्ति ही मानते हैं । यथा—

जो जगदीस तो अति भलौ जो महीस बड़ भाग ।

तुलसी चाहत जनम भर राम-चरन अनुराग ।

वस्तुतः भक्त के सहजशील का सजीव चित्रण है—

धर्म न अर्थ न काम रुचि गति न चहों निर्वान ।

जनम-जनम रति राम पद यह वरदान न आन ।

(३३४)

अब हरि हूँ अपनी करि लीनों,,

प्रेम भगति मेरी मन भीनों ॥टेक॥

जरै सरीर अग नहि मोरौ, प्राण जाइ तौ नेह न तौरौ ॥

च्यंतामणि क्यू पाइए ठोली, मन दे रांम लियौ निरमोली ॥
ब्रह्मा खोजत जनम गँवायौ, सोइ रांम घट भीतरि पायौ ॥
कहै कबीर छूटी सब आसा, मिल्यौ राम उपज्यौ बिसवासा ॥

शब्दार्थ—भीनीं=भीग गया है, युक्त हो गया है। मोरीं=मोड़ूंगा।
ठोली=योही बिना परिश्रम के। निरमोली=अमूल्य। आसा=सासारिक आशाएँ
अथवा अन्य प्रकार की साधनाओं से मुक्ति प्राप्त होने की आशा।

संदर्भ—कबीर प्रभु-भक्ति के प्रति अपनी दृढ़ निष्ठा व्यक्त करते हैं।

भावार्थ—अब भगवान ने मुझको अपना बना लिया है और मेरा मन उनके
प्रेम एव उनकी भक्ति के रस में पूरी तरह निमग्न (भीग) गया है। प्रेम-भक्ति के
मार्ग पर चलते हुए मेरा शरीर जल भी जाए, तब भी मैं इससे अपने अंगों को नहीं
मोड़ूंगा—इस मार्ग को नहीं छोड़ूंगा। यदि प्रभु की भक्ति में मुझे अपने प्राण देने
पड़े, तब भी मैं भगवान के प्रति प्रेम को समाप्त नहीं करूँगा। हरि-रूपी चिन्ता-
मणि ऐसे ही बिना परिश्रम के क्या कभी प्राप्त होती है? मैंने अमूल्य राम-नाम को
अपना मन देकर प्राप्त किया है। मैंने जिस भगवान को इधर-उधर विभिन्न साधनाओं
में खोजते हुए अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर दिया। उसी भगवान को मैंने अपने
हृदय के भीतर प्राप्त कर लिया है। कबीरदास कहते हैं कि अब मेरी समस्त सासारिक
आशाएँ समाप्त हो गई हैं। राम का साक्षात्कार हो जाने से अब मेरे मन में यह
विश्वास उत्पन्न हो गया है कि मेरा उद्धार हो जाएगा।

अलंकार—(1) विशेषोक्ति की व्यजना—जरै तोरी।

(II) रूपकातिशयोक्ति—च्यंतामणि।

(III) वक्रोक्ति—क्यू पाइए ठोली।

विशेष—भक्ति के उदय की आनन्दावस्था का वर्णन है।

(३३५)

लोग कहैं गोबरधनधारी,

ताकौ मोहि अचभौ भारी ॥टेक॥

अष्ठ कुली परबत जाके पग की रैनां, सातौं सायर अंजन नैनां ॥

ऐ उपमां हरि कितो एक औपै, अनेक मेर नख ऊपरि रोपै ॥

धरनि अकास अधर जिनि राखी, ताकी मुगधा कहै न साखी ॥

सिब बिरचि नारद जस गावै, कहैं कबीर वाको पार न पावै ॥

शब्दार्थ—रैना=रेणु-धूलि। सायर=सागर। औपै=शोभित। मेर=
सुमेरु। रोपै=गाडना, जमाना। अधर=बिना किसी आधार के। मुगधा=मूर्ख।
साखी=साक्ष्य, साक्षात्कार।

सन्दर्भ—कबीर भगवान को वाणी के परे बताते हैं।

भावार्थ—लोग भगवान को गोवर्धन पर्वत को धारण करने वाला कह कर
उसकी शक्ति का वर्णन करते हैं। उनकी इस बुद्धि पर मुझे बहुत आश्चर्य होता है।

सम्पूर्ण अष्ट कुल के पर्वत उस परमात्मा के पैर की धूल मात्र हैं और सातों समुद्र उसके नेत्रों के अजन मात्र हैं। उन भगवान ने अनेक सुमेरु पर्वत अपने नाखून के ऊपर टिका रखे हैं। ऐसे शक्तिशाली भगवान के लिए गोवर्धन धारी की उपमा कहाँ तक उपयुक्त हो सकती है ? जिसने पृथ्वी और आकाश को बिना किसी आधार के (निरावलंब) टिका रखा है, उन भगवान के साक्षात्कार का वर्णन अज्ञानी मूर्ख कदापि नहीं कर सकते हैं, अर्थात् मूर्ख उनके स्वरूप की क्या साखी देंगे ? कबीरदास कहते हैं कि शिव, ब्रह्मा और नारद उस परमब्रह्म के यश का निरन्तर गान करते हैं परन्तु उसकी शक्ति का पार वे भी नहीं पा सकते हैं।

- अलंकार—(I) परिकराकुर—गोवर्धन धारी ।
 (II) अतिशयोक्ति—अष्ट कुली नैना ।
 (III) वक्रोक्ति—कित्ती एक ओपै ।
 (IV) व्यतिरेक—अनेक मेर.....रोपै ।
 (V) विभावना की व्यजना—घरनि.....राखी ।
 (VI) सम्बन्धातिशयोक्ति—पार न पावै ।

विशेष—(1) असीम ब्रह्म को ससीम मानने की धारणा का प्रत्याख्यान किया गया है। इस प्रकार सगुण भक्ति का विरोध है।

(II) असीम तत्त्व का ससीम एवं सगुण बिम्बों से प्रतिपादन है।

(३३६)

राम निरंजन न्यारा रे,

अंजन सकल पसारा रे ॥टेक॥

अजन उत्पति वो उंकार, अंजन मांड्या सब बिस्तार ॥
 अंजन ब्रह्मा सकर इंद्र, अंजन गोपी संगि गोव्यद ॥
 अंजन बांणी, अंजन वेद, अंजन कीया नांनं भेद ॥
 अंजन विद्या पाठ पुरांन, अंजन फोकट कथहि गियांन ॥
 अंजन पाती अंजन देव, अंजन की करै अंजन सेव ॥
 अंजन नाघै अंजन गावै, अंजन भेष अनंत दिखावै ॥
 अंजन कहाँ कहाँ लग केता, दांन पुनि तप तीरथ जेता ॥
 कहै कबीर कोइ विरला जागै, अंजन छाड़ि निरंजन लागै ॥
 शब्दार्थ—निरंजन = माया रहित तत्त्व । अंजन = माया ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि यह समस्त ससार माया का ही पसारा है।

भावार्थ—माया रहित राम समस्त जगत से परे एवं भिन्न है। यह समस्त जगत केवल माया का प्रसार है। ओंकार की उत्पत्ति माया से है, माया ने ही इन विभिन्न नाम-रूपों में विस्तार किया है। ब्रह्मा, शंकर, इंद्र तथा गोपियों के साथ रहने वाला कृष्ण सभी कुछ माया ही हैं। वाणी और वेद माया ही हैं। माया ने ही ये विभिन्न रूपात्मक भेद किए हैं अथवा माया के प्रश्रय से ही यह रूपात्मक जगत

ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होता है । माया ही विद्या, पाठ और पुराण है । यह व्यर्थ का वाचिक ज्ञान भी माया ही है । पूजा करने के साधन पत्रादिक तथा पूज्य देव-माया ही हैं । माया रूप पुजारी माया रूप देवता की सेवा करता है । माया ही नाचती है और माया ही गाती है । माया ही अनन्त भेषो मे अपने आपको प्रदर्शित करती है । माया के बारे मे कहाँ तक कहूँ और उसके कितने रूपों का वर्णन करूँ ? दान, पुण्य, तप, तीर्थ आदि जितने जो कुछ हैं, सब माया ही हैं । कबीर कहते हैं कि किसी विरले को ही माया सम्बन्धी यह बोध होता है । और वही माया का परित्याग करके माया रहित तत्त्व (निरजन) मे लीन होता है (उसके प्रति अनुरक्त होता है) ।

अलंकार—उल्लेख माया का विभिन्न रूपो मे वर्णन है ।

विशेष—प्रकारान्तर से शाकर अद्वैत के मायावाद का प्रतिपादन है । जो कुछ भी अभिधेय है, वह सब माया है । उससे अतीत एव केवल अनुभूति गम्य ही निरजन तत्त्व है ।

(३३७)

अंजन अल्प निरजन सार,

यहै चीन्हि नर करहु विचार ॥टेक ॥

अंजन उत्पति बरतनि लोई, बिना निरंजन मुक्ति न होई ॥

अंजन आवै अंजनि जाइ निरजन सब घट रह्यो समाइ ॥

जोग ध्यांन तप सबै विकार, कहै कबीर मेरे राम आधार ॥

शब्दार्थ—अंजन=माया, दृश्यमान जगत । बरतनि=बरतना, व्यवहार करना ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि माया रूप जगत मिथ्या है । केवल माया रहित तत्त्व ही सार तत्त्व है ।

भावार्थ—माया अथवा माया जनित जगत अल्प एव मिथ्या है । निरजन (ब्रह्म) भूमा एव सार तत्त्व है । रे मानव, यह समझकर चिन्तन करो अथवा इस प्रकार विवेक पूर्वक ब्रह्म को जानने के लिए चिन्तन करो । लोग माया के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं और माया-जनित ससार मे ही व्यवहार करते हैं । निरजन के प्रति अनुरक्त हुए बिना मुक्ति नहीं होती है अथवा निरजन अवस्था मे अवस्थित हुए बिना मोक्ष नहीं होती है । माया ही जन्म लेती है और माया ही मरती है अर्थात् यह आवागमन तो माया का ही है । यह माया रहित निरजन ही समस्त अन्त करणो मे कूटस्थ रूप से अवस्थित है । जोग, ध्यान, तप आदि सब माया के ही विकार हैं । कबीर कहते हैं कि पाया रहित राम ही मेरे आधार है अर्थात् उस परम तत्त्व की अनुभूति ही मेरा एक मात्र साधन और साध्य है ।

अलंकार—अनुप्रास—‘अ’ की आवृत्ति होने के कारण ।

विशेष—(1) शाकर अद्वैत का प्रतिपादन है । ‘ब्रह्म-सत्य जगन्मिथ्या’ का सरल शैली मे प्रतिपादन है ।

(ii) समभाव के लिए देखें—

मैं अरु मोर तोर तै माया । जेहि बस कीन्हे जीव निकाया ।
गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो सब माया जानेहु भाई ।
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ । विद्या अपर अविद्या दोऊ ।
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा । जा बस जीव परा भव कूपा ।
एक रचइ जग गुन बस जाके । प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताके ।
ग्यान मान जहँ एकउ नाही । देखत ब्रह्म समान सब माहीं ।

×

×

×

माया ईस न कहूँ जान-कहिअ सो जीव ।

बंध मोच्छ प्रद सर्व पर माया प्रेरक सीव ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(३३८)

एक निरंजन अलह मेरा,

हिंदू तुरक दहूँ नही मेरा ॥टेक॥

राखूँ ब्रत न महरम जानां, तिसही सुमिरू जो रहै निदाना ।

पूजा करूँ न निमाज गुजाहूँ, एक निराकार हिरदै नमसकारू ॥

नां हज जाऊं न तीरथ पूजां, एक पिछाण्या तौ का दूजा ॥

कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरंजन सँ मन लागा ॥

शब्दार्थ—निदान=अंत मे । पिछाण्या=पहचान लिया । नेरा=पास ।

सन्दर्भ—कबीर परम तत्त्व निरंजन के प्रति अनुरक्त होने का उपदेश देते हैं ।

भावार्थ—मेरी निष्ठा तो एकमात्र मायारहित अल्लाह (परमात्मा) मे है । हिन्दू और मुसलमान दोनों मे कोई भी उसके निकट नहीं पहुँच पाए हैं । अथवा इसका अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि मुझे हिन्दू अथवा मुसलमान किसी भी सम्प्रदाय से कोई वास्ता नहीं है । मे न ब्रत रखता हूँ और न मे मुहर्रम मे विश्वास रखता हूँ । मैं तो केवल उसका स्मरण करता हूँ जो एकमात्र सत्य होने से अन्तत अवशिष्ट रह जाता है । अर्थात् जो माया एव उसके सम्पूर्ण प्रपच के लुप्त हो जाने के पश्चात् अवशिष्ट रह जाता है । मे न किसी देवता की पूजा करता हूँ और न मसजिद मे जाकर नमाज ही पढता हूँ । मैं तो एक मात्र निराकार परमात्मा को हृदय मे धारण करके नमस्कार करता हूँ । न मैं हज (मक्का) जाता हूँ और न तीर्थों मे जाकर पूजा ही करता हूँ । अब मैंने तो एक परम तत्त्व को पहचान लिया है, तब फिर अन्य किसी देवता अथवा किसी साधना की क्या आवश्यकता है ? कबीरदास कहते हैं कि मेरे समस्त भ्रम नष्ट हो गये हैं और एक मात्र तत्त्व निरंजन मे मेरा हृदय रम गया है ।

अलकार—वक्रोक्ति—एक '...क्या दूजा ?

विशेष -- (1) बाह्याचार का विरोध है। हिन्दू और मुसलमान दोनों के धार्मिक लोकाचार की निरर्थकता का प्रतिपादन है।

(II) राम अल्लाह आदि शब्दों के द्वारा व्यग्र्य भगवान के स्वरूप के प्रति कबीर की निष्ठा है। यही इस पद का प्रतिपाद्य है।

(III) निर्गुण निराकार ब्रह्म के प्रति कबीर की अनन्य निष्ठा किसी भी सगुणोपासक भक्त की अनन्यता से किसी प्रकार कम नहीं है। यथा—

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई । (मीराबाई)

(३३६)

तहां मुझ गरीब की को गुदरावै,

मजलसि दूरि महल को पावै ॥टेक॥

सतरि सहस सलार हैं जाकै, असी लाख पैकंबर ताकै ॥

सेख जु कहिय सहस अठ्यासी, छपन कोड़ि खेलिबे खासी ॥

कोड़ि तेतीसूँ अरू ह्यिलखांनां, चौरासी लख फिरै दिवांनां ॥

बाबा आदम पे नजरि दिलाई, नबी भिस्त घनेरी पाई ॥

तुम्ह साहिब हम कहा भिखारी, देत जवाब होत बजगारी ॥

जन कबीर तेरी पनह समांनां, भिस्त नजीक राखि रहिमांनां ॥

शब्दार्थ— गुदरावै=निवेदन करना, सेवा में पहुंचाना। मजलिस—सभा।

सलार=सरदार। भिस्त—वहिष्ट, स्वर्ग। खवास=मुसाहिब। नबी=पैगम्बर।

संदर्भ—कबीर अपनी दीनता की दुहाई देकर भगवान से शरणागति की प्रार्थना करते हैं।

भावार्थ—वहाँ भगवान तक मुझ गरीब की प्रार्थना को कौन पहुंचाएगा। उसकी सभा बहुत दूर है। फिर उसके महल तक किसी की पहुंच किस प्रकार हो सकती है? अथवा उसमें कोई कैसे स्थान प्राप्त कर सकता है? उस परमात्मा के सत्तर हजार सैनिक सरदार हैं, अस्सी लाख पैगम्बर हैं, अठ्ठासी हजार शेख हैं एवं छप्पन करोड़ मनोरजन करने वाले मुसाहिब हैं। इनके अतिरिक्त तैंतीस करोड़ अन्य प्रजाजन हैं। उसके चौरासी लाख मन्त्री हैं। इन सबमें से बाबा आदम पर खुदा की जरा सी नजर पडी और उस पैगम्बर को बहुत बड़ा स्वर्ग प्राप्त हो गया। हे भगवान तुम मालिक हो, और मैं भिखारी मात्र, आपको उत्तर देते हुए बदकारी (बुराई) होती है। कबीर कहते हैं कि यह सेवक आपकी शरण में आया है। हे कृपालु! आप इसको स्वर्ग के पास अर्थात् अपने निकट स्थान देने की कृपा करें।

अलंकार—(1) वक्रोक्ति—तहां गुदरावै।

(II) गूढोक्ति—मजलिस पावै। तुम्ह भिखारी।

(III) अनुप्रास—सतरि सहस सलार।

विशेष—(i) सगुणोपासक भक्तों के समान सालोक्य मुक्ति की कामना अभिव्यक्त है।

(11) ईश्वर के असीम वैभव और अपनी अल्पता का मार्मिक उल्लेख है। इस उल्लेख के द्वारा साधक भगवान से कृपा की प्रार्थना करता है कि वह उसे अपने निकट रखले।

(३४०)

जौ जाचौ तो केवल राम,

आन देव सूं नांही काम ॥टेक॥

जाकै सूरिज कोटि करे परकास, कोटि महादेव गिरि कविलास ॥
 ब्रह्मा कोटि वेद ऊचरै, दुर्गा कोटि जाकं मरदन करे ॥
 कोटि चद्रमां गहै चिराक, सुर तेतीसूं जीमै पाक ॥
 नौग्रह कोटि ठाढे दरबार, धरमराइ पौत्ती प्रतिहार ॥
 कोटि कुबेर जाकै भरै भंडार, लक्ष्मीं कोटि करै सिंगार ॥
 कोटि पाप पुनि ब्यौहरै, इंद्र कोटि जाकी सेवा करै ॥
 जगि कोटि जाकै दरबार, गध्रप कोटि करै जैकार ॥
 विद्या कोटि सबै गुंण कहै, पारब्रह्म कौ पार न लहै ॥
 बासिग कोटि सेज बिसतरै, पवन कोटि चौबारै फिरै ॥
 कोटि समुद्र जाकै पणिहारा, रोमावली अठारह भारा ॥
 असखि कोटि जाक जमावली, रांवण सेन्यो जाथे कली ॥
 सहसबांह के हरे परांण, जरजोधन घाल्यौ खं मान ॥
 बावन कोटि जाके कुटवाल, नगरी नगरी खेत्रपाल ॥
 लट छूटी खेलै बिकराल, अनत कला नटवर गोपाल ॥
 कंद्रप कोटि जाकै लावन करै, घट घट भीतरि मनसा हरै ॥
 दास कबीर भजि सारगपान, देहु अभै पद मांगौं दांत ॥

शब्दार्थ—जाचौ=मांगता हूँ। चिराक=चिराग, दीपक। खंमान=क्षय-मान। कन्दर्प=कामदेव। लावण्य, प्रसाधन शाङ्गपाणि=धनुष धारण करने वाले, राम।

सन्दर्भ—कबीर अनन्त सामर्थ्यवान् भगवान की प्रार्थना करते हैं।

भावार्थ—यदि मैं याचना करता हूँ, तो केवल राम से ही करता हूँ। अन्य देवताओं से मुझे कुछ भी लेना-देना नहीं है। उन राम के यहाँ करोड़ों सूर्य प्रकाश करते हैं, करोड़ों महादेव जिनके कैलास पर्वत पर रहते हैं, कोटि ब्रह्मा जिसके यहाँ वेद-पाठ करते हैं, जिनकी आज्ञा से करोड़ों दुर्गा दृष्टों का दमन करती हैं, जिनके समक्ष करोड़ों चन्द्रमा दीपक लिये रहते हैं, तैंतीस करोड़ देवता जिनकी कृपा का प्रसाद प्राप्त करते हैं, करोड़ों नवग्रह जिनके दरवार में खड़े रहते हैं, जिनके दरवाजे पर धर्मराज प्रतिहारी का काम करते हैं, करोड़ों कुबेर जिनका भण्डार भरते हैं, जिनको प्रमत्त करने के लिए करोड़ों लक्ष्मी शृंगार करती हैं, करोड़ों पाप-पुण्य जिनके मकेत पर होते रहते हैं, करोड़ों इंद्र जिनकी सेवा में रहते

हैं, जिनके दरबार मे करोडो यज्ञ होते रहते हैं तथा करोडो गधर्व जिनका जय-जय-कार करते हैं। करोडों विधाता जिनका गुणगान करते रहते हैं, उस परम ब्रह्म का किसी ने भी पार नहीं पाया है। उनके लिए करोडो शेष नागो ने सेज बिछा रखी है। और करोडो पवन उनके महल मे हवा करते हैं करोडो समुद्र उनके यहाँ पानी भरने वाले हैं, अठारह वनराजी जिनकी रोमावली हैं, जिसके असख्य करोड यमो की सेना है, जिनसे रावण की सेना भी पराजित हुई है, जिसने सहस्रबाहु के प्राणो का हरण किया था, और दुर्योधन, को जिसने क्षयमान करके नष्ट कर डाला था, बावन करोड जिसके कोटपाल है और नगरी-नगरी मे जिसके क्षेत्रपाल है जिनकी विकराल लट्टे (मेघों के रूप मे) भयकर नृत्य करती हैं। वह राम अनन्त कला से युक्त नटवर गोपाल हैं, करोड कामदेव उनका सौन्दर्य प्रसाधन करते हैं और उसी से घट-घट मे रहने वाली इच्छाओ को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। कबीरदास उन्ही धनुषधारी राम का भजन करते हैं और उनसे अभय पद के दान की याचना करते हैं।

अलंकार—(1) व्यक्तिरेक एव आतिशयोक्ति—पूरा पद।

विशेष—यह सगुण भक्तो की सी प्रार्थना है। इसमे प्रभु के विराट-दर्शन जैसी भाँकी प्राप्त होती है।

(11) समभाव के लिए देखें—

रुद्रादित्या वसवोयेच साध्या ।
विश्वेऽश्विनो मरुतञ्चोहम पाश्च ।
गन्धर्व यक्षासुर सिद्ध सँघा ।
वीक्षन्ते त्वा विस्मिताञ्चैव सर्वे । (श्रीमद्भगवद्गीता)

उदर माझ सुनु अंडज राया । देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया ।
अति बिचित्र तहँ लोक अनेका । रचना अधिक एकते एका ।
कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा । अगनित उडगन रवि रजनीसा ।
अगनित लोकपाल जम काला । अगनित भूधर राम विसाला ।
सागर सरि सर विपिन अपारा । नाना भाँति सृष्टि विस्तारा ।

इत्यादि (रामचरितमानस)

जाके विलोकत लोकप होत विलोक, लहँ सुर-लोग सु-ठीरहि ।
सो कमला तजि चंचलता करि कोटि कला, रिभवे सुर मौरहि ।
ता को कहाय, कहै तुलसी, तू लजाहि न मांगत कूकुर-कौरहि ।
जानकी जीवन को जन है जरि जाऊ सो जीह, जो जाँचत औरहि ।

तथा—जग जाचिए कोउ न जाँचिये जो जिय जाँचिए जानकी जानहि रे ।

जेहि जाँचत जाचकता जरि जाहि जेहि भारत जोरि जहाँ नहिरे ।

(कवितावली—गोस्वामी तुलसीदास)

(३४१)

मन न डिगै ताथै तन न डराई,

केवल रांस रहे ल्यौ लाई । टेक ।

अति अथाह जल गहर गभीर, बांधि जजीर जलि बोरे है कबीर ॥

जल की तरंग उठि कटि है जजीर, हरि सुमिरन बैठे हैं कबीर ॥

कहै कबीर मेरे संग न साथ, जल थल मै राखै जगनाथ ॥

शब्दार्थ—दिगै=विचलित होता है । ल्यौ=लगन, ली ।

सन्दर्भ—कबीर सिद्धावस्था का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—मेरा मन अब विषय-वासनाओ के कारण विचलित नहीं होता है अर्थात् मैं अब सासारिक सुखों के प्रति आसक्त नहीं रहा हूँ । इसी कारण मुझ को अब अपने शरीर की ओर से भी भय नहीं है अर्थात् मुझको इस बात की जरा भी आशका नहीं है कि मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ मुझ को विषयों के प्रति प्रवृत्त हो जाएँगी । मैंने केवल भगवान राम के प्रति अपनी लगन लगा रखी है । यह ससार रूपी जल अत्यन्त गहरा और गम्भीर था । कर्मों की शृंखला ने कबीर को बाँध कर इसमें डुबो दिया था । इस ससार रूपी जल में ही ईश्वर भक्ति की लहर उठी और कर्म-बन्धन की वह जजीर टूट गई । कबीर संसार-सागर से निकलकर हरि-स्मरण रूपी तट पर जाकर बैठ गये हैं । कबीर कहते हैं कि मेरा कोई संगी-साथी नहीं है अर्थात् ससार के किसी भी व्यक्ति के प्रति मैं अनुरक्त नहीं हूँ । जल-थल में सर्वत्र मेरी रक्षा करने वाले तो एक मात्र जगत के स्वामी भगवान ही हैं ।

अलंकार—(1) पदमैत्री—मन न—डराई ।

(II) रूपक - हरि सुमिरन तट ।

(III) रूपकातिशयोक्ति की व्यंजना—जल जजीर ।

(IV) विभावना की व्यंजना—जल की तरंग—जंजीर ।

विशेष—(1) मन पर नियन्त्रण आवश्यक है । मन पर नियन्त्रण होते ही इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं ।

(II) भक्ति के लिए संसार त्याग की आवश्यकता नहीं है । भक्ति तो मन की दशा विशेष है । जल की तरंग उठि में यही व्यंजना है ।

(III) जल की तरंग कटि हैं जंजीर । मन के अन्तर्मुखी होते ही समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है । यथा—

सम्मुख होइ जीव मोहि जब हों । जन्म कोटि अध नासहि तवहीं ।

(रामचरितमानस)

(IV) तट बैठे हैं कबीर—तट पर बैठने का अभिप्रेत है—तटस्थ दृष्टि हो जाने । व्यक्ति ससार में लिप्त नहीं रहता है । वह समस्त घटनाओं का दृष्टापात्र हो जाता है । कबीर का कहना है कि राम-भजन के प्रभाव से वह राग द्वेष से मुक्त हो गये हैं ।

(३४२)

भले नीदौ भले नीदौ भले नीदौ लोग,

तन मन रांम पियारे जोग ॥टेक॥

मैं बीरी मेरे रांम भरतार, ता कारनि रचि करौं स्यगार ॥

जैसै धुबिया रज मल धौवै, हर तप रत सब निंदक खोवै ॥

न्यंदक मेरे भाई बाप, जन्म जन्म के काटे पाप ॥

न्यंदक मेरे प्रांन अधार, बिन बेगारि चलावै भार ॥

कहै कबीर न्यदक बलिहारी, आप रहै जन पार उतारी ॥

शब्दार्थ—नीदौ=निंदा करो । बीरी=पागल । रज=मिट्टी । हरत-
परत=विभिन्न प्रयत्नो द्वारा । बेगारि=मजदूरी ।

सन्दर्भ—कबीरदास निंदक को साधक का उपकारी बताते हैं ।

भावार्थ—ईश्वर के प्रति दाम्पत्य भाव मे तन्मय आत्मा सुन्दरी कह रही है कि भले ही मेरी निंदा करो, भले ही मेरी निंदा करो, लोगो भले ही मेरी निंदा करो । मेरे तन और मन प्यारे राम के सयोग मे अनुरक्त रहते हैं । राम मेरे पति हैं और मैं उनके पीछे पागल हूँ उनको रिझाने के लिए मैं अच्छी तरह रुचि पूर्वक श्रृंगार करती हूँ । जिस प्रकार धोवी कपडो के मैल मिट्टी को धोता है, उसी प्रकार निंदा करने वाला व्यक्ति विविध प्रकार से निंदा करके भगवान की तपस्या मे लगे हुए साधक के समस्त अवगुणों को दूर कर देता है । निंदक को मैं माता-पिता की भांति अपना हितैषी मानता हूँ क्योंकि वह जन्म जन्मान्तर के पाप दूर कर देता है । निंदक मुझे प्राणो के समान प्रिय है क्योंकि वह बिना किसी प्रकार का पारिश्रमिक लिए ही मुझे अवज्ञा का भार सहन करने योग्य बना देता है । कबीरदास कहते हैं कि मैं निन्दक पर बलिहारी जाता हूँ । वह स्वयं तो भवसागर मे रह जाता है और भक्त जन को भवसागर के पार उतार देता है ।

अलंकार—(1) पुनरुक्ति प्रकाश—प्रथम पंक्ति । जनम जनम ।

(II) उदाहरण—जैसे—खोवै ।

(III) उल्लेख—निंदक का विभिन्न रूपों मे वर्णन ।

(IV) विभावना की व्यजना—बिन बेगारि—भार ।

(V) व्याज स्तुति—सम्पूर्ण पद ।

विशेष—(1) इस पद मे व्याज स्तुति द्वारा दिखाया है कि निंदा पाप कर्म है एव बन्धन का हेतु है ।

(II) निंदा के प्रति सहिष्णु व्यक्ति अपने दोषो के प्रति जागरूक हो जाता है और अपने अवगुणो को क्रमश दूर करता रहता है । रहीम ने भी इसी प्रकार का कथन किया है ।

निंदक नियरे राखिए आंगन कुटी छवाइ ।

बिन पानी साबुन बिना निरमल करै सुभाइ ।

(iii) मैं बौरी राम भरतार । इसमे सूफियो की पद्धति पर दाम्पत्य-प्रेम की व्यजना है । समभाव देखें—

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई ।
जाके सिर मोर-मुकुट, मेरो पति सोई ।
छांडि दई कुल की कानि, कहा करि है कोई ।
तथा— मैं हरि बिन क्यों जिऊंरी माइ ।
पिव कारन बौरी भई, ज्यों घुन काठहि खाइ । (मीराबाई)

(३४३)

जौ मैं बौरा तौ राम तोरा,

लोग मरम का जानै मोरा ॥टेक॥

माला तिलक पहरि मनमानां, लोगनि राम खिलौनां जाना ॥

थोरी भगति बहुत अहकारा, ऐसे भगता मिले अपारा ॥

लोग कहै कबीर बौराना, कबीरा कौ मरम राम भल जानां ॥

शब्दार्थ—का = क्या ।

सन्दर्भ—कबीर का कहना है कि बाह्याडम्बर वाले उपासक की अपेक्षा सच्चे भक्त राम के अधिक निकट रहते हैं ।

भावार्थ—हे राम मैं जो पागल हो रहा हूँ, वह तो तुम्हारे ही प्रेम में पागल हूँ । ससार के लोग मेरे इस पागलपन का रहस्य क्या समझें ? (वे मुझ को सामान्य पागल समझते हैं और मेरे ज्ञान-भक्ति की बात नहीं जानते हैं ।) मनमाने ढंग से माला-तिलक धारण करने वाले लोग राम को खिलौना समझ कर तरह-तरह से सजाते हैं अर्थात् यह काहिए कि औपचारिक पूजा के नाम पर लोग राम की प्रतिभा को खिलौना समझ कर माला-तिलक से सजाते हैं । ऐसे दिखावटी लोगो में सच्ची भक्ति तो बहुत कम होती है और इनमें अहकार की माया बहुत होती है । ऐसे अहकारी भक्त बहुत मिलते हैं । लोग कहते हैं कि कबीर पागल हो गया है, परन्तु कबीर के इस पागलपन के रहस्य को (वास्तविक कारण को) भगवान राम अच्छी तरह जानते हैं ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति—का जानै ।

(ii) रूपक की व्यजना—राम खिलौना जाना ।

विशेष—(1) बाह्याचार का विरोध है ।

(ii) भगवान का भक्त सासारिक व्यवहार में चतुर नहीं रह जाता है, वह पागल सा दिखाई देता है ।

(iii) माला ... खिलौना—खिलौना जैसे व्यक्ति की विभिन्न वासनाओं की तृप्ति का साधन होना है, उसी प्रकार बाह्य पूजा करने वाला भक्त भगवान की भूति को अपनी कतिपय वासनाओं की तृप्ति का साधन मान बैठता है ।

(३४४)

हरिजन हस दसा लिये डोलै,

निर्मल नांव चवै जस बोलै ॥टेक॥

मान सरोवर तट के बासी, राम चरन चित आंन उदासी ॥

मुक्ताहल बिन चच न लावै, सोनि गहै कै हरि गुन गावै ॥

कऊवा कुबधि निकट नही आवै, सो हस निज दरसन पावै ॥

कहै कबीर सोई जन तेरा, खीर नीर का करै नबेरा ॥

शब्दार्थ—हंस=ज्ञानी, शुद्ध विवेकी । आन=अन्य वस्तुएँ । चवै=चुवै, निःसृत होता है ।

संदर्भ—कबीर सच्चे भक्त का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—भगवान के भक्त हस की भाँति ससार में विचरण करते हैं अर्थात् वे जीवन में विवेकपूर्ण आचरण करते हैं । उनके मुख से भगवान का निर्मल नाम सहज रूप से सदैव निकलता रहता है । वे सदैव भगवान का गुणगान करते हैं । वे मानसरोवर के किनारे रहते हैं । उनका हृदय राम के चरणों में ही लगा रहता है तथा जगत की अन्य सभी वस्तुओं के प्रति वे उदासीन रहते हैं । ये हंस ज्ञान एवं भक्ति रूपी मोती के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का स्पर्श भी नहीं करते हैं । वे या तो मौन रहते हैं, सबका भगवान का गुणगान करते हैं (उनके मुँह से राम-गुण-चर्चा के अतिरिक्त अन्य कोई बात निकलती ही नहीं है ।) कुबुद्धि रूपी कौआ इन मुक्तात्मा रूपी हंसों के पास तक नहीं फटकता है । ऐसे ही विवेकी सत्ता को आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार हो पाता है । कबीरदास कहते हैं कि जो भक्त नीर-क्षीर का विवेक कर पाता है अर्थात् जो सत्यासत्य का निर्णय करने में समर्थ होता है, वही तेरा सच्चा भक्त है ।

अलंकार—साग रूपक—सम्पूर्ण पद ।

विशेष—(1) हस सोऽहम् का अपभ्रंश रूप है । तात्पर्य आत्मज्ञानी है ।

(II) मानसरोवर - कायायोग में मानसरोवर का अर्थ शून्य-शिखर—ब्रह्मरन्ध्र है । राजयोग में इसका अर्थ 'बुद्धि मनस' होता है । जो सदैव हृदय रूपी सरोवर में आत्म-दर्शन करते रहते हैं और इस प्रकार अपने दोषों का प्रक्षालन करते रहते हैं ।

(III) खीर नीर का निबेरा—हस के विषय में यह प्रवाद प्रचलित है कि वह दूध में से दूध तत्त्व को ग्रहण कर लेता है और पानी तत्त्व को छोड़ देता है । इस प्रवाद को लेकर ज्ञानी एवं विवेकी जन का निरूपण करने की एक मान्य परम्परा है—

जड चेतन गुण दोषमय विश्व कीन्ह करतार ।

संत-हस पय-गुन गर्हाहि परिहरि वारि-विकार ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(३४५)

सति राम सतगुरु की सेवा,

पूजहु राम निरजन देवा ॥टेक॥

जल कै मंजन्य जो गति होई, मीनां नित ही म्हावै ॥
 जैसा मीनां तैसा नरा, फिरि फिरि जोनीं आवै ।
 मन मै मैला तीर्थ न्हांवै, तिनि बैकुण्ठ न जानां ।
 पाखड करि करि जगत भुलांनां, नांहिन राम अयांनां ॥
 हिरदै कठौर मरै बनारसि, नरक न बच्या जाई ।
 हरि कौ दास मरै जे मगहरि, सेन्यां सकल तिराई ॥
 पाठ पुरांन वेद नही सुमृत, तहां बसै निरकारा ।
 कहै कबीर एक ही ध्यावो, बावलिया संसारा ॥

शब्दार्थ—सति = सत्य, सार रूप । मजनि = स्नान । जोनी आवै = जन्म लेता है । अयाना = अज्ञानी । बनारसि = वाराणसी । बच्या = बचाया । सेन्या = सेना । पाठ = स्तोत्र—पाठ । बावलिया = पागल ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि अन्य समस्त साधनाओ को छोड़कर केवल राम और सद्गुरु की सेवा करो ।

भावार्थ—राम और सद्गुरु की सेवा ही सत्य एव सार है । हे साधक, तुम मायारहित देवता राम की पूजा करो । भला यदि जल में स्नान मात्र से मुक्ति की प्राप्ति हो जाए तो मछली नित्य ही पानी में स्नान के कारण मुक्त हो गई होती । बार-बार स्नान से जिन प्रकार मछली मोक्ष को प्राप्त नहीं होती है, उसी प्रकार बारम्बार मज्जन-मार्जन करके मनुष्य भी मुक्त नहीं होता है और उसको बार-बार जन्म लेना पड़ता है । जिनके मन में पाप विचार हैं और वे तीर्थ में स्नान करते हैं, उनको बैकुण्ठ की हवा भी नहीं लगती है । जगत के जीव (तीर्थ व्रत, सेवा पूजा आदि) । विभिन्न पाखण्डों में फँसे हुए व्यर्थ की बातों में भ्रमित बने हुए हैं । परन्तु राम ऐसे अज्ञानी नहीं हैं, जो इन लोगों के पाखण्डपूर्ण व्यवहार को समझते न हों । जो लोग मन से निर्दयी हैं और काशी में रहते हैं, वे लोग नरक से नहीं बच सकते । भगवान का सच्चा भक्त अगर मगहर में भी मरते हैं तब भी उनकी पूरी सेना भी (उनके सब साथी भी) भवसागर के पार हो जाते हैं । स्तोत्र-पाठ, पुराण-वाचन, वेदाध्ययन और स्मृति-परायण, इनमें से कोई भी उस निराकार तत्व (परब्रह्म) का साक्षात्कार कराने में समर्थ नहीं है । कबीरदास कहते हैं कि यह मसार तो विभिन्न देवताओं के आराधन एव अनेक साधनाओ के साधन में पागल हैं । (कल्याण के इच्छुक साधको को) उस एक (मायारहित) परम तत्व का ही ध्यान करना चाहिए ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति—मन के . . . नहाव ।

(II) उदाहरण—जैसा मीना . . . आवै ।

(iii) पुनरुक्ति प्रकाश—फिरि फिरि, करि करि ।

(iv) पर्यायोक्ति—नाहिंन राम अयाता ।

(v) विरोधाभास—हरि को दास .. तिराई ।

(vi) सवधातिशयोक्ति—पाठ सुमृत ।

विशेष - (1) बाह्याचार का विरोध स्पष्ट है ।

(ii) जल के मजन्ये. . नहाव समभाव देखे ।

पंडित ! बाद वदै सो भूँठा ।

राम कहयां दुनियां गति पावै, (तौ) खांड कहयां मुख मीठा ।

विनु देखे विनु अरस-परस विन, नाम लिए का होई ? (कबीरदास)

(iii) हिरदै कठोर—इसका अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—जो हृदय कठोर करके काशी-करवट लेते हैं । इसका पाठांतर भी इस प्रकार मिलता है—
'काशी करोत' लेते हैं ।)

(iv) मरै जे मगहरि—'मगहर' आदि स्थानों को पौराणिक परम्परानुसार अशुभ स्थल माना जाता है । यह प्रवाद प्रचलित है कि जो कोई मगहर में मृत्यु को प्राप्त होता है, वह नरक का भोग करता है । कबीर इस मान्यता को अन्ध विश्वास मानते थे और इसी कारण उन्होंने इसके विरुद्ध आवाज उठाई थी । प्रस्तुत पद में वह मगहर में शरीर त्याग से स्वर्ग-लाभ की बात करते हैं । स्पष्टतः यह एक अंध विश्वास को एक अन्य अन्ध विश्वास के द्वारा मिटाने का प्रयत्न है । यदि मगहर में मरने पर नरक नहीं मिल सकता है, तो वहाँ मरने पर स्वर्ग की प्राप्ति क्यों कर सम्भव होगी ? सुधारक गण अन्ध विश्वास को हटाने के प्रयत्न में स्वयं अन्ध विश्वासों के शिकार बन जाते हैं । ऐसे व्यक्तियों के विषय में यह उक्ति सर्वथा सगत है कि "जिन लोगों ने कूड़ा साफ करना चाहा था, उनके नाम के कई घूरे और बढ गए हैं ।"

बात यह है कि शकराचार्य ने जब बौद्धों को आर्यावर्त से खदेडा, तो उन्होंने अपने अड्डे बिहार में स्थापित कर लिए और वहाँ उन्होंने वामाचार फैलाया इसी कारण वैदिक मतानुयायी महानुभाव मगध (बिहार) प्रदेश को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे थे । यथा—

लागाहि कुमुख बचन सुम कैसे । मगहँ गयादिक तीरथ जैसे

(रामचरितमानस, गोस्वामी तुलसीदास)

(v) मरै बनारसि—सामान्यतः यह विश्वास है कि काशी (बनारस, वाराणसी) शिवजी के त्रिशूल के ऊपर बसी हुई है । वहाँ मरने पर स्वर्ग की प्राप्ति होती है । अतः बहुत से व्यक्ति अन्त समय में काशी-वास करने के इच्छुक रहते हैं ।

सम्भवतः इस पद में 'काशी-करवट' की ओर संकेत है । काशी के एक कुएँ में एक आरा लगा हुआ था । अंध विश्वासी जनता उस कुएँ में गिरकर अपने

आपको इस आरे के नीचे कटवा देती थी क्योंकि उन्हें विश्वास था कि इस प्रकार वे स्वर्ग प्राप्ति के अधिकारी बनते थे । यह 'काशी करवट' कहलाती थी ।

आरा चलाने के कार्य नीचे ही नीचे गुप्त रूप से इस प्रकार होता था कि वह स्वचालित सा लगता था । इसका रहस्य खुलने पर अंग्रेजों ने इसको बन्द करा दिया ।

(३४६)

क्या ह्यँ तेरे न्हाई धोई ,

आतम राम न चीन्हां सोई ॥टेक॥

क्या घट ऊपरि मंजन कीये, भीतरी मैलि अपारा ।

राम नाम बिन नरक न छूटै, जे धौवै सौ बारा ॥

का नट भेष भगवां बस्तर, भसम लगावै लोई ॥

ज्यू दादुर सुरसरी जल भीतरि, हरि बिन मुक्ति न होई ॥

परहरि कांम राम कहि बौरे सुनि सिख बंधू मोरी ।

हरि कौ नाँव अभै पद दाता, कहै कबीरा कोरी ॥

शब्दार्थ—सोई=उसी । चीन्हा=पहचाना । नट=तमाशा करने वाला, नाटक का पात्र । भगवा बस्तर=गेरुआ वस्त्र । सिख=सीख, शिक्षा । कोरी=कोली, जुलाहा । अभै = अभय ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि वाह्याचार का त्याग करके राम के नाम का स्मरण करना चाहिए ।

भावार्थ—हे साधक, यदि तूने आत्माराम (आत्म-स्वरूप) को नहीं पहचाना है, तो तुम्हारे नहाने-घोने आदि वाह्याचार से क्या लाभ है ? जब अन्तःकरण में विषय वासनाओं का अपार मैल भरा हुआ है, तब ऊपर ऊपर से शरीर को स्नान कराने (धोकर साफ करने) से क्या लाभ हो सकता है ? भले ही कोई व्यक्ति सौ बार स्नान करके शरीर को धो डाले, परन्तु राम-नाम के बिना नरक (पाप कर्म के फल) से छुटकारा नहीं हो सकता है । लोग गेरुआ वस्त्र धारण करते हैं और भस्म लगाते हैं, परन्तु इस प्रकार नाटक के पात्र की तरह विभिन्न वेश धारण करने से क्या लाभ हो सकता है ? जैसे मेढक सदैव गंगा जल के भीतर रहता है, परन्तु केवल गंगा जल में ही रहने के कारण उसकी मोक्ष [नहीं ही जाती है, इसी प्रकार केवल गंगा स्नान करते हुए ही प्रभु के नाम स्मरण बिना मनुष्य की मुक्ति सम्भव नहीं है । हे भाई ! तुम मेरी शिक्षा मान लो, हे पागल ! तू विषय वासना का त्याग करके राम-नाम कहो । जुलाहा कबीर का निश्चित मत है कि हरि का नाम-स्मरण अभय पद-परम पद-का देने वाला है ।

अलंकार—(i) वक्रोक्ति—क्या है—पारा ।

(ii) निदर्शना की व्यजना—राम नाम " ...लोई ।

(iii) उपमा—ज्यू' दादुर'... ' होई ।

विशेष—(1) बाह्याचार का विरोध व्यक्त है ।

(11) 'कोरी' शब्द मे व्यजना है । जुलाहो को तुच्छ समझने वाले सवर्ण वर्ग से कबीर कहते हैं कि जिस समुदाय को तुम तुच्छ समझते हो, उसी 'कोली' वर्ग मे उत्पन्न कबीर तुम्हारे सम्मुख एक महान् सत्य को प्रकट कर रहा है ।

(३४७)

पाँणी थै प्रगट भई चतुराई,

गुर प्रसादि परम निधि पाई ॥टेक॥

इक पांणीं पाणीं कूँ धोवै, इरू पांणीं पांणी कूँ मोहै ॥

पांणी ऊंचा पांणी नीचा, ता पांणी का लीजै सीचा ॥

इक पांणी थै प्यड उपाया, दास कबीर रांम गुण गाया ॥

शब्दार्थ—पाणी=जल, लक्षण से प्रभु, भगवान को नारायण कहते हैं (नार=जल) । चतुराई=ज्ञान । प्यड=शरीर । उपाया=उत्पन्न किया ।

सदर्भ—कबीरदास प्रभु की महिमा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—प्रभु रूप जल से ही ससार का समस्त ज्ञान उत्पन्न हुआ है । इस परम ज्ञान रूपी खजाने को मैंने गुरु की कृपा से प्राप्त किया है । भक्ति रूपी जल विषय-वासना रूपी जल के मैल को नष्ट कर देता है, माया रूपी जल जीवात्मा रूपी जल को मोहित करता है । जल ही ऊपर है, जल ही नीचे है । अथवा ज्ञान रूप होकर जल ही व्यक्ति को उच्च पद प्रदान करता है और माया रूप होकर वही जल व्यक्ति को पतन के गर्त में गिरा देता है । इसी सर्वव्यापी परम तत्व रूपी जल के द्वारा अपने अन्तःकरण को अभिसिंचित करना चाहिए । पानी (वीर्य) की एक वूद मात्र से इस शरीर की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार जल की महिमा को सन्मत्त करके कबीर जल रूप प्रभु का गुणगान करता है ।

अलकार—यमक—एक ही शब्द 'पाणी' को विभिन्न प्रतीकार्थ होने के कारण ।

(३४८)

भजि गोब्यंद भूलि जिनि जाहु,

मनिसा जनम कौ एही लाहु ॥टेक॥

गुर सेवा करि भगति कमाई, जौ तै मनिषा देही पाई ॥

या देही कूँ लौचै देवा, सो देही करि हरि की सेवा ॥

जब लग जुरा रोग नही आया, तब लग काल ग्रसै नहिं काया ॥

जब लग हीण पड़ै नही बांणी, तब लग भजि मन सारगपांणी ॥

अब नहिं भजसि भजसि कब भाई, आवैगा अत भज्यौ नहिं जाई ॥

जे कछू करौ सोई तत सार, फिरि पछितावोगे वार न पार ॥

सेवग सो जो लागै सेवा, तिनहीं पाया निरजन देवा ॥
 गुर मिलि जिनि के खुले कपाट, बहुरि न आवै जोनीं बाट ॥
 यहु तेरा औसर यहु तेरी बार, घट ही भीतरि सोचि विचारि ॥
 कहै कबीर जीति भावै हारि, बहु विधि कह्यौ पुकारि पुकारि ॥

शब्दार्थ—मनिखा=मनुष्य । लाहु=लाभ । लौचौ - ललकते हैं, चाहते हैं ।
 जुरा=वृद्धावस्था । हीण=हीन, दुर्बल, क्षीण । सारग पाणी = हाथ मे धनुष धारण
 करने वाला, श्री राम । जोनी बाट=जन्म के रास्ते ।

सन्दर्भ—कबीरदास भगवद् भक्ति करने के लिए पुकार-पुकार कर कहते हैं ।

रे मानव, तुम भगवान का भजन करो । इस बात को भूल मत जाओ ।
 मनुष्य जन्म का यही लाभ है । जब तुम्हे मानव शरीर प्राप्त हो गया है, तो इससे
 गुरु की सेवा करो और प्रभु-भक्ति का उपार्जन करो । जिस मानव शरीर के देवता
 भी अभिलाषी हैं, वह तुम्हे प्राप्त है । इस मानव-शरीर के द्वारा भगवान की सेवा
 करो । जब तक तुमको वृद्धावस्था सम्बन्धी रोग नहीं घेरते हैं, इस शरीर को काल
 नहीं ग्रसता है और तुम्हारी शक्ति क्षीण नहीं होती है, उससे पहले मन को
 भगवान राम के भजन में लगा दो । यदि तुम अब (शरीर के स्वस्थ रहते हुए)
 भगवान का भजन नहीं करोगे तब फिर हे भाई ! तुम उनका भजन कब करोगे ?
 अतकाल आने पर तुमसे भगवान का भजन नहीं किया जा सकेगा । इस समय जो
 कुछ कर लोगे, वही सार है—वही तुम्हारी सच्ची कमाई है । इस समय भजन
 करने पर तुमको बाद में ऐसा घोर पश्चात्ताप होगा जिसकी कोई सीमा नहीं होगी ।
 सच्चा भक्त वही है जो भट भक्ति में लग जाए । जो अविलम्ब (अभी और कहीं)
 प्रभु-भक्ति में लग जाते हैं, उन्हीं को माया रहित प्रभु (निरजन) की प्राप्ति होती
 है । सद्गुरु के साक्षात्कार (गुरु के उपदेश) द्वारा जिनके ज्ञान-कपाट खुल गए हैं,
 जिन्हे ज्ञान की प्राप्ति हो गई है, वे फिर इस जन्म-मरण के चक्कर में नहीं पडते
 हैं । हे मनुष्य ! तुम्हें स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ है । मोक्ष-साधन के लिए यही तेरी
 बारी है—चौरासी लाख योनियाँ भोगने के बाद 'साधन-घाम मोक्ष कर द्वार' मानव
 शरीर में आने को तुम्हारी बारी आई है । इस बात को तुम अपने मन में अच्छी
 तरह सोच-समझ लो । कबीर कहते हैं कि राम भजन के द्वारा मोक्ष प्राप्त करके
 चाहे तो तुम अपनी इस बारी (दाँव) को जीत लो अथवा भजन की उपेक्षा करके
 और मोक्ष को गँवाकर इस दाँव को हार जाओ । कबीर कहते हैं कि मैंने तो बार-
 बार पुकार कर तुम्हें चेतावनी देकर अपना कर्तव्य पूरा कर दिया है ।

अलंकार - (i) गूढोक्ति—भजसि कब भाई ।

(ii) पदमैत्री—सार वार पार ।

(iii) रूपकातिशयोक्ति—कपाट ।

(iv) रूपक—जोनी बाट ।

(v) पुनरुक्ति प्रकाश—पुकारि पुकारि ।

विशेष—समभाव के लिए गोस्वामी तुलसीदास का यह कथन देखिए—

बड़े भाग मानुष तन पावा । सुर नर मुनि सद्ग्रन्थन गावा ।

× × ×

नर तन सम नाहि कवनिउ देही । जीव चराचर जाचत तेही

नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी । ग्यान विराग भगति सुभ देनी ।

सो तनु धरि हरि भर्जहि न जे नर । होहि विषय रत मद मद तर ।

कांच किरिच बदलें ते लेहीं । कर ते डारि परस मनि देहीं ।

(रामचरितमानस)

तथा—हरि, तुम बहुत अनुग्रह कीन्हो ।

साधन-धाम विबुध-दुरलभ तनु, मोहि कृपा कर दीन्हो । (विनयपत्रिका)

(३४६)

ऐसा ग्यांन बिचारि रे मनां,

हरि किन सुमिरे दुख भजनां ॥टेक॥

जब लग मैं मैं मेरी करै, तब लग काज एक नही सरै ॥

जब यहु मैं मेरी मिटि जाइ, तब हरि काज सवारै आइ ॥

जब लग स्यध रहै बन मांहि, तब लग यहु बन फूलै नांहि ॥

उलटि स्याल स्यध कूं खाइ, तब यहु फूलै सब बनराइ ॥

जीत्या डूबै हाग्या तिरै, गुर प्रसाद जीवत ही मरै ।

दास कबीर कहै समझाइ, केवल राम रहौ ल्यौ लाइ ॥

शब्दार्थ - भजना = नष्ट करने वाला । सरै = सिद्ध हो गया । स्यध = शेर अहकार । फूलै = भक्ति-भावना का उदय । स्याल = चेतन । मरै = जीवनमुक्त ।

सन्दर्भ—कबीरदास अहकार का त्याग करके राम भक्ति का उपदेश देते हैं ।

भावार्थ - रे मन, तू मन में ऐसा विवेक धारण करता है । जिससे दुखी का नाश करने वाले प्रभु का भजन होने लगे ? जब तक 'मैं' और मेरी (अहभाव) में लिप्त रहोगे, तब तक तुम्हारा एक भी कार्य सिद्ध नहीं होगा । जब यह 'मैं' और 'मेरी' की भावना समाप्त हो जाएगी, तब भगवान स्वयं आकर तुम्हारे समस्त कार्य पूरे कर देंगे । जब तक अन्तःकरण रूपी वन में अहकार रूपी शेर का निवास रहता है, तब तक इस अन्तःकरण रूपी वन में भक्ति-भावना के फूल विकसित नहीं हो सकेंगे । जब शुद्ध बुद्ध चैतन्य इस अह रूपी सिंह को समाप्त कर देगा, तभी यह अन्तःकरण रूपी वन ज्ञान और भक्ति को फूलों से युक्त हो जाएगा । इस दशा की प्राप्ति होने पर परिस्थिति एक दम बदल जाएगी । आज तक जिस अहकार ने चैतन्य को दबा रखा था, वह अब सदा-सर्वदा के लिए नष्ट हो जाएगा और जो चैतन्य अहकार द्वारा पराभूत था, वह अब सदा-सर्वदा के लिए मुक्त हो जाएगा । इस समय साधक गुरु की कृपा प्राप्त करके जीवनमुक्त हो जाता है । कबीरदास समझा

कर कहते हैं कि इसीलिए हे जीव, तुम भगवान मे निरन्तर अपनी लौ लगाए रहो ।
(यही कल्याण का मार्ग है)

अलंकार—(i) रूपकातिशयोक्ति—स्यध, वन, स्याल ।

(ii) गूढोक्ति—किन सुमिरै ।

(iii) विरोधाभास—उलटि स्याल 'खाइ; जीत्या, तिरै, जीवत ही मरै ।

विशेष—(i) नाथ पथी प्रतीको का प्रयोग है ।

(ii) यह पद उलटवाँसी की शैली पर रचित है ।

(iii) 'अहकार' के रहते हुए प्रभु कैसे आ सकते है ? प्रेम-गली अत्यन्त सकरी है । इसमे 'मैं' और 'तू' मे एक ही रह सकता है ।

प्रेम गली अति साँकरी तामे दो न समाँय ।

रहिमन भरी सराइ लखि लौट मुसाफिर जाय ।

(३५०)

जागि रे जीव जागि रे ।

चोरन कौ डर बहुत कहत हैं, उठि उठि पहरै लागि रे ॥टेका॥

ररा करि टोप मसां करि बखतर, ग्यान रत्न करि षाग रे ।

ऐसै जौ अजराइल मारै, मस्तकि आवै भाग रे ॥

ऐसी जागणीं जे को जागै, ता हरि देइ सुहाग रे ।

कहै कबीर जाग्या ही चाहिये, क्या गृह क्या बैराग रे ॥

शब्दार्थ—बखतर = कवच । वाग = खड्ग, तलवार । अजराइल = अजराइल = मृत्यु का देवदूत ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि व्यक्ति को सदैव विवेकपूर्ण आचरण करना चाहिए ।

भावार्थ—रे जीव, जागो, जाग जाओ । इस जीवन मे (काम क्रोध, लोभ, मोह मत्सर) रूपी चोरों का डर बहुत कहा जाता है । इसलिए तू उठ और उठकर पहरा लगा जिससे बोध वृत्ति रूपी धन की रक्षा होती रहे ।) इसके लिए तू राम के नाम का इस प्रकार महारा ले—रकार का शिरस्त्राण बना तथा मकार का कवच बना । ज्ञान रूपी रत्न की तलवार बनाले । इससे अज्ञान रूपी मृत्यु के देव दूत पर तुम ऐसा वार करो कि अहकार-रूपी उसका मस्तक पर तुम्हारा अधिकार हो जाए । ऐसी जाग मे जो कोई जागता है अर्थात् जाग कर जो कोई इस प्रकार सावधान रहता है, उन पर भगवान अपने सौभाग्य की कृपा करते हैं । तात्पर्य यह है कि जो आत्मा-सुन्दरी इस प्रकार की ज्ञानावस्था को प्राप्त करती है, उसको भगवान पति रूप मे प्राप्त होने हैं अर्थात् आत्मा का परमात्मा मे, सान का अनन्त मे तय हो जाता है । कबीर कहते हैं कि चाहे व्यक्ति गृहस्थ हो अथवा विरक्त, उसको सदैव विकार रूपी चोरो के प्रति सावधान रहना ही चाहिए ।

- अलंकार—(1) पुनरुक्ति प्रकाश — प्रथम पक्ति । उठि उठि ।
 (II) रूपकातिशयोक्ति चोट ।
 (III) रूपक—ररा..... षाग रे ।
 (IV) गूढोक्ति—क्या गृह रे ।

विशेष—(1) ररा रे—राम-नाम की महिमा का प्रतिपादन है ।

(II) अजराईल मारै—इस्लामी सस्कारो का प्रभाव है ।

(III) देह सुहाग रे — रहस्यवाद का प्रभाव है ।

(IV) समभाव के लिए देखे—

(क) जतन विनु मिरगनि खेत उजारे ।

× ×

अपने अपने रस के लोभी, करतब न्यारे-न्यारे ।

× ×

बुधि मेरी किरषी, गुरु मेरी बिभुका अक्खर दोइ रखवारे ।

एवं तोरी गठरी में लागे चोर, बटोहिवा कारे सोवै ।

पांच-पचीस तीन हैं चोखा, यह सब कीन्हा सोर । —कबीरदास

(ख) शकराचार्य ने भी इन मानवीय दुष्प्रवृत्तियों को डाकू कहा है, जो ज्ञान रूपी रत्न को लूटती रहती हैं—

काम क्रोधश्च लोभश्च, देहे तिष्ठान्ति तस्करा ।

ज्ञान रत्नापहाराय तस्याज्जागृत, जागृत ।

(ग) मै केहि कहौं विपति अति भारी । श्री रघुबीर घोर हितकारी ।

मम हृदय भवन प्रभु तोरा । तहँ बसे आइ बहु चोरा ।

× ×

तम, मोह, लोभ, अहकारा । मद, क्रोध बोध-रिपु मारा ।

अति करहि उपद्रव नाथा । मरदाहि मोहि जानि अनाथा ।

मै एक अमिट बटपारा । कोऊ सुनै न मोर पुकारा ।

× × ×

कह तुलसीदास सुनु रामा । लूटाहि तसकर तब घामा ।

(गोस्वामी तुलसीदास विनयपत्रिका)

(३५१)

जागहु रे नर सोवहु कहा,

जम बटपारै रुंधै पहा ॥टेक॥

जागि चेति कछू करौ उपाइ, मोटा बैरी है जमराइ ॥

सेत काग आये बन मांहि, अजहू रे नर चेतै नांहि ॥

कहै कबीर तबै नर जागै, जम का उड़ मूंड मै लागै ॥

शब्दार्थ— बटपारै = बटमार, लुटेरे । पहा = पथ । मोटा = बड़ा । सत = श्वेत । डड = डडा ।

संदर्भ — कबीर जीव को मोह निद्रा का त्याग करने को कहते हैं ।

भावार्थ—रे मानव, तुम जाग जाओ, इस अज्ञान-निद्रा में क्यों सो रहे हो ? यमरूपी लुटेरे ने तुम्हारे जीवन-पथ को रोक रखा है । (वह चाहे जब तुम्हें लूट लेगा) । जाग कर तथा सचेष्ट होकर अपने जीवन के संरक्षण का कुछ उपाय करो । यमराज तुम्हारा बहुत बड़ा शत्रु है । तुम्हारे इस जीवन रूपी वन में श्वेत बाल रूपी श्वेत काग आगए हैं, जो तुम्हारे नाश के सूचक है । हे मानव ! तुम अब भी सावधान क्यों नहीं होते हो ? कबीर कहते हैं कि मानव तब होश में आता है जब यमराज का डडा सिर पर बजने लगता है ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति—सोवहु कहा ।

(2) रूपक—जम बटपारै ।

(3) रूपकातिशयोक्ति—सेत काग, वन ।

विशेष—(1) डड मू ड में लागै— लोकोक्ति का प्रयोग ।

(2) वन में श्वेत काँओ का आना अत्यन्त अशुभ माना जाता है । वह नाश-सूचक होता है ।

(३५२)

जाग्या रे नर नींद नसाई,

चित चेत्यौ च्यंतामणि पाई ॥टेक॥

सोवत सोवत बहुत दिन बीते, जन जाग्यां तसकर गये रीते ।

जन जागे का ऐसहि नाण, विष से लागै वेद पुराण ॥

कहै कबीर अब सोवौं नांहि, राम रतन पाया घट मांहि ॥

शब्दार्थ—नसाई = नष्ट करके । च्यतामणि = रामनाम रूपी चिंतामणि । तसकर = चोर, लुटेरे । रीते = खाली हाथ । नाण = लक्षण ।

संदर्भ—पूर्व पद के समान ।

भावार्थ—रे मानव, अज्ञान की नींद समाप्त करके अब जाग जाओ । मन में विवेक धारण करो । तुमको भगवन्नाम रूपी चिन्तामणि की प्राप्ति होगी । तुम्हें इस अज्ञान-निद्रा में सोते हुए बहुत समय व्यतीत होगया है । मानव के जगते ही काम-क्रोधादि रूपी चोर खाली हाथ ही भाग जाते हैं । जागे हुए (ज्ञानी) मनुष्य का यही लक्षण है कि उसे वेद-पुराण भी विष के समान (व्यर्थ) प्रतीत होने लगते हैं । कबीर कहते हैं कि मुझे तो अपने अन्तःकरण में राम-नाम रूपी रत्न की प्राप्ति होगई है । अब मैं तो अज्ञान के वशीभूत होकर नहीं सोऊँगा ।

अलंकार—(1) अनुप्रास—नट नींद नसाई । चित चेत्यौ च्यतामणि ।

(2) रूपकातिशयोक्ति—च्यतामणि ।

(3) पुनरुक्ति प्रकाश—सोवत सोवत ।

(iv) चपलातिशयोक्ति की व्यजना - जन जाग्या रीते ।

(v) उपमा—विष से .. पुराण ।

(vi) रूपक—राम रतन ।

विशेष—(1) विष . पुराण—वेद-पुराण इत्यादि ज्ञान प्राप्ति के साधन मात्र हैं । सिद्धावस्था में उनकी निरर्थकता स्वयं सिद्ध है । इस कथन के ऊपर अविद्यावत् विषयाणि सर्वशास्त्राणि का प्रभाव स्पष्ट है ।

(ii) अन्तिम पक्ति में 'सोवौ' का पाठान्तर "सोबी" है । अर्थ होगा— अब सोना नहीं है अर्थात् अब तुम मत सोओ । यह अर्थ भी सगत एव प्रसगानुकूल है ।

(iii) समभाव के लिए देखें—

अब लौं नसानी, अब न नसैहों ।

×

×

पायीं नाम चाह चिंतामनि, डट कर ते न खसैहों ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(३५३)

सतनि एक अहेरा लाधा,

मिर्गनि खेत सबनि का खाधा ॥टेक॥

या जगल मै पांचौ मृगा, एई खेत सबनि का चरिगा ॥

पारधीपनों जे साधे कोई, अध खाधा सा राखै सोई ॥

कहै कबीर जो पचौं मारै, आप तिरै और कूं तारै ॥

शब्दार्थ—अहेरा = शिकार । लाधा = प्राप्त किया । मिर्गनि = मृगो ने

खाधा = खा डाला । पारधीपना = शिकारीपना ।

सन्दर्भ—कबीर का कहना है कि इन्द्रियो को वश में करने वाला भवसागर के पार जा सकता है ।

भावार्थ—सतो को एक शिकार प्राप्त होगई है । मृगो (काम-क्रोधादि अथवा पाँचो इन्द्रियो के विषयो) ने सब लोगो के जीवन-रूपी खेत चर डाले है । इस ससार रूपी जगल में पाँच मृग (उपर्युक्त अनुसार) हैं । इन्होंने ही समस्त प्राणियो के जीवन-रूपी खेतो को चर लिया है । जो कोई व्यक्ति इन मृगो को मारने के लिए शिकारीपना धारण करते हैं, वह इन मृगो के आधे खाए हुए जीवन-रूप खेत की रक्षा कर लेता है । कबीर कहते हैं कि जो पाँचो विकारो एव पाँचो इन्द्रियो के विषयो को समाप्त कर देता है, वह स्वयं ही भवसागर के पार हो जाता है और अन्य लोगो को भी पार करा देता है ।

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति—मृग खेत ।

(ii) सागरूपक—खेत और जीवन के रूपक का निर्वाह है ।

विशेष—(1) पारधीपनों जे साधे—विषयासक्ति पर नियन्त्रण के अनुपात में ही साधक का कल्याण होता है ।

(11) समभाव के लिए देखे—

जतन बिनु मिरगनि खेत उजारे ।

टारे टरत नहीं निसि-वासुरि, बिडरत नही बिडारे ।

अपने-अपने रस के लोभी, करतब न्यारे-न्यारे ।

×

×

बुधि मेरी किरषी, गुरु मेरो बिभुका अखिर दोइ रखबारे ।

(कबीरदास)

(३५४)

हरि कौ बिलौवनो बिलोइ मेरी माई,

एसें बिलोइ जैसे तत न जाई ॥टेक ॥

तन करि मटकी मनहि बिलोइ, ता मटकी मै पवन समोइ ॥

इला प्यगुला सुषमन नारी, बेगि बिलोइ टाढी छछिहारी ॥

कहै कबीर गुजरी बौरांनी, मटकी फूटीं जोति समांनी ॥

शब्दार्थ—विलोवना=विलोने की वस्तु । छछिहारी=छाछ लेने वाली नारियाँ । गुजरी=गूजरी ।

सन्दर्भ—कबीर आत्मा को सम्बोधित करके ज्ञान प्राप्ति की बात करते हैं ।

भावार्थ—हे सखि, तुम इस जीवन-रूपी विलोवने को भगवान का समझ कर उन्ही के लिए विलाओ । परन्तु इस प्रकार विलोओ कि सारवस्तु (मखन रूपी तत्त्व) नष्ट न हो जाए । इस शरीर रूपी मटको मे मन रूपी दही को विलोओ । उस मटकी मे प्राणायाम रूप जल समो दो । इसको जल्दी-जल्दी विलोओ । छाछ लेने वाली इडा, पिंगला और सुषुम्ना रूपी नारियाँ खडी हुई प्रतीक्षा कर रही हैं । कबीर कहते हैं कि जीवात्मा रूपी गूजरी इस विलोने की क्रिया मे आत्मविस्मृत हो गई । फलस्वरूप यह मटकी फूट गई—शरीर के बन्धन समाप्त होगये और उसकी आत्म चेतना रूपी ज्योति उस महान ज्योति के साथ एकाकार होगई । सात का अनन्त मे लय होगया ।

अलंकार—सागरूपक—जीवन से भक्तिरस प्राप्त करने और दही विलोने के रूपक का निर्वाह है ।

(11) रूपकातिशयोक्ति—विलोवनो ।

विशेष—(1) हरि को विलौवनो—ईश्वरार्पण बुद्धि से जीवन-यापन करो ।

(2) तत—ज्ञान और भक्ति रूपी महारस ।

(3) पवन समोइ—जैसे दही मे मिलाया हुआ जल घी को दही से अलग कर देता है, वैसे ही प्राणायाम के प्रभाव से मन की वासनाओ का खट्टापन दूर हो जाता है, और उसमे भगवद् प्रेम की स्निग्धता प्रमुख हो जाती है ।

(4) छछिहारी—इडा पिंगला एव सुषुम्ना की चर्चा कायायोग के अन्तर्गत

की जाती है। इन्हे छद्दिहारी वहने का कारण यह है कि कायायोग में तत्त्वरूप महारस की प्राप्ति नहीं हो पाती है। वह चैतन्य के साक्षात्कार का विषय है, परन्तु इतना रस तो मिल ही जाता है, जितनी स्निग्धता मठे में होती है। अभिप्रैत यह है कि इस महारस के स्पर्श से तीनों नाडियाँ स्निग्ध एवं पातिल साधना रस से आप्लावित अवश्य हो जाती हैं।

(v) इस पद में ज्ञान एवं भक्ति के महारस की प्राप्ति का वर्णन है। इस महारस की साधना में कायायोग की सिद्धि तथा तृप्ति भी स्वयमेव हो ही जाती है। इसके साथ ही भक्ति का पर्यवसान अद्वैतावस्था अभेद बुद्धि में होता है। यह मटकी फूटी ज्योति समानी कथन द्वारा प्रकट है।

(vi) इसमें ज्ञान और भक्ति की अभिन्नता प्रकट है।

(vii) कबीर ने आत्मा को गूजरी इसलिए कहा है कि अहीर और गूजर जाति का मुख्य व्यवसाय गाय-भैंस पालकर दूध-घी का व्यापार करना है।

(३५५)

आसन पवन किये दिढ रहु रे,

सन का मैल छाडि दै वीरे ॥टेक॥

क्या सोगी मुद्रा चमकाये, क्या विभूति सब अगि लगायें ॥

सो हिंदू सो मुसलमान, जिसका दुरस रहै ईमान ॥

सो ब्रह्मा जो कथै ब्रह्म गियांन काजी सो जानै रहिमान ॥

कहै कबीर कछु आंन न कीजै राम नाम जपि लाहा लीजै ॥

शब्दार्थ—आसन=योग के अष्टांग साधनों में एक। पवन=प्राणायाम दिढ=दृढ। वीरे=वावले। सोगी=श्रुगी, योगियों द्वारा धारण किया जाने वाला उपकरण विशेष। मुद्रा=योगियों का एक आभूषण। दुरषद=दुरुस्त, ठीक, दृढ। काजी=मुसलमान न्यायाधीश जो शरा के अनुसार मामलों का निर्णय करे। रहिमान=दयालु प्रभु। आन=अन्य साधना। लाहा=लाभ, जीवन का लाभ।

सदर्भ—कबीर राम नाम की महिमा का प्रतिपादन करते हैं।

भावार्थ—हे पागल जीव, पवन रूपी आसन पर दृढतापूर्वक स्थित रहो अर्थात् तू समाधिस्थ होकर प्राणायाम की दृढ साधना करो और मन का कलुष दूर करलो। सोगी, मुद्रा आदि बाहरी उपकरणों के सजाने से तथा अगो (शरीर) पर भस्म लगाने से क्या होता है? सच्चा हिन्दू और सच्चा मुसलमान वही है, जिसका ईमान ठीक ठिकाने बना रहता है अर्थात् जो प्रलोभनों द्वारा विचलित नहीं होता है। वही ब्राह्मण है जो ब्रह्मज्ञान की बात करता है। वही काजी (धर्म और न्याय का ज्ञाता) वही है जो भगवान के दयालु स्वरूप को पहचानता है अर्थात् जो प्रत्येक मामले पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करता है। कबीर कहते हैं कि और कुछ भी मत करो, केवल राम नाम की जप करके जीवन का लाभ प्राप्त करो अर्थात् जीवन को सार्थक बनाओ।

अलंकार—रूपक—आसण पवन ।

(11) वक्रोक्ति—क्या सीगी..... लगाये ।

विशेष (1) धार्मिक वाह्याचार, विधि-विधान आदि केवल आडम्बर हैं । ये व्यर्थ हैं ।

(11) कबीर का कहना है कि अपने प्राणों पर नियन्त्रण रख कर स्व-स्वरूप का साक्षात्कार करना चाहिए । इस प्रकार ज्ञान और भक्ति में, शुद्ध चैतन्य स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना चाहिए । ऐसी स्थिति में अपने सहज धर्म में प्रतिष्ठित रहने पर पूजा और साधना के बाहरी उपचारों की आवश्यकता नहीं रहती है ।

(३५६)

ताथे कहिये लोकाचार,

वेद कतेबक थै व्यौहार ॥टेक॥

जारि वारि करि आवै देहा, मूवाँ पीछे प्रीति सनेहा ॥

जीवत पित्रहि मारहि डंगा, मूवाँ पित्र ले घालै गगा ॥

जीवत पित्र कूं अन न खावै, मूवाँ पाछे प्यड भरावै ॥

जीवत पित्र कूं बोलै अपराध, मूवाँ पीछे देहि सराध ॥

कहि कबीर सोहि अचिरज आवै, कऊवा खाइ पित्र क्यू पावै ॥

शब्दार्थ—कतेव=कुरान, धर्म ग्रन्थ । मूवाँ=मरे । डगा=डडा । छाले=फेकते हैं ।

सन्दर्भ—कबीरदास कहते हैं कि वाह्याचार केवल दम्भ प्रेरित होते हैं ।

भावार्थ—वेद और कुरान लौकिक आचरण का वर्णन करते हैं । इस कारण उनकी बातों को मात्र लोकाचार कहा जाना चाहिए । व्यक्ति अपने सम्बन्धियों के मृत शरीर को जलाकर उसका चिन्ह तक मिटा देते हैं और फिर उसके बाद रो-पीट कर उसके प्रति अपनी प्रीति प्रकट करते हैं । पुत्र जीवित पिता को लट्टु से मारता है और मरने पर उसकी अस्थियों को गंगा के जल में डालने के लिए पहुँचता है । वह जीवित पिता को तो भोजन भी नहीं देता है और मरने पर उसकी वृभुक्षा की शान्ति करने के लिए पिण्डदान का दिखावा करता है । जीते जी पिता को अनेक दोष देता है (और उसके प्रति कटु शब्द कहता है) और मरने पर श्राद्ध के नाम पर श्रद्धा की अभिव्यक्ति का स्वाग करता है । कबीरदास कहते हैं कि इन समस्त वाह्याचारों को देख कर मुझको आश्चर्य होता है । कौए श्राद्ध के जिस अन्न को खाते हैं, उसे पितृ-गण क्यों कर प्राप्त कर सकते हैं ?

अलंकार—(1) पदमैत्री—जारि वारि ।

(11) वक्रोक्ति—कऊवा पावै ।

विशेष—(1) मच्चि भावना में रहित कर्म काण्ड का खडन है ।

(11) कबीर ने यह नहीं विचार किया कि जो पुत्र जीवित पिता की पूरी श्रद्धा-भक्ति से सेवा करता है, वह यदि उसके मरने पर श्राद्ध आदि करता है, तो

वह सर्वथा उपयुक्त एव सगत है । कबीर वस्तुतः ऐसे ब्रह्म में उत्पन्न हुए थे जहाँ वेदाध्ययन कोसो नहीं दिखाई देता है । इसी कारण वह वेदों द्वारा प्रतिपादित धर्म-तत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर पाए । वह स्थूल रूप के परे पदार्थ के सूक्ष्मरूप का चिन्तन करने का अवसर ही न पा सके थे ।

(11) जीवन • गगा—कबीर के इस कथन पर सम्भवतः इस प्रकार की लोकोक्तियों का प्रभाव है—

“मरे बबा की बड़ी-बड़ी अखियाँ” अथवा ‘जियत बाप से लट्ठमलट्ठा । मरे बाप की सिट्टम सिट्टा ।’

(३५७)

बाप राम सुनि बीनती मेरी,

तुम्ह सँ प्रगट लोगनि सँ चोरी ॥टेक॥

पहले काम मुगध मति कीया, ता भै कपै मेरा जीया ॥

राम राइ मेरा कह्या सुनीजै, पहले बकसि अब लेखा लीजै ॥

कहै कबीर बाप राम राया, अबहूँ सरनि तुम्हारी आया ॥

शब्दार्थ—मुगध मति=मोहित बुद्धि । बकस=क्षमा । लेखा=ब्यौरा, हिसाब ।

संदर्भ—कबीर भगवान से अपने कृत्यों के लिए क्षमा याचना करते हैं ।

भावार्थ—हे पिता राम, मेरी प्रार्थना सुन लीजिए । मैं अन्य लोगों से तो अपने अपराधों को छिपाता हूँ, परन्तु तुम्हारे सम्मुख वे प्रकट हैं । पहले काम ने मेरी बुद्धि को मोहित कर रखा था, और मैंने मूर्खता के कार्य किए । इसी कारण आपके सामने आते हुए मेरा हृदय कापता है (मुझे डर लगता है) । हे राजा राम आप मेरी विनती सुन लीजिए । पहले आप मेरे अपराधों को क्षमा कर दें और उसके बाद मेरे द्वारा किए गए कर्मों का हिसाब-किताब लगाइए । अब तो आपकी शरण में आ गया हूँ ।

अलंकार—श्लेष—काम मुगधमति ।

विशेष—(1) दैन्य की मार्मिक व्यंजना है ।

(11) प्रपत्ति एवं शरणागति की सहज भाव से अभिव्यक्ति है ।

(111) ‘बाद’ में ग्राम्यत्व बोध है ।

(३५८)

अजहूँ बीच कैसे दरसन तोरा,

बिन दरसन मन मानै क्यूँ मोरा ॥टेक॥

हमहि कुसेवग क्या तुम्हहि अजांनां, दुह मैं दौस कहौं किन रांमां ॥

तुम्ह कहियत त्रिभवन पति राजा, मन बछित सब पुरवन काजा ॥

कहै कबीर हरि दरस दिखावौ, हमहि बुलावौ कैं तुम्ह चलि आवौ ॥

शब्दार्थ— बीच = अन्तर, भेद वृद्धि । अजाना = अपरिचित । पुरवन = पूरा करने वाले ।

सन्दर्भ— कबीर भगवान से भक्ति की याचना करते हुए कहते हैं ।

भावार्थ— हे प्रभु ! मेरे और आपके बीच में अभी भी अन्तर है । अर्थात् मैं और आप एकाकार नहीं हो पाए हैं । तब आपका दर्शन किस प्रकार हो ? परन्तु आपके दर्शनो के बिना भी मेरा हृदय व्याकुल है । मैं भी कुसेवक हूँ अथवा आप भी अज्ञ हैं— मेरी आन्तरिक भावनाओं से परिचित नहीं हैं ? दोनों ही में दोष है, हे राम, यह क्यों नहीं कहते हो ? तुम्हें तीनों लोको का स्वामी कहा जाता है और तुम मन की समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने में समर्थ हो । कबीरदास कहते हैं कि हे भगवान, आप मुझे अपने दर्शन दें । या तो मुझे अपने पास बुला लें अथवा आप स्वयं ही मेरे पास चले आएं ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति— कैसेँ " तोरा ।

(II) सदेह—कुसेवक क्या तुम्हहि अजाना ।

विशेष—आप या तो मुझमें अद्वैत-भावना जगाकर अपने आप में मुझे लवलीन कर लें अथवा ऐसी कृपा करें कि मुझे जीवन और जगत में सर्वत्र आपकी व्यक्त प्रवृत्ति का सरस आभास प्राप्त होने लगे । प्रकारांतर से भक्ति की याचना है ।

(३५६)

क्यूँ लीजै गढ़ बका भाई,

दोवर कोट अरु तेवर खाई ॥

कांस फिवाड़ दुख सुख दरबानी, पाप पुनि दरवाजा ।

क्रोध प्रधान लोभ बड़ दूंदर, मन मैं वासी राजा ॥

स्वाद सनाह टोप ममिता का कुबधि कमाण चढ़ाई ।

त्रिसना तीर रहे तन भीतरि, सुबधि हांथि नहीं आई ॥

प्रेम पलीता सुरति नालि करि, गोला ग्यान चलाया ।

ब्रह्म अग्नि ले दिया पलीता, एकै चोट ढहाया ॥

सत संतोष ले लरने लागे, तोरे दस दरवाजा ।

साध संगति अरु गुर की कृपा थै, पकरयौ गढ़ कौ राजा ॥

भगवत भीर सकति सुमिरण की, काटि काल की पासी ।

दास कबीर चढ़े गढ़ ऊपरि, राज दियौ अविनासी ॥

शब्दार्थ—क्यूँ = किस प्रकार । गढ़ = किला, शरीर । बका = टेढ़ा, दुर्गम कठिन । लीजै = विजय प्राप्त की जाए । दोवर = दोहरा अथवा द्वैत भाव । काठ = परकोटा, दीवाल । दोवर कोट = अन्नमय एवं प्राणमय कोष । तेवर = तिहरी । तेवर खाई = तीन खाइयाँ—मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोष अथवा तीन गुण । दरबानी = पहरेदारी । दूंदर = दृष्ट । मैंवासी = नायक, किलेदार । सनाह = मझाह = कवच । टोप = शिरमूत्राण । भगवत = भागवत कर्म । पासी = पाश ।

सन्दर्भ—कबीर हठयोगी साधना का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—रे भाई, इस कठिन शरीर रूपी किले पर किस प्रकार विजय प्राप्त की जाए ? इसको दो दीवाले तीन खाइयाँ घेरे हुए है । दो दीवाल और तीन खाई का अर्थ पंच कोष भी हो सकता है ओर "द्वैत भाव एव तीन गुण भी" हो सकता है । इस प्रकार यह पाँच आवरण वाला किला है । इसके काम रूपी किवाड हैं, सुख-दुख ही पहरेदार हैं तथा पाप और पुण्य इसके दरवाजे हैं । क्रोध यहा का प्रधान है और लोभ अपनी तृप्ति के लिए बहुत सघर्ष करता रहता है । मन रूपी नायक ही इस शरीर-रूपी दुर्ग का राजा है । इन्द्रिय-स्वाद ही इस किले के राजा का कवच है । उसने ममता का शिरस्त्राण पहन रखा है । मन-रूपी राजा ने कुबुद्धि का धनुष चढा रखा है । इसके शरीर रूपी तरकण में तृष्णा के तीर भर रहे हैं और इस किले में ढूढने पर भी सुबुद्धि नहीं मिलती है । इस दुर्ग को जीतने का उपाय यह है कि सुरति रूपी तोप की नाल में ईश्वर प्रेम का पलीता से ज्ञानाग्नि लगाकर मैंने आत्म-बोध का गोला चलाया और इस प्रकार 'ब्रह्माग्नि लेकर मैंने इस किले में पलीता लगाया और एक ही प्रहार से इस किले को ढा दिया (गिरा दिया) सत्य-निष्ठा एव सतोष की सेना को लेकर जब मैं लडने लगा, तब मैंने किले के दमो द्वार (नवद्वार शरीर के तथा ब्रह्मरन्ध्र) तोड डाले अर्थात् शारीरिक सीमाएँ समाप्त होकर आत्म-चेतना का विश्व चेतना में लय हो गया । साधु-सगति और गुरु की कृपा के सहारे मैंने अहकारी दुर्गपति मन को अपने वश में कर लिया । भागवत कर्मों की भीड तथा नाम स्मरण की शक्ति के द्वारा मैंने काल का बन्धन भी तोड दिया । भगवान के दास कबीर ने इस शरीर-रूपी गढ पर आक्रमण किया और अविनाशी भगवान ने उसको इसका राज्य दे दिया अर्थात् अमर पद प्रदान कर दिया ।

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति—गढ ।

(II) सागरूपक—सम्पूर्ण पद । शरीर और गढ के रूपक की निर्वाह है ।

(III) छेकानुप्रास की छटा—काम किवाड, पाप पुनि, मर मँवासी, स्वाद सनाह, कुबुद्धि कमाण । त्रिसिना तीर । प्रेम पलीता, गोला ग्यान, सत सतोष, दस दरवाजा, साध सगति, भगवत भीर, सकति सुमिरण, कटि काल ।

विशेष—(1) विषयी जीवन और ज्ञान एव भक्ति साधना का जीवन—दोनों का एक साथ वर्णन किया गया है ।

(II) काम-किवाड—इस शरीर की वृत्तियों एव विषयों के प्रति आकर्षण दोनों ही इच्छा द्वारा नियंत्रित होते हैं । इसी से 'काम' को किवाड कहा है ।

(III) दुख-सुख दरबानी—वृत्तियाँ सुखात्मक एव दुखात्मक होती हैं । सुख-दुख के आदेश से ही वृत्तियों के आने-जाने की कल्पना की गई है ।

(IV) पाप-पुनि दरवाजे—वृत्तियाँ पाप-पुण्य रूप हैं, अतः उनके ये दो दरवाजे हैं ।

(V) क्रोध-प्रधान—“कामात् सजायते क्रोध,” के अनुसार इच्छा की आपूर्ति क्रोध का हेतु है । अधिकांश इच्छाएँ पूरी नहीं हो पाती हैं । इसी से क्रोध की प्रधानता कही है ।

(VI) स्वाद सनाह—जीव इन्द्रियो के स्वाद द्वारा सदैव वशीभूत बना रहता है । फलस्वरूप आत्म-हित की बातों का उम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है । उपदेश के तीर स्वाद के कवच को पार नहीं कर पाते हैं ।

(VII) रोप-ममता—मानव का अह राग-द्वेष से इतना घिर जाता है कि उसके मस्तिष्क में विवेक की बात प्रवेश ही नहीं कर पाती है । ‘अह’ व्यक्ति का शिरो भाग है । इसकी रक्षा ‘ममत्व’ करता है । इसी से ‘ममता’ रूपी शिरस्त्राण कहा है ।

(VIII) एकै चोढ ढहाया—स्वरूप-स्थिति के कारण देहाध्यास छूट जाता है । यह अध्यास ही शरीर की जड़ है । अध्यास का नष्ट होना ही शरीर रूपी किले का ढह जाना है ।

(IX) ‘नालिकर’ के स्थान पर ‘हवाई’ पाठान्तर है । डा० माताप्रसाद गुप्त ने ‘हवाई’ को ही ठीक माना है । उनका कहना है कि, नालें कबीर के मरणा-नातर बाबर के साथ आई थी । ‘हवाई’ गोलो को फेंकने का एक यन्त्र होता था, जिसका उल्लेख इतिहास में नालो के प्रचलन के पूर्व पयाप्त मात्रा में मिलता है ।”

सुरति—देखें टिप्पणी पद सं० १६२ ।

(३६०)

रैनि गई मति दिन भी जाइ,

भवर उड़े बग बैठे आइ ॥टेक ॥

कांचै करवै रहै न पानी, हंस उड़्या काया कुमिलांनीं ॥

थरहर थरहर कपै जीव, नां जानू का करिहै पीव ॥

कऊआ उड़ावत मेरी बहियां सिरांनीं, कहै कबीर मेरी कथा सिरांनीं ॥

शब्दार्थ—रैनि = रात्रि, युवावस्था । दिन = वृद्धावस्था । बग = बगुला । करवै = मिट्टी का छोटा वर्तन, कछुआ । हंस = बोध । सिरानी = समाप्त हुई ।

सदभं—कबीरदास जीवात्मा रूपी पत्नी की परमात्मा रूपी पति से मिलन से पूर्व की मन स्थिति का वर्णन कर रहे हैं । उमका वर्णन एक ऐसी नवोढा के रूप में किया गया है जो प्रथम समागम भय के कारण प्रिय-मिलन में सकोच करती है ।

भावार्थ—यौवन रूपी रात्रि तो पति के वास्तविक स्वरूप के अज्ञान में व्यतीत हो गई । अब परिपक्वावस्था रूपी वृद्धापा भी कही इसी प्रकार व्यतीत न हो जाए । युवावस्था रूपी रात्रि के प्रतीक काले बालों रूपी भौरे तो उड़ गए हैं और वृद्धावस्था रूपी दिन के आगमन की सूचना देने वाले पर्वत केश रूपी बगुले

आ गए हैं। यह शरीर कच्ची मिट्टी के वर्तन (करुए) के समान है। इसमें जीवन रूपी पानी अधिक समय तक नहीं टिक पाता है। बोध रूप हस के निकल जाने पर यह शरीर रूपी कमल कुम्हला कर नाट हो जाता है जीवात्मा यह सब कुछ समझती हुई कहती है कि प्रिय समागम में सम्भाव्य कष्ट की कल्पना करके मेरा मन भय के कारण थर-थर काँपता है कि मिलने पर प्रियतम न मालूम मेरी क्या दुर्दशा करेगा ? परन्तु इतने पर भी मेरा मन प्रियतम के दर्शनो के लिए उत्सुक है। उनके आगमन की प्रतीक्षा में कौए उडाते-उडाते मेरी वाँहो में दर्द होने लगा है। परन्तु प्रियतम अभी तक नहीं आए हैं)। कबीरदास कहते हैं कि इस प्रकार जीवात्मा की कथा समाप्त होती है कि वह परमात्मा से मिलना तो चाहती है, परन्तु मिलन के लिए साधना करना चाहती है।

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति—रैनि, दिन, भवर, वग, कवै, हस।

(II) पुनरुक्ति प्रकाश—थर थर।

(III) श्लेष पुष्ठ रूपक—पानी।

विशेष—(1) 'करुवा उडावत'—यह एक लोक प्रचलित परम्परा है कि नारियाँ कौआ उडा कर अपने प्रियजन के आगमन के शकुन का विचार करती हैं।

(II) रहस्यवाद की मार्मिक व्यंजना है।

(III) सरल रूपको द्वारा हृदय स्पर्शी भाव-व्यजना की गई है। ऐसे पद कबीर के उत्कृष्ट के प्रमाण हैं,

(IV) कामासक्ति के इस भक्ति-पद में भक्ति-भावना एवं लौकिक प्रेम दोनों की रसावस्था की अनुभूति है।

(V) इस पद में मान्य साधक जीवन के क्रमिक विकास तथा उसके पारस्परिक समन्वय की सुन्दर व्यंजना है। इसमें साधना के जीवन का पूरा लोका-खोखा भी है। अभिप्रेत यह है कि साधक प्रायः पूरी निष्ठा एवं तत्परता के साथ साधना में रत नहीं होते हैं। वे 'कौवा' ही उडाते रहते हैं और उनका जीवन समाप्त हो जाता है। यदि अतिम पक्ति का यह अर्थ किया जाए कि हे प्रभु ! आप की प्रतीक्षा करते-करते मैं तो थक गई हूँ। अब मैं मरणासन्न हूँ, शीघ्र ही दर्शन दे दो, तब यह कथन एक भक्त का कथन हो जाएगा और इसमें सूफी पद्धति की विरह-व्यंजना मानी जाएगी। इस प्रकार इस पद में हमको ज्ञान, भक्ति और रहस्यवाद तीनों का सुन्दर समन्वय दिखाई देता है।

(३६१)

काहे कू भीति बनाऊ टाटी,

का जानूँ कहा परिहै माटी ॥टेक॥

काहे कू मदिर महल चिणाऊं, मूवां पीछे घड़ी एक रहण न पाऊ ॥

काहे कू छाऊं ऊंच उंचेरा, साढ़े तीनि हाथ घर मेरा ॥

कहै कबीर नर गरब न कीजै, जेता तन तेती भुइ लीजै ॥

शब्दार्थ—भीत=दीवाल । टाटी=परदा । इंचेरा=ऊँचहरा=ऊँचा घर, छते ।

संदर्भ—कबीर जीवन की क्षणिकता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—मैं दीवार अथवा परदा (ओट) किस लिए बनवाऊँ ? पता नहीं इस शरीर की मिट्टी कहा गिरेगी ? मैं मन्दिर और महल किस लिए बनवाऊँ ? मरने के बाद तो यह शरीर उनमें एक क्षण भी नहीं रहने पाएगा । ऊँची-ऊँची छते भी मैं किस लिए डालूँ । मेरा यह शरीर तो केवल साढ़े तीन हाथ लम्बा है । कबीरदास कहते हैं कि मनुष्य को इस शरीर के प्रति अभिमान एवं ममता करके व्यर्थ बहुत स्थान घेरने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए; गुजर भर के लिए जितना स्थान पर्याप्त हो, बस उतनी ही जगह लेना चाहिए । (मरने पर तो केवल कब्र में ही सोना है ।)

अलंकार—(1) गूढोक्ति—काहे “ माटी ।

विशेष—(1) ‘निर्वेद’ की व्यंजना है ।

(II) जीवन की क्षणभंगुरता की चर्चा द्वारा अपरिग्रह का उपदेश है ।

(III) समभाव देखिए—

कहा चिणावै मेडिया, लॉबी भीति उसारि ।

घर तो साडे तीन हाथ, घना त पौनि चारि । (कबीरदास)

[राग विलावल]

(३६२)

बार बार हरि का गुण गावै,

गुर गमि भेद सहर का पावै ॥टेक ॥

आदित करै भगति आरंभ, काया मंदिर मनसा थभ ॥

अखंड अहनिसि सुरष्या जाइ, अनहद बेन सहज में पाइ ॥

सोमवार ससि अमृत झरै, चाखत बेगि तप निसतरै ।

वाणीं रोक्यां रहै दुवार, मन मतिवाला पीवनहार ॥

मगलवार ल्यौं माहींत, पंच लोक की छाड़ौ रीत ।

घर छाड़ै जिनि बाहरि जाइ, नही तर खरौ रिसावै राइ ॥

बुधवार करै बुधि प्रकास, हिरदा कवल मै हरि का वास ।

गुर गमि दोऊ एक समि करै, ऊरध पंकज थै सूधा धरै ॥

जिसपति बिषिया देइ वहाइ, तोनि देव एकै सगि लाइ ।

तोनि नदी तहाँ त्रिकुटी माहि, कुसमल धोवै अह निसि न्हाहि ॥

सुक्र सुधा ले इहि व्रत चढे, अह निसि आप आप सँ लड़े ।

सुरषी पंच राखिये सवे तौ दूजी द्विष्टि न पैसे कवै ॥

थावर थिर करि घट मै सोइ, जोति दीवटी भेल्है जोइ ।

बाहरि भीतरि भया प्रकास तहाँ भया सकल करम का नास ॥

जब लग घट मै दूजी आंण, तब लग महलिन पावै जांण ।

रमित रांम सूं लागै रग, कहै कबीर ते निर्मल अग ॥

शब्दार्थ—गमि=अगम्य अथवा द्वारा । सहर=पाठान्तर सुहरि, अथवा सहचर=आत्माराम । आदित=आदित्यवार, सूर्यवार-इतवार । मनसा=सकल, प्रेम रूपी सकल्प । थंभ=स्तम्भ । अहनिसि=दिन रात । रख्या=रखा जाए । बाइ=वायु । माहीत=लगाओ । पच लोक=पाँच विकार (काम, क्रोध लोभ, मोह मत्सर) । पकज=सहस्रार । कुसमल=कल्मष । सुरषी=सुरक्षित, नियत्रित । थवर=स्थावर । थिर=स्थिर । दीवाटि=दीप यष्टि, दीयाधार ।

सदर्भ—कबीर योग-साधना विधि का वर्णन करते हैं । सप्ताह भर के व्रतों का नवीन साधना-परक एव अध्यात्मिक अर्थ दिया गया है ।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि प्रत्येक वार को हरि का गुणगान करना चाहिए । तब गुरु के द्वारा आत्माराम का कठिन रहस्य जाना जा सकता है । रविवार के दिन इस भक्ति-साधना को आरम्भ करो । इसके लिए शरीर रूपी मंदिर को भगवद्प्रेम के सकल्प रूपी खम्भे का आधार प्रदान करो । इससे अखण्ड नाम कीर्तन की मधुर स्वरी दिन रात हृदय में प्रवेश करेगी तथा अनहद नाद की वीणा भी सहज में ही सुनाई देगी । सोमवार के दिन सहस्रार के चन्द्रमा से अमृत भरता है । उसके चखने मात्र से शरीर की तपन (कष्ट) से शीघ्र ही मुक्ति मिल जाती है । जीभ उलट कर अमृत के इस द्वार को रोक लेती है और इस रस में मग्न मन इसको पीता रहता है । मंगलवार को उस परम तत्व में मन की लौ लगा दो तथा पाँचो विकारो की रीति छोड़ दो अर्थात् काम क्रोधादि पच विकारो के वशीभूत होना छोड़ दो । घर छोड़ कर बाहर मत जाओ (गृहस्थ के कर्तव्यो एव धर्म से विमुख मत बनो) अन्यथा राजा राम बहुत रुष्ट हो जाएँगे ।

बुधवार के दिन बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश करो । हृदय कमल में भगवान का निवास है । गुरु के द्वारा प्राप्त ज्ञान के द्वारा ज्ञान एव प्रेम को समान भाव से ग्रहण करना चाहिए अथवा इडा-पिंगला को सम करे तथा सहस्रार कमल को उलटे से सीधा कर दे—अधोमुखी ऊर्ध्वमुखी कर देना चाहिए । बृहस्पतिवार को समस्त विषयो को फेंकदे और तीनों देवताओ (त्रिगुण) को एक स्थान पर लगादे—ब्रह्म में लीन कर दे । त्रिकुटी स्थान की इडा, पिंगला और सुषुम्ना तीन नदियो में रात दिन अपने कल्मषो तथा विषय-राग को घोता रहे । शुक्रवार को साधना का अमृत लेकर यह व्रत धारण कर कि मैं रात-दिन अपने मन की कुवासनाओ से जूझता रहूँगा । इसके साथ पाँचो ज्ञानेन्द्रियो पर पूर्ण नियन्त्रण रखे । तब दूसरी दृष्टि (द्वैत भावना अथवा अन्य साधना के प्रति आसक्ति) व्यक्ति के मन-मानस में घुसेंगे ही नहीं । शनिवार को अपना हृदय स्थिर करे तथा अन्त करण में उसी परम ज्योति को प्रेम एव ज्ञानवृत्तियो के दीयाधार में रखकर प्रकाशित कर दे । इस ज्योति के द्वारा बाहर-भीतर दोनों ही स्थानों पर प्रकाश होगा और समस्त कर्मफल समाप्त

हो जाएंगे । जब तक अन्तःकरण में द्वैत की भावना है, भेद-बुद्धि है, तब तक शरीर स्थित मन्दिर, जिसमें प्रभु का वास है, का रहस्य प्राप्त नहीं किया जा सकता है । कबीरदास कहते हैं कि राम में रमण करते हुए मन पर राम के अनुराग का रंग चढ़ जाता है और अन्तःकरण निर्मल हो जाता है ।

अलंकार—(1) पुनरुक्ति प्रकाश—बार बार ।

(II) रूपक - काया शंभ । अनहद बेन । हिरदा कवल ।

(III) छेकानुप्रास—गुण गावै, गुर गमि; अखड अहनिसि; सोमवार ससि । मन मतिवाला ।

(IV) वृत्यानुप्रास—रमिता राम रंग ।

(VI) रूपकातिशयोक्ति—ससि, डुवार, दोऊ । महलि ।

(VII) चपलातिशयोक्ति—चाखत.....निसतर ।

विशेष—(1) ये समस्त मान्यताएँ योगियों में प्रचलित हैं जो अद्यतन किसी न किसी रूप में कबीर पथियों में भी मानी जाती हैं ।

(II) जिनि बाहिर जाइ—कबीर संसार छोड़ने की बात नहीं कहते हैं । उनका तो निश्चित मत था कि अपने कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए ही सच्ची भक्ति हो सकती है । वह स्वयं जुलाहे का व्यवसाय करते थे ।

(III) अनहद बेन—देखें टिप्पणी पद संख्या १५७ ।

(IV) ससि—देखें टिप्पणी पद सं० ४, ७, २१० ।

(V) त्रिकुटी—देखें टिप्पणी पद सं० ३, ४ ।

(VI) त्रिकुटी सगम—देखें टिप्पणी पद सं० ७ ।

(VII) सहज—देखें टिप्पणी पद सं० १५५ ।

(VIII) बाहर भीतर—प्रकाश..... बाह्य दृष्टि द्वारा सत्यासत्य का विवेक होता है तथा अन्तःदृष्टि द्वारा सत्य की अनुभूति होती है । गोस्वामी तुलसीदास ने भी लिखा है कि—

राम नाम मणि दीप घरि जोह देहरी द्वार ।

तुलसी भीतर बाहिरेहु जो चाहसि उजियार ।

(३६३)

राम भजै सो जानिये, जाके आतुर नाहीं ।

सत संतोष लीये रहै, धीरज मन मांहीं ॥

जन कौं काम क्रोध व्यापै नहीं, त्रिष्णां न जरावै ।

प्रफुलित आनंद मै, गोव्यंद गुण गावै ॥

जन कौं पर निंदा भावै नहीं, अरु असति न भावै ।

काल कल्पनां मेटि करि, चरनूं चित राखै ॥

जन सम द्विष्टी सीतल सदा, दुविधा नही आनै ।

कहै कबीर ता दास सूं मेरा मन मानै ॥

शब्दार्थ—आतुर—व्याकुलता । जन—भक्त ।

सन्दर्भ—कबीरदास भक्त के लक्षणों का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—राम का भजन करने वाला वही सच्चा भक्त माना जाता है जिसके मन में प्रभु कृपा के लिए व्याकुलता नहीं होती है । वह सदैव सत्य और सतोष धारण किए रहता है और वह मन में धैर्य धारण करता है अर्थात् विपत्ति के समय विचलित नहीं होता है । भक्त को काम और क्रोध नहीं सताते हैं और उसको तृष्णा (भोगेच्छा) जलाती (उद्धेलित) नहीं करती है । वह सदैव आनन्द मग्न रह कर प्रफुल्लित दिखाई देता है और गोविंद का गुणगान करता रहता है । भक्त को कभी किसी की निंदा करना अच्छा नहीं लगता है और वह कभी असत्य भाषण नहीं करता है (कभी झूठ नहीं बोलता है) । वह काल की कल्पना मिटाकर अनन्त में निवास करता है और भगवान के चरणविन्द में चित्त लगाये रहता है । वह सुख-दुख, हानि-लाभ, जय-पराजय आदि के प्रति समान भाव रखता है और अपने मन को सदैव शांत रखता है । उसके मन में किसी प्रकार का सदेह नहीं रहता है—वह आश्वस्त रहता है कि प्रभु भक्ति के पथ पर चल कर ही उसका कल्याण सम्भव है । कबीरदास कहते हैं कि इतने लक्षणों से युक्त भक्त के प्रति मेरे हृदय में प्रेम और श्रद्धा का भाव रहता है ।

अलंकार—(1) छेकानुप्रास—सत सतोष, अरु असति चरन् चित ।

(II) वृत्यानुप्रास—व्यद गुन गावै । मेरा मन मानै ।

(III) परिकराकुर की व्यजना—गोव्यद ।

विशेष—(1) काल कल्पना—भूत, और भविष्य की चर्चा काल कल्पना है । सदैव वर्तमान में निवास करना ही काल-कल्पना को मिटाना है । वर्तमान को क्षुरस्य धारा है । इसमें स्थिर रहना ही काल पर विजय करना है ।

(II) तुलनात्मक अध्ययन के लिए देखें—

(क) दैवी सपदा प्राप्त पुरुष के लक्षण देखें—

अभयं सत्त्वसंशुद्धि जनि योग व्यवस्थित ।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।

अहिंसा सत्यम क्रोधस्त्याग शातिरपैशुनम् ।

दया भूतेष्व लोलुप्त्वं मारवं हरि खापलम् ।

इत्यादि (श्रीमद्भगवद्गीता—१६।१-४)

तथा—देखें भक्त के लक्षण—

कबहुँक हों यहि रहनि रहौंगो ।

श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो ।

जथा लाभ सतोष सदा, काहू सो कछु न चहौंगो ।

परहित-निरत निरतर मन क्रम वचन नेम निवहौंगो ।

परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो ।

बिगत मान, सम सतिल मन, पर गुन नहि दोष कहोंगो ।
परिहरि देह-जनित चिंता, दुख-सुख समबुद्धि सहोंगो ।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अविचल हरि भक्ति लहोंगो ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(३६४)

माधौ सो न मिलै जासौ मिलि रहिये,

ता कारनि वर कहु दुख सहिये ॥टेक॥

छत्रधार देखत ढहि जाइ, अधिक गरब थै खाक मिलाइ ॥

अगम अगोचर लखीं न जाइ, जहाँ का सहज फिरतहाँ समाइ ॥

कहै कबीर भूठे अभिमान सो हम सो तुम्ह एक समान ॥

शब्दार्थ—सो=सः, आत्मा अथवा परमतत्त्व । छत्रधार=छत्रधारण करने वाला राजा । ढरि जाइ=नष्ट हो जाता है ।

सन्दर्भ—कबीरदास जीवन की नश्वरता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—हे माधव, वह परम तत्व प्राप्त नहीं होता है जिससे तदाकार होकर रहना चाहिए, भले ही उसको प्राप्त करने के लिए साधक को बहुत से दुःख सहने पड़े । छत्र धारण करने वाले राजा देखते ही देखते नष्ट हो जाते हैं । अधिक अभिमान के कारण व्यक्ति मिट्टी में मिल जाते हैं । उस परम तत्व को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, वह इन्द्रिय गम्य नहीं है तथा उसको इन स्थूल नेत्रों द्वारा देखा भी नहीं जा सकता है । उसमें आत्मा का सहज स्वरूप जहाँ का तहाँ समाहित हो जाता है । कबीर कहते हैं कि बडप्पन का अभिमान सर्वथा मिथ्या है । हम और तुम सब एक ही तत्व हैं और परस्पर समान हैं ।

विशेष—(1) ससार की नश्वरता का वर्णन है ।

(II) निर्वेद संचारी की व्यंजना है ।

(III) एकत्व का प्रतिपादन है । व्यक्ति व्यक्ति की समानता तथा जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन है ।

(३६५)

अहो मेरे गोब्यंद तुम्हारा जोर,

काजी बकिवा हस्ती तोर ॥टेक॥

वांधि भुजा भलै करि डारचौ, हस्ती कोपि मूंड मै मारचौ ॥

भाग्यी हस्ती चीसां मारी, वा मूरति की मैं बलिहारी ॥

महावत तोकूं मारौ साटी, इसहि मरांऊं घालौं काटी ॥

हस्ती न तोरै धरै धियांत, वाकै हिरदै वसै भगवांत ॥

कहा अपराध संत हौं कीन्हां, वांधि पोट कुंजर कूं दीन्हां ॥

कुंजर पोट बहु वंदन करै, अजहूं न सूभै काजी अंधरै ॥

तीनि बेर पतियारा लीन्हां, मन कठोर अजहूँ न पतीनां ॥

कहै कबीर हमारै गोब्यंद, चौथे पद ले जन का ज्यद ॥

शब्दार्थ—जोर=शक्ति । हस्तौ=हाथी । साटी=डंडा, कोड़ा । घालौं=डालता हूँ । पोट=पोटला, गठरी । कुंजर=हाथी । पतीना=विश्वास किया । जिंद=जीव । चौथे पद=सायुज्य मुक्ति ।

संदर्भ—कबीरदास प्रभु की महिमा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—अहो मेरे गोविंद भगवान, शक्ति की महिमा अपार है । काजी ने वकवास कि इसे हाथी से मरवा दो । मेरे हाथो को अच्छी तरह बाँध कर हाथी के सामने डाल दिया गया । हाथी ने क्रोध करके सिर पर प्रहार किया । वह चीख मारकर स्वय ही भागा । मैं भगवान के उस स्वरूप की बलिहारी जाता हूँ जिसने हाथी को ऐसी प्रेरणा प्रदान की । काजी ने कहा, रे महावस, मैं तूमको कोडे लगवा दूँगा और इस हाथी को मरवा दूँगा तथा कटवा डालूँगा । परन्तु हाथी ने मुझको नहीं मारा । वह भगवान का ध्यान धारण किए हुए था । उसके हृदय मे तो भगवान बसे हुए थे ।” कबीर बोचते हैं कि सत कबीर ने क्या अपराध किया था, उसकी पोटली बनाकर उसे हाथी के समक्ष डाल दिया गया । भगवान ने हाथी को ज्ञान प्रदान किया । वह उठ गठरी (शरीर के बधे हुए शरीर) को बार-बार प्रणाम करने लगा, परन्तु उस मूर्ख काजी की समझ मे अभी भी नहीं आया । उसने इसी प्रकार तीन बार हाथी को आज माया, परन्तु उस निष्ठुर हृदय (जड़ हृदय) वाले काजी के मम मे फिर भी भगवान के प्रति विश्वास जाग्रत नहीं हुआ । कबीर कहते हैं कि हे मेरे गोविंद स्वामी इस भक्त जीव को चौथे पद (सायुज्य मुक्ति) कर लीजिए ।

विशेष—इस पद द्वारा उस जनश्रुति की पुष्टि होती है जिसके अनुसार लोदी ने कबीर को हाथी मे पैर के नीचे डलवा दिया था ।

इस पद मे कबीर ने प्रभु की महिमा का वर्णन सगुण भक्तों की पद्धति पर किया है । यथा—

अब कै राखि लेउ भगवान ।

हौं अनाथ बैठ्यो द्रुम-डटियाँ, पारधि साधेवान ।

ताके डट मे भाज्यौ चाहत, ऊपर दुख्यो समान ।

दुहं भाँति दुख भयो आवि यह, कौन उवारै प्रान ?

सुमिरत ही अहि डस्यो पारधी, कर छूट्यी सघान ।

सूरदास, सर लग्यो सचानहि, जय-जय कृपानिघान ।

(सूरदास)

(३६६)

कुसल खेम करु सत्तामति, ए दोह काकोँ दीन्हां रे ।

भावत जांत दुहंधा लूटे, सर्व तत हरि लीन्हां रे ॥ टेक ॥

माया मोह मद में पीया, मुगध कहै यहु मेरी रे ।
 दिवस चारि भले मन रजै, यहु नाहीं किस केरी रे ॥
 सुर नर मुनि जन पीर अवलिया, मीरां पैदा कीन्हां रे ।
 कोटिक भये कहां लूं बरनूं सबनि पयानां दीन्हां रे ॥
 धरती पवन अकास जाइगा, चद जाइगा सूरा रे ।
 हम नाहीं तुम्ह नाहीं रे भाई, रहे राम भरपूरा रे ॥
 कुसलहि कुसल करत जग खीना, पड़े काल भौ पासी ।
 कहै कबीर सबै जग बिनस्या, रहे राम अविनासी ॥

शब्दार्थ—खेम=क्षेम । सही सलामत=पूर्ण सुख-सुविधा । दहंधा=दोनों समय । सुब=सब । मुगध=मूर्ख । अवलिया=औलिया, पहुँचा हुआ मुसलमान फकीर, सिद्ध पुरुष । पीर=मुसलमानों का धर्म गुरु । मीरा=श्रेष्ठजन । पयाना=प्रयाण । खीना=क्षीण हुआ है । पासी=फाँसी । बिनस्या=नष्ट हो गया ।

सन्दर्भ—कबीर ससार की निस्सारता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—कुशल-क्षेत्र और पूर्ण सुख-सुविधापूर्वक रहना ये दोनों बातें एक साथ ससार में किसी को प्राप्त नहीं होती हैं अर्थात् इस ससार में आते समय और जाते समय दोनों ही अवसरों पर हम लूटे जाते हैं और यहाँ हमारा समस्त तत्व हरण कर लिया जाता है अर्थात् इस जीवन में हम अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप को सर्वथा भूल जाते हैं । यह जीव माया-मोह की शराब पिये रहता है और फिर वह मूर्ख यह कहता है कि यह सब सम्पत्ति मेरी है । मानव चार दिन के लिये भले ही अपना मन बहला ले, किन्तु यह माया (सांसारिक सम्पत्ति) किसी की नहीं है । देवता, मनुष्य, मुनि, भक्त, धर्मगुरु, सिद्ध महात्मा, श्रेष्ठजन आदि अनेक प्रकार के व्यक्ति भगवान ने उत्पन्न किए हैं । इस प्रकार के करोड़ों पैदा हुए, उनका वर्णन कहाँ तक करूँ ? परन्तु सब के सब इस ससार से प्रस्थान कर गये । पृथ्वी, वायु, आकाश, सूर्य और चन्द्र सभी नष्ट हो जाएँगे सभी नश्वर हैं । न हम रहेगे न तुम रहोगे और न हमारे भाई-वन्धु रहेगे । केवल एक राम ही रहेगे, वे ही सर्वत्र व्याप्त हैं । कुशलता का उपक्रम करता ही करता यह संसार नष्ट होता है और मृत्यु के बन्धन में पड़ता है । कबीर कहते हैं कि सारा जगत बिनष्ट हो जाता है । (नाशवान है) केवल अविनाशी राम ही रह जाते हैं (केवल राम ही अविनाशी हैं) ।

अलंकार—(i) वक्रोक्ति—ए दोइ... रे ।

(ii) वृत्यानुप्रास—माया मोह मद मुगध ।

(iii) रूपक—माया मोह मद, काल पासी ।

(iv) सभंग पद यमक—कुसलहि कुसल ।

विशेष—(i) ससार की असारता के वर्णन द्वारा वैराग्य का प्रतिपादन है ।

(ii) 'निर्वेद' संचारी की व्यजना है ।

(iii) कुशल.....दीन्हा रे । वैभव लेकर भी व्यक्ति कुशल-पूर्वक बना रहे—यह नहीं होने का । देखिए—

दुइ कि होइ एक समय भुआला । हँसब ठठाइ फुलाइब गाला ।

दानि कहाइब अरु कृपनाई । होइ कि खेम कुशल रौताई ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(iv) दिवसरे... कहावत प्रचलित है—“चार दिनां की चाँदनी फेरि अधेरी रात ।”

(v) सबहि पयानां कीन्हा रे—समभाव की अभिव्यक्ति देखे—

हाय दर्ई ! यह काल के ख्याल में फूल से मूलि सब कुम्हलाने ।

देव-अदेव कली- बलहीन चले गये मोहि की हौंस हिलाने ।

यो जग बीव बचे नहिं मीच पै, जे उपजे ते मही में मिलाने ।

रूप-कुरूप-गुनी-निगुनी जे जहाँ जनमे ते तहाँ ही बिलाने । (देव)

(३६७)

मन बनजारा जागि न सोई,

लाहे कारनि मूल न खोई ॥टेक॥

लाहा देखि कहा गरबांना, गरब न कीज मूरिख अयांनां ॥

जिन धन सच्या सो पछितांनां, साथी चलि गये हम भी जानां ॥

निसि अधिधारी जागहु बदे, छिटकन लागे सबही संघे ॥

किसका बंधू किसकी जोई, चल्या अकेला संगि न कोई ॥

ढरि गए मंदिर टूटे बंसा, सूके सरवर उढ़ि गये हंसा ॥

पंच पदारथ भरिहै खेहा, जरि बरि जायगी कंचन देहा ॥

कहत कबीर सुनहु रे लोई, रामनांम बिन और न कोई ॥

शब्दार्थ—बनजारा=व्यापार करने वाला, बनज, व्यापारी । लाहे=लाभ छिटकन=बिछुडना । संघे=सगी साथी । जोई=योगिता, स्त्री बसा=वश । पंच पदारथ=पंच महाभूत । खेहा=मिट्टी । लोई=लोगो अथवा कबीर की शिष्या पत्नी ।

संदर्भ—कबीरदास ससार की निस्सारता का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—रे मन रूपी व्यापारी, तू जग जा । सो मत । लाभ के फेर मे तू अपनी गाँठ की पूँजी मत गँवावे । अभिप्रेत यह है कि तुम अज्ञान वश सासारिक सुख-सुविधा को प्राप्त करने मे लगे हुए हो । ये सुख तो मिथ्या हैं और इनके चक्कर मे तुम अपने आत्मा के मूल तत्व आनन्द-स्वरूप को व्यर्थ ही नष्ट कर रहे हो । तुम वस्तु स्थिति को समझ कर इस चक्कर से निकल आओ । सासारिक सुखो को प्राप्त करके तुम्हे क्यों अभिमान हो गया है ? हे अज्ञानी मूर्ख तू इन सासारिक सुखो पर अभिमान मत करो । जिन लोगो ने धन का सचय किया, वे सब पछताए । हमारे सब साथी मृत्यु के ग्रास होकर इस ससार से चले गये हैं ।

हमको भी एक दिन जाना ही है । हे मानव ! यह जीवन अंधेरी रात्रि के समान है । तू जग जा । तेरी समस्त सगी साथी तुभसे बिछुडने लगे हैं । इस जगत मे कौन किसका भाई है और कौन किसकी स्त्री है ? जीव को अकेले ही जाना पडता है । कोई किसी के साथ नहीं जाता है । सारे महल गिर कर नष्ट हो गये, इनमे रहने वाले परिवार समाप्त हो गये, तालाब सूख गये और उन पर रहने वाले हस भी उड गये सासारिक वैभव का प्रतीक पच महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और प्रकाश) से निर्मित यह शरीर मिट्टी मे मिल जाता है और सोने की भी देह जल कर भस्म हो जाती है । कबीर कहते हैं कि रे लोगो, सुनलो । राम-नाम के अतिरिक्त यहाँ अन्य कोई सहारा नहीं है ।

अलंकार— (1) रूपक—मन बनजारा ।

(II) गूढोक्ति—कहा गरबाना ।

(III) निदर्शना की व्यजना—निसि सधे ।

(IV) वक्रोक्ति—किसका... 'जोई ।

विशेष—(1) लक्षणा—पच पदारथ ।

(II) जीवन और जगत की असारता का प्रतिपादन है ।

(III) 'निर्वेद' सचारी की व्यजन है ।

(३६८)

मन पतंग चेतै नहीं जल अंजुरी समान ।

बिषिया लागि विगूचिये, दाझिये निदान ॥टेक॥

काहे नैन अनदियै, सूझत नहीं आगि ।

जनम अमोलिक खोइयै, सांपनि संगि लागि ॥

कहै कबीर चित चंचला, गुर गांन कह्यौ समझाइ ।

भगति हीन न जरई जरै, भावै तहां जाइ ॥

शब्दार्थ—अंजुरी = अजुली । विगूचिक = बर्बाद करता है । दाझिये = जल जाएगा । निदान = अन्तत ।

संदर्भ—कबीर माया ग्रस्त जीव को सावधान करते हैं ।

भावार्थ—यह मन—रूपी पतंगा चेतता नहीं है और माया-रूपी दीपक पर प्राण देता है । वह इस बात को नहीं समझता है कि जीवन अंजलि-वद्ध जल के समान क्षणिक अस्तित्व वाला है । यह मन विषयो मे आसक्त होकर नष्ट हो रहा है । अन्ततः इसको जलना ही है । तू संसार की चीजो को नेत्रों से देख कर क्यो आनन्दित होता है ? तुमको वासनाग्नि (देखने की आसक्ति मे निहित संताप)—क्यो नहीं दिखाई देती है ? वासना-रूपी सापिन के साथ लगा कर तूने अपने बहु-मूल्य जीवन को व्यर्थ ही बर्बाद कर दिया । कबीर कहते हैं कि यह चित्त तो विजली के समान चंचल है । यह बात मुभवो गुरु ने समझाकर बताई है । भक्तिहीन तो निश्चय ही संसार मे विषयाग्नि मे जलता है, क्योकि वह विना सोचे विचारे विषयो

के वशीभूत होकर चाहे जहाँ चला जाता है वह गम्य अगम्य प्रत्येक स्थल पर चला जाता है ।

- अलंकार— (1) रूपक—मन पतंग, चित चचला ।
 (ii) उपमा—जल अजुरी समान,
 (iii) रूपकातिशयोक्ति—आगि, सापनि ।

विशेष—‘निर्वेद’ सचारी की व्यजना ।

(३६६)

स्वादि पतंग जरै जर जाइ,

अनहद सौं मेरौ चित्त न रहाइ ॥टेक ॥

माया कै मदि चेति न देख्या, दुबिध्या मांहि एक नहीं पेख्यां ॥

भेष अनेक किया बहु कीन्हां, अकल पुरिष एक नहीं चीन्हां ॥

केते एक मूये मरहिगे केते, केतेक मुगध अजहू नहीं चेतै ॥

तंत मंत सब ओषद माया, केवल राम कबीर दिढाया ॥

शब्दार्थ—मदि=मद, नशा । पेख्या=देखा । अकल=अखण्डित । मुगध=मूर्ख । दिढाया=दृढ किया ।

सन्दर्भ—कबीर का कहना है कि अज्ञान के वशीभूत जीव विषयासक्ति में नष्ट हो रहे हैं ।

भावार्थ—विषयासक्त मेरा मन रूपी पतंग अनवरत रूप से विषयाग्नि में जलता है । अनहद नाद में मेरा चित्त नहीं लगता है—अर्थात् मेरा मन विषयो से पराङ्मुख होकर अन्तर्मुखी नहीं होता है । माया के मद से छुटकारा पाकर मैंने असली तत्त्व को नहीं समझ पाया है । ज्ञान जनित द्विविधा एव द्वैत-भावना में पड कर मैं सर्वव्यापी एक (परम) तत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर पाया । मैंने विषयासक्ति के वशीभूत होने के फलस्वरूप अनेकानेक जन्म धारण किए, परन्तु मैं उस एक अखण्ड अविनाशी परमपुरुष परमात्मा को नहीं देख पाया । इस संसार चक्र में कितने ही मर गये और न मालूम कितने और मरेंगे, इतना सब कुछ देख कर भी कितने ही मूर्ख अब भी होश में नहीं आ रहे हैं । तत्र-मन्त्र औषधि आदि सभी माया (घोखा अथवा नश्वर) हैं । इसी से मैंने अपने उद्धार के लिए अपना मत केवल राम की भक्ति में दृढता पूर्वक लगा दिया है ।

- अलंकार—(1) रूपक—स्वादि पतंग ।
 (ii) वृत्यानुप्रास—जरै जरि जाइ, ।
 (iii) गूढोक्ति—मरहिगे केते ।

विशेष— (ii) अनहद : “देखें टिप्पणी पद सं० १६४

(ii) विषयों से विरक्त होने से ही कल्याण सम्भव है ।

(३७०)

एक सुहागनि जगत पियारी,

सकल जीव जंत की नारी ॥टेक॥

खसम मरै वा नारि न रोवै, उस रखवाला औरै होवै ॥

रखवाले का होइ विनास, उतहि नरक इक भोग विलास ॥

सुहागनि गलि सोहै हार, संतनि विख बिलसै संसार ॥

पीछे लागी फिरै पचिहारी, सत की ठठकी फिरै विचारी ॥

संत भजै वा पाछी पड़ै, गुर के सबदं मारयो डरै ॥

साषत कै यहु प्यंड परांइनि, हमारी द्रिष्टि परै जैसे डांइनि ॥

अब हम इसका पाया भेद, होइ कृपाल मिले गुरदेव ॥

कहै कबीर इब बाहरि परी, ससारी कै अचल टिरी ॥

शब्दार्थ—सुहागनि नारी=माया रूपी सुन्दरी नारी । खसम=पति । बिलसै=भोगता है । पचिहारी=पक जाता है । ठठकी=डरी हुई । साषत=शाक्त । प्यंड परांइनि=शरीर द्वारा वह इसके परायण है, वह नारी है जिसके द्वारा शाक्त वामाचार की साधना करता है ।

सन्दर्भ—कबीरदास माया के सर्वव्यापी अहितकारी प्रभाव का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—माया रूपी एक सुन्दरी नारी है, जो जगत की प्यारी है । वह सम्पूर्ण जीव-जन्तुओ की प्रेयसी है । जब उसका पति मर जाता है तो वह उसके लिए रोती नहीं है । उसका रखवाला कोई दूसरा बन जाता है । इसके रखवाले का नाश हो जाता है । उसे इस लोक में जाकर नरक भोगना पड़ता है, चाहे यहाँ वह भोग-विलास ही करता हो । इस सुहागिन के गले में सुन्दर एवं आकर्षक वासना-रूपी हार सुशोभित होता है । यह सतो के लिए विष-तुल्य है, परन्तु संसार के प्राणी इसको भोगते हैं । यह सतो के पीछे लगी फिरती है, परन्तु उनको मोहित करने के प्रयत्न में यह हार जाती है । यह बेचारी माया सतो के डर से ठिठकी हुई उधर-इधर भागती फिरती है । सत लोग इससे दूर भागते हैं और यह उनके पीछे पड़ी रहती है । गुरु के उपदेश द्वारा माटी हुई यह माया संतो से डरती है । शाक्त को यह अत्यन्त प्रिय होती है, (शाक्त के लिए तो माया वह नारी है जिसके माध्यम से वह वामाचार की साधना करता है । इसी से कबीर कहते हैं कि शाक्त के यहाँ इसका परायण होने वाला पिंड है ।) परन्तु भक्तों की दृष्टि में वह पूर्ण घुड़ल है । जब कृपालु गुरुदेव से भोग साक्षात्कार हुआ तब इस माया सुन्दरी का रहस्य मेरी समझ में आया । कबीर कहते हैं कि यह माया मुझसे तो बाहर दूर पड़ी हुई है अर्थात् मुझे तो यह स्पर्श भी नहीं कर सकती है । यह विषयी व्यक्तियों के साथ इसका स्थायी सम्बन्ध रहता है अथवा विषयी व्यक्ति के पास से दाले नहीं टूटती है ।

अलंकार—(1) साग रूपक— पूरा पद ।

(ii) रूपकातिशयोक्ति—सुहागिन ।

(iii) उपमा—विष (के समान) । जैसे डाइनि ।

(iv) विशेषोक्ति की व्यजना—खसम मरै वा नारि न रोवै ।

विशेष—(1) शाक्त के प्रति विरोध प्रकट है ।

(ii) बाहिर टरी—पिटी । ठीक ही है—

भागती फिरती थी दुनियाँ जब तलब करते थे हम ।

अब जो नफरत हमने की, वह खुद-बखुद आने को है ।

(३७१)

परोसनि मांगै कंत हमारा,

पीव क्यू बीरी मिलहि उधारा ॥टेक॥

मासा मांगै रती न देखुं, घटे मेरा प्रेम तौ कासनि लेऊं ॥

राखि परोसनि लरिका मोरा, जे कछु पाऊं सु आधा तोरा ॥

बन बन दूढौं नैन भरि जोऊं, पीव मिलै तौ बिलखि करि रोऊ ॥

कहै कबीर यहु सहज हमारा, बिरली सुहागनि कंत पियारा ॥

शब्दार्थ—परोसनि=अन्य सासारिक आत्मा, माया । कत=पति, परमात्मा । बीरी=पागल । कासनि=किससे । पुत्र=विवेक ।

सन्दर्भ—कबीर का कहना है कि राम के प्रति सच्चा अनुराग किसी किसी को ही होता है । वह भक्त ज्ञानी एव साधक जीवात्मा के रूप में अपनी सहजानुभूति को व्यक्त करते हैं ।

भावार्थ—माया रूपी हे पडौसनि, तुम मुझसे मेरा परमात्मा रूपी पति माँग रही हो ? पर, हे पागली, पति कहीं उधार मिलता है ? (परमात्मा की प्राप्ति स्वयं साधना करने पर होती है । सिद्धि उधार अथवा किराए पर मिलने वाली वस्तु नहीं है ।) तुम माशा भर माँगो, मैं रत्ती भर भी नहीं दूंगी । यदि उधार देने के कारण अथवा यों ही दे देने के कारण, परमात्मा के प्रति मेरे प्रेम में भी कमी आ गई है, तो फिर उसकी पूर्ति मैं कहां से करूँगी ? हे मेरी आत्मा रूपी पडौसनि, तू मेरे कर्म-बन्धन रूप पुत्र की रखवाली कर । ऐसा करने पर परमेश्वर रूपी पति से मुझे जो आनन्द-भक्ति की प्राप्ति होगी, उसमें से आधा तुझको दे दूँगी । मैं बन-बन अर्थात् विभिन्न साधनाओं में अपने पति को ढूँढ रही हूँ और नेत्रों की शक्ति भर उसको चारों ओर देखती फिरती हूँ और प्रियतम के दर्शन होने पर प्रेमातिरेक के कारण फूट फूट कर रोती हूँ । कबीर कहते हैं कि अपने परमात्मा रूपी पति से प्रेम करना जीवात्मा रूपी पत्नी का सहज स्वभाव है । परन्तु फिर भी बिरली आत्मा रूपी सौभाग्यवती नारी को अपने परमात्मा रूपी पति से वास्तविक प्रेम होता है ।

अलंकार—(1) साग रूपक.....सौभाग्यवती नारी एवं जीवात्मा के रूपक का निर्वाह है।

(II) वक्रोक्ति—पीव.....उधारा।

(III) गूढोक्ति—कासनि लेऊ।

(iv) पुनरुक्ति प्रकाश—बन बन।

(v) विरोधाभास की व्यंजना—पीव मिलै.....रोऊँ।

विशेष—(1) प्रतीको का प्रयोग है—परीसनि, कंत, लरिका, सुहागिन।

(II) सूफी शैली के दाम्पत्य प्रेम का वर्णन है।

(III) इस पद में कबीर भक्ति-क्षेत्र का अतिक्रमण करके प्रेम के क्षेत्र में चले जाते हैं। अतएव रहस्यवाद की मार्मिक व्यंजना दिखाई देती है। प्रेमी प्रिय पर एकाधिकार चाहता है। प्रेम का क्षेत्र एकान्त होता है। कबीर की जीवात्मा भी यही चाहती है कि प्रिय के ऊपर मेरा एकाधिकार रहे। प्रिय पर पूर्ण स्वत्व स्थापित करने की मन स्थिति का मार्मिक शब्दों में उद्घाटन किया गया है।

(IV) पीव क्यूं—उधारा। लौकिक दृष्टि से अर्थ करने पर यह कथन, उन लोगो पर एक प्रकार का व्यंग्य करता है, जो दान दक्षिणा लेकर दूसरो के नाम भजन-पूजन, मंत्र-जाप आदि करते हैं। ठीक ही है—बिना मरे, स्वर्ग के दर्शन नहीं होते हैं।”

(V) माशा—१ तोले का १२ वां भाग।

(VI) रत्ती—१ माशे का ८ वां भाग।

(VII) माशा माँगना और रत्ती न देना—लोकोक्ति है। यहाँ अर्थ इस प्रकार होगा—माया का यह प्रयत्न करना कि जीवात्मा परमात्मा से बहुत दूर तक पृथक् रहे तथा जीवात्मा का यह सकल्प कि वह क्षण भर के लिए भी उनसे विलग नहीं होगी।

पड़ोसिन—माया के साथ जीव का साहचर्य है, परन्तु माया पराई है—जीव की नहीं। जीव के साथ माया का सम्बन्ध केवल अज्ञान के कारण है—वह सम्बन्ध पारमार्थिक एवं सच्चा सम्बन्ध नहीं है। इसी से वह पड़ोसिन है।

(IX) लरिका—कर्म जीवात्मा के प्रयास से उत्पन्न होता है। इसी से वह जीवात्मा का लडका है। भक्ति के परिपाक के लिए सांसारिक कर्म का त्याग आवश्यक है। वह माया ही को सोपे जा सकते हैं।

(X) जे कछु... तोरा—चैतन्य स्वरूप आत्मा और माया का सम्बन्ध मुघा होते हुए भी शाश्वत है। भक्ति के उल्लास आदि वृत्त्यात्मक अनुभूति का सम्बन्ध अन्त करण (माया) और चैतन्य (आत्मा) दोनों के साथ रहता है। इसी से आधा तोरा’ (माया का) कहा गया है।

(३७२)

राम धरन जाके रिदै वसत है, ता जन की मन क्यूं डोलै ॥

मानो आठ सिध्य नव निधि ताके, हरषि हरषि जस बोलै ॥टेका॥

जहाँ जहाँ जाइ तहाँ सच पावै, माया ताहि न झोलै ।
बारंबार बरजि विषिया तै, लै नर जौ मन तौल ॥
ऐसी जे उपजै या जीय कै, कुटिल गांठि सब खोलै ।
कहै कबीर जब मन परचौ भयो, रहै राम कै बोलै ॥

शब्दार्थ—डोलै = विचलित हो । सच = सुख । झोलै = जलाती है । सताती है । तौलै = सयमित करता है । रहै = आचरण करता है । बोलै = आदेशानुसार ।

सन्दर्भ— कबीर कहते हैं कि सच्चा भक्त वही है जो राम के आदेशानुसार आचरण करे ।

भावार्थ—जिसका हृदय भगवान के चरणों में लगा हुआ है, उसका मन चंचल नहीं होता है । उसे तो आठो सिद्धियाँ और नवो निधियाँ सहज ही प्राप्त हो जाती हैं और वह व्यक्ति हर्षित हो-हो कर प्रभु का गुणगान करता है । वह जहाँ भी जाता है । वहाँ अमित सुख-शांति का लाभ प्राप्त करता है । माया उसको सता नहीं पाती है । जिस व्यक्ति के हृदय में ऐसी श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न हो जाती है कि वह विषयों से अपने मन को बारम्बार विमुख करके जो अपने मन को नियंत्रित करके प्रभु भक्ति में लगा देता है, वह माया जन्य समस्त जटिल गुत्थियों को सहज ही सुलझाने में समर्थ होता है । कबीर कहते हैं कि जब इस प्रभु-प्रेम से मन का परिचय हो जाता है, तब वह राम के आदेशानुसार ही आचरण करता है ।

अलंकार—(1) पुनरुक्ति प्रकाश—जहाँ जहाँ ।

(11) अनुप्रास—बारंबार बरजि विषया ।

विशेष—(1) ससार से विमुख होकर प्रभु के नाम पर समस्त कार्य करना, स्वार्थ त्याग कर पारमार्थिक व्यवहार करना ही राम के आदेशानुसार आचरण करना है । गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'विनय पत्रिका' में कहा है कि—

तुम अपनायो तब जानिहो जब मन फिरि परिहै ।

जेहि स्वभाव विषयनि लग्यो तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करि है ।

(11) आठ सिद्धि, नव निधि—देखें टिप्पणी पद स० १२३ ।

(111) जब भक्त का मन पूर्णतः सयमित हो जाता है तभी भक्ति एव प्रेम दृढ होते हैं । सच्चे भक्त का यही लक्षण है ।

(1V) कबीर के राम दशरथि सगुण राम नहीं है । निराकार निगुण ब्रह्म हैं । वह पुकार कर कह चुके हैं—

दशरथ सुत तिहें लोक बखाना । राम-नाम का मरम न जाना ।

(३७३)

जंगल में का सोवनां, औघट है घाटा ॥

स्थंघ बाघ गज प्रजलै, अरु लबी बाटा ॥टेका॥

निस बासुरि पेड़ा पड़ै, जमदांती लूटै ।

सूर धीर साघं मतै, सोई जन छूटै ॥

चालि चालि मन माहरा, पुर पटण गहिये ।
मिलिये त्रिभुवन नाथ सूं, निरभै होइ रहिये ॥
अमर नहीं ससार मै, बिनसै नर देही ।
कहै कबीर बेसास सूं, भजि रांम सनेही ॥

शब्दार्थ—औघट=अवघट, दुर्गम । प्रजलै=सताते हैं । पेडा पडै=डकैती पडती है । जमदानी=यमराज की सेना । माहरा=कुशल । बेसास=विश्वास ।

सन्दर्भ—कबीरदास कहते हैं कि जीवन रूपी जगल को पार करने के लिए राम-नाम ही एकमात्र अवलम्बन है ।

भावार्थ—साधनाहीन जीवन व्यतीत करना इतना ही कठिन एव भयप्रद है जितना किसी बीहड़ स्थान पर रात्रि व्यतीत करना अथवा किसी दुर्गम घाट पर किसी नदी में स्नान करना । इस जीवन के जगल में हिंसा, विषय-लोलुपता एव अहंकार रूपी सिंह, बाघ और हाथी घूमते रहते हैं । साथ ही यह जीवन मार्ग बहुत लम्बा भी है । इस जीवन के जगल में कामादिक द्वारा रात दिन डकैती पडती रहती है (विषय विकार प्रतिक्षण हमारे चैतन्य स्वरूप को तिरोहित करते रहते हैं । यहाँ यमराज की सेना हमारी आयु-रूपी सम्पत्ति को सदैव क्षीण करती रहती है । जो शूरवीर धैर्यवान एव सत्यनिष्ठ हैं, वे ही इस लूट मार से बच पाते हैं । अतः हे कुशल मन, तू साधना के मार्ग पर निरन्तर अग्रसर होता रहे और ज्ञान-भक्ति के नगर में पहुँच जा । वहाँ त्रिभुवन नाथ से मिलेंगे और ससार के भयो से मुक्त होकर रहेगे । इस संसार में कोई भी सदैव नहीं बना रहा है—संसार का प्रत्येक प्राणी एव पदार्थ नश्वर है । यह मानव शरीर नष्ट होता ही है । कबीर कहते हैं कि इस कारण विश्वास पूर्वक सबसे प्रेम करने वाले राम का भजन करते रहो ।

अलंकार—(1) साग रूपक—जीवन माया और जगल की माया का रूपक बांधा है ।

(11) पुनरुक्ति प्रकाश..... चालि चालि ।

विशेष—(1) प्रतीको का सफल प्रयोग है । जंगल, सिंह, बाघ, गज

(11) ससार के प्रति विरक्ति का प्रतिपादन है ।

राग ललित

(३७४)

राम ऐसो ही जानि जपौ नरहरी,

माधव मदसूदन बनवारी ॥टेक॥

अनदिन ग्यान कथे घरियार, धूवां धौलह रहै संसार ॥

जैसे नदी नाव करि संग, ऐसे ही मात पिता सुत अग ॥

सवहि नल दुल मलफ लकीर, जल बुदबुदा ऐसो आहि सरीर ॥

जिम्या रांम नाम अभ्यास, कही कबीर तजि गरभ बास ॥

शब्दार्थ—जानि = जानकर । घडियाल = बडा घटा । घौलहर = महल ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि आवागमन से मुक्ति के लिए राम-नाम का भजन करो ।

भावार्थ—नृसिंह, माधव, मधुसूदन, वनवारी आदि राम ही है, ऐसा समझ कर तुम राम का भजन करो । (विभिन्न अवतार उस एक परम तत्त्व के ही अभिव्यक्त रूप हैं ।) बजने वाला घटा अर्थात् प्रति पल व्यतीत होता हुआ समय प्रतिदिन यही ज्ञान देता है कि यह ससार घुँए के महल के समान मिथ्या एवं नश्वर है । जैसे नदी नाव का सयोग क्षणिक होता है, उसी प्रकार माता, पिता एवं पुत्र का सयोग आकस्मिक एवं क्षणिक है । ये सारे सम्बन्ध उसी प्रकार मिथ्या, नीरस एवं भ्रम हैं जिस प्रकार तोते के लिए सेमर का फल । यह ससार जल के बुलबुले के समान क्षणिक एवं नश्वर है । कबीरदास कहते हैं कि जीभ से राम-नाम कहने का अभ्यास बनाए रखो जिससे गर्भ-वास (पुनर्जन्म) से मुक्ति प्राप्त हो सके ।

अलंकार—(1) उल्लेख एक ही तत्त्व का विभिन्न नामों का वर्णन है ।

(II) उपमा—घुवा जल बुदबुदा ऐसी ।

(III) रूपक घुवा ससार ।

(IV) उदाहरण—जैसे अग ।

विशेष—(1) ससार की नश्वरता एवं निस्सारता का प्रतिपादन है ।

(II) निर्वेद सचारी की व्यजना है ।

(III) ग्यान कथै गरिघार—लक्षण और मानवीकरण है ।

(IV) सम्पूर्ण देवताओं में वही एक परमतत्त्व व्याप्त है । यह अभेद बुद्धि ही भारतीय दृष्टि की विशेषता है । कबीर ने उपासना के क्षेत्र में इसी भारतीय पद्धति को अपनाया है ।

विभिन्न पौराणिक अवतारों के नामों का वर्णन यह प्रकट करता है कि कबीर के ऊपर जन-मानस को मान्य पौराणिक संस्कृति का व्यापक प्रभाव था ।

(VI) घुवा घौलह है ससार—समभाव के लिए देखें—

राम जपु, राम जपु, राम जपु, वावरे ।

जग नभ वाटिका रही है फलि फूलि रे ।

घुवाँ कैसे घौरहर देखि तू न भूलि रे ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(VII) नल दुल मलफ लकीर—पाठ अस्पष्ट है । हमने इस पक्ति का अर्थ डा० माताप्रसाद गुप्त तथा डा० भगवतस्वरूप मिश्र द्वारा किए अर्थों के आधार पर लिख दिया है ।

(३७५)

रसनां राम गुन रमि रस पीजै,

गुन अतीत निरमोलिक लीजै ॥ टेक ॥

निरगुण ब्रह्मकथौ रे भाई, जा सुमरित सुधि बुधि मति पाई ॥
बिष तजि रांस न जपसि अभागे, का बूड़े लालच के लागे ॥
ते सब तिरे राम रस स्वादी, कहै कबीर भेड़े बकवादी ॥

शब्दार्थ—निरमोलिक=अमूल्य । बकवादी=ज्ञान वधारने वाले ।

सन्दर्भ—कबीर निर्गुण राम की भक्ति का उपदेश देते हैं ।

भावार्थ—हे जिह्वा ! तू राम के गुणो मे तन्मय होकर भक्ति के आनन्द को प्राप्त करो । रे भाई, निर्गुण ब्रह्म का गुणगान करो जिसका स्मरण करने से सदबुद्धि, ज्ञान तथा विवेक की प्राप्ति होती है । रे अभागे जीव, तू विषयो के प्रति आसक्ति का त्याग करके राम नाम का भजन क्यों नहीं करता है ? विषय-सुख के लोभ मे पढकर तू भव-सागर मे क्यों डूबता है ? कबीर कहते हैं कि जो व्यर्थ ज्ञान का बखान करते हैं, वे भवसागर मे डूब जाते हैं ओर जो भगवान राम की भक्ति करके आनन्द मग्न होते हैं, वे सब भवसागर के पार हो जाते हैं (मोक्ष को प्राप्त होते है ।)

अलंकार—(1) अनुप्रास—रसना राम रमि रस ।

(11) पदमैत्री—सुधि बुधि ।

(111) गूढोक्ति—न जपसि अभागे, का ... लागे ।

विशेष—(1) कबीर सच्ची भक्ति का प्रतिपादन करते हैं । व्यर्थ की शास्त्र-चर्चा को व्यर्थ बताते हैं । वे तो बार बार कहते हैं कि “पडित वाद वदे सो भूँठा ।”

कबीर कथनी को त्याग कर करनी के द्वारा ही उद्धार की कल्पना करते हैं ।

(11) कबीर के राम निरगुण निराकार परमब्रह्म हैं, दाशरथि अवतारी राम नहीं ।

(३७६)

निबरक सुत ल्यों कोरा,

रांस मोहि मारि कलि विष बोरा ॥टेक॥

उन देस जाइवो रे बाबू, देखिवो रे लोग किन किन खैबू लो ॥

उड़ि कागा रे उन देस जाइवा, जासूं मेरा मन चित लागालो ॥

हाट ढूँढ़ि ले, पटनपुर, दुढ़ि ले, नहीं गांव कै गोरा लो ॥

जलविन हंस निसह विन रबू कबीर कौ स्वांमी पाइ परिके मनैबूलो ॥

शब्दार्थ—निबरक=निर्वल । कोरा=गोद । बाबू=भद्र पुरुषो । खैबूलो=खाते है, रहन-सहन से तात्पर्य है । हाट=बाजार । पटनपुर=नगर । गोरा=गोला-किनारे की सडक । रबू=रवि=सूर्य । मनैबूलो=मना लेना ।

संदर्भ—कबीर की जीवात्मा परमात्मा की प्राप्ति के लिए अपनी आतुरता व्यक्त करती है ।

भावार्थ—हे राम, निर्बल बालक की भाँति मुझे गोंद में लेने की कृपा करें अर्थात् मुझको अपना संरक्षण प्रदान करे। कलिकाँल ने मुझको मार कर (शुद्ध चैतन्य स्वरूप से वचित करके) विषय-वासनाओ में डुबा दिया है। हे भद्र महाशयो, तुम्हे प्रभु के देश में जाना है और देखना है कि वहाँ के निवासी किस प्रकार रहते हैं— उनकी रहन-सहन कैसी है। हे काग, तुझे उड़ कर उनके देश को जाना है, जिनसे मेरा मन लगा हुआ है। बाजार ढूँढना और नगर को ढूँढ लेना। गाँव के किनारे ही ढूँढ कर मत चले आना। प्रियतम के बिना मेरी वही दशा है जो जल के बिना हस की तथा सूर्य के बिना रात्रि की होती है। कबीर कहते हैं कि मेरी जीवात्मा अपने पति परमात्मा को पैरो पडकर मना लूँगा अपने अनुकूल कर लूँगा।

अलंकार—(1) पुनरुक्ति प्रकाश - किन किन।

(II) उपमा—निदरक सुत।

(III) रूपक—विष।

विशेष—(1) सूफी प्रेम-पद्धति के दाम्पत्य-प्रेम का प्रभाव स्पष्ट है। जायसी ने भी लिखा है—

पिय सो कहेउ सदेसडा हे भँवरा हे काग।

सो धनि विरहै जरि मुई जेहि के धुवाँ हम लागि।

(II) सिद्धो और सन्तो के साहित्य में 'काग' अज्ञानी चित्त का प्रतीक है। परन्तु यहाँ कबीर ने अज्ञानी चित्त के साथ प्रेम-सदेश ले जाने की वृत्ति को सन्नि-विष्ट कर दिया है। यह लोक-परम्परा का प्रभाव है। प्रियतम के सदेश और कौए का निकट सम्बन्ध माना जाता है। इसमें समस्त बन्धु जीवाँओ को परिलोकिक चिन्तन की प्रेरणा प्रदान की गई है।

राग बसंत

(३७७)

सो जोगी जाके सहज भाइ,

अकल प्रीति की भीख खाइ ॥ टेक ॥

सबद अनाहद सींगी नाद, काम क्रोध बिषिया न वाद ॥

मन मुद्रा जाके गुर कौ ग्यांन, त्रिकुट कोट में धरत ध्यान ॥

मनहीं करन कौ सनांन, गुर कौ सबद ले ले धरै धियांन ॥

काया कासी खोजै बास, तहां जोति सरूप भयो परकास ॥

ग्यांन मेषली सहज भाइ, बक नालि कौ रस खांइ ॥

जोग मूल कौ देह बद, कहि कबीर थिर होइ कंद ॥

शब्दार्थ—भाव=प्रेम भाव। अकल=अखंडित। वाद=वाद-विवाद।

मुद्रा=योगियो का उपकरण विशेष। मेषली=करधनी, कटिसूत्र। बक नालि=

सुषुम्ना। कद=मिश्री।

संदर्भ—कबीर सच्चे योगी के लक्षणों का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—वही सच्चा योगी है जो सहज भाव में स्थित है अथवा जिसके मन में प्रभु के प्रति स्वाभाविक प्रेम है तथा जो भगवान की प्रीति की ही याचना करता है । जो अनाहद नाद का ही श्रुती नाद सुनता है और जो काम-क्रोधादिक विषयों एवं शास्त्रार्थ में नहीं फँसता है । गुरु के द्वारा दिया गया ज्ञान ही उसके मन को स्थिर करने वाली मुद्रा है । वह अपनी त्रिकुटी में परम तत्व का ध्यान करता है । वह मन को पवित्र करने वाली ज्ञान-चर्चा रूपी जल में स्नान करता है और गुरु के ज्ञान को प्राप्त करके उसी पर ध्यान लगाये रहता है । वह अपनी काया-रूपी काशी में निवास करता है । वही पर उसके लिए परम-ज्योति स्वरूप भगवान प्रकाशित होते हैं । वह ज्ञान रूपी मेखला को धारण करके सहज भाव में स्थित रहता है । वह सुषुम्ना के ऊपरी भाग में स्थित एक नाल से भरने वाले अमृत रस का पान करता है । इसके लिए वह मूलाधार को बाँध देता है (योगी प्राणों की अग्नि से कुण्डलिनी को सीधा करके उसे सुषुम्ना में प्रविष्ट करा देता है और मूल बंध लगा देता है । यह अमृत का क्षण रोकने के लिए किया जाता है, क्योंकि कुण्डलिनी के सोते रहने पर भी अमृत क्षरित होता रहता) कबीर कहते हैं कि इससे क्षरणशील मधुर एवं तरल अमृत मिश्री की तरह सघन होकर स्थिर हो जाता है और योगी को अमरत्व प्रदान कर देता है ।

अलंकार—(1) रूपक—प्रीति की भीख । सबद । नाद । मन ध्यान । काया

काशी—ग्यान मेखली ।

(II) पुनरुक्ति प्रकाश—लेते ।

(III) पदमैत्री नाद वाद । ग्यान ध्यान । वास परकास । भाइ

खाइ । बन्द कन्द ।

विशेष—(1) इस पद में काया योग का वर्णन है । इसके लिए देखें टिप्पणी पद स० ४ ।

(II) त्रिकुटी देखें टिप्पणी पद स० ३, ४ ७ ।

(III) सहज - देखें टिप्पणी पद स० ७, १५५ ।

(IV) अनाहदनाद—देखें टिप्पणी पद स० १५७ ।

(VI) शरीर में ही समस्त तीर्थों को मान कर कबीर ने वाह्याचार का विरोध किया है । साथ ही उन पर तान्त्रिक साधना का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है ।

(VII) मन मुद्रा जाके गुरु की ध्यान—इस कथन के द्वारा तान्त्रिक साधना के वाह्याचार के प्रति विरोध प्रकट है । तात्पर्य यह है कि कबीर सब प्रकार की वाह्य साधना को व्यर्थ समझते हैं । वह तो उसी को सच्चा योगी मानते हैं जो आभ्यन्तर साधना का प्रथम ग्रहण करता है ।

(VIII) काया-काशी यहाँ भी काशीवास को लक्ष्य करके कबीर ने दम्भ का

विरोध किया है । अभिप्रेत यह है कि सच्चा योगी अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति बना कर अपनी काया के भीतर (अन्तःकरण) में स्थित शिव तत्व की उपासना करता है ।

(३७८)

मेरी हार हिरांनों में लजाऊ,

सास दुरासनि पीव डराऊं ॥ टेक ॥

हार गुह्यौ मेरी राम ताग, विचि भान्यक एक लाग ॥

रतन प्रवालै परम जोति, ता अंतरि अंतरि लागे मोति ॥

पंच सखी मिलिहै सुजांन, चलहु तजई थे त्रिवेणी न्हांन ॥

न्हाइ धोइ कै तिलक दीन्ह, नां जानूं हार किन्ह लीन्ह ॥

हार हिरांनों जन विमल कीन्ह, मेरी आहिपरोसनि हार लीन्ह ॥

तीनि लोक की जानै पीर, सब देव सिरोमनि कहै कबीर ॥

शब्दार्थ—हार=शुद्ध चित्तवृत्ति से तात्पर्य है । पुरासनि=कठोर, क्रुद्ध होने वाली । सास=बोध वृत्ति । ताग=डोरा । भान्यक=माणिक । विमल=दुःखी ।

संदर्भ—कवीर की आत्मा सुन्दरी प्रभु के वियोग में दुःखी होकर कहती है ।

भावार्थ—ईश्वरोन्मुखी वृत्ति रूपी मेरा हार खो गया है । इससे मैं लज्जित हो रही हूँ । मुझे बोध वृत्ति रूपी कठोर और परमात्मा रूपी पति का डर लग रहा है । वृत्ति वृत्ति रूपी मेरा वह हार हरि-नाम रूपी तागे में पिरोया हुआ था । इसके बीच-बीच में प्रीति और समर्पण के मणि माणिक लगे हुए थे । उसमें भक्ति की परमज्योति रूपी अनेक मूंगे तथा अन्य रत्न लगे हुए थे । उसमें थोड़े-थोड़े अन्तर पर मुक्ति रूपी मोती लगे हुए थे । मेरी पाँचों इन्द्रियो एव उनकी आसक्ति रूपी सखियों ने मुझ से कहा था कि चलो त्रिगुण-रूपी त्रिवेणी में स्नान कर आएं (इन्द्रियो से प्रेरित मैं त्रिगुणात्मक ससार में लिप्त होने चली गई) । विषय-सुख भोग कर जब मैंने शृंगार का तिलक किया—अर्थात् काम भाव को जीवन का सार समझा, तो उस समय मुझे मालूम हुआ कि बोध वृत्ति रूपी मेरा हार किसी ने ले लिया है । हार खो जाने से हम सबका मन दुःखी हो गया । माया (वासना) रूपी मेरी पड़ोसिन ने ही मेरा हार ले लिया है । कवीर कहते हैं कि सब देवताओं के शिरोमणि भगवान राम तीनों लोकों के प्राणियों की व्यथा को समझते हैं । (वह शुद्ध अन्तःकरण का बोध-वृत्ति रूपी हार मुझे वापिस दिला कर मेरी व्यथा दूर करेंगे ऐसा मेरा विश्वास है ।)

अलंकार—(1) सागरूपक-सम्पूर्ण पद में । हार और बोध-वृत्ति के रूपक का आद्यन्त निर्वाह है ।

(II) पुनरुक्ति प्रकाश—विचि विचि, अतरि अतरि ।

(III) अनुप्रास—७ वीं पक्ति, हार हिरानो, हार ।

विशेष—(1) साधना के प्रतीको का प्रयोग है ।

(II) जीव की शोभा ईश्वर-प्रेम है । इससे उसे हार कहते हैं । इस वर्णन पद्धति पर सूफियो की पीर और उनके दाम्पत्य प्रेम का गहरा प्रभाव है । यथा—

सखी एक तेइ खेल न जाना । मै अचेत मनि-हार गँवाँना ।
कवँल डार गहि में बेकरारा । कासो पुकारौँ आपन हारा ।

× × ×

घर पैठत पूँछव यह हारु । कौन उतर पाइव पैसारु

× × ×

न जानौँ कौन पौन लेइ आवा । पुन्य दसा में, पाय गँवावा ।
ततखन हार बेगि उतिराना । पावा सखिन्ह चंद विहँसाना ।

(मानसरोदक खण्ड, पद्मावत, मलिक मुहम्मद जायसी ।)

यहाँ चंद शब्द पद्मिनी के लिए प्रयुक्त है, जो बुद्धि या शुद्ध चित्तवृत्ति की प्रतीक है ।

(III) कबीर ने यहाँ यह वर्णन सामान्य भारतीय वधू की मनः स्थिति की दृष्टि से किया है । एक कुल-वधू का आभूषण खो जाने पर उसे सास और पति का डर सताने लगना है । इस प्रकार कबीर द्वारा इस मनोदशा का वर्णन बहुत ही मार्मिक एवं स्वाभाविक बन गया है ।

(IV) हार गुह्यौ राम ताग—राम-प्रेम ही इस हार का मूलाधार है । इसी से उसको 'तागा' कहते हैं । यथा—

जुगुति बेघ पुनि पोहिय राम चरित बर तागा ।

पहिरै सज्जन विमल उर जिनके अति अनुरागा ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(V) लागै मोति—मुक्ति को मुक्ता कहते हैं । इसमें श्लेष के चमत्कार के साथ साधर्म्य की भावना भी मुखरित रहती है—

मुक्ति-मुक्ता की मोल-मालही कहा है,

जब मोहन लला पै मन-मानिक ही वार चुकीं ।

(जगन्नाथदास रत्नाकर)

(VI) सवाद शैली का सुन्दर प्रयोग है ।

(VII) पच सखी—लीन्ह । विषयासक्ति के वशीभूत होकर ही जीव इस त्रिगुणात्मक जगत में लिप्त होता है । यही उसका माया के वशीभूत होकर शुद्ध चित्त-वृत्ति का खो जाना है । यह माया ही पढीसिन है ।

पढीसिन के लिए देखें टिप्पणी पद संख्या ३७ ।

(३७६)

नहौँ छाड़ौँ वाया राम नाम,

मोहि और पढन सूँ फौँन काम ॥ टेक ॥

प्रह्लाद पधारे पढ़न साल, संग सखा लीवै बहुत बाल ॥
 मोहि कहा पढ़ावै आल जाल, मेरी पाटी मै लिखि दे श्री गोपाल ॥
 तब सनां मुरकां कह्यौ जाइ, प्रहिलाद बंधा नौ बेगि आइ ॥
 तू राम कहन की छाड़ि बांनि बेगि छुड़ाऊ मेरौ कह्यौ मांनि ॥
 मोहि कहा डरावै बार बार, जिनि जल थल गिर कौ कियौ प्रहार ॥
 बांधि मारि भावै देह जारि, जे हू राम छाड़ौ तौ मेरे गुरहि गारि ॥
 तब काढ़ि खड़ग कोप्यो रिसाइ, तोहि राखनहारौ मोहि बताइ ॥
 खभा मै प्रगट्यौ गिलारि, हरनाकस मारयो नख बिदारि ॥
 महापुरुष देवाधिदेव, नरस्यंध प्रकट कियौ भगति भेव ।
 कहै कबीर कोई लहै न पार, प्रहिलाद ऊबार्यौ अनेक बार ॥

शब्दार्थ—साल=चटसाल, पाठशाला । आल-बाल=इधर उधर की बातें ।

पाटी=पट्टी । सडा मुरका =सब लडको । गिलारि=मुरारि ।

सन्दर्भ—कबीर भगवान की भक्त-वत्सलता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—मैं राम नाम छोड़ूँगा । मुझ को राम-नाम के अतिरिक्त और और कुछ पढ़ने से क्या काम है ? प्रह्लाद अनेक बाल-सखाओ के साथ पाठशाला में पढ़ने के लिए गये । उन्होंने अपने अध्यापक से कहा कि मुझे इधर-उधर की व्यर्थ की बातें क्यों पढाते हो ? मेरी तख्ती पर तो आप केवल 'श्रीगोपाल' लिख दें । इसके बाद सब लडको ने जाकर प्रह्लाद के पिता से शिकायत की । वह तुरन्त ही आकर प्रह्लाद को बाँधकर ले गये । उन्होंने प्रह्लाद से कहा कि तू राम-नाम कहने की आदत छोड़ दे । तू मेरा कहना मान जा । मैं तुझ को अभी हाल बन्धन मुक्त कर दूँगा । प्रह्लाद ने उत्तर दिया, "आप मुझे बारबार क्या डरा रहे हैं ? आप चाहे तो मेरे ऊपर जल थल पर्वत कही भी ले जाकर प्रहार करें । मुझे बाँध कर मार दें, अथवा मेरी देह को जला दें । अगर मैं राम-नाम को छोड़ दूँगा तो मेरे गुरुदेव (अन्त करण की शुद्ध-चैतन्य वृत्ति) का अपमान होगा । तब पिता ने क्रोध पूर्वक तलवार निकाल कर कहा, "अब मुझे बता, तेरा रक्षक कहाँ है ।" उसी समय खम्भे में भगवान मुरारि प्रकट हुए और उन्होंने हरिण्यकशिपु को नाखूनो से फाड कर मार डाला । भक्ति भाव ने महापुरुष एव सम्पूर्ण देवताओ के स्वामी नृसिंह भगवान को प्रकट किया था । कबीर कहते हैं कि उनकी शक्ति का पार कोई नहीं पा सकता है । उन्होंने अनेक बार प्रह्लाद सदृश भक्तों का उद्धार किया है ।

अलंकार—(1) वक्रोक्ति—मोहि का काम ।

(II) दृष्टान्त—प्रह्लाद बाल ।

(III) पदमैत्री—आल जाल । कानि, मानि । जल थल ।

(IV) पुनरुक्ति प्रकाश—बार-बार ।

(V) सम्बन्धातिशयोक्ति—कोई लहै न पार ।

विशेष— (1) सडा मुरका का पाठान्तर सठै भरकै भी है । तब अर्थ होगा —छड़ी मारकर गुरु ने जाकर शिकायत की ।

(II) इस पद में कबीर की भक्ति-पद्धति सर्वथा सगुण भक्तों जैसी दिखाई देती है । इस आख्यान का आश्रय लेने से वह परम्परावादी अर्थ में गृहीत अवतार-वाद में विश्वास रखने वाले प्रतीत होते हैं । परन्तु उनके मूल जीवन-दर्शन को ध्यान रखते हुए उनको सगुणोपासक मानना भूल होगी । बात यह है कि कबीर जनता को भगवान के प्रति आश्वस्त करना चाहते थे । इसके लिए भगवान की अमोघ शक्ति एवं शरणागतवत्सलता की चर्चा आवश्यक थी । इन पदों में उसी की व्यजना समझना चाहिए ।

पारमार्थिक दृष्टि से निर्गुण भक्त कबीर और तुलसी प्रभृति भक्तों में कोई अन्तर नहीं ठहरता है । दोनों के ही राम परमार्थतः निर्गुण निराकार राम हैं । विवेचन के स्तर पर दोनों ही पद्धतियाँ भिन्न हैं । परन्तु व्यवहार के क्षेत्र में वे फिर एक दूसरे के बहुत कुछ निकट आ जाते हैं । और ऐसा क्यों न होता ? गोस्वामी तुलसीदास ने स्पष्ट लिखा है कि—

अन्तरजामिहुँ ते बड़ बाहर जामी हैं प्रभु नाम लिये तें ।

पंजि परै प्रह्लादहुँ को प्रकटे प्रभु पाहन तें न हिए तें ।

(३८०)

हरि कौ नाउं तत त्रिलोक सार,

लै लीन भये जे उतरे पार ॥ टेक ॥

इक जंगम इक जटाधार, इक अंगि बिभूति करै अपार ॥

इक मुनियर इक मनहूँ लीन, ऐसे होत होत जग जात खीन ॥

इक आराध सकति सीव, इक पड़दा दे दे बधै जीव ॥

इक कुलदेव्यां कौ जपहि जाप, त्रिभवनपति भूले त्रिबिध ताप ॥

अनहि छाड़ि इक पीवहि दूध, हरि न मिलै बिन हिरदै सूध ॥

कहै कबीर ऐसे विचार राम बिना को उतरे पार ॥

शब्दार्थ—लै लीन = लवलीन । सकति = शक्ति । सीव = शिव । पड़दा =

परदा ।

संदर्भ—कबीरदास राम भक्ति की महिमा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—भगवान का नाम ही तीनों लोकों में एक मात्र सारतत्व है । जो इसमें लवलीन हुए वे भवसागर के पार उतर गये । साधुओं ने अनेक सम्प्रदाय बना रखे हैं । एक जंगम है, दूसरा जटाधारी है । एक अपने शरीर में अनाप-शनाप राख मल लेता है, तो एक मौन व्रत धारण करके अपने आप में ही लीन बना रहता है । इस प्रकार होते-होते ससार में भगवद-निष्ठा क्षीण होती जा रही है । एक शक्ति की उपासना करता है, तो कोई शिव को पूजता है, तो दूसरा परदे की ओट में जीव की हत्या करता है । एक कुल देवियों का जप करता है और इस प्रकार लोग

विविध ताप मे भगवान त्रिभुवन पति भगवान को भूलते हैं। (वाह्याचारो के कारण लोभ दु ख हर्ता भगवान को विस्मृत कर बैठते हैं।) कुछ अन्न छोड़ कर केवल दूध पीकर रहते हैं। परन्तु भगवान तब तक नहीं मिलते हैं जब तक व्यक्ति का हृदय साफ न हो—उसकी कथनी-करनी समान न हो। कबीरदास कहते हैं कि व्यक्ति को एक निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि राम की भक्ति के बिना कोई भी भवसागर पार नहीं कर सकता है।

अलंकार - (1) पुनरुक्ति प्रकाश दे दे।

(II) अनुप्रास—त्रिभुवन पति त्रिविधि ताप।

(III) वक्रोक्ति—रामपार।

विशेष—(1) वाह्याचार का विरोध व्यक्त है। विभिन्न सम्प्रदाय बन जाने के कारण प्रभु-भक्ति क्षीण हो गई है।

(II) हरि न मिलै बिन हिरदै सूध। समभाव देखें—

सूधे मन सूधे बचन सूधी सब करतूति।

तुलसी सूधी सकल बिधि रघुबर प्रेम प्रसूति।

तथा— निरमल मन जन सो मोहि भावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।

(III) त्रिविध ताप—दैहिक, दैविक एव भौतिक।

(३८१)

हरि बोलि सूवा बार बार,

तेरो ढिग मीनां कछु करि पुकार ॥ टेक ॥

अंजन मंजन तजि बिकार, सतगुरु समझायौ तत सार ॥

साध सगति मिलि करि बसंत, भौ बदन छूटै जुग जुगंत ॥

कहै कबीर मन भया अनद, अनंत कला भेटे गोब्यंद ॥

शब्दार्थ—सुवा=तोता। जीव से तात्पर्य है। मीना=मीनी (पाठान्तर), मृत्यु का प्रतीक, वैसे मीना राजपूताने की एक युद्ध प्रिय जाति है। अंजन=लेप, चन्दनादि का लेप। मंजन=मार्जन, स्नानादि। बसत=आनन्द। जुग-जुगत=युग युगांतर। अनंत कला=अनंत कलाओ वाले।

संदर्भ—कबीर कहते हैं कि साधु-सगति द्वारा ही भवसागर के पार हो सकते हैं।

भावार्थ—रे जीव रूपी तोते, बार बार भगवान का नाम-स्मरण कर। तुम्हारे पास ही मृत्यु रूपी बिल्ली कुछ कह रही है। (बिल्ली म्याऊँ-म्याऊँ करती है। मृत्यु भी मानो यह कहती रहती है—मैं आऊँ, मैं आऊँ।) चन्दनादि का लेप तथा तीर्थोदि मे स्नान आदि विकारो को छोड़ दो। मुझे सतगुरु ने ही यही सार तत्व सिखाया है। साधु-सगति मे बस कर बसन्तोत्सव (आनन्द) मनाओ अन्यथा तुम्हारे भव-वधन युगयुगांतर (जन्म जन्मांतर) तक नहीं छूटेंगे। कबीर कहते हैं कि

इससे अनंत कला वाले भगवान से तुम्हारा साक्षात्कार होगा और तुम्हारे मन को आत्मानन्द की प्राप्ति होगी ।

- अलंकार (1) रूपकातिशयोक्ति—सुवा, मीना । वसंत ।
 (ii) पुनरुक्ति प्रकाश—बार बार ।
 (iii) रूपक—अंजन मंजन विकार; भौबन्ध ।
 (iv) पदमैत्री—अजन भंजन ।
 (vi) सभग पद यमक—जुग जुगत ।

विशेष—(1) बाह्याचार का विरोध है ।
 (ii) सत्सग एवं गुरु की महिमा का प्रतिपादन है ।
 (iii) वसंत—वसन्तोत्सव वसंत पंचमी से होली की पूर्णिमा तक (४० दिन तक) मनाया जाता है ।

(३८२)

वनमाली जानै वन की आदि,

राम नाम बिन जनम बादि ॥ टेक ॥

फूल जु फूले रुति वसंत. जाम मोहि रहे सब जीव जंत ॥

फूलनि में जैसे रहै तवास, यूँ घटि घटि गोविंद है निवास ॥

कहै कबीर मनि भया अनद, जगजीवन मिलिवाँ परमानंद ॥

शब्दार्थ—आदि=आरम्भ, उत्पत्ति । बादि=व्यर्थ । रुचि वसंत । आसक्ति का ससार । फूल=भोग-विलास ।

सन्दर्भ—कबीर दास प्रभु-साक्षात्कार के आनन्द का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—वनमाला धारण करने वाले प्रभु रूपी वनमाली इस जगत रूपी वन के आदि (उत्पत्ति) को जानते हैं । राम-नाम के बिना यह जीवन व्यर्थ है । ऋतुवसंत रूपी आसक्ति के ससार में विभिन्न आकर्षक भोगों के रूप में जो फूल फूले हुए हैं, उनके द्वारा जगत के ममस्त जीव जन्तु मोहित हो रहे हैं—अपने कर्तव्य को भूले हुए हैं । जिस प्रकार फूल में सुगंध रहती है, उसी प्रकार सबके अन्तःकरणों में भगवान् व्याप्त हो रहे हैं । कबीरदास कहते हैं कि जब परमानन्द रूप जगजीवन (ईश्वर) का साक्षात्कार हुआ, लौ मन 'आनदित हो गया ।

- अलंकार (1) रूपकातिशयोक्ति—सम्पूर्ण पद । वन, फूल, वसंत ।
 (ii) साग रूपक—जीवन और वन का रूपक ।
 (iii) परिकराकुर—वनमाली ।
 (iv) उदाहरण—फूलनि • निवास ।
 (vi) पुनरुक्ति प्रकाश—घटि घटि ।
 (vii) रूपक—जगजीवन परमानंद ।

विशेष—(i) वन की आदि—संसार का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ, यह अगम्य प्रश्न है । एनी से इसको भगवान ही जानते हैं ।

(11) जीवन के प्रति वैराग्य, भगवान के सर्वव्यापकत्व एव भगवन्नाम-स्मरण का प्रतिपादन है ।

(111) फूलनि मे... निवास ।—समभाव देखिए—

ज्यों तिल माही तेल है, ज्यो चकमक में आग ।

तेरा साईं तुज्झ में जाग सकै तो जाग ।

तेरा साईं तुज्झ में, ज्यूँ, पुहुपन में वास ।

कस्तूरी के मिरग ज्यूँ, फिरि-फिरि सूँघे घास ।

(३८३)

मेरे जैसे बनजि सौं कवन काज,

मूल घटै सिरि बधे व्याज ॥ टेक ॥

नाइक एक बनजारे पांच, बैल पचीस कौ संग साथ ॥

नव बहियां दस गौंनि आहि, कसनि बहतरि लागे ताहि ॥

सात सूत मिलि बनजि कोन्ह, कर्म पयादौ सग लीन्ह ॥

तीन जगाती करत रारि चलयौ है बनजि वा बनज झारि ॥

बनजि खुटानौं पू जि टूटि, षाडू दह दिसि गयौ फूटि ॥

कहै कबीर यहु जन्म बाद, सहजि समांनु रही लादि ॥

शब्दार्थ—बनजि=व्यापार अथवा व्यापारी । बनजारे=टांडा लादकर चलने वाले व्यापारी । कसनि=कसनियाँ । गवनि=गूनें, बोरियाँ । सात सूत=सात धातु । जगाती=कर लेने वाले । खटानौं=समाप्त हो गई । टाडो=सामान ।

संदर्भ—कबीरदास वासनामय जीवन की निरर्थकता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—मेरे द्वारा किए जाने वाले व्यापार से क्या लाभ हो सकता है, जिसमें मूल धन (आत्म तत्त्व) घटता जाता है और बधन के हेतु कर्म-रूपी व्याज की वृद्धि होती जाती है । नायक एक है और पांच बनजारे (पांच ज्ञानेन्द्रियाँ) हैं । (जो विषय भोगों को खरीदते हैं ।) शरीर के २५ प्रकृति रूपी पच्चीस बैल विषयों का बोझ ढोते हैं । इन बैलों पर नापने के नौ हाथ (चार अन्त करण एव पच प्राण) तथा दस इन्द्रियों (उनके विषय) रूपी दस बोरियाँ लदी हुई हैं । इनको शरीर की बहतर नाडियों रूपी रस्सियों से बाँधा गया है । सात धातुओं ने मिलकर शरीर के इस व्यापार को मालूम किया था और भाग्य रूपी प्यादे (पैदल चलने वाला सैनिक) को अपने साथ ले लिया था (वही मार्गदर्शक एव रक्षक है ।) सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण रूपी ये तीन कर (टैक्स) उगाहने वाले भगडा कर रहे हैं । इन्होंने कर के लिए इतना भगडा किया अथवा भगडा करके इन्होंने इतना कर वसूल कर लिया कि इस जीवन रूपी व्यापारी को सम्पूर्ण जीवन रूपी वाणिज्य की सामग्री इन तीनों गुणों को समर्पित कर देनी पड़ी और जीव रूपी व्यापारी यहाँ से हाथ भाडकर चल दिया । अब तो व्यापार समाप्त हो गया (उसमें टोटा भा गया है), पूँजी कम पड़ गई है और यह चैतन्य रूपी टांडा दस इन्द्रियों रूपी दसों

दिशाओ मे फूट कर वह निकला है । कबीर कहते हैं कि यह जन्म व्यर्थ जा रहा है । अब तो मैं केवल सामान को लादने का काम करता हूँ और मैं अपने सहज स्वरूप को प्राप्त हो गया हूँ ।

अलंकार—(1) सागरूपक—जीवन को आद्यन्त एक व्यापार के रूप में प्रस्तुत किया है ।

वक्रोक्ति—कवन का ज ।

(III) रूपक—कर्म पयादी ।

विशेष—प्रतीको का प्रयोग है ।

(क) नायक—जीव ।

(ख) वनजारे पाँच—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ।

(ग) बैल पच्चीस—पच्चीस प्रकृतियाँ ।

आकाश की—काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय ।

वायु की—चलन, बलन, धावन, प्रसारण, सकोचन ।

अग्नि की—सुधा, तृषा, आलस्य, निद्रा, मैथुन ।

जल की—लार, रक्त, पसीना, मूत्र, वीर्य ।

पृथ्वी—अस्थि, चर्म, मांस, नाडी, रोम ।

नौ बहियाँ—शरीर के नवद्वार, अथवा नौ हाथ (जिनसे नापते हैं)—चार

अन्तःकरण—मन चित्त बुद्धि एव अहंकार । तथा पंच प्राण—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान) सात सूत—सप्त धातु—रस, रक्त, मांस, वसा, मज्जा, अस्थि और शुक्र ।

तीन जगाती—त्रिगुणात्मक प्रकृति—सत, रज, तम ।

दस गूने—दस इन्द्रियो के अतिरिक्त इनका अर्थ दस वायु भी हो सकती हैं—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कर्म, कूकरत देवदत्त तथा धनंजय ।

बहत्तर कसनियाँ—बहत्तर नाडियाँ ।

(३८४)

माघी दारन दुख सह्यौ न जाइ,

मेरी चपल बुधि तातै कहा वसाइ ॥ टेक ॥

तन मन भीतरि बसै मदन चोर, जिनि ज्ञान रतन हरि लीन्ह मोर ।

मै अनाथ प्रभू कहूं काहि, अनेक विगूचे मैं को आहि ॥

सनक सनंदन सिव सुकादि, आपण कवलापति भये ब्रह्मादि ।

जोगी जगम जती जटाधार, अपने औसर सब गये हैं हारि ॥

कहै कबीर रहु संग साथ, अभिअतरि हरि सू कहौ बात ।

मन ग्यांन जानि कै करि विचार, राम रमत भौ तिरिबौ पार ॥

शब्दार्थ—दारन=दारुण, कठोर । चपल=चंचल । वसाइ=वश नहीं है । विगूचा=दत्रोचा, उलझन में डाल दिया ।

सन्दर्भ—कबीरदास काम के व्यापक प्रभाव का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—हे माधव ! काम के द्वारा दी जाने वाली दारुण व्यथा मेरे लिए असह्य हो उठी है । मेरी चंचल बुद्धि मुझे काम (विषय) की ओर आकृष्ट करती है उस पर मेरा कोई वश नहीं चलता है । मेरे शरीर और मन के भीतर कामदेव रूपी चोर रहता है । उसने मेरे आत्म-बोध रूपी रत्न का अपहरण करलिया है । हे प्रभु, मैं अनाथ हूँ । मैं अपनी व्यथा किससे निवेदन करूँ ? इस काम ने अनेक बड़े-बड़ों को दबोच डाला है । मेरी तो चलाई ही क्या है ? सनक, सनदन, शिव, शुकदेव, स्वयं विष्णु ब्रह्मादि जैसे देवता, जोगी जगम, जटाधारी, आदि साधु-सभी अपना समय आने पर (अथवा इससे पाला पडने पर) इसके सम्मुख हार गये हैं । कबीर कहते हैं कि साधुओ की सगति मे रहो तथा अपने अन्त करण मे विराजमान प्रभु से अपनी व्यथा निवेदित करो । मन मे यह बात अच्छी तरह सोच-विचार कर समझ लेनी चाहिए कि भगवान (राम) मे रमण करते हुए ही भवसागर को पार किया जा सकता है ।

अलंकार—(1) वक्रोक्ति—मेरी वसाइ ।

(II) रूपक—मदन चोर, ज्ञान रतन,

(III) पर्यायोक्ति—मैं को आहि ।

(IV) अनुप्रास—सनक सनदन, शिव सुकादि सब; जोगी जगम जती जटाधर ।

(VI) अत्युक्ति—सनक . हारि ।

(३८५)

तू करी डर क्यूं न करै गुहारि,

तू बिन पंचाननि श्री मुरारि ॥ टेक ॥

तन भीतरि बसै मदन चोर, तिनि सरबस लीनों छोर मोर ॥

मांगै देइ न बिनै मांन, तकि मारै रिदा मै काम बांन ॥

मैं किहि गुहरांऊ आप लागि, तू करी डर बड़े बडे गये हैं भागि ॥

ब्रह्मा विष्णु अरु सुर मयक, किहि किहि नहीं लावा कलक ॥

जप तप संजम सुंचि ध्यान, बंदि परे सब सहित ग्यांन ॥

कहि कबीर उबरे द्वै तीनि, जा परि गोविंद कृपा कीन्ह ॥

शब्दार्थ—करी=हाथी । पंचाननि=सिंह । श्रवम=सर्वस्व । बिना बिनै=

विनय । गुहारि=पुकारना । मयक=चन्द्रमा । सु चि=शुचि, पवित्रता ।

सन्दर्भ—कबीरदास काम के व्यापक प्रभाव का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—हे मेरी जीवात्मा, तू काम रूपी हाथी से डर कर सहायतार्थ क्यो नही पुकारती है ? तुम पूछो कि मैं किसको पुकारूँ, तो इसका उत्तर यह है कि मुरारी रूपी सिंह के अतिरिक्त तुम किसको पुकारोगी ? अर्थात् कामरूपी हाथी से रक्षा के लिए तुमको मुरारि सिंह से ही पुकार करनी चाहिए । मेरे शरीर के भीतर कामदेव

रूपी चोर रहता है। उसने मेरे सम्पूर्ण चैतन्य का हरण कर लिया है। मांगने पर वह मेरे चैतन्य रूप को देता नहीं है और अनुनय विनय भी नहीं मानता है। इतना ही नहीं, वह कामदेव मेरे हृदय में तान-तान कर बाण मारता है। हे कामदेव, मैं अपनी रक्षा के लिए किसको पुकारूँ ? तुम्हारे डर के मारे बड़े-बड़े भाग खड़े हुए हैं। ब्रह्मा, विष्णु और चन्द्रदेव तुमने किस-किसको कलकित नहीं किया है ? जप, तप, सयम, पवित्रता ध्यान और ज्ञान सभी व्यक्ति इसके समक्ष पराजित हो गये हैं। कबीर कहते हैं कि इसके प्रभाव से केवल वे ही दो-तीन व्यक्ति बच पाए हैं जिन पर भगवान ने अनुग्रह किया है।

अलंकार—(1) गूढोक्ति—प्रथम पक्ति, किहि गुहराऊँ।

(II) रूपक—मदन चोर, काम वान।

(III) विशेषोक्ति की व्यजना—मागे देह..... मान।

(IV) पुनरुक्ति प्रकाश—किहि किहि।

(V) वक्रोक्ति—किहि... कलक।

(VI) सहोक्ति—सब सहित ग्यान।

विशेष—(1) काम के सर्वव्यापी एवं सर्वग्रासी प्रभाव की ओर संकेत है।

(II) जा परि—कीन्ह। पुष्टि मार्गीय भक्त की भाँति कबीरदास उद्धार के लिए प्रभु-कृपा पर अवलम्बित दिखाई देते हैं।

(III) कामदेव के वान—५ हैं—मोहन, उन्मादन, संतपन, शोषण और निषचेष्टीकरण।

(३८६)

ऐसौ देखि चरित मन मोह्यौ मोर,

ताथे निस वासुरि गुन रमौ तोर ॥ टेक ॥

इक पढ़ाहि पाठ इक भ्रम उदास, इक नगन निरंतर रहैं निवास ॥

इक जोग जुगुति तन हूहि खीन, ऐसै राम नाम सगि रहै न लीन ॥

इक हूहि दीन एक देहि दांन, एक करै कलापी सुरा पांन ॥

इक तत मंत ओषध वान, इक सकल सिध राखै अपान ॥

इक तीर्थ व्रत करि काया जीति, ऐसै राम नाम सूं करै न प्रीति ॥

इक घोम घोटि तन हूहि स्यांम, यूं मुकति नहीं विन राम नाम ॥

सत गुर तत कह्यौ विचार, मूल गह्यौ अनभै विसतार ॥

जुरा मरण ये भये धीर, राम कृपा भई कहि कबीर ॥

शब्दार्थ—खनी=क्षीण। कलापी=कलाप=करघनी, लक्षण से कोपीन, अतः कलापी का अर्थ कोपीनधारी हुआ। अयान=अपान वायु, भीतर को खीची जाने वाली सास-तात्पर्य 'प्राणायाम' से है। घोम=घुँसा। मूल=परम तत्व। जुरा=जरा, वृद्धा-स्था। धीर=निश्चल, अविचल। अनभै=निर्भय अवस्था।

संदर्भ—कबीरदास बाह्याचार के कारण उत्पन्न ससार की दुर्दशा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—हे प्रभु ससार के लोगो के आचरण (ससार की दुर्दशा) देखकर ही मेरा मन आपकी ओर आकृष्ट हुआ है । इससे मैं दिन रात आपके गुणो मे रमा हुआ हूँ (आपकी भक्ति मे तल्लीन हो गया हूँ) । कोई वेद पाठ मे भूला हुआ है, कोई ससार के प्रति उदासीन होकर घूमता है, कोई निरन्तर नग्न बना हुआ रहता है, और कोई योग की युक्तियो से (हठयोग की साधना द्वारा) अपने शरीर को ही सुखाता है । ऐसे व्यक्ति राम-नाम मे लवलीन नहीं रहते हैं । कोई भिखारी बन जाता है और कोई दानी बना हुआ दिखाई देता है । कुछ ऐसे साधु हैं जो कोपीन तो धारण किए हुए हैं, परन्तु (वामाचार का अवलम्बन करते हुए) शराब पीते हैं । कोई तत्र-मत्र एव जडी-बूटियो की साधना करता है और कोई प्राणायाम की साधना करता है और कोई प्राणायाम की साधना करके पूर्ण सिद्ध होने का दम्भ करता है । कोई तीर्थ-व्रत करके अपने शरीर पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करता है । बाह्याचारो मे विश्वास करने वाले ये व्यक्ति राम-नाम से प्रेम नहीं करते हैं । कोई धुएँ मे घुट-घुट कर अपना शरीर काला कर देता है । परन्तु राम नाम के बिना इस प्रकार की साधनाएँ करने से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है । सत्गुरु ने विचार करके तत्व की बात बताई है । हृदय मे निर्भय अवस्था का विस्तार करने वाले परम तत्व को ग्रहण करो । कबीर कहते हैं कि (गुरु के उपदेशानुसार आचरण करके) अब मैं वृद्धावस्था और मृत्यु के प्रति निश्चल हो गया हूँ अर्थात् इनके भय से मुक्त हो गया हूँ । अब मेरे ऊपर राम की कृपा हो गई है ।

अलंकार—(1) अनुप्रास—मन मोह्यौ मोर । नगिन निरतर निवास ।

(II) विरोधाभास—कलापी सुरापान ।

(III) पदमैत्री—तत मत ।

(IV) तद्गुण की व्यजना—धोम घोटि तन हूहि स्याम ।

विशेष—(1) बाह्याचारो का विरोध है । राम-नाम के महत्व का प्रतिपादन है ।

(II) 'वैराग्य' की व्यजना है ।

(३८७)

सब मदिमाते कोई न जागा,

ताथै सग ही चोर घर मुसन लाग ॥ टेक ॥

पंडित माते पढि पुरांन, जोगी माते धरि धियांन ॥

सन्यासी माते अहमेव, तपा जु माते तप कं भेव ॥

जागे सुक उधव अकूर, हणवत जागे लै लगूर ॥

सकर जागे चरन सेव, कलि जागे नामा जैदेव ॥

ए अभिमान सब मन के काम, ए अभिमान नहीं रहों ठाम ॥

आतमां राम कौ मन विश्राम, कहि कबीर भजि राम नाम ॥

शब्दार्थ—मद=उन्माद, गर्व । माते=मस्त, बेसुध । मुसन लाऊ=लूट रहे हैं ।

सन्दर्भ—कबीरदास ससारी व्यक्तियों की अज्ञान-दशा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—समस्त ससार मन्दान्ध (उन्माद एव गर्व में अन्धा, होकर अज्ञान की निद्रा में मदहोश होकर सो रहा है । कोई भी ज्ञान लाभ कर सचेत नहीं होता है । इसी से साथ में लगे हुए कामादिक चोर जीव के शरीर को (जीवन को) लूट रहे हैं । (विवेक को नष्ट तथा विशुद्ध चैतन को तिरोहित कर रहे हैं ।) पंडित पुराण पढ़कर मदमस्त है, योगी ध्यान-योग के अहंकार में मदहोश हैं ।- सन्यासी 'अहमेव' की भावना के अहंकार में तथा तपस्वी तप के भ्रम में अपने आपको भूले हुए हैं । शुकदेव, उद्धव, अक्रूर, और जामवत सहित हनुमान ईश्वर-प्रेम में अनुरक्त होकर ही इस अज्ञान-निद्रा से जागे थे । शंकर को भी भगवान के चरणों की सेवा से ही बोध हुआ था । कलियुग में नामदेव और जयदेव को भी (इसी प्रकार) ज्ञान हुआ । (ज्ञान तप आदि के) उपर्युक्त समस्त अभिमान केवल मन में उत्पन्न होते हैं । इन अभिमानों के कारण साधक का मन सदैव चंचल बना रहता है । इसी से कबीर कहते हैं कि आत्मारामों के मन के विश्राम राम-नाम का भजन करना चाहिए— अर्थात् मन का वास्तविक विश्राम आत्माराम है । वहाँ पर मन अपनी सम्पूर्ण चंचलता सहित शुद्ध चैतन्य में विलीन हो जाता है । यह ज्ञान और प्रेम द्वारा ही सम्भव है । इसी से कबीर कहते हैं कि, हे जीव, राम-नाम का स्मरण करो ।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति - चोर, घर

विशेष—(1) दम्भ उत्पन्न करने वाले वाह्याचारों का विरोध है । साथ ही सच्ची भक्ति-भावना का प्रतिपादन है ।

(II) पुराण एव इतिहास प्रसिद्ध भक्तों की चर्चा द्वारा तीन बातें प्रकट होती हैं—(क) कबीर का विरोध केवल दम्भ से था । जहाँ भी सचाई थी, वहाँ कबीर का मन रम जाता था । (ख) भारत में पौराणिक संस्कृति का व्यापक प्रभाव था । जनता के मन को प्रभावित करने के लिए पौराणिक पात्रों का उल्लेख आवश्यक था । तथा (ग) कबीर के ऊपर हिन्दू संस्कारों का गहरा प्रभाव था ।

(३८८)

चलि चलि रे भवरा कवल पास,

भवरी बोलै अति उदास ॥ टेक ॥

तैं अनेक पुहप कौ लियौ भोग, सुख न भयी तव बढ्यौ है रोग ॥

हौं ज कहत तोसुं बार बार, मैं सब बन सोध्यौ डार डार ॥

दिनां चारि के सुरंग फूल, तिनहि देखि कहा रह्यौ है भूल ॥

या बनासपती मैं लाग्यौ आगि, तव तू जैहौ कहां भागि ॥

पहुप पुराने भए सूक, तब भवरहि लागी अधिक भूख ॥
उड़यो न जाइ बल गयो है छूटि, तब भवरी रूनी सीस कूटि ॥
दह दिसि जोवं मधुप राइ, तब भवरी ले चली सिर चढ़ाइ ॥
कहै कबीर मन कौ सुभाव, राम भगति बिन जम कौ डाव ॥

शब्दार्थ—भ्रमर=मन । भ्रमरी=विवेक-बुद्धि । सुरग=सुन्दर रग ।
वनस्पति वन । रूनी=रोई । डाव=भय ।

सन्दर्भ—कबीर का कहना है कि अन्तत राम भक्ति ही जीवन की सार्थकता है ।

भावार्थ—विवेक-बुद्धि रूपी भ्रमरी ससार की विषय-वामनाओ से दुखी एव उदास होकर कहती है कि रे मन-रूपी भ्रमर, तुम भगवान के चरण कमलो के प्रति अनुरक्त बनो । तुमने अनेक विषय रूपी पुरुषो का रस भोगा है । उससे तुमको कुछ भी सुख प्राप्त नहीं हुआ, अपितु मोह-रूप रोग की वृद्धि हुई है । यह बात तुमसे बार-बार कह चुकी हूँ । इस ससार रूपी वन की डाल-डाल पर मैंने आनन्द की खोज की, (लेकिन सब व्यर्थ) । ये विषय रूपी सुन्दर रग के फूल केवल चार दिन के ही हैं । इन्हें देखकर तू क्यों मोहित हो रहा है ? इस ससार रूपी जगल में आग लग जाएगी । तब तुम अपने प्राणों के रक्षार्थ कहीं भाग कर जाओगे ? (तब भी तुम्हें भगवान की शरण में ही जाना पड़ेगा ।) परन्तु भ्रमर ने भ्रमरी की बात नहीं मानी । कुछ दिनों पश्चात् फूल पुराने पड़ कर सूख गये (विषय की सामर्थ्य क्षीण हो गई), तब भ्रमर रूपी मन को ईश्वर-प्रेम की भूख जोर के साथ लगी । परन्तु इस समय उसका शरीर इतना हीनवीर्य हो गया था कि उससे उडा ही नहीं जाता था । उसकी यह दशा देख कर बुद्धि रूपी भ्रमरी सिर पीट-पीट कर रोने लगी । मन रूपी भ्रमर भी अपने किए पर पश्चात्ताप करता हुआ दसों दिशाओ में घूम घूम कर रोने लगा । तब भ्रमरी उसको अपने सिर पर चढ़ाकर भगवान के चरणारविन्द के पास ले गई । कबीर कहते हैं कि मन रूपी भ्रमर का यह सहज स्वभाव है कि जब तक उसको भगवान के चरण-कमलों का सान्निध्य प्राप्त नहीं होता है, तब तक मृत्यु भय से उसकी मुक्ति नहीं होती है ।

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति—भवरा, भवरी, पहुप, वन ।

(II) साग रूपक—सम्पूर्ण पद ।

(III) वीप्सा—चलि चलि रे ।

(IV) विशेषोक्ति—तै सुख न भयो ।

(V) विरोधाभास—भयो तब " रोग, पहुप पराने " भूख ।

(VI) पुनरुक्ति प्रकाश—वार वार, डार-डार ।

(VII) गूढोक्ति—कहा भूल ।

विशेष—(1) इस पद में बुद्धि-मनस और काम मनस के द्वन्द्व का सुन्दर वर्णन है । अन्ततः बुद्धि मनस की विजय होती है और काम मनस का बुद्धि मनस में

पर्यवसान हो जाता है। यही बुद्धिरूपी भ्रमरी का मन रूपी भ्रमर को अपने सिर पर चढ़ाना है।

सद्प्रवृत्तियो एवं दुष्प्रवृत्तियो का यह मानसिक शाश्वत है। इसी प्रकार देवासुर-संग्राम, पाण्डव-कौरवो का महाभारत, राम-रावण का युद्ध आदि कहा गया है। बुद्धि मनस विश्व-चेतना की वाहिका है। वही विश्व-चेतना स्वरूप भगवद् चरणों के प्रति उन्मुख वृत्ति है।

विवेक एव भक्ति के प्रति वासनात्मक मन का समर्पण जीव का स्वभाव एव जीवन की सार्थकता है। इसी का वर्णन इस पद में किया गया है।

(11) विविध रस-लोलुप होने के कारण मन भ्रमर है। भ्रमर को तृप्ति केवल कमल प्रदान कर पाता है और वह उसी के कोश में आवद्ध हो जाता है। इसी से भगवान के चरणों को कमल कहने है। चरण कमलों का स्मरण करते-करते वासनात्मक बुद्धि का अद्वैत बुद्धि में पर्यवसान ज्ञानी भक्तों का प्रतिवाद्य रहा है। भ्रमर गीत की परम्परा का साहित्य इसका ज्वलत उदाहरण है।

(३८६)

आवध राम सबै करम करिहू,

सहज समाधि न जमथे डरिहूं ॥ टेक ॥

कुभरा ह्वै करि बासन घरिहू, धोबी ह्वै मल धोऊं ।

चमरा ह्वै करि रगौ अधौरी, जाति पांति कुल खोऊं ॥

तेली ह्वै तन कोलहू करिहौ, पाप पुनि दोऊ पीरौं ।

पंच बैल जब सूध चलाऊं, राम जेवरिया जोरू ॥

ज्ञत्री ह्वै करि खड़ग सँभालूँ, जोग जुगति दोउ साधूँ ।

नऊवा ह्वै करि मन कूँ मूडूँ, बाढ़ी ह्वै कर्म बाढूँ ॥

अवधू ह्वै करि यहु तन धूतौँ बधिक ह्वै मन मारूँ ।

बनिजारा ह्वै तन कूँ बनिजूँ, जूवारी ह्वै जम हारूँ ॥

तन करि नवका मन करि खेवट, रसना करऊँ बाडारूँ ।

कहि कबीर भौसागर तरिहूँ, आप तिरू बप तारूँ ॥

शब्दार्थ—आवध=अवधि पति। कुभरा=कुम्हार। घरिहूँ=बना दूँगा। अधौरी=घिनौनी वस्तुएँ। पीरौं=पे लूँगा। अवधू=अवधूत, जोगी। करऊँ=वाडारूँ=डा० माताप्रसाद गुप्त ने इसका अर्थ करउवा=डालूँ करके 'पतवार डालूँगा' लिखा है। डा० भगवत्स्वरूप मिश्र ने इसका अर्थ "करऊँ-वाडारूँ" करके रसना बना दूँगा लिखा है। खेवट के सदृश में 'पतवार' अधिक सगत है। इसी से हमने इसका अर्थ 'पतवार' ही किया है। बप=बाप, पूर्वज।

सन्दर्भ-- कबीरदास कर्म की कुशलता द्वारा उद्धार की कामना करते हैं।

भावार्थ—हे अवधपति राम, मैं सब कर्म करूँगा और सहज समाधि को

प्राप्त करूँगा और मैं इस प्रकार कर्मों को ज्ञान की साधना में परिणत करता हुआ मृत्यु का आलिङ्गन करने को सदैव तैयार रहूँगा ।

कुम्हार होकर मैं सुन्दर वर्तन बना दूँगा । धोबी होकर मैं कपडों का मैल अच्छी तरह धो दूँगा । चमार होकर मैं चमड़ा जैसी धिनीनी वस्तु को अच्छी तरह रँगूँगा और इस प्रकार जाति-पाँति और कुल के कारण उत्पन्न हीनत्व भावना को समाप्त कर दूँगा । तैली होने पर मैं अपने शरीर को कोलू बनाकर उसमें पाप-पुण्यो को पेरूँगा तथा भक्ति रूपी तैल निकालूँगा । अपनी पाँचों इन्द्रियों को कोलू का वैल बना दूँगा और राम-प्रेम की रस्सी से नाथ कर उसे (पञ्चइन्द्रिय रूपी वैल) को भक्ति के सीधे मार्ग पर चलाऊँगा । क्षत्रिय होने पर मैं विवेक की तलवार चला दूँगा तथा योग एवं ज्ञान दोनों को सिद्ध करूँगा । (विवेक पूर्वक दुष्टों को दण्ड दूँगा तथा दण्ड निर्धारित करते समय तटस्थ की भाँति व्यवहार करूँगा । यही ज्ञान एवं योग की साधना है ।) नाई होने पर अपने मन की समस्त वासनाओं को मूँड दूँगा । बढई होकर मैं कर्मों के बधन को काटूँगा । अवधूत होने पर मैं इस शरीर के मल को धोकर साफ करूँगा और बधिक के रूप में इस वासनामय मन को ही मार डालूँगा । व्यापारी बनने पर मैं परम तत्त्व का व्यापार करूँगा । जुवारी होने पर मैं मृत्यु भय को ही दाव पर लगाकर हार जाऊँगा (मैं अपने शरीर की नौका और मन का केवट एवं जिह्वा की पतवार बनाकर भव-सागर के पार जाऊँगा । कवीर कहते हैं कि इस प्रकार मैं स्वयं तिरूँगा और अपने पूर्वजों (अन्य व्यक्तियों) का भी उद्धार कर दूँगा ।

अलंकार—(1) रूपक-तन कोलू, राम जेवरिया । पंच वैल तन करि ”
डारूँ ।

(II) भी सागर ।

(III) अनुप्रास—तरिहै, तिरूँ, तारूँ ।

विशेष—(1) कर्म की महिमा का प्रतिपादन है । निष्ठापूर्वक कार्य ही मोक्ष का साधन बनता है । “योग की कर्मसु कौशलम् (गीता)

(II) कवीर की यह मान्यता प्रकट है कि सभी जातियों के व्यक्ति अपने व्यावसायिक कर्मों को आध्यात्मिक रूप प्रदान करके परम पद के अधिकारी बन सकते हैं । यही समन्वय एवं तत्त्व दृष्टि है । वह स्वयं जुलाहे थे और अपने कर्म को निष्ठापूर्वक करते हुए परमपद के अधिकारी बने थे ।

(III) इस पद में सभी जातियों के कर्मों का साधना-परक अर्थ किया गया है । व्यक्ति चाहे जिस सामाजिक स्थिति में हो उसे ईश्वर-भक्ति का पूर्ण अधिकार एवं अवसर प्राप्त है । यह मान्यता भारतीय दृष्टिकोण के अनुरूप है । तुलना करें—

(क) श्रेयान्स्वधर्मो विगुण परधमत्स्विनुष्ठितात् ।

स्वधर्मं निधन श्रेय परधर्मो भयावहः ।

(ख) मम माया संभव संसारा । जीव चराचर विविध प्रकारा ।

× × ×

पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाही । मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं ।

× × ×

भगतिवंत अति नीचउ पुरानी । मोहि प्रानप्रिय अस मम बानी ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(iv) तन कर'...डाहूँ । कबीर को यह कामना बहुत कुछ इस प्रकार की है—जेहि जोनि जन्मौ कर्म बस तहाँ राम पद अनुरागऊँ ।

राग मालीगौड़ी

(३६०)

पंडिता मन रजिता, भगति हेत ल्यौ लाइ रे ।

प्रेम प्रीति गोपाल भजि नर और कारण जाइ रे ॥ टेक ॥

दांम छै पणि कांम नाहीं, ग्यांन छै पणि धंध रे ।

श्रवण छै पणि सुरति नाहीं, नैन छै पणि अंध रे ॥

जाकै नाभि पदम सु उदित ब्रह्मा, चरन गग तरग रे ।

कहै कबीर हरि भगति बाँछूँ, जगत गुर गोब्यद रे ॥

शब्दार्थ—रजिता = अनुरक्त । कारण = उपाय । जाइरे = जाने दो । दाम = घन । छै = है । पणि = पर । नाभि = दुँडी । बाँछूँ = बाँछा करता हूँ ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि भगवान की भक्ति ही काम्य होनी चाहिए ।

भावार्थ—रे विषयो मे अनुरक्त मन वाले पंडित तुम भगवान की भक्ति मे अपना मन लगाओ । प्रेम और प्रीति (श्रद्धा) पूर्वक भगवान का भजन करो तथा अन्य सब बातों को (व्यर्थ समझ कर) जाने दो । तुम्हारे पास घन है परन्तु उसके सदुपयोग के लिए काम नहीं करते हो । तुमको बौद्धिक ज्ञान प्राप्त है, परन्तु तुम ससार के धन्धों में फँसे हुए हो । तुम्हें श्रवणशक्ति प्राप्त है, परन्तु भगवद् चर्चा सुनकर तुम्हारे भीतर भगवान की स्मृति नहीं जागती है । तुम नेत्रों के होते हुए भी भगवान का साक्षात्कार न कर सकने के कारण अंधे ही कहे जाओगे । कबीर कहते हैं कि जिन भगवान के नाभि-कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है तथा जिनके चरणों से गंगा की धारा प्रकट होकर बही है, मैं उन्हीं भगवान की भक्ति की कामना करता हूँ । वे गोविन्द ही जगत को ज्ञान प्रदान करने वाले गुरु हैं ।

अलंकार—(i) पदमैत्री—पंडिता मन रजिता । गग तरग ।

(ii) विशेषोक्ति की व्यंजना—दाम—नाही, श्रवण—नाही ।

(iii) विरोधाभास—ग्यान—धंध रे । नैन अंधरे ।

(iv) परिकराकुर—गोविन्द ।

विशेष—(i) इस पद में कबीर के राम विष्णु के अवतार रूप में हमारे सामने आते हैं और वह मगुण भक्त कवियों की पक्ति में खड़े हुए दिखाई देते हैं ।

(11) कबीर के ऐसे कथनों को अर्थवादी ही मानना चाहिए । इस पद में वर्णित घटनाओं को कबीर ने सत्य माना हो—यह आवश्यक नहीं है । भगवान की शक्ति करुणा आदि गुणों की व्यजना ही उन्हें अभिप्रेत है । कबीर की भगवान की दयालुता, भक्त वत्सलता आदि में आस्था थी इसमें कोई सदेह नहीं है । उन्हें हम सगुणोपासक मान सकते हैं, परन्तु तुलसी सूर प्रभृति भक्त कवियों की भाँति साकारोपासक नहीं मान सकते हैं । और फिर बात वही है । भारतीय मन-मानस को प्रभावित करने के लिए पौराणिक आख्यानों की चर्चा के बिना काम नहीं चल सकता है ।

(३६१)

विष्णु ध्यान स्नान करि रे, बाहरि अंग न धोइ रे ।
साच बिन सीझसि नहीं, काई ग्यान दृष्टे जोइ रे ॥ टेक ॥
जंजाल मांहीं जीव राखें, सुधि नही सरीर रे ॥
अभिअतरि भेदै नही, काई बाहरि न्हावे नीर रे ।
निहकर्म नदी ग्यान जल, सुनि मडल मांहि रे ॥
औधूत जोगी आतमां, काई पेरण सजमि न्हाहि रे ।
इला प्यगुला सुषमनां, पछिम गगा बालि रे ॥
कहै कबीर कुसमल झड़ै, काई मांहि लौ अग पषालि रे ।

शब्दार्थ—अभिवन्तरि=आम्यन्तर, हृदय, मन । सीझसि=सिद्धि है । जोइ=दिखाई देता है । औधूत=अवधूत साधक, हठयोगी साधक । सजाम=सयम । कुसमल=पाप । झड़ै=घुल जाएँगे । पषालि=घोले । बालि=सुषुम्ना । पछिम=सुषुम्ना । गगा=इडा ।

सन्दर्भ—कुछ साधक बाह्य साधनों एवं साधनाओं में व्यर्थ समझ एवं शक्ति खोते रहते हैं और अन्नरात्मा को निर्मल नहीं बनाते हैं । कबीरदास इन्हीं को सावधान करते हैं ।

भावार्थ—कबीरदासजी शरीर को मल-मल कर स्नान करने वाले साधकों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि विष्णु-ध्यान का स्नान करो बाहर से अंगों को मत धोते रहो । भाव यह है कि पानी से शरीर के बाह्यांगों को धोने से कोई लाभ नहीं होगा भगवान् का ध्यान करके अपने मन को निर्मल बनाना ही मुख्य काम है । सत्य के बिना सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती है अतः ज्ञान दृष्टि से देखने का प्रयत्न क्यों नहीं करते हो ? तूने अपने जी को जगत् के जंजाल में डाल रखा है और तुझको अपने शरीर का भी होश नहीं है । भाव यह है कि तू विषय के मोहवश अपने शरीर के स्वास्थ्य के प्रति भी असावधान हो गया है । अपने अन्दर प्रवेश नहीं करते हो अर्थात् आत्म-चिन्तन से विमुख हो । ऐसी स्थिति में बाहर जल से क्या स्नान करते हो—बाहरी टीमटाम से कोई लाभ नहीं है । गून्ध मण्डल में निष्काम कर्म की नदी बहती है उसमें ज्ञान का जल है । जो योगी सयम के द्वारा उस नदी में स्नान करता

है, वह सर्वथा शुद्धात्मा बन जाता है। इडा, पिंगला और सुषुम्ना, जिन्हे गंगा, बंकनाल एवं अवधूती भी कहते हैं—के सगम में अपने-अपने अंगों को धो लो। इसमें तेरे समस्त पाप धुल जाएँगे।

अलंकार—रूपक— ग्यान दृष्टि, निहकर्म जल,

विशेष—बाह्य कर्म-काण्ड को व्यर्थ बताकर योग-साधन की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। कबीरदास के ऊपर नाथ-सम्प्रदाय की साधना का स्पष्टतः गहरा प्रभाव दिखाई देता है।

(२) इडा को गंगा कहा है। सुषुम्ना को बंकनाल या पश्चिम दिशा भी कहते हैं। सुषुम्ना को अवधूती या बालरडा तपस्विनी भी कहा गया है। ६ वीं पक्ति कबीरदास का अभिप्राय इडा पिंगला और सुषुम्ना के सगम से है। कथन में कुछ दुष्कामत्व दोष आ गया है।

(३६२)

भजि नारदादि सुकादि बंदित, चरन पंकज भांसिनी ।
भजि भजिसि भूषन पिया मनोहर, देव देव सिरोवनीं ॥टेक॥
बुधि नाभि चदन चरचिता, तन रिदा मन्दिर भीतरा ।
राम राजसि नन बानी, सुजान सुदर सुंदरा ॥
बहु पाप परबत छेदनां, भौ ताप दुरिति निवारणां ।
कहै कबीर गोब्यद भजि, परमानंद बंदित कारणां ॥

शब्दार्थ—भामिनी = सुन्दर स्त्री (जीवात्मा), छेदना = नष्ट करने वाले।
दुरित = संकट। निवारणा = दूर करने वाले। कारणा = कारणभूत, उत्पत्ति के कारण। भूषन पिया = लक्ष्मी।

सन्दर्भ—कबीर भगवद भजन का उपदेश देते हैं।

भावार्थ—री आत्मा सुन्दरी, नारद इत्यादि मुनि तथा शुकदेव इत्यादि ऋषियों के द्वारा वन्दित भगवान के चरण-कमलों का भजन कर। लक्ष्मी के हृदय के आभूषण एवं अत्यन्त मनोहर तथा सम्पूर्ण देवताओं के सिर पर मणि के समान शोभा देने वाले इन चरणों का भजन कर। चन्दन से चर्चित बुद्धि-रूपी नाभि तथा शरीर एवं हृदय-रूपी मन्दिर में विराजमान आत्मारूपी राम सुशोभित हो रहे हैं। राम अत्यन्त ज्ञानी हैं। वह अपने सुन्दर नेत्रों एवं वाणी से सुशोभित हैं तथा सुन्दरों में भी सुन्दर हैं अथवा सुन्दरों की सुन्दरता हैं। वह सम्पूर्ण पापों के पहाड़ों को नष्ट करने वाले हैं तथा ससार के कष्टों एवं संकटों को दूर करने वाले हैं। कबीर कहते हैं, तू उन गोविंद का भजन कर जो परमानंद स्वरूप हैं तथा सृष्टि के उत्पत्ति कारणों (मृष्टि के उत्पादक तत्त्वों) द्वारा वन्दित हैं।

अलंकार—(i) रूपक-चरण पंकज, बुधि-नाभि तन रिदा मन्दिर।

(ii) गभग पद यमक—भजि भजिसि।

(iii) यमक—देव देव।

(iv) अनुप्रास—सुजान सु दर सुयश ।

(v) अतिशयोक्ति—सु दर सुन्दरा ।

विशेष—(1) भूषण पिया का अर्थ सीता भी हो सकता है । कबीर ने कही कही राम को परब्रह्म और विष्णु दोनों ही रूपों में स्वीकार किया है ।

(ii) कबीर राम के गुणों की वन्दना बार-बार करते हैं, यद्यपि उन्हें निराकार एव निर्गुण ही मानते हैं । इस विरोधाभास के कारण ही कबीर सामान्य पाठक को कबीर की वाणी, अट पटी प्रतीत होने लगती है ।

(iii) सुन्दर सुन्दरा—तुलना करें—

सुन्दरता कहें सुन्दर करई । छविगृह दीपसिखा मनु बरई ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

राग कल्याण

(३६३)

ऐसै मन लाइ लै राम रसनां,

कपट भगति कीजै कौन गुणां ॥टेक॥

ज्यू मृग नादै बेध्यों जाइ, प्यड परै वाकौ ध्यांन न जाइ ॥

ज्यूं जल मीन हेत करि जांनि, प्रांन तजै बिसरै नही बांनि ॥

भ्रिगी कीट रहै ल्यौ लाइ, ह्वै लै लीन भ्रिग ह्वै जाइ ॥

राम नाम निज अमृत सार, सुमिरि सुमिरि जन उतरे पार ॥

कहै कबीर दासनि को दास, अब नही छाड़ौं हरि के चरन निवास ॥

शब्दार्थ—कौन गुणा=क्या लाभ । प्यड शरीर ।

सन्दर्भ—कबीर राम के प्रति अनन्य प्रेम का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—हे जीव, इस दिखावटी और बनावटी भक्ति का क्या उपयोग है ?

इससे कुछ भी लाभ नहीं होना है । भगवान राम की भक्ति के रसास्वादन में मन लगा कर तू ऐसा तन्मय होजा, जैसे हिरण मधुर ध्वनि में अनुरक्त होकर वाणों से विद्ध होता रहता है एव उसका शरीर भी गिर जाता है (वह मर जाता है । परन्तु नाद से उसका ध्यान नहीं हटता है, मछली जल से प्रेम के कारण उससे वियुक्त होने पर अपने प्राण भले ही त्याग देती है परन्तु जल से प्रेम करने का अपना स्वभाव नहीं छोडती है, तथा कवि भ्रमर में ध्यान लगाए रहता है और उसी में लीन होकर भृंग ही बन जाता है—(परन्तु व्यक्तित्व का मोह करके भ्रमर को नहीं छोडता है) राम नाम ही वास्तव में आत्म स्वरूप, अमृत स्वरूप एव सार तत्व है । उसी को बार-बार स्मरण करके अनेक भक्त जन भवसागर के पार उतर गये हैं । कबीर कहते हैं कि मैं तो भक्तों का भी भक्त हूँ (दासानुदास) हूँ । अब मेरा मन रूपी भ्रमर भगवान के चरणारविन्द में निवास करना (अनुरक्त रहना) नहीं छोडेगा ।

अलंकार—(1) उदाहरण—ज्यूं है जाइ ।

- (ii) वक्रोक्ति— कौन गुणा ।
- (iii) उल्लेख—निज अमृत सार ।
- (iv) पुनरुक्ति प्रकाश—सुमिर सुमिर ।
- (v) सभंग पद यमक— दासनि दास ।

विशेष— (1) अनन्य भक्ति का प्रतिपादन है ।

(ii) मृग, मीन, भृ गी परम्परागत प्रेम-प्रतीक हैं ।

राग सारंग

(३६४)

यहु ठग ठगत सकल जग डोलै,

गवन करै तब मुषह न बोलै ॥टेक॥

तू मेरौ पुरिषा हौं तेरी नारी, तुम्ह चलतै पाथर थै भारी ॥

बालपनां के मीत हमारे, हमहि लाड़ि कत चले हो निनारे ॥

हम सुं प्रीति न करि री बौरी, तुम्ह से केते लागे ढौरी ॥

हम काहू संगि गये न आये, तुम्ह से गढ़ हम बहुत बसाये ॥

माटी की देही पवन सरीरा, ता ठग सूं जन डरै कबीरा ॥

शब्दार्थ—ठग=जीव । नारी=देह से तात्पर्य है । पाथर=पत्थर ।
थै भारी=से भी अधिक कठोर । निनारे=न्यारे, अलग । ढौरी=लगन । गढ़
=अड्डा ।

सन्दर्भ—कबीर जीवन की निस्सारता का निरूपण करते हैं ।

भावार्थ—यह जीव रूपी ठग समस्त ससार को ठगता हुआ घूमता है । यह शरीर का आश्रय लेकर ससार के सुखो को भोगता है और फिर शरीर को छोड़ कर चला जाता है । (जाते समय यह शरीर के प्रति निर्मोही हो जाता है) और शरीर से मुंह से भी नहीं बोलता है । इस समय यह काया उससे कहती है कि तुम मेरे पुरुष (पति) हो और मैं तुम्हारी आश्रिता पत्नी हूँ । तुम इस पत्थर से भी अधिक कठोर बन कर चले जा रहे हो ? तुम तो हमारे बालकपन के मित्र हो । तुम हमसे अलग होकर कहाँ जा रहे हो ? जीव उत्तर देता है कि, “हे पगली हमसे प्रीति मत करे । तुम्हारी जैसी न मालूम कितनी नारियो से हमने लगन लगाई है । हम किसी भी शरीर के साथ न तो आए हैं और न किसी शरीर के साथ जाते ही हैं । हमने तुम्हारे जैसे काया रूपी अनेक अड्डे बसाए हैं (हम तो अड्डे पर टिकते हैं और चले जाते हैं । जिस ठग रूपी जीव की काया स्थूल मिट्टी की भाँति नष्टवर है तथा जिसका प्रेरक तत्त्व हवा की तरह अस्थिर है, उससे भगवान का भक्त कबीर बहुत डरता है, अर्थात्-उसके प्रति कबीर विल्कुल आसक्त नहीं हैं ।

अलंकार—(i) सभग पद यमक—ठग ठगत ।

(ii) व्यतिरेक—पाथर थै भारी ।

(iii) रूपक—माटी……सरीरा ।

(iv) रूपकातिशयोक्ति—ठग ।

विशेष—(1) देह की नश्वरता, जीव का अनेक योनियो मे भटकना तथा शरीर की आसक्ति का विपरीत लक्षणा द्वारा अच्छा वर्णन किया गया है ।

(11) जीव न मालूम कब शरीर को छोड़ दे इससे भगवान का भजन ही सार है । यह व्यजना है ।

(३६५)

घनि सो घरी महरत्य दिनां,

जब ग्रिह आये हरि के जनां ।।टेक।।

दरसन देखत यहु फल भया, नैनां पटल दूरि है गया ॥

सब्द, सुनत संसा सब छूटा, श्रवन कपाट बजर था तूटा ॥

परसत घाट फेरि करि घड़या, काया कर्म सकल झड़ि पड़या ॥

कहै कबीर संत भल भाया, सकल सिरोमनि घट में पाया ॥

शब्दार्थ—मुहुत्त = समय (काल), पटल = पर्दा । कपाट = किवाड । बजर = बज्र । घाट = शरीर । फेरि करि = दुबारा । घड़या = निर्माण कर दिया । सकल सिरोमनि = भगवान । काया-कर्म = इन्द्रियासक्ति ।

सदर्भ—कबीरदास सत्सग की महिमा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—वह घड़ी, वह समय तथा वह दिन धन्य था जब घर पर भगवान के भक्त पधारे । उनके दर्शन करते ही यह प्राप्त हो गया कि आखी के सामने से अज्ञान का पर्दा हट गया । उनके उपदेशामृत को सुनते ही समस्त सषय दूर हो गये तथा कानो पर लगे हुए बज्र के किवाड भी टूट गये । उनके स्पर्श मात्र से यह काया दूसरी ही होगई अथवा उनके सत्सग द्वारा मुझे एक नवीन जीवन ही प्राप्त हो गया तथा विषय-भोगो के प्रति समस्त आसक्ति समाप्त हो गई । कबीर कहते हैं कि मुझको संत बहुत ही अच्छे लगे, क्योंकि उनकी सगति के प्रभाव से मुझको अपने हृदय मे सम्पूर्ण विश्व के शिरोमणि भगवान का साक्षात्कार हो गया ।

अलंकार—(1) चपलातिशयोक्ति की व्यजना—दरसन... पड़या ।

(11) रूपकातिशयोक्ति—पटल ।

विशेष—समभाव के लिए देखें—

जा दिन सत पाहुने आवत ।

तीरथ कोटि स्नान करे फल, जँसो दरसन पावत ।

× × ×

बंधन-करम कठिन जे पहले, सोऊ कारि कहावत ।

सगति रहै साधु की अनुदिन, भव-दुख दूरि नसावत ।

सूरदास, या जनम-मरन तें, तुरत परम-गति पावत ।

(सूरदास)

राग मलार

(३६६)

जतन बिन मृगनि खेत उजारे ।

टारे टरत नही निस बासुरि, बिडरत नहीं बिडारे ॥टेक॥
 अपने अपने रस के लोभी, करतब न्यारे न्यारे ।
 अति अभिमान बढत नहीं काहू, बहुत लोग पचि हारे ॥
 बुधि मेरी किरषी, गर मेरौ बिभुका, अखिर दोइ रखवारे
 कहै कबीर अब खान न दैह, बरियां भली सभारे ॥

शब्दार्थ—जतन=यत्न, साधना । मृगनि=पशुओ, पाशविक वृत्तियाँ-काम क्रोधादि । बिडरत=बिडारना, भगाना । किरषी=कृषि । बिभुका=विजूका, खेत मे जन्तुओ को डराने के लिए खडा किया हुआ पुतला इत्यादि ।

सन्दर्भ—कबीरदास विषयासक्ति का वर्णन करते है ।

भावार्थ—साधना के अभाव मे काम क्रोधादिक विकारो (अथवा इन्द्रियासक्ति) रूपी पशुओ ने मेरे जीवन रूपी खेत को नष्ट कर दिया है । ये रात दिन घेरे रहते हैं, हटाने से हटते नहीं हैं और भगाने से भगते नहीं है । तात्पर्य यह है कि मन को कितना भी समझाओ और विषयो से हटाने का प्रयत्न करो, परन्तु वह मानता ही नहीं है । पाशविक वृत्तियो रूपी ये पशु अपने अपने विषय-स्वाद के लोभी हैं और अलग-अलग ढंग से विषय की ओर प्रवृत्त होते हैं और उसका भोग करते है (जिस प्रकार प्रत्येक पशु) अपनी भिन्न रुचि के अनुसार खेत मे उत्पन्न होने वाली वस्तु को खाता है । प्रत्येक पशु का खेत मे घुसने और उसको उजाडने का तरीका भी भिन्न होता है ।) इन सबको अपनी सामर्थ्य का बहुत ही घमड है और ये अपने आगे किसी साधक को कुछ भी नहीं समझते हैं । इनके ऊपर नियन्त्रण करने के प्रयास मे बहुत से साधक थक कर बैठ गये अर्थात् असफल हो गये । कबीर कहते हैं कि अब मैंने ठीक समय पर समस्त स्थिति को समझ लिया है । अपनी बुद्धि रूपी कृषी की रखवाली के लिए मुझे गुरु का उपदेश रूपी विजूका मिल गया तथा 'रा' और 'म' ये दो अक्षर उस खेती की रखवाली करने वाले मिल गये हैं । अब मैं इन मृगो को जीवन-रूपी खेत नष्ट नहीं करने दूँगा ।

अलकार—(I) सांगरूपक—सम्पूर्ण पद खेत और जीवन का रूपक है ।

(II) रूपकातिशयोक्ति—मृगनि ।

(III) पुनरुक्ति प्रकाश—न्यारे-न्यारे ।

(IV) विशेषोक्ति—हारे . बिडारे ।

विशेष—(1) व्यजना यह है कि सद्गुरु की कृपा और प्रभु की भक्ति के द्वारा ही विषयासक्ति को वश मे किया जा सकता है, अन्यथा नहीं ।

(II) 'वरियां' का अर्थ 'वाड' भी हो सकता है । तब इस पदिक का अर्थ इस प्रकार होगा—'मैंने अपने खेत की सयम एव सात्त्विक बुद्धि रूपी वाड ठीक कर

ली है। 'वरियाँ' का अर्थ 'वेला' करने पर इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार किया जाता है, 'अवसरें रहते ही मैंने खेत को सम्हाल लिया है।' परन्तु हमको जो अर्थ सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ हमने ऊपर वही लिख दिया है।

(iii) तुलसी की भाँति कवीर भी 'राम' नाम की महिमा गाते हुए थकते नहीं हैं।

(३६७)

हरि गुन सुमरि रे नर प्राणी ।

जतन करत पतन ह्वै जैहै, भावै जांमण जांणीं ॥टेक॥

छीलर नीर रहै धूँ कसै, को सुपिनै सच पावै ॥

सूकित पान परत तरवर थै, उलटि न तरवरि आवै ॥

जल थल जीव डहके इन माया, कोई जन उवर न पावै ।

राम अधार कहत हैं जुगि जुगि, दाप कबीरा गावै ॥

शब्दार्थ—भावै=मन को अच्छा लगे। जाणम जाणी=जानने योग्य बात को जान ले। छीलर=छिछला पोखर। पान=पत्ता। डहके=घोखा दिया। उवर पावै=उद्धार हो पाया।

सन्दर्भ—कवीर माया के सर्वव्यापी प्रभाव का वर्णन करते हैं।

भावार्थ—रे प्राणी, तुम भगवान के गुणों का स्मरण करो। इस प्रकार के प्रयत्न (वाह्याचार) करते हुए तेरा शरीर नष्ट हो जाएगा। तुम चाहो, तो इस जानने योग्य तथ्य को जान लो। छिछले पोखर में पानी कब तक रह सकता है? वह तो सूखेगा ही। (अल्पशक्ति वाला शरीर तो नष्ट होगा ही)। स्वप्न में प्राप्त होने वाले सुख से कौन सुखी हो सकता है? जो पत्ता पेड़ से गिर गया है, वह उलट कर वापिस उस वृक्ष में नहीं लगता है। जल-थल के सम्पूर्ण जीव इस माया के घोखे में पड़े हुए हैं। भगवान का कोई भक्त ही इससे छुटकारा पा सकता है। कवीरदास कहते हैं कि एक मात्र राम-नाम ही युग युगांतर से इस माया से बचने का आधार रहता आया है।

अलंकार—(1) विशेषयोक्ति—जतन .. जैहै ।

(ii) अनुप्रास—जतन जैहै जाणम जाणी ।

(iii) वक्रोक्ति—छीलर पावै ।

(iv) निदर्शना—छीलर आवै ।

(v) पुनरुक्ति प्रकाश—जुगि जुगि ।

विशेष—(1) वाह्य साधनों का विरोध है।

(ii) मन की पवित्रता का प्रतिपादन है।

(iii) राम-नाम की महिमा अपार है।

(iv) समभाव देखें—

मनिखा जन्म दुर्लभ है देह न वारम्बार ।

तर-वर से फल भाड़ि पड्या, वहरि न लागै डार ।

पात झड़ता यूँ कहै, सुनि तर-वर वन-राइ ।
अब के बिछुड़े ना मिलै, दूरि पड़ेगे जाइ । (कबीरदास)

राग धनाश्री

(३६८)

जपि जपि रे जीयरा गोव्यंदो, हित चित परमानंदौ रे ।
विरही जन कौ बाल हौ, सब सुख आनंदकदौ रे ॥टेक॥
धन धन झीखत धन गयौ, सो धन मिल्यौ न आये रे ।
ज्यूँ बन फूली मालती, जन्म अबिरथा जाये रे ॥
प्राणी प्रीति न कीजिये, इहि भूठै संसारो रे ।
धूँबां केरा धीलहर, जात न लागै बारो रे ॥
माटी केरा पूतला काहे गरब कराये रे ।
दिवस चारि कौ पेखनौं, फिरि माटी मिलि जाये रे ॥
कांमीं राम न भावई, भावै विषै विकारो रे ।
लोह नाव पाहन भरी, बूड़त नांहीं बारो रे ॥
नां मन सूवा न मरि सक्या, नां हरि भजि उतर्या पारो रे ।
कबीरा कंचन गहि रह्यौ, कांच गहै संसारो रे ॥

शब्दार्थ — बालही=वल्लभ, प्रिय । धीलहर=महल । जात=नष्ट होते हुए । देखनौं=देखना भर ।

सन्दर्भ—कबीरदास जीवन की निस्सारता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—रे जीव, तुम सदैव गोविन्द का भजन करते रहो । उन परमानंद स्वरूप प्रभु मे ही अपनी प्रीति और चित्त लगाओ । भगवान विरही भक्तजनो को प्रिय तथा सब प्रकार का सुख एव आनन्द देने वाले हैं । सासारिक सुख-सम्पत्ति के लिए परेशान होते हुए यह जीवन-रूपी धन नष्ट हो गया और वह भी तुम्हे प्राप्त न हो सका । जिस प्रकार निर्जन वन मे फूलने वाली मालती का जन्म व्यर्थ जाता है—वह अपनी सुगन्ध द्वारा किसी को भी उल्लसित नहीं कर पाती है, उसी प्रकार सेवा रहित प्राणी का जन्म व्यर्थ ही चला जाता है । इन सासारिक प्राणियों के मोह मे मत फँसो । यह समस्त ससारी मिथ्या हैं । ये घुएँ के महल के समान है । इनको नष्ट होते देर नहीं लगती है । यह शरीर मिट्टी का खिलीना है । यह सहज ही नष्ट हो जाता है । इस पर क्या गर्व करना ? यह शरीर तो चार दिन तक देखने भर की शोभा मात्र है । यह तो फिर मिट्टी मे ही मिल जाएगा । विषयासक्त व्यक्ति को राम भक्ति अच्छी नहीं लगती है, उसको तो विषय रूपी विकार ही अच्छे लगते हैं । विषयी मानव का जन्म पत्थरो से भरी हुए लोहे की नाव के समान है, जिसको दूबते हुए देर नहीं लगती है । वासनात्मक मन न कभी मरा और न कभी मर सकेगा । विषयी व्यक्ति हरि का भजन करके कभी पार भी नहीं उतर सके हैं । कबीरदास कहते हैं कि मैंने तो हरि भक्ति रूपी सुवर्ण का आश्रय ले लिया है । इन

विषयी-प्राणियो ने विषयासनि रूपी काच के टुकडे को पकड रखा है । (ये कितने मूर्ख हैं ।)

- अलंकार—(I) पुनरुक्तिप्रकाश—जपि जपि । घन घन ।
 (II) अनुप्रास—जपि जपि जीयरा । मन सूवा मरि ।
 (III) पदमैत्री—हित चित ।
 (IV) यमक—घन घन ।
 (VI) उपमा—ज्यू बन फूली मालती ।
 (VII) दृष्टान्त—धुंवा केरा • वारो रे ।
 (VIII) गूढोक्ति—काहे गरब कराये रे ।
 (IX) रूपक—विषय-विकार ।
 (X) विशेषोक्ति—ना हरि भजि उतर्या पारो रे ।
 (XI) रूपकातिशयोक्ति—कचन, काच ।

विशेष—(I) ससार की निस्सारता एव क्षण भगुरता का काव्यात्मक वर्णन है ।

- (II) निर्वेद सचारी की व्यजना है ।
 (III) ज्यू बन जाये रे—समभाव की अभिव्यक्ति देखें—
 सो अनन्य गति जाके मति न टरइ हनुमत ।
 मै सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवत ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

- (IV) धुंवा केरा धौलहर... वारो रे ।—तुलना कीजिए—
 जग-नभ-बाटिका रही है फलि फूलि रे ।
 धुवां कैसे धौरहर देखि तू न भूलि रे ।

(विनय पत्रिका, तुलसी)

(३६६)

न कछु रे न कछु रांस बिनां ।
 शरीर धरें की रहै परमगति, साध संगति रहनां ॥टेक॥
 मंदिर रचत मास दस लागे, बिनसत एक छिनां ।
 भूठे सुख के कारनि प्रांनीं, परपच करत घनां ॥
 तात मात सुत लोग कुटंब मै, फूल्यो फिरत मनां ।
 कहै कबीर रांस भजि बौरे, छांडि सकल भ्रमनां ॥

शब्दार्थ—घना=बहुत । प्रपच=फैलाव ।

सन्दर्भ—कबीर ससार की असारता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—भगवान की भक्ति के बिना कुछ भी नहीं है, कुछ भी नहीं है (जीवन निस्सार है) शरीर धारण करने की सार्थकता साधुओं की संगति में रहना है । इस शरीर रूपी मन्दिर को बतने में दस गहीने लगते हैं, परन्तु यह एक क्षण

मे ही नष्ट हो जाता है। यह जीव ससार के मिथ्या सुखों की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार का फैलाव (प्रपंच) रचता है। यह जीव पिता, माता, पुत्र तथा कुटुम्ब के लोगों से मन से (व्यर्थ ही) फूला हुआ फिरता है। कबीरदास कहते हैं कि हे पागल जीव, तुम सम्पूर्ण भ्रमों को छोड़कर भगवान का भजन करो।

अलंकार—(1) पुनरुक्ति प्रकाश—न कछुरे न कछुरे ।

(II) अनुप्रास—सरीर साधु सगति ।

(III) रूपकातिशयोक्ति—मदिर ।

विशेष—(1) ससार की निस्सारता का वर्णन है।

(II) सत्संग की महिमा का प्रतिपादन है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है कि—

बिनु सत्संग बिवेक न होई । राम कृपा बिनु सुलभ कि सोई ।

(४००)

कहा नर गरबसि थोरी बात ।

मन दस नाज, टका दल गठिया, टेढ़ौ टेढ़ौ जात ॥ टेक ॥

कहा लै आयो यहु धन कोऊ, कहा कोऊ लै जात ।

दिवस चारि की है पतिसाही ज्यूं बनि हरियल पात ॥

राजा भयौ गांव सौ पाये, टका लाख दस ब्रात ॥

रावन होत लंक कौ छत्रपति, पल मै गई बिहात ।

माता पिता लोक सुत बनिता, अंति न चले संगत ।

कहै कबीर राम भजि वारे, जनम अकारथ जात ॥

शब्दार्थ—गरबसि-गर्व करते हो। गठिया=गाँठ। हरियल=हरे। ब्रात=वरात, समूह। बनिता=स्त्री। बिहात=नष्ट हो गई।

सन्दर्भ—कबीर ससार की असारता का प्रतिपादन करते हैं।

भावार्थ—रे मानव, थोड़े से ऐश्वर्य को प्राप्त करके क्यों घमण्ड करता है? तुम्हारे पास दस मन नाज है और तुम्हारी गाँठ में पाँच आने पैसे (अत्यल्प सम्पत्ति) है। वस, इसी को पाकर तुम टेढ़े-टेढ़े चलने (इतराने) लगे हो। इस सासारिक वैभव को क्या कोई साथ लेकर आता है, और क्या कोई इसे अपने साथ ले जाता है? यह सब वादशाही वन के हरे पत्ते की तरह चार दिन (अत्यल्प समय) की है। जैसे वन के पत्ते चार दिन बाद सूख जाते हैं, उसी प्रकार ससार का समस्त धन वैभव शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। तुम राजा बन गये, तुम्हें सौ गाँव प्राप्त हो गये, दस लाख रुपये मिल गये तथा दस लोगों का समूह भी तुम्हारे साथ हो गया। पर इस सबसे क्या होता है? रावण तो सोने की लका का राजा था। परन्तु एक क्षण भर में उसका समस्त वैभव नष्ट (ऐश्वर्य) नष्ट हो गया। माता, पिता, परिजन, पुत्र, स्त्री—इसमें से कोई भी अन्ततः साथ नहीं जाता है। कबीर कहते हैं कि “हे सासारिक सुख-वैभव के पीछे पागल बने हुए मनुष्य इस प्रकार तुम्हारा

जन्म व्यर्थ ही व्यतीत हुआ जा रहा है । तू राम का भजन कर (जिससे तेरा कल्याण हो ।)

- अलंकार—(1) गूढोक्ति—कहा... बात ।
 (II) वक्रोक्ति—कहा लै आयो . . . जात ।
 (III) उपमा—ज्यूँ बनि हरियल पात ।
 (IV) दृष्टान्त—रावण विहात ।

विशेष—(1) ससार और उसके सम्बन्धों की असारता का प्रतिपादन है ।
 (II) जीवन की क्षण भंगुरता की व्यजना है ।
 (III) 'निर्वेद' एवं वैराग्य की अभिव्यक्ति है ।

(४०१)

नर पछिताहुगे अधा ।

चेति देखि नर जमपुरी जैहै, क्यूँ बिसरौ गोब्यंदा ॥ टेक ॥

गरम कुण्डिनल जब तू बसता, उरध ध्यान ल्यौ लाया ।

उरध ध्यान मृत मंडलि आया, नरहरि नांव भुलाया ॥

बाल विनोद छहूँ रस भीनां, छिन छिन मोह बियापै ।

बिष अमृत पहिचानन लागौ पांच भांति रस चाखै ॥

तरन तेज पर त्रिय मुख जोवै, सर अपसर नही जानै ।

अति उदमादि महामद मातौ, पाप पुनि न पिछानै ॥

प्यंडर केस कुसुम भये धौला, सेत पलटि गई बांती ।

गया क्रोध मन भया जु पावस, कांस दियास मदानौ ॥

तूटौ गांठि दया धरम उपज्या, काया कवल कुमिलांतां ।

मरती बेर बिसूरन लागौ, फिरि पीछे पछितांतां ॥

कहै कबीर सुनहुँ रे संतौ, धन माया कछू संगि न गया ।

आई तलब गोपाल राइ की, धरती सैन भया ॥

शब्दार्थ—उरध ध्यान=ऊपर को ध्यान, भगवान में ध्यान । मृतमंडलि=मृत्यु-लोक । तरण=तारुण्य, जवानी । सर अदसर=अवसर कुअवसर । प्यंडर=पाहुर=भूरा । पावस=आदि, दया धर्म की बात करने लगा । गांठ=अहंकार की गांठ । बिसूरन=वेदना से दुःखी । मदानौ=मद पड गई ।

सन्दर्भ—पूर्व पद के समान ।

भावार्थ—अरे अंधे मनुष्य, अपने इन कर्मों के फल स्वरूप तुम्हको अन्त में पछताना पड़ेगा । तू सचेत होकर देख । तुम्हको यमपुरी जाना है । तुम गोविन्द को क्यों भूल गये हो ? जब तुम गर्म कुण्ड में थे तब तुमने (उसके कण्ठों से त्राण पाने के लिए) भगवान में ध्यान लगाया । फल स्वरूप तुम उससे निकलकर इस मृत्यु लोक में आ गए । यहाँ आकर तुमने हे मानव फिर हरि का नाम (अथवा नृसिंह भगवान को) भुला दिया है । बाल्यावस्था में क्रीड़ाएँ करते हुए तुमने छत्रों रसों के

भोजन का स्वाद लिया । धीरे धीरे करके तुम मोह में फँसते गये । जब तुम बड़े हुए तो तुमको कटु और मधुर की पहचान होने लगी । इस समय तुम पाँचों इन्द्रियों के विषय रस का भोग करने लगे । जवानी की तेजी प्राप्त होने पर तुम स्त्री के मुख की ओर टकटकी लगाए रहे और उसका भोग करते समय तुमने अवसर कुअवसर का ध्यान नहीं रखा । उस समय तुम अत्यन्त उच्छृंखल (विवेक शून्य) होकर आपे के बाहर हो गये तथा तुम्हें पाप-पुण्य का विवेक नहीं रहा । केश भूरे होकर पुष्पो की भाँति एक दम सफेद हो गये । और वाणी में भी फर्क आ गया । वात पीछे आने वाला क्रोध समाप्त होगया और हृदय दया रूपी पावस ऋतु से गीला रहने लगा (दैन्य आगया) काम की प्यास भी मंद पड़ गई । अहंकार की गाँठें समाप्त हो गईं और स्वयं के प्रति दया एव करुणा के भाव जाग्रत होने लगे । (इस वृद्धावस्था में) कायारूपी कमल मुरझा जाता है । मरते समय पश्चाताप की वेदना से दुःखी होता है, अपने अतीत पर पछताने लगता है । परन्तु इस समय पछताने से क्या होता है ? कबीरदास कहते हैं कि हे सती । सुनो, धन, सम्पत्ति (आसक्ति के विषय) कुछ भी तुम्हारे साथ नहीं जा सकेगा । जब राजा गोपाल का आदेश आता है, तब प्राणी को उसी समय धरती पर सो जाना पड़ता है ।

अलंकार—(1) पुनरुक्ति प्रकाश .. छिन छिन ।

(II) अनुप्रास—तरण तेज विष, पाप पु नि पिछानै ।

(III) भग पद यमक—सर अवसर ।

(IV) उपमा—कुसुम भये धौला ।

(V) रूपक—काया कवल ।

विशेष—(1) पावस—लाक्षणिक प्रयोग है ।

(II) ससार की असारता, निस्सारता एव नश्वरता का प्रतिपादन है ।

(III) 'निर्वेद' की व्यंजना है ।

(IV) छ रस मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त ।

(४०२)

लोका मति के भोरा रे ।

जौ कासी तन तजै कबीरा, तौ रांमहि कहा निहोरा रे ॥ टेक ॥

तब हम वैसे अब हम ऐसे, इहै जनम का लाहा ।

ज्यूं जल में जल पैसि न निकसै, यूं दुरि मिल्या जुलाहा ॥

रांम भगति परि जाकौ हित चित, ताकौ अचिरज काहा ।

गुर प्रसाद साध की संगति, जग जीतें जाइ जुलाहा ॥

कहै कबीर सुनहु रे सती, भ्रंमि परे जिनि कोई ।

जस कासी तस मगहर ऊसर, हिरदै रांम सति होई ॥

शब्दार्थ—लोका=सगार के लोग । निहोरा=अनुरोध, प्रार्थना ।

सन्दर्भ—कबीरदास अंध विश्वागो का खण्डन करने हुए कहते हैं ।

भावार्थ—लोगों की बुद्धि भोली है—वे सहज ही हरेक बात पर विश्वास कर लेते हैं। कबीर कहते हैं कि यदि काशी में शरीर छोड़ने पर मोक्ष की प्राप्ति हो जाए, तो फिर मोक्ष के लिए राम से कोई प्रार्थना क्यों करे। पहले हम भी अधविश्वासों में फँसे हुए थे, परन्तु अब उनसे मुक्त होकर इस प्रकार की विवेक पूर्ण बातें करने लगे हैं। अन्ध विश्वास से मुक्त होकर सच्ची ईश्वर-भक्ति के प्रति उन्मुख हो जाना ही इस मानव-जीवन की सार्थकता है। जैसे जब एक बार जल में प्रविष्ट हो जाने पर फिर बाहर अलग नहीं निकाला जा सकता है—वह उसके साथ एक रस हो जाता है, उसी प्रकार यह जुलाहा कबीर भक्ति से द्रवित होकर ब्रह्म के साथ एकाकार हो गया। राम भक्ति में जिसका प्रेम है और राम-चरणों में जिसका चित्त लगा हुआ है, उसके लिए इस प्रकार की अद्वैतावस्था की प्राप्ति कोई आश्चर्य की बात नहीं है। गुरु की कृपा और साधु सगति के प्रभाव से निम्न जाति जुलाहा में उत्पन्न यह कबीर जीवन-मुक्त हो रहा है। कबीर कहते हैं कि हे सती, सुनो। कोई भी किसी प्रकार के भ्रम में न रहे। अगर भगवान के प्रति सत्य निष्ठा है, तो अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होगी। फिर चाहे काशी में शरीर ही हो, चाहे मगहर में।

अलंकार—(1) पर्यायोक्ति—जौ कासी....निहोरा।

(ii) उदाहरण—ज्यूँ जुलाहा।

(iii) वक्रोक्ति—ताकौ अचिरज काहा ?

(iv) अनुप्रास—जग जीतै जाइ जुलाहा।

(vi) व्यतिरेक की व्यजना—जग जीतै जाइ जुलाहा।

विशेष—(1) अध विश्वास का खण्डन है।

(ii) कबीर के 'मगहर' वास वाली बात की पुष्टि होती है।

(iii) 'जुलाहा' शब्द में सवर्ण जाति पर कटाक्ष है। नीच जाति में जन्म लेकर भी कबीर ने मोक्ष प्राप्त करली और बड़े-बड़े धर्म ध्वज रह गये। ठीक कही है—

जाति पाँति पूछै ना कोई । हरि कौ भजै सो हरि कौ होई ।

तथा—

भगतिवंत अति नीचउ प्राणी । मोह प्रानप्रिय असि मम बानी ।

(४०३)

ऐसी आरती त्रिभुवन तारै,

तेज पुंज तहाँ प्रांन उतारै ॥ टेक ॥

पाती पंच पहुप करि पूजा, देव निरजन और न हूजा ।

तनमन सीस समरपन कीन्हां, प्रगट जोति तहा आतम लीनां ॥

दीपक ग्यांन सबद धुनि घटा, पर पुरिख तहा देव अनता ।

परम प्रकास सकल उजियारा, कहै कबीर मैं दास तुम्हारा ॥

शब्दार्थ—पाती पत्र=पंच ज्ञानेन्द्रियाँ रूपी पत्ती । पहुप=मनरूपी फूल ।
सबद=अनहदनाद ।

सन्दर्भ—इस पद में कबीरदास एक ऐसी आरती का वर्णन करते हैं जिसके प्रकाश में परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं ।

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि साधक को अपने इस देव की आरती इस प्रकार मेरे द्वारा निर्दिष्ट ढंग से उतारनी चाहिए जो तीनों लोको को तारने वाली है । इस आरती को प्राण वहाँ उतारता है जहाँ तेज-पुंज हरि का निवास है । पाँचो ज्ञानेन्द्रियो को पाँच वस्तियों के रूप में लेकर एक मात्र निरजन देव की पूजा करनी चाहिए । इसके बाद नैवेद्य के स्थान पर अपना तन, मन और शरीर समर्पित कर दे और फिर सहस्रार में प्रकट होने वाली ज्योति में अपनी आत्मा को पूरी तरह लीन कर देना चाहिए । इसके बाद ज्ञान का दीपक लेकर अनहदनाद रूपी घटे का शब्द करते हुए उस अनन्त परमपुरुष का पूजन करना चाहिए । वास्तव में उसी परमपुरुष के प्रकाश से यह समस्त ससार प्रकाशित हो रहा है । कबीरदास कहते हैं कि उस ज्योति के सम्मुख साधक को कहना चाहिए कि हे प्रभु ! मैं आपका सेवक हूँ । (कबीरदास जी अपने आपको इसी परम ज्योति स्वरूप पुरुष का दास कहते हैं ।)

अनहदनाद—देखें टिप्पणी पद सं० १६४ ।

अलंकार—(I) अनुप्रास—पाती पत्र पहुप पूजा ।

(II) रूपक पाती पत्र पहुप । दीपक ज्ञान, सबद धुनि घटा ।

(III) पदमैत्री—तन मन समरपन ।

(IV) सागरूपक—सम्पूर्ण पद में । आरती के बाह्य उपकरणों के आध्यात्मिक अर्थों की कल्पना से सम्पूर्ण आरती ही आध्यात्मिक साधना एवं भक्ति में परिणत हो गई है ।

विशेष—प्रायः समस्त सम्प्रदायो में पूजा के अन्त में भगवान की आरती उतारी जाती है । कबीरदास ने भी पदावली के अन्त में अपने इष्ट देव की आरती उतारी है । यह बात दूसरी है कि इस आरती का स्वरूप लौकिक की अपेक्षा आध्यात्मिक अधिक है । उनके मतानुसार प्रभु के प्रति सर्वस्व समर्पण ही वस्तुतः उनकी सच्ची आरती उतारना है ।

रमैणी

दृष्टव्य—रमैनी को रामणी अथवा 'रामायण' का विगडा रूप माना गया है। रमैणियों की रचना दोहा-चौपाड्यों में की गई है। कबीर की रमैनी के वर्ण्य विषय हैं—स्तुति-वर्णन, उपदेश-वर्णन अथवा लोकोपकार का निरूपण आदि।

राग सूहौ

तू सकल गहगरा, सफ सफा दिलदार दीदार ॥
तेरी कुदरति किनहू न जानीं, पीर सुरीद काजी मुसलमानीं ।
देवी देव सुर नर गण गध्रप, ब्रह्मा देव महेसुर ॥
तेरी कुदरति तिनहूं न जानी ॥ टेक ॥

शब्दार्थ—गहगरा=गहगहा, प्रफुल्ल, आनन्द से युक्त। सफ सफा=स्वच्छ एवं उज्ज्वल। दीदार=साक्षात्कार स्वरूप। कुदरति=माया अथवा सृष्टि। पीर=धर्मगुरु। सुरीद=चेला। काजी=भौलवी। मुसलमानी=मुसलमान सम्बन्धी।

सन्दर्भ—कबीर भगवान की महिमा का वर्णन करते हैं।

भावार्थ—हे भगवान तुम तुम्हारा दर्शनपूर्ण आनन्द स्वरूप, स्वच्छ एवं उज्ज्वल तथा प्रेमास्पद है। किसी से भी तुम्हारी लीला (सृष्टि के रहस्य) को नहीं जाना है। मुसलमानों में सिद्ध या धर्मगुरु (पीर), चेले, न्यायकर्ता विचारक (काजी) कहे जाने वाले, तथा देवी देवता, सुर, नर, गधर्व, ब्रह्मा, महेश्वर आदि कोई तेरी लीला को नहीं समझ पाए हैं।

अलंकार—सम्बोधितशयोक्ति—सम्पूर्ण छन्द।

[१] एकपदी रमैणी

(१)

काजी सो जो काया बिचारै, तेल दीप मैं बाती जारै ॥
तेल दीप मैं बाती रहै, जोति चीह्लि जे काजी कहै ॥
मुलनां बग देइ सुर जानी, आप मुसला बंठा तांनी ॥
आपुन मैं जे करे निवाजा, सो मुलनां सरबत्तरि गाजा ॥
सेष सहज मैं महल उठावा, चद सूर बिचि तारी लावा ॥
अर्ध उर्ध बिचि आनि उतारा, सोई सेष तिहू लोक पियारा ॥

जगम जोग बिचारै जहू वां जीव सीव करि एकै ठऊवां ॥
चित चेतनि करि पूजा लावा, तेतौ जंगम नांउं कहावा ॥
जोगी भसम करै भौ भारी, सहज गहै बिचार बिचारी ॥
अनभै घट परचा सू बोलै, सो जोगी निहचल कदे न डोलै ॥
जैन जीव का करहु उबारा, कौण जीव का करहु उधारा ॥
कहां बसै चौरासी का देव, लहौ मुकति जे जानौ भेव ॥
भगता तिरण मतै संसारी, तिरण तत ते लेहु बिचारी ॥
प्रीति जानि राम जे कहै, दास नांउ सो भगता लहै ॥
पंडित चारि बेद गुंण गावा, आदि अंति करि पूत कहावा ॥
उतपति परलै कहौ बिचारी, संसा घालौ सबै निवारी ॥
अरधक उरधक ये संन्यासी, ते सब त्यागि रहै अबिनासी ॥
अजरावर कौं डिढ करि गहै, सो संन्यासी उन्मन रहै ॥
जिहि घर चाल रचौ ब्रह्मंडा, पृथमीं मारि करी नव खडा ॥
अबिगत पुरिस की गति लखी न जाइ, दास कबीर अगह रहे ल्यो लाई ।

शब्दार्थ—काया=शरीर मे स्थित चैतन्य । काजी=विचारक । मुसल्ला= वह दरी जिस पर नमाज पढी जाती है । सरवत्तरि=सर्वत्र । सेष = शेख=मुसलमानो की एक श्रेष्ठ जाति । आनी उतरा=अपने आप को अवस्थित कर देता है । सीव= शिवत्व । अनभै=अभय । आदि-अत = ब्रह्मा । अरधक-उरधक=नीच-ऊँच । अजरावर अजर-अमर । उन्मन=समाधि की अवस्था । अगह=अगम्य ।

सन्दर्भ—कबीरदास समस्त धर्मावलम्बियो को, विशेषकर मुसलमानो को, बाहरी पाखण्ड छोडकर परम तत्व मे प्रतिष्ठित होने का उपदेश देते है ।

भावार्थ—काजी (विचारक) वही है जो शरीर मे स्थित चैतन्य का चिन्तन करता है । वह ईश्वर के प्रेम रूपी तैल मे ज्ञान की बत्ती जलाता है । जो प्राण रहते हुए परम-ज्योति को पहचान लेता है, वही सच्चा काजी है । मुल्ला खुदा की आवाज के नाम पर वाग देता है और मुसल्ला फैलाकर नमाज पढने बैठ जाता है । परन्तु जो अपने शरीर के भीतर नमाज पढता है अर्थात् शरीर मे व्याप्त परम ज्योति की अराधना करता है वही मुल्ला सर्वत्र गरजता है अर्थात् हृदय मे भगवान की आवाज सुनकर निर्भय बना हुआ धूमता है । शेख वही है जो सहज अवस्था को प्राप्त करता है, चन्द्र और सूर्य (इडा, पिंगला) नाडियो को समन्वित करके सुपुम्ना मे समाहित करा देता है तथा प्राण वायु को रोक लेता है । वह अधोवर्ती और ऊर्ध्ववर्ती कमलो के बीच स्थित अनाहन (हृदय) चक्र मे स्थित भगवान् के समीप अपने आप को अवस्थित करता है । ऐमा ही शेख वास्तव मे तीनों लोको का प्रिय बनता है । जगम साधु वही है जो योग का चिन्तन करता है । उस स्थान पर ध्यान केन्द्रित करता है जहाँ पर जीव और ब्रह्म का भेद समाप्त हो जाता है । जो चित्त को परम चैतन्य मे अवस्थित करके पूजा करते है, वे ही वास्तव मे जंगम नाम के

अधिकारी है। सच्चा योगी वही है जो ससार के प्रति आत्मिक को भस्म कर लेता है तथा चिन्तनपूर्वक सहज तत्व को ग्रहण करता है। वह अपने अन्तःकरण में ही अभय तत्व से परिचय प्राप्त करके बात करता है। उसी का मनन और निदिध्यासन करता है। ऐसे योगी का निश्चय कभी डिगता नहीं है। हे जैनी, तुम अहिंसा द्वारा जीव की रक्षा करने का दम्भ भरते हो, पर यह तो विचार करो कि तुम किस जीव का उद्धार कर रहे हो? (जीव का स्वरूप पहिचान कर) यह जानने का प्रयत्न करो कि चौरासी लाख योनियों का स्वामी कहाँ रहता है? इस रहस्य को समझने पर ही तुमको मुक्ति की प्राप्ति हो सकेगी। भक्त इस ससार से तिरने (पार होने) का सकल्प करता है, पर वह पहले यह तो समझ ले कि तात्त्विक रूप से तिरना है क्या? प्रेम का स्वरूप समझ कर जो राम का स्मरण करता है, वही भक्त भगवान का दास कहला सकता है। पण्डित चारों वेदों का गुणगान करता है और विश्व के आदि और अन्त स्वरूप ब्रह्म का पुत्र कहलाता है। पर हे पण्डित उत्पत्ति (आदि) एवं प्रलय (अन्त) के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करके उसका वर्णन करो। इस पर विचार करके सम्पूर्ण भ्रम और सशय को समाप्त करो। नीची और ऊँची सभी स्थितियों के सन्यासी वास्तव में उस एक अविनाशी तत्व में ही अनुरक्त रहते हैं। जो सन्यासी उस अजर, अमर तत्व को दृढतापूर्वक (पूर्ण निष्ठा के साथ) ग्रहण कर लेता है, वह समाधि को प्राप्त करता है, और परमतत्त्व में प्रतिष्ठित हो जाता है। जिसने पृथ्वी को गति प्रदान की, ब्रह्माण्ड की सृष्टि की और पृथ्वी को नवखण्डों में विभाजित कर दिया, उस अविगत पुरुष की माया किसी के द्वारा भी नहीं जानी गई है। भक्त कवीर उस अगम्य तत्व में अपनी लौ लगाए हुए हैं।

अलंकार—(1) रूपक—तेल “जारै।

(II) भ्रान्तिमान—मुलना जानी।

(III) पदमैत्री—अर्घ उर्घ। अरघक उरघक।

(IV) अनुप्रास—जगम जागे जहू वा, जीव। तिरण तत ते।

(V) वक्रोक्ति—कौन उधारा।

(VI) सम्बन्धातिशयोक्ति—अविगत जाइ।

विशेष—धार्मिक कृत्यों तथा कायायोग की अपेक्षा ज्ञान एवं भक्ति भी श्रेष्ठता का प्रतिपादन है।

[२] सतपदी रमैणी

(२)

कहन सुनन कौ जिहि जग कीन्हा, जग भुलांन सो किनहू न चीन्हा ॥

सत रज तम थै कीन्ही माया, आपण मांभै आप छिपाया ॥

ते तौ आहि अनंद सरूपा, गुन पल्लव बिस्तार अनूपा ॥

साखा तत थै कुसम गियांनां, फल सो आछा राम का नांमां ॥

सदा अचेत चेत जीव पखी, हरि तरवर करि बास ।

भूठे जगि जिनि भूलसि जियरे, कहन सुनन की आस ॥

शब्दार्थ—कुसम=फूल ।

सदर्भ—कबीर जगत के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—कहने-सुनने के लिए ही (केवल लौकिक दृष्टि से ही जिस जग की रचना हुई है, उसके वास्तविक स्वरूप को किसी ने नहीं जाना है और ससार के सम्पूर्ण जीव उसमें भ्रमित हैं । सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के द्वारा इस माया-मोह की सृष्टि हुई है । इस चैतन्य तत्व ने अपने आपको अपनी ही माया के द्वारा आवृत्त कर लिया है । वह तत्व स्वयं तो आनन्द स्वरूप है । ये तीनों गुण इस जगत् रूपी वृक्ष के पत्ते हैं । उसकी शाखाओं में ग्यान के फल लगे हैं और रामनाम उस का फल है । रे निरंतर अज्ञान में अचेत रहने वाले जीव रूपी पक्षी जागो और हरि रूपी इस वृक्ष की शरण में चले जाओ । रे जीव, इस मिथ्या ससार के मोह में अपने आपको मत भूलो । इस जगत की समस्त आशाएँ केवल कहने-सुनने भर के लिए हैं—उनका परमार्थत कोई अस्तित्व नहीं है ।

अलंकार—(1) सवधातिशयोक्ति—किनहूँ न चीन्हा ।

(II) साग रूपक - गुन पल्लव " जामा ।

(III) सभग पद यमक 'अचेत चेत ।

(IV) रूपक - जीव पखी, हरि तरवर ।

विशेष—(1) ज्ञान और भक्ति का समन्वित संदेश है ।

(II) ससार को 'कहन सुनन' की आस कहकर उसके क्षणभंगुर स्वरूप का कथन किया गया है ।

(III) कहन-सुनन में लक्षण का चमत्कार दृष्टव्य है ।

(IV) उन्मनि—देखें टिप्पणी पद सं १४४ ।

(V) गुन पल्लव ' नामा - तुलना करें -

अव्यक्त मूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने ।

षट् कंध साखा पंच वीस अनेक पर्न सुमन घने ।

फल जुगल विधि कहु मधुर वेलि अकेजि जेहि आश्रित रहे ।

पल्लव फूलत नवल नित संसार विटप नमामहे ।

(गोस्वामी तुलसीदास, रामचरितमानस)

(३)

सूक विरख यहु जगत उपाया, समझि न परै विषम तेरी माया ॥

साखा तीनि पत्र जुग चारी फल दोइ पाप पुनि अधिकारी ।

स्वाद अनेक कथ्या नहीं जाहीं, किया सदित्त सो इन में नाहीं ॥

तोती आहि नितार निरंजना, आदि अनादि न आंतां ।

कहन सुनन को कीन्ह जग आप आप भुलानां ॥

शब्दार्थ—सूक=सूखा हुआ, निष्तत्व एव नीरस । निनार=भिन्न ।

सन्दर्भ—पूर्व पद के समान । विषम=दुर्बोध ।

भावार्थ- हे भगवान, आपने निष्तत्व एव नीरस जगतरूप वृक्ष को उत्पन्न किया है । हे प्रभु आपकी यह माया बड़ी ही दुर्बोध है, समझ में नहीं आती है । त्रिगुणरूपी इसकी तीन शाखायें हैं चार युग ही इसके पत्ते हैं और पाप-पुण्य ही इसके दो फल हैं । इन फलों के विषय भोगरूप अनेक स्वाद हैं जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता है । जिसने इन सबको बनाया है, वह इनमें लिप्त नहीं है—वह इनसे पृथक् एव निरजन माया-रहित तत्व है । आदि और अनादि नाम से जिसे अभिहित किया जाता है, वह यही निरजन तत्व है, कोई दूसरा नहीं । उसने केवल कहने सुनने के लिए जगत की सृष्टि की है—अर्थात् जगत एव जगत की सृष्टि करना यह सब कोई पारमार्थिक सत्य नहीं है, केवल कथन मात्र है । सृष्टि कुछ हुई ही नहीं, वह तो विपत्ति मात्र है । ब्रह्म स्वयं अपनी माया में ही भूले हुए हैं । हम सब स्वयं अपने बाह्य रूप में लिप्त होकर अपने वास्तविक आत्म्यतर स्वरूप को भूले हुए हैं । यही जगत है ।

अलंकार—(1) विरोधाभास—सूक उपाया ।

(II) साग रूपक - सम्पूर्ण पद ।

विशेष—(1) देखें टिप्पणियाँ पूर्व रमणी ।

(II) इसमें अद्वैतवाद एव मायावाद के अनुसार जगत का निरूपण है ।

(III) यहाँ जगत की सृष्टि की ज्ञान परख एव भक्ति परख दोनों प्रकार की व्याख्यायें हैं । जीव दोनों की समन्वित दृष्टि से ससार को देखे-यही उपदेश है । भक्त के लिए जगत आनन्द रूप तथा ज्ञानी के लिए विवर्त रूप है ।

(४)

जिनि नटवै नटसरी साजी, जी खेलें सो दीसै बाजी ।

मो बपरा थै जोगति ढाठी, सिव बिरचि नारद नहीं दीठी ॥

आदि अति जो लीन भये हैं, सहजै जांनि सतोखि रहे हैं ।

सहजै राम नाम ल्यौ लाई, राम नाम कहि भगति दिढाई ॥

राम नाम जाका मन सांनं, तिन तौ निज सरूप पहिचांनं ।

निज सरूप निरजनां, निराकार अपरपार अपार ।

राम नाम ल्यौ लाइस जियरे, जिनि भूलें बिस्तार ॥

शब्दार्थ—नरसरी=नाट्यशाला सृष्टि । नटवै=नट, सृजक । दीसै=दृष्टिगत होता है । बाजी=किसी किसी को । दिढाई=दृढ़ करना । बपरा=वेचारा ।

सन्दर्भ—कबीर जगत की अनिवर्चनीयता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—जिस सर्जन कर्ता ने इस जगतरूपी नाट्यशाला की रचना की है और इसमें वह जो लीला करता है वह किसी किसी को ही दृष्टिगत होती है ।

मैं बेचारा तो किनमे हूँ । मैं तो इन्ही आँखों से इस जगत को देखता हूँ । शिव, ब्रह्मा तथा नारद सरीखे ज्ञान-दृष्टि वाले भी इसको नहीं जान पाए हैं । वे तो सम्पूर्ण भूतो के आदि एव अत रूप भगवान में लीन रहते हैं तथा भगवान के सहज रूप का ज्ञान करके उसमें सतोष का अनुभव करते हैं । वे सहज ही राम नाम में अपना ध्यान लगा लेते हैं और निरन्तर राम के नाम-स्मरण से अपनी भक्ति को दृढ़ करते रहते हैं । जिनका मन राम-नाम में तन्मय हो जाता है, उन्हें आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है । कबीर कहते हैं कि भगवान का स्वरूप तो निरजन माया रहित है । वह निराकार, अजेय और असीम है । अतः हे जीव, तुम राम-नाम में अपनी लीं लगाओ और इस जगत के पसारे में भ्रमित मत होओ ।

अलंकार—(1) संबधातिशयोक्ति—सिव..... दीठी ।

(11) रूपकातिशयोक्ति—नटवै नटसारी ।

विशेष—(1) जगत की अनिवर्चनीयता की ओर संकेत है ।

(11) प्रेमा भक्ति के द्वारा ही प्रभु की लीला समझ में आ सकती है ।

(५)

करि बिसतार जग धंधे लाया, अंध काया थै पुरिष उपाया ॥
जिहि जैसी मनसा तिहि तैसा भावा, ताकूँ तैसा कीन्ह उपावा ।
तेतौ माया मोह भुलांनां, खसम राम सो किनहूँ न जानां ॥
जिनि जान्यां ते निरमल अंगा, नहीं जान्यां ते भये भुजगा ।
ता मुखि विष आवै विष जाई, ते विष ही विष सै रहा समाई ॥
माता जगत भूत सुधि नांही, भ्रमि भूले नर आवै जाहीं ।
जानि बूझि चैते नही अंधा, करम जठर करम के फंधा ॥

करम का बाध्या जीयरा, अह निसि आवै जाइ ।

मनसा देही पाइ करि हरि बिसरै तौ फिर पीछै पछिताइ ॥

शब्दार्थ—धंधे लाया = कर्म जाल में फँसा दिया । भुजगा = सर्प = विष से पूर्ण अर्थात् विषयी । जठर = पेट ।

सन्दर्भ—कबीर जगत के प्रपंचों में फँसे हुए जीव का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—भगवान ने यह माया का विस्तार करके जगत के लोगों को अनेकानेक घन्धों (कर्म-जाल) में फँसा दिया है । इस जड़ शरीर से जीव की उत्पत्ति की है । जिस जीव की जैसी वासना होती है, उसको वैसी ही वस्तुएँ रुचिकर होती हैं । उनके लिए भगवान ने वैसे ही साधन जुटा दिए हैं । उन्हीं साधनों के अनुरूप वे जीव माया-मोह में भ्रमित होते रहते हैं । कोई भी जीवात्मा अपने पति रूप राम को नहीं जान पाती है । जिन जीवात्माओं ने उन प्रभु को जान लिया अर्थात् जिन जीवों के मन में भगवान का प्रेम उत्पन्न हो जाता है, उनका अन्तःकरण पूर्णतः निर्मल हो जाता है । जो उसे नहीं जान पाता है, वे सदैव विषपूर्ण सर्प की तरह विषयी ही बने रहते हैं—उनके अंगों से निरन्तर वासना

रूपी विष ही निस्सृत होता रहता है, और जो कुछ उनके मुख में जाता है, वह भी विष ही बन जाता है। (उनकी समस्त आकाक्षाएँ वासना से विषैली होती हैं और उनके सम्पूर्ण भोग एवं कार्य वासना के विष में परिणत होते हैं।) यह सारा जगत वासना के विष से ग्रस्त होकर उन्मत्त हो रहा है और इन प्राणियों को अपना होश नहीं है। मनुष्य भ्रम से अपने स्वरूप को भूला हुआ आवागमन के चक्र में पड़ा हुआ है। यह अज्ञानग्रस्त प्राणी जान बूझ कर मोह निद्रा में फँस गया है और चेतता नहीं है, और इसी से वह कर्म की जठराग्नि में जलता है और कर्म के फंदे में फँसा हुआ है। कर्म के बन्धनों में बंधा हुआ यह जीव रात-दिन (निरन्तर) आवागमन के चक्कर में घूमता है। वह अपनी अभीप्सित मानव योनि प्राप्त करके भी भगवान को भूल जाता है और अन्त में पछताता है।

अलंकार—(1) रूपक—जग धर्ष, करम जठर, करम के फंदा।

(II) विरोधाभास—अध... उपाया।

(III) सवधातिशयोक्ति—किनहूँ न जाना।

(IV) रूपकातिशयोक्ति—भुजगा।

(V) श्लेष—विष।

(VI) अनुप्रास—भूत, भ्रमि, भूले।

विशेष—(1) माया-मोह ग्रस्त जीव का सजीव चित्रण है।

(II) विषयी जीव के लिए भुजग शब्द का प्रयोग बड़ा ही अर्थ गर्भित है यह 'विषयी' का परम्परागत गृहीत प्रतीक है।

(III) साँप को दूध पिलाने से विष में वृद्धि होती है। विषयी की विषय-भोग के द्वारा विषयाग्नि में वृद्धि होती है।

(६)

तौ करि त्राहि चेति जा अंधा, तार परकीरति भजि चरन गोब्यंवा ॥

उदर कूप तजौ ग्रभ बासा, रे जीव राम नाम अम्यासा ।

जगि जीवन जैसे लहरि तरगा, खिन सुख कूं भूलसि बहु संगी ॥

भगति कौ हीन जीवन कछू नांही, उत्पति परलै बहुरि समाहीं ।

भगति हीन अस जीवनां, जन्म मरन बहु काल ।

आश्रम अनेक करसि रे जियरा, राम बिना कोई न करै प्रतिपाल ॥

शब्दार्थ—त्राहि=दैन्यपूर्वक रक्षा की प्रार्थना। परकीरति=अन्य व्यक्तियों की खुशामद। कूप=कुआँ। अन्धा=धुन्वा, अस्पष्ट दृष्टि वाला।

सन्दर्भ—कवीरदासजी कहते हैं कि राम-भक्ति ही उद्धार का एकमात्र उपाय है।

भावार्थ—हे अस्पष्ट दृष्टि वाले जीव, चेतना और दीनतापूर्वक भगवान से रक्षा की प्रार्थना कर। अन्य व्यक्तियों की खुशामद तथा अन्य देवताओं की आराधना छोड़कर भगवान गोविंद के चरणों का ध्यान करो। उदररूपी कुएँ (गर्भ) में तुमको

वार-वार आना पडता है। उससे मुक्ति प्राप्त करने के लिए हे जीव ! तू भगवन्नाम का अभ्यास कर। यह ससार का जीवन तो जल की तरङ्ग के समान क्षणिक है। इसके क्षणिक सुख के पीछे तुम अनेक साधु-सतो की सद्गति में उपलब्ध ज्ञान-वर्चा की उपेक्षा क्यों करते हो ? भक्ति से रहित जीव का जीवन वास्तव में कुछ नहीं है। वह तो उत्पन्न होता है और फिर नष्ट हो जाता है। (वह अनेक बार जन्म लेता है और मरता है—वस इसी क्रम में फँसा रहता है।) हे जीव, तुम भले ही अनेक आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास) का पालन करो, परन्तु भगवान राम की भक्ति के बिना तुम्हारी कोई रक्षा नहीं करेगा।

अलंकार—(1) रूपक—उदर-कूप।

(II) उपमा—जैसे लहर तरङ्ग।

(III) विशेषोक्ति की व्यजना—आश्रम 'कोई न करै प्रतिपाल।

विशेष—(1) निर्वेद सचारी की व्यजना है।

(II) ज्ञान-भक्ति के प्रकाश को न देख सकने वाले प्राणी को 'चु घा' कहकर कबीर ने अज्ञानी के स्वरूप को मूर्तिमत्ता प्रदान कर दी है।

(७)

सोई उपाव करि यहु दुख जाई, ए सब परहरि बिसै सगाई ॥

माया मोह जरै जग आगी, ता सगि जरसि कवन रस लागी ।

त्राहि त्राहि करि हरी पुकारा, साध सगति मिलि करहु बिचारा ॥

रे रे जीवन नहीं बिश्रामां, सब दुख खंडन राम को नामां ।

राम नाम ससार में सारा, राम नाम भौ तारन हारा ॥

सुम्रित वेद सब सुनै, नहीं आवै कृत काज ।

नहीं जैसे कु डिल बनित सुख सुख सोभित बिन राज ॥

शब्दार्थ—सगाई=सम्बन्ध। भौ=समार। सुम्रित=स्मृति, धर्मशास्त्र।

सन्दर्भ—पूर्व रमैणी के समान।

भावार्थ—रे जीव, तुमको वही उपाय करना चाहिए जिससे यह ससार का (आवागमन का) दुख दूर हो। इन समस्त विषयों (भोगेच्छाओं) तथा सासारिक सम्बन्धों को त्याग दो। यह सारा समार माया-मोह की आग में जल रहा है। तुम किस आनंद के लोभ में फँसकर इस विषयाग्नि के साथ जलना चाहते हो ? हे जीव, दीनतापूर्वक भगवान से रक्षा की पुकार करो तथा साधुओं की सद्गति में बैठकर उस परम तत्त्व का चिंतन करो। हे जीव, तुम्हें कहीं अन्यत्र सुख-शांति नहीं मिलेगी। भगवान राम का नाम ही ममस्त दुखों को मेटने वाला है। राम नाम ही ससार में नार वस्तु है और यही भवसागर से पार करने का साधन है। धर्मशास्त्र, वेद आदि सब सुन लो, परन्तु इनमें कोई भी पुण्य-कार्य नहीं होता है अर्थात् ये सब (राम-भक्ति के अभाव में) व्यर्थ ही रहते हैं, जैसे कुण्डल आदि आभूषणों से युक्त नारी का मुख सोभाग्य-चिन्ह के अभाव में सुशोभित नहीं होता है।

- अलंकार—(I) मानवीकरण—साधनाओ का ।
 (II) उदाहरण—नहीं जैसे बिन राज ।
 (III) गूढोक्ति—जरसि कवन आगी ?
 (IV) रूपक की व्यञ्जना — भौ ।
 (V) सवधातिशयोक्ति—सुत्रित काज ।

विशेष (I) बाह्याचार की व्यर्थता एव भगवद्भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन है ।

(II) रामभक्ति को सौभाग्यसूचक चिन्ह कहना बड़ा ही सार्थक प्रयोग है ।

(III) कबीर के राम दाशरथि राम न होकर निर्गुण निराकार राम हैं । कबीर राम के साकार रूप की आराधना का प्रतिपादन न करके उनके गुणों के अनुसरण का उपदेश देते हैं ।

(८)

अब गहि राम नाम अविनासी, हरि तजि जिनि कतहं कै जासी ।
 जहां जाइ तहां तहां पतगा, अब जिनि जरसि समझि विष सगा ॥
 चोखा राम नाम मनि लीन्हें भिग्री कीट म्यन नहीं कीन्हें ।
 भौसागर अति वार न पारा, ता तिरबे का करहु बिचारा ॥
 मनि भावै अति लहरि विकारा, नहीं गमि सूझै वार न पारा ।

भौसागर अथाह जल, तामे बोहित राम अधार ।

कहै कबीर हम हरि सरन, नब गोपद खुर बिस्तार ॥

शब्दार्थ—कै=किधर, कहाँ । बोहित=जहाज, नौका । गोपद=गाय का पैर ।

सन्दर्भ—पूर्व रमणी के अनुसार ।

भावार्थ—हे जीव । अब तुम अविनाशी (सत्य स्वरूप) भगवान के नाम स्मरण की शरण ग्रहण करो । हरि का आश्रय मत छोड़ो । उसे छोड़कर तुम अन्यत्र जाओगे भी कहाँ ? जहाँ भी तुम जाओगे, वहाँ-वहाँ तुमको वासना रूपी अग्नि में पतगा बन कर जलना पड़ेगा । अब विषयासक्ति के वास्तविक रूप को समझ लो और विषय की अग्नि में अपने जीवन को नष्ट मत करो । जो प्राणी राम-नाम रूपी श्रेष्ठ मणि का आश्रय ग्रहण कर लेते हैं उनको भगवान भृगु कीट न्याय से अपने आपसे भिन्न नहीं करते हैं । इस भवसागर की कोई सीमा नहीं है । इसके पार होने के उपाय पर विचार करना चाहिए । जिनके मन विषय-विकार रूपी लहर के प्रति आकर्षित होते हैं, उन्हें भवसागर की न सीमा दिखाई देती है और न उसके पार जाने का कोई उपाय ही सूझता है । इस ससार रूपी सागर में विषयो का अथाह जल है तथा इसको पार करने का एक मात्र साधन राम-भक्ति रूपी नाव है । कबीर दास कहते हैं कि हमने तो भगवान की शरण ले ली है । इमसे हमें तो यह भव का विस्तार केवल गाय के खुर के समान ही प्रतीत होने लगा है ।

अलंकार—(1) वक्रोक्ति—कतहूँ कै जासी ।

(II) रूपक—राम नाम मनि । भौसागर । लहरि विकारा ।

(III) साग रूपक—भौसागर विस्तार ।

विशेष—भृंगी कीट न्याय—भृंग से चिपक जाने पर कीडा भृंग रूप हो जाता है (आत्मसात कर लिया जाता है) यह वेदान्तियों का प्रभाव है ।

[३] बड़ी अष्टपदी रमैणी

(६)

एक विनांनों रचया विनांन, सब अयांन जो आपै जांन ॥

सत रज तस थै कीन्हों माया, चारि खानि विस्तार उपाया ॥

पंच तत ले कीन्ह बंधान, पाप पुनि मांन अभिमानं ॥

अहकार कीन्हे माया मोह, संपति विपति दीन्हों सब काहू ॥

भले रे पोच अकुल कुलवंता, गुणी निरगुणीं धन नीधनवंता ॥

भूख पियास अनहित हित कीन्हां, हेत मोर तोर करि लीन्हां ॥

पच स्वाद ले कीन्हां बंधू, बंधे करम जो आहि अबधू ॥

अवर जीव जत जे आहीं, सकुट सोच बियापै ताहीं ॥

निंदा अस्तुति मांन अभिमांन, इनि भूठे जीव हत्या गियांन ॥

बहु विधि करि ससार भुलावा, भूठे दोजगि साच लुकावा ॥

माया मोह धन जोबनां, इनि बंधे सब लोइ ।

झूठ बियापिया कबीर, अलख न लखई कोइ ॥

शब्दार्थ—विनानी=विज्ञानी, वैज्ञानिक । विनान=विज्ञानमय । खानि=और अथवा चार प्रकार की सृष्टि ।

सन्दर्भ—कबीर अज्ञानमय ससार का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—एक विज्ञानघन भगवान ने इस विज्ञानमय जगत की रचना की है । जो जीव केवल अपने आपको जानता है, वह अज्ञानी है । भगवान ने सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से इस सृष्टि की रचना की है और इसको चार प्रकार की योनियों में विभाजित करके चारों ओर फैला दिया गया है । इसको पाच तत्वों में बाँध दिया है । अर्थात् प्रत्येक पदार्थ की रचना केवल पच महाभूतों के आधार पर कर दी गई है । पाप-पुण्य, मान-अभिमान, अहकार, माया-मोह आदि सभी इन पाचों तत्वों तथा उनकी प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं । भगवान ने सबको कर्मानुसार सम्पत्ति और विपत्ति प्रदान कर दी है । भले-बुरे, कुलीन-अकुलीन, गुणी-अगुणी, धनी-निर्वन, भूख, -प्यास, हित-अहित, स्नेह के आधार पर मेरा-तेरा आदि के युग्मों की सृष्टि भगवान ने की । पंच इन्द्रियों के स्वादों को बधन का हेतु बनाया और उस बधन में शाश्वत बन्धन रहित जीव स्वयं ही बध गया । जितने भी निम्न कोटि के जीव हैं उन सबको सकुट और चिन्ता व्याप्त कर लेते हैं । निन्दा-स्तुति, मान, अहकार ये सब यद्यपि भूठे हैं, तथापि इन्होंने जीव के ज्ञान-स्वरूप को नष्ट कर दिया है ।

यह जीव माया जनित अनेकानेक सासारिक प्रपचो मे अपने को भूल गया है । ये सासारिक बन्धन भूठे हैं, पर इन्होंने सत्य स्वरूप को आवृत्त कर लिया है । माया-मोह और घन-यौवन ने सब लोगो को बाँध रखा है । जीव को भूठ ही भूठ ने व्याप्त कर रखा है । कबीर कहते हैं कि इस कारण वह अलस्य सत्य स्वरूप भगवान के दर्शन नहीं कर पाता है ।

अलंकार— (1) विरोधाभास—सब जान । बधे करम अबधू ।

(11) रूपक—माया मोह लोह ।

विशेष—(1) चार प्रकार की सृष्टि—अण्डज, स्वेदज, उद्भिज और जरायुज ।

(11) पच तत्व—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ।

“हस-देह’ के घैर्य शील, विचार, दया और सत्य से क्रमशः आकाशादि पाच तत्व उत्पन्न हुए । ये बन्धन के हेतु बन गये । जीव मे इनसे अहकार जाग गया । कबीर पंथ मे ब्रह्म सच्चिदानन्द तक को बन्धन मे माना गया है । इसी सिद्धात का ऊपर सकेत है ।

(111) विज्ञानमय जगत—कारण-कार्य को नियम द्वारा संचालित होने के कारण यह जगत विज्ञानमय है । तटस्थ रूप से नियम लागू करने के कारण ही परमात्मा विज्ञानी है । तभी तो कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागरा ।

तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्ता रमव्ययम् । (श्रीमद्भगवद्गीता)

(1V) सब अयान जो आपै जान—इस संसार मे तीन भ्रम सबको व्याप्त कर रहे हैं—देश, काल एव पृथक्त्व । समस्त जीवन एक है अर्थात् सबको एक ही चेतन तत्व व्याप्त किए हुए हैं । परन्तु हम अपने को पृथक् समझते हैं तथा जगत् को मैं और मैं—नहीं (तू) की दो भिन्न परिधियो मे रख कर देखते हैं । यह अज्ञान अथवा भ्रम है जो केवल अपने को ही जानता है तथा सम्पूर्ण विश्व एव उसके रचयिता को नहीं जानता, वह अज्ञानी है । अपने आपको शेष सृष्टि से पृथक् करके देखने वाला निश्चय ही अज्ञानी है ।

(१०)

भूठनि भूठ साच करि जानां, भूठनि मै सब साच लुकानां ॥

धंध बध कीन्ह बहुतेरा, क्रम विवर्जित रहै न मेरा ॥

षट दरसन आश्रम षट कीन्हां, षट रस खाटि काम रस लीन्हां ॥

चारि बेद छह सास्त्र बखाने, बिद्या अनंत कथे को जानै ॥

तप तीरथ कीन्हें व्रत पूजा, धरम नेम दानं पुंन्य दूजा ॥

और अगम कीन्है ब्यौहारा, नहीं गमि सूभै वार न पारा ॥

लीला करि करि भेख फिरावा, ओट बहुत कछू कहत न आवा ॥

गहन ब्यंद कछू नहीं सूभै, आपन गोप भयी आगम बूभै ॥

भूलि पर्यो जीव अधिक डराई, रजनी अंध कूप ह्वै आई ॥
 माया मोह उनवै भरपूरी, दादुर दांमिनि पवनां पूरी ॥
 तरिपै बरिषै अखंड धारा, रेनि भांमनीं भया अंधियारा ॥
 तिहि बियोग तजि भए अनाथा परे निकुज न पावै पथा ॥
 वेद न आहि कहू को मान, जानि बूझि सै भया अयान ॥
 नट बहु रूप खेलै सब जानै, कला केर गुन ठाकुर मानै ॥
 ओ खेल सब ही घट मांहीं, दूसर कै लेखै कछु नाहीं ॥
 जाके गुन सोई पै जानै ओर को जानै पार अयानै ॥
 भले रे पांच औसर जब आवा, करि सनमान पूरि जम पावा ॥
 दान पुन्य हम दिहू निरासा, कब लग रहूं नटारंभ काछा ॥
 फिरत फिरत सब चरन तुरानै, हरि चरित अगम कथै को जानै ॥
 गण गध्रप मुनि अंत न पावा, रह्यो अलख जग धंधे लावा ॥
 इहि बाजी सिव बिरचि भुलांतां, और बपुरा को वयंचित जानां ॥
 त्राहि त्राहि इम कीन्ह पुकारा, राखि साई इहिवारा ॥
 कोटि ब्रह्मंड गहि दीन्ह फिराई, फल कर कीट जनम बहुताई ॥
 ईस्वर जोग खरा जब लीन्हां, टर्यो ध्यान तप खंड न कीन्हां ॥
 सिध साधिक उनथै कहु कोइ, मन चित अस्थिर कहूँ कैसे होई ॥
 लीला अगम कथै को पारा, बसहु समीप कि रहौ नितारा ॥

खग खोज पीछै नहीं, तू तत अपरपार ।

बिन परचै का जानिये, सब भूठे अहकार ॥

शब्दार्थ—लुकाना=छिप गया, आवृत्त हो गया । बध=बन्धन । विवर्जित= परे, वचित । खग=पक्षी रूपी जीव । पीछै नहीं=पीछे मत रह । परिचै= साक्षात्कार ।

सन्दर्भ—कबीर का कहना है कि भगवान का साक्षात्कार वाह्याचार के द्वारा सम्भव नहीं है । वह साधना का विषय है ।

भावार्थ—जीव ने भूठ के भी भूठ (पूर्ण रूपेण मिथ्या) इस जगत को सत्य समझ लिया है । इस भूठे स्वरूप में वह सत्य तत्त्व छिप गया है । जीव ने अपने ऊपर अनेक प्रकार के कर्मों के बंधन डाल रखे हैं । इस कारण कर्मों से रहित वह परम तत्त्व इस बर्म-बन्धन वाले जीव के समीप नहीं रहता है । छः दर्शनों तथा छः आश्रमों की रचना की गई है परन्तु जीव तो छः सो के स्वाद में तथा काम में रस लेता रहा है । चारों वेदों तथा छः शास्त्रों ने उन परम तत्त्व का दर्शन किया है, उन्होंने अनन्त विद्याओं ने भी उसका वर्णन किया है । परन्तु उस परम तत्त्व को कौन जान पाया है ? जीव ने तप, तीर्थ, व्रत, पूजा, धर्म, नियम, पुण्य तथा अन्य कितनी ही साधनायें की । वह शास्त्रानुसार आचरण करता रहा, पर इनसे उस परम तत्त्व तक उसकी पहुंच नहीं हो सकी । भगवान अपनी लीला से जीव को अनेकानेक

योनियों में घुमाते हैं। यह लीला माया के गहरे पर्दे में छिपी हुई है, अतः इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। बिन्दु तत्त्व अत्यन्त गहन है। वह तनिक भी नहीं दिखाई देता है। यह जीव तत्त्व स्वयं ही अपने अज्ञान के कारण आवृत्त रहता है और शास्त्रों के द्वारा (विद्याध्ययन के द्वारा) उसको जाना नहीं जा सकता है। अज्ञान में भूला हुआ जीव द्वैत भावना के कारण अत्यधिक भयभीत है। अज्ञान की रात अध कुए के रूप में गहन से गहनतर होती जा रही है। माया-मोह की घटायें उमड़ आई हैं। सशयो के मेढकों की टर्-टर्, विषयासक्ति की चपलता की चमक एवं वासना के अधड की आवाज से जीवन का सम्पूर्ण वातावरण भरा हुआ है। इसमें भय की गर्जना एवं विपत्तियों की अखण्ड वर्षा हो रही है। मोह रूपी रात्रि अत्यन्त भयानक हो गई है और चारों ओर अज्ञान का गहरा अधकार छाया हुआ है। भगवान् से विपुक्त होकर जीव अनाथ हो गया है। वह इस ससार रूपी जगल में भटक गया है और उसको इसके पार जाने का मार्ग नहीं मिल रहा है। जीव को स्वयं तो ज्ञान नहीं है और वह किसी की कहना भी नहीं मानता है। इस प्रकार वह जान-बूझ कर अज्ञानी बन कर दुःख उठा रहा है। नट अनेक प्रकार के खेल करता है और उनके विषय में सब कुछ जानता है। कलाकार के गुणों का उसका सहृदय स्वामी ही उसका सम्मान कर पाता है। नट की तरह भगवान् भी सबके शरीर के भीतर क्रीडा कर रहे हैं, परन्तु दूसरे उसको कुछ नहीं समझते हैं। गुण की पहिचान गुणी ही कर सकता है—जिसकी बात होती है, वही उसको समझ पाता है, अन्य अज्ञानी उसको नहीं समझ पाता है। चाहे भला हो चाहे बुरा हो, अवसर आने पर यमराज के द्वारा सब पूरा सम्मान पाते हैं। दान-पुण्य भी हमारी निराशा के हेतु बनते हैं (क्योंकि इनके कारण हमें फल भोगने के लिए जन्म लेना पड़ता है) पता नहीं, कब तक जीवन की इस नट-विद्या का खेल-खेलना पड़ेगा। जीवन के जगल में मारे-मारे फिरते हुए हमारे पैर टूट गये हैं। भगवान् का चरित्र अगम्य है, उसका वर्णन कौन कर सकता है? देवता, गन्धर्व, मुनि आदि भी भगवान् की माया का पार नहीं पा सके हैं। भगवान् अलक्ष्य बने रहकर सबको दुनियाँ के धन्धों में लगाये रखते हैं। भगवान् की लीला में तो शिव और ब्रह्मा भी भूते हुए हैं और कोई बेचारा अन्य जीव तो उन्हें किंचित मात्र भी नहीं जान सकता है। सब जीव दैन्य भाव से पुकार करते हैं कि, हे स्वामी रक्षा करो, रक्षा करो। आपने मुझे करोड़ों ब्रह्माण्डों में घुमा दिया है। अनेक जन्मों तक आपने मुझे गूलर के कीड़े की भाँति माया में बन्द रखा है। अब मैंने ईश्वर की उपासना का योग धारण कर लिया है। इसमें न मेरा ध्यान टूटा है और न तप खण्डित हुआ है। सिद्ध साधकों ने जो कुछ बताया है, उससे मन और चित्त स्थिर नहीं हो पाता है। आपकी लीला तो अगम्य है। उसका वर्णन करके कौन पार पा सकता है—अर्थात् उसका पूर्णतया वर्णन कोई नहीं कर सकता है। कबीर कहते हैं कि हे जीव रूपी पक्षी भगवान् की खोज में पीछे मत रहे। भगवान् तुम अपार हो। जब तक उनका साक्षात्कार नहीं हो जाता है, तब तक

उनके बारे में कोई कुछ नहीं कह सकता है। उसके बारे में जो लोग भी बात करते हैं, वे सब झूठे और अहकारी हैं।

- अलंकार—(1) सभंग पद यमक—झूठनि झूठ ।
 (II) विरोधाभास—झूठनि-साच ...जाना ।
 (III) पदमैत्री—धंध बध ।
 (V) वक्रोक्ति—को जानै । और को जानै । कथै को जानै ।
 (VI) विशेषोक्ति—तप तीरथ... नहीं सूझै । क्यचित आना ।
 (VII) पुनरुक्ति प्रकाश—करि करि । फिरत फिरत ।
 (VIII) उपमा—रजनी अधकूप ह्वै । फल कर कीट ।
 (IX) सागरूपक—वर्षा का रूपक—दादुर... अधियारा ।
 (X) वीप्सा—याहि याहि, राखि राखि ।
 (XI) सवधातिशयोक्ति—गण...न पावा ।
 (XII) रूपकातिशयोक्ति—खग ।

विशेष—(1) षट् दर्शन न्याय, साख्य, योग पूर्व मीमासा उत्तर मीमासा और वैशेषिक ।

(II) आश्रम षट्—आश्रमों की संख्या चार ही मानी जाती है। षट् आश्रम से क्या तात्पर्य है—कह नहीं सकते ।

(III) षट् रस—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त ।

(IV) चार वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ।

(V) छः शास्त्र—धर्म, दर्शन, साहित्य, विज्ञान, व्याकरण तथा कला सम्बन्धी ग्रंथ ।

(VI) भगवान का विवेचन—कथन-श्रवण-मनन का विषय नहीं है। वह सर्वथा अनुभूति गम्य है ।

(VII) हरि चरित—इस कथन के द्वारा ऐसा लगता है कि कबीर विष्णु को परब्रह्म मानते हैं। आगे चल कर वह इहि वाजी सिव विरचि भुलाना कहते हैं। यहाँ भी विष्णु का उल्लेख नहीं होता है। सम्भवतः कबीर राम को विष्णु का अवतार मानते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने भी लिखा है कि—

तासु तेज समांन प्रभु आनन । हरषे देखि संभु चतुरानन ।

विष्णु रूप राम उपस्थित हैं। इसी से गोस्वामीजी केवल शिव और विरच के हृषित होने की बात कहते हैं। हमारा विचार है कि कबीर वैष्णव तो नहीं थे, परंतु उनके ऊपर वैष्णव मत का व्यापक प्रभाव अवश्य था ।

(११)

अलख निरजन लखै न कोई, निरभं निराकार है सोई ।
 सुंनि असयून रूप नहीं रेखा, द्विष्टि अद्विष्टि छिप्यो नही पेखा ॥
 बरन अवरन कय्यो नहीं जाई, सकल अतीत घट रह्यो समाई ।

आदि अंति ताहि नही मधे, कथ्यौ न जाई आहि अकथे ॥

अपरंपार उपजै नहीं बिनसै, जुगति न जांनियै कथिये कैसे ।

जस कथिये तस होत नहीं, जस है तैसा सोइ ।

कहत सुनत सुख उपजै, अरु परमारथ होइ ॥

शब्दार्थ—निरजन=माया रहित ।

संदर्भ—कवीर परमतत्व की अनिवर्चनीयता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—प्रभु अलक्ष्य एव माया रहित है । उनको कोई देख नहीं सकता है । अभय एव निराकार तत्त्व वही हैं । वह न शून्य हैं, न स्थूल हैं । न उनका कोई रूप है और न रेखा ही । वह न दृष्ट है और न अदृष्ट है, वह न प्रकट है और न छिपा हुआ ही है । उसका कोई रंग नहीं है, परन्तु उसको रंग रहित भी नहीं कहा जा सकता है । सबसे अतीत होते हुए भी वह घट-वट में समाया हुआ है । उसके आदि, मध्य, अन्त भी नहीं है, क्योंकि वह देश काल के परे है । उस तत्त्व का वाणी के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता है, वह वाणी से अतीत है—अकथ्य है । वह अपरम्पार है । न उनकी उत्पत्ति होती है और न उसका विनाश ही होता है । वह किसी भी युक्ति या प्रमाण का विषय नहीं है । अतः शब्दों के द्वारा जैसा भी कहो, वह वैसा नहीं है । वह तो जैसा है तैसा ही है । उसके विषय में कहने-सुनने (चर्चा करने) से आनन्द की अनुभूति होती है तथा उसके गुण-वर्णन से परमार्थ की सिद्धि होती है ।

अलंकार—(1) अनुप्रास—निरजन, न निरभै निराकार ।

(II) विरोधाभास—सुनि .. समाई ।

(III) सभगपद यमक—दिष्टि अदिष्टि, वरन अवरन ।

(IV) सबघातिशयोक्ति—कथ्यौ न जाई ।

(V) गूढोक्ति—कथिये कैसे ।

विशेष—(1) इस रमैणी में 'नेतिनेति' सदृश भावाभिव्यक्ति है ।

(II) परम 'तत्व' के पारमार्थिक स्वरूप की स्वानुभूति को जगाने का प्रयास है ।

(१२)

जांसि नहीं कस कथसि अयांनां, हम निरगुन तुम्ह सरगुन जांनां ॥

मति करि हींन कवन गुन आंही, लालचि लागि आसिरै रहाई ।

गुंन अरु ग्यान दोऊ हम हीनां, जैसी कुछ बुधि बिचार तस कीन्हां ॥

हम मसकीन कछु जुगति न आवै, ते तुम्ह दरवौ तौ पूरि जन पावै ।

तुम्हारे चरन कवल मन राता, गुन निरगुन के तुम्ह निज दाता ॥

जहुवां प्रगटि बजावहु जैसा, जस अनभं कथिया तिनि तैसा ।

बाजं तत्र नाद, धुनि होई, जे बजावै सो ओरं कोई ॥

बाजी नाचै कौतिग देखा, जो नचावै सो किन्हं पेखा ॥

आप आप थ जानियै, है पर नाही सोइ ।

कबीर सुपिनै केर धन ज्यू, जागत हाथि न होइ ॥

शब्दार्थ—मति करि हीन=विवेक शून्य । बधि=बुद्धि । दरवौ=द्रवी, कृपा करदो । बाजी=बाजीगर, नट । कौतिग=तमाशा ।

संदर्भ—पूर्व रमैणी के समान ।

भावार्थ रे अज्ञानी, तुम इस परम तत्व के स्वरूप को जानते तो हो नहीं, फिर उसका वर्णन किस प्रकार करते हो ? मैंने उसको निर्गुण समझा है और तुमने उसको सगुण के रूप में जाना है । तुम तो विवेकहीन हो । तुममें ऐसा कौनसा गुण है जिससे तुम उस परमतत्व के वास्तविक स्वरूप को जान सके हो ? तुम तो माया-मोह और लोभ-लालच के आश्रित हो । हम भी परमतत्व के साक्षात्कार के उपयुक्त गुणों (विवेक वैराग्य, षट् सम्पत्ति इत्यादि) से तथा बोध से रहित हैं । फिर भी हमको सद्गुण की कृपा से जैसी जो कुछ (थोड़ी बहुत) बुद्धि प्राप्त हुई है, उसी के आधार पर हमने परमतत्व के स्वरूप पर विचार किया है । हम जीव मात्र मतिहीन हैं । हमें भगवान के स्वरूप को समझने की युक्ति नहीं आती है । ईश्वर से अनुग्रह की प्रार्थना करते हुए कबीर कहते हैं कि हे प्रभु, जब आप इस जन पर द्रवीभूत होगे, तभी वह आपके पूर्ण स्वरूप को प्राप्त हो सकेगा (मेरा मन आपके चरण-कमलो में ही अनुरक्त है ।) तुम चाहे सगुण हो चाहे निर्गुण तुम्हीं मुझको ज्ञान देने वाले हो । तुम जहाँ भी जिस प्रकार प्रकट होकर अपने आपको अभिव्यक्त कर देते हो, उसी के अनुसार जो जिस रूप में ही आपके साक्षात्कार के अनुभव को व्यक्त कर देता है, उसके लिए तुम वैसे ही हो । हृदय की तंत्री बजती है । उसमें नाद उत्पन्न होता है, परन्तु इस तंत्री को बजाने वाला कोई दूसरा ही है । जादूगर (नट) नाचता है और दुनियाँ उसका तमाशा देखती है, परन्तु जो नाचने वाले को नचाता है उसे कोई नहीं देख पाता है । हर व्यक्ति उसे अपनी वासना के अनुसार समझता और देखता है, परन्तु वह वास्तव में वैसा नहीं है । कबीर कहते हैं कि व्यक्ति की वासना से समझे जाने वाले भगवान का स्वरूप तो स्वप्न के धन के समान है जो जागने पर हाथ नहीं लगता है ।”

अलंकार—(1) रूपक—चरन कमल ।

(II) उपमा—सुपिने केरि धन ज्यू ।

विशेष—(1) तत्तथा के सिद्धान्त के आवरण में भगवान के अनिवर्चनीय स्वरूप (अवाङ्मनसगोचर) का प्रतिपादन है ।

(II) गुन निरगुन - दाता कबीर एक सच्चे भक्त के रूप में हमारे सामने आते हैं—

जो जगदीश तो अति भली जो महीश बड भाग ।

तुलसी चाहत जनमि भरि रामचरन अतुराग ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(III) जस अनभै कथिता तिन तैसा । तुलना करें—

जाकी रही भावना जैसी । प्रभु मूरत देखी तिन तैसी ।

तथा— अमित रूप प्रगटे तेहि काला । जथाजोग मिले सर्वाह कृपाला ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(IV) सगुण भक्तो जैसे दैन्य की मार्मिक अभिव्यक्ति है ।

(१३)

जिनि यहु सुपिनां फुर करि जांनां, और सबै दुखयादि न आंनां ।,
 ग्यांन होन चेतै नहीं सूता, मै जाग्या विष हर भै भूता ॥
 पारधी बांन रहै सर सांधें, विषम बांन मारै विष बांधें ॥
 काल अहेड़ी संज्ञ सकारा, सावाज ससा सकल ससारा ॥
 दावानल अति जरें बिकारा, माया मोह रोकि ले जारा ॥
 पवन सहाइ लोभ अति भइया, जम चरचा चहुँदिसि फिरि गइया ॥
 जम के चर चहुँ दिसि फिरि लागे, हंस पखेरुवा अब कहा जाइबे ॥
 केस गर्हें कर निस दिन रहई, जब धरि ऐंचे तब धरि चहई ॥
 कठिन पासि कछु चलै न उपाई जम दुबारि सीभे सब जाई ॥
 सोई त्रास सुनि रांस न गावं, मृगत्रिष्णां भूठी दिन धावै ॥
 मृत काल किन्हूँ नही देखा, दुख कौं सुख करि सबही लेखा ॥
 सुख करि मूल न चीन्हसि अभागी, चीन्है बिनां रहै दुख लागी ॥
 नींब काट रस नींब पियारा, यूं विष कूं अमृत कहै ससारा ॥
 विष अमृत एकै करि सांनां, जिनि चीन्ह्या तिनही सुख मांनां ॥
 अछित राज दिन दिनहि सिराई, अमृत परहरि करि विष खाई ॥
 जांनि अजांनि जिन्है विष खावा, परे लहरि पुकारै धावा ॥
 विष के खांयें का गुंन होई, जा बेद न जानें परि सोई ॥
 मुरछि मुरछि जीव जरिहै आसा, कांजी अल्प बहु खीर बिनासा ॥
 तिल सुख कारनि दुख अस मेरु चौरासी लख लीया फेरु ॥
 अल्प सुख दुख आहि अनता, मन मैगल भूल्यौ मैमता ॥
 दीपक जोति रहै इक सगा, नैन नेह मांनू परे पतगा ॥
 सुख विश्राम किन्हू नही पावा, परहरि काल दिन आइ तुरावा ॥
 लालच लागे जनन सिरावा, अति काल दिन आइ तुरावा ॥
 जब लग है यहु निज तन सोई, तब लग चेति न देखै कोई ॥
 जब निज चलि करि किया पयांनां, भयौ अकज तब फिरि पछितांनां ॥

मृगत्रिष्णां दिन दिन ऐसी, अवमोहि कछु न सौहाइ ।

अनेक जतन करिये, टारिये, करम पासि नहीं जाइ ॥

शब्दार्थ—फुर=सत्य । विपहर=विषहर । भूता=भयभीत होकर भाग जाते हैं । सकारा =सवेरे । सावज=मृगयायोग्य पशु । पारधी=शिकारी । ससा=

शशक, खरगोश । दावानल = बन में लगने वाली अग्नि । पाश = फंदा । काट = कीट, कीड़ा ।

सद्वर्ण—कबीर विषयासक्त जीव की दुर्दशा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—जो इस स्वप्नवत् संसार को सत्य समझते हैं, उन्हें इससे उत्पन्न होने वाले दुःखों का ध्यान नहीं रहता है । वे विवेकहीन जीव, तुम जागते नहीं हो । अज्ञान की निद्रा में सो रहे हो । पर मैं तो विषय भोग रूपी विषधर सर्प से भयभीत होकर जाग गया हूँ । इस संसार में मोह रूपी शिकारी वासनारूपी विष में बुझे हुए भी बाण मार रहा है । मृगया का पूरा रूपक बाँधते हुए कबीरदास कहते हैं कि काल रूपी शिकारी शाम-सवेरे (हर समय) तैयार खड़ा है । संसार के समस्त प्राणी उसके मृगया योग्य खरगोश हैं । यहाँ विषय विकार रूपी दावानल सुलग रहा है । माया-मोह ने इन विकारों को एकत्र करके प्रज्वलित कर दिया है । विषयों के प्रति लोभ (आसक्ति) की भावना पवन रूप होकर इस अग्नि को और भी अधिक प्रज्वलित करने में सहायक हो रही है । इस संसार रूपी जंगल में यम के शिकार की चर्चा सर्वत्र व्याप्त है । इन जीव-रूपी पशु-पक्षियों को घेरने के लिए त्रयताप रूपी यम के दूत चारों ओर फिर रहे हैं । जीव रूपी पक्षी अब बचकर कहाँ जाएँगे । यम के दूत दिन रात जीव के वालों को पकड़े रहते हैं । जब अपन दबोचना चाहेगे, तभी उसको खींच कर पकड़ लेंगे । यम का फंदा अत्यन्त कठोर है । उसके समक्ष किसी का वश नहीं चलता है । हरेक प्राणी को यम के द्वार पर पहुँचकर यातना भोगनी पड़ती है । इन दुःखों की बात सुनकर भी जीव राम का गुणगान नहीं करता है और मृगतृष्णा रूप मिथ्या विषयों की ओर भागता फिरता है । मृत्यु की ओर किसी का ध्यान नहीं रहता है । वह सामारिक विषयों को जो मूलतः दुःख रूप हैं, सुख रूप माने रहता है । कबीर चेतावनी देते हुए कहते हैं कि वे अभाग्य, तुम सम्पूर्ण सुखों के मूल भगवान को तो पहचानते नहीं हो । उनको पहचानने बिना तुमको दुःख घेरे ही रहेंगे । जिस प्रकार नीम के कीड़े को नीम को कड़वा रस ही प्रिय लगता है, उसी प्रकार विषयी जन विषरूप विषयों को अमृत रूप कहते हैं । मोह ग्रस्त संसारी जीवों के लिए विष और अमृत को समान समझ लिया है । जिन विवेकी जन ने भगवान के आनन्द स्वरूप (प्रेम) को विषयों से पृथक् करके समझ लिया है, वे ही वस्तुतः सुख के भागी बनते हैं । विषयों का राज्य (महत्त्व) आयु के माघ दिनोदिन क्षीण होता जाता है, परन्तु फिर भी जीव ईश्वर-प्रेम के अमृत को छोड़कर स्वभाववश विषयों के विष का सेवन करता है । जो जीव जान-बूझकर अथवा बोधे से विषयों के विष को खाते हैं, वे भवसागर की लहरों में पड़े हुए पुकारते रहते हैं । विषयों के सेवन में क्या गुण है (यह मेरी समझ में तो आता नहीं है) जो जान शून्य हैं, वे ही इन विषयों में निपट होते हैं । कुम्हना कुम्हना कर जीव धीरे धीरे विषयों की आशा (आसक्ति) में झुलनता रहता है । वाग्ना रूपी काजी यद्यपि वहन ही स्वरूप है, तथापि वह जीव के आनन्द स्वरूप रूपी दूध को फाड़ देती है अर्थात् उसके आनन्द को मिटा

देती है। वह तिल के समान थोड़े से विषयानंद के पीछे सुमेरु पर्वत के समान वृहद् दुखो को अपना लेता है और इस प्रकार वह चौरासी लाख योनियो मे भटकना स्वीकार करता है। इस ससार मे सुख थोडा है और दुख बहुत है, परन्तु फिर भी मन रूपी हाथी इन विषयो मे मस्त बना हुआ फूल रहा है। वासना के दीपक की ली जीव के साथ लगी हुई है। उसके नेम (इन्द्रियो के उपलक्षण) उसके प्रति आसक्ति-वश आकृष्ट होकर उसमे पतंगो की तरह गिरकर भस्म होते रहते हैं। जो जन ईश्वर प्रेम रूप सत्य को छोडकर विषयासक्ति रूप भूठ की ओर दौडते हैं, उनको सुख-शान्ति की प्राप्ति कभी भी नही होती है। विषयो के लालच मे लोग अपना सारा जीवन नष्ट कर देते हैं। अंत काल आने पर वे घबडा कर भागना चाहते हैं। जब तक यह जीव इस शरीर के सुखोपभोग मे अपने आपको भूला रहता है, तबतक वह जग कर विषय-वासनाओ के इस दु खात्मक रूप को नही देख पाता है। जब वह शरीर को छोडकर प्रयाण करता, तब उसकी समझ मे यह बात आती है कि उसने अनुचित काम ही किया और फिर वह पश्चाताप करने लगता है। विषय वासनाओं की मृगतृष्णा दिन प्रतिदिन बढती जा रही है। मुझे अब इस जीवन मे कुछ भी अच्छा नही लग रहा है। मैंने कर्म-बन्धन को समाप्त करने के लिए अनेक प्रयत्न किये, परन्तु कर्म के बन्धन समाप्त होने मे नही आ रहे हैं।

अलंकार—विरोधाभास—सुपना जाना, दुख... - लेखा,

(II) रूपकातिशयोक्ति - विषहर, पारधी, लहरि ।

(III) रूपक—विष वान, मन मैंगल, नैन पतगा ।

(IV) साग रूपक —काल जाइवे ।

(V) उदाहरण— नीव .. ससारा ।

(VI) सभंग पद यमक—दिन दिनहि, जानि अजानि ।

(VII) पुनरक्ति प्रकाश—मुरछि मुरछि, दिन दिन ।

(VIII) विभावना—काजी .. विनासा ।

(IX) विशेषोक्ति—अनेक जतन .. नही जाइ ।

विशेष—(1) ईश्वर-प्रेम से रहित समस्त साधनाएँ व्यर्थ हैं ।

(II) कस गहे .. चहई—समभाव के लिए देखे—

कविरा गर्व न कीजिए, काल गहे कर केस ।

ना जानै कित मारिहै, क्या घर क्या परदेस ।

(१४)

रे रे मन बुधिवंत भंडारा, आप आप ही करहु विचारा ॥

कवन सयांन कौन बौराई, किहि दुख पाइये किहि दुख खाई ॥

कवन सार को आहि असारा, को अनहित को आहि पियारा ॥

कवन साच कवन है भूठा, कवन करु को लागै मीठा ॥

किहि जरियै किहि करिये अनदा, कवन मुकति को मल के फदा ॥

रे रे मन मोहि ब्यौरि कहि, हौं तत पूछौं तोहि ।
संसै सूल सबै भई, समझाई कहि मोहि ॥

शब्दार्थ—बुधिवत=बुद्धिमान । सयान=चतुर । बीराई=पागल, मूर्ख ।
व्यौरि=व्यौरा । करूँ=कडुआ ।

संदर्भ—कबीरदास आत्मालोचन द्वारा विवेकपूर्ण पथ निर्धारित करते हैं ।

भावार्थ—हे मन तुम बुद्धिमान हो, तथा ज्ञान के भण्डार हो । तुम स्वयं अपने आप ही विचार करो । जीवों में कौन चतुर है और कौन पागल अथवा मूर्ख है—वह जो विषयों में अनुरक्त है अथवा वह जो ईश्वराभिमुख है । कौन से कर्म दुःख के हेतु हैं और किन कर्मों से दुःख की निवृत्ति होती है ? किस में हर्ष है, किसमें विषाद है ? किसे अहित समझे और किसे हित माने ? कौन वस्तु सार है और कौन निस्सार है ? कौन प्रेम शून्य है और कौन प्रेम करने वाला है ? क्या सत्य है और क्या मिथ्या है । जीवन की कौन सी अनुभूति कडुवी है और कौन सी अनुभूति मधुर है ? कौन वस्तुतः दुःखों से जल रहा है और कौन सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है ? कौन से कर्म मुक्ति के हेतु बनते हैं और किन कर्मों के करने से गले में फंदा पड़ता है ? जीवन के मूल तत्त्व एवं प्रयोजन के इन प्रश्नों पर तुम स्वयं विचार करके मुझे बताओ । रे मन, मैं तुमसे तत्त्व की बात पूछ रहा हूँ । संशय मेरे लिए शून्य हो गये हैं । तुम मुझ को समझाकर व्यौरेवार बताओ ।

अलंकार—(1) वीप्सा—रे रे ।

(II) मभंग पद यमक—अनहित हित ।

(१५)

सुनि हसा मैं कहूँ विचारी, त्रिजुग जोनि सबै अधियारी ॥
मनिषा जन्म उत्तिम जौ पावा, जानू राम तौ सयांन कहावा ॥
नहीं चेतै तौ जनम गंमावा, पर्यौ बिहांन जन फिरि पछतावा ॥
सुख करि मूल भगति जौ जानै, और सबै दुख या दिन आंनै ॥
अमृत केवल राम पियारा, और सबै विष के भडारा ॥
हरिख आहि जौ रमिये राम, और सुबै विसमा के कांमां ॥
सार आहि सगति निरवांनां, और सबै असार करि जानां ॥
अनहित आहि सकल संसारा, हित करि जानिये राम पियारा ॥
साच सोई जे थिरह रहाई, उपजै विनसै भूठ ह्वै जाई ॥
मीठा सो जो सहजै पाया, अति कलेस थै करू कहावा ॥
नां जरिये नां कीजै मैं मेरा, तहाँ अनद जहां राम निहोरा ॥
मुक्ति सोज आपा पर जानै, सो पद कहां जु भरमि भुलानै ॥
प्रांननाय जग जीवनां, दुरलभ राम पियार ।
मुत सरीर धन प्रग्रह कबीर, जीयेरे तवर पंख बसियार ॥

शब्दार्थ—हंसा=शुद्ध चैतन्य । त्रिजुग=तिर्यक योनि, पशु पक्षी आदि प्राणी । प्रग्रह=परिग्रह, धन का सचय । निहोरा=शरणागति ।

सन्दर्भ—कबीरदास के गुरु (बुद्धि मनस) रमैणी सख्या १४ में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देते हुए सार वस्तुओं को बताते हैं ।

भावार्थ—हे जीव, आत्म स्वरूप में स्थित होकर सुनो, मैं विचार करके तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर देता हूँ । पशु-पक्षी आदि प्राणियों की समस्त योनियाँ हैं—अज्ञान की हेतु हैं । यदि किसी को मिल सके, तो पाने योग्य केवल मनुष्य जन्म ही उत्तम है । अगर मैं परम तत्व राम को जान सकूँ तो बुद्धिमान समझा जाऊँगा । जीव यदि चेतकर भ्रम एव अज्ञान को नहीं त्यागता है, तो वह अपना जन्म व्यर्थ ही गँवा देता है । ज्ञानोदय रूपी प्रभात काल को यदि वह छोड़ देता है, तो फिर अन्त में उसको पछताना पड़ता है । जो भक्ति को समस्त सुखों का मूल समझता है वह भक्ति से रहित अन्य समस्त वस्तुओं को दुःख के रूप में मानता है । राम का प्रिय होना ही केवल अमृत रूप है, तथा विषय-वासना विष के भण्डार हैं । राम में रमना ही केवल हर्ष का हेतु है, शेष तो विषाद हेतुक कार्य हैं । निवृत्ति परायण की सगति ही सार वस्तु है । शेष सब की सगति व्यर्थ है । समस्त ससार अमगलकारी है, केवल प्रिय राम ही मगलकारी है । सत्य वही है जो स्थिर रहता है । जो उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, वह तो मिथ्या और झूठ है । मधुर वही है जो सहज भाव से प्राप्त होता है और जिसकी प्राप्ति में कलेश भोगने पड़ते हैं, वही कड़ुआ है । जिसमें मैं और मेरी की भावना नहीं है, उसको जलना नहीं पड़ता है । जहाँ राम की शरणागति है, वही आनन्द है । मुक्ति वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति अपने स्वरूप को तथा परम स्वरूप को पहचानता है । निर्वाण पद वह अवस्था है जहाँ समस्त भ्रम दूर हो जाते हैं । प्राणनाथ राम ही ससार के जीवनाधार हैं तथा राम का प्रेम अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है । पुत्र, शरीर, धन, परिग्रह तथा परिजनो के लिए जीना तो केवल पक्षा का वक्ष पर थोड़ी देर का बसेरा मात्र है । अभिप्राय यह है कि राम भक्ति जीवन को स्थिरता प्रदान करती है । शेष जीवन एव सम्बन्ध क्षणिक हैं एव महान उद्देश्य से हीन हैं ।

अलंकार—सभग पद यमक—मार असार, अनहित हित ।

विशेष—(1) सत्यासत्य का सुन्दर निरूपण है ।

(11) सो पद भुलाने—कबीर पन्थ में 'ब्रह्मपद' आदि अवस्थाओं को ही परम प्राप्तव्य मान लेने को भ्रम कहा गया है । अतः इस पद को भी भ्रम में भुलाने वाला कहा गया है । अतः इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—जो भ्रम में भुलाने वाला है उसे 'पद' की सजा कैसे दी जा सकती है ?

(111) ना जरिये... मेरा—अहंकार, ममता एव रागद्वेष ही वस्तुतः ताप के हेतु हैं ।

(iv) मनिषा जनम' ... पावा—समभाव देखे—“बड़े भाग मानुष तन पावा” क्योंकि यह ‘साधन धाम मोक्ष कर द्वारा’ है ।

तथा— हरि, तूम बहुत अनुग्रह कीन्हों ।

साधन-धाम बिबुध-दुरलभ तनु, मोहि कृपा करि दीन्हों ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(१६)

रे रे जीय अपनां दुख न सभारा, जिहि दुख व्याप्या सब संसारा ॥

माया मोह भूले सब लोई, क्यचित लाभ मानिक दीयौ खोई ॥

में मेरी करि बहुत बिगूता, जननों उदर जन्म का सूता ॥

बहुतै रूप भेष बहु कीन्हां, जुरा मरन क्रोध तन खीनां ॥

उपजै बिनसै जोनि फिराई, सुख कर मूल न पावै चाही ॥

दुख संताप क्लेश बहु पावै, सो न मिलै जे जरत बुझावै ॥

जिहि हित जीव राखिहै भाई, सो अनहित ह्वै जाइ बिलाई ॥

मोर तोर करि जरे अपारा, मृग त्रिष्णां भूठी ससारा ॥

माया मोह भूठ रह्यौ लागी, का भयौ इहां का ह्वै है आगी ॥

कछु कछु चेति देखि जीव अबही, मनिषा जनम न पावै कबही ॥

सार आहि जे सग पियारा, जब चेतै तब ही उजियारा ॥

त्रिजुग जोनि जे आहि अचेता, मनिषा जनम भयौ चित चेता ॥

आतमां मुरछि मुरछि जरि जाई, पिछले दुख कहता न सिराई ॥

सोई त्रास जे जानै हंसा, तौ अजहू न जीव करै संतोसा ॥

भौसागर अति वार न पारा, ता तिरिबे का करहु बिचारा ॥

जा जल की आदि अति नहीं जानिये, ताकौ डर काहे न मानिये ॥

को बोहिथ को खेवट आही, जिहि तरिये सो लीजै चाही ॥

समझि विचारि जीव जब देखा, यहु ससार सुपन करि लेखा ॥

भई बुधि कछु ग्यांन निहारा, आप आप ही किया बिचारा ॥

आपण में जे रह्यौ समाई, नेडै दूरि कथ्यौ नहीं जाई ॥

ताके चीन्हें परचौ पावा, भई समझि तासूं मन लावा ॥

भाव भगति हित बोहिथा, सतगुर खेवनहार ।

अल्प उदिक तव जाणिये, जब गोपदखुर विस्तार ॥

शब्दार्थ—सभारा=ध्यान दिया । मानिक=माणिक, चैतन्य स्वरूप रूपी मणि । बिगूता=बर्बाद किया । त्रिजुग=तिर्यक, पशु पक्षी आदि की योनि । अल्प=अल्प, थोड़ा सा जो दुर्लभ न हो ।

सन्दर्भ—कबीर जीव के अज्ञान का वर्णन करते हुए कहते हैं ।

भावार्थ—अरे जीव, तुमने अपने दुख के कारण पर ध्यान नहीं दिया । वासनाजन्य इन दुःख से नमस्त संसार ग्रसित है । सब जीव माया मोह में भूले हुए

हैं। विषय-सुख के थोड़े से लाभ के लिए तुमने स्व-स्वरूप प्रतिष्ठा (चैतन्य स्वरूप) रूपी माणिक को गवाँ दिया है। मैं और 'मेरी' करते हुए तुमने अपने आपको बहुत वर्वाद किया है। माता के गर्भ में सोते हुए तेरा जन्म व्यतीत हो गया अर्थात् विभिन्न जन्म धारण करते समय तुमको अनेक वार गर्भ-वास करना पड़ा और इस प्रकार माता के उदर में सोते हुए तुम्हारे जन्म का अधिकांश भाग व्यतीत हो गया। विभिन्न योनियों में तुमने बहुत से वेष और रूप धारण किए। वृद्धावस्था, मृत्यु तथा क्रोध तेरे शरीरों को क्षीण करते रहे। तुम जन्म लेते हो, मरते हो तथा अनेक योनियों में भटकते फिरते हो परन्तु आनन्द के मूल स्रोत अपने शुद्ध स्वरूप अथवा ईश्वर प्रेम की ओर उन्मुख नहीं होते हो। यह जीव अनेक दुःखों एवं सतापों को भोगता है, परन्तु इसको उस परम तत्व का साक्षात्कार नहीं हुआ है, जो इसके समस्त दुःखों को दूर कर देगा।

रे भाई, यह जीव जिन विषयों को मंगलकारी समझ कर उनसे प्रेम करता रहा है, जिनके लिये, यह जिया है, वे इसका अमंगल करके नष्ट होते रहे हैं। अपने और 'पराये' के राग द्वेष में फस कर यह जीव अपार सतापों में जलता रहा है और मृगतृष्णा रूपी भूठे संसार के पीछे भटकता ही रहा है। यह भूठे माया-मोह में ही फसा रहा है। यहाँ इस लोक में क्या हुआ और आगे (परलोक में) क्या होगा, इसकी इसको बिल्कुल चिन्ता नहीं है। रे जीव ! अब भी चेत जा और आँखें खोल कर वास्तविकता को देख। तुमको यह मनुष्य शरीर फिर नहीं मिलेगा। जीवन का सार यही है कि राम-प्रेम की अनुभूति बनी रहे। इसके लिए कोई विशिष्ट अवसर नहीं चाहिए। जब चेत जाओ, तब ही ज्ञान का प्रकाश हो जाएगा। जब ही प्रभु-साक्षात्कार की आकांक्षा जाग्रत हो जाए तब ही अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है। पशु-पक्षियों की विभिन्न योनियों में यह जीव अज्ञान में अचेत पड़ा हुआ घूमता रहा। मानव योनि में अपने पर उसको कुछ बोध हुआ। विषयासक्ति के फलस्वरूप आत्म-स्वरूप धीरे-धीरे नष्ट होता रहता है। पिछले जन्म के दुःखों को भी शांत नहीं कर पाता है। अगर जीव उन्हीं दुःखों के प्रति सजग हो जाय, तो वह अपनी वर्तमान परिस्थितियों में सतोष न करे और उस मूलतत्त्व को प्राप्त करने के लिए आतुर हो जाय। यह भवसागर जसीम है—इसका पार नहीं है। इसको पार करने के उपाय पर विचार करो। जिस भव-जल का आदि और अन्त जानना सम्भव नहीं है, उससे भयभीत क्यों नहीं होना चाहिए ? इसको पार ले जाने वाला कौन सा साधन नौका स्वरूप है और कौन सा सद्गुरु इनके लिए केवट स्वरूप है, इसका विचार करके उन्हीं का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। यह जीव ने जब सोच विचार करके देखा, तब उसे यह संसार स्वप्नवत् ही प्रतीत हुआ, कुछ बुद्धि तथा विचार जाग्रत हुआ और उसने स्वयं ही आत्म स्वरूप का चिन्तन किया तब उसको प्रतिभासित हुआ कि जो तत्व उसमें समाहित हो रहा है उसको दूर अथवा पास कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। उस

तत्व को पहचानने पर ही जीव का आत्म-बोध जागा, विवेक हुआ और फिर उसी में उसका मन लग गया । इस भव सागर को पार करने के लिए भावभक्ति अथवा ईश्वर-प्रेम ही नौका है तथा सद्गुरु ही इस नौका को खेने वाले केवट हैं । जब ईश्वर की कृपा होने पर यह भवसागर गोपद-खुर के समान प्रतीत होने लगे तब समझ लेना चाहिए कि यह भवसागर अल्प (ससीम) है और तब यह दुर्लघ्य नहीं रहे जाता है ।

अलंकार—(1) वीप्सा—रे रे ।

(II) रूपकातिशयोक्ति—मानिक ।

(III) विरोधाभास — जेहि हित ... बिलाई ।

(IV) सभग पद यमक—हित अनहित ।

(V) रूपक—मृगतृष्णा ... ससारा । भौ सागर ।

(VI) पुनरुक्ति प्रकाश—कछु कछु । मुरछि मुरछि ।

(VII) विशेषोक्ति की व्यजना—पिछले ... सिराई ।

(VIII) वक्रोक्ति—काहे न मानियै ।

(IX) उपमा—सताप सुपन करि ।

(X) यमक—आप आप ।

(XI) सवधातिशयोक्ति—कथ्यौ नहि जाई ।

(XII) साग रूपक—भाव भगति ... विस्तार ।

विशेष—इस रमैणी की भाव—व्यजना पर वेदान्तियों के कथन 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिरया' का गहरा प्रभाव है ।

[४] दुपदी रमैणी

(१७)

भया दयाल विषहर जरि जागा, गहगहान प्रेम बहु लागा ।
 भया अनद जीव भये उल्हासा, मिले राम मनि पूगी आसा ॥
 मास असाढ़ रवि धरनि जरावै, जरत जरत जल आइ बुझावै ।
 रुति सुभाइ जिमीं सब जागी, अमृत धार होइ झर लागी ॥
 जिमीं मांहि उठी हरियाई, विरहनि पीव मिले जन जाई ।
 मनिषां मनि कै भये उद्याहा, कारनि कौन विसारी नाहा ॥
 खेल तुम्हारा मरन भया मोरा, चौरासी लख कीन्हां फेरा ।
 सेवग सुत जे होइ अनिआई, गुन औगुन सब तुम्हि समाई ॥
 अपने औगुन कहू न पारा, इहै अभाग जे तुम्ह न संभारा ।
 दरबो नहीं फांइ तुम्ह नाहा, तुम्ह विछुरे में बहु दुख चाहा ॥
 प्रेघ न बरिखै जांहि उदासा, तऊ न सारंग सागर आसा ।
 जलहद भर्यो ताहि नहीं भावै, कै मरि जाइ कै उहै पियावै ॥
 मिलहु राम मनि पुरवहु आसा, तुम्ह विछुर्यां में सकल निरासा ।

मैं रनिरासी जब निध्य पाई, राम नाम जीव जाग्या जाई ॥
 नलिनी कै ज्यू नीर अधारा, खिन बिछुर्यां थै रवि प्रजारा ।
 राम बिनां जीव बहुत दुख पावै, मन पतग जगि अधिक जरावै ॥
 माघ मास रुति कवलि तुसारा, भयौ बसत तब बाग सभारा ।
 अपनै रगि सब कोह राता, मधुकर बास लेहि मैमंता ॥
 बन कोकिला नाद गहगहांना, रुति बसंत सब कै मनि मानां ।
 विरहन्य रजनी जुग प्रति भइया, बिन पीव मिले कनप टलि गइया ॥
 आतमां चैति समझि जीव जाई, बाजी झूठ राम निधि पाई ।
 भया दयाल निति बाजी बाजा, सहजै राम नाम मन राजा ॥

जरत जरत जल पाइया, सुख सागर कर मूल ।

गुर प्रसादि कबीर कहि, भागी ससै सुल ॥

शब्दार्थ—गहगहान=गहन, घना । पूगी—पूर्ण हुई । घदासा=उदासा, उदासीन । जलहर=जलाशय । रनिरासो=निराश रक । पतग=सूर्य । मैमता=मस्त । बाजी=सृष्टि का खेल ।

सन्दर्भ—कबीर सिद्धावस्था का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—भगवान की कृपा हो गई, फलस्वरूप विषय रूपी जहरीला सर्प भस्म होगया और जीव जग गया, और वह गहन ईश्वर प्रेम से पूर्ण होगया । आनंद छा गया और जीव उसमे मग्न हो गया । राम का साक्षात्कार हो गया और उसके मन की आकाक्षा पूर्ण हो गई । ज्ञान-विरह के आषाढ मास में मिलन की तीव्र आकाक्षा के सूर्य ने जीव के चैतन्य रूपी धरा को अत्यधिक सतप्त कर दिया था । वह निरन्तर जल रहा था । भगवान की कृपा के जल ने बरस कर उसको शांत कर दिया । प्रेम की सुन्दर वर्षा ऋतु में सम्पूर्ण पृथ्वी (सृष्टि) प्रेमोल्लास में जाग उठी और उस समय चारों ओर अमृत की धारा की झड़ी लग गई (जीव को एक दम नवीन दृष्टि प्राप्त हो गई—उसकी ऋतु बदल गई । पृथ्वी में हरियाली प्रकट हो गई अर्थात् जीव को सम्पूर्ण सृष्टि आनन्दमय दिखाई देने लगी । विरहिणी जीवात्मा को मानों उसके प्रियतम भगवान मिल गये हैं । मन ही मन में उत्सव होने लगा । जीवात्मा ने परमात्मा से कहा कि हे नाथ । आपने मुझको किस कारण वश भुला दिया था । तुम्हारे लिए तो यह विरह और मिलन (जन्म और मृत्यु) खेल (लीला) है, परन्तु मैं तो इसमें परेशान होकर मर ली । तुम्हारी इस लीला के कारण मुझे तो चौरासी लाख योनियों में भटकना पडा । सेवक और पुत्र से जो भी अनुचित कृत्य हो जाता है, उसके गुण और अवगुण सब कुछ आपकी ही सामर्थ्य के फलस्वरूप हैं अथवा सब आपके ही हैं । उनका यश-अपयश सब आपका ही है । हे स्वामी, मैं अपने अवगुणों का वर्णन नहीं कर सकती हूँ । मेरा सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही है कि आपने मेरी सभाल नहीं की अर्थात् मुझको भुला दिया । हे स्वामी, तुम मेरे ऊपर द्रवित क्यों नहीं होते हो, आपसे विच्छुड कर मैंने बहुत दुःख पाए हैं । आपके प्रेम के

वादल मुझ कर बरसते नहीं है और मेरे प्रति उदासीन रहते हुए चले जाते हैं । परन्तु मेरा चित्त रूपी चातक ससार के विषय रूपी समुद्र के जल द्वारा अपनी प्यास बुझाने की आशा नहीं करता है । विषय सुखो से भरा हुआ यह ससार-समुद्र उसको अच्छा नहीं लगता है । वह प्यास के कारण भले ही मर जाए, परन्तु पिएगा तभी जब आप प्रेम की स्वाँति बूँद पिलाएँगे । हे प्रियतम, आप मिलें और मेरा मनोरथ पूरा कर दें । तुम्हारे वियोग में अत्यन्त निराश हो गया हूँ । मैं निराश रंक तभी अमित सम्पत्ति की प्राप्ति समझूँगा जब आप में मेरा मन पूर्ण रूपेण रम जायेगा । जिस प्रकार कमलिनी का एकमात्र अवलम्ब जल होता है, उससे पल भर भी वियुक्त हो जाने पर सूर्य का ताप उसे जला देता है, वैसे ही जीवात्मा अपने प्राणाधार राम के प्रेम से वचित होकर अत्यधिक दुख का अनुभव करती है । वासनात्मक मन रूपी सूर्य अधिक तीक्ष्ण होकर जीवात्मा रूपी कमलिनी को जलाने लगता है । मोह रूपी माघ मास की जडता ने जीवात्मा रूपी कमलिनी पर तुषारापात किया परन्तु ईश्वर प्रेम रूपी वसत की उष्णता ने (जाग्रत होकर) जीवन-वन की रक्षा कर ली । अन्तःकरण की सद्वृत्तियाँ अपने-अपने अनुरूप उस प्रेम में अनुरक्त हो गई । मन रूपी मधुकर प्रेम-परिमल में मस्त हो गया । उस चैतन्य रूपी विकसित वन में चित्त वृत्ति रूपी कोकिल का गहन मधुर सगीत गुंजारित होने लगा । इस प्रकार प्रेम की इस वसत ऋतु शरीर की सम्पूर्ण वृत्तियों को रुचिकर हुई—इसने समस्त वृत्तियों को उत्लसित कर दिया । जीवात्मा रूपी विरहिणी की एक-एक रात युगों के समान हो गई थी । उमको प्रियतम से विना मिले हुए अनेक कल्प बीत गये थे । अब आत्मा को बोध हुआ है—जीव ने रहस्य को समझ लिया है । उसने इस जगत के खेल को मिथ्या समझ लिया है और उसको भगवान राम के प्रेम की अमूल्य निधि प्राप्त हो गई है । अब भगवान की कृपा हो गई है और चारों ओर प्रेम-संगीत सुनाई दे रहा है—आनन्द ही आनन्द है । (हृदय में अनहदनाद का मधुर सगीत सुनाई दे रहा है) भगवान राम सहज रूप से उसके हृदय के राजा हो गये हैं अर्थात् भगवान के प्रति उसके मन में सहज स्वाभाविक भक्ति उत्पन्न हो गई है । विषय-वासनाओं अथवा प्रभु विरह में जलती रहने वाली जीवात्मा को सम्पूर्ण सुखो के मूल प्रेम-जल की प्राप्ति हो गई है । कबीरदास कहते हैं कि यह सब गुरु की कृपा का फल है । अब मेरे मोह एवं अज्ञान जनित सशय और कष्ट समाप्त हो गये हैं ।

अलंकार—(i) रूपकातिशयोक्ति—विपहर ।

(ii) विरोधाभास की व्यञ्जना—जरि जाग, खेल मोरा ।

(iii) साग रूपक—माम 'जाई, मेघ 'पियावै, माघ'मांता ।

(iv) नभग पद यमक—गुन औगुन ।

(v) अतिशयोक्ति—अपने 'पारा ।

(vi) उदाहरण—नलिनी 'प्रजारा ।

(vii) रूपक—मन पतंग, जल 'मूल ।

(viii) पुनरुक्ति प्रकाश जरत जरत ।

विशेष—(1) खेल तुम्हारा मोरा—किसी की जान गई और आपकी अदा ठहरी ।

(ii) मेघ न बरसै ...पियावै—समभाव के लिए तुलनात्मक अध्ययन करें—

जौं घन बरषै समय सिर जौं भरि जनम उदास ।

तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस ।

जीव चरावर जहँ लगे हैं सबको हित मेह ।

तुलसी चातक मन बस्यो घन सौं सहज सनेह ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(iii) भया दयाल... आस—तुलना करे ।

सुनि हो मैं हरि आवन की आवाज ।

महल चटे-चटि जोऊँ सजनी, कव आवै महाराज ।

दादुर मोर पपोहा बोलै, कोमल मधुरे साज ।

उमग्या इन्द्र चहुँ दिसि बरसै, दामण छोड़ी लाज ।

घरती रूप नवा-नवा धरिया, इन्द्र मिलण कै काज ।

मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, बेगि मिलौ महाराज । (मीराँबाई)

(iv) अपने औगुन—पारा तुलना करें ।

जो अपने सब औगुन कहहू । बाढहि कथा पार न लहहूँ ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(v) मैं रनिरासो—जाई . समभाव के लिए देखें ।

तुम अपनायो तब जानिहौं, जब मन फिरि परिहै ।

तथा—जेहि सुभावं विषयानि लग्यो, तेहि सहज नाथ सौं नेह छाडि छल करिहै ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(१८)

राम नाम निज पाया सारा, अबिरथा भूठ सजल संसारा ।

हरि उत्तम मै जाति पतंगा, जबकु केहरि कै ज्यूं संगी ॥

क्यचिति ह्वै सुपनै निधि पाई, नहीं सोभा कौं धरो लुकाई ।

हिरदै न समाइ जानियै नहीं पारा, लागै लोभ न और हकारा ॥

सुमिरत हू अपने उनमानां, क्यंचित जोग राम मै जानां ।

मुखां साध का जानियै असाधा, क्यंचित जोग राम मै लाधा ॥

कुबिज होइ अमृत फल बंछ्या, पहुँचा तब मन पूगी इछ्यां ।

नियर थै दूरि दूरि थै नियरा, रामचरित न जानियै जियरा ॥

सीत थै अगिन फुनि होई, रबि थै ससि थै रवि सोई ।

सीत थै अगिन परजरई, जल थै निधि निधि थै थल करई ॥

बज्र थै तिण खिण भीतरि होई, तिण थै कुलिस करै फुनि सोई ।

गिरवर छार छार गिरि होई, अविगति गति जानै नहीं कोई ॥

शब्दार्थ—उतग=ऊँचा । पतगा=कीडा—निम्न कोटि का प्राणी ।
जबुक=गीदड, सियार । अपने उपमाना=अपनी सामर्थ्य के अनुसार । हकारना=
पुकारना । मुखाँ साध=मुख से साधना करता हूँ । कुविज=कुबड़ा ।

सन्दर्भ—कबीर राम की माया का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—मैंने अपने सारतत्व रामनाम को प्राप्त कर लिया है । मुझ को यह भी ज्ञान हो गया है कि यह समस्त ससार मिथ्या और निष्प्रयोजन है । भगवान अत्यन्त उच्च है और मैं निम्न कोटि का प्राणी हूँ । मेरा और भगवान का साथ वैसा ही है जैसा गीदड और सिंह का साथ हो । मुझ को राम नाम की निधि ऐसे ही मिल गई है जैसे किसी अत्यन्त दरिद्र को स्वप्न में निधि मिल जाती है । इस अपार शोभा वाली निधि को मैं छिपाकर नहीं रखूँगा । भक्ति का आनन्द मेरे हृदय में समा नहीं रहा है और इसकी कोई सीमा नहीं है । इस आनन्द के प्रति मुझे ऐसा लालच हो गया है कि मैं इसके आनन्द में भागीदार होने के लिए अन्य किसी को पुकारता भी नहीं हूँ । मैं अपने हिसाब से (सामर्थ्य के अनुसार) राम नाम का स्मरण करता हूँ । इससे मुझ को राम के प्रेम-योग का कुछ थोड़ा बहुत ज्ञान हो गया है । मैं मुख से राम-नाम की साधना करता हूँ, परन्तु उस असाध्य भगवान को प्राप्त करना मैं क्या जानूँ ? मुझे तो केवल राम-नाम की किंचित उपलब्धि हुई है । मैं कुबड़ा हूँ मैंने ऊँचे पर लगने वाले अमृत फल की इच्छा की, मैं जब इस फल तक पहुँच गया, तब मेरी मनोकामना पूरी हुई अर्थात् जब तक मुझे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो गई, तब तक मैं अपने सीमित साधनों के द्वारा निरन्तर प्रयत्नशील बना रहा । वह परम तत्व अपना ही स्वरूप है । अत्यन्त समीप होते हुए भी अपने से भिन्न एवं दूर प्रतीत होता है । राम के चरित्र को मेरा मन नहीं जानता है—वह अगम्य एवं शब्दातीत है । इसकी माया अनिर्वचनीय है जो शीत से अग्नि, सूर्य से चन्द्रमा तथा चन्द्रमा से सूर्य कर देती है । शीत से अग्नि प्रज्वलित हो जाती है । जल की एक बूँद भी जलनिधि में परिणत हो जाती है और फिर वही जलराशि पृथ्वी के रूप में ठोस हो जाती है । एक क्षण में ही यह तत्व वज्र से तिनका बन जाता है और फिर दूसरे ही क्षण वह पुनः कठोर वज्र में परिणत हो जाता है । वह पहाड से रेणु और रेणु से पहाड बन जाता है । उस अविगत की माया (लीला) को कोई भी नहीं जान सका है ।

अलंकार—(i) उदाहरण—हरि ... सगा ।

(ii) अतिशयोक्ति—हिरदैपाई ।

(iii) विरोधाभास—नियरि तै नियरा, सोत..... फुनि होई ।

(iv) संवंधातिशयोक्ति—गति जानै नहि कोई ।

विशेष—(i) पतगा में उपलक्षणा है ।

(ii) कुविज..... वंछया—समभाव देखें— ।

करन चहउँ रघुपति गुन गाहा । लघु मति मोरि चरित अवगाहा ।

× × ×

मति अति नीच ऊँचि रुचि पाछी । चहिअ अमिय जग जु रइ न छाछी ।

इत्यादि ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(१६)

जिहि दुरमति डोल्याँ संसारा, परे असूझि वार नहीं पारा ॥

बिख अमृत एकै करि लीन्हां, जिनि चीन्हां सुख तिहकू हरि दीन्हां ॥

सुख दुख जिनि चीन्हां नहीं जानां, ग्रासे काल सोग रुति मांतां ॥

होइ पतग दीपक मै परई, भूठे स्वादि लागि जीव जरई ॥

कर गहि दीपक परहि जु कूपा, यहु अचिरज हम देखि अनूपा ॥

ग्यांनहीन ओछी मति बाधा, भुखा साध करतूति असाधा ॥

दरसन समि कछू साध न होई, गुर समान पूजिये सिध सोई ॥

भेष कहा जे बुधि विसूधा, बिन परचै जग बूड़नि बूड़ा ॥

जदपि रवि कहिये सुर आही, भूठे रवि लीन्हा सुर चाही ॥

कबहुँ हुतासन होइ जरावै, कबहुँ अखड धार वरिषावै ॥

कबहुँ सीत काल करि राखा, तिहू प्रकार दुख देखा ॥

ताकूँ सेवि मूढ़ सुख पावै, दौरै लाभ कूँ सूल गवावै ॥

अछित राज दिने दिन होई, दिवस सिराइ जनम गये खोई ॥

मृत काल किनहुँ नही देखा, माया मोह धन अगम अलेखा ॥

भूठे भूठ रह्यौ उरझाई, साचा अलख जग लख्या न जाई ॥

साचै नियरै भूठे दूरी, विष कूँ कहै संजीवन मूरी ॥

शब्दार्थ—दुरमति=कुबुद्धिवाले, दुर्बुद्ध लोग । डोल्याँ=भटकते फिरते हैं ।

रुति=रुचि, अनुरक्ति । बाधा=आवद्ध । साध=साधु । असाधा=असाधु, दुष्ट ।

विसूधा=विकृत हो जाए । सजीवनी=जीवन देने वाली ।

सन्दर्भ—कवीर मोह-भ्रम गुप्त अज्ञानी जन का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—जो दुर्बुद्धि वाले व्यक्ति इस ससार के माया जाल में भटकते रहते हैं, उनके लिए इस भवसागर का आर-पार नहीं है । ऐसे व्यक्ति विषयासक्ति रूपी विष और ईश्वर प्रेम रूपी अमृत में कोई भेद नहीं समझते हैं । जो इस भेद को जान लेते हैं, उनको भगवान आनन्द प्रदान करते हैं । जो ईश्वर-प्रेम के सुख तथा विषयो के दुख के अन्तर को नहीं समझ पाए हैं, वे काल से ग्रसित रहे तथा उन्होंने शोक को स्वीकार किया । ऐसे व्यक्ति मिथ्या विषय भोग के आनन्द के पीछे पतंगों की भाँति विषय-वासना के दीपक में पड़ते हैं और नष्ट होते हैं । हमने यह एक अनोखा आश्चर्य देखा है कि व्यक्ति अपने हाथ में जान का दीपक होने पर भी विषयो के कुएँ में गिरते हैं । ऐसे ज्ञानहीन व्यक्ति ओछी बुद्धि (कुबुद्धि) द्वारा आवद्ध रहते हैं । वे चेहरे से (देखने में) साधु लगते हैं, परन्तु कर्मों से असाधु

(दुष्ट) होते हैं। तत्त्व-दर्शन के समान कुछ भी साध्य (प्राप्तव्य) नहीं है। गुरु के समान जिसकी पूजा होने लगती है, वही वास्तव में सिद्ध पुरुष है। इस वेष का क्या लाभ है जिसमें बुद्धि मोह ग्रस्त एवं मलीन हो जाय ? परम तत्त्व से परिचय के अभाव में यह जगत मोह में डूबा हुआ है। यद्यपि यह कहा जाता है कि सूर्य देवता परम तत्त्व हैं। पर वह तो झूठा देवता है। व्यक्ति इस झूठे देवता से सुख चाहता है। वह सूर्य कभी तो आग बन कर जलाता है और कभी अखण्ड वर्षा की धारा बहाता है। और कभी अत्यन्त ठंडक (शीतकाल) का समय बर देता है। इन तीनों स्थितियों (गर्मी, वर्षा, जाड़ा) में बहुत दुःख है। ऐसे दुःखदायी एवं झूठे देवता की आराधना करना। मूर्ख क्या कभी सुख प्राप्त कर सकता है ? वे लाभ के लिए दौड़ते हैं, और अपनी गाठ की पूँजी (अपना सहज आनन्द स्वरूप) भी गवाँ बैठते हैं। विषयो का यह राज्य दिनो-दिन क्षीण हो रहा है। दिन बीतते जा रहे हैं और जन्म व्यर्थ जा रहा है। मृत्यु की ओर किसी का ध्यान नहीं है। माया, मोह, धन (सासारिक आकर्षण) का कोई हिसाब नहीं है—वे अगम्य एवं अनिर्वचनीय हैं—उनकी कोई सीमा नहीं है। जीव मिथ्या वासनाओं वाले इस मिथ्या ससार में ही उलझा हुआ है। सत्य एवं अलक्ष परम तत्त्व को जगत के लोग देखने का प्रयत्न ही नहीं करते हैं। ईश्वर के प्रति सच्ची निष्ठा वाले जीव के लिए वह परम हैं। ईश्वर के प्रति सच्ची निष्ठा वाले जीव के लिए वह परम तत्त्व, अत्यन्त निकट है और जो मिथ्या वासनाओं से ग्रस्त है, उसके लिए वह परम तत्त्व दूर है। परन्तु (दुर्भाग्य तो यह है कि) यह मोह ग्रस्त जीव वासनाओं के विष को ही सजीवनी बूटी मान बैठता है।

अलकार—(i) विरोधाभास —कर गहि ... कृपा ।

(ii) रूपकातिशयोक्ति—दीपक कृपा ।

(iii) छेकानुप्रास—अचरज अनूपा ।

(iv) विपम—मुखा ... असाधा ।

(v) अनन्वय की व्यजना—दरसन ... होई ।

(vi) वृत्यानुप्रास—समि साध समान सिध सोई ।

(viii) गूढोक्ति—भेष कहा ... विसूधा ।

(viii) विरोधाभास—विष कूं ... मूरी ।

विशेष—उपलक्षणा पद्धति पर वाह्याचार का विरोध है।

(२०)

कथ्यो न जाइ नियरै अरु दूरी, सकल अतीत रह्या घट पूरी ॥
जहां देखीं तहां राम समांतां, तुम्ह वित ठीर और नहीं आंतां ॥
जदपि रह्या सकल घट पूरी, भाव विनां अभि अतरि दूरी ॥
लोभ पाप दोऊ जरं निरासा, झूठं झूठं झूठि लागि रही आसा ॥
जहुवां हूं निज प्रगट बजावां, सुख सतोष तहां हम पावा ॥

नित उठि जस कीन्ह परकासा, पावक रहै जैसे काष्ठ निवासा ॥
 बिना जुगति कैसे मथिया जाई, काष्ठै पावक रह्या समाई ॥
 कष्टै कष्ट अग्नि पर जरई, जारै दार अग्नि समि करई ॥
 ज्युं राम कहे ते रामै होई, दुख क्लेश घालै सब खोई ॥
 जन्म के कलि विष जांहि बिलाई, भ्रम करम का कछु न बसाई ॥
 भ्रम करम दोऊ बरतै लोई इनका चरित न जानै कोई ॥

शब्दार्थ— आना=अन्य । जहुँवा=जिस अवस्था । कष्टै कष्ट=काठ से काठ को । कलिविष=कल्मष, पाप ।

संदर्भ—पूर्व रमैणी के समान ।

भावार्थ— परमतत्त्व न पास कहा जा सकता है और न दूर । वह सबसे परे होते हुए भी घट-घट में व्याप्त है । मैं जहाँ कहीं भी देखता हूँ, वहाँ राम को ही व्याप्त देखता हूँ । हे भगवन् ! तुम्हारे बिना मैं कोई स्थान नहीं जानता हूँ—अर्थात् कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ तू न हो । यद्यपि वह तत्त्व समस्त हृदयो में व्याप्त है तथापि वह आभ्यन्तर में विराजमान् तत्त्व भक्ति-भाव के बिना दूर (अप्राप्य) ही बना रहता है । जीव लोभ और पाप के वशीभूत होकर निराशा की अग्नि में जलते रहते हैं । झूठी वासनाओं में ग्रस्त झूठे व्यक्ति झूठे विषय-भोगों से सुख की आशा करते रहते हैं । जिस अवस्था में पहुँच कर मैं अपने में व्याप्त अनाहद स्वरूप को ध्वनित कर पाया, वही मुझको सुख और सतोष की प्राप्ति हुई । वह परमतत्त्व सदैव अपने आपको सम्पूर्ण विश्व में प्रकाशित करता है जैसे काठ में अग्नि अव्यक्त रूप से निवास करती है । यद्यपि काष्ठ में अग्नि व्याप्त रहती है तथापि प्रयत्न पूर्वक मथन किए बिना उसको प्रकट नहीं किया जा सकता है । (वैसे ही साधना के बिना अन्तःकरण में व्याप्त परम तत्त्व) (अनाहद स्वरूप) का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है । काठ को काठ से रगड़ कर अग्नि प्रकट की जाती है । वह अग्नि प्रज्वलित होकर लकड़ी को भी अग्निमय कर लेती है । उसी प्रकार हृदय से प्रकट किए हुए राम का जप करने से साधक भी राममय हो जाता है । राम के साथ उसकी यह एकाकारता उसके सम्पूर्ण दुःखों एवं क्लेशों को नष्ट कर देती है, इससे उसके जन्मजात समस्त पाप विलीन हो जाते हैं । राम मय स्थिति प्राप्त हो जाने पर भ्रम तथा कर्म बन्धनों का कुछ भी बश नहीं चलता है, अर्थात् व्यक्ति अज्ञानजन्य भ्रम तथा कर्म-बन्धन से छुटकारा पा जाता है । ससार के प्राणी भ्रम तथा भ्रमजनित कर्मों में ही व्यवहार करते रहते हैं । इनके स्वरूप को कोई भी नहीं समझ पाता है ।

अलंकार—(1) विरोधाभास—नियरै पूरी । जदपि पूरी ।

(II) सवधातिशयोक्ति—कथ्यौ न जाइ, भ्रम... वसाई ।
 इनका कोई ।

(III) पदमैत्री—ठौर और । होई खोई । भ्रम करम ।

- (IV) रूपक—निरासा ।
 (V) यमक—भूठे भूठे ।
 (VI) अगुप्रास—भूठे भूठे भूठे ।
 (VII) उदाहरण—नित उठि ... निवासा, । जारै ... होई ।
 (VIII) वक्रोक्ति—विनाजाई ।
 (X) तद्गुण - अग्नि सम करई ।

विशेष - (1) परमतत्व की अनिवर्चनीयता एव सर्वव्यापकता का निरूपण है ।

(11) सर्व घट वामी प्रभु को काष्ठ से व्याप्त अग्नि के समान बताकर कबीर ने एक दुर्लभ विषय को सहज ही हृदयगम्य कर दिया है । यहाँ पर इन्होंने 'अद्वैत वादियों की-भाँति' काष्ठवह्नि न्याय द्वारा ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट किया है ।

(गोस्वामी तुलसीदास ने भी लिखा है)

एक दारुगत देखिअ एकू । पावक सम जुग ब्रह्म विवेकू ।

(२१)

इन दोऊ ससार भुलावा, इहके लागे ग्यांन गवावा ॥
 इनको मरम पै सोई बिचारी, सदा आनद लै लीन मुरारी ॥
 ग्यांन द्विष्टि निज पेखै जोई, इनका चरित जानै पै सोई ।
 ज्यू रजनी रज देखत अधियारी, उसे भुवगम बिन उजियारी ॥
 तारे अगिनत गुनहि अपारा, तऊ कछु नही होत अधारा ॥
 भूठ देखि जीव अधिक डराई, बिनां भुवगम डसी दुनियांई ॥
 भूठे भूठे लागि रही आसा, जेठ मास जैसे कुरंग पियासा ॥
 इक त्रिषावंत दह दिसि फिरि आवै, भूठे लगा नीर न पावै ॥
 इक त्रिषावंत अरु जाइ जराई, भूठी आस लागि मरि जाई ॥
 नीझर नीर जानि परहरिया, करम के बांधे लालच करिया ॥
 कहै मोर कछु आहि न वाही, भरम करम दोऊ मति गवाई ॥
 भरम करम दोऊ मति परहरिया, झूठे नांऊ साच ले धरिया ॥
 रजनी गत भई रवि परकासा, भरम करम धू केर बिनासा ॥
 रवि प्रकास तारे गुन खोनां, श्राचार व्योहार सब भये मलीना ॥
 विष के दाघे विष नहीं भावै, जरत जरत सुखसागर पावै ॥

शब्दार्थ—दोऊ=माया मोह । लागे=इनके कारण । पेख=देखे । रज=ज्योति, प्रकाश । नीझर=निर्भर=आनन्द का निर्भर ।

संदर्भ - कबीर कहते हैं कि अज्ञान एव दुःख ग्रस्त जीव को अन्ततः ज्ञान एव प्रकाश की प्राप्ति ही ज्ञानी है ।

भावार्थ—माया-मोह इन दोनों में फग कर यह अपने आत्म स्वरूप को भुल जाता है । इन दोनों बातों के रहस्य पर जो चिंतन करता है, वह परमतत्त्व में लीन

होकर सर्वदा आनन्द का ही अनुभव करता है। जो व्यक्ति ज्ञान दृष्टि से अपने स्वरूप का साक्षात्कार करता रहता है, वही भ्रम के रहस्य तथा कर्म की सच्ची प्रक्रिया को समझ पाता है।

जैसे रात्रि में दृष्टि का अन्धकार रहता है और प्रकाश के अभाव में भ्रम जनित सर्प उसको डस लेता है, वैसे ही यह जीवन है। इसमें अज्ञान का अन्धकार है और इसमें मोहरूपी सर्प उसको डस लेता है। असंख्य तारे हैं, उनकी शक्ति भी अपार है, परन्तु फिर भी वे दृष्टि का आधार नहीं बन पाते हैं अर्थात् उनका प्रकाश देखने की सामर्थ्य प्रदान नहीं कर पाता है। इस भ्रम जनित ससार-सर्प को देख कर जगत के लोग भयभीत रहते हैं। बिना ही सर्प के यह दुनियाँ दक्षित अनुभव करती है। भ्रम में पड़े हुए जीव को इन झूठे विषयों से आशा बधी हुई है। जैसे जेठ के महीने में (अधिक तेज धूप के समय) प्यास से पीड़ित हरिण मृगतृष्णा में भटकता रहता है, वैसे ही मानव विषयों के प्रति आसक्त होकर दसो दिशाओं में भटकता है। वह मिथ्या मृगतृष्णा में फँसे होने के कारण जल नहीं पाता है। उसी प्रकार विषयासक्त व्यक्ति को भी विषयासक्ति के द्वारा तृप्ति नहीं हो पाती है। एक तो वह प्यास से पीड़ित रहता है और दूसरे वह सूर्य के ताप से जल रहा है। मृगतृष्णा के जल की झूठी आशा में भटकता हुआ वह मृग मर जाता है। यही जीव की अवस्था है। इस जीव रूपी मृग ने जान-बूझकर आत्मज्ञान (ईश्वर प्रेम) के आनन्द निर्भर को छोड़ दिया। अपने कर्मों के बन्धन के वशीभूत होकर मानव वाध्य विषयों के लालच में पड़ गया। जहाँ कुछ भी नहीं है, जीव-मृग ने उसी में अपनी ममता जमा ली है। इसी प्रकार भ्रम एवं भ्रमजनित कर्म दोनों ने मानव का विवेक नष्ट कर दिया। सत्य वस्तु पर झूठा नाम आरोपित करके उसको अपने पास रखा।

अन्त में अज्ञान की रात्रि समाप्त हुई और ज्ञान का सूर्य प्रकाशित हो गया। भ्रम और कर्म की धुन्ध का भी नाश हो गया। सूर्य रूपी आत्म ज्ञान के प्रकाश में बहु देवोपासना रूपी तारागण क्षीण होगये (मन्द पड़ गये)। सम्पूर्ण सासारिक आचार-व्यवहार मलीन पड़ गये। वास्तव में विषयासक्ति के द्वारा सताए हुए को विषय रूपी विष अच्छा नहीं लगता है। विषयों से जलते-जलते अन्त में जीव सुख सागर भगवान् एवं उनके प्रेम को प्राप्त हो जाता है।

अलंकार— (I) रूपकातिशयोक्ति— सम्पूर्ण रमैणी।

(II) साग रूपक— सम्पूर्ण रमैणी।

(III) रूपक— ग्यान दृष्टि।

(IV) उदाहरण— ज्यू उजियारी। झूठे • पियासा।

(V) विशेषोक्ति— तारे • अधारा।

(VI) विभावना— बिना दुनियाई।

(VII) पुनरुक्ति प्रकाश— जरत जरत।

विशेष— (I) जीव के लिए भविष्य की आशा का संदेश है। कष्ट-सहन करते

हुए जीव अपनी भूलो से सीखता जाता है, क्रमशः विकसित होता जाता है और ज्ञानान्धकार से मुक्त हो जाता है । विषयी जीव स्वयं विषयो से विरक्त हो जाता है और अन्ततः परम तत्त्व को प्राप्त कर लेता है ।

विषय-दग्ध जीव की स्थिति दूध से जले हुए उस व्यक्ति के समान हो जाती है जो छाछ को फूंक फूक कर पीता है । भ्रम जनित रज्जु सर्प से दशित व्यक्ति लोक-व्यवहार में भी रस्सी को सर्प समझने लगता है । जो तुलसीदास सर्प को रस्सी समझकर प्रियतमा की अट्टालिका पर चढ़ गये थे, उन्हीं तुलसी ने प्रत्येक रस्सी को सर्प समझ कर छोड़ दिया था ।

(11) झूठ देखि... दुनियाई—समभाव के लिए देखे—
केशव कहि न जाइ का कहिये ।

× × ×
सून्य भीति पर चित्र, रग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे ।
× × ×
रविकर-नीर वसै अति दारुन, मकर रूप तेहिं माहीं ।
वदन हीन सो प्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं ।
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै ।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(२२)

अनित झूठ दिन धावै आसा, अंध दुरगंध सहै दुख त्रासा ॥
इक त्रिषावत दुसरै रवि तपई, दह दिसि ज्वाला चहँ दिसि जरई ॥
करि सनमुखि जब ग्यांन विचारी, सनमुखि परिया अगनि मझारी ॥
गछत गछत जब आगे आवा, बिब उनमॉन ढिबुवा इक पावा ॥
सीतल सरीर तन रह्या समाई, तहां छाड़ि कत दाभै जाई ॥
यूं मन वारुनि भया हंमारा, दाधा दुख कलेश संसारा ॥
जरत फिरे चौरासी लेखा, सुख कर मूल किनहूँ नहीं देखा ॥
जाकेँ छाड़ें भये अनाथा, भूलि परे नहीं पावै पंथा ॥
अछै अभि अंतरि नियरै दूरी, बिन चीन्ह्यां क्यूं पाइये सूरी ॥
जा बिन हंस, बहुत दुख पावा, जरत गुरि राम मिलावा ॥
मिल्या राम रह्या सहजि समाई, खिन बिछुर्यां जीव उरभै जाई ॥
जा मिलियां तं फीजे वधाई, परमानंद रेनि दिन गाई ॥
सखी सहेली लीन्ह वृलाई, रुति परमानंद भेटियै जाई ॥
सखी सहेली करहि अनदू, हित करि भेटे परमानंदू ॥
चली सखी जहूँवां निज रामां, भये उछाह जाडे सब कांमां ॥
जानूं कि मोरै सरस बसता, मै बलि जांऊ तोरि भगवंता ॥

भगति हेत गावै लैलीनां, ज्युं बन नाद कोकिला कीन्हां ॥
 बाजै संख सबद धुनि बेनां, तत मन चित हरि गोविंद लीनां ॥
 चल अचल पांइन पगुरनी, मधुकरि ज्युं लेहि अघरनीं ॥
 सावज सीह रहे सब मांची, चद अरु सूर रहे रथ खांची ।
 गण गंध्रप मुनि जोवै देवा, आरति करि करि बिनवै सेवा ॥
 बासि गयद्र ब्रह्मा करे आसा, हम क्युं चित दुर्लभ राम दासा ॥

शब्दार्थ—अनिल=पवन । अध=अधड, आधी । तृषावत=प्यासा, पानी का इच्छुक । मभारी=मध्य । गछत गछत = चलते-चलते । बिब=दो, योग्यता एव शक्ति । ढिडवा=गडढा । बारुनि=वारुणि=मदिरा ।

सन्दर्भ—कवीरदास जानोदय की दशा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—पवन दिन भर झूठी आशा में भटकता रहता है । वह अधड बना हुआ दुर्गन्ध से परिपूर्ण अनेक प्रकार के दुखों एव कष्टों को सहन करता रहता है । एक तो प्यासा रहता है और दूसरे सूर्य उसको अत्यधिक तप्त करता रहता है । उसको दसों दिशाओं में (सर्वत्र) अग्नि का सामना करना पड़ता है और इस प्रकार वह जहाँ जाता है वहाँ (चारों दिशाओं में) वह जलता ही रहता है । जब अपने दुखों पर विचार करके वह आगे बढ़ा तो सामने ही वह जलती हुई अग्नि में गिर गया चलते-चलते जब वह आगे आया, तो उसको अपनी योग्यता एव शक्ति के अनुरूप एक छोटा सा-गर्त (शरीर की उपाधि) प्राप्त हो गया । उसमें वायु का शरीर शीतल होकर समा गया, वह उसी में रचपच गया । एक आसक्ति को छोड़कर उसको दूसरे शरीर के प्रति आसक्ति भी खूब प्राप्त हुई । पवन की तरह मेरा भी मन सासारिक सुखों की मदिरा में रचपच गया । इस प्रकार हमको पुनः दुखों एव सासारिक क्लेशों में दग्ध होना पड़ा । हम चौरासी लाख योनियों में दग्ध होते हुए भटकते फिरते, परन्तु आनन्द के हेतु भगवान् एव उनके प्रति प्रेम की ओर कभी अथवा किसी ने भी ध्यान नहीं दिया । जिस भगवान् को छोड़ने के कारण हम जीव अनाथ हो गये, उसी को वह सर्वथा भूल गया है और उसके साक्षात्कार के उपयुक्त साधना पर वह अग्रसर नहीं होता है । वह परमतत्त्व जीव के हृदय (अन्तःकरण) में विराजमान रहता है, और (अज्ञान के कारण) वह पास होते हुए भी दूर ही रहता है । उस तत्त्व को पहचानने बिना जीव को आनन्द कद भगवान् किस प्रकार दर्शन दे सकते हैं । जिस परम तत्त्व के अभाव में जीव अत्यन्त दुखी हुआ । सासारिक कथाओं में जलते रहने वाले उस जीव को सद्गुरु ने राम तत्त्व से मिला दिया । राम तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर जीव सहज स्वरूप में तदाकार हो गया । उस परम तत्त्व से वह क्षण भर को बिछुड़ा और फिर मायाजाल में फस गया । उस प्रियतम को साक्षात्कार होने पर आनन्द के बघाये गाये गये । और परमानन्द प्रभु के साथ दिन रात आनन्द के साथ (गाते हुए) व्यतीत हुए । जीवात्मा अपनी समस्त सखी सहेलियों (अन्तःकरण की प्रेमानुकूल प्रवृत्तियों) को एकत्र कर लिया और वह हर्ष एव उल्लास

के साथ परमेश्वर से जाकर मिल गई । सारी ज्ञानेन्द्रियाँ आनंदमय हो गई तथा अत्यधिक प्रेम के साथ भगवान के प्रेम में मग्न हो गई । सखियाँ वहाँ चली जहाँ उनके परमानन्द राम थे अर्थात् समस्त वृत्तियाँ रामोन्मुख हो गई । उनके मन में अत्यन्त उल्लास था और उन्होंने समस्त विषयासक्ति का त्याग कर दिया । आनन्द में उल्लसित जीवात्मा कहती है कि मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मेरे हृदय में वसत का विकास हो गया है । हे भगवान, मैं आपकी बलिहारी जाती हूँ । मेरा हृदय भक्ति रूपी वसत में लवलीन होकर उसी प्रकार गा रहा है जैसे वन में कोकिला गूँज रही हो । हृदय में शखो का शब्द होता है और वोणा की ध्वनि हो रही है । जीव का तन मन चित्त भगवान में तन्मय हो गया है । अब तक जो भगवान अचल (कठोर एव निर्जीव) प्रतीत होते थे, अब भक्ति के प्रभाव से द्रवित (सजीव एव करुणार्द्र) हो गये हैं और जो पगु थे, उन्हें पैर मिल गये हैं अर्थात् जो भगवान के प्रति उन्मुख होने में असमर्थ थे, वह अब भक्ति-पथ पर अग्रसर हो गये हैं । भक्त लोग भ्रमर की भाँति भगवान के अधर रम का पान कर रहे हैं । शिकार योग्य पशु और शिकारी सिंह वैर-भाव भूल कर भक्ति में तन्मय हो गये हैं । सूर्य और चन्द्रमा भी अपने अपने रथों को खींचकर खड़े हो गये हैं । देवगण, गन्धर्व, मुनि तथा जितने भी देवता हैं, वे सब भगवान की छवि का दर्शन-लाभ करते हैं तथा उनकी आरती करते हैं, प्रार्थना करते हैं तथा सेवा करते हैं । वासुकी, इन्द्र, ब्रह्मा आदि सब भक्ति (ज्ञानोदय) की इस दशा को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं और यह मनोरथ करते हैं कि हमारे चित्त में राम के प्रति दुर्लभ दास्य भक्ति का निवास हो ।

अलंकार - (i) मानवीकरण—पवन सम्बन्धी उक्तियाँ । चंद्र अरु सूर्य....
खाची पवन को यदि मन का प्रतीक माना जाए, तो यहाँ अप्रस्तुत विधान का अर्थ मानने से 'उपमा' अलंकार भी हो सकता है ।

(ii) यमक—सनमुखि ।

(iii) पुनरुक्ति प्रकाश—गच्छत गच्छत, जरत-जरत, करि-करि ।

(iv) गूढोक्ति—तहाँ छाडि.....जाई ।

(v) रूपक—मन वारुनि ।

(vi) विरोधाभास—अट्टै..... पूरी ।

(vii) वक्रोक्ति—विन .. पूरी ।

(viii) उपमा—ज्यूकोन्हा, मधुकर.....अधरनी ।

(ix) नभग पद यमक—चल अचल ।

विशेष—(i) ज्ञानोदय, अवस्था भक्ति के उदय दशा का सजीव वर्णन है ।

(ii) निनर्ग के रहस्यवाद की सुन्दर व्यंजना है ।

(iii) मावज ... माची—नमभाव देखे—

कहलाने एकत वमत अहि मयूर मृग वाघ ।

जगत तपोवन सो कियो, दौरघ दाघ निदाघ ।

(विहारी)

(IV) चंद अरु सूर रहे रथ खांची—समभाव की अभिव्यक्ति देखें—

गुन-गंभीर-गोपाल मुरली कर लीन्हीं तबहि उठाइ ।

घरि करि वेनु अधर मनमोहन कियो मधुर घुनि गान ।

मोहे सकल जीव जल-थल के सुनि वार्यो तन-प्रात ।

×

×

×

डुलति लता नहि मरुत मद गति सुनि सुन्दर मुख बैन ।

खग मृग मीन अधीन भये सब, कियो जमुन-जल सैन । (सूरदास)

(२३)

भगति हेतु राम गुन गांवै, सुर नर सुनि दुरलभ पद पांवै ॥

पुनिम विमल ससि मास वसंता, दरसन जोति मिले भगवंता ॥

चंदन बिलनी बिरहनि धारा, घूं पूजिये प्रांनपति राम पियारा ॥

भाव भगति पूजा अरु पाती, आत्मराम मिले बहु भांती ॥

राम राम राम रुचि मानै, सदा अनद राम ल्यौ जानै ॥

पाया सुख सागर कर मूला, जो सुख नहीं कहूं सम तूला ॥

सुख समाधि सुख भया हमारा, मिल्या न बेगर होइ ।

जिहिलाधा सो जानिहै, राम कबीरा और न जानै कोइ ॥

शब्दार्थ - पुनिम=पूर्णिमा । बिलनी=बिल्व, बेल का फल । बेगर=पृथक् ।

लाधा=लाभ प्राप्त किया ।

संदर्भ—कबीरदास सच्चे भक्त का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—भक्त जन भगवान की भक्ति की प्राप्ति के लिए राम के गुणों का स्मरण करते हैं और उस परम पद को प्राप्त करते हैं, जो देवता, सिद्ध जन एवं मुनियों के लिए भी दुर्लभ है । वसंत मास की पूर्णिमा के निर्मल चन्द्रमा के प्रकाश में भगवान की ज्योति के दर्शन होते हैं । बिरहिणी जीवात्मा ने भावनाओं का चन्दन एवं बेल-फल धारण किया और इस प्रकार अपने प्राणपति राम की पूजा की । भाव की पूजा की सामग्री है तथा भक्ति ही फूल-पत्ती हैं । इस प्रकार की पूजा करने पर जीवात्मा को आत्माराम की प्राप्ति हो गई । अब 'राम-नाम' के निरन्तर उच्चारण में ही मन लगता है और सदैव राम में ली लगाकर आनन्द का अनुभव करती है । जीवात्मा को आनन्द सागर के मूल स्रोत भगवान (भगवद् प्रेम) की प्राप्ति हो गई है । उस सुख की समानता में अन्य कोई सुख नहीं कर सकता है । मेरा यह सुख समाधि के सुख के समान है । अब मैं परमात्मा के साथ एकाकार हो गई हूँ और उनसे पृथक् नहीं होऊँगी । कबीरदास कहते हैं कि इस आनन्द को वे ही जान सकते हैं—जिनको इसकी अनुभूति का लाभ हुआ है, अन्य कोई इसको नहीं जान सकता है ।

अलंकार—(1) व्यतिरेक की व्यजना—सुर नर ... पावै ।

(II) रूपकातिशयोक्ति—ससि, वसता ।

(III) रूपक—भाव ... पाती ।

(iv) पुनरुक्ति प्रकाश—राम की आवृत्ति ।

(v) अनन्वय—जो सुख तूला ।

(iv) उपमा—सुख हमारा ।

विशेष—(1) बसन्त एवं ससि सुन्दर प्रतीक हैं । बसन्त है भक्ति के उदय का महोत्सव । चन्द्रमा है प्रेम का प्रतीक ।

(ii) भक्ति की दशा का मार्मिक वर्णन है ।

(iii) रहस्यवाद की व्यजना है ।

(iv) जिहि जानै कोइ— इस प्रकार की पक्तियों में कबीरदास भक्ति के उदय के महोत्सव का दिव्य सगीत गाते हुए दिखाई देते हैं, उसे मौन आचरण कहिए अथवा गूंगे का गुड कहिए । यथा—

अपुनपौ आपुन ही में पायो ।

सबद-ही सबद भयो उजियारो, सतगुरु भेद बतायो ।

× × ×
सूरदास, समुझे की यह गति, मन ही मन मुसकायो ।

कहि न जाइ या सुख की महिमा, ज्यों गूंगे गुर खायो । (सूरदास)

[५] अष्टपदी रमैणी

(२४)

केऊ केऊ तीरथ व्रत लपटांनां, केऊ केऊ केवल राम निज जानां ॥

अजरा अमर एक अस्थांनां, ताका मरम काहू बिरलै जाना ॥

अवरन जोति सकल उजियारा, द्विष्टि समांन दास निस्तारा ॥

जे नहीं उपज्या धरनि सरीरा, ताकै पथिन सींच्या नीरा ॥

जा नहीं लागे सूरजि के बांनां, सो मोहि आनि देहु को दानां ॥

जव नहीं होते पवन नहीं पानी, जव नहीं होती सिष्टि उपानी ॥

जव नहीं होते प्यंड न वासा, तव नहीं होते धरनि अकासा ॥

जव नहीं होते गरभ न भूला, तव नहीं होते कली न फूला ॥

जव नहीं होते सबद न स्वाद, तव नहीं होते विद्यान वादं ॥

जव नहीं होते गुरु न चेला, गम अगमै पथ अकेला ॥

अवगति की गति क्या कहूँ, जसकर गाँव न नाँव ।

गुन विहूँन का पेलिये काकर धरिये नाँव ॥

शब्दार्थ—लपटाना = लिप्त । वर्ण = रंग, रूप । विन्तारा = कल्याण ।

मन्दर्भ—कबीरदास परम तत्त्व की अनिर्वचनीयता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—कुछ लोग तीर्थ व्रत आदि में ही लिप्त बने रहते हैं । कुछ लोग केवल राम को ही अपना सर्वस्व समझने हैं । वह अजर एव अमर तत्त्व एक ही स्थान पर है । उनके रहस्य को कोई बिरना ही जानता है । वह रूप रहित ज्योति है जिनका प्रकाश सबत्र फैला हुआ है । उस ज्योति के दृष्टि में समाते ही (उगका

साक्षात्कार होते ही भक्त का कल्याण हो जाता है । वह ज्योति उत्पन्न नहीं हुई और उसने शरीर भी धारण नहीं किया । उसको प्राप्त करने का मार्ग जल से सींचा हुआ नहीं है अर्थात् सरल सुगम नहीं है । वहाँ तक सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता है । उस परम ज्योति को लाकर मुझको कौन प्रदान करेगा ? उस ज्योति के साक्षात्कार की अवस्था में न हवा है न पानी । उस अवस्था में सृष्टि की उत्पत्ति भी नहीं हुई थी । उस समय न शरीर था, न उसका निवासी प्राण ही । उस समय न धरती थी न आकाश ही । उस समय न गर्भ था न उसका मूल कारण ही न उपादान कारण मूल प्रकृति थी और न मित्र कारण पुरुष ही) तब न कली थी और न फूल था अर्थात् अव्यक्त व्यक्त की कल्पना नहीं थी । उस अवस्था में न शब्द था और न उसका भोग ही । तब न ये विधाएँ थी और न उससे सम्बन्धित वाद-विवाद ही । उस अवस्था में गुरु और चेला भी नहीं थे । उस समय गम्य और अगम्य करके विविध मार्ग नहीं थे—केवल सहज प्रेम-साधना का एक ही मार्ग था । उस अविगत के स्वरूप का क्या वर्णन करूँ ? उसका न कोई गाँव (निवास स्थान) है और न कोई नाम । उस गुणातीत को किस प्रकार देखा जा सकता है ? उसका नाम भी क्या रखा जा सकता है ? अभिप्राय यह है कि वह परम तत्त्व स्थान, नाम, गुण आदि से रहित है तथा शब्द और अर्थ के द्वारा जो कुछ अभिधेय है उससे वह परे है ।

अलंकार—(I) पुनरुक्ति प्रकाश—केऊ केऊ ।

(II) विरोधाभास—अवरन ज्योति उजियारा ।

(III) वक्रोक्ति—सो मोहि दाना, गुन विहून . . . नाव ।

(IV) सभग पद यमक—पानी उपानी ।

विशेष—(1) वह परम अनादि, अरूप, अवर्णनीय, अगोचर है ।

(II) सबद—उपलक्षणा पद्धति से तात्पर्य है इन्द्रियासक्ति ।

(III) गम अगम पथ अकेला—वह ज्ञाता और ज्ञेय के भेदों से रहित केवल ज्ञान स्वरूप है ।

(IV) ब्रह्म की अनिवर्चनीयता एव अद्वैत का प्रतिपादन कबीर पर वेदात दर्शन के प्रभाव को द्योतित करता है ।

(२५)

आदम आदि सुधि नहीं पाई, मां मां हवा कहां थे आई ॥

जब नहीं होते राम खुदाई, साखा मूल आदि नहीं भाई ॥

जब नहीं होते तुरक न हिंदू, माका उदर पिया का व्यंदू ॥

जब नहीं होते गाई कसाई, तब बिसमला किनि फुरमाई ॥

भूले फिरं दीन ह्वै घांवे ता साहिव का पंथ न पावै ॥

संजोगे करि गुण धर्या, बिजोगे गुंण जाइ ।

जिभ्या स्वारथि आपणै, कीजै बहुत उपाइ ॥

शब्दार्थ—आदम=आदि मानव । आदि=मूल तत्त्व ।

सन्दर्भ—कबीरदास मानव के अज्ञान का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—आदि मानव को मूल तत्त्व का ज्ञान नहीं हुआ । मानव जाति की माता हीवा कहाँ से आई ? मूल तत्त्व की वह अवस्था थी जहाँ न राम था, न खुदा ही । भाई, उस अवस्था में शाखा, मूल आदि कुछ भी कल्पना नहीं है । वहाँ न मुसलमान है न हिन्दू । न माता का गर्भ है, न पिता का विन्दु ही अर्थात् उस स्थिति में माता-पिता की भी कल्पना नहीं है । उस समय गाय न थी उसको मारने वाला कसाई नहीं था । तब भगवान के नाम पर हलाल करने का हुक्म किसने दिया ? जीव अज्ञान में भूला हुआ उसकी खोज में दीन बना हुआ इधर-उधर भटक रहा है । उसको भगवत्प्राप्ति का मार्ग नहीं मिल रहा है । भक्ति के द्वारा भगवान से तादात्म्य स्थापित करने से जीव में सद्गुणों का विकास होता है और उससे पराङ्मुख (विमुख) होने पर वे समस्त सद्गुण समाप्त हो जाते हैं । परन्तु फिर भी मानव अपनी जिह्वा के स्वाद (इन्द्रिय भोग) के वशीभूत होकर उसकी तृप्ति के लिए अनेक उपाय करता फिरता है ।

अलंकार—(i) सभग पद यमक—आदिम आदि ।

(ii) सम्बन्धातिशयोक्ति—आदम.... पाई ।

(iii) गूढोक्ति—मामा आई ।

(iv) वीप्सा—मा मा ।

(v) वक्रोक्ति—विसमला . फुरमाई ।

(vi) विशेषोक्ति—भूले फिरे न पावै ।

(vii) पदमैत्री—व्यदू हिन्दू ।

विशेष—(i) 'एकोब्रह्म द्वितीयो नास्ति' का प्रतिपादन है । मूल तत्त्व साश्लेष-पटावस्था में रहता है । उसका विश्लेषण नाम-रूप अथवा उपाधि का हेतु बनता है । द्वैत बुद्धि ही समस्त भेद एवं संघर्ष का मूल हेतु है ।

(ii) जिम्मा स्वारथि—उपलक्षणा पद्धति से - इन्द्रियासक्ति ।

(iii) भक्ति भाव का प्रतिपादन है । भगवान की कृपा द्वारा ही जीव को सद्गुण प्राप्त होते हैं । जब भगवान कृष्ण ने अपना वरदहस्त हटा लिया तो अर्जुन के गाण्डीव की प्रत्यक्षा शिथिल हो गई और उसके संरक्षण में जाने वाली गोपियों को साधारण भौलों ने लूट लिया था ।

(२६)

जिनि कलमां कलि मांहि पठावा कुदरति खोजि तिनहूँ नहीं पावा ॥

कर्म करीम भये कर्तता, वेद कुरान भये दोऊ रीता ॥

कृतम सो जु गरभ अवतरिया, कृतम सो जु नाव जस घरिया ॥

कृतम सुनित्य और जनेऊ, हिंदू तुरफ न जानै भेऊ ॥

मन मुसले की जुगति न जानै, मति भूलै हँ दीन बखानै ॥

पाणी पवन संयोग करि, कीया है उत्पाति ।

सुनि मैं सबद समाइगा, तब कासनि कहिये जात ॥

शब्दार्थ—कलमा = वह वाक्य जो मूसजमानो के धर्म-विश्वास का मूल मंत्र है “ला इलाह इल्लिल्लाह, मुहम्मद रसूलिल्लाह ।” मा कुदरति = माया । खोजि = पता, रहस्य । रीता = वाह्याचार के ग्रन्थ ।

संदर्भ—कबीरदास धार्मिक वाह्याचार की निरर्थकता बताते हैं ।

भावार्थ—जिसने इस कलियुग में कलमा का उपदेश मानवों तक पहुँचाया, वह भी भगवान की माया का रहस्य नहीं समझ सका । मोह एवं अज्ञान के प्रभाव के कारण श्रेष्ठ कर्म भी निच्य कर्मों में परिणत हो जाते हैं । वेद और कुरान जैसे धर्म के श्रेष्ठ ग्रन्थ भी अज्ञानी व्यक्तियों के हाथों में पड़ जाने के कारण वाह्याचार के आधार बन गये । जो गर्भ में उत्पन्न होता है, वह कृत्रिम है जो नाम और यज्ञ धारण करता है, वह भी कृत्रिम है । सुन्नत करवाना और यज्ञोपवीत धारण करना दोनों ही वाह्याडम्बर मात्र हैं । हिन्दू और मुसलमान दोनों ही परम तत्व के वास्तविक रूप को नहीं जानते हैं । व्यक्ति अपने मन का सुधार करने का उपाय तो जानता नहीं है और मति भ्रष्ट होकर दो भिन्न धर्मों की बात करता है । जल और हवा, विन्दु एवं प्राणी के संयोग से भगवान ने इस शरीर की उत्पत्ति की है । रे मानव जब शब्द शून्य में समा जाएगा अर्थात् जब व्यक्ति व्यापक चैतन्य में विलीन हो जाएगा, तब उस समय जाति-भेद की बात किससे करेगा ?

अलंकार—(1) वृत्यानुप्रास—कलमा कलि कुदरति । करम करीम ।

(II) सवधातिशयोक्ति—कुदरति पावा । हिंदू—मेऊ ।

(III) दृष्टान्त—वेद कुरान रीता ।

(IV) विरोधाभास—कृतम घटिया ।

(V) वक्रोक्ति—तब कासनि जाति ।

विशेष—(1) वाह्याचार का विरोध है ।

(II) कबीर कहते हैं कि धर्म ग्रन्थ भूठे नहीं हैं । अज्ञानियों एवं स्वार्थियों के हाथों में पड़कर वे वाह्याचार के मात्र साधन बन कर रह गये हैं । उनका वास्तविक स्वरूप तिरोहित हो गया है ।

(III) कृतम' घटिया—व्यजना यह है कि परम तत्व अजन्मा एवं नाम-रूप के परे है ।

(IV) पारमार्थिक अवस्था अभेदात्मक है । पारमाणविक दशा में अभेद की ही कल्पना की जा सकती है ।

(२७)

तुरकी घरम बहुत हम खोजा, बहु बजगार करै ए बोधा ॥

गाफिल गरब करै अधिकाई, स्वारथ अरथि बधै ए गाई ॥

जाकौ दूध घाइ करि पीजै, ता माता कौ वध क्यूं कीजै ॥
 लहुरै थकै दुहि पीया खीरो, ताका अहमक भकै सरीरो ॥
 बेअकली अकलि न जानही, भूले फिरै ए लोइ ।
 दिल दरिया दीदार बिन, भिस्त कहाँ थै होइ ॥

शब्दार्थ—तुरकी धर्म = इसलाम धर्म । बजगार = अनुचित कार्य । बोधा =
 जान बूझ कर । गोफिल = गाफिल, अहंकार मे मदहोश । अहमक = पागल, मूर्ख ।
 दिल दरिया = विशाल हृदय । दीदार = साक्षात्कार । भिस्त = वहिष्ट, स्वर्ग । लहुरै
 = छोटे बच्चे ।

सन्दर्भ—कवीरदास इसलाम धर्म के बाह्याचार के प्रति विरोध प्रकट करते हैं।

भावार्थ—हमने इसलाम धर्म के सच्चे अनुयायियों की बहुत खोज की । ये
 लोग जान-बूझ कर अनेक अनुचित कार्य करते हैं । ये धर्म के अहंकार मे मदहोश
 रहते हैं और स्वार्थ के वशीभूत होकर गाय का वध करते हैं । माता के समान
 जिसके दूध को पीया जाता है, उस (गाय) का वध क्यो किया जाना चाहिए । छोटे
 बच्चे तथा थके हुए (रोगी एव वृद्ध) व्यक्ति जिसका दूध पीते हैं, उसी गाय के
 शरीर को मूर्ख व्यक्ति खाते हैं । वे मूर्ख लोग ज्ञान की बात को जानते नहीं हैं,
 परन्तु अपने ज्ञान के अहंकार मे भूले हुए रहते हैं । उदार हृदय वाले सबको प्रेम
 करने वाले भगवान के साक्षात्कार के बिना व्यक्ति को स्वर्ग की प्राप्ति किस प्रकार
 हो सकती है ? अर्थात् करुणा सागर भगवान के सच्चे स्वरूप दर्शन के अभाव मे
 सुख-शांति की प्राप्ति सम्भव नहीं है ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति—ता माता.....कीजै ।

(II) अनुप्रास—दिल दरिया दीदार ।

(III) वक्रोक्ति—भिस्त.....होइ ।

विशेष—(1) मासाहार का विरोध है—विशेष कर गोहत्या का यह वैष्णव
 धर्म का प्रभाव है ।

(II) बाह्याचार का विरोध है, तथा भगवत्प्रेम का प्रतिपादन है । 'दिल
 दरिया' मे विश्व-प्रेम की व्यंजना है ।

(२८)

पंडित भूले पढ़ि गुन्य वेदा, आप न पावें नांनं भेदा ॥
 संघ्या तरपन अरु पट करमां, लागि रहे इनके आशरमां ।
 गायत्री जुग चारि पढाई, पूछ्यो जाइ मुक्ति किनि पाई ॥
 सब में राम रहै ल्यो सींचा, इन थै और को नीचा ॥
 अति गुन गरव करे अधिकारि, अधिकै गरवि न होइ भलाई ।
 जाकी ठाफुर गरव प्रहारी, सो क्यूं सकई गरव सहारी ॥
 कुल अभिमान विचार तजि, खोजी पद निरबांन ॥
 अंफुर चीज नसाइगा, तव मिलै विदेही थान ॥

शब्दार्थ—गुनि=गुन कर, मनन करके । आप=आत्म स्वरूप । सहारी=सहन करना । विदेही थान=विदेह पद, जीवन्मुक्त की अवस्था ।

सन्दर्भ—पूर्व पद के समान ।

भावार्थ—पंडित लोग वेदों के अध्ययन एवं मनन में ही भ्रमित हो गये । नाना प्रकार की ऊहा पोहा के चक्कर में उनको आत्म-स्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकी । वे सध्वोपासन, तर्पण एवं ब्रह्मोचित छ कर्मों के विधि-विधान ही में लगे रहते हैं और उन्हीं के आश्रित बने रहते हैं । ये चार युगों से (कल्प के प्रारम्भ से) अद्वैत-तत्त्व (अभेद भाव) का प्रतिपादन करने वाले गायत्री मन्त्र को पढ़ते-पढ़ाते आ रहे हैं । इनसे पूछा जाय कि इसके द्वारा किस-किसने मुक्ति की प्राप्ति की है । सम्पूर्ण प्राणियों में राम व्याप्त है । फिर भी ये लोग कुछ लोगों को पवित्र करने के लिए जल के छीटें देते हैं । इस प्रकार कतिपय व्यक्तियों से अधिक नीच कौन हो सकता है ? ये लोग । अपने आपको अत्यधिक श्रेष्ठ मान कर घमण्ड करते हैं, परन्तु अधिक घमण्ड करने से भलाई नहीं होती है । जिन ब्राह्मणों का भगवान् गर्व को नष्ट करने वाला है, वह ब्राह्मणों के गर्व को ही किम प्रकार सहन कर सकता है ? कवीर कहते हैं कि रे पंडित अपने कुल की उच्चता का अभिमान छोड़ कर निर्वाण (मोक्ष) पद प्राप्त करने के लिए साधना करे । जब अहंकार और भेदभाव का अकुर एवं बीज नष्ट हो जाएगा (इनका समूल नाश हो जाएगा) तब तुमको जीवन्मुक्ति की अवस्था भी प्राप्ति हो सकेगी ।

अलंकार—वक्रोक्ति—पूछो दाई । इनमें " नीचा ।

सो क्यूं.....सहारी ।

विशेष—(1) बाह्याचार का विरोध है ।

(ii) षट्कर्म—स्नान, सन्ध्या, पूजा, तर्पण, जप और होम । अथवा—अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह ।

(iii) जाकी—सहारी । हिन्दू धर्म ग्रन्थों में इस प्रकार के वाक्यांश प्रायः पढ़ने को मिल सकते हैं कि—“गरव गुपालहि भावत नाही ।” अथवा—

नारद कहेउ सहित अभिमाना । कृपा तुम्हारि सकल भगवाना ।

करुनानिधि मन दीख विचारी । उर अंकरेउ गरव तरु भारी ।

बेगि सो मैं डारिहउ उखारी । पन हमार सेवक हितकारी ।

(रामचरितमानस—गोस्वामी तुलसीदास)

(२६)

खत्री करै खत्रिया धरमो, तिनकू होय सवाया करमो ॥

जीवहि मारि जीव प्रतिपारै, देखत जनम आपनौं हारै ॥

पच सुभाव जु मेटै काया, सब तजि करम भजे राम राया ॥

खत्री सो जु कुटुंब सू सूर्भ, पचू मेटि एक कू बूर्भ ॥

जो आवध गुर ग्यांन लखावा, गहि करवाल धूप धरि घावा ॥

हेला करै निसानै घाऊ, भूझ परै तहां मनमथ राऊ ॥

मनमथ मर न जीवई, जीवण मरण न होइ ।

सुनि सनेही रांस बिन, गये अपनपौ खोइ ।

शब्दार्थ— खत्री=क्षत्री । प्रतिपारै=प्रतिपालन करता है । पंचू=पाँच आसक्तियाँ । आवध=आजन्म, जीवन भर । करवात=तलवार । धूप=जोश । रेला करै=हल्ला बोलकर ।

सन्दर्भ— कबीर हिंसा का विरोध करते हैं ।

भावार्थ—क्षत्री क्षात्र धर्म का पालन करते हुए हिंसा करते हैं । फलतः उनके कर्म—बन्धन सवाए हो जाते हैं और भी अधिक बढ जाते हैं । जीवो को मारकर वे अन्य जीव (शरीर) का पालन करते हैं । उससे वे देखते-देखते अपना लोक विगाड लेते हैं । अपने काम-क्रोधादि पाँचो स्वभावो को छोड़कर तथा सम्पूर्ण कर्मों का त्याग करके राजा राम का भजन किया जाए—इसी में जीव का कल्याण है । छत्री वही है जो अपने विकारो के कुटुम्ब से सघर्ष करता है और पच इन्द्रियो की आसक्ति को समाप्त करके अपने अन्तःकरण में एक परम तत्व का बोध जगाता है, वही वास्तव में सच्चा क्षत्रिय वीर है । जो गुरु द्वारा प्राप्त ज्ञान पर अपनी दृष्टि जन्म भर जमाए रहता है, हाथ में ज्ञान की तलवार लेकर जोश के साथ (विकारो पर) आक्रमण करना है तथा हल्ला बोलकर ठीक निशाने पर चोट करता है तथा जिससे युद्ध करते हुए कामदेव नामक राजा की मृत्यु हो जाती है, वही वास्तव में सच्चा क्षत्रिय वीर है । इसके पश्चात् मरा हुआ कामदेव जीवित नहीं होता है अर्थात् सच्चे क्षत्रिय वीर को जन्म भर कामदेव नहीं सताता है और वह जीवन-मरण के चक्र में नहीं पडता है—अर्थात् वह मोक्ष को प्राप्त हो जाता है । राम के प्रेम से रहित (शून्य) होकर जो आचरण करते हैं, वे अपने वास्तविक स्वरूप को खो देते हैं—अथवा उन्हें आत्म-बोध नहीं होता है ।

अलंकार—(i) विरोधाभास=जीवहि प्रतिपारै ।

(ii) रूपकातिशयोक्ति—करवाल ।

विशेष—आध्यात्मिक साधना का प्रतिपादन है । वीर वही है जो अपने विकारों पर विजय प्राप्त करने । वस्तुतः 'मैं और तेरा' की भावना से प्रसूत यह संगार ही तो हमारा वास्तविक शत्रु है । इसी पर विजय प्राप्त करके हम मोक्ष के अधिकारी बन सकते हैं । जैन धर्म में साधक को 'जिन्' या 'वीर' कहा गया है । इसी में परम नाथक वर्द्धमान 'महावीर' कहलाए । हिन्दुओं के देवता हनुमान भी अभिमान रहित होकर 'महावीर' कहें गये । गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है कि—

महा अजय समार रिपु जीति सकइ सो वीर ।

जाके ब्रम रय होइ सो मुनहु सखा मतिधीर ॥

(३०)

अरु भूले षट दरसन भाई, पाखंड भेस रहे लपटाई ॥
 जैन बौध अरु साकत रौनां चारवाक चतुरग बिहूना ॥
 जैन जीवकी सुधि न जानै, पाती तोरि देहुरै आनै ॥
 अरु प्रिथमीं का रोम उपारै, रेखत जीव कोटि संघारै ॥
 मनमथ करम करै अस रारा, कलपत बिद धसै तिहि द्वारा ॥
 ताकी हत्या होइ अद्भूता, षट दरसन मै जैन बिगूता ॥
 ग्यान अमर पद बाहिरा, नेडा ही तें दूरि ।
 जिनि जान्यां तिनि निकट है, राम रहा सकल भरपूरि ॥

शब्दार्थ—लपटाई=लिप्त । देहुरा=देवालय । प्रिथमी=पृथ्वी । तूला=तुल्य । असरारा=लगातार ।

सन्दर्भ—कबीरदास जैनियो की औपचारिक अहिंसा का दर्शन करते हैं ।

भावार्थ—हे भाइयो ! आप लोग छ दार्शनो (वैशेषिक, साख्य, न्याय आदि) के द्वारा प्रतिपादित परम तत्व के वास्तविक रूप को तो भूल गये है और उनके नाम पर प्रचारित विभिन्न पाखण्डो एव वाह्याचारो मे लिप्त होकर रह गये हैं । जैन, बौद्ध, शाक्तो की सेना, चावकि चारो मतावलम्बी ज्ञान से शून्य हो गये है । जैनी अहिंसक मानते हुए भी जीव हिंसा का वास्तविक अर्थ नही समझते हैं । ये लोग फूल-पत्ती तोड कर अपने देवालय मे चढाते हैं । दौना मे भर कर मरुआ, चम्पक आदि फूलो को लाते हैं । इन फूलो मे भी जीवो के समतुल करोडो छोटें-मोटे कृमि कीट रहते हैं । देवालय को बनाते समय ये पृथ्वी के रोमो (पेड-पौधे, घास आदि) को उखाडते है और देखते ही देखते करोडो जीवो का सहार कर देते हैं । काम के वशीभूत होकर ये निरन्तर अनेक प्रकार के कर्म करते रहते हैं और उनसे उत्पन्न क्लेशो को भोगते हुए बिन्दु पात करते है, तथा आवागमन के कारण भूत द्वार मे प्रवेश करते हैं । जैन मतावलम्बियो की अहिंसा सम्बन्धी धारणा बहुत ही अद्भुत होती है । ये जैन लोग अपने षट्दर्शनो मे ही ज्ञान-भ्रष्ट हो गये हैं । ये वास्तविक ज्ञान से आरम्भ अमर पद से विमुख हैं । अत जो आत्म तत्व व्यक्ति के सर्वथा निकट है, वह अज्ञान के द्वारा ग्रसित इन लोगो से बहुत दूर हो जाता है । जिन लोगो को ज्ञान एव विवेक प्राप्त है, उनके लिए आत्म-तत्व अत्यन्त निकट रहता है । वह उनका स्वरूप ही है । उन्हें तो सर्वत्र राम (आत्म तत्व) ही व्याप्त दिखाई देता है ।

अलंकार—(1) रूपक—रोम ।

(ii) विरोधाभास—नेडा ही तें दूरि ।

विशेष—कबीर का कहना है कि जैन धर्म मतावलम्बी अहिंसा का वास्तविक अर्थ नही समझते हैं । वे अपने मन्दिरों और उनमे होने वाली पूजा के

नाम पर जीव-हत्या करते रहते हैं । इस प्रकार वह प्रकारान्तर मे जैनियो के वाह्याचारो, उनके मठाधीशो आदि के प्रति अपना विरोध प्रकट करते हैं ।

(३१)

आपन करता भये कुलाला, बहु बिधि सिष्टि रची दर हाला ॥
विधनां कु भ किये द्वै थांना, प्रतिबिबता मांहि समांनां ॥
बहुत जतन करि बानक बांनां, सौज मिलाय जीव तहां ठांना ।
जठर अगनि दी की परजाली, ता मै आप करे प्रतिपाली ॥
भीतर थे जब बाहिर भावा, सिब सकती द्वै नांव धराबा ॥
भूलै भरमि पर जिनि कोई, हिंदू लुरक भूठ कुल दोई ॥
घर का सुत जे होइ अयांनां, ताके संगि क्यूं जाइ सयांनां ॥
साची बात कहै जे वासू, सो फिरि कहै दिबांनां तासू ॥
गोप भिन है एकै दूधा, कासू कहिए बांम्हन सूधा ॥

जिनि यहु चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार ।

कहै कबीर ते जन भले, जे चित्रवत लेहि विचार ॥५॥

शब्दार्थ—कुलाला=कुम्हार, सृष्टिकर्ता । दरहाला=आजकल, अर्थात् शीघ्र ही । विधना=मृष्टिकर्ता, भगवान । सौज=साधन ।

सन्दर्भ—कबीर कहते है कि यह सृष्टि माया स्वरूप है । मनुष्य को किसी प्रकार भी कर्ता अभिमान नही करना चाहिए ।

भावार्थ—भगवान स्वयं कुम्हार बन गये और उन्होंने विविध नाम रूपात्मक इस सृष्टि की रचना तत्काल कर डाली । इस कर्ता ने दो स्थानो पर घडे (प्राणी) तैयार किये अर्थात् द्वैत से सृष्टि की और उन अन्त करण रूपी घडो मे स्वयं प्रतिबिम्ब बन कर समा गये । बहुत यत्न करके अनेक साधनो को जुटाकर तथा पच तत्वो आदि को मिलाकर उसने जीव बनाया । मातृ-उदर मे गर्भस्थ शिशु को जठर-अग्नि जलाये डालती थी किन्तु वहां भी वह दयालु जीव की रक्षा करता था । यही गर्भ जब उदर से बाहर आया, तब उसने अपने दो नाम शिव (पुरुष) और पत्ति (नारी) रख लिये—अर्थात् इस विविध रूपात्मक जगत का मूल स्रोत वह एक (ब्रह्म) ही है । अब कोई इन भ्रम न न रहे कि हिन्दू और मुसलमान उत्पत्ति की दृष्टि से दो भिन्न कुल के हैं । अगर घर लडका मूख होता है, तो घर के समझदार लोग टगको अपने साथ नही लगाने हैं । परन्तु अगर मैं मच्छी बात कहता हूं अगर मैं जीव को माया द्वारा आवृत्त होने को बान कहना हूं, तो लोग मुझे पागल कहने दें । सब एक ही परम तत्व रूप दूध से उत्पन्न हुए हैं, केवल ग्वाले (पिता) का ही भेद है । ऐसी स्थिति मे ब्राह्मण और शूद्र किससे कहे ? जिसने सृष्टि का यह निद दनाया है वह मच्छा भूषण है । वे व्यक्ति ही वास्तव मे जानी हैं, जो इस मन्गार को चिन्वना (मि पा) समझने हैं ।

अन्वयार्थ—(1) निदर्शना—मूल ...नयाना ।

(ii) विरोधाभास—साची तासू ।

विशेष—(i) इसमें अद्वैतवाद के प्रति विम्बवाद का प्रतिपादन है ।

(ii) जगत को चित्रवत् बताकर अद्वैतवाद के मिथ्यावाद का प्रतिपादन है ।

[६] बारहपदी रमैणी

(३२)

पहली मन मैं सुमिरौ सोई, ता सम तुलि अवर नही कोई ॥

कोई न पूजै वांसू प्रांनां, आदि अति वो किनहू न जानां ॥

रूप सरूप न आवे बोला, हरू गरू कछु जाइ न तोला ॥

भूख न त्रिषा धूप नहीं छांहीं, सुख दुख रहित रहै सब मांही ॥

अविगत अपरंपार ब्रह्म, ज्ञान रूप सब ठाम ।

बहु विचार कर देखिया, कोई न सारिख राम ॥

शब्दार्थ—तुलि=तुल्य, समान । अवर=अन्य । हर=हल्का, । गद=भारी । प्रांनां=ज्ञानेन्द्रिय । पूजै=पूरा पड सकना । वासू=उससे । सारिख=सरीखा, सदृश ।

सन्दर्भ—कबीर परम तत्व को अगम एव अगोचर बताते हैं ।

भावार्थ—सर्वप्रथम मैं उस परमात्मा का स्मरण करता हूँ जिसके समान अन्य कोई नहीं है—अर्थात् मैं अद्वितीय एव महिमा वाले परमात्मा का स्मरण करता हूँ । ज्ञानेन्द्रियो द्वारा उसको प्राप्त नहीं किया जा सकता है । उसका आदि और अंत को कोई नहीं जानता है । उसके रूप, रेखा, वर्ण आदि का विचार हमसे करते नहीं बनता है । हल्का या माटी के रूप में उसको तोला भी नहीं जा सकता है । अर्थात् न उसे भूख लगती है, न प्यास लगती है तथा धूप-छाँह उसको कुछ भी नहीं सताती है । वह तत्व सुख-दुख से निलिप्त होकर घट-घट में व्याप्त है । वह अविगत, अपार एव ज्ञान स्वरूप ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है । हमने बहुत विचार करके देख लिया है कि राम के समतुल्य कोई भी दूसरा तत्व नहीं है ।

अलंकार—(1) अनन्वय—ता सम “कोई, कोई न “राम ।

(ii) सम्बन्धतिशयोक्ति—कोई तोला ।

विशेष—राम इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, भौतिक गुणों के परे है तथा वर्णनातीत है ।

(iii) वह द्वैत रहित अद्वैत तत्व है ।

(३३)

जो त्रिभवन पति ओहै ऐसा, ताका रूप कहौ धौं कंसा ॥

सेवत जन सेवा कै ताई, बहुत भांति करि सेवि गुसाई ॥

तैसी सेवा चाहौ लाई, जा सेवा बिन रह्या न जाई ॥

सेव करंतां जो दुख भाई, सो दुख सुख वरि गिनहु सवाई ॥

सेव करता सो सुख पावा, तिन्य दुख दोऊ बिसरावा ॥

सेवग सेव भुलानियां, पथ कुपंथ न जान ।
सेवक सो सेवा कर, जिहि सेवा भल मान ॥

शब्दार्थ— ताई = लिये । करता = करते हुए । विसरावा = भूल जाता है ।

भल मान = सुख का अनुभव ।

सन्दर्भ—कबीरदास निस्स्वार्थ सेवा का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ— जो त्रिभुवन पति ऐसे महान हैं उनका स्वरूप-वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है ? भक्त-गण तो केवल इसकी सेवा करने के लिए ही बनाए हैं । वे तो अपने स्वामी की विविध प्रकार से सेवा कर सकते हैं । सेवक को वही सेवा-भक्ति करनी चाहिए जिसके बिना उससे रहा न जाए—अर्थात् प्रभु-भक्ति सदैव अहेतुकी होनी चाहिए । यदि प्रभु-सेवा करते हुए मुझे दुख उठाना पड़े तो इस दुख को सवा गुना सुख मान कर ग्रहण करना चाहिए । जो भक्त प्रभु-सेवा में सुख का अनुभव करता है, उसके लिए सासारिक दुख-सुख दोनों समाप्त हो जाते हैं, अर्थात् वह कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है । कबीर कहते हैं कि आजकल के सेवक प्रभु-सेवा के महत्व का भूल बैठे हैं तथा पथ-कुपथ का विवेक न करते हुए चाहे जिस साधना का अवलम्बन करने लगते हैं । भक्त तो वही है जो प्रभु-सेवा में गौरव एवं सुख का अनुभव करता है ।

अलकार—(1) गूढोक्ति—कहीं धौं कैसा ।

(II) अनुप्रास—सेव सो सुख सुख, सेवक सेवा सेवा ।

(III) सभग पद यमक—पथ कुपथ ।

विशेष—सेवा-भाव ही भक्ति का मूल आधार है ।—समभाव देखे—

सो अनन्य गति जाके मति न टरइ हनुमंत ।

मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ।

(३४)

जिहि जग की तस की तस के ही, आपँ आप आथि है एही ।

कोई न लखई वादा भेऊ, भेऊ होइ तौ पावै भेऊ ॥

वावै न दांहिन आगे न पीछू, अरध न उरध रूप नहीं कीछू ॥

माय न वाप आव नहीं जावा, नां बहु जण्यां न को वहि जावा ॥

वो है तता वोही जानै, ओही आहि आहि नही आने ॥

नैनां बैन अगोचरी, श्रवनां करनी सार ।

बोलन कै सुख कारनै, कहिये सिरजनहार ॥

सन्दर्भ— पूर्व पद के नमान ।

भावार्थ— नगार की जैसी भी रचना हुई है, वह केवल इसने ही (परमात्मा ने ही) की है । वह स्वयं उमंगे आप विनीत हो जाता है । उनके भेद को कोई नहीं जान पाता है । उनाम कुछ भेद हो तब तो कोई उसको प्राप्त करे

अर्थात् उसका कोई भेद है ही नहीं—वह भेदातीत है । इसलिए उसका भेद जानने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है । न उसमे बायाँ है, न दाहिना है, न आगे है और न पीछे, न नीचे है और न ऊपर है । उसका कोई रूप भी नहीं है । उसके न माता है, न पिता है । न उसका जन्म होता है और न उसकी मृत्यु होती है । न उसने किसी को (लौकिक अर्थ मे) उत्पन्न ही किया है । वह जैसा है उसको वह स्वयं ही जानता है अर्थात् अपने स्वरूप को वह स्वय ही जानता है । केवल उसी एक परम तत्व की स्थिति है । उसके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं । वह परम तत्व नेत्र और वाणी से अगोचर है । वह श्रवण और कर्म का सार है अर्थात् उसी के गुणों का श्रवण करना चाहिए । उसी का गुणगान श्रवणीय है । और कर्म भी केवल उसकी भक्ति के लिए ही करना चाहिए । वचन की सुविधा को ध्यान मे रखते हुए उसको सृष्टिकर्ता कहा गया है ।

अलंकार—(1) सम्बन्धातिशयोक्ति—कोई न लख है बाका भेऊ । नैन
“ पार ।

(ii) वक्रोक्ति—भेऊ.....केऊ ।

(iii) पदमैत्री—भेऊ केऊ । अरघ उरध ।

(iv) विभावना की व्यंजना—माई न बाप ।

(v) अनन्वय—वो आनै ।

(vi) काव्यलिङ्ग—बीलन . सिरजन हार ।

विशेष—‘तत्तथा के सिद्धान्त का आश्रय लिया गया है । जगत् के असत् तथा परम तत्व के अवाङ् मन गोचर होने का वर्णन है ।

(३५)

सिरजनहार नांउ धूँ तेरा, भौसागर तिरिवे कूँ भेरा ॥

जे यहु भेरा रांम न करता, तौ आपे आप आवटि जग मरता ॥

राम गुसाई मिहर जु कीन्हां, भेरा साजि सत कौँ दीन्हां ॥

दुख खडण मही मडणां, भगति मुकुति विश्राम ।

विधि करि भेरा साजिया, धन्या रांम का नाम ॥

शब्दार्थ—भेरा=वेडा, नावो या जहाजो का समूह । आवटि=जल कर ।
मडणा=शोभा का हेतु ।

सन्दर्भ—कबीर राम-नाम की महिमा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—हे सृष्टि कर्ता (प्रभु) ! आपका नाम ही भवसागर से पार उतरने का जलयान है । यदि राम इम वेडे का निर्माण न करते (यदि आपके नाम का सहारा न होता) तो यह ससार अपनी वासनाओं की अग्नि मे स्वय ही जलकर नष्ट हो जाता । स्वामी राम ने जगत के ऊपर बहुत कृपा की जो नाम-रूपी वेडा बनाकर सत-समाज को दे दिया । नाम दुखो का खण्डन (नाश) करने वाला है और पृथ्वी की शोभा है । यही भक्ति, मुक्ति और परम शांति का हेतु है स्वय

विधाता ने इस वेडे (ससार-सागर से पार जाने के साधन) को बनाया है और उसका नाम 'राम-नाम' रख दिया है ।

अलंकार— (1) रूपक—भौसागर, भाव भेरा ।

(ii) रूपकातिशयोक्ति—भेरा साजि ।

(iii) उल्लेख—दुख विश्राम ।

विशेष—(1) राम-नाम की महिमा अपार है । कबीर का तात्पर्य दाशरथि राम से नहीं है, बल्कि उनका तात्पर्य परम ब्रह्म के गुणों से है ।

(ii) यह नाम-माहात्म्य-वर्णन सगुण भक्ती जैसा है । यथा —
विश्वास एक राम-नाम को ।

मानत नहिं परितोति अनत ऐसोई सुभाव मन वाम को ।

पढिबो पर्यो न छठी, छ मत रिगु जजुर अथवन साम को ।

+

+

+

सब दिन सब लायक भय गायक रघुनायक गुन-गुरम को ।

बैठे नाम काम-तरु-तर-डर कौन छोर घन घाम को ।

को जानै को जैहै जमपुर, को सुरपुर परघाम को ।

तुलसिंहि बहुत भलो लागत जग जीवन राम गुलाम को ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(३६)

जिनि यह भेरा दिढ़ करि गहिया, गये पार तिन्हों सुख लहिया ॥

दुमनां ह्वै जिनि चित्त डुलावा, करि छिटके थै थाह न पावा ॥

इक डूबे अरु रहे उरवारा, ते जगि जरे न राखणहारा ॥

राखन की कछु जुगति न कीन्ही, राखणहार न पाया चीन्हीं ॥

जिनि चिन्हां ते निरमल अगा, जे अचीन्ह ते भये पतंगा ॥

राम नाम ल्यौ लाइ करि, चित चेतन ह्वै जागि ।

कहै कबीर ते ऊबरे, जे रहे राम ल्यौ लागि ॥

शब्दार्थ—भेरा=बेडा, राम-नाम का बेडा । दिढ़ करि=दृढ़नापूर्वक । गहिया=पकड रखा है । दुमना ह्वै=दुविधा में पड कर । करि छिटके=हाथ छूट गया । उरवारा=इसी पार । राखन=रक्षा ।

सन्दर्भ—पूर्व पद के समान राम-नाम की महिमा का प्रतिपादन है ।

भावार्थ—जिन लोको ने राम-नाम रूपी नाव को कसकर (दृढनिश्चय पूर्वक) पकड रखा है (विश्वास पूर्वक अवलम्बन ग्रहण कर लिया है) वे भव-सागर के पार हो गये और उन्हें सुख की प्राप्ति हुई । द्विविधा में पड कर जिन्होंने अपना चित्त डाँवाडोल कर दिया, उनका हाथ छूट जाता है (वे बीच में गिर पडते हैं) और उनको इस भवसागर की थाह नहीं मिलती है अर्थात् वे इसमें डूब जाते हैं । ऐसे व्यक्ति एक तो भवसागर में डूब जाते हैं और यही रह जाते हैं तथा सासारिक

विषयाग्नि में जलते हैं और उनको कोई बचाने वाला नहीं होता है। उन्होंने अपने बचाव (अपने उद्धार) का कोई उपाय नहीं किया होता है, क्योंकि वे अपने को बचाने वाले प्रभु को पहचान ही नहीं पाते हैं। जो प्रभु को पहचान लेते हैं। उनका अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। जो प्रभु से अपरिचित बने रहते हैं वे आसक्ति की अग्नि में पतंगे के समान जलकर नष्ट हो जाते हैं। हे जीव, तू रामनाम में अपनी ली लगाकर चित्त में चेतकर और अपना आत्म-बोध जाग्रत कर। कबीर कहते हैं कि जिनकी ली राम-नाम में लगी होती है, इन्हीं का उद्धार हो पाता है, अर्थात् वे ही भव-सागर में डूबने से बच जाते हैं।

अलंकार — (1) रूपकातिशयोक्ति—भेरा, जग, राखणहार, पतंगा।

(II) सागरूपक—सम्पूर्ण पद।

विशेष—ससार-सागर के पार जाने के लिए एक मात्र अवलम्बन राम-नाम ही है। देखें पद सं० १४६। समभाव के लिए देखें—

बरषा रित्तु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास।

राम नाम बर बरन जुग सावन भादव मास।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(३७)

अरचित्त अविगत है निरधारा, जाण्यां जाइ न वार न पारा ॥

लोक वेद थै अछै बियारा, छाड़ि रह्यौ सबही संसारा ॥

जसकर गांउ न ठांउ न खेरा, कैसें गुन बरनू में तेरा ॥

नहीं तहां रूप रेख गुन बांनं, ऐसा साहिब है अकुलानं ॥

नहीं सो ज्वांन न विरध नहीं बारा, आपे आप आपनपौ तारा ॥

कहै कबीर बिचारि करि, जिनि को लावै भंग।

सेवौ तन मन लाइ करि राम रह्या सरवंग ॥

शब्दार्थ—खेरा=खेडा, खेत या निवास-स्थान। अकुलाना=जिसका कोई कुल न हो। विरध=वृद्ध।

सन्दर्भ—कबीरदास परम तत्व की अनिर्वचनीयता का वर्णन करते हैं।

भावार्थ—वह परम तत्व किसी के द्वारा रचा नहीं गया है, उसको कोई जान नहीं सकता है तथा वह किसी अन्य तत्व पर आधारित नहीं है अथवा उसको जानने के लिए कोई साधन उपलब्ध नहीं है। उसका वार-पार आदि-अन्त नहीं है और न उसको जाना ही जा सकता है। वह लोक और वेद से परे है, अर्थात् सामान्य ज्ञान अथवा अन्त ज्ञान किसी के द्वारा उसको नहीं जाना जा सकता है। वह समस्त ससार को छोड़ कर ऊपर उठा हुआ है (निलिप्त है।) उसका न कोई गांव है, न कोई स्थान है और न कोई विशेष निवास-स्थान है। हे प्रभु! ऐसे आपका वर्णन में किस प्रकार कर सकता हूँ? उस तत्व का न कोई रूप है, न रेखा है और न कोई वेष ही है। यह स्वामी ऐसा है कि जिसका कोई कुल (वश) ही

नहीं है। वह न तो युवक है, न वह वृद्ध है और न बालक ही। उस तत्व का अपनत्व अपने आप ही में समाहित है। कबीर विचार पूर्वक कहते हैं कि उस तत्व के स्वरूप को खण्डण मत सोचो। वह तो सर्वव्यापी अखण्ड तत्व है। तन-मन लगा कर उसकी सेवा करो। राम सर्वव्यापी हैं।

अलंकार—(1) सवधातिशयोक्ति— जाण्या जाइ'... 'पारा।

(11) वक्रोक्ति कैसे ... तेरा।

विशेष—(1) 'नेति नेति' निरूपण की पद्धति है।

(11) वह तत्व अवर्णनीय इस कारण है—क्योंकि वह देश-काल द्वारा परिच्छिन्न न होने के कारण वाणी की सीमा में नहीं आता है।

(111) वह स्वगतादि सभी प्रकार के भेदों से शून्य अद्वैत तत्व है। बात ऐसी ही है कि—

केशव कहि न जाहि का कहिए।

×

×

×

तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(३८)

नहीं सो दूरि नहीं सो नियरा, नहीं तात नहीं सो सियरा ॥

पुरिष न नारि करै नहीं क्रीरा, घांम न घांम न व्यापै पीरा ॥

नदी न नाव धरनि नहीं धीरा, नहीं सो काँच नहीं सो हीरा ॥

कहै कबीर बिचारि करि, तासूँ लावो हेत ।

बरन बिबरजत ह्वै रह्या, नां सो स्यांम न सेत ॥

शब्दार्थ—तात=उष्ण (शत्रु)। सियरा=शीतल (मित्र)। क्रीरा=क्रीडा।

घाम=धूप। घाम=दुःख। धीरा=धैर्यवान। विरजत=विवर्जित, परे।

सन्दर्भ—कबीर परम तत्व रूप प्रभु को अनिवर्चनीय बताते हैं।

भावार्थ—वह परम तत्व दूर नहीं है (क्योंकि वह हृदयस्थ है), वह पास भी नहीं है (क्योंकि साधना द्वारा भी दुष्प्राप्य है)। न वह उष्ण (शत्रु) है और न शीतल (मित्र) है। न वह पुरुष है और न नारी रूप ही है। वह इन दोनों में किसी रूप में क्रीडा नहीं करता है। न तो उसको धूप लगती है और किसी प्रकार की व्यथा ही उसको व्यापती है। न वह नदी है, न नाव है और न वह इन सबको धैर्य पूर्वक धारण वाली पृथ्वी ही है। न वह काँच (विषय-वासना स्वरूप) है, और न हीरा (सद्बृत्ति स्वरूप) ही है। कबीरदास विचार कर कहते हैं कि रे जीव, तू उस परम तत्व के प्रति अनुराग कर। वह न श्याम है और न श्वेत है। वह सब प्रकार के रंगों से परे है।

विशेष—निर्गुण निराकार ब्रह्म की अनिवर्चनीयता का प्रतिपादन है। उसको किसी प्रकार के शब्दों में आवद्ध नहीं किया जा सकता है।

(३६)

नां वो वारा व्याह बराता, पीय पितंबर स्यांम न राता ॥
तीरथ ब्रत न आवै जाता, मन नहीं मोनि वचन नहीं बाता ॥
नाद न बिद गरथ नहीं गाथा, पवन न पांणी संग न साथा ॥

कहै कबीर बिचारि करि, ताक हाथि न नाहि ।
सो साहिब किनि सेविये, जाकै धूप न छांह ॥

शब्दार्थ— वारा = बालक । राता = लाल । गरथ = ग्रन्थ ।

सन्दर्भ—कबीरदास परम तत्व को अनिर्वचनीय कहते हैं ।

भावार्थ—वह राम रूपी परम तत्व न बालक है और उसने विवाह-बारात ही किया है । न वह पीताम्बरधारी है और न श्याम अथवा लाल रंग का वस्त्र धारण करने वाला है । वह न तीर्थ-ब्रत में है और न कहीं आता-जाता है । वह मन ही मन में मौन रहने वाला भी नहीं है और न वचनों का वाचाल ही । वह न नाद रूप है और न बिन्दु रूप ही है । वह किसी ग्रन्थ अथवा गाथा का विषय भी नहीं है । वह न अल-रूप है और न प्राण रूप ही । उसने इनका कुछ भी सम्पर्क नहीं किया है । कबीरदास विचार पूर्वक कहते हैं कि इस तत्व रूप राम के हाथ-पैर कुछ भी नहीं हैं । रे जीव, तू ऐसे स्वामी की सेवा क्यों नहीं करता है । जिसके लिए न कहीं धूप है और न कहीं छाया ही—अर्थात् जो दुःख-सुख के सर्वथा परे है ।

अलंकार— (1) छेकानुप्रास—वारा व्याह-बराता, गरथ गाथा, पवन पाणी ।

(11) वक्रोक्ति—किनि सेविये ।

विशेष—(1) शैली लाक्षणिक है—धूप-छांह सदृश प्रयोग ।

(11) कबीर के राम परम तत्व हैं—दाशरथि राम नहीं । इसी कारण वह उनके वाणी-बद्ध लौकिक रूप का निषेध करते हैं—“नावा वारा . . . राता ।” इत्यादि । वह यह भी कह देते हैं कि बाह्याचारों द्वारा वह ग्राह्य नहीं है—“तीरथ . . . साथा ।” उन्होंने तो स्पष्ट कहा है कि—

दशरथ सुत तिहुँ लोकें बखाना । राम नाम का मरम न जाना ।

(४०)

ता साहिब कै लागौ साथा, दुख सुख मेटि रह्यौ अनाथा ॥
नां जसरथ धरि औत्तरि आवा, नां लका का राव सतावा ॥
देवै कूख न औत्तरि आवा, ना जसवै ले गोद खिलावा ॥
नां वो ग्वालन कै संगे फिरिया, गोबरधन ले न कर धरिया ॥
बांवन होय नहीं बलि छलिया, घरनी वेद लेन उधरिया ॥
गंडक सालिकरांस न कोला, मछ कछ ह्वै जलहि न डोला ॥
बद्री बैस्य ग्यान नहीं लावा, परसरांस ह्वै खत्री न संतावा ॥
द्वारामती सरीर न छाड़ा, जगनाथ ले प्यंड न गाड़ा ॥

कहै कबीर विचार करि, ये ऊले व्योहार ।

याही थै जे अगम है, सो बरति रह्या संसारि ॥

शब्दार्थ—अनाथा=अनाथो क । दैवै=देवकी । उधरिया=उद्धार किया ।

सदर्भ—कबीरदास अवतारवाद का खण्डन करते हैं ।

भावार्थ—तुम उस परम प्रभु की शरण में जाओ जो अनार्यों के सुख-दुख को मिटाने वाला है—अर्थात् कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त कर देने वाला है । उसने दशरथ के घर में अवतार नहीं लिया है और न उसने लका के राजा (रावण) को ही पीड़ित किया । वह देवकी की कोख से भी अवतरित नहीं हुआ और न यशोदा ने उसको अपनी गोद में ही खिलाया । वह ग्वालो के साथ वन-वन नहीं घूमा और न उसने अपने हाथ पर गोवर्धन ही उठाया । उसने वामन का अवतार लेकर राजा बलि को नहीं छला और न वाराह के रूप में उसने पृथ्वी और वेद का उद्धार ही किया । वह गण्डक नदी में शालिग्राम की पिण्डी भी नहीं बना और न उसने वाराह अवतार ही धारण किया । वह मत्स्य (मछली का अवतार लेकर) तथा कच्छप (कछुए का अवतार लेकर) के रूप में समुद्र-जल में भी नहीं डोलता फिरा । बद्रीका आश्रम में बैठकर उसने कभी भजन भी नहीं किया । परशुराम के रूप में उसने क्षत्रियों का सहार भी नहीं किया । उसने (कृष्ण बनकर) द्वारिकापुरी में अपने शरीर को भी नहीं छोड़ा, और न ही उसने जगन्नाथपुरी की मूर्ति की स्थापना ही की । कबीरदास विचार कर कहते हैं कि अवतारवाद से सम्बन्धित ये समस्त व्यवहार उल्टे एव व्यर्थ हैं । (क्योंकि ये देशकाल से परिच्छिन्न हैं) । इससे यही समझो कि परम तत्व अगम है । वही सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है तथा सम्पूर्ण जगत को संचालित कर रहा है ।

विशेष—अवतारवाद सम्बन्धी समस्त पौराणिक कथाओं की निरर्थकता का प्रतिपादन है । कबीर तो केवल सर्वव्यापी परम तत्व की आराधना का उपदेश देते हैं । लौकिक वाणी एव लौकिक व्यवहार की सीमाओं में बाँधकर हम परमब्रह्म के महत्त्व को बहुत कुछ कम कर देते हैं, क्योंकि—

जो जहन में आगया वह लाइन्तहा कैसे हुआ ?

जो समझ में आगया वह खुदा कैसे हुआ ?

(४१)

नां तिस सबद न स्वाद न सोहा, नां तिहि मात पिता नहीं मोहा ॥

नां तिहि सास ससुर नहीं सारा, नां तिहि रोज न रोवनहारा ॥

नां तिहि सूतिग पातिग, नां तिहि माइ न देव कथा पिक ॥

नां तिहि ब्रिध बधावा बाजै, नां तिहि गीत नाद नहीं साजै ॥

नां तिहि जाति पांत्य कुल लीका, नां तिहि छोति पवित्र नहीं सींचा ॥

कहै कबीर बिचारि करि, औ है पद निरबांन ।

सति ले मन मै राखिये, जहां न दूजी आंन ॥

शब्दार्थ—सारा=साला, पत्नी का भाई । सूतिग=जन्म का अशौच ।
पातिग=पातक (ब्रह्म हत्या, सुरापान, गुरुतल्पगमन, स्तेय और पातकी का संसर्ग) ।

सन्दर्भ—कबीरदास परम तत्व की अलौकिकता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—उस परम तत्व का न कोई शब्द है, न कोई स्वाद और न गंध ही । उसके कोई माता-पिता नहीं है और न उसको किसी प्रकार का मोह ही सताता है । न उसके सास-श्वसुर है और न साला ही है । न उसके लिए कोई रोता है और न रोने वाला है । उसके लिए जन्म-मृत्यु के अशौच नहीं हैं । उसके कोई आराध्या भाई नहीं है और न उसके लिए देव-कथा पीठ है । उसके यहाँ वृद्धि (कुल-वृद्धि) का कोई अवसर नहीं है और न इस कारण उसके यहाँ कभी मंगल-गीत ही होते हैं । उसके यहाँ किसी प्रकार के गति-नाद का आयोजन नहीं होता है । उसकी न कोई जाति-पाँति है और न कोई कुल-परम्परा ही है । और न उसके यहाँ छुआछूत और पवित्रता की ही बात है । कबीरदास विचार करके कहते हैं कि जो अतीत वस्तु है, वह तो पद निर्वाण है । हे जीव, तुम सत्य तत्व को अपने हृदय में धारण करो । वहाँ कोई अन्य तत्व नहीं है । वह द्वैत रहित अद्वैत तत्व है ।

अलंकार—(1) अनुप्रास—सवद स्वाद सोहा । त्रिध, वधावा वाजै ।

(II) पदमैत्री—धूतिग पातिग जातिग ।

विशेष—उस परम तत्व का वर्णन शब्दातीत है, साथ ही लौकिक उपमानों के द्वारा भी उसका निरूपण सम्भव नहीं है । वह तो वस्तुतः स्वयं सिद्ध अनिर्वचनीय तत्व है ।

(४२)

नां सो सावै नां सो जाई, ताक बध पिता नहीं माई ॥

चार बिचार कछु नहीं वाकै, उनमनि लागि रहौ जे ताकै ॥

को है आदि कवन का कहिये, कवन रहनि वाका ह्वै रहिये ॥

कहै कबीर बिचारि करि, जिनि को खोजै दूरि ।

ध्यान धरौ मन सुध करि, राम रह्या भरभूरि ॥

शब्दार्थ—उन्मनि = उस अवस्था का द्योतक है जब मन भावाभाव अवस्था से विनियुक्त रहता है, उसे अपने ही होने और न होने की चेतना नहीं रहती है । यह साधना कबीर के 'सहजयोग' का एक आवश्यक तत्त्व है ।

सन्दर्भ - पूर्व पद के समान ।

भावार्थ—वह परम तत्व न आता है और न जाता है (अर्थात् वह जन्म-मरण के परे है) । उसके भाई, पिता और माता नहीं हैं । (वह सासारिक सम्बन्धों के परे है ।) उसको किसी प्रकार के लौकिक आचार-व्यवहार का भी पालन नहीं करना पड़ता है । वह तो उन्मनि (समाधि) अवस्था में रह कर जगत को साक्षी रूप से देखता रहता है । आदि तत्व क्या है, इसके सम्बन्ध में कौन क्या कह सकता

है ? अर्थात् कोई कुछ नहीं कह सकता है । कोई यह भी नहीं बता सकता है कि किस प्रकार के आचरण द्वारा जीव परम तत्त्व को प्राप्त कर सकता है । कबीरदास भली प्रकार मोक्ष-विचार कर कहते हैं कि उस परम तत्त्व को कहीं दूर मत खोजो । मन में उसकी स्मृति जगाकर उसका ध्यान करो । वह परम तत्त्व रूप राम सर्वत्र व्याप्त है ।

अलकार—वक्रोक्ति—को है रहिए ।

विशेष—पूर्व पद के समान ।

(४३)

नाद विद रक्त इक खेला, आपे गुरु आप ही चेला ।

आपे मत्र आपे मत्रेला, आपे पूजे आप पूजेला ॥

आपे गावै आप वजावै, अपनां किया आप ही पावै ।

आपे धूप दीप आरती, अपनी आप लगवै जाती ॥

कहै कबीर विचारि करि, भूठा लोही चांस ।

जो या देही रहित है, सो है रमिता राम ॥

शब्दार्थ—रक्त=तुच्छ । मत्रेला=मत्र लेने वाला । पूजेता=पूजा प्राप्त करने वाला । जाती=ज्योति ।

सन्दर्भ—कबीरदास द्वैत रहित उस अद्वैत तत्त्व का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—नाद और विन्दु की यह सहज साधना तो वास्तव में एक तुच्छ खेल है । वह स्वयं ही गुरु है और स्वयं ही चेला है । वह स्वयं ही मत्र है और स्वयं मत्र लेने वाला है । स्वयं पूजा है और स्वयं पूजित है । वह स्वयं ही गाता है और स्वयं वजाता है । अर्थात् कर्ता और भोक्ता वह तत्त्व ही है । वह आपही धूप दीप और आरती है तथा आप ही उसमें ज्योति-स्वरूप है । कबीरदास विचार करके कहते हैं कि रक्त और चम का विभेद व्यर्थ (भूठा) है । जो तत्त्व देह रहित है, वही वास्तव में राम है और वही सबमें रमा हुआ है ।

अलकार—(1) पदमैत्री—गावै, वजावै, पावै ।

(11) विरोधाभास—जो राम ।

वशेष—अद्वैतवाद का प्रभाव स्पष्ट है ।

[७] चौपदी रमैणी

(४४)

ऊकार आदि है सूला, राजा परजा एकहि सूला ॥

हम तुम्ह मांहे एकै लोहू, एकै प्रान जीवन है मोहू ॥

एकही बास रहै दस आसा, सूतम पातग एकै आसा ॥

एकही जदनीं जान्यां ससारा, कौन ग्यान थे भये निनारा ॥

ग्यान न पायौ वाबरे, धरी अविद्या सैड ॥

सतगुर मिल्या न मुक्ति फल, ताथे खाई बेंड ॥

शब्दार्थ—आदि है मूला=उत्पत्ति का मूल कारण । सूला=व्यथा । लोहू=खून, रक्त । वास=गर्भ वास । वैड=वैडा, रुकावट ।

संदर्भ—कवीरदास जीवन की एकता का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—ओंकार सृष्टि की उत्पत्ति का मूल कारण है । राजा और प्रजा (सम्पूर्ण समाज) को एक ही व्यथा है । हममे और तुममे एक ही प्रकार का रक्त है, एक ही प्राण है, एक ही जीधन है तथा एक ही प्रकार के मोह ने सब को आवद्ध कर रखा है । हम सब एक ही प्रकार से गर्भ मे दस मास तक रहे हैं । जन्म और मृत्यु के अवसर पर हम तुम सबको एक ही स्थान प्राप्त होता है । सारे ससार को एक ही प्रकार से माता जन्म देती है । फिर भेद होकर सबके अलग-अलग होने का क्या आधार है अथवा किस आधार पर भेद-भाव स्थापित किया जाना चाहिए ? रे पागल जीव ! तुम कभी ग्यान प्राप्त नहीं कर सके । तुमने अपने चारो ओर अविद्या की दीवाल बना रखी है (इसी के कारण ज्ञान तुम्हारे मन-मानस मे प्रवेश नहीं कर पाता है ।) तुमको सद्गुरु की प्राप्ति नहीं हुई और मोक्ष नहीं मिल सकी । इसी कारण विषयो की खाई का अवरोध बना हुआ है ।

(४५)

बालक ह्वै भग द्वारे आवा, भग भुगतन कूँ पुरिष कहावा ॥

ग्यांन न सुमिर्यो निरगुण सारा, विपथे बिरचि न किया बिचारा ॥

साध न मिटी जनम की, मरन तुराना आइ ।

मन क्रम बचन न हरि भज्या, अकुर बीज नसाइ ॥

सन्दर्भ—कवीर जीव के अज्ञान का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—बालक रूप धारण करके यह जीव योनि-द्वार से बाहर निकला तथा उसने योनि के भोग को ही अपना पुरुषत्व समझा । उसने सारतत्व निर्गुण भगवान का कभी भी स्मरण नहीं किया । उसने भक्ति-भाव पूर्वक कभी भगवान की आराधना नहीं की । इससे उसकी जीवन की जन्म-मरण-सम्बन्धी बाधायें समाप्त नहीं हुई —जीने की आकाक्षा पूरी नहीं हुई और मृत्यु शीघ्रता पूर्वक आ पहुँची । जीव ने मन, कर्म और वचन से भगवान का स्मरण नहीं किया जिसमें ससार-ताप के अकुर तथा कर्म के बीज नष्ट हो जाते ।

(४६)

तिण चरि सुरही उदिक जु पाया, द्वारे दूध बछ कूँ दीया ॥

बछा चूँखत उपजी न दया, बछा बांजि बिछोही मया ॥

ताका दूध आप दुहि पीया, ग्यांन बिचार कछू नहीं कीया ॥

जे कुछ लोगनि सोई कीया, माला मंत्र बादि ही लीया ॥

पीया दूध रुध ह्वै आया, मुई गाइ तब दोष लगाया ॥

बाकस ले चमरां कूँ दीन्हीं, तुचा रगाइ करौती कीन्ही ॥

ले रुकरौती बैठे संग, ये देखौ पांडे के रंगा ॥

तिहि रुकरौती पांणी पीया, यह कुछ पांडे अचिरज कीया ॥

अचिरज कीया लोक सै, पीया सुहागल नीर ।

इद्री स्वारथि सब कीया, बध्या भरम सरीर ॥

शब्दार्थ—तिण=घास फूस । सुरही=सुरभी, गाय । उदिक=पानी ।

चू खत=धन चूसते हुए । वाकस=वखिशश, स्वल्प द्रव्य । तुच=त्वचा ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि अत्यधिक स्वार्थपरकता के कारण ही जीव दुख भोगते हैं ।

भावार्थ—गाय घास-फूस खाकर और पानी पीकर द्वार पर अपने बछड़े (बछिया) के लिए दूध देती है । थन चूसते हुए दूध पीते हुए बछड़े पर गाय के स्वामी को दया नहीं आती है । और वह बछड़े को अलग बाँध देते हैं । और वह इस प्रकार माँ-बेटे के बीच बिछोह कर देता है । वह बछड़े के भाग का दूध दुह कर स्वयं पी लेता है । ऐसा करते हुए वह किसी प्रकार का सोच विचार नहीं करता है । जैसा सब लोग करते हैं, वैसा ही पंडित जी भी करते हैं । वे माला-मंत्र का जप व्यर्थ ही करते हैं । रक्त से बनने वाले दूध को वे पी जाते हैं (मानो गाय का रुधिर ही पीते हों) । इससे गाय शक्ति हीन होकर मर जाती है । उसकी मृत्यु का कारण कोई रोग बता देते हैं । कुछ थोड़ा सा द्रव्य लेकर वे मरी हुई गाय को चमार के सुपुर्द कर देते हैं । उसी की खाल को रगवाकर मसक तैय्यार करा लेते हैं । उस मसक बाजे को लेकर सब पंडितों के साथ बैठ जाते हैं । अब आप ही देखिए कि पवित्रता की दुहाई देने वाले, पंडितजी के क्या ठाठ है ? वे उस मसक का पानी पीते हैं । पंडितजी का यह कार्य आश्चर्य में डालने वाला है । (पवित्रता का ढोंग करने वाले) पंडितजी आश्चर्य में डालने वाला व्यवहार करते हैं । वे चमड़े के बने हुए पुर द्वारा खीचा हुआ ताजी पानी पीते हैं । कबीर कहते हैं कि पंडित जी की भाँति सब लोग इन्द्रियों की विषयासक्ति के वशीभूत होकर इस प्रकार के कार्य करते हैं और इस प्रकार शरीर के माया-मोह में ही बधे रहते हैं ।

अलंकार—अनुप्रास—बछा बाँधि बिछोही ।

विशेष—(1) गौ-सेवा का दम्भ करने वाले किस प्रकार व्यवहार में गौहत्या के वास्तविक रूप से उत्तरदायी हैं, इसकी सुन्दर भाँकी प्रस्तुत की गई है । पाखण्डी जन पर भी करारा व्यंग्य है ।

(४७)

एकै पवन एकही पांणी, करी रसोई न्यारी जांणी ॥

माटी सूं माटी ले पोती, लागी कहीं कहां धूं छोती ॥

धरती लीपि पवित्र कीन्ही, छोति उराय लीक बिचि दीन्ही ॥

थाका हम सूं कहीं बिचारा, क्यू भव तिरिहौ इहि आचारा ॥

ए पाखंड जीव के भरमा, मानि अमानि जीव के करमां ॥

करि आचार जु ब्रह्म सतावा, नांव बिनां सतोष न पावा ॥

शालिग्राम सिला करि पूजा, तुलसी तोड़ि भया नर दूजा ॥
 ठाकुर ले पाटे पौढावा, भोग लगाइ अरु आपै खावा ॥
 साच सील का चौका दीजै, भाव भगति की सेवा कीजै ॥
 भाव भगति की सेवा मानै, सतगुर प्रकट कहै नहीं छानै ॥
 अनभै उपजि न मन ठहराई, परकीरति मिलि मन न समाई ॥
 जब लग भाव भगति नही करिहौ, तब लग भवसागर द्यूं तिरिहौ ॥

भाव भगति विसवास बिनु, कटे न ससै मूल ।

कहै कबीर हरि भगति बिन, सूकति नहीं रे मूल ॥

शब्दार्थ—पाणी = पानी । पाखण्ड = वाह्याचार । मान—अमानि = ऊँच-
 नीच की भावना । नट दूजा = भिन्न व्यक्ति (भक्त)

सन्दर्भ—कबीरदास दम्भ को त्याग कर सत्याचरण का उपदेश देते हैं ।

भावार्थ—एक ही हवा है और एक ही पानी है । उनसे तैयार की हुई
 रसोई को (मिथ्याभिमान के वशीभूत होकर) अलग-अलग समझ लिया । मिट्टी
 लेकर जमीन (चौके का स्थान) पोत लिया । परन्तु यह तो कोई बताव कि उसमें
 छूत कहाँ लगी हुई थी ? धरती को लीप कर पवित्र बना लिया और छुआछूत की
 अपवित्रता से बचने के लिए बीच में एक लकीर खींच ली । इससे क्या हुआ । इस
 पवित्रता और अपवित्रता का रहस्य हमें कोई समझा दे । ऐसी भेद-बुद्धि पर
 आधारित आचरण करके कोई व्यक्ति भवसागर से किस प्रकार पार हो सकेगा ?
 ये समस्त वाह्याचार तो जीव के भ्रम से उत्पन्न हुए हैं । मान-सम्मान, ऊँच-नीच
 का भेद ये सब मनुष्य के ही बनाए हुए हैं । इस प्रकार क आचरण द्वारा जीव
 ईश्वर को ही कष्ट देता है । ईश्वर के नाम स्मरण के बिना जीव को सतोष (सुख)
 की प्राप्ति नहीं हो सकती है । तुमने पत्थर को शालिग्राम मानकर पूजा है । तुलसी
 के पत्ते तोड़ कर पत्थर पर चढाकर व्यक्ति अपने आप को अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा
 भिन्न एवं श्रेष्ठ समझने लगता है । ठाकुर जी को लेकर ये लोग पट्टे पर सुला देते
 हैं तथा उनका भोग लगा कर (मूर्ति को प्रसाद दिखा कर) स्वयं सब कुछ खा
 जाते हैं ।

आडम्बर की भर्त्सना करते हुए कबीरदास सत्य आचरण का उपदेश देते
 हैं—हे जीव, सत्य और शील का अपने अन्तःकरण में चौका लगाओ । उसका वाद
 भक्ति-भाव पूर्वक भगवान की सेवा करो । ईश्वर भावपूर्ण भक्ति से ही प्राप्त होते
 हैं । सद्गुरु ने इस बात को अप्रत्यक्ष रूप से नहीं, अपितु स्पष्टतः कहा है । जब तक
 अभय की स्थिति नहीं होती है जो भेद-भाव और द्वैत भावना से मुक्त होने पर ही
 सम्भव है तब तक मन की चंचलता नहीं जाती है । और मन स्थिर न हो सकने
 के कारण परोपकार (परम तत्व के प्रेम) में समाहित नहीं हो पाता है । और जब
 तक प्रेम भाव से प्रभु की भक्ति नहीं करोगे, तब तक हे जीव, तुम भवसागर के
 पार किस प्रकार जा सकोगे ? प्रेम सहित प्रभु-भक्ति और प्रभु के प्रति अनन्य

विश्वास के अभाव में ससार के भ्रम एवं सशय जनित कष्टों का नाश नहीं होता है। कवीरदास कहते हैं कि मूल सिद्धांत यह है कि भगवान की भक्ति के बिना व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है।

अलंकार—(I) गूढोक्ति—लागी... छोती।

(II) वक्रोक्ति—क्यू...आचार, क्यू तरिही।

(III) सभग पद यमक—मानि अमानि।

(IV) रूपक—साच सील का चौका, भाव भगति की सेवा, भवसागर, ससै मूल।

विशेष—(I) समाज में प्रचलित वाह्याचारों पर करारी चोट है। दृष्टादृष्ट के नाम पर प्रचलित 'आठ कनीजिया नी चूल्हे' जैसे मिथ्याचारों पर तीखा व्यंग्य है।

(II) नाम—स्मरण की महिमा है।

(III) कवीर प्रभु-भक्ति के लिए प्रेमा भक्ति (श्रद्धा) और विश्वास को मूल अवलम्बन मानते हैं। समभाव देखे—

भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणी।

याभ्या विना न पश्यन्ति सिद्धा स्वान्त स्यमीश्वरम्।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(IV) परकीरति मिलि मन न समाई। जीव-सेवा के बिना मन प्रभु-भक्ति में स्थापित हो ही नहीं सकता है—

सो अनन्य गति जाके मति न टरइ हनुमंत।

मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवत। (गोस्वामी तुलसीदास)

(V) सत्य शील—सत्य शील साधना के आधार स्तम्भ है। इन्हीं पर चल कर साधक अपने पथ पर अग्रसर हो सकता है। धर्म रथ का निरूपण करते हुए गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है कि—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य शील दृढ ध्वजा पताका।

(V) कहै कवीर 'नही रे मूल। तुलना करें—

वारि मथे वह होहि घृत, सिकता ते बस तेल।

बिनु हरि भगति न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल।

तथा— नाहिन आवत आन भरोसो।

× × ×

वहु मत सुनि वहु पथ पुराननि जहाँ कहाँ भगरो सो।

गुरु कह्यो राम-भजन लीको मोहि लगत राज-डगरो सो।

तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि-फिरि पचि मरै मरो सो।

राम-नाम बोहित भव-सागर चाहै तरन तरौ सो।

(गोस्वामी तुलसीदास)

भावार्थ—कबीर तो हरि के नाम पर न्योछावर है और राई लोन का उसने उतारा किया । हे नाथ ! जिस मार्ग पर तू प्राणी को ले जाता है, उस मार्ग से कौन विचलित कर सकता है ।

शब्दार्थ—नाव = नाम ।

कबीर करणीं क्या करै, जे राम न करै सहाइ ।

जिहिं जिहिं डाली पग धरै, सोई नवि नवि जाइ ॥१०॥

संदर्भ—ईश्वर को इच्छा के बिना कोई कार्य नहीं सिद्ध होता है ।

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं, कि यदि राम सहायता न करे तो कोई कौन सा पुरुषार्थ सफल बना सकता है । जिस-जिस डाली पर पैर रखता हूँ, वही झुक-झुक जाती है ।

शब्दार्थ—सहाइ = सहायता ।

जदि का माइ जनमियाँ, कहुँ न पाया सुख ।

डाली डाली में फिरौ, पातौं पातौं दुख ॥११॥

संदर्भ—जब से जन्म लिया, तब से सुख न मिला ।

भावार्थ—जब से जन्म लिया, तब से सुख न मिला । सुख की खोज में मैं डाली-डाली फिरता हूँ, और देखता हूँ कि पत्ते-पत्ते में दुख भरा हुआ है ।

शब्दार्थ—पातौं-पातौं = पत्ते-पत्ते में ।

साईं सूं सब होत है, वन्दै थैं कुछ नाहि ।

राई थैं परवत करै, परवत राई मांहि ॥१२॥६०६॥

संदर्भ—साईं संसार का नियन्ता है ।

भावार्थ—स्वामी संसार का नियन्ता है, वन्दे से कुछ नहीं होता है । वही राई को पर्वत और पर्वत को राई करता है ।

शब्दार्थ—वन्दे = मनुष्य ।

३६. कुसब्द कौ अङ्ग

अणी सुहेली सेल की, पड़तां लेइ उसास ।
चोट सहारै सबद की, तास गुरु में दास ॥१॥

सन्दर्भ—कुशब्द का प्रभाव बड़ा व्यापक और गम्भीर होता है ।

भावार्थ—भाले की नोक की चोट खाकर साँस तो लेता है परन्तु कुशब्द की चोट बड़ी घातक होती है, जो कुशब्द को सहन कर जाए, उसका मैं (कवीर) सेवक हूँ ।

शब्दार्थ—अणी = नोक । सुहेली = सहने योग्य । सेल = भाला ।

खूंदन तौ धरती सहै, बाढ सहै बनराइ ।
कुसब्द तौ हरिजन सहै, दूजै सहा न जाइ ॥२॥

सन्दर्भ—हरिजन ही कुशब्द सहन करते हैं दूसरा नहीं ।

भावार्थ—खोदना-खादना पृथ्वी सहन करती है और वृक्ष बाढ़ सहन करते हैं, हरिजन कुशब्द सहन करते हैं, दूसरा अन्य नहीं सहन कर सकता है ।

शब्दार्थ—खू दना पैरो की रगड ।

सीतलता तब जाणियें, समिता रहै समाइ ।
पष छाडै निरपष रहै, सबद न दूष्या जाइ ॥३॥

संदर्भ—समदृष्टि तब अनुभव होती है, जब शीतलता का भाव हृदय में जाग्रत होता है ।

भावार्थ—पक्षपात की भावना को छोड़कर, निष्पक्ष होकर विचरण करे, तभी उसके शब्द दोषपूर्ण नहीं होंगे ।

शब्दार्थ—पष = पक्ष । दूष्या जाई = दूषित लगे ।

कवीर सीतलता भई, पाया ब्रह्म गियान ।
जिहि वैसंदर जग जल्य़ा, सो मेरे उदिक समान ॥४॥६१०॥

संदर्भ—ईश्वर की कृपा से ब्रह्म ज्ञान प्राप्त हो गया और माया की अग्नि शान्ति हो गई ।

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि जब से ब्रह्म ज्ञान प्राप्त हुआ तब से चित्त प्रशान्त हो गया । जिस अग्नि में संसार जल रहा है, वह अब मेरे लिए शीतल प्रतीत होने लगा ।

शब्दार्थ—वैसदर = अग्नि । उदिक = जल ।

४०. सुबद कौ अङ्ग

कबीर सबद सरीर मैं, विनि गुण बाजै तंति ।
बाहरि भीतरि भरि रह्या, तार्थै छूटि भरंति ॥१॥

सन्दर्भ—शरीर के अन्दर अनहद नाद होने से तंत्री अंकृत होती है जिसके कारण माया का भ्रम दूर भाग जाता है ।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि शरीर में अनहद नाद हो रहा है जिससे विना तारो के ही वीणा अंकृत हो रही है । यह अनहद नाद मनुष्य के शरीर के अन्दर और बाहर चारो ओर हो रहा है जिससे रम जाने से मनुष्य माया के भ्रम से छूट जाता है ।

विशेष—(१) विना तारो के ही वीणा अंकृत होने में कारण के बिना कार्य होने से विभावना अलंकार है ।

(२) योगियो की धारणा है कि सर्वत्र अनहद नाद होता रहता है ।

शब्दार्थ—सबद = अनहदनाद । गुण = रस्सी (वीणा के तार) । तंति = तंत्री, वीणा । भरति = भ्रान्ति = माया का भ्रम ।

सती संतोषी सावधान, सबद भेद सुविचार ।

सत्गुर के प्रसाद थै, सहज सील मत सार ॥२॥

संदर्भ—विषय वासनाओ से निर्लिप्त निर्मल मन वाले व्यक्तियो को इस अनहद नाद का ज्ञान हो जाता है । सद्गुरु की कृपा से उन्हे यह सब पता चल जाता है ।

भावार्थ—सती स्त्री, संतोष प्राप्त व्यक्ति और विषय वासनाओ से सावधान रहने वाले व्यक्ति निर्मल मन के कारण इस अनहद नाद के रहस्य को पूर्ण रूपेण

जानते हैं। सतगुरु की कृपा से वे सभी व्यक्ति यह जान जाते हैं कि शील की स्वाभाविक और सरल अवस्था से परिचय पा जाना ही सम्पूर्ण मतों और धर्मों का सार है।

शब्दार्थ—सावधान = विषय वासनाओं से सावधान। थैं = से।

सतगुरु ऐसा चाहिए, जैसा सिकलीगर होइ।

सबद मसकला फेरि करि, देह द्रपन करै सोइ ॥३॥

सन्दर्भ—सतगुरु कैसा होना चाहिए और उसका क्या कर्तव्य है इसका उल्लेख प्रस्तुत साखी में किया गया है।

भावार्थ—सतगुरु को शान रखने वाले कारीगर के समान होना चाहिए ताकि वह उपदेश रूपी शान के पत्थर से शरीर के कलुष को हटाकर दर्पण की भाँति उज्ज्वल और स्वच्छ बना दे।

विशेष—(१) उपमा अलंकार का प्रयोग है।

(२) शान रखने वाला अपने पत्थर पर लोहे के औजारों का मोर्चा और कालिमा हटाकर धमका देता है उसी प्रकार गुरु भी अपने उपदेशों के द्वारा जीव को अज्ञान के अन्धकार से दूर कर देता है।

शब्दार्थ—सिकलीगर = शान रखने वाला कारीगर। मसकला = शान रखने का यन्त्र। द्रपन = दर्पण = शीशा।

सतगुरु साँचा सुरिवाँ, सबद जु बाह्या एक।

लागत ही भैं मिलि गया, पड़्या कलेजे छेक ॥४॥

सन्दर्भ—गुरु की कृपा से ही सब कार्य सफल होते हैं। उसकी कृपा दृष्टि से ही साधक अपने क्षेत्र में सफल हो जाता है।

भावार्थ—सतगुरु सच्चा शूर वीर है, उसने उपदेश का एक तीर चलाया जिसके लगते ही मैं घराघायी हो गया, समाधि मग्न हो गया और मेरे हृदय में एक छेद हो गया अर्थात् ससार के प्रति विरक्ति की भावना हो गई।

शब्दार्थ—साँचा = सच्चा। सुरिवाँ = शूर वीर। बाह्या = मारा, चलाया। भैं = भूमि, पृथ्वी। छेक = छिद्र = छेद, ससार से सम्बन्ध विच्छेद।

हरि-सर जे जन वेधिया, सतगुण सींगणि नाहिं।

लागी चोट सरीर में, करक कलेजे माँहिं ॥५॥

सन्दर्भ—भगवान की भक्ति में जो व्यक्ति ओत-प्रोत हैं उनके ऊपर किसी और वस्तु का प्रभाव नहीं पड़ता है।

भावार्थ—जो व्यक्ति भगवान के प्रेम-पाश में फँस जाते हैं उनके ऊपर सातों डोरी वाले सींग के घनुष पर चलाये वाण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता । क्योंकि ईश्वर प्रेम की चोट लगती तो शरीर में है किन्तु उसकी वेदना हृदय में होती है ।

विशेष—वाण जहाँ लगता है वही पीड़ा पहुँचाना है किन्तु प्रेम-वाण की चोट शरीर में लगती है और वेदना हृदय में होती है । अतः असंगति अलंकार है ।

शब्दार्थ—हरि-सर = ईश्वर के वाण । सत गुण = सात डोरी । सींगण = सींग से निर्मित घनुष ।

ज्युं ज्युं हरि गुण साँ भलूँ, त्यूं त्यूं लागै तीर ।

सांठी सांठी झड़ि पढ़ी, झलका रह्या सरीर ॥६॥

संदर्भ—प्रभु-गुण स्मरण जितना ही अधिक किया जाता है उसका प्रभाव भी उतना ही अधिक हृदय में बैठना है ।

भावार्थ—ज्यो ज्यो ईश्वर की गुण रूपी डोरी को संभालता हूँ अर्थात् जितना ही अधिक प्रभु के गुणों का स्मरण करता हूँ त्यों त्यों प्रेम का तीर अधिक गम्भीर लगता है क्योंकि घनुष की प्रत्यचा को जितना ही अधिक खोचा जाता है वाण उतना ही अधिक गहरा लगता है । और जिस प्रकार वाण की लकड़ी तो बाहर रह जाती है किन्तु उसकी नोक शरीर के अन्दर प्रविष्ट हो जाती है उसी प्रकार मेरे मुख से कही वाणी में जो सार तत्व था वह हृदय में प्रविष्ट हो गया और निरर्थक बातें बाहर ही टूटकर गिर गई ।

विशेष—‘गुण’ शब्द में श्लेष है जिसके दो अर्थ हैं भगवान के गुणानुवाद और रस्सी या घनुष की डोरी ।

शब्दार्थ—गुण = अच्छापन, डोरी । झलका = वाण का अग्रभाग । सांठी = लकड़ी । साँभलूँ = सम्भलता हूँ, स्मरण करता हूँ ।

ज्युं ज्युं हरिगुण साँभलौँ, त्यूं त्यूं लागै तीर ।

लागे थै भागा नहीं, साहणहार कबीर ॥७॥

संदर्भ—प्रभु-गुण स्मरण की प्रेम-वेदना से विचलित होकर जो साधक ईश-विरह वेदना को सहन कर लेते हैं उन्हें कबीरदास जी अपने समान भक्त बताते हैं ।

भावार्थ—जैसे-जैसे प्रभु के गुणों का स्मरण करता हूँ वैसे ही वैसे तीर भी अधिक गहरा लगता है । कबीर कहते हैं कि ईश्वर प्रेम के तीर के लग जाने पर मैं ईश्वर के सम्मुख से भागा नहीं वरन् उसको धैर्यपूर्वक सहन करता रहा या जिसने प्रेम के तीर रूपी ईश-विरह-वेदना को सहन कर लिया वह कबीरदास के समान भक्त बन जाता है ।

(१६६)

सेइ मन समझि समर्थ सरणांगता, जाकी आदि अति मधि कोइ न पावे ।
 कोटि कारिज सरै देह गुण सबजरै, नैक जो नांव पतिव्रत आवै ॥ टेक ॥
 आकार की ओट आकार नही ऊवरै, सिव विरंचि अरु विष्णु ताई ।
 जास का सेवक तास कौं पाइहै, इष्ट कौं छांडि भागे न जांहीं ॥
 गुंणमई मूरति सेई सब भेष मिली, निरगुण निज रूप विश्राम नांही ।
 सनेक जुग बदिगी विविध प्रकार की, अति गुण का गुंणहीं समाहीं ॥
 पांच तत तीनिगुण जुगतिकरि सांनियां, अष्टदिन होत नहीं क्रम काया ।
 पाप पुन बीज अंकुर जांमै मरै, उपजि विनसै जेती सर्व माया ॥
 क्कितम करता कहै परम पद क्यूं लहैं, भूलि भ्रम मै पड़्या लोक सारा ।
 कहै कवीर राम रमिता भजे, कोई एक जन गए उत्तरि पारा ॥

शब्दार्थ—पातिव्रत=एकनिष्ठता । त्रिगुणमयी मूर्ति=प्रतिमा । निजु=ठीक-ठीक । साना=मिश्रित । कृत्रिम=वनावटी, प्रतिमा आदि । कोई-एक बिरला ।

संदर्भ—कवीरदास राम नाम की महिमा का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—रे मन, तू इस समर्थ भगवान की शरण में जाकर सेवा कर जिसका, आदि अत और मध्य कोई नहीं पा सकता है । पातिव्रत धर्म के समान वुरी निष्ठा के साथ उसका नाम भजने से तुम्हारे करोड़ों कार्य सिद्ध होंगे और शरीर की समस्त आवश्यकताएँ पूरी हो जाएँगी (भाव यह है कि उसका नाम स्मरण करने से तुम्हारा परलोक सुधर जाएगा और इस लोक में सुख की प्राप्ति होगी) । भले ही आकार (पूति) शिव, ब्रह्मा और विष्णु तक का हो, परन्तु आकार (प्रतिभा, मूर्ति आदि) की पूजा करने से आकारधारी इस शरीर का उद्धार सम्भव नहीं है । जो भगवान के जिस स्वरूप की पूजा करता है, वह उसी स्वरूप को प्राप्त होता है । वह उसके आगे नहीं जा सकता है, क्योंकि आदर्श ही साध्य होता है । भगवान के सगुण स्वरूप की पूजा करने पर भक्त को सब प्रकार के भेषों की (सारूप्य मुक्ति) की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु निर्गुण में एवं आत्मस्वरूप में उसकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है । अनेक युगों तक विविध प्रकार की प्रतिमाओं की पूजा करने पर भक्त इस सगुण में ही समाहित होता है । शरीर निर्माण के लिए पाँचों तत्वों तथा तीनों गुणों को युक्तिपूर्वक मिलाया गया है । इन आठों के बिना शरीर की उत्पत्ति का क्रम ही नहीं बैठता है । पाप और पुण्य के बीजों के अंकुर (अर्थात् पाप-पुण्य के फल) इस शरीर में उत्पन्न होते हैं और इसमें ही मरते हैं अर्थात् इस शरीर को ही पाप-पुण्य के फल भोगने पड़ते हैं । इस जगत में जो कुछ भी उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, सब माया का ही प्रसार है । जब लोग इन बनाई हुई प्रतिमाओं को ही परमात्मा कहते हैं तब फिर उनको अव्यक्त परम पद की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है ? यह सारा संसार इस सोपाधिक को ही परम

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि जब मन सासारिक आकर्षणों से निश्चेष्ट होकर मृतक नुल्य हो जाता है और शरीर प्रभु-भक्ति में लगा होने के कारण क्षीण हो जाता है, दुबल हो जाता है तब प्रभु भक्त के पीछे लगकर बार-बार उसकी प्रशंसा करते फिरते हैं ।

शब्दार्थ—कबीर-कबीर = भक्त से तात्पर्य है ।

कबीर मरि मड़हट गह्या, तब कोइ न बूझै सार ।
हरि आदर आगै लिया, ज्युँ गऊ बछकी लार ॥३॥

संदर्भ—जीवित अवस्था में ही जो व्यक्ति मृतवत् हो जाता है सासारिक व्यक्ति उसका आदर नहीं करते हैं ।

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं मैं जीवित अवस्था में ही मरे हुए के समान होकर संसार रूपी श्मसान में पड़ा रहा किन्तु उस अवस्था में सासारिक मनुष्यों ने निरर्थक समझकर बातें करना भी बंद कर दिया । ऐसी अवस्था में केवल भगवान ने ही चात्सल्यभाव से ग्रहण किया जिस प्रकार गाय अपने बछड़े को ग्रहण करती है ।

विशेष—तुलना कीजिए मानस की चौपाई से—

करउँ सदा तिन कै रखवारी । जिमि बालक राखइ महतारी ॥

शब्दार्थ—मड़हट = श्मसान, संसार । बछ = बछड़ा ।

घर जालों घर ऊबरै, घर राखौ घर जाइ ।
एक अचम्भा देखिया, मड़ा काल कौं खाइ ॥४॥

संदर्भ—जीवन्मुक्त आदमी के लिए आवागमन का चक्र समाप्त हो जाता है ।

भावार्थ—यदि इस सासारिक घर को जलाकर राख कर देता हूँ अर्थात् माया के बन्धन में नहीं पड़ता हूँ तो वास्तविक घर अर्थात् आध्यात्मिक घर सुरक्षित हो जाता है किन्तु इसके विपरीत यदि सासारिक घर को माया जाल को सुरक्षित रखता हूँ तो आध्यात्मिक घर नष्ट हुआ जाता है । कबीर कहते हैं कि इस संसार में एक आश्चर्यजनक घटना यह भी देखी कि जो व्यक्ति इस संसार में जीवित रहते हुए भी मृतवत् होकर जीवन्मुक्त हो जाता है वह स्वयं काल को खा जाता है जबकि साधारण अवस्था में काल मनुष्य को ही खाता रहता है ।

विशेष—विरोधाभास अलंकार का प्रयोग है ।

शब्दार्थ—मड़ा = मरा हुआ । काल = मृत्यु, समय ।

मरतां मरतां जग मुवा, औसर मुवा न कोइ ।
कबीर ऐसै मरि मुवा, ज्युँ बहुरि न मरनां होइ ॥५॥

भावार्थ—यदि मरने का वास्तविक ढङ्ग ज्ञात हो जाय तो जीवित रहने से मर जाना ही अच्छा है। मरने का वास्तविक तरीका तो यह है कि वास्तविक मृत्यु के पहले ही व्यक्ति ससार के प्रलोभनों और आकर्षणों से विरक्त हो जाय तो इस कलिकाल में भी वह अमर हो सकता है।

शब्दार्थ—अजरावर = अमर के समान।

खरी कसौटी राम की, खोटा टिकै न कोइ।

राम कसौटी सो टिकै, जौ जीवत मृतक होइ ॥ ९ ॥

सन्दर्भ—ईश्वर भक्ति की कसौटी पर सभी व्यक्ति खरे नहीं उतरते हैं उस पर जीवन्मुक्त प्राणी ही खरा उतरता है।

भावार्थ—ईश्वर की कसौटी बिल्कुल खरी है उस कसौटी पर खोटा व्यक्ति नहीं उतर सकता है। उसपर तो वही व्यक्ति खरा उतर सकता है जो जीवन धारण किये हुए भी सांसारिक माया जाल से निर्लिप्त रहते हैं उसके आकर्षणों से दूर रहते हैं।

शब्दार्थ—मृतक = मरा हुआ।

आपा मेट्या हरि मिलै, हरि मेट्याँ सब जाइ।

अकथ कहाणी प्रेम की, कहायां न को पत्याइ ॥ १० ॥

संदर्भ—अहंकार को नष्ट करने पर ही ईश्वर की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—व्यक्ति के अन्दर यदि अहंकार की भावना नष्ट हो जाती है तो ईश्वर की प्राप्ति हो जाती है किन्तु वह व्यक्ति जो ईश्वर को विस्मृत कर देता है उसका सब कुछ नष्ट हो जाता है। प्रेम (ईश्वर-प्रेम) की कहानी अकथनीय है उसको कहने पर सभी विश्वास नहीं करते हैं।

शब्दार्थ—आपा मेट्या = अहंकार को नष्ट करने पर। पत्यायी = विश्वास करता है।

निगुसांवां बहि जाइगा, जाकै घाघी नहीं होइ।

दीन गरीबी बंदिगी, करता होइ सु होइ ॥११ ॥

सन्दर्भ—इस ससार में जिसे ईश्वर पर विश्वास नहीं है वह संसार सागर में बहता रहता है।

भावार्थ—इस संसार में जो व्यक्ति बिना ईश्वर के अवलंब के रहना चाहेगा वह संसार में नष्ट हो जायेगा और बिना गुरु के आश्रय के भी व्यक्ति नष्ट हो जायेगा। इस लिए इस संसार का जो भी संचालन करने वाला हो उसकी बन्दना विनम्रता और दीनता पूर्वक करनी चाहिए।

के अनुसार अन्य शरीर में प्रवेश कर सकता है। उस साधक को स्वर्ण-निर्माण, की सामर्थ्य और गुप्तधन की दृष्टि भी प्राप्त होजाती है।

सन्दर्भ—इस पद में हठयोग के साधक अवधूत का कथन है। कुण्डलिनी से ब्रह्म रन्ध्र तक पहुँचने की प्रक्रिया का वर्णन है।

भावार्थ—ऊपर सहस्रार का कूप है और नीचे रहने वाली कुण्डलिनी इसका पानी भरती है। जब तक सहस्रार रूपी गगन में शुद्धात्मा की ज्योति प्रति-फलित होकर साधक को दिखाई नहीं देती तब तक अविनाशी ब्रह्म के प्रति उसका मन अनुरक्त नहीं होता है।

कवीरदास अपने आपको साधक मानकर कहते हैं कि जब तक मुझे ब्रह्मरन्ध्र का ज्ञान प्राप्त न हो, तब तक भला मुझे (अथवा किसी साधक को) किस प्रकार संतोष प्राप्त हो सकता है? जब तक साधक त्रिकुटी की सधि से परिचित होकर सहस्रार स्थित चन्द्र और मूलाधार स्थित सूर्य को पास-पास नहीं लाता है—पिंगला और इडा नाडियों के मध्य समन्वय स्थापित नहीं करता है, जब तक वह नाभि-स्थित मणिपूरक चक्र का चिन्तन नहीं करता है, तब तक वह शुद्ध चित्त रूपी हीरे द्वारा शुद्धात्मा रूपी हीरे को कैसे वेव सकता है? अभिप्रेत भाव यह है कि आज्ञा-चक्र में स्थित त्रिकुटी का ज्ञान प्राप्त होजाने पर इडा और पिंगला का अन्तर समाप्त हो जाता है तथा मणिपूरक चक्र पर चिन्तन करने पर ही ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव होती है। सोलह कला से युक्त चन्द्र जहाँ सहस्रार पर सुशोभित रहता है, वही अनाहत का वाद्य भी बजता है। भाव यह है कि ब्रह्मरन्ध्र वाले सहस्रदल कमल में ब्रह्म का निवास है। सिद्धि प्राप्त कर लेने पर योगी को वही पर अनाहदनाद (The voice of the silence) सुनाई पडता है। सिद्धि मिलने पर ही सुषुम्ना में आनन्द उत्पन्न होता है तथा सहस्रार के उलटे कमल में गोविन्द को प्राप्त करता है। साधना द्वारा जब मन और प्राण वायु मिल जाते हैं, तब मन और परमात्मा मिलकर इस प्रकार एक होजाते हैं जिस प्रकार नाले-नालियों का जल गंगा के बहते हुए जल में मिलकर एक मेल होजाता है। कवीरदास कहते हैं कि इस प्रकार अपने शरीर के भीतर ही सब कुछ समझलो तथा सहस्रार के घाट-रहित स्थान में मोक्ष की क्यारी को आनन्दामृत से सींच लो।

अलंकार—(i) असंगति—ऐसीवाणी।

(ii) रूपक—भवर गुफा, नाभि कमल, हीरै मन, हीरै पवन, औघट घाट क्यारी।

(iii) विरोधाभास की व्यजना—औघट घाट।

(iv) यमक—हीरै हीरा।

(v) उदाहरण—ज्यूं भइया।

विशेष—(1) कवीरदास ने हठयोग की प्रक्रिया को बड़े ही कवित्वपूर्ण ढंग पर रोचक शैली में समझाया है। उन्होंने बताया है कि किस प्रकार इसी शरीर में

भावार्थ—हे ईश्वर भक्त ! तू अपने को इतना विनीत बनाले जितना मार्ग में पड़ा हुआ रोड़ा विनीत होता है । उसे चाहे जो ठोकर मारे सहता रहता है । और जब तुममें इस प्रकार की सहन शक्ति आ जायेगी अहं का विनाश हो जायगा तब तुम्हें भगवत्प्राप्ति हो सकेगी ।

शब्दार्थ—रोड़ा = मार्ग का पत्थर । वाटका = मार्ग का ।

४२. चित कपटीभेष कौ अंग

कबीर तहाँ न जाइए, जहाँ कपट का हेत ।

जालू कली कनीर की, तन रातौ मन सेत ॥ १ ॥

सन्दर्भ—जहाँ पर कपटपूर्ण आचरण होता हो वहाँ नहीं जाना चाहिए ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि वहाँ न जाना चाहिए जहाँ कपटपूर्ण व्यवहार होता हो । कपटी प्रेमी कन्नेर की कली के समान होता है । जिस प्रकार कन्नेर की कली का रंग ऊपर से लाल और भीतर से श्वेत होता है उसी प्रकार कपटी मित्र का व्यवहार भी ऊपर से प्रेमपूर्ण और हृदय से प्रेम रहित होता है ।

विशेष—तुलना कीजिए—

परोक्षे कार्य हन्तारं, प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।

वर्जयेत्तादृशं मित्रे, विष कुम्भं पयोमुखम् ॥

शब्दार्थ—हेत = प्रेम ।

संसारी साषत भला, कंवारी कै भाइ ।

दुराचारी वैशनों बुरा, हरिजन तहाँ न जाइ ॥ २ ॥

सन्दर्भ—अच्छे आचरण वाला व्यक्ति ही श्रेष्ठ होता है । ईश्वर-भक्त कपटी आचरण वाले के यहाँ नहीं जाते ।

भावार्थ—संसार में लिप्त शाक्त यदि अच्छे आचरण वाला है तो वह दुराचारी वैष्णव से श्रेष्ठ है । वह शाक्त कुमारी कन्या के समान मन से निर्मल रहता है केवल बाह्य रूप से ही वह संसार से लिप्त रहता है । किन्तु इसके विपरीत दुराचारी वैष्णव सांसारिक कालुष्य से परिपूर्ण होता है । भगवान के भक्त वहाँ नहीं जाते हैं ।

प्रकार मुझे अपना शिष्य बनाकर कृपा करके इस संसार रूपी समुद्र के पार उतार कर उस पार समतल भूमि (मैदान) में खड़ा कर देता ।

शब्दार्थ—पिछानि = पहचान ।

ऐसा कोई नाँ मिलै, राम भगति का मीत ।

तन मन सौपै मृग ज्यूँ, सुनै बधिक का गीत ॥३॥

सन्दर्भ—भक्ति की अनन्यता पर जोर देते हुए कबीरदास जी कहते हैं कि—

भावार्थ—मुझे रामभक्ति से परिपूर्ण ऐसा कोई भी व्यक्ति (गुरु) नहीं मिला जो अपना तन और मन अर्थात् सर्वस्व ईश्वर को सौंप दे और निश्चिन्त हो जाय । जिस प्रकार मृग शिकारी का तन्त्रीनाद सुनते समय यह भी विचार नहीं करता कि इससे मेरी मृत्यु भी हो सकती है उसी प्रकार वह ईश्वर भक्त भी सासारिक हानि लाभ का विचार नहीं करता है ।

विशेष—उपमा अलंकार ।

ऐसा कोई नाँ मिलै, अपना घर देइ जराइ ।

पंचू लरिका पटिक करि, रहै राम ल्यौ जाइ ॥ ४ ॥

सन्दर्भ—सासारिक माया जाल और आकर्षणों को कोई विरले ही व्यक्ति छोड़ पाते हैं । साधारण मनुष्य तो रसी में लित रहते हैं ।

भावार्थ—मुझे ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिला जो इस संसार से इतना विरक्त हो जाय कि अपने घर द्वार तक को बाग लगाकर भस्म कर सके और अपने पाँचो पुत्रो अर्थात् काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह को पृथ्वी पर पटक कर समाप्त कर दे और ईश्वर के नाम स्मरण में अपने को प्रवृत्त कर दे ।

शब्दार्थ—पंचू लरिका — पाँचो पुत्र अर्थात् काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह ।

ऐसा कोई नाँ मिलै, जासौँ रहिए लागि ।

सब जग जलता देखिए, अपणी अपणी आगि ॥५॥

सन्दर्भ—संसार के सभी व्यक्ति अपनी-अपनी चिन्ताओं से व्यथित हैं कोई भी चिन्ता रहित नहीं मिल पाता है ।

भावार्थ—मुझे कोई भी व्यक्ति इस संसार में ऐसा नहीं मिला जिससे मिलकर मैं प्रेम-पूर्ण व्यवहार कर सकूँ । संसार के सभी प्राणी अपने-अपने कर्मों के अनुसार प्राप्त वेदनाओं में व्यथित हैं । सभी चिन्ता की अग्नि में भस्म हो रहे हैं ।

विशेष—तुलना कीजिए—

वह ज्ञान और भक्ति के समन्वय से उत्पन्न प्रेम के महारस का पान करने वा बनता है और कायायोग एव ध्यान योग द्वारा प्राप्त होने वाले अमृत का भ करता है । वह ज्ञान की अग्नि में शरीर को जलाने वाली वासनाओं को भस्मी कर देता है तथा अजपा जाप (अनहद नाद) में लवलीन रहता है । वह जगत् विमुख होकर चेतना को त्रिकुटी में स्थित कर देता है और इस प्रकार समाधि हो जाता है । सहज समाधि में स्थित होकर वह समस्त विषयो को त्याग देता है वह इडा, पिंगला एव सुषुम्ना के मिलन-विन्दु रूप त्रिवेणी में अवगाहन करता तथा आनन्द की विभूति को अपने अन्तःकरण में समाकर मन को वासनाओं रहित करके पवित्र करता है । कबीर अलख निरजन प्रभु की भक्ति करता है ।

अलंकार—(1) रूपक—महारस अमृत, ब्रह्म अग्नि, त्रिवेणी विभूति ।

(II) विरोधाभास—अजपा जाप ।

विशेष—(1) भक्तों की भाँति कबीरदास निर्गुण ब्रह्म की भक्ति करते और सेव्य-सेवक भाव का आरोप करते हैं ।

(II) कायायोग, ज्ञान एव भक्ति की त्रिवेणी दृष्टव्य है ।

(III) अमृत—देखें टिप्पणी पद स० ४

अजपा जाप—देखें टिप्पणी पद स० १५७

उन्मनी— देखें टिप्पणी पद स० २०३

त्रिकुटी—देखें टिप्पणी पद स० ४

अलख निरजन—देखें टिप्पणी पद स० १४२ व १६४

सहज समाधि—देखें टिप्पणी पद स० ७

(IV) त्रिवेणी— देखें टिप्पणी पद स० ४, ७

(V) इस पद में कायायोग और भक्ति का सुन्दर समन्वय है ।

(२०५)

या जोगिया की जुगति जु बूझै,

रांम रमै ताकौं त्रिभुवन सूझै ॥ टेक ॥

प्रगट कंथा गुपत अधारी, तामै मूरति जीवनि प्यारी ॥

है प्रभू नेरै खोजै दूरि, ग्यांन गुफा मै सींगी पूरि ॥

अमर बेलि जो छिन छिन पीवै, कहै कबीर सो जुगिजुगि जीवै ॥

शब्दार्थ—कंथा=गुदडी । कथा धारी=योगी । अधारी=साधु

लकडी । नेरै=पास । सींगी=श्रुगी, योगियो द्वारा प्रयुक्त सींग का । अमरबेलि=ज्ञानरूपी बेलि ।

संदर्भ—कबीरदास कायायोग की महिमा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—इस कायायोग की साधना करने वाले साधक योगी की के रहस्य को जानकर जो राम में रमण करता है अर्थात् जो राममय हो जाता है, उसको तीनों लोक दिखाई देने लगते हैं अर्थात् वह तीनों लोकों में व्याप्त

सन्दर्भ—इस ससार में लोग सासारिक वस्तुओं से प्रेम करते हैं। ईश्वर प्राप्ति के साधन नहीं अपनाते हैं।

भावार्थ—इस ससार में 'तीन' वस्तुओं के तो प्रेमी बहुत मिल जाते हैं परन्तु 'चौथी' से प्रेम करने वाले कोई भी नहीं मिलते हैं। यद्यपि उस ईश्वर के सम्पूर्ण मनुष्य प्रेमी हैं किन्तु संसार के माया-मोह में लिप्त होकर पराधीन हो किकतव्य विमूढ़ हो जाते हैं और ईश्वर को विस्मृत कर देते हैं।

विशेष—“तीन सनेही बहु मिलै चौथे मिलै न कोइ” के विभिन्न अर्थ हैं।

(१) (क) सम्पत्ति (ख) स्त्री (ग) मित्र तथा सम्बन्धी (घ) ईश्वर।

(२) (क) जागृत (ख) स्वप्न (ग) सुषुप्ति (घ) तुरीय।

(३) (क) धर्म (ख) अर्थ (ग) काम (घ) मोक्ष।

(४) (क) लोकैषणा (ख) वित्तैषणा (ग) पुत्रैषणा (घ) प्रभु प्राप्ति।

शब्दार्थ—परवसि = परवश, माया ग्रस्त।

माया मिलै महोवती, कूड़े आखै बैन।

कोई घायल बेध्या नां मिलै, साईं हंदा सैण ॥१०॥

सन्दर्भ—माया के वशीभूत तो बहुत से व्यक्ति मिल जाते हैं किन्तु ईश्वर प्रेमी कम मिलते हैं।

भावार्थ—इस ससार में मोहवती माया के वशीभूत तो बहुत से व्यक्ति मिल जाते हैं जो व्यर्थ की बातें कहकर अपना समय बिगाड़ते रहते हैं। किन्तु ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिलता जिसका हृदय ईश्वर की कृपाकटाक्ष से घायल हो गया है।

शब्दार्थ—महोवती = मोह युक्त। कूड़े = बुरे। आखै = कहती है। बेध्या = विन्धा हुआ। साईं = प्रभु। सैण = कटाक्ष।

सारा सूरुा बहुँ मिलै, घायल मिलै न कोइ।

घायल ही घायल मिलै, तब राम भगति दिइ होइ ॥११॥

संदर्भ—ईश्वर प्रेम की चोट खाए हुए व्यक्तियों का इस संसार में अभाव है। समान गुणों वाला व्यक्ति एक दूसरे से मित्रता जोड़ता है।

भावार्थ—इस संसार में ऐसे शूरवीर तो बहुत मिलते हैं जिन्होंने कभी भी युद्ध में चोट न खाई हो। लेकिन ईश्वर-प्रेम की चोट खाकर घायल हुआ शूरवीर कोई नहीं मिलता। ईश्वर की भक्ति में दृढता तभी आ सकती है जबकि प्रेम से आहत हुए भक्त को अपने ही जैसा प्रेम का घायल व्यक्ति मिल जाय और उन दोनों से मैत्री संबंध स्थापित हो जाय।

किसी प्रकार अन्तर नहीं आता है। वास्तविकता तो यह है कि जो जिसका वास्तविक प्रेमी होता है वह दूर हो करके भी अन्तरङ्ग मन से निकट ही रहता है।

विशेष—(१) अर्थान्तर न्यास अलंकार

(२) तुलना कीजिए—“दूर स्थोऽपि न दूरस्थो यदि मनः स्थितः”

शब्दार्थ—कमोदिनी = जल में रहने वाला पुरुष जो चन्द्रोदय से ही विकसित होता है।

कबीर गुरु बसै बनारसी, सिष समन्दर तीर।

विसारघा नहीं बीसरै, जे गुण होइ सरीर ॥ २ ॥

सन्दर्भ—यदि शिष्य में सद्गुण हैं तो दूरस्थित होने पर भी गुरु के द्वारा भुलाया नहीं जा सकता है।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि शिष्य का गुरु तो बनारस में स्थित है और शिष्य समुद्र के किनारे बैठा तपस्या कर रहा है किन्तु यदि शिष्य के शरीर में सद्गुणों का निवास है तो गुरु के द्वारा वह कभी भुलाने पर भी भुलाया नहीं जा सकता। स्थान की दूरी से स्नेह संबन्ध में अन्तर नहीं आ सकता।

शब्दार्थ—समन्दा = समुद्र।

जो है जाका भावता, जदि तदि मिलसी आइ।

जाकों तन मन सौंपिया, सो कबहुँ छाँड़ि न जाइ ॥३॥

संदर्भ—ईश्वर का अनन्य भक्त अपनी साधना को किसी न किसी दिन सफल होता हुआ अवश्य पायेगा।

भावार्थ—जो व्यक्ति जिसका स्नेही है वह कभी न कभी अपने प्रेम पात्र से येनकेन प्रकारेण आकर मिलता अवश्य है और जिसको अपना शरीर और मन निष्कपट भाव से सौंप दिया गया है वह कभी उसको छोड़कर जा नहीं सकता।

शब्दार्थ—जदि तदि = जिस किसी प्रकार।

स्वामी सेवक एक मत, मन ही में मिलि जाइ।

चतुराई रीभै नहीं, रीभै मन कै भाइ ॥४॥६५॥

सन्दर्भ—ईश्वर चतुराई और बुद्धिमानी से नहीं प्राप्त होता है। उसकी प्राप्ति सच्चे प्रेम से ही होती है।

भावार्थ—स्वामी (परब्रह्म) और सेवक (भवत या जीवात्मा) एक मत पर आधारित होकर प्रेम के सच्चे रूप को अपनाकर आध्यात्मिक रूप में मिल

तीनों अर्थों में गृहीत शब्द था । (i) भू-स्पर्श आदि अग-स्थिति रूपा मुद्रा, (ii) कुण्डल आदि शरीर पर धारण करने वाली वस्तुएँ, (iii) मैथुन तथा विन्दु रक्षा के तांत्रिक अनुष्ठानों के लिए स्वीकृत सह-साधिका नारी । कवीर इन तीनों को तत्त्व प्राप्ति का साधन नहीं मानते । ऐसी शृंगी और खपरा के बाह्य रूप भी तत्त्व प्राप्ति के साधन नहीं । अतः कवीर इनको आध्यात्मिक अर्थ दे रहे हैं ।”

(२०७)

बाबा योगी एक अकेला,

जाकै तीर्थ व्रत न मेला ॥ टेक ॥

झोली पत्र विभूति न बटवा, अनहद वेन बजावै ॥

मांगी न खाइ न भूखा सोवै घर अगनां फिरि आवै ॥

पांच जनां की जमाति चलावै, तास गुरु में चेला ॥

कहै कवीर उनि देखि सिघाये, बहुरि न इहि जगि मेला ॥

शब्दार्थ—पांच जना=पांच जन=पांच ज्ञानेन्द्रियाँ । जमात=समूह ।
चलावै=नियंत्रित करता है ।

सन्दर्भ—कवीरदास सिद्ध योगी का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—योगी ससार में अपने ढंग का एक अनोखा ही व्यक्ति होता है । उसको तीर्थ, व्रत, मेला इत्यादि से कोई प्रयोजन नहीं होता है । उसे झोली, पत्र, बटुआ, विभूति आदि बहिरंग साधनों की कोई आवश्यकता नहीं होती है । वह तो आत्म-स्वरूप में स्थित होकर अनहद-नाद रूपी वीणा बजाता है । वह न तो भूख मांगता है और न भूखा ही सोता है । (उसको अपने स्थान पर बैठे-बैठे और बिना मागे हुए जीवन-यापन के साधन उपलब्ध हो जाते हैं) । वह अपने घट रूपी घर के हृदय रूपी आँगन में ही वापिस आ जाता है अर्थात् वह सब ओर से अपना मन हटा कर आत्म स्वरूप में स्थित हो जाता है । वह अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के समूह को अपने नियन्त्रण में रखता है । कवीरदास ऐसे ही योगी के चेले बनने को तैयार हैं, जो अपनी साधना के द्वारा इस ससार को छोड़कर उस देश को चले गये हैं अर्थात् जिन्होंने परमतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है और पुनः इस ससार में नहीं आएँगे अर्थात् जो आवागमन के चक्र में फिर नहीं पड़ेंगे ।

अलंकार—(i) भेदकातिशयोक्ति की व्यजना—एक अकेला ।

(ii) रूपक—अनहद वेन ।

(iii) विरोधाभास—मांगी खाइ 'भूका' ।

(iv) रूपकातिशयोक्ति—पांच जना ।

विशेष—(1) इस पद में भी बाह्य साधना के प्रतीको (तीर्थ, व्रत, मेला, झोली, पत्र विभूति, बटुआ, वेन) को आभ्यन्तर-साधना-परक अर्थ दिए गए हैं ।

(ii) आत्म स्वरूप स्थिति एवं निस्पृहता योगी के प्रमुख लक्षण हैं ।

कबीर सोई सुखां, मन सँ मांडै भूझ ।
पंच पयादा पाड़ि ले, दूरि करै सब दूज ॥३॥

सन्दर्भ—काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह को नष्ट करके ब्रह्म और जीव के भेद को मिटा देना चाहिए ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि शूरवीर वही है जो अपने मन से युद्ध करने में प्रवृत्त हो जाय और काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह रूपी पाँचों प्रकार के सैनिकों को घायल करके आत्मा और परमात्मा के बीच की द्वैत भावना का अन्त कर दे ।

शब्दार्थ—पंच पयादा = पंच पदाति, पाँच प्रकार की सेना अर्थात् काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह ।

सूरा भूझै गिरंद सँ, इक दिस सूर न होइ ।
कबीर यौं बिन सूरिवाँ, भला न कहिसी कोइ ॥४॥

सन्दर्भ—जो व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर लेता है वही सच्चे अर्थों में शूरवीर है । केवल एक दो इन्द्रियो को वश में कर पाने वाला नहीं ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि शूरवीर तो वही है जो चतुर्दिक् युद्ध करता रहे । केवल एक दिशा में युद्ध करने वाला शूरवीर नहीं कहा जा सकता । जब तक युद्ध करने वाला चारों ओर युद्ध करने में प्रवृत्त नहीं होगा तब तक उसे सच्चा योद्धा कोई भी नहीं कहेगा ।

विशेष—(१) इसका अर्थ साधना के क्षेत्र में भी लिया जा सकता है । सच्चे साधक को चारों ओर के माया जनित असत् तत्वों से युद्ध करना चाहिए । एकाध असत् तत्वों से युद्ध करने वाला सच्चा साधक नहीं कहा जा सकता है ।

(२) श्लेष अलंकार का प्रयोग है ।

शब्दार्थ—गिरंद = चतुर्दिक्, चारों ओर ।

कबीर आरणि पैसि करि, पीछै रहै सु सूरि ।
साँई सू साचा भया, रहसी सदा हजूर ॥५॥

सन्दर्भ—सच्चा शूरवीर संसार के माया जनित आकर्षणों में नहीं फँसता है । वह और लोगों की तुलना में पीछे रह जाता है ।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि सच्चा शूरवीर वही है जो संसार रूपी जगल प्रवेश करके भी अन्य साथियों से पीछे रहे अर्थात् माया जनित आकर्षणों

सूरा तबही परषिये, लड़ै धरणी के हेत ।
पुरिजा-पुरिजा ह्वै पड़ै, तऊ न छाँड़ै खेत ॥६॥

संदर्भ—भक्त रूपी योद्धा को माया जन्य आकर्षणों से लडते रहना चाहिए ।

भावार्थ—भक्त रूपी योद्धा की परीक्षा की कसौटी यही है कि वह ईश्वर की प्राप्ति के लिए माया मोह के बन्धनों से लडता रहे । इस युद्ध में भले ही उसका शरीर टुकड़े-टुकड़े हो जाय, फिर भी वह रण-क्षेत्र से पीठ न दिखावे, पीछे न हटे ।

शब्दार्थ—परषिये = परीक्षा कीजिए । धरणी = स्वामी, ईश्वर । पुरिजा-पुरिजा = टुकड़े, टुकड़े ।

खेत न छाँड़ै सरिवाँ, भूभै द्वै दल माँहिं ।
आसा जीवन मरण की, मन मे आँणै नाहिं ॥१०॥

सन्दर्भ—सच्चा शूरवीर युद्ध करता रहता है जय पराजय का विचार नहीं करता है ।

भावार्थ—कवीरदास जी का कथन है कि सच्चा साधक या शूरवीर साधना या युद्ध के क्षेत्र को छोड़ता नहीं है वह दोनों सेनाओं के मध्य युद्ध करता रहता है । उसके मन में जीवन और मरण की या जय और पराजय की भावना का अन्तर्द्वंद्व नहीं रहता है । वह तो केवल कर्तव्य करना जानता है ।

विशेष—(१) रूपक अलंकार ।

(२) तुलना कीजिए गीता के सिद्धान्त से ।

“कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।”

—गीता

शब्दार्थ—द्वै दल = दोनों दलो, दो सेनायें ।

अब तौ भूज्याँ ही बणै, मुड़ि चाल्याँ घर दूरि ।
सिर साहिब कौँ सोंपता, सोच न कीजै सूरि ॥११॥

सन्दर्भ—ससार की व्याधियों और प्रलोभनों से युद्ध करना ही श्रेयस्कर है ।

भावार्थ—कवीरदास जी कहते हैं कि ईश्वर भक्त जब भक्ति के मार्ग पर्याप्त आगे बढ़ जाता है तो उसके लिए सासारिक प्रलोभनों में पड़कर पुनः साधना के मार्ग से लौट पडना उचित नहीं होना है । उसके लिए तो उस अवस्था में युद्ध करना ही

नहीं पहुँच पाते हैं। केवल ज्ञानी साधक ही सहजावस्था को प्राप्त हो पाते हैं।

अलंकार—(i) साग रूपक—सम्पूर्ण पद।

(ii) पुनरुक्ति प्रकाश—रुचि-रुचि।

(iii) पदमैत्री—ग्यान वान।

विशेष—(i) द्वितीय पक्ति का पाठान्तर इस प्रकार है—रुचिहीं रुचि मेलै।
का अर्थ होता है कि जिसमें इसे तूने भली भाँति रचकर भेज दिया है।

(ii) पटचक्र—देखें टिप्पणी पद सख्या ४, ७

(iii) गगन मण्डल—देखे टिप्पणी पद सख्या १६४

(iv) सहज रूप—देखे टिप्पणी पद सख्या ५, १५५

(v) पवन खेदा—देखें टिप्पणी पद सख्या ८

(vi) तुलना करें—कूटस्थ चित्त ही कवीर का साधक मन है—

रघुवर कहेउ लखन भल छाद्द।

करहु कतहुँ अब ठाहर ठाटू।

लखन दीख पय उतर करारा।

चहुँ दिसि फिरेउ घनुष जिमि नारा।

नदी पनच सर सम दम नाना।

सकल कलुष कलि साउज नाना।

चित्रकूट जनु अचल अहेरी।

चुकइ न घात मार मुठ भेरी।

(रामचरितमानस, गोस्वामी तुलसीदास)

दृष्टव्य—योग साधना के अन्तर्गत प्रायः अष्टचक्रों का उल्लेख प्राप्त होता

परन्तु कवीर प्रायः पट्चक्रों का ही वर्णन करते हैं। इन्होंने शून्यचक्र एवं सुरति ल को छोड़ दिया है। कवीर के द्वारा संकेतित पट्चक्र निम्नस्थ प्रकार हैं—

(i) मूलाधार—इसका स्थिति-स्थान योनि माना गया है। इसमें चार होते हैं। यह रक्त वर्ण का होता है। इसका लोक भू' है। इसका ध्यान करने का प्रकार की ध्वनि होती है, वह क्रमशः वँ, शँ, पँ, सँ की होती है। इससे लाभ होने पर मनुष्य वक्ता, सर्वविद्या विनोदी, आरोग्य, मनुष्यों में श्रेष्ठ, चित्त तथा काव्य-प्रवच में समर्थ हो जाता है।

(ii) स्वाधिष्ठान चक्र—इसका स्थिति-स्थान पेड़ माना गया है। इसमें दल होते हैं। यह सिद्धर वर्ण का होता है। इसका लोक 'भुव' है। इसका ध्यान करने से जो विशेष प्रकार की ध्वनि भ्रूत होती है, वह क्रमशः भ, यँ, रँ, लँ, वँ होती है। इसके सिद्ध लाभ से अहंकार विकार का नाश, योगियों में श्रेष्ठ, रहित और गद्य-पद्य की रचना में समर्थ विशेषगुण मनुष्य में उत्पन्न हो पाते हैं।

(iii) मणिपूरक चक्र—इसका स्थिति-स्थान नाभि कहा गया है। इसमें

भावार्थ—कायर व्यक्ति बहुत बढ चढ कर बातें करते रहते हैं, सच्चे शूर कभी भी बकवास नहीं करते वे तो काम को करके ही दिखाते हैं। कार्य पढ़ने पर ही यह जाना जा सकता है कि शूरवीर अथवा कायर किसके मुख पर विजय की आभा चमकती है।

विशेष—तुलना कीजिए—

सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहि आपु ।
विद्यमान रनपाइ रिपु, कायर कथहि प्रतापु ॥

मानस—वालकांड

शब्दार्थ—परमावही = बढ चढकर बातें करना । सूर = तेज ।

जाइ पूछौ उस घाइलैं, दिवस पीड़ निस जाग ।
बांहण-हारा जांणिहै, कै जांणै जिस लाग ॥१५॥

संदर्भ—प्रभु के प्रेम की पीर का अनुमान गुरु को ही हो सकता है और अनुभव केवल साधक को ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि उस घायल व्यक्ति से उसकी पीडा की दशा पूछो जो अपनी पीडा से दिन मे व्यथित रहता है और रात मे जागता रहता है । उसके हृदय की वेदना को बाण चलाने वाला (ईश्वर) ही जान सकता है अथवा वह जान सकता है जो ईश्वर प्रेम के बाणो को खा चुका हो ।

विशेष—तुलना कीजिए—

घायल की गति घायल जाणै और न जाणै कोय ।

—मोरा

शब्दार्थ—बांहणहारा = बाण चलाने वाला ।

घाइल घूमै गहि भर्या, राख्या रहै न ओट ।
जतन कियां जीवै नहीं, बणीं मरम की चोट ॥१६॥

संदर्भ—ईश्वर के प्रेम को समझने वाला साधक और किसी के आश्रय मे रहना नहीं चाहता है ।

भावार्थ—ईश्वर के प्रेम-बाण का घायल हुआ साधक रुद्ध कण्ठ से घूम रहा है । अन्य किसी की शरण मे रहना उसे अच्छा नहीं लगता । उसे जीवित रखने के अनेक प्रयत्न किए गए किन्तु वह जीवित रहना नहीं चाहता उसके मर्मभेदी चोट लग चुकी है ।

शब्दार्थ—राख्या = रखने पर । ओट = छिपाने पर ।

अति तीक्ष्ण प्रेम को पंथ महा,
तलवार की धार पै धावनो है ।”

कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध ।
सीस उतारी पग तलि धरै, तब निकटि प्रेम का स्वाद ॥ २० ॥

सन्दर्भ—प्रेम का आनन्द तभी प्राप्त किया जा सकता है जब सर्वस्व बलिदान करने की सामर्थ्य हो ।

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि अपना घर तो परमतत्त्व ब्रह्म है जिसकी प्राप्ति प्रेम के द्वारा हो सकती है वहाँ तक पहुँचने का मार्ग अत्यन्त अगम्य और अगाध है । इस प्रेमस्वरूप की प्राप्ति और उसका रसास्वादन तभी हो सकता है जब साधक अपने सिर को काट कर पैरो के नीचे रख दे अर्थात् सर्वस्व अर्पण कर दे ।

प्रेम न खेतों नीप जै, प्रेम न हाटि बिकाइ ।
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो लै जाइ ॥ २१ ॥

सन्दर्भ—प्रेम बाह्य कारणों पर आधारित नहीं होता है वह तो सर्वस्व अर्पण से ही संभव है ।

भावार्थ—प्रेम न तो खेत में पैदा होता है और न बाजार में ही बिकता है । वह तो सभी को प्राप्त हो सकता है । राजा, प्रजा, अमीर, गरीब जो चाहे शीशदान देकर ले जा सकता है ।

शब्दार्थ—हाटि = बाजार ।

सीस काटि पसंग दिया, जीव सरभरि लीन्ह ।
जाहि भावे सो आइल्यो, प्रेम आट हम कीन्ह ॥ २२ ॥

सन्दर्भ—प्रेम के बाजार से कोई भी व्यक्ति सौदा कर सकता है । केवल व्याज चाहिए ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि हमने प्रेम का बाजार लगाया है जिसमें जो भी व्यक्ति चाहे सामान कर सकता है । इस प्रेम के सौदे के लिए प्राणों के मूल्य को देना पड़ेगा और तराजू के पासग को निकालने के लिए अपना सिर काटकर लगाना होगा ।

सूरै सीस उतारिया, छाँड़ी तन की आस ।
आगें थै हरि मुल किया, आवत देख्या दास ॥ २३ ॥

सन्दर्भ—भक्त जब ईश्वर से मिलने जाता है तो ईश्वर उसका स्वागत करता है ।

के समय मेरे पास स्वानुभूति रूपी बेल मात्र है, उसके विक्षेप रूपी पत्ते नष्ट हो चुके हैं।

अलंकार—(1) साग रूपक—सम्पूर्ण पद।

(II) विरोधाभास—जीवन 'कंता, मार्या.....' राख्या,
बेलि 'पात नहीं।

(III) विभावना की व्यंजना—उर विन.....सोई, मृग कै सीस
नहीं रे, धुनही पिनच नहीं रे।

(IV) अनुप्रास—तृतीय पंक्ति, व की आवृत्ति।

विशेष—(1) वैराग्य की कुछ साधनाओं में मन को कुचल कर विषयो से असम्पृक्त करना न उचित है और न सम्भव ही है। कवीरदास ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि भावनाओं का उन्नयन करके विषयो को भक्तिमय बना देना ही काम्य है।

(II) उर विन विहूना—मन का हृदय उसकी सरसता है, 'खुर' आदि से व्यजित आकार भी सकल्प-विकल्प एव वासना रूप ही हैं। वे सब इस कृच्छ्र साधना से छिप गए हैं। ऐसे पशु का शिकार ही क्या करना, क्योंकि विषयो से वचित की गई इन्द्रियाँ मृतवन् प्रतीत होती हैं।

(III) रगत न मास—उम साधना में तल्लीन मत होओ जिसमें केवल ज्ञान-वैराग्य की शुष्कता है और प्रेम भक्ति के रस का अभाव है। इन पक्तियों में कवीर का भावुक भक्त उभर आया है।

(IV) ता बेल को..... ली—विक्षेपरहित माया पर साधक मन का अधिकार होगया है—उमको वह देख भर रहा है।

(V) तुम्हरे मिलन . . पात नहीं रे—अब मेरी मनस्थिति विक्षेपरहित है। पत्ते रहने पर बेल के वृक्ष को परिवेष्टित करने में कुछ व्यवधान रहता है, परन्तु पत्तों के अभाव में बेल पूरी तरह से वृक्ष से लिपट सकती है। अतएव विक्षेपरहित जीवात्मा अपने साध्य प्रियतम से पूर्णतया आवद्ध (एकाकार) होने की स्थिति को प्राप्त होगई है। मायारहित जीव अपने पति परमेश्वर में पूर्णतः तदाकार होने को प्रस्तुत है।

(VI) इन पक्तियों में सूफियों के रहस्यवाद की व्यंजना है। भक्तजन भी आवरणरहित होकर ही प्रभु-मिलन को काम्य मानते हैं। ब्रज की गोपियों ने भी कृष्ण को तभी प्राप्त किया था, जब उन्होंने पूर्ण नग्नावस्था को सहर्ष स्वीकार कर लिया था। द्रौपदी के रक्षार्थ कृष्ण तभी आए थे जब उसने अपनी घोड़ी की गाँठ का ध्यान छोड़कर दोनों हाथ ऊँचे करके मुरारी को पुकारा था। अहकाररहित साधक मन ही वस्तुतः पत्तेरहित बेल है।

(VII) उलटवाँसी की पद्धति से कृच्छ्र साधनाओं (हठयोगी साधना) का खण्डन एव भक्ति से महारस की प्राप्ति की प्रेरणा है।

कबीर घोड़ा प्रेम का, चेतनि चढि असवार ।
ग्यान षड़ंग गहि काल सिरि, भली मचाइ मार ॥२७॥

सन्दर्भ—भक्ति मार्ग की साधना का वर्णन है ।

भावार्थ—कबीरदास जी जीवात्मा को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि तू चैतन्य होकर प्रेम के घोड़े पर सवार हो जा और अपने हाथ में ज्ञान रूपी तलवार को ग्रहण कर काल से डटकर सामना करने को तैयार हो जा क्योंकि काल (मृत्यु) तुम्हारे सिर पर खड़ा हुआ युद्ध करने को तैयार है ।

शब्दार्थ—चेतनि = चैतन्य होकर । षड़ंग = खड्ग = तलवार ।

कबीर हीरा बणजिया, महँगे मोल अपार ।
हाड़ गला, माँटी गाली, सिर साटै व्यौहार ॥२८॥

सन्दर्भ—ईश्वर रूपी सौदा बड़ी कठिनता से क्रय किया जाता है । उसी की कठिनता का वर्णन करते हुए कबीर दास जी कहते हैं कि—

भावार्थ—ईश्वर रूपी हीरे का वाणिज्य (सौदा) मैंने बहुत ही मंहगे मूल्य पर किया है । इस सौदे के तय करने में मुझे अपने शरीर की हड्डियाँ गला देनी पड़ी, मिट्टी से निर्मित शरीर भी जलाकर क्षीण कर देना पड़ा और अन्त में मुझे अपना सिर भी काट देना पड़ा ।

शब्दार्थ—बणजिया = मोल लिया । साटै = तय किया ।

जेते तारे रैणिके, तेते बैरी मुझ ।
धड़ सूली सिर कंगुरै, तऊ न बिसारौं तुझ ॥२९॥

सन्दर्भ—ईश्वर के इस ससार में बहुत ही अधिक दुश्मन होते हैं । उसी का वर्णन करते हुए कबीर दास जी कहते हैं कि—

मेरे शत्रुओं की संख्या उतनी ही है जितने आकाश में रात्रि के समय तारे दिखाई देते हैं । यदि मेरे घड़ को सूली पर लटका कर और सिर कंगुरे पर टांग दिया जाय तो भी मैं ईश्वर को विस्मृत नहीं कर सकता हूँ ।

जे हारया तौ हरि सवाँ, जो जीत्या तौ अब ।
पारब्रह्म कूँ सेवतां, जे सिर जाइ तौ जाव ॥३०॥

सन्दर्भ—ईश्वर के समक्ष हारने और जीतने दोनों प्रकार से लाभ ही लाभ है ।

भावार्थ—ईश्वर की सेवा में यदि सिर भी चला जाय तो ठीक है कोई चिंता की बात नहीं है । यदि हार भी जाऊंगा तो उस सर्वशक्तिमान् ईश्वर से हारने में

भावार्थ—कबीर दास जी कहते हैं कि जीवात्मा रूपी सती स्त्री साधना रूपी चिता पर चढ़कर पुकारती है कि ये मित्र श्मशान । (साधनास्थल) सुन अब तो मैं और तुम ही रह गए । अब तक जो साथी यहाँ तक आए भी थे वे भी चले गए हैं । साधना के क्षेत्र में केवल साधक और साधना स्थली की आवश्यकता है और मित्रों का कोई काम नहीं ।

शब्दार्थ—सलि = चिता । समान = श्मशान । निदान = अन्त में ।

सती विलारी सत किया, काठों सेज विछाई ।

ले सूती पिव आपणां, चहुँ दिसि अगनि लगाइ ॥३४॥

सन्दर्भ—सती स्त्री के सती होने का दृष्टान्त देकर कबीर दास जी आत्मा को परमात्मा से दादात्म्य करने की सलाह देते हैं ।

भावार्थ—आत्मा रूपी सती स्त्री साधना की कठोर सेज को विछाकर उस पर अपने प्रियतम (परमात्मा) को लेकर सो गई और फिर चारों ओर से कठिन धाग लगा दिया । इस प्रकार अपने सतीत्व का परिचय दे रही है ।

शब्दार्थ—विलारी = विचारी ।

सती सूर तन साहि करि, तन मन कीया घांण ।

दिया महौला पीव कू, तब मड़हट करै बषाण ॥३५॥

सन्दर्भ—सती स्त्री एवं शूरवीर के गुणों की प्रशंसा सभी करते हैं ।

भावार्थ—सती और शूरवीर के समान ही आत्मा ने अनेक कष्टों को सहन करके मन और शरीर की धानी बनाकर मथ दिया । और साधक ने अत्यन्त परिश्रम से महिरी बनाकर परमात्मा रूपी प्रियतम को खिला दिया जिसे देखकर श्मशान तक उसके गुणों का बखान करने लगा ।

शब्दार्थ—महौला = महिरी । मड़हट = मरघट, श्मशान । बषाण = बखान ।

सती जलन कूँ नीकली, पीव का सुमिरि सनेह ।

सबद सुनत जीव निकल्या, भूलि गई सबदेह ॥३६॥

सन्दर्भ—आत्मा जब परमात्मा के शब्द को सुन लेती है तो वह तुरन्त उससे मिलने का प्रयास करती है । उसे इस ससार से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है ।

भावार्थ—सती स्त्री रूपी आत्मा अपने प्रियतम रूपी परमात्मा का स्नेहपूर्वक स्मरण कर साधना के मार्ग में दग्ध होने के लिए निकली । ऐसे ही समय में परमात्मा का अनहदनाद सुनाई पड़ा जिसके सुनते ही आत्मा शरीर से अलग होकर परमात्मा

(२१५)

रांम नांम रंग लागौ, कुरग न होई ।

हरि रंग सौ रंग और न कोई ॥ टक ॥

और सबै रंग इहि रंग थै छूटै, हरि रंग लागे कदे न खूटै ॥

कहै कबीर मेरे रंग रांम राई, और पतग रंग उड़ि जाई ।

शब्दार्थ—कुरग=फीका, भद्दा । कदे=कभी । खूटै=छूटता है । पतग =

पतगी, कच्चा ।

सन्दर्भ—कबीरदारा राम-प्रेम की महिमा का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ —राम नाम के प्रति प्रेम हो जाने पर अन्य किसी के प्रति आसक्ति उत्पन्न नहीं होती है । राम प्रेम एक ऐसा रंग है जो कभी हल्का नहीं होता है । भगवान के प्रेम के समान अन्य किसी का प्रेम नहीं है । हरि-प्रेम हो जाने पर अन्य समस्त वस्तुओं के प्रति आकर्षण समाप्त हो जाता है । हरि प्रेम का रंग एक बार लगने पर कभी भी कहीं छूटता है । कबीर कहते हैं कि भगवान राम का प्रेम रूपी रंग मेरे ऊपर चढ़ गया है । अन्य समस्त रंग तो अस्थायी हैं । वे सब उड़ जाते हैं । अभिप्रेत यह है कि राम के प्रति प्रेम स्थायी रहता है । इसी से कबीरदास ने राम से प्रेम कर लिया है ।

अलंकार—(i) सभग पद यमक—रंग कुरग ।

(ii) अनन्वय - हरि रंग सौ कोई ।

(iii) अनुप्रास—अन्तिम दो चरण ।

(iv) विशपोक्ति की व्यजना—कदे न खूटै ।

(v) रूपक—हरि रंग ।

(२१६)

कबीरा प्रेम कूल ठरै, हमारे रांम बिनां न सरे ।

बांधि लै धोरा सीचि लै क्यारी ज्युं तूं पेड़ भरै ॥ टक ॥

काया बाड़ी मांहे माली, टहल करै दिन राती ।

कबहू न सोवै काज सवारे, पाणतिहारी माती ॥

सेभं कूवा स्वांति अति सीतल, कबहू कुवा वनही रे ।

भाग हमारे हरि रखवाले, कोई उजाड़ नहीं रे ॥

गुर बीज जमाया कि रखि न पाया, मन की आपदा खोई ।

औरै स्यावढ करै षारिसा, सिला करै सब कोई ॥

जौ घरि आया तौ सब ल्याया, सबही काज सवारचा ।

कहै कबीर सुनहु रे सतौ, थकित भया मै हारचा ॥

शब्दार्थ—कूल=किनारा । सरे=काम चलता है । धोरा=धुरा, सिंचाई के लिए बनाई गई बड़ी नाली । टहल=सेवा । पाणतिहारी=पानी को डधर-उधर मोड़ कर क्यारियों में पानी देने वाला । माती=मस्त । कि रखि न पाया=किरखि

शब्दार्थ^१—छानै = छिपकर ।

कबीर हरि सबकूँ भजै, हरि कूँ भजै न कोइ ।
जब लग आस सरीर की, तब लग दास न होइ ॥४८॥

सन्दर्भ—ईश्वर को कोई भजे चाहे न भजे वह सबका ध्यान रखता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि ईश्वर तो सभी प्राणियों का ध्यान रखता है भले ही सभी प्राणी उसका स्मरण न करे । उसका स्मरण तो विरले ही करते हैं । जब तक व्यक्ति को शरीर की आशा रहती है तब तक वह ईश्वर का भक्त हो ही नहीं सकता । ईश्वर का भक्त होने के लिए तो संसार के आकर्षणों से विमुक्त होना ही पड़ेगा ।

आप सवारथ मेदनी, भगत सवारथ दास ।

कबीरा राम सवारथी, जिनि छाड़ी तनकी आस ॥४९॥६६३॥

संदर्भ—संसार स्वार्थ से परिपूर्ण है । प्रत्येक व्यक्ति के कार्य किसी न किसी स्वार्थ से परिपूर्ण होते हैं ।

भावार्थ^१—यह सम्पूर्ण संसार स्वार्थ से परिपूर्ण है यहाँ तक कि ईश्वर भक्त को भी भक्ति का स्वार्थ रहता ही है । कबीरदास भी स्वार्थी ही हैं । उनके स्वार्थ में अन्तर है और वह यह कि वे केवल ईश्वर के ही स्वार्थी हैं और प्रभु प्राप्ति के लिए कबीर ने शरीर के मोह को भी छोड़ दिया है ।

शब्दार्थ^१—मेदनी, मेदिनी = पृथ्वी (संसार से तात्पर्य है)

४६. काल कौ अंग

भूठे सुख कौ सुखकहै, मानत है मनमोद ।

खलक चवीणा कालका, कुछ मुख में कुछ गोद ॥१॥

सन्दर्भ—संसार के मायावी मनुष्य भूठे सुखों में ही उलझे रहते हैं और काल अपने विशाल हाथों से उन्हें पकड़-पकड़ कर खा जाता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि ऐ माया में लित मनुष्यो ! तू नश्वर और मिथ्या सुखों को वास्तविक समझकर प्रसन्नता का अनुभव करते हो । वास्तविकता तो यह है कि यह सम्पूर्ण संसार काल (मृत्यु) का चबेना है । कुछ तो उसने

आज कहै हरि काल्हि भजौगा, काल्हि कहै फिर काल्हि ।
आजही काल्हि करंतड़ां, औसर जासी चालि ॥५॥

संदर्भ—ईश्वर-स्मरण में विलम्ब करना श्रेयस्कर नहीं होता है ।
भावार्थ—ससार के आकर्षणों में लिप्त प्राणी कहते हैं कि ईश्वर का स्मरण कल करूंगा और जब कल आ जाता है तो अगले कल के लिए बात फिर टाल दी जाती है और इस प्रकार आज कल के करते ही सम्पूर्ण जीवन का समय नष्ट हो जाता है वह वे ईश्वर का स्मरण कर नहीं पाते हैं ।

शब्दार्थ—करंतड़ां = करते करते ।

कबीर पल की सुधि नहीं, करै काल्हि का साज ।

काल्हि अच्यंता भड़पसी, ज्यूं तीतर कौ वाज ॥६॥

सन्दर्भ—इस जीवन में एक क्षण को भी कोई खबर नहीं है फिर भी लोग निश्चिन्त ही रहते हैं और मृत्यु के मुख में जाते हैं ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि एक पल की भी खबर नहीं कि क्षण भर में क्या हो जायगा किन्तु ऐ जीव ! सब कुछ भविष्य के लिए सज्जित करके रखता है । अचानक ही कल मृत्यु तेरे ऊपर उसी प्रकार भपटेगी जिस प्रकार तीतर के ऊपर वाज भपटकर उसे पकड़ लेता है और मार डालता है ।

विशेष—उपमा अलंकार ।

शब्दार्थ—अच्यता = अचानक ।

कबीर टग टग चोघतां, पल पल गई बिहाइ ।

जीव जंजाल न छाड़ई, जम दिया दमांमां आइ ॥७॥

सन्दर्भ—आयु धीरे धीरे ढलती रहती है किन्तु फिर भी मनुष्य पेट भरने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करता । वह बंधन से मुक्त भी नहीं हो पाता कि मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि जीव ने इस ससार में माया प्रसूत सुखों के दानों को चुगते अपने जीवन के एक-एक क्षण को नष्ट कर दिया । फिर भी जीव ने माया के जंजाल को नहीं छोड़ा यहाँ तक कि मृत्यु ने उसके सिर पर आकर कूच का डका बजा दिया ।

शब्दार्थ—टग टग = कण कण । चोघता = चुगते ।

मैं अकेला ए दोइ जणां, छेती नाहीं कांइ ।

जे जम आगै ऊबरौ, तो जुरा पहुँती आइ ॥८॥

जगु पेवन तुम देखन हारे । विधि हरि सभु नचावन वारे ।
सोउ न जानहि मर्म तुम्हारा । और तुम्हहि को जाननिहारा ।

—गोस्वामी तुलसीदास

(२१६)

गोव्यंदे तूं निरंजन तूं निरंजन तूं निरंजन राया ।
तेरे रूप नहीं रेख नहीं मुद्रा नहीं माया ॥ टेक ॥
समद नहीं सिषर नहीं, धरती नहीं गगनां ।
रवि ससि दोउ एकै नांही, वहत नहीं पवनां ॥
नाद नाही व्यंद नाहीं, काल नाहीं काया ।
जब तें जल व्यंब न होते, तब तू ही राम राया ॥
जप नाहीं तप नांही, जोग ध्यान नहीं पूजा ।
सिव नांही सक्ती नांही, देव नहीं दूजा ॥
रुग न जुग न स्यांस अथरवन, वेद नहीं व्याकरनां ।
तेरी गति तूहीं जानै, कबीर तो सरनां ॥

शब्दार्थ—निरंजन=निर्लिप्त । मुद्रा=भावसूचक मुखचेष्टा । समद=समुद्र । सिषर=शिखर, पर्वत या पर्वत की चोटी । व्यंद=विदु, शरीर ।

सन्दर्भ—कबीर भगवान को शब्दातीत अथवा वर्णनातीत बताते हैं ।

भावार्थ—हे परमात्मा ! तू सब प्रकार माया से अतीत एवं निर्लिप्त तथा अलक्ष्य है । न तुम्हारा कोई आकार है और न तुम्हारे आकार की कोई रूप-रेखा ही है । तुम्हें प्राप्त करने के लिए कोई शारीरिक चेष्टा एव मन की मुद्रा ही निर्धारित की जा सकती है । तुम्हे माया भी नहीं व्यापती है । न तुम्हारे शुद्ध स्वरूप में समुद्र है, न शिखर (पर्वत) है, न पृथ्वी है और न आकाश ही है । उसमें सूर्य तथा चन्द्र में एक भी नहीं है, न वहाँ पवन की गति है, न वहाँ शब्द है, न रूप है, न काल है, न काया है । तुम्हारे शुद्ध स्वरूप में न जल रह जाता है और न उसमें पडने वाला प्रतिबिम्ब रह जाता है । उस समय न जप रहता है न तप रहता है, न योग रहता है न ध्यान और उपासना का ही अस्तित्व रह जाता है । उस समय न शिव रह जाते हैं और न शक्ति रह जाती है । उस समय तेरे अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा देवता रह ही नहीं जाता है । उस समय ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा शब्द का प्रतिपादक व्याकरण कुछ भी नहीं रह जाते हैं । कबीरदास कहते हैं कि हे प्रभु ! अपनी लीला तू ही जानता है । मे तो केवल तेरी शरण में आया हूँ ।

अलंकार—अनुप्रास—आछन्त ।

विशेष—(1) अद्वैतवाद का सहज-स्वाभाविक प्रतिपादन है । अद्वैतावस्था में ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान का भेद मिट ही जाता है ।

(11) तू निरंजन... 'रामा—मन-वचन-कर्म तीनों से अगमता बताई है ।

(111) काव्योचित भाषा में 'नेति नेति' की शैली पर 'ब्रह्म' का प्रतिपादन है ।

शब्दार्थ—ऊर्या = उदित हुआ । आथवै = अस्त होता है । चिरिया = घुना गया ।

जो पहर्या सो फाटिसी, नांव धर्या सो जाइ ।
कवीर सोई तत्त गहि, जौं गुर दिया वताइ ॥१२॥

सन्दर्भ—संसार की नश्वरता पर दुख प्रकट करते हुए कवीरदास जी प्रभु-भक्ति करने की सलाह देते हैं ।

भावार्थ—जो नया वस्त्र शरीर पर धारण किया जाता है वह कभी न कभी अवश्य फटता है । जिम नाम को जीव ने इस संसार में रखा है वह नाम भी उसकी मृत्यु के बाद धीरे-धीरे समाप्त हो जायगा । इसलिए कवीर दास जी कहते हैं कि जिस तत्व को सद्गुरु ने बताया है उसी तत्व को ग्रहण करना चाहिए ।

शब्दार्थ—तत्त = तत्व ।

निधड़क बैठा राम विन, चेतनि करै पुकार ।
यहु तन जल का बुदबुदा, विनसत नार्हीं वार ॥१३॥

संदर्भ—मनुष्य का शरीर पानी के बुदबुदे के समान नश्वर है अतः मनुष्यो को प्रभु भक्ति करनी चाहिए ।

भावार्थ—जीवात्मा को अज्ञानावस्था में पड़ा हुआ देखकर चैतन्य अर्थात् ज्ञानी उससे पुकार कर कहता है कि प्रभु-भक्ति के बिना तू निधड़क क्यों बैठा है । यह शरीर पानी के बुदबुदे के समान है जिसको नष्ट होने में देर नहीं लगती । इसलिए तू प्रभु भक्ति कर ।

शब्दार्थ—विनसत = नष्ट होते हुए । वार = विलम्ब ।

पांणी केरा बुदबुदा इसी हमारी जाति ।
एक दिनां छिप जांहिंगे तारा ज्यूँ परभाति ॥१४॥

संदर्भ—जीव की नश्वरता का संकेत है ।

भावार्थ—कवीरदास जी कहते हैं कि हम मनुष्यो की जाति पानी के बुदबुदो के समान ही क्षण भंगुर होने वाली है । तारे रात्रि भर आकाश में छिपके रहते हैं और प्रभात होते ही अदृश्य हो जाते हैं उसी प्रकार मनुष्य भी कुछ दिन संसार में रह कर यहाँ से चला जायगा ।

शब्दार्थ—पांणी = पानी । परभाति = प्रभात ।

विशेष—उदाहरण अलंकार ।

कवीर यहु जग कुछ नहीं, पिन पारा पिन मीठ ।
काल्हि जु बैठा मांड़ियां, आज मसाणां दीठ ॥१५॥

सन्दर्भ—जीव नाना प्रकार से अपने ऊपर अभिमान करता है किन्तु उसे यह पता नहीं कि मृत्यु किस समय उसके अस्तित्व को नष्ट कर दे ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि हे जीव ! तू गर्व किस बात का करता है, तेरे बालों को तो मृत्यु अपने हाथों में पकड़े हुए है । यह भी पता नहीं कि वह तुझको कहाँ पर मारेगी घर में अथवा परदेश में ।

शब्दार्थ—गरबियौ = गर्व करता है ।

कबीर जंत्र न बाजई, टूटि गये सब तार ।

जंत्र विचारा क्या करै, चले बजावण हार ॥२०॥

सन्दर्भ—शरीर रूपी तंत्री प्राणवायु के निकल जाने पर नहीं बजती है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि जीवात्मा की शरीर रूपी तंत्री बज नहीं रही है । उसके समस्त तार टूट गये हैं । जब इसको बजाने वाला प्राणवायु ही निकल गया तो फिर इस यन्त्र का इसमें क्या दोष ? वह बाजे कैसे ।

शब्दार्थ—जत्र = पंच तत्वों से निर्मित भौतिक शरीर । बजावणहार = बजाने वाला प्राणवायु ।

छवणि धवन्ती रहि गई, बुझि गये अङ्गार ।

अहरणि रह्या ठमूकड़ा, जब उठि चले लुहार ॥२१॥

संदर्भ—शरीर से आत्मा स्वरूप प्राण वायु के निकल जाने पर उसके समस्त क्रिया कलाप बन्द हो जाते हैं ।

भावार्थ—जब इस भौतिक शरीर से आत्मा रूमी लुहार चला जाता है तो शरीर कान्ति निस्तेज हो जाती है । शरीर रूपी भट्ठी की धौंकनी पड़ी ही रह गई इसके अंगारे बुझ गए अर्थात् गरमी निकल गई । घड रूपी निहाई वही पर पड़ी रह गई । सारे साज सामान व्यर्थ पड़े रह गए । सब का सम्बन्ध शरीर में आत्मा के रहने तक ही था ।

शब्दार्थ—छवणि = भट्ठी, अहरणि = निहाई । ठमूकड़ा = हथौड़ा ।

पंथी ऊभा पंथ सिरि, बुगचा बाँध्या पूठि ।

मरणां मुह आगै खड़ा, जीवण का सब भूठ ॥२२॥

सन्दर्भ—मरण निकट होने पर जीवन में सब कुछ मिथ्या प्रतीत होता है ।

भावार्थ—आत्मा रूपी पथिक अपनी पीठ पर कर्मों की पोटली बाँधकर अनन्त पथ के लिए प्रस्तुत खड़ा है । मृत्यु उसके सम्मुख खड़ी है इसलिए उसे अब जीवन की सभी बातें निस्सार प्रतीत होती हैं ।

चतुर हैं—इससे प्रत्येक कर्म का पूरा हिगाव देना पडता है यानी यहाँ काष्ण-कार्य का नियम ऐसे निर्वाध रूप में कार्य करता है कि प्रत्येक कर्म का उपयुक्त फल मिलता है। यहाँ एक ऐसा नगर है जहाँ रहने वाले प्रत्येक जीवात्मा का धर्म भ्रष्ट होगया है और यहाँ पाँच किसान (नेत्र, कान, नाक, मुँह तथा त्वचा) रहते हैं, जो जीव रूपी स्वामी का कहना नहीं मानते हैं। इस गाँव का ठाकुर काल समय-समय पर इस शरीर रूपी खेत को नापता रहता है और मन रूपी पटवारी अपना हिस्सा नहीं छोड़ना है। भाव यह है कि काल तो प्रत्येक क्षण सिर पर सवार रह कर यह देखता है कि शरीर कहीं खराब तो नहीं हो गया है और मन रूपी पटवारी मुझसे शरीर का व्यौरा माँगता रहता है। वस्तुस्थिति यह है कि यह शरीर प्रत्येक क्षण क्षीण होता रहता है और इस कारण काल ठाकुर का भय मुझे हर घड़ी सताता रहता है। साथ ही पटवारी के डर के कारण मैं मनचाहे ढंग पर शरीर का उपभोग भी नहीं कर सकता हूँ। मेरे मन ने मेरे इस शरीर को विषय-वासनाओं के जर्जर बंधनों से बुरी तरह जकड़ दिया है जिसके कारण मेरे शरीर को अत्यधिक कष्ट होता रहता है। इस गाँव का उधार देने वाला मेहता अर्थात् प्रारब्ध कर्म अत्यन्त दुष्ट है और क्रियमाण कर्मरूपी बलाही (कर्मचारी) भी बड़ा दुष्ट है। वह मुझे विषय मार्ग में उलझाता रहता है। वह तो अच्छे-अच्छे जमींदारों के सिर के बाल भी नोच लेता है—उनसे प्रेम एवं सद्वृत्तियों की निधि छीन कर उन्हें दरिद्र कर देता है। इस नगर का बुद्धि-रूप दीवान भी व्यथाओं के प्रति सहानुभूति रखता हुआ न्याय नहीं कर पाता है। पिछले जन्मों का अनुभव यह है कि शरीरात होने के अवसर पर धर्मराज ने जब मुझसे इस शरीर का पूरा हिस्साव-किताब मागा तो मेरी ओर बहुत बकाया निबला था। उम समय मेरे शरीर रूपी खेत को नष्ट करने वाले इन्द्रिय रूपी पाँचों किसान मुझे छोड़ कर भाग गए और हे राम ! बेचारा जीवात्मा ही सब प्रकार के बन्धनों से बाँध दिया गया। इसीलिए कबीरदास कहते हैं कि हे साधुओं ! मेरा कहना गाँठ बाँधलो और भगवान (हरि) का भजन करके इस भवसागर से पार उतरने के लिए वेडा बाँधो। इसके पश्चात् वह भगवान से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि हे राम ! इस बार तो इस जीव (मुझको) क्षमा कर दीजिए। अगले जन्म में मैं आपका पूरा हिस्साव चुकता कर दूँगा—अपने शरीर को विषय-भोगों से बचाकर अधिक अच्छा करके रखूँगा।

अलंकार—(1) सागरूपक—पूरा पद।

(11) रूपकातिशयोक्ति—गाइ।

विशेष—(1) सन्त सम्प्रदाय के अनेक प्रतीकों का प्रयोग है।

(11) कबीरदास ने ज्ञानेन्द्रियों के नाम इस प्रकार लिए हैं मानो उनके प्रति आक्रोश व्यक्त कर रहे हों।

(111) पापकर्म करने से शरीर क्षीण हो जाता है। इसी को काल द्वारा खेत का नापना कहा गया है। गर्दन नापने की भाँति शरीर नापना एक नया मुहावरा

वरियां बीती बल गया, अरु बुरा कमाया ।

हरि जिनि छाड़ै हाथ थैं, दिन नैड़ा आया ॥२६॥

सन्दर्भ—यदि जीवन भर प्रभु भक्ति न हो सके तो अन्तिम समय में तो अवश्य ही भक्ति कर लेनी चाहिए ।

भावार्थ—इस जीवन का समय नष्ट हो गया शक्ति क्षीण हो गया किन्तु अब तक बुरे कर्म ही किए गए अच्छे कार्य नहीं हो सके हैं । अब जीवन का समय निकट आ गया है अब भगवान को अपने हाथ से मन जाने दो ।

शब्दार्थ—दिन नैड़ा आया = मृत्यु निकट आ गई ।

कबीर हरि सँ हेत करि, कूड़ै चित्त न लाव ।

वांध्या बार खटीक कै, ता पसु किनी एक आव ॥२७॥

सन्दर्भ—जीवन में प्रभु से प्रेम कर बुरी भावनाओं का परित्याग करना चाहिए ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि ऐ संसारी मनुष्यो ! तुम प्रभु (ईश्वर) से जो अपना प्रेम का नाता जोड़ो और बुरी भावनाओं को अपने चित्त में भो न आने दो । जिस प्रकार खटिक (बधिक) के दरवाजे पर बंधे हुए पशु की आयु का कोई भरोसा नहीं कि वह किसी भी समय काटा जा सकता है उसी प्रकार तुम्हारा भी कोई भरोसा नहीं है काल पता नहीं कब तुम्हें चट कर जाय ।

शब्दार्थ—हेत = प्रेम । कूड़ै = सांसारिक विषय वासनाएं । आव = आयु ।

विष के बन में घर किया, सरप रहे लपटाइ ।

ताथै जियरै डर गह्या, जागत रैणि बिहाइ ॥२८॥

सन्दर्भ—जीवात्मा नाना प्रकार की दुर्वासनाओं से लिप्त रहता है और भय के कारण अहर्निश जागता रहता है ।

भावार्थ—इस जीवात्मा का निवास इस संसार में उसी प्रकार है जिस प्रकार विष-वन में उसका घर बना हो और उसमें सांसारिक दुर्वासनाओं के सर्प चारों ओर लिपटे रहते हैं अर्थात् जीवात्मा में मोह, मत्सर, लोभ आदि व्याप्त रहते हैं । इसलिए जीवात्मा इनसे भयभीत होकर अज्ञान की रात को जाग करके ही व्यतीत करता है ।

कबीर सब सुख राम है, और दुखों की रासि ।

सुर नर मुनिवर असुर सब, पड़े काल को पासि ॥२९॥

सन्दर्भ—ईश्वर के नाम स्मरण के बिना इस संसार में सभी कुछ निश्चार है ।

४७. जावनी कौ अङ्ग

जहाँ जुरा मरण व्यापै नहीं, मुवा न सुणिये कोइ ।
चलि कवीर तिहि देसड़ै, जहाँ वैद विधाता होइ ॥१॥

सन्दर्भ—जिस देश में जरा और मरण का भय नहीं है कवीर वही चलने की सलाह देते हैं ।

भावार्थ—जहाँ पर वृद्धापा और मृत्यु व्याप्त नहीं हो पाती है और किसी की मृत्यु होते नहीं सुनी जाती है । कवीर दास जी कहते हैं कि ऐ जीवात्मा ! तू उसी देश को चल जहाँ किसी भी प्रकार की व्याधि न व्याप्त हो सके और यदि हो जाय तो स्वयं विधाता, प्रभु ही वैद्य बनकर औषधि भी कर दे ।

शब्दार्थ—जुरा = जरावस्था, वृद्धापा ।

कवीर जोगी वनि बस्यां, षणि खाये कंद मूल ।
नां जाणौं किस जड़ी थै, अमरभये असथूल ॥२॥

सन्दर्भ—भक्त की अनुपम जड़ी वृटी से जीव अमर हो जाता है ।

भावार्थ—कवीर दास जी कहते हैं कि जीवात्मा योगी बनकर इस संसार रूपी वन में रहता है और नाना प्रकार के कंद मूलादिको खोद करके खाता रहता है किन्तु पता नहीं किस जड़ी वृटी के प्रभाव से (ईश्वर भक्ति रूपी जड़ी से) स्थूल शरीर अमर हो जाता है ।

शब्दार्थ—अस थूल = स्थूल शरीर ।

कवीर हरि चरणौं चल्या, माया मोह थै दूटि ।
गगन मंडल आंसण किया, काल गया सिर कूटि ॥३॥

सन्दर्भ—ईश्वर के चरणों में अनुराग होने से जीवात्मा मृत्यु के चक्र से छूट जाता है ।

भावार्थ—कवीर दास जी कहते हैं कि सांसारिक बन्धनों का परित्याग करके मैं ईश्वर के चरणों में गया तब माया और मोह से नाता टूट गया । मैंने गगन मण्डल (शून्य, ब्रह्माण्ड) में अपना आसन लगा दिया जिसे देखकर काल भी सिर कूटने लगा अर्थात् जीवात्मा मृत्यु के चक्र से छूटकर निकट गया ।

यहु मन पढ़कि पछाड़ि लै, सब आपा मिटि जाइ ।
पंगुल हँ पिवपिव करै, पीछै काल न खाइ ॥४॥

नक्षत्र के जल के लिए प्यासा रह कर व्याकुल रहता है उसी प्रकार आपके अभाव मे मेरा हृदय रात-दिन बेचैन बना रहता है । कबीरदास की जीवात्मा कहती है कि राम से मिलने के लिए मुझे अत्यधिक विकलता है । हे स्वामी राम ! आप शीघ्र ही मुझ से मिलें ।

अलंकार— (1) रूपक— विरह-अग्नि ।

(II) वक्रोक्ति—क्यूँ होइ सहाई ।

(III) उदाहरण—निस वासुर पियासा ।

(IV) पदमैत्री—जराई सराई, उदासा पियासा ।

विशेष—(1) पद सख्या २२४ के समान ।

(II) समभाव के लिए देखे—

बलि साँवरी सूरत मोहनी मूरत, आँखिन को कबौं आइ दिखाइए ।

चातक सी मरै प्यासी परी, इन्हें पानिप रूप सुधा कबौं प्याइए ।

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

(III) सगुण और साकार तथा अवतारी एव शरीरधारी भगवान की भक्ति के वर्णन की भाँति निर्गुण और निराकार की भक्ति की व्यजना की गई है ।

(२२६)

मै सासने पीव गौंहनि आई ।

साँई सगि साध नहीं पूगी, गयौं जोवन सुपिना की नाँई ॥ टेक ॥

पंच जनां मिलि मडप छायाँ, तीनि जनां मिलि लगन लिखाई ।

सखी सहेली मगल गाँवै, सुख दुख माथै हलद चढ़ाई ॥

नांनां रंगै भाँवरि फेरी, गाँठि जोरि बाँवै पति ताई ।

पूरि सुहाग भयौ बिन दूलह, चौक के रंगि धर्यौ सगौ भाई ॥

अपने पुरिष सुख कबहूँ न देख्यौ, सनी होत समझी समझाई ।

कहै कबीर हूँ सर रचि मरिहूँ, तिरौं कत ले तूर बजाई ॥

शब्दार्थ— गौंहनि=गौने । पंच जनां=पांच महाभूत तीनि जनां=तीन गुण (सत्, रज, तम) । सखी सहेली=वासना व आशा । हलदी=सुख-दुख अथवा सासारिक जीवन । बाँवै=सचित कर्म रूपी बाबा । सर=चिता । सगा भाई=मन ।

संदर्भ—कबीर कहते हैं कि जीवात्मा किस प्रकार स्थूल शरीर को धारण करती है और ससार मे लिप्त रहने के बाद वह जीवन की निरर्थकता का अनुभव करती है ।

भावार्थ—अपने प्रियतम के प्रणय का आनंद लेने के लिए मैं (जीवात्मा) इस जगत रूपी ससुराल मे गौने आई हूँ । परन्तु पति के साथ आनंद लेने की मेरी आकांक्षा तृप्त नहीं हुई और यह जीवन रूपी यौवन यो ही स्वप्न की भाँति व्यतीत होगया ।

सासारिक पद्धति के विवाह के रूपक का निर्वाह करते हुए कबीर कहने हैं

भावार्थ—समस्त फलो को देने वाला स्वामी (प्रभु) ही साक्षात् वृक्ष है और वह दया के फल याचको को प्रदान करता है जिस फल से समस्त जीवों का कल्याण होता है। ऐसा सुन्दर वृक्ष और सुन्दर फल होते हुए भी जीवात्मा रूपी पंक्षी अन्यत्र इससे भी अच्छा फल पाने के लिए भटकते रहते हैं अर्थात् प्रभु-भक्ति छोड़कर सुख प्राप्ति के लिए अन्य प्रयास करते हैं।

शब्दार्थ—दिसावरा = विदेश, अन्यत्र।

४८. अपारिष कौ अंग

पाइ पदारथ पेलि करि, कंकर लीया हाथि ।

जोड़ी बिछुटी हंस की, पड़या बगां कै साधि ॥१॥

सन्दर्भ—माया मोह के कारण जीवात्मा सासारिक आकर्षणों में लिप्त रहती है।

भावार्थ—अज्ञानरूपी आकर्षण के वश होकर जीवात्मा ईश्वररूपी रत्न को पाकर भी फेंक देता है और कंकड़ के समान व्यर्थ की वस्तुओं पर आकर्षित होकर हाथ बढ़ाता है। वह, हंस के समान पवित्र आचरण रखने वाले जीवन्मुक्त व्यक्तियों से विमुक्त होकर, नीच आचरण करने वाले पाखण्डी एवं बगुला भक्तों के फेर में पड़ जाता है।

शब्दार्थ—कंकर = कंकड़, व्यर्थ की वस्तु। बगां = बगुला।

एक अचंभा देखिया, हीरा हाटि बिकाइ ।

परिषण हारे बाहिरा, कौड़ी बदलै जाइ ॥२॥

सन्दर्भ—मोहाभिभूत जीवात्मा प्रभु के वास्तविक गुणों का मूल्यांकन नहीं कर पाता है।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि इस संसार की हाट में प्रभु-भक्ति रूपी हीरा विक रहा है। इस हीरे को परखने वाले जौहरी आसानी से नहीं मिलते हैं और जो मिलते हैं वे इसको परख नहीं पाते हैं जिसके कारण कौड़ी के मूल्य—साधारण मूल्य पर विक रहा है।

शब्दार्थ—बाहिरा = अज्ञान।

४६. पारिष को अंग

जब गुण कूँ ग्राहक मिलै, तब गुण लाख बिकाय ।
जब गुण को ग्राहक नहीं, तब कौड़ी बदले जाय ॥१॥

सन्दर्भ—गुणवान मनुष्य की प्रशंसा गुणवानों के समाज में ही हो सकती है, मूर्खों के समाज में उसकी पूछ कोई नहीं करता ।

भावार्थ—जब किसी गुण का वास्तविक जानने वाला ग्राहक मिल जाता है तो वह गुण अमूल्य समझकर लाखों रुपये में बिक जाता है किन्तु यदि उसे गुणों का पारखी ग्राहक नहीं मिलता है । तो वह नगण्य समझकर कौड़ियों के मूल्य में बिकती है ।

कबीर लहरि समुंद की, मोती विखरे आइ ।
बगुला मंभन जाँणई, हंस चुणे चुणि खाइ ॥२॥

सन्दर्भ—गुणों की वास्तविकता गुण ग्राहक ही समझ पाते हैं और उससे लाभ उठा लेते हैं ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि समुद्र की लहरों ने किनारे पर मोती विखेर दिये किन्तु मोतियों के गुणों को न जानने वाले बगुले समुद्र में नहाने का ही आनन्द लेते रहे । उन्होंने मोतियों को देखा तक नहीं किन्तु हंस उसकी महत्ता समझ कर उसे खाने लगे । इसी प्रकार अज्ञानी जीव मोहांधकार में पड़े हुए विषय-वासना में ही लगे रहते हैं और सजानी जीव प्रभु-भक्ति करते हैं ।

शब्दार्थ—मंभन = मज्जन । चुणे चुणि = चुन चुन कर ।

हरि हीरा जन जौहरी, ले ले मांडिय हाटि ।
जबर मिलैगा पारिषू, तब हीरा की साटि ॥३॥७४०॥

संदर्भ—हीरे की परख जौहरी ही कर पाते हैं ।

भावार्थ—ईश्वर हीरा है और उसकी परख करने वाले जौहरी हैं उनके भक्त जिन्होंने उसको सजा-सजाकर बाजार लगा रखी है । किन्तु इस हीरे की कद्र तभी होगी, इसका वास्तविक मूल्य तभी लगेगा जब इसकी परख करने वाला कोई सच्चा भक्त मिलेगा ।

शब्दार्थ—जबर = जब भी ।

अन्तिम पक्ति का अर्थ एक अन्य प्रकार भी किया जा सकता है। कबीर कहते हैं कि मैंने यह जीवन सूत्र अच्छी प्रकार काता है। मुझे यह सामान्य चरखा नहीं अपितु परम पद का दाता—साधन घाम मोक्ष का द्वार—प्रतीत हुआ है।

अलंकार—(i) सागरूपक—पूरे पद में।

(ii) पुनरुक्ति प्रकाश लै लै।

(iii) छेकानुप्राय—चारि चमरख, काति कातै।

(iv) गूढोक्ति—निसतरिवो कैसें।

(v) अपन्हुति—रहटा नहीं परम पद दाता।

(vi) पदमैत्री—लाई चलाई, ऐसे कैसें, काता दाता।

विशेष—(i) पाठान्तर—चीथी पक्ति—द्यो माल तागा वरिस दिन कुकुरी, लोग वोलै भल कातल बपुरी।

(ii) सासू इसका अभिप्राय गुरु के उपदेश-श्रवण से उत्पन्न 'बोधवृत्ति' भी हो सकता है।

(iii) विन कातै निवतरिवो कैसें—इसका अभिप्राय यह भी हो सकता है—मनन, निदिध्यासन, निरन्तर के नाम स्मरण एव अनुराग के बिना इस जीवन में निस्तार नहीं है।

(iv) कबीर जुलाहे का काम करते थे। यहाँ उन्होंने जुलाहे के काम आने वाली सामग्री को लेकर प्रतीक-विधान किया है। यह प्रतीक विधान सर्वथा सार्थक और सफल है। जीवन सचमुच एक चरखा है जिसकी सार्थकता सुन्दर सूत कातने में ही है। ज्ञान और भक्ति मय जीवन ही मानव-योनि की सार्थकता है। मानव-तन बड़े भाग्य से मिलता है। यह पाप का हेतु भी हो सकता है और मोक्ष का द्वार भी बनाया जा सकता है। कबीर कहते हैं कि मैंने इसको परम पद प्राप्ति का साधन बना लिया है। तुमभी मेरे अनुभव से लाभान्वित होने का प्रयत्न करो।

(२२६)

अब की धरी मेरो घर करसी,

साध सगति ले मोकों तिरसी ॥ टेक ॥

पहली को चाल्यौ भरमत डोल्यौ, सच कबहूँ नहीं पायौ ।

अब की धरनि धरी जा दिन थै, सगलौ भरम गमायौ ॥

पहली नारि सदा कुलवती सासू सुसरा मानै ।

देवर जेठ सबनि की प्यारी, पिय को मरम न जानै ॥

अब की धरनि धरी जा दिन थै, पीय सूं बांन बन्युं रे ।

कहै कबीर भाग बपुरी कौ, आइरु राम सुन्युं रे ॥

शब्दार्थ धरी = पत्नी रूप में रखी हुई। घर करसी = घर बसाएगी।

तिरसी = तारेगी, उद्धार करेगी। चाल्यो = मारा हुआ, मताया हुआ। सच = सुख

कुलवती = कुलीन कुल की मर्यादा का ध्यान रखने वाली। सासू सुसरा = माया-

सन्दर्भ—संसार के सभी प्राणी अहं के कारण संसार में डूबे रहते हैं ।

भावार्थ—कबीरदास साधनावस्था में ब्रह्माण्ड में पहुँच गये और उड़कर इस संसार की सीमा को लाँघ गए । इस संसार के सभी प्राणी पशु, पक्षी, जीव जन्तु सब अहं की भावना के कारण संसार-सागर में डूब रहे हैं ।

शब्दार्थ—पखेरू = पक्षी ।

सद प्राणी पाताल का, काढ़ि कबीरा पीव ।

बासी पाषस पड़ि मुष, बिषै बिलंबे जीव ॥५॥

सन्दर्भ—संसार के सभी प्राणी विषय-वासना में फँसे रहते हैं और ज्ञान पर आधारित लोग ज्ञान रस पीते रहते हैं ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि ऐ साधना के मार्ग पर चलने वाले व्यक्तियों ! तुम पाताल का बहुत गहरे का सुन्दर स्वच्छ जल पियो किंतु विषय वासना के बासी जल पीकर कितने ही विषयी जीव अपनी आत्मा का हनन कर रहे हैं ।

शब्दार्थ—सद प्राणी = स्वच्छ जल ।

कबीर सुपिनै हरि मिल्या, सूताँ लिया जगाइ ।

आँखि न कीचौ डरपता, मति सुपना हँ जाइ ॥६॥

संदर्भ—ज्ञान को एक बार पा लेने पर ऐसा प्रयास करना चाहिए कि वह पुनः नष्ट न हो जाय ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि स्वप्न में मुझे परमात्मा से साक्षात्कार हो गया और उन्होंने मुझे सोते से जगा लिया, मोह निद्रा को समाप्त कर दिया । अब मैं ईश्वर के उस साक्षात्कार को सच्चा ही बनाए रखने के लिए आँखें ही नहीं बन्द करता हूँ ताकि फिर मैं मोह को निद्रा में न फँस जाऊँ । मुझे इस बात का भय है कि यह ईश्वर-कृपा स्वप्न-तुल्य दुर्लभ और अप्राप्य न हो जाये ।

शब्दार्थ—मति = ऐसा न हो कि ।

गौब्यंद के गुण बहुत हैं, लिखे जु हिरदै मांहि ।

डरता पांणी नां पीऊँ, मति वै धोये जाहिं ॥७॥

संदर्भ—ईश्वर-भक्त इस बात का प्रयास करता है कि उसका प्रभु प्रेम कही फीका न पड़ जाय ।

भावार्थ—परमात्मा के अनेक गुण मेरे हृदय पदल पर लिखे हुए हैं और इसी डर से मैं पानी भी नहीं पीता हूँ कि कही वह पानी पीने से धुल न जाय ।

शब्दार्थ—गौब्यंद = गोविंद ।

सन्दर्भ—प्रभु कृपा से जब माया का भ्रम दूर हो जाता है तो जीव को अपने विगत दिनों पर पश्चाताप होता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि ईश्वर की कृपा के परिणाम स्वरूप मेरा सारा भ्रम और सशय सभी नष्ट हो गया । अब मुझे उन दिनों के व्यर्थ जाने का कष्ट हो रहा है जो बिना प्रभु की भक्ति के ही व्यतीत हो गये हैं ।

कबीर आचण जाइ था, आगैँ मिल्या अज'च ।

ले चाल्या घर आपणैँ, भारी पाया सच ॥१२॥७५२॥

सन्दर्भ—जिस जीव का ईश्वर से सम्बन्ध हो जाता है उसको ईश्वर सन्तोष और शान्ति प्रदान कर देता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि मैं याचना के लिए अपने घर से निकल कर चला ही था कि मागं मे मुझे ईश्वर मिल गया जो कभी किसी से याचना ही नहीं करता है । वह ईश्वर मुझे अपने घर की ओर लेकर चल दिया जिससे मुझे अत्यन्त सन्तोष और शान्ति का अनुभव हो गया ।

शब्दार्थ—अजच = जो कभी याचना नहीं करता । संच = सुख शान्ति ।

५१. दया निरबैरता कौ अंग

कबीर दरिया प्रजल्या, दामैँ जल थल मोल ।

बस नाहिँ गोपाल सौ, बिनसा रतन अमोल ॥१॥

सन्दर्भ—कर्मों के कारण ससार मे प्राणियों को दुखों की अग्नि मे जलाना पड़ता है ।

भावार्थ—कबीरदासजी कहते हैं कि संसार रूपी नदी मे अग्नि की ज्वाला जल उठी जिससे जल, थल, भाड़ भूँखाड़ सभी कुछ जल उठा । उस वासना की अग्नि ने नाना प्रकार के अमूल्य रतनों को नष्ट कर दिया केवल गोपाल (परम प्रभु) पर उसका कोई बंध नहीं चला ।

शब्दार्थ—दामैँ = दग्ध हो गए । मोल = भाड़, भूँखाड़ ।

ऊँनमि बियाई बादली बसण लगे अँगार ।

उठि कबीरा धाह दे, दामत है संसार ॥२॥

नां हूँ परनी नां हूँ क्वारी, पूत जन्मूँ छौ हारी ।
 काली मू ड कौ एक न छोड्यौ, अजहूँ अकन कुवारी ॥
 बाम्हन कँ बम्हनेटी कहियौ, जोगी कँ घरि चेली ।
 कलमां पढि पढि भई तुरकनीं, अजहूँ फिरौँ अकेली ॥
 पीहरि जांऊं न रहूँ सासुरं, पुरषहि अंगि न लांऊं ।
 कहै कबीर सुनहु रे संतो, अंगहि अग न छूवांऊं ॥

शब्दार्थ—अवधू=अवधूत, वाम पंथी सिद्ध योगी । परनी=परिणीता, विवाहिता । क्वारी=अविवाहिता । काली मू ड कौ कामनी । छौहारी=दिन दिन, नित्यप्रति । अकन=अखण्ड । कलमा=वह वाक्य जो मुसलमानों के धर्म-विश्वास का मूल मन्त्र है - ला इलाह इल्लिलाह, मुहम्मद रसूलिल्लाह ।

सन्दर्भ—कबीरदास माया के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—हे नाथ पंथी सिद्ध योगी ! तुम इस रहस्य पर विचार करो जिससे यह ज्ञान हो सके कि चैतन्य पुरुष से इस माया-रूपी नारी का जन्म किस प्रकार हुआ ? माया स्वयं कहती है कि वह न विवाहिना है और न कुमारी ही है । मैं हमेशा अनेक पुत्रों को जन्म देती रहती हूँ । मुझ काली मू ड वाली (कामिनी) ने एक भी नवयुवक को नहीं छोड़ा है, अर्थात् प्रत्येक समझदार व्यक्ति पर अपना आवरण डाला है । इस प्रकार सबने मेरा उपभोग किया है, परन्तु फिर भी मैं अखण्ड कुमारी बनी हुई हूँ । मेरा प्रभाव सबव्यापी है । ब्राह्मण के घर मैं ब्राह्मणी कही जाती हूँ और योगी के घर चेली हूँ अर्थात् योगी को चेली बनकर घेरती हूँ । ला इलाह इल्लिलाह, मुहम्मद रसूल लिल्लाह धर्म-विश्वास मूलक मन्त्र को पढ़ कर मुसलमान विवाह करता है और मैं मुसलमानी के रूप में उसके यहाँ पहुँच जाती हूँ । न मैं पीहर जाती हूँ, और न सुसराल ही जाती हूँ—मेरा इहलोक और परलोक में भी आना-जाना नहीं है । मैं चैतन्य स्वरूप परम पुरुष के अंगों का स्पर्श नहीं करती हूँ अर्थात् शुद्ध बुद्ध चैतन्य से सर्वदा दूर रहती हूँ । कबीरदास कहते हैं कि हे संतो ! माया का यह कथन सत्य है कि मैं अपने अंगों को परमपुरुष के अंगों से नहीं छुआती हूँ । अभिप्राय यह है कि माया और चैतन्य एक दूसरे से सदैव असंपृक्त रहते हैं ।

अलंकार—(1) मानवीकरण—माया का ।

(II) विरोधाभास की व्यजना—नाहूँ परनी.....जन्मूँ
 छौहारी, काली-छोडयो . . कुवारी, फिरौँ अकेली ।

(III) उल्लेख—बाम्हनतुरकनी ।

(IV) पुनरुक्ति प्रकाश—पढि पढि ।

(V) रूपकातिशयोक्ति—पीहरि सासुरं ।

(VI) सभंग पद यमक—अगहि अग ।

भावार्थ—कबीर का कहना है कि जो भी आत्मा रूपी सुन्दरी अपने प्रियतम के गुणों को न स्मरणकर अन्य किसी का गुणानुवाद करती है उसके इस व्यभिचारमय आचरण पर उसका स्वामी प्रभु कभी भी उसे सम्मान प्रदान नहीं करता है ।

शब्दार्थ—भरतार = भर्ता, पति ।

जे सुन्दरि साईं भजै, तजै आन की आस ।

ताहि न कबहूँ पर हरै, पलक न चाड़ै पास ॥३॥

सन्दर्भ—जो स्त्री अपने पति पर ही आश्रित रहती है उसका पति उसे पल भर के लिए भी नहीं छोड़ता है ।

भावार्थ—जो आत्मा-रूपी सुन्दरी अपने स्वामी का ही भजन करती है और किसी की आशा छोड़ देती है उसका पति (परमात्मा) उसे कभी नहीं छोड़ता है, अपने पास से पल भर के लिए भी दूर नहीं करता है ।

शब्दार्थ—परि हरै = छोड़ना ।

इस मन कौं मैदा करौं, नान्हा करि करि पीसि ।

तव सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलकै सीस ॥४॥

सन्दर्भ—संयम के द्वारा ही परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि इस मन को संयम रूपी चक्की में पीस-पीस कर इतना महीन कर दूंगा कि वह मैदा हो जाय । तभी आत्मा रूपी सुन्दरी सुख की प्राप्ति करेगी और उसके सिर ब्रह्म ज्योति झलकती रहेगी ।

शब्दार्थ—सुन्दरी = आत्मा रूपी सुन्दरी ।

दरिया पार हिडोलना, मेल्या कंत मचाइ ।

सोई नारि सुलषणी, नितप्रति भूलण जाइ ॥१॥७६०॥

सन्दर्भ—पतिव्रता वही है जो नित्यप्रति पति के साथ रहकर उसकी सेवा करे ।

भावार्थ—संसार रूपी नदी के उस पार प्रभु का हिंडोला है जिस पर उन्होंने गलीचा विछा रखा है । वही आत्मा रूपी नारी शुभ लक्षणों वाली है जो नित्य प्रति उस प्रियतम के हिंडोले पर भूलने जाती है ।

शब्दार्थ—मचाइ = मचान, गलीचा ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि यदि ईश्वर की खोज करने वाला बिना सच्चे विश्वास के सिंघल द्वीप तक चला गया तो भी कोई लाभ नहीं। वास्तव में तो ईश्वर हृदय के भीतर ही विद्यमान है भक्त को केवल विश्वास होना चाहिए।

घटि बधि कहीं न देखिये, ब्रह्म रह्या भरमूरि ।
जिनि जांन्यां तिनि निकटि है, दूरि कहैं ते दूरि ॥५॥

सन्दर्भ—ईश्वर सर्वव्यापी है। वह कहीं कम ज्यादा नहीं रहता है।

भावार्थ—ईश्वर कहीं पर कम या अधिक नहीं व्याप्त है वह तो सभी जगह समान रूप से व्याप्त है। वास्तव में जो व्यक्ति उसे निकट समझते हैं उनके लिए तो वह निकट है और जो दूर कहते हैं उनके लिये वह दूर है।

शब्दार्थ—घटि-बधि = घट बढ़कर, कम या अधिक।

मैं जाँण्या हरि दूरि हैं, हरि रह्या सकल भरपूरि ।
आप पिछाँगै बाहिरा, नेड़ा ही थै दूरि ॥६॥

सन्दर्भ—ईश्वर दूर नहीं बल्कि घट-घट व्यापी है।

भावार्थ—मैं समझता था कि ईश्वर मुझसे बहुत दूर है लेकिन ईश्वर तो इस संसार में सर्वत्र व्याप्त है। इतना अवश्य है कि वह अपनी पहिचान से परे है तथा समीप रहते हुए भी दूर प्रतीत होता है।

शब्दार्थ—पिछाडै = पहिचान।

तिणकै ओल्है राम है, परबत मेरे भाँइ ।
सतगुर मिलि परचा भया, तब हरि पाया घट माँहि ॥७॥

संदर्भ—सतगुरु के द्वारा बताये जाने पर ईश्वर को हृदय के अन्दर ही देखा जा सकता है।

भावार्थ—रामरूपी महान तत्व अहं रूपी पर्वत को ओट में छिपा हुआ है अर्थात् उसका रहस्य समझ में न आने के कारण ही वह विराट रूप ईश्वर जीव की दृष्टि से परे रहता है। सतगुरु के मिलने पर अहं के विनष्ट हो जाने पर प्रभु से साक्षात्कार हुआ और मैंने उन्हें अपने हृदय में ही पा लिया।

शब्दार्थ—ओल्है = ओट में। तिणकै = अहं रूपी तिनका। परचा = परिचय।

राम नाम तिहुँ लोक में, सकल रह्या भरपूरि ।
यह चतुराई जाहु जलि, खोजत डोलै दूरि ॥८॥

सन्दर्भ—ईश्वर सर्वव्यापी हैं।

(२३४)

चोखी वनज व्यौपार करीजै,
 आइने दिसावरि रे राम जपि लाहो लीजै ॥ टेक ॥
 जब लग देखौ हाट पसारा,
 उठि मन वणियों रे, करि ले वणज सवारा ॥
 वेगे हो तुम्ह लाद लशानां,
 औघट घाटा रे चलनां दूरि पयानां ।
 खरा न खोटा नां परखानां,
 लाहे कारनि रे सब मूल हिरानां ॥
 सबल दुनी में लोभ गियारा,
 मूल ज राखै रे सोई वनिजारा ॥
 देस भला परिलोक विरानां,
 जन दोइ चारि नरे पूछी साध सयानां ॥
 सायर तीर न वार न पारा,
 कहि समझावै रे कबीर वणिजारा ॥

शब्दार्थ—चोखी=चोखा, अच्छा, लाभकारी । वनज=वाणिज्य । दिसावरि
 =देसावर, विदेश । लाहो=लाभ । हाट = बाजार । सवारा=सिदीही, जल्दी ही ।
 औघट=अवघट=अटपटा । पयाना=प्रमाण, चलना, जाना । वेगे = शीघ्र ही ।
 लाहे=लाभ । मूल=मूलधन, गाँठ की पूँजी । हिराना=गर्वाना । खोगया, नष्ट
 हो गया । वनिजारा=वाणिज्य करने वाला । सयानां=चतुर । सायर=सागर ।
 तीर=किनारा ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि इस ससार में रह कर धर्मपूर्ण आचरण ही
 हितकारी है ।

भावार्थ—कबीर जीव को तुलना एक व्यापारी वणिक के साथ करते हुए
 कहते हैं कि रे जीव ! तुमको अच्छा—लाभकारी वाणिज्य व्यापार करना चाहिए ।
 इस इहलोक रूपी विदेश में आकर भगवान राम के नाम का स्मरण करते हुए
 लाभकारी व्यापार करना चाहिए । जब तक इस जगत और जीवन के बाजार का
 पसारा है, अथवा जब तक जीवन रूपी बाजार चल रहा है, उसी समय में तू उठकर
 जल्दी में अपना लाभकारी व्यापार कर ले । तुमको शीघ्र ही लदना-लदाना होगा
 अर्थात् तुमको जल्दी ही अपना हाट समेठ कर इस जीवन-रूपी बाजार से उठकर
 चल देना होगा और काफी दूर चल कर अटपटे घाट पर पहुँचना होगा । तुमने न
 खरा-खोटा देखा । न कुछ परखा । लाभ के लोभ में तुमने अपनी गाँठ की पूँजी
 (चेतना) भी गँवा दी । भाव यह है कि तुमने इस जगत् में खरे-खोटे की परख नहीं
 रखी और नाभारिक लाभों के लोभ में तुमने अपने मूल चैतन्य-स्वरूप को भी
 भुला दिया । यह व्यापार में गाँठ की पूँजी गँवाने के समान ही हुआ । सारी

शब्दार्थ—च्यति = चित्त ।

निदक नेड़ा राखिये, आंगणि कुटी वधाइ ।
बिन सावण पाणी बिना, निरमल करै सुभाइ ॥३॥

सन्दर्भ—निदक का तिरस्कार नहीं करना चाहिए ।

भावार्थ—निंदा करने वाले व्यक्ति को अपने से दूर नहीं वरन् अपने आंगन से कुटी छुवाकर रखना चाहिए । क्योंकि वह निन्दा के द्वारा दोषों का परिहार करके बिना साबुन और पानी के ही स्वभाव को निर्मल कर देता है ।

शब्दार्थ—नेड़ा = समीप । सावण = साबुन । सुभाइ = स्वभाव ।

न्यंदक दूरि न कीजिये, दीजे आदर मान ।
निरमल तन मन सब करै, बकि बकि आंनहि आंन ॥४॥

सन्दर्भ—निन्दक को दूर न रखकर समीप ही रखना चाहिए ।

भावार्थ—निन्दा करने वाले को दूर न करना चाहिए बल्कि उसको आदर सम्मान देकर के समीप ही रखना चाहिए । उसके समीप रहने से यह लाभ होगा कि वह हमारे दोषों को बार-बार कह करके सुधारने का अवसर देगा जिससे तनमन सभी कुछ शुद्ध हो जाता है ।

जे को नीदैं साध कूँ, सकटि आवै सोइ ।
नरक मांहि जांमैं मरै, मुक्ति न कवहूँ होइ ॥५॥

संदर्भ—साधुओं का निन्दक ईश्वर का कोप-भाजन बनता है ।

भावार्थ—जो व्यक्ति सज्जनों की निन्दा करते हैं उन पर संकट आ जाते हैं । वह इस नरक तुल्य ससार में मृत्यु को प्राप्त हो जाता है और इस प्रकार के मनुष्य की मुक्ति कभी भी नहीं हो पाती है ।

शब्दार्थ—नीदैं = निन्दा करता है । मुक्ति = मुक्ति ।

कबीर घास न नीदिये, जो पाऊँ तलि होइ ।
उड़ि पड़ै जब आंखिमैं, खरा दुहेला होइ ॥६॥

संदर्भ—तुच्छ से तुच्छ वस्तु की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ।

भावार्थ—कबीरदास जी कहते हैं कि घास ऐसी तुच्छ वस्तु की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । यद्यपि वह प्रति दिन पैरों के नीचे रौंदी जाती है किन्तु फिर भी जब वह उड़कर आँख में पड़ जाती है तो बहुत वेदना पैदा कर देती है ।

शब्दार्थ—खरा = बहुत । दुहेला = वेदना ।

५५. निगुणां कौ श्रुङ्ग

हरिया जाणै रूपड़ा, उस पांणी का नेह ।
सूका काठ न जाणई, कबहू वूठा मेह ॥१॥

सन्दर्भ—वास्तविक पारखी ही किसी वस्तु विशेष के गुणों को परख पाते हैं ।

भावार्थ—हरा वृक्ष ही पानी के स्नेह को समझ सकता है । सूखा काठ पानी के महत्व को कुछ नहीं समझ सकता, चाहे जितना पानी बरसे अर्थात् भक्त को ही प्रभु भक्ति का ज्ञान होता है, प्रभु भक्ति से हीन ठूठ जैसे व्यक्तियों को नहीं ।

शब्दार्थ—रूपणा = वृक्ष । वूठा = बरसा ।

भिरि मिरि भिरि मिरि बरषिया पांहरण, ऊपरि मेह ।
मांटी गलि सै जल भई पांहरण वोही तेह ॥२॥

सन्दर्भ—ईश्वर प्रेम की वर्षा का प्रभाव भक्तों पर ही होता है किन्तु जड़ और दृष्टों पर नहीं ।

भावार्थ—पत्थरों के ऊपर भर-भर पानी बरसता रहा—ईश्वर की कृपा का जल बरसता रहा किन्तु पत्थर पर लगी हुई भक्त रूपी मिट्टी तो गीली हो गई, प्रभु अनुकम्पायुक्त हो गयो किन्तु जड़ एवं दृष्ट रूपी पत्थरों पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा ।

शब्दार्थ—सैजल = सजल । पांहरण = पाषाण, पत्थर ।

पारब्रह्म वूठा मोतियाँ, घड़ बाँधी सिषराँह ।
सगुराँ सगुराँ चुणिया, चूकि पड़ी निगुराँह ॥३॥

सन्दर्भ—परम प्रभु की कृपा मोतियों को सतगुरु के सच्चे शिष्य ही ग्रहण कर पाते हैं ।

भावार्थ—परब्रह्म परमेस्वर ने ज्ञान रूपी मोतियों की घनघोर वर्षा की । जो सतगुरु के शिष्य थे उन्होंने तो ज्ञान के उन मोतियों का संग्रह कर लिया और जो निगुड़ा गुरु रहित थे वे इस कार्य को नहीं कर सके ।

शब्दार्थ—घड़ = झड़ी बाँधकर ।

कवीर हरि रस बरषिया, गिर डूंगर सिषराँह ।
नीर मिवाँणा ठाहरै, नाँऊँ छापार डाँह ॥४॥

(२३७)

बदे तोहि बदिगी सौ कांम, हरि बिन जांनि और हरांम ।
 दूरि चलणां कंच वेगा, इहां नहीं मुकांम ॥ टेक ॥
 इहां नहीं कोई यार दोस्त, गांठि गरथ न दाम ।
 एक एकें संगि चलणां, बीचि नहीं विश्रांम ॥
 ससार सागर बिषम तिरणां, सुमरि लै हरि नांम ।
 कहै कबीर तहां जाइ रहणां नगर बसत निघांन ॥

शब्दार्थ - बदे दास, भक्त । बदिगी = सेवा, भक्ति । हराम = शरभ (मुसलमान धर्म शास्त्र) के विरुद्ध, निषिद्ध । कूच = रवातगी । वेगा = शीघ्र । मुकाम = वास स्थान, घर । गरथ = सम्पत्ति । निघान = कृपानिधान, भगवान ।

सन्दर्भ — कबीरदास ससार के प्रति उदासीन होकर भगवान को याद करने का उपदेश देते हैं ।

भावार्थ — रे भक्त ! तुम्हें तो भगवान की भक्ति से काम है । भगवान की भक्ति के अतिरिक्त अन्य सब बातों को तुम निषिद्ध यानी धर्मशास्त्र के विरुद्ध समझो । तेरा गन्तव्य बहुत दूर है । अतएव यहाँ से जल्दी ही रवाना हो जाओ । इस ससार में तुम्हारे वास-स्थान नहीं है अथवा यहाँ टिकासरा लेना उचित नहीं है । इस दुनियाँ में तुम्हारा कोई हितैषी एवं शुभचिंतक भी नहीं है और यहाँ पर खर्च करने के लिए तेरे पास विशेष सम्पत्ति भी नहीं है (क्योंकि तुम अपने पुण्यों का क्षय कर चुके हो) । तुमको इस यात्रा में अकेले ही चलना है और बीच में कहीं विश्राम-स्थल भी नहीं है । इस ससार रूपी सागर को पार करना बहुत कठिन काम है । तुम उसको पार करने के लिए भगवान का नाम स्मरण करो । कबीर कहते हैं कि तुमको तो वहाँ जाकर रहना है जिस नगर में स्वयं कृपानिधान भगवान निवास करते हैं ।

अलंकार—(1) रूपक—ससार सागर ।

(II) साग रूपक—बटोही साधक का रूपक ।

विशेष—(1) कबीर का कहना है कि भक्त को ससार के प्रति एकदम विमुख हो जाना चाहिए, क्योंकि परम धरम की प्राप्ति ही उसका एक मात्र लक्ष्य है ।

(II) यह संसार भक्त के लिए नहीं है । यह माया का स्थान है । माया और अज्ञानादिक का शुद्ध चैतन्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता है । इसी कारण साधक का कोई यार दोस्त नहीं होता है । तभी तो कबीर की यह पक्ति पूज्य बापू के हृदय का हार थी—“एकला चलो रे ।”

(III) साधक जीव का निवास-स्थान मोक्ष-धाम है । जब तक घर न पहुँच जाए, तब तक विश्राम कैसा ? इसी से कबीर लिखते हैं कि “बीचि नहीं विश्राम ।”

भावार्थ—कवीरदास जी कहते हैं कि कठोर हृदय व्यक्ति के ऊपर शब्द रूपी वाण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता । शब्द रूपी वाण का प्रभाव तो ज्ञान प्राप्त व्यक्तियों पर पड़ कर विवेक, और विचार की उत्पत्ति करता है ।

शब्दार्थ—भिदे = भिदता है ।

शीतलता कै कारणों, माग विलंबे आई ।
रोम रोम विष भरि रहया, अमृत कहाँ समाइ ॥८॥

संदर्भ—संसारो जीवो मे काम, क्रोध, मद, लोभादि भरे रहते हैं ।

भावार्थ—संसार रूमी मार्ग मे शीतलता प्राप्त करने के लिए ही ठहर कर घर गृहस्थी जुटाया था किन्तु इस विश्राम-स्थली मे विष ही भरा हुआ है—विषय वासना काम, क्रोध, लोभादि भरे हुए हैं—अब उसमे राम नाम रूपी अमृत कहा समा सकता है ।

शब्दार्थ—विलंबे = ठहरे हुए हैं ।

सरपहि दूध पिलाइये, दूधै विष ह्वै जाइ ।
ऐसा कोई माँ मिलै, स्यूं सरपै विष खाइ ॥९॥

संदर्भ—अच्छे गुण का प्रभाव अच्छी वस्तु पर ही पडता है । बुरी वस्तु पर नहीं ।

भावार्थ—सर्प को दूध पिलाने पर विष बन जाता है । मुझे अभी तक इस प्रकार का मनुष्य नहीं मिला जो सर्प-माया के साथ-साथ विष-वासना को भी समाप्त कर दे ।

विशेष—तुलना कीजिए—

“पयः पानं भुजगानां, केवल विष वर्धनम् ।
उपदेशो हि मूर्खाणां, प्रकोपाय न शान्तये ॥”

जालों इहै बड़पणाँ, सरलै पेड़ि खजूरि ।
पंखी छाँह न बीसवै, फल लागै ते दूरि ॥१०॥

संदर्भ—उस वस्तु से कोई लाभ नहीं जिससे किसी का उपकार न हो सके ।

भावार्थ—खजूर के सीधे और ऊँचे पेड़ से क्या लाभ ? न तो उससे पक्षियों को छाया ही प्राप्त होती है और न उसके फल ही आसानी से किसी को प्राप्त हो सकते हैं क्योंकि फल बहुत ऊँचाई पर लगते हैं ।

शब्दार्थ—बड़पणाँ = बड़प्पन ।

विशेष—यथा बालक माता-पिता से मिलने पर अपने हृदय की सब बातें कह डालता है, उसी प्रकार परमपिता से कबीर सब कुछ कह देना चाहते हैं ।

कबीर भूलि बिगाड़ियाँ, तू नाँ करि-मैला चित ।
साहिब गरवा लोडिये, नफर बिगाड़ै नित ॥२॥

सन्दर्भ—यदि भूल से स्थिति विगड गई है तो मन मैला उदास करने से कोई लाभ नहीं है । अहं का विसर्जन कर देना चाहिए ।

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि यदि तूने ब्रह्म को भूल कर अपनी स्थिति विगड ली है, तो सोच या शोक करने की बात नहीं है । तू अहं का परित्याग कर दे । अहं या व्यक्ति नित्य ही हानि पहुँचाता है ।

शब्दार्थ—बिगाड़ियाँ = विगड लिया । चित = चित्त । नफर = व्यक्ति, अहं । गरवा—

करता केरे बहुत गुण, औगुण कोई नाँहिं ।

जो दिल खोजौ आपणी, तौ सब औगुण मुझ माँहिं ॥३॥

सन्दर्भ—ब्रह्म सद्गुणों को खान है और अवगुणों का प्रतीक ।

भावार्थ—ब्रह्म में कोई अवगुण नहीं है । वह गुणों का ही पर्याय या समूह है । जब मैं अपने हृदय को देखता हूँ तो समस्त अवगुण अपने में ही दिखाई देते हैं ।

शब्दार्थ—केरे = के । औगुण = अवगुण । आपणी = आपणां, अपना ।

औसर बीता अलपतन, पीव रखा परदेश ।

कलंक उतारौ केसवा, भानौ भरंभ अंदेश ॥४॥

संदर्भ—जीवन माया के आकर्षण में बीत गया और मैं प्रिय को न पहचान सका ।

भावार्थ—माया और अज्ञान में अवसर बीत गया अब जीवन का थोड़ा-सा भाग शेष रह गया है । और प्रिय (ब्रह्म) परदेश के ही है । उससे भेंट ही पाई । हे केशव ! मेरे जीवन के अंतिम समय में ही सही, पर मेरे कलंकों से मुझे अवकाश दीजिए, और भ्रम जनित शकाओं से मुक्ति दीजिए ।

शब्दार्थ—औसर = सुअवसर । अलपतन = अल्पतन । रखा = रहा, है । भानौ-भरंभ = भ्रम । अंदेश = अंदेशा ।

कबीर करत है वीनती, भौसागर के ताँई ।

बन्दे ऊपर जोर होत है, जँभ कूँ बरजि गुसाईं ॥५॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत साखी में यम के अत्याचार के विरुद्ध कबीर ब्रह्म से निवेदन करते हैं ।

(२४१)

फिरत कत फूल्यौ फूल्यौ ।

जब दस मास उरध मुख होते, सो दिन काहे भूल्यौ ॥ टेक ॥

जौ जारै तौ होई भसम तन, रहत कृम ह्वँ जाई ।

काचै कुंभ उद्यक भरि राख्यौ, तिनकी कौन बड़ाई ।

ज्यूं माषी मधु सच्चि करि, जोरि धन कोनो ।

मूये पीछे लेहु लेहु करि, प्रेत रहन क्यूं दीनू ॥

ज्यूं घर नारी सग देखि करि, तब लग संग सुहेलौ ।

मरघट घाट खेंचि करि राखे, वह देखिहु हस अकेलौ ॥

राम न रमहु मदन कहा भूले, परत अंधेरै कूवा ।

कहै कबीर सोई आप बधाधौ, ज्यू नलनी का सूवा ॥

शब्दार्थ—उरध मुख = ऊपर को मुख किए हुए अर्थात् उलटा मुख किए हुए । माषी = मक्खी, शहद की मक्खी से तात्पर्य है । घर नारी = व्याहता स्त्री, व्याही हुई । सजन सहेली = स्वजन एव साथी । कूवा = कुँआ, यहाँ तात्पर्य अज्ञान का कुआ । नलिनी = पोले बाँस की नली जो तोता पकडने के काम में आती है ।

सन्दर्भ - ससार के बाह्य आकर्षक रूप पर मोहित एव ऐश्वर्य में मदमत्त मानव को कबीरदास सावधान करते हैं ।

भावार्थ — हे भोले मानव ! तू गर्व में फूला हुआ क्यों फिर रहा है ? क्या तू उस व्यथा को भूल गया जो तुझे गर्भ में दस माह तक उलटे लटके रहने के कारण हुई थी ? जन्म के समय जितनी व्यथा हुई थी, मृत्यु के समय भी वैसी ही व्यथा होगी, यह सकेत करते हुए कबीर कहते हैं कि मरने पर तेरा शरीर जब जलाया जायगा, तब भस्म होकर समाप्त हो जाएगा और यदि जलाया नहीं गया, और यों ही पडा रहा, तो उसे कीड़े-मकोड़े खा जाएँगे । इस शरीर की इतनी ही महिमा है जितनी महिमा पानी से भरे हुए कच्चे घड़े की होती है, जो शीघ्र ही फूट जाता है । जिस प्रकार मधुमक्खी तनिक-तनिक (थोडा-थोडा) करके शहद इकट्ठा करती है, उसी प्रकार तुमने भी थोडा-थोडा करके कुछ धन संचित कर लिया है । तुम्हारे मरते ही सब लोग 'लेलो, लेलो' कहते हुए इस धन को आपस में बाँट लेंगे और तुम्हारे इस शरीर को उठाकर बाहर फेंक देंगे, क्योंकि प्रेत को कौन घर में रखना चाहेगा ? भाव यह है कि तुम्हारा प्राणान्त होते ही लोग तुम्हारे इस धन को लेने की बात करने लगेंगे और तुम्हारे शरीर को प्रेत कह कर घर के बाहर तुरन्त कर देंगे । मर जाने पर विवाहिता पत्नी तो घर की देहली (द्वार) तक साथ देती है और रिश्तेदार-नातेदार एव मित्र लोग उसको घर के बाहर ले जाते हैं । कुटुम्ब के लोग मरघट (शमशान घाट) तक ले जाते हैं । और उसके बाद जीवात्मा अकेला रह जाता है । कबीरदास कहते हैं कि यह सब देखते हुए और जानते हुए भी हे मानव ! तू अपना मन राम में क्यों नहीं रमाता है ? अर्थात् राम-नाम का जप क्यों नहीं

५७. साषीभूत कौ अंग

कवीर पूछै राँम कूँ, सकल भवनपति-राइ ।
सबही करि अलगा रहौं, सो विधि हमहि बताइ ॥१॥

सन्दर्भ—सकल मायादि से पृथक रहने के आकांक्षी कवीर राम से मुक्ति का मार्ग प्रदर्शित करने की प्रार्थना करते हैं ।

भावार्थ—कवीर राम से पूँछते हैं कि हे समस्त लोको के स्वामी मुझे वह उपाय वह विधि बताइये जिससे मैं माया के समस्त बन्धनो से दूर रहूँ ।

शब्दार्थ—राइ = राजा । करि = से । अलगा = अलग, पृथक । विधि = उपाय । बताइ = बताएं ।

विशेष—कवीर उस रहस्य भेद का ज्ञान करना चाहते हैं जो सासारिक प्रभावो से मानव को पृथक रखने में सहायक होता है ।

जिहि बरियाँ साँई मिलै, तास न जाँगै और ।
सबकूँ सुख दे सबद करिं, अपणीं अपणीं ठौर ॥२॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत साखी में कवि ने कहा है ब्रह्मा के दर्शन कब हो जायेंगे यह उस (ब्रह्मा) के अतिरिक्त और कोई नहीं जानता ।

भावार्थ—जिस समय स्वामी का साक्षात्कार होगा, उसे और कोई नहीं जानता है । अपने-अपने स्थान पर वह सबको स्व उपदेशो के द्वारा सुख देता है ।

शब्दार्थ—बरियाँ = समय । साँई = स्वामी । तास = उसको । जाँगै = जानै । सबद = शब्द । अपणी = अपनी ।

कवीर मन का बाहुला, ऊँडा बहै असोस ।
देखत हीं दह मैं पडै, दई किसी कौं दोस ॥३॥

संदर्भ—मन का नाला गन्दा और गहरा है । उससे सावधान रहना चाहिए ।

भावार्थ—मन का नाला बड़ा ही गहरा और अथाह है । कवीर कहते हैं कि यदि यह जानकर भी मानव मन रूपी नाले में जा गिरे तो किसका दोष है, कौन दोषी है ?

शब्दार्थ—बाहुला = बावला, विवेक रहित । ऊँडा = गहरा । असोस = अथाह । दह = मध्यधारा में ।

सन्दर्भ—माया रूपी वेलि के विषय मे पुनः स्वानुभूति को अभिव्यक्ति करते हुए कबीर ने इस साखी मे उसकी विचित्रताओ पर विचार प्रकट किये हैं ।

भावार्थ—माया-वेलि बड़ी विचित्र है । यदि इसे काटा जाय तो हरीतिमा होती है और इसे सीचने से कुम्हला जाती है । इस गुणवंती वेलि के गुण अकथनीय हैं ।

शब्दार्थ—डहडही = हरियाती है, हरी होती है । कुमिलाइ = कुम्हलाइ = कुम्हला जाती । गुणवती = गुण वाली अर्थात् रजो, तमो तथा सतो गुणो से सम्पन्न ।

विशेष—प्रस्तुत साखी मे कबीर ने यह बताने की चेष्टा की है कि माया रूपी वेलि को काटने से आध्यात्मिक जीवन हरा भरा या सम्पन्न होता है । और माया को सीचने या पोषण करने से आध्यात्मिक जीवन कुम्हला जाता है । भक्ति या साधना वृक्ष माया के दुष्प्रभाव से सूख जाते हैं । त्रिगुणात्मक सत्ता से पूर्ण इस वेलि के गुण कहते यहीं बनता है ।

आंगणि वेलि अकासि फल, अण व्यावर का दूध ।

ससा सींग की धूनहड़ी, रमै बाँक का पूत ॥४॥

सन्दर्भ—प्रस्तुत साखी मे कबीर ने यह कहा है कि माया-वेल का फल आकाश मे लगता है ।

भावार्थ—ससार-आंगन मे माया रूपी वेल उगती है परन्तु इसका फल आकाश मे लगता है । यह उक्ति उसी प्रकार आश्चर्यजनक है यथा अनब्याई गाय के दूध, खरगोश के सींग से बाजा बनाना तथा बन्ध्या नारी के पुत्र के खेनने की कल्पना ।

शब्दार्थ—आगणि = आगन = संसार । अकासि = आकाश । अप = अन-विना । व्यावर = ब्याई हुई । ससा = शशा । धुनहड़ी = एक वाद्य विशेष । रमै = खेले ।

विशेष—प्रस्तुत साखी मे समस्त असम्भव बातों का उल्लेख कबीर ने किया है । पृथ्वी की वेल का फल आकाश मे, अनब्याई का दूध, शशा की सींग का वाद्य तथा बाँक का खेलता हुआ पुत्र । इन विरोधी कथनों के द्वारा कबीर को केवल यही अमार्णित करना अभीष्ट है कि माया की जडे धरती पर हैं पर फल आकाश मे है ।

कबीर कडई वेलडी, कड़वा ही फल होइ ।

साँधा नाँव तब पाइये, जे वेलि बिछोहा होइ ॥५॥

जागि जागि नर काहे सोवै, रोइ सोइ कब जागैगा ।
जब घर भीतरि चोर पड़ेंगे, तब अंचलि किसकै लागेगा ॥
कहै कबीर सुनहु रे संतो, करि ल्यो जे कछु करणां ।
लख चौरासी जोनि फिरौंगे, विनां राम की सरनां ॥

शब्दार्थ—जाति जाती=व्यर्थ जाते हुए । जीया=जीव । चरन=पाँव ।
कर=हाथ । घारे=क्षीण हो गये, थक गये । आउ=आयु ।

संदर्भ—कबीरदास जीव को रामभक्ति की ओर प्रेरित करते हैं ।

भावार्थ—रे जीव ! जीवन व्यर्थ जाते हुए देखकर भी यदि तूने भगवान का नाम नहीं लिया तो बाद में तुम्हें पछानना पड़ेगा । ससार के धन्धों को करते-करते तेरे हाथ-पाँव दुर्बल हो गए हैं, आयु घटती जा रही है और शरीर क्षीण हो गया है । विषय-विकारों के प्रति तू सदैव अनुरक्त रहा और माया-मोह में उलझा रहा, अर्थात् 'मैं मेरा' के चक्कर में पटा रहा । रे जीव ! जागजा । अज्ञान निद्रा में क्यों सो रहा है । आखिरकार इस अज्ञान-रूपी निद्रा को तू कब छोड़ेगा ? अर्थात्, यदि अब भी नहीं जागा, तो आखिर कब जागेगा ? जब इस शरीर रूपी घर में यम-दूत रूपी चोर तेरे जीवन को ले जाने के लिए घुस आँयेंगे, तब तू उस समय अपने रक्षार्थ किसकी शरण में जायगा ? कबीर कहते हैं कि हे संतो ! सुनो जो कुछ भगवन्नाम-स्मरण करना है, उसे कर लो । राम की शरण में गए बिना तुमको बार-बार जन्म लेकर चौरासी लाख योनियों में निरन्तर भटकते रहना पड़ेगा ।

अलंकार—(1) पुनरुक्तिप्रकाश—जागि जागि ।

(II) रूपकातिशयोक्ति—घर चोर ।

(III) गूढोक्ति—अंचलि किसके लागेगा ।

विशेष—'निर्वेद' संचारी भाव की मार्मिक व्यंजना है ।

(२४५)

माया मोहि मोहि हित कीन्हां,

ताथे धेरौ ग्यांन ध्यांन हरि लीन्हां ॥ टेक ॥

संसार ऐसा सुपिन जैसा, जीव न सुपिन समांन ।

साँघ करि नरि गांठि बांध्यो, छाड़ि परम निधान ॥

नैन नेह पतग हुलसै पसू न पेखै आगि ।

काल पासि जु मुग्ध बांध्या, कलंक कांमिनीं लागि ॥

करि बिचार विकार परहरि, तोरण तारण सोइ ।

कहै कबीर रघुनाथ भजि नर, दूजा नाहीं कोइ ॥

शब्दार्थ—नारि=सासारिक प्रपच । हुलसै=उल्लसित होता है । पासि=वन्धन, फन्दा । परिहरि=त्याग दे । तोरण=तरणि, नौका । तारण=तारने वाला । कलंक=कनक ।

(५) इस पद में काव्योचित शैली में शाकर मायावाद का प्रतिपादन किया गया है ।

(२३२)

मीठी मीठी माया तजी न जाई,
अग्यांनों पुरिष कौं भोलि भोलि खाई ॥ टेक ॥
निरगुण सगुण नारी, ससारि पियारी,
लक्ष्मणि त्यागी गोरषि निवारी ॥
कीड़ी कुंजर मै रही समाई,
तीनि लोक जीत्या माया किनहूँ न खाई ॥
कहे कबीर पद लेहु विचारी,
ससारि आइ माजा किनहूँ एक कही पारी ।

शब्दार्थ—भोलि=भुलावा देकर । निवारी = निवारण किया, हटा कर दूर कर दिया । कीरी=चीटी । कुंजर=हाथी । पारी=खारी, कडुवी ।

संदर्भ—कबीरदास माया के सर्वव्यापी प्रभाव का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—यह मधुर एवं आकर्षक लगने वाली माया किसी से छोड़ते नहीं बनती है । यह अज्ञानी व्यक्तियों को तरह-तरह के भुलावों में डाल कर खाती रहती है । यह एक ऐसी नारी है जिसके सगुण और निर्गुण दोनों ही रूप हैं । यह समस्त ससार को प्यारी लगती है । लक्ष्मण ने इस माया का परित्याग किया और गुरु गोरखनाथ ने इसे अपने हृदय से हटा दिया । यह चीटी से लेकर हाथी तक में—छोटे-छोटे प्राणी से लेकर बड़े से बड़े जीव में—समा रही है । इसने तीनों लोकों के प्राणियों को अपने वश में कर रखा है । इसको कोई भी समाप्त नहीं कर सका है । कबीरदास कहते हैं कि इस पद में कथित मेरे कथन पर गम्भीरता पूर्वक विचार करो । ससार जन्म लेने वाले समस्त प्राणियों को यह मधुर लगती है । कोई विरले ही इसको कडुवा बनाकर इनकी ओर आकर्षित नहीं हुआ है ।

अलंकार—(i) पुनरुक्ति प्रकाश—भोलि-भोलि ।

(ii) निरगुण सगुण—विरोधाभास ।

(iii) संबन्धातिशयोक्ति—माया किनहूँ न खाई ।

विशेष—(i) वानना एवं अमृत रूप होने के कारण माया निर्गुण और सगुण रूप चिन्तन नारी है । इसने विरोधी तत्व हैं ।

(ii) कबीर ने अन्यत्र भी लिखा है कि—

सुपना उरपतु रहु मेरे भाई ।

×

×

×

या भयारी भृगुष न माने, मय नुनियाँ उहकायो ।

राजा-माय रऊ की व्यापै, करि-करि प्रीत सवायो ।

भाहनि माहि ते लेहि अमानक, काहु न वेति दिखाई ।

(२३४)

चोखी बनज व्योपार करीजै,
 आइनै दिसावरि रे रांम जपि लाहौ लीजै ॥ टेक ॥
 जब लग देखौ हाट पसारा,
 उठि मन बणियो रे, करि ले बणज सवारा ॥
 वेगे हो तुम्ह लाद लक्षणां,
 औघट घाटा रे चलनां दूरि पयांनां ।
 खरा न खोटा नां परखानां,
 लाहे कारनि रे सब मूल हिरांनां ॥
 सबल दुनी मै लोभ गियारा,
 मूल ज राखै रे सोई बनिजारा ॥
 देस भला परिलोक बिरांनां,
 जन दोइ चारि नरे पूछौ साध सयांनां ॥
 सायर तीर न वार न पारा,
 कहि समझावै रे कबीर बणिजारा ॥

शब्दार्थ—चोखी=चोखा, अच्छा, लाभकारी । बनज=वाणिज्य । दिसावरि
 =देसावर, विदेश । लाहौ=ताभ । हाट = बाजार । सवारा=सिद्दीनी, जल्दी ही ।
 औघट=अवघट=अटपटा । पयाना=प्रमाण, चलना, जाना । वेगे - शीघ्र ही ।
 लाहे=लाभ । मूल=मूलधन, गाँठ की पूँजी । हिराना=गवांना । खोगया, नष्ट
 हो गया । बनिजारा=वाणिज्य करने वाला । सयाना=चतुर । सायर=सागर ।
 तीर=किनारा ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि इस ससार में रह कर धर्मपूर्ण आचरण ही
 हितकारी है ।

परन्तु मृत्यु से किसी प्रकार नहीं बचा जा सकता है । अतः हे भगवन् ! मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ । जन्म-मरण के चक्र से मेरी रक्षा करो ।

(२४६)

पांडे न करसि बाद विवाद,

या देही बिन सबद न स्वाद ॥ टेक ॥

अंड ब्रह्मांड खड भी माटी, माटी नवनिधि काया ।

माटी खोजन सतगुर भेटचा, तिन कछू अलख लखाया ॥

जीवल माटी सूवा भी माटी, देखौ ग्यांन विचारी ।

अति कालि माटी सै बासा, लेटं पांव पसारी ॥

माटी का चित्र पवन का थभा, व्यद संजोगि उपाया ।

भानै घड़े संवारै सोई यहु गोव्यद की माया ॥

माटी का मंदिर ग्यान का दीपक, पवन बाति उजियारा ।

तिहि उजियारै सब जग सूभै, कबीर ग्यांन विचारा ॥

शब्दार्थ—थभा = स्तम्भ, खम्भा, सहारा । व्यद = विदु, वीर्य । भानै = दूटे हुए । बाति = वत्ती । उजियारा = प्रकाशित है ।

सदर्भ— कबीरदास ससार की असारता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ— कबीर कहते हैं कि अरे पण्डित ! तुम वाद-विवाद (शास्त्रार्थ) मत करो । इस शरीर के विना न शब्द रह जाएगा और न स्वाद रह जाएगा—न तो शास्त्रार्थ ही रह जाएगा और न शास्त्रार्थ का आनन्द ही रह जाएगा । तुम्हारा शास्त्रार्थ तो अवलम्बित है शरीर और शरीर की स्थिति यह है कि यह समष्टि जगत और इस विश्व का प्रत्येक अणु—सभी कुछ मिट्टी है । यह नवनिधियों को भोगने वाला शरीर भी मिट्टी ही है । इसी मिट्टी के ससार में खोजते-खोजते (विभिन्न साधनाओं में भटकते हुए) सद्गुरु से मेरी भेट हो गई । उन्होंने मुझको उस अलक्ष्य परम तत्त्व का कुछ ज्ञान करा दिया । रे मानव ! तू ज्ञान पूर्वक मनन करके देख । यह शरीर जीवित अवस्था में भी मिट्टी है और मरने पर भी मिट्टी है । इस शरीर को अन्तत मिट्टी में ही मिल जाना पड़ता है और अन्त समय में यह जीव जमीन पर (मिट्टी में) पैर फैला कर लेट जाता है । यह शरीर मिट्टी का ही पुतला है और प्राण वायु का आधार लेकर खड़ा है तथा केवल वीर्य एव रज की बूदों के संयोग से यह उत्पन्न किया गया है । भगवान की यही लीला है कि वही घड़े-रूपी शरीरों को नष्ट करता है और वही इनका निर्माण करता है । कबीरदास ज्ञान पूर्वक विचार कर कहते हैं कि मिट्टी के इस शरीर रूपी मन्दिर में ज्ञान रूपी दीपक जलता है । प्राण वायु रूपी वत्ती इसमें प्रकाशित है—इस ज्ञान दीपक के प्रकाश के द्वारा ही सम्पूर्ण ससार का सम्यक् ज्ञान होता है ।

अलंकार—(1) छेकानुप्रास—वाद विवाद, सबद स्वाद ।

(11) पदमैत्री—अद ब्रह्म ड खण्ड । सूवा माटी ।

संदर्भ — कबीरदास सच्ची भक्ति के स्वरूप और उसकी महिमा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ — कबीर कहते हैं कि अगर मैंने ज्ञान का रहस्य न समझा, तो मैंने अपना जीवन व्यर्थ ही गँवा दिया । मैं तो इस ससार को कर्म रूपी व्यापार स्थल (हाट) करके जानता हूँ और यहाँ समस्त प्राणी कर्म-व्यापार के हेतु आए हैं । हे जीव, सजग होकर समझ सको, तो सावधान होकर समझ लो । मूर्ख लोग इस ससार रूपी हाट में आकर अपने मूल (गाँठ की पूंजी) को भी गँवा देते हैं—अर्थात् वे अपने चैतन्य स्वरूप को विस्मृत कर बैठते हैं । इस कर्म-व्यापार में नेत्र, वाणी, सुन्दर शरीर— सब थक जाते हैं । उनके जन्म-मरण भी थक जाते हैं अर्थात् व्यक्ति बार-बार जन्म लेते-लेते और मरते-मरते भी ऊँच जाते हैं, परन्तु यह माया—ससार के प्रति आमक्ति नहीं थकती है । हे मेरे चंचल मन, जब तक इस शरीर में प्राण हैं, तब तक (इसी बीच में) तू सावधान होकर वस्तु-स्थिति को समझ ले । चाहे औपचारिक भक्ति न कर सको, परन्तु भक्ति की भावना बनाए रखना जिससे भगवान के चरणों में मन का निवास बना रहे । जो लोग ससार के प्राणाधार भगवान के वास्तविक स्वरूप को समझ कर प्रभु का स्मरण करते हैं, उनके ज्ञान और विवेक नष्ट नहीं होते हैं । कबीरदास कहते हैं कि जो जानबूझ कर किसी को पराजित करने का प्रयत्न नहीं करते हैं, उसकी इस जीवन में कभी पराजय नहीं होती है । अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति विरोधी भाव या शत्रु भाव से रहित है, उनकी सदैव विजय ही विजय होती है ।

अलंकार (i) रूपक—ससार हाट ।

(ii) रूपकातिशयोक्ति — वणिजन, मूल ।

(iii) पदमैत्री—नैन वैन, जाव भाव ।

(v) अनुप्रास—याके थाकै याकी, जे जन जानि जपै जग जीवन । कहैं कबीर कवहूँ ।

(iv) पुनरुक्ति प्रकाश—चेति चेति ।

(vii) विरोधाभास — भगति जाव पर भाव न जइयो ।

धितोप—धातु नैन " माया ।—तुनना करें—

माया मरी न मन मरे, मरि मरि जात सरीर ।

जासा नृणा ना मरी कह गए दास कबीर ।

(२३७)

वदे तोहि वदिगी सौ कांम, हरि विन जांनि और हरांम ।
 दूरि चलणां कूच वेगा, इहां नहीं सुकांम ॥ टेक ॥
 इहा नहीं कोई पार दोस्त, गांठि गरथ न दाम ।
 एक एकै सगि चणां, बीचि नहीं विश्रांम ॥
 ससार सागर विषम तिग्णां, सुमरि लै हरि नांम ।
 कहै कबीर तहा जाइ रहणां नगर बसत निधांन ॥

शब्दार्थ — वदे दास, भक्त । वदिगी = सेवा, भक्ति । हराम = शरभ (गुनलमान वम शास्त्र) के विरुद्ध, निषिद्ध । कूच = खानगी । वेगा = शीघ्र । मुकाम = वाम स्थान, घर । गरथ = सम्पत्ति । निधान = कृपानिधान, भगवान ।

मन्वर्थ — कबीरदास ससार के प्रति उदासीन होकर भगवान को याद करने का उपदेश देते हैं ।

भावार्थ — रे भक्त ! तुझे तो भगवान की भक्ति से काम है । भगवान की भक्ति के अतिरिक्त अन्य सब बातों को तुम निषिद्ध यानी धर्मशास्त्र के विरुद्ध समझो । तेरा गन्तव्य बहुत दूर है । अतएव यहाँ से जल्दी ही खाना हो जाओ । इस सागर में तुम्हारे वास-स्थान नहीं है अथवा यहाँ टिकासरा लेना उचित नहीं है । इस दुनिया में तुम्हारा कोई हितैषी एव शुभचिंतक भी नहीं है और यहाँ पर सत्त्व करने के लिए तेरे पास विशेष सम्पत्ति भी नहीं है (क्योंकि तुम अपने पुण्यों का क्षय कर चुके हो) । तुमको इस यात्रा में अकेले ही चलना है और बीच में कहीं विश्राम-स्थल भी नहीं है । इस ससार रूपी सागर को पार करना बहुत कठिन काम है । तुम उनको पार करने के लिए भगवान का नाम स्मरण करो । कबीर कहते हैं कि तुमको तो वहाँ जाकर रहना है जिन नगर में स्वयं कृपानिधान भगवान निवास करते हैं ।

अनकार — (i) रूपक — ससार सागर ।

(ii) नाग रूपक — बटोही नाथक का रूपक ।

विशेष — (i) कबीर का कहना है कि भक्त को ससार के प्रति एकदम विमुख हो जाना चाहिए, क्योंकि परम धरम की प्राप्ति ही उसका एक मात्र लक्ष्य है ।

हो जाएँ (अथवा राम भक्ति के बिना समस्त साधनाएँ व्यर्थ हैं। मूर्ख लोग चाहे जितना उनका पालन करें। सारा जप-तप भूठा है, सम्पूर्ण शास्त्र-ज्ञान व्यर्थ है। राम की भक्ति के बिना समस्त ध्यान एवं साधना भूठी है। शास्त्रों के द्वारा निर्धारित विधि-निषेध, पूजा-आचार का कोई अन्त नहीं है। ये सब नदी में डुबा देने योग्य हैं। स्वार्थी व्यक्तियों ने इन्द्रियों के भोग एवं मन को प्रमत्त करने के लिए अनेक 'वादों' और पूजा पद्धतियों का विक्रम कर रखा है। कबीरदाम कहते हैं कि इसी में मैंने समस्त भ्रमों को नष्ट करके और अन्य प्रकार की साधनाओं से मुँह मोड़ कर भगवान में अपना मन लगा दिया है।

अलंकार—गूढोक्ति एवं विशेषोक्ति की व्यञ्जना -

विशेष—प्रथम चरण।

वाह्याचार का विरोध है। सच्ची भक्ति का प्रतिपादन है।

(२५३)

चेतनि देखै रे जग धंधा ।

राम नाम का मरम न जानै, माया कै रसि अंधा ॥ टेक ॥

जनमत हीरू कहा ले आयो, मरत कहा ले जासी ।

जैसे तरवर वसत पखेरू, दिवस चारि के वासी ॥

आपा थापि अवर कौ नदै, जन्मत हीं जड़ काटी ।

हरि की भगति बिनां यहु देही धव लोटै ही फाटी ॥

कांम क्रोध मोह मद मछर, पर अपवाद न सुणिये ।

कहै कबीर साध की संगति, राम नाम गुण भणिये ॥

शब्दार्थ—वसत = वसते हैं। पखेरू = पक्षी। थापि = स्थापना करके, बढ़ाई करके। धव लीरे = देह धौलोरे = दौड़ धूप। फाटी = विदीर्ण हो गई, नष्ट हो गई। भणिये = कहिए।

सन्दर्भ—कबीर का कहना है कि जीव को ससार के प्रपञ्च त्याग कर राम की भक्ति करनी चाहिए।

भावार्थ—हे जीव! तू केवल संसार के घन्वों के प्रति आसक्त है। अथवा रे जीव, तू जागकर क्यों नहीं देखता है कि यह ससार एक जाल है। तू राम के नाम के वास्तविक मूल्य को नहीं जानता है और मायाजन्य सुखों में लिप्त होकर वास्तविक स्थिति को न देखने के कारण अंधा हो रहा है। जन्म के साथ तू अपने साथ कौन सा धन-वैभव लाया था और मरने पर अपने साथ क्या ले जायगा? जिस प्रकार पक्षी चार दिन के मेहमान की तरह वृक्ष पर चार दिन तक (कुछ ही दिन) निवास करते हैं, उसी प्रकार यह जीव ही इस संसार में बहुत थोड़े दिनों का मेहमान है। तू स्वयं अपनी तो प्रशंसा करता है और दूसरों की बुराई करता है। इस प्रकार अपने पराएँ की भावना अथवा द्वैतभाव धारण करके तूने जन्म के साथ

बेल के प्रति भूल कर भी आसक्त नहीं होता है । यह जीवन उलझे हुए नौ मन सूत की भांति है । जीव इसकी गुत्थियों को जन्म जन्मान्तर तक सुलभाने का प्रयत्न करते रहते हैं । कबीर कहते हैं कि हे जीव, तुम किसी अन्य साधना के फेर में मत पड़ो, केवल एक राम का भजन करो जिससे तुम्हारा पुनर्जन्म न हो और कहीं तुम्हें इस उलझन में न पडना पड़े ।

अलंकार—(i) रूपक धर तन ।

(ii) गूढोक्ति—नहीं किस केरा ।

(iii) पुनरुक्ति प्रकाश—जनमि जनमि ।

(v) रूपकातिशयोक्ति—बाजी, बाजीगर, नौ मन सूत ।

विशेष—(1) नौ मन सूत मुहावरा है । कतिपय आलोचकों ने इसका प्रतीकात्मक अर्थ किया है—पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार) ।

(२३६)

हावड़ि धावड़ि जनम गवावै,

कवहूँ न राम चरन चित लावै ॥ टेक ॥

जहां जहां दाम तहा मन धावै, अगुरी गिनतां रैनि बिहावै ।

तृया का वदन देखि सुख पावै, साध की सगति कवहूँ न आवै ॥

सरग के पंथि जात सब लोई, सिर धरि पोट न पहुँच्या कोई ।

कहै कबीर हरि कहा उदारै, अपणै पाव आप जी मारै ॥

शब्दार्थ—हावड़ि धावड़ि = आपा धापी, दौड़ धूप । दाम = वन । धावै = दौड़ता है । बिहावै = व्यतीत करता है । तृया = त्रिया, स्त्री । पोट = गठरी ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि विषय-भोग के प्रति आसक्त जीव का उद्धार सम्भव नहीं है ।

(२४१)

फिरत कत फूल्यौ फूल्यौ ।

जब दस मास उरध मुखि होते, सो दिन काहे भूल्यौ ॥ टेक ॥

जौ जारै तौ होई भसम तन, रहत कृम ह्वै जाई ।

काचं कुंभ उद्यक भरि राख्यो, तिनकी कौन बड़ाई ।

ज्यू माषी मधु सच्चि करि, जोरि धन कीनो ।

सूये पीछे लेहु लेहु करि, प्रेत रहन क्यूं दीनू ॥

ज्यूं घर नारी सग देखि करि, तब लग संग सुहेलौ ।

मरघट घाट खेचि करि राखे, वह देखिहु हस अकेलौ ॥

रांम न रमहु मदन कहा भूले, परत अंधेरै कूवा ।

कहै कबीर सोई आप बधाधौ, ज्यू नलनी का सूवा ॥

शब्दार्थ—उरध मुख = ऊपर को मुख किए हुए अर्थात् उलटा मुख किए हुए । माषी = मक्खी, शहद की मक्खी से तात्पर्य है । घर नारी = व्याहता स्त्री, व्याही हुई । नजन सहेली = स्वजन एव साथी । कूवा = कुँआ, यहाँ तात्पर्य अज्ञान का कुआ । नलिनी = पोले बाँस की नली जो तोता पकडने के काम में आती है ।

सन्दर्भ—समार के बाह्य आवर्षक रूप पर मोहित एव ऐश्वर्य में मदमत्त मानव को कबीरदास सावधान करते हैं ।

भावार्थ—हे भोले मानव ! तू गर्व में फूला हुआ क्यों फिर रहा है ? क्या तू उस व्यथा को भूल गया जो तुझे गर्भ में दस माह तक उलटे लटके रहने के कारण हुई थी ? जन्म के समय जितनी व्यथा हुई थी, मृत्यु के समय भी वैसी ही व्यथा होगी, यह सकेत करते हुए कबीर कहते हैं कि मरने पर तेरा शरीर जब जलाया जायगा, तब भस्म होकर समाप्त हो जायगा और यदि जलाया नहीं गया, और यों ही पड़ा रहा, तो उसे ढोडे-मढोडे ग्या जाएँगे । इस शरीर की इतनी ही महिमा है जितनी महिमा पानी से भरे हुए कच्चे घड़े की होती है, जो शीघ्र ही फूट जाता है । जिन प्रकार मधुमक्खी तनिक-तनिक (थोड़ा-थोड़ा) करके शहद इकट्ठा करती है, उसी प्रकार तुमने भी थोड़ा-थोड़ा करके कुल्ल धन संचित कर लिया है ; तुम्हारे मरने ही गध लोग 'लेनो, लेनो' कहने लगे, इन धन को आपस में बाँट लेंगे और तुम्हारे इस शरीर को उठाकर बाहर फेंक देंगे, क्योंकि प्रेत को कौन घर में रखना

(२५६)

अलह ल्यौ लायें काहे न रहिये,

अह निसि केवल रांम नांम कहिये ॥ टेक ॥

गुरमुखि जलमां ग्यांन मुखि छुरी, हुई हलाल पंचू पुरी ॥

मन मसीति मै किनहूँ न जानां, पच पीर मलिम भगवांनां ॥

कहै कबीर मै हरि गुंन गाऊ, हिंदू तुरक दोऊ समझाऊं ॥

शब्दार्थ—ल्यौ=लौ, लगन । अह=दिन । हलाल=विहित, शरई रीति से पसुवध । कलमा=वह उक्ति जो मुसलमानो के धर्म-विश्वास का मूल मंत्र है --ला इलाह इल्लिल्लाह, मुहम्मद रसूलिल्लाह । मसीत=मस्जिद ।

सन्दर्भ—कबीरदास अन्तर्मुखी होने का उपदेश देते हैं ।

भावार्थ—हे भाई ! तुम भगवान मे लौ लगाकर क्यों नहीं रहते हो ? दिन रात केवल राम-नाम कहते रहो । गुरु के मुख से कलमा का उपदेश सुन कर तथा ज्ञान रूपी छुरी से पाँचो इन्द्रियो के विषयो रूपी पशुओ का बध करके ईश्वरार्पण कर देना चाहिये । मन रूपी मस्जिद के भीतर भाँक कर किसी ने नहीं देखा है । वहाँ पर पच पीरो के स्वामी भगवान का स्थायी निवास है । कबीर कहते हैं कि मैं (वाह्याचारो को त्याग कर) भगवान का गुण-गान करता हूँ तथा हिन्दू मुसलमान दोनो को ऐसा ही करने को कहता हूँ ।

अलंकार—(I) शूढोक्ति—काहे न कहिए ।

(II) रूपक—ग्यान मुखि छुरी, मनमसीति ।

(III) रूपकातिशयोक्ति—पचूपुरी ।

(IV) छेकानुप्रास—पचू पुरी, पचपीर, मन-मसीति ।

विशेष—(1) कबीर वाह्याचारो को छोडकर सच्चे मन से भगवान को याद करने का उपदेश बार-बार देते हैं और आशा करते हैं कि हिन्दू-मुसलमान पारस्परिक भेद-भाव को भूल जायेंगे ।

हिन्दू-तुरक की एक राह है, सतगुरु इहै बतार्ई ।

कहत कबीर सुनो, हो सन्तौ ! राम न कहूँ खुदाई ।

(II) इस पद मे निश्चित रूप से मुस्लिम वाह्याचारो के प्रति विरोध व्यक्त किया है ।

(III) पाँच इन्द्रियाँ एव उनके विषय इस प्रकार हैं—कान—शब्द, जिह्वा—रस, आँख—रूप, नाक—गंध तथा त्वचा—स्पर्श ।

(IV, 'कलमा' मे अभेदत्व का प्रतिपादन है—अद्वैत ज्ञान है । अतः कबीर के मतानुसार उसका सच्चा उपदेश प्राणिमात्र के प्रति समबुद्धि एव प्रेम भावना का धारण है । कलमा का सदेश इन्द्रियो का स्वाद न होकर विषयो के प्रति वैराग्य है । उपर्युक्त पद मे यही मतव्य व्यजित है ।

सन्दर्भ—कबीरदास मानव को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि उसे रामनाम का स्मरण करना चाहिए ।

भावार्थ—री पागल जीवात्मा ! दिन प्रतिदिन यह शरीर क्षीण हो रहा है । हे पागली ! भगवान राम के प्रति मन को अनुरक्त कर ले । तुम्हारा बचपन तो नष्ट हो ही गया है, जवानी भी चली जाएगी और बुढ़ापा तथा मृत्यु का भय उपस्थित होगा । तुम्हारे बाल सफेद हो गए हैं, नेत्रों में कमजोरी के कारण सदैव पानी डब-डबाता रहता है । हे मूर्ख ! अब भी होश में आजा । देख, बुढ़ापा तो आ ही घमका है । राम-नाम का उच्चारण करते हुए तुम्हें शर्म क्यों लगती है । प्रत्येक क्षण तेरी वायु कम हो रही है और तेरा शरीर दुर्बल होता चला जा रहा है । लज्जा कहती है कि मैं यमराज की दासी हूँ । इसी कारण इसको राम-नाम कहने से पराङ्मुख करती रहती हूँ । मेरे एक हाथ में मुगदर है और दूसरे हाथ में फदा है । जिससे यमराज को इसे मारकर बाँधकर ले जाने में विलम्ब न लगे) । कबीरदास कहते हैं कि जिन्होंने मन से भी राम-नाम को भुला दिया है, उनका जीवन सर्वथा निरर्थक हो गया है ।

अलंकार—(1) मानवीकरण—लज्जा कह्यौ ।

(II) पुनरुक्ति प्रकाश—पल-पल ।

विशेष—(1) व्यजना यह है कि राम-नाम के स्मरण से मृत्यु पर विजय हो जाती है ।

(II) निषेध सचारी भाव की व्यजना है ।

(२४३)

मेरी मेरी करतां जनम गयो,

जनम गयो परि हरि न कह्यौ ॥ टेक ॥

बारह बरस बालापन खोयो, बीस बरस कछू तप न कीयो ।
तीस बरस के राम न सुमिर्यो फिरि पछितानों विरघ भयो ॥
सुकुं सरवर पालि बंवावै, लुणै खेत हठि बाड़ि करै ।
आयो चोर तुरंग मुनि ले गयो मोरी राखत मुगध फिरै ॥
मोक्ष घरन कर कपन लागे, नेन नीर अस राल बहै ।
जिन्धा बचन सूध नहीं निकसै, तब सुकरित की बात कहै ॥
कहै कबीर गुनहारे संतो, घन संचो कछू संगि न गयो ।
आई तनव गोपाल राइ की, मंठी मंदिर छ़ाड़ि चलयो ॥

जागि जागि नर काहे सोवै, सोइ सोइ कब जागैगा ।
जब घर भीतरि चोर पड़ेगे, तब अंचलि किसकै लागेगा ॥
कहै कबीर सुनहु रे सतौ, करि त्यों जे कछु करणां ।
लख चौरासी जोनि फिरौंगे, बिनां राम की सरनां ॥

शब्दार्थ—जाति जाती=व्यर्थ जाते हुए । जीया=जीव । चरन=पाँव ।

कर=हाथ । घारे=क्षीण हो गये, थक गये । आउ=आयु ।

संदर्भ—कबीरदास जीव को रामभक्ति की ओर प्रेरित करते हैं ।

भावार्थ—रे जीव ! जीवन व्यर्थ जाते हुए देखकर भी यदि तूने भगवान का नाम नहीं लिया तो बाद में तुम्हें पछताना पड़ेगा । ससार के धन्धों को करते-करते तेरे हाथ-पाँव दुर्बल हो गए हैं, आयु घटती जा रही है और शरीर क्षीण हो गया है । विषय-विकारों के प्रति तू सदैव अनुरक्त रहा और माया-मोह में उलभा रहा, अर्थात् 'मैं मेरा' के चक्कर में पडा रहा । रे जीव ! जागजा । अज्ञान निद्रा में क्यों सो रहा है । आखिरकार इस अज्ञान-रूपी निद्रा को तू कब छोड़ेगा ? अर्थात् यदि अब भी नहीं जागा, तो आखिर कब जागेगा ? जब इस शरीर रूपी घर में यम-दूत रूपी चोर तेरे जीवन को ले जाने के लिए घुस आँयेंगे, तब तू उस समय अपने रक्षार्थ किसकी शरण में जायगा ? कबीर कहते हैं कि हे सतौ ! सुनो जो कुछ भगवन्नाम-स्मरण करना है, उसे कर लो । राम की शरण में गए बिना तुमको बार-बार जन्म लेकर चौरासी लाख योनियों में निरन्तर भटकते रहना पड़ेगा ।

अलंकार—(i) पुनरुक्तिप्रकाश—जागि जागि ।

(ii) रूपकातिशयोक्ति—घर चोर ।

(iii) गूढोक्ति—अंचलि किसकै लागेगा ।

विशेष—'निर्वे.' संचारी भाव की मार्मिक व्यंजना है ।

(२४५)

माया मोहि मोहि हित कीन्हां,

तापे मेरो ग्यांन घ्यांन हरि लीन्हां ॥ टेक ॥

संतार ऐमा सुपिन जैसा, जीव न सुपिन समांन ।

लांच करि नरि गांठि बांध्यो, छाडि परम निधांन ॥

नैन नेह पतंग हुलसै पसू न पेखै आगि ।

कात पानि जु मृगध बांध्या, कलंक कामिनीं लागि ॥

करि विचार विचार परहरि, तीरण तारण सोइ ।

कहै कबीर रघुनाथ भजि नर, पूजा नाहीं कोइ ॥

शब्दार्थ—माहि=नाआरिह प्रपञ्च । हृन्=उल्लसित होना है । पानि=

काम, कलंक । तीरहरि=त्याग है । तीरण=तपसि, मोक्ष । तारण=तारने

या है । हृन्=उल्लसित ।

राम सो खरो है कौन मोसो कौन खोटो ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(111) लहंग दरिया—ब्रह्माण्ड मे से सवित रस धारा को चर्वी का दरिया कहना युक्ति सगत ही है ।

एवं— हैं स्रुति विदित उपाय सकल सुर, केहि केहि दीन निहोरै ।

(२५६)

अलह राम जीऊँ तेरे नाई,

बंदे ऊपरि मिहर करौ मेरे साई । टेक ॥

वधा ले साटी भुँइ सूँ मारै, वधा जल देह न्हावै ।

जोर करै मसकीन सतावै, गुन हीं रहै छिपाये ॥

वधा तु जू जप मजन कीये, वधा मसीति सिर नायै ।

रोजा करै निमाज गुजारै, वधा हज कावै जायै ॥

ब्राह्मण ग्यारसि करै चौबीसौं, काजी महरम जान ।

ग्यारह मास जुदे वधू कीये, एकहि माहि समांन ॥

जौर खुदाइ मसीति बसत है, और मुलिक किस केरा ।

तीरथ मूरति राम निवासा, दुहु मै किनहू न हेरा ॥

पूरिब दिसा हरी का वासा, पछिम अलह मुकांमा ।

दिल ही खोजि दिलै दिल भौतरि, इहां राम रहिमांन ॥

जेती औरति मरदां कहिये, सब मै रूप तुम्हारा ।

कबीर पंगुड़ा अलह राम का, हरि गुर पीर हमारा ॥

शब्दार्थ— नाई = नाम पर । बंदे = सेवक पर, दास पर । मिहर = मेहर वानी । साई = स्वामी । मिट्टी = शरीर भुँइ सूँ मारै = जमीन पर पटका जाए । जोर करै जुल्म करता है । मसकीन = दीन, दुःखी । मजन = मज्जन, शरीर की अंतर्बाह्य शुद्धि के लिए मंत्र पढते हुए कुशादि से जल छिड़कना । मसीति = मस्जिद । हज = हज्ज, नियत काल पर कावे के दर्शन और प्रदक्षिण करना, मक्के की यात्रा । कावा = मक्के की एक चौकोर इमारत जिसकी नींव इब्राहीम की रखी हुई मानी जाती है । महरम = मुहर्रम, मुसलमानी साल का पहला महीना जिसकी दसवी तारीख को इमामहुसैन शहीद हुए थे । मुलिक = मुल्क, ससार । हेरा । पंगुडा = दास, सेवक ।

सन्दर्भ—कबीर बाह्याचार की निरर्थकता बताते हुए भगवान की अनन्य भक्ति का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—हे अल्लाह ! हे राम ! मैं तुम्हारा नाम स्मरण करके जी रहा हूँ । हे मेरे स्वामी, अपने इस सेवक पर कृपा करो । जो व्यक्ति जुल्म करके दीन-दुखियो को सताता है और बाह्याचार (पूजा-पाठ आदिक) के द्वारा अपने अवगुणों को छिपाना चाहता है, उसका क्या किया जाए ? उसके शरीर को लेकर पृथ्वी पर

सन्दर्भ— कबीर सबको भूठा कहकर भगवान के प्रति अनुरक्त होने को कहते हैं ।

भावार्थ— हे मनुष्य तेरा ऐसा स्वभाव बन गया है कि तुझे भूठ ही मधुर लगता है अथवा हे मनुष्य तेरी वृत्ति मिथ्या आनन्दो में अत्यधिक रमती है । फल यह हुआ कि तू सत्य से सत्यानन्द से पराङ्मुख हो गया । इस मिथ्या ससार में भूठा जीव आया (ससार और जीव भाव ही मिथ्या हैं ।) वह मिथ्या विषय-वासनाओं में पड़ गया । इसी को लक्ष्य करके कबीर कहते हैं कि इस मिथ्या ससार ने उसके लिये भूठी विषय-वासना रूपी भोजन तैयार किया । माया रूपी भूठी थाली में भूठा भोजन परोसा गया और भूठे जीव ने उसमें विषय-वासना रूपी भूठे भोजन का भोग किया । यह उठना-बैठना एव समस्त सम्बन्ध भूठे (परमार्थतः मिथ्या) है । इस प्रकार भूठे रंग में भूठा अनुरक्त हो गया है । वह सत्य तत्व पर विश्वास नहीं करता है । कबीर कहते हैं कि हे खुदा के बच्चे (परमात्मा के पुत्रो) ! तुम परम तत्व स्वरूप सत्य में मन लगाओ और इस मिथ्या ससार के प्रति अपनी आसक्ति का त्याग कर दो । इसी से तुमको मन वाञ्छित फल (मोक्ष) की प्राप्ति होगी ।

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति एव यमक की व्यजना— भूठा' ।

विशेष—(1) जगत, जीव-भाव, विषय-वासना आदि सबको 'मिथ्या' कहने वाले कबीर ने प्रकारान्तर से शकर के 'मायावाद' का प्रतिपादन किया है ।

(ii) 'निर्वेद' सचारी की व्यजना है ।

(iii) वैराग्य का प्रतिपादन है ।

(२४७)

कौण कौण गया राम कौण कौण न जासो,

पड़सो काया गढ़ माटी थासो ॥ टेक ॥

इंद्र सरीखे गये नर कोड़ी, पांचो पाडों सरिषी जोड़ी ।

धू अचिचल नहीं रहसो तारा, चंद सूर की आइसी वारा ॥

फहें कबीर जग देसि समारा, पड़सो घट रहसो निरकारा ।

शब्दार्थ—जासो = जाएगा । गढ़ = किला । पड़सो = गिरेगा । थासो = हो

जाएगा । कोड़ी = कोमिया । घट = नरीर अथवा दृश्यमान जगत ।

संदर्भ— कबीर ससार की नररत्ना का प्रतिपादन करते हैं ।

परन्तु मृत्यु से किसी प्रकार नहीं बचा जा सकता है । अतः हे भगवन् ! मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ । जन्म-मरण के चक्र से मेरी रक्षा करो ।

(२४६)

पांडे न करसि वाद विवाद,

या देही विन सबद न स्वाद ॥ टेक ॥

अंड ब्रह्मंड खड भी माटी, माटी नवनिधि काया ।
माटी खोजन सतगुर भेटचा, तिन कछू अलख लखाया ॥
जीवत माटी सूवा भी माटी, देखौ ग्यांन बिचारी ।
अति कालि माटी मै बासा, लेटे पांव पसारी ॥
माटी का चित्र पवन का थंभा, व्यंद सजोगि उपाया ।
भाने घड़े सवारै सोई यहु गोव्यद की माया ॥
माटी का मदिर ग्यान का दीपक, पवन बाति उजियारा ।
तिहि उजियारै सब जग सूझै, कबीर ग्यांन बिचारा ॥

शब्दार्थ—थभा = स्तम्भ, खम्भा, सहारा । व्यद = विदु, वीर्य । भाने = दूटे हुए । बाति = बत्ती । उजियारा = प्रकाशित है ।

संदर्भ— कबीरदास ससार की असारता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ— कबीर कहते हैं कि अरे पाण्डित ! तुम वाद-विवाद (शास्त्रार्थ) मत करो । इस शरीर के बिना न शब्द रह जाएगा और न स्वाद रह जाएगा—न तो शास्त्रार्थ ही रह जाएगा और न शास्त्रार्थ का आनन्द ही रह जाएगा । तुम्हारा शास्त्रार्थ तो अवलम्बित है शरीर और शरीर की स्थिति यह है कि यह समष्टि जगत और इन विश्व का प्रत्येक अणु—सभी कुछ मिट्टी है । यह नवनिधियों को भोगने वाला शरीर भी मिट्टी ही है । इसी मिट्टी के ससार में खोजते-खोजते (विभिन्न माधनाओं में भटकते हुए) सद्गुरु से मेरी भेट हो गई । उन्होंने मुझको उस अलक्ष्य परम तत्त्व का दृष्टि ज्ञान करा दिया । हे मानव ! तू ज्ञान पूर्वक मनन करके देख । यह शरीर जीवित अवस्था में भी मिट्टी है और मरने पर भी मिट्टी है । इस शरीर को अन्ततः मिट्टी में ही मिन जाना पड़ता है और अल्प समय में यह जीव जमीन पर (मिट्टी में) पैर फैला कर बैठ जाता है । यह शरीर मिट्टी का ही पतला है और प्राण वायु का आधार नेत्र खग है तथा केवल शीर्ष एव रज की बुद्धि के संयोग से यह अल्पकाल बिया गया है । भगवान् ही यही जानते हैं कि बड़ी घड़े-रूपी शरीरों को लपट लगता है और जल में डूबा निर्वाण करता है । कबीरदास ज्ञान पूर्वक विचार कर लड़ते हैं कि मिट्टी का ही शरीर क्या मंदिर में ज्ञान रूपी दीपक बनता है । प्राण वायु की बत्ती जल में डूबा निर्वाण है— ज्ञान दीपक के प्रकाश के द्वारा ही सम्पूर्ण अन्तः का अन्तर्गत ज्ञान होता है ।

अर्थ— (१) ज्ञानपूर्वक— वाद विवाद, शब्द स्वाद ।

(२) पदम ती— १६ अक्षर ३ पद १ सूवा माटी ।

कहै कवीर मै जानां, मै जानां मन पतियानां ॥

पतियानां जी न पतीजै, तौ अंधै कू का कीजै ॥

शब्दार्थ—गँवारा=अज्ञानी, मूर्ख । पच चोर=पाँच विकार (काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर) । गढ=शरीर रूपी दुर्ग । मुहिकम=दृढ, वस्तु । मति=बुद्धि ।

संदर्भ—कवीरदास कहते हैं कि ज्ञान प्राप्ति के लिए मन की शुद्धि परम आवश्यक है ।

भावार्थ—हे मूर्ख जीव ! भगवान का नाम क्यों नहीं लेता है ? तू इस बारे में बार-बार क्या सोचता है ? अथवा तू यह क्यों बार-बार सोचता है कि सासारिक चिंताओं से मुक्त होने के लिए क्या करना चाहिए । इस शरीर-रूपी दुर्ग में काम, क्रोध, लोभ, मद एवं मत्सर रूपी पाँच चोर हैं । ये इसको दिन-रात लूट रहे हैं । अगर दुर्ग का स्वामी मजबूत हो, तो दुर्ग को कोई नहीं लूट सकता है । अभिप्राय यह है कि ये पच विकार जीव की चेतना एवं स्व-स्वरूप-स्थिति की क्षमता को नष्ट कर रहे हैं । यदि जीव-चैतन्य अपने स्वरूप में दृढता पूर्वक स्थित रहे, तो इसकी क्षमता को कौन नष्ट कर सकता है ? अविद्या रूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए ज्ञान रूपी दीपक चाहिए । उसी के द्वारा अगोचर परम तत्व की प्राप्ति होती है । इस परम तत्व के साक्षात्कार में यह ज्ञान रूपी दीपक भी इसी परम तत्व में समाहित हो जाता है । अगर कोई उस परम तत्व का साक्षात्कार करना चाहता है, तो उसे अपने अन्तःकरण रूपी दर्पण को स्वच्छ बनाए रखना चाहिए । जब दर्पण के ऊपर मैल जम जाता है—जब अन्तःकरण मलिन हो जाता है, तब उस परम तत्व का साक्षात्कार नहीं होता है । पढ़ने और मनन (स्वाध्याय) करने से क्या होता है ? वेद-पुराण सुनने से क्या होना है ? पढ़ने एवं मनन करने से मतवाद रूपी अहंकार उत्पन्न हो जाता है और तब परम तत्व का साक्षात्कार सम्भव नहीं होता है । उसको साक्षात्कार मुझको तो सहज भाव से हो गया है । अथवा यह कहिए कि जो ज्ञान शास्त्राध्ययन से होता है, वह मुझे सहज ही प्राप्त हो गया है । कवीर कहते हैं कि मैंने उस परम तत्व को जान लिया है और उस परम तत्व में मेरी निष्ठा दृढ हो गई है । उस परम तत्व का ज्ञान प्राप्त होने पर उसके प्रति जिसके मन में श्रद्धा-विश्वास दृढ नहीं होते हैं, उस अज्ञानी का क्या किया जाए ?

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति—चोर, गढ, गढपति, दीपक ।

(II) रूपक—वस्तु अगोचर ।

(III) विरोधाभास—अगोचर लहिए ।

(IV) पदमैत्री—दरसन दरपन ।

(V) वक्तोक्ति—का पढियै—सुनिये ।

(VI) गूढोक्ति—अंधै कू का कीजै ।

विशेष—(1) वेद शास्त्र का विरोध है ।

(II) काई—विषय-वासना ।

एव सफल साधन नहीं हैं ।) अतः भव-नागर में डूबने से बचने के लिए कोई अन्य उपाय करना चाहिए जिससे तैर कर इसे पार करके दूसरे किनारे पर पहुँच सको । कवीर का उपदेश तो यही है कि राम-नाम के स्मरण की नाँव तैयार करो जिससे उस भव-नागर को पार कर सको ।

अलंकार—(i) गूढोक्ति—तब का—मुकन्दा ।

(ii) रूपक—राम-नाम मेरा ।

विशेष—(i) भक्ति का प्रतिपादन है । वही एक ऐसा साधन है जिससे भव-नागर को पार किया जा सकता है ।

(ii) इस पद के अनुसार उच्च जाति में पैदा होने से नहीं उच्च कर्म करने में ही व्यक्ति उच्च बनता है ।

(iii) पुरव जनम . . . नीन्हा - इन पक्तियों में कर्म-फल सिद्धान्त एवं पुनर्जन्म के भारतीय सिद्धान्त की स्पष्ट स्वीकृति है ।

(iv) भक्ति ही उच्चतम कर्म है । यह व्यजित है ।

(v) मेरी जिन्मा गोविन्दा—तुलना कीजिए—

सिय-राम सहस्र अगाध अनूप, विलोचन मीनन को जलु है ।

लृति राम कथा, मुज राम को नाम हिये पुनि रामहि को थलु है ।

मति रामहि सो, गति रामहि सो, रति राम सो रामहि को बलु है ।

सबको न कहै, तुलसी के मते, इतनो जग जीवन को फलु है ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(२५१)

कहू पाडे सुचि कवन ठाँव,

जिहि घरि भोजन बैठि खाऊ ॥ टेक ॥

माता जूठी पिता पुनि जूठा, जूठे फल चित लागे ।

जूठा आंवन जूठा जानां, चेतहु ब्यू न अभागे ॥

अंन जूठा पानी पुनि जूठा, जूठे बैठि पकाया ।

जूठी कड़्यी अन परोस्या, जूठे जूठा खाया ॥

चौका जूठा गोबर जूठा, जूठी की ढीकारा ।

कहू कवीर तेई जन सूचे, जे हरि भजि तजहि विकारा ॥

शब्दार्थ—पाडे=पण्डित । सुचि=सुविधि=पवित्र । ठाँव=स्थान । अगा
=रेखा, सोर । ब्यू=पवित्र ।

सर्वार्थ—कवीर कहते हैं कि भगवद् भजन के अनिश्चित सब सुख

हो जाएँ (अथवा राम भक्ति के बिना समस्त साधनाएँ व्यर्थ हैं) । मूर्ख लोग चाहे जितना उनका पालन करे । सारा जप-तप झूठा है, सम्पूर्ण शास्त्र-ज्ञान व्यर्थ है । राम की भक्ति के बिना समस्त ध्यान एवं साधना झूठी है । शास्त्रों के द्वारा निर्धारित विधि-निषेध, पूजा-आचार का कोई अन्त नहीं है । ये सब नदी में टुबा देने योग्य हैं । स्वार्थी व्यक्तियों ने इन्द्रियों के भोग एवं मन को प्रमत्त करने के लिए अनेक 'वादों' और पूजा पद्धतियों का विक्रम कर रखा है । कबीरदाम कहते हैं कि इसी में मैंने समस्त भ्रमों को नष्ट करके और अन्य प्रकार की साधनाओं से मुँह मोड़ कर भगवान में अपना मन लगा दिया है ।

अलंकार—गूढोक्ति एवं विशेषोक्ति की व्यंजना -

विशेष—प्रथम चरण ।

वाह्याचार का विरोध है । सच्ची भक्ति का प्रतिपादन है ।

(२५३)

चेतनि देखै रे जग धधा ।

राम नाम का मरम न जानै, माया कै रसि अधा ॥ टेक ॥

जनमत हीरू कहा ले आयो, मरत कहा ले जासो ।

जैसे तरवर वसत पखेरू, दिवस चारि के वासो ॥

आपा थापि अवर कौ नदै, जन्मत हीं जड़ काटी ।

हरि की भगति विनां यहु देही धव लोटै ही फाटी ॥

कांम क्रोध मोह मद मछर, पर अपवाद न सुणिये ।

कहे कबीर साध की संगति, राम नाम गुण भणिये ॥

शब्दार्थ—वसत = वसते हैं । पखेट = पक्षी । थापि = स्थापना करके, बढ़ाई करके । धव लोरे = देह धौलोरे = दौड़ धूप । फाटी = विदीर्ण हो गई, नष्ट हो गई । भणिये = कहिए ।

सन्दर्भ—कबीर का कहना है कि जीव को ससार के प्रपञ्च त्याग कर राम की भक्ति करनी चाहिए ।

ही अपनी जड़ काटती है अर्थात् अपने उद्गम स्थल ब्रह्म से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है। हरि की भक्ति बिना यह देह विषयो के पीछे दौड़-धूप करते हुये नष्ट हो गई है। कबीरदास चेतावनी देते हुये कहते हैं कि हे जीव, तू काम, क्रोध, मोह, मद और मत्सर की ओर ध्यान मत दे और साधुओ की सगति करो तथा राम के नाम का गुणगान करो।

अलंकार—(1) उदाहरण—जैसे.... वासी।

(II) वक्रोक्ति—जनमत . जासी।

विशेष—(1) जड़ काटी, धव लौटे—मुहावरो का सुन्दर प्रयोग है।

(II) व्यक्ति को चाहिए कि वह ससार के प्रति आसक्त न होकर भगवान की भक्ति करे। साधु-सगति एव भगवन्नाम-स्मरण के द्वारा मिथ्यात्व का विश्वास होता है और उसके प्रति आसक्ति समाप्त हो जाती है।

(२५४)

रे जम नांहि नवै व्यौपारी,

जे भरै जगाति तुम्हारी ॥ टेक ॥

बसुधा छांड़ि बनिज हम कीन्हों, लाद्यो हरि को नांऊं ।

राम नाम की गूनि भराऊ, हरि कै टांडै जांऊ ॥

जिनकै तुम्ह अगिवानी कहियत, सो पूंजी हम पास ।

अबै तुम्हारौ कछु बल नांही, कहै कबीरा दासा ॥

शब्दार्थ—जगाति=पेशावर से आने वाले माल पर लगने वाला कर, आयात कर। गूनि=बोरा। टांडै=सार्थ, कारवाँ, काफिला। अगिवानी=आगे आगे चलने वाले।

सन्दर्भ—कबीर ज्ञान प्राप्ति की दशा का वर्णन करते हैं।

भावार्थ—हे यम ! हम वे व्यापारी नहीं है जो तुम्हारी चुगी दें। मैंने ससार के प्रति आसक्ति का परित्याग करके आत्म-बोध में जीवन लगाया है (निज व्यापार किया है) और मैंने हरि नाम की खेप लादी है अर्थात् मेरे मन-मानस में हरि-नाम व्याप्त है। मैंने राम-नाम रूपी सामग्री से जन्म रूपी बोरी भर ली है और हरि भक्तों के काफिले (समूह) के साथ (मोक्षधाम) को जाऊँगा (जिन भगवान के नाम पर तुम जीवधारियों को लिवा ले जाने के लिये आते हो, वे उन भगवान की भक्ति रूपी पूंजी ही हमारे पास है (जिस पर तुम्हारा कोई इजारा नहीं है) कबीर दास यमराज को सम्बोधित करके कहते हैं कि अब हमारे ऊपर तुम्हारा कोई वश नहीं चलेगा (पिछले जन्मों की बात अब नहीं रही है।)

अलंकार—(1) रूपक—रामनाम की गूनि।

(II) गूढोक्ति—नाहिन वैव्यापारी।

विशेष—(1) जे धरै जगाति—अज्ञान के कर्म पाप-पुण्य होते हैं। उनके अनुसार यम जीव का हिसाब-किताब लेकर उसको नरक-स्वर्ग भेजते हैं। परन्तु

‘आत्म-बोध’ का साधक-कर्म-निर्लिप्त रहना है । अतः उस पर यमराज का कोई अधिकार नहीं रहता है । यमराज के अधिकार की सीमा में आकर उसके निर्णय के अनुसार व्यवहार करने को विवश होना ही ‘यमराज की चुगी भरना’ है ।

(२५५)

मीया तुम्ह सौं बोल्या बणि नहीं आवे ।

हम मसकीन खुदाई वदे, तुम्हारा जस मनि भावै ॥ टेक ॥

अलह अवलि दीन का साहिब, जोर नहीं फुरमाया ।

मुरिसद पीर तुम्हारै है को कहौ कहाँ थैं आया ॥

रोजा करै निवाज गुजारै, कलमे भिसत न होई ।

सतरि कावे इक दिल भीतरि, जे करि जानै कोई ॥

खसम पिछाँनि तरस करि जिय मै, माल मनीं करि फीकी ।

आपा जानि साईं कू जानै, तब ह्वै भिस्त सरीकी ॥

माटी एक भय धरि नांनां, सब मै ब्रह्म समानां ।

कहै कबीर भिस्त छिटकाई, दोजग ही मन मानां ॥

शब्दार्थ—मीया=मिया, मालिक, सम्मानित जन का बोधक (श्रीमन् की भाँति) । मसकीन=मिस्कीन=दीन, अकिंचन । वदे—सेवक, दास । अवलि—सर्व प्रथम । फुरमाया=आज्ञा दी । मुरिसद=मुरशिद=सीधा मार्ग दिखाने वाला, गुरु । पीर=महात्मा, सिद्ध । कलमा=वह वाक्य जो मुसलमानों के धर्म-विश्वास का मूल मन्त्र है—ता इलाह इतिल्लाह, मुहम्मद, रसूलिल्लाह । भिसत=बहिश्त, स्वर्ग । सतरि=सत्तर । कावे=मक्का की एक चौकोर इमारत जिसकी नींव इब्राहीम की रखी हुई मानी जाती है । खसम=स्वामी । तरस=कहना । माल मनीं=माल-मन, वैभव के प्रति आसक्ति । फीकी=कम, मद । सरीकी=सम्मिलित शिरकतदार=शामिल होने का अधिकारी । छिटकाई=आसक्ति छोड़ दी । दोजग=तरक । मन माना=मन को आश्वस्त कर लिया है ।

संदर्भ—कबीर इस पद में विशेष रूप से मुसलमानों के वात्स्याचार का विरोध करके एकत्व का प्रतिपादन करते हैं ।

हृदय मे दया-करुणा का भाव जगा और सासारिक वैभव के प्रति अपनी आसक्ति को कम (तिरोहित) कर दे । अपने स्वरूप को पहिचान कर जब तू अपने स्वामी भगवान के स्वरूप को समझेगा, तब कही जाकर तू स्वर्ग की प्राप्ति का अधिकारी बनेगा । मिट्टी (उपादान कारण मूल प्रकृति) एक ही है और उसी से विभिन्न रूपात्मक योनियो रूपी वर्तनो का निर्माण हुआ है । इस प्रकार समस्त दृश्यमान जगत मे ब्रह्म समाया हुआ । कबीर कहते हैं कि (इसी विवेक के फलस्वरूप) मैंने स्वर्ग के प्रति आसक्ति को त्याग दिया हे और नरक के प्रति मन को आश्वस्त कर लिया है, अर्थात् सबको समान समझने के फल स्वरूप मुझको यदि नरक मे जाना पड़ेगा तो मुझे किसी प्रकार का दुःख नहीं होगा ।

अलंकार—(1) छेकानुप्रास—अलह अवलि ।

(11) गूढोक्ति—मुरशिद आया ।

विशेष—(1) जोर नहीं फुरमाया—सबके मूल स्थान भगवान से क्या पीर मुरशिद नहीं आये, जो वे उसी भगवान से आने वाले अन्य प्राणियो पर जोर-जबरदस्ती करने का उपदेश देते हैं ?

(11) दो जग ही मन माना—इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—

रे मिया, तुमने जोर जुल्म और बाह्याडम्बरो मे विश्वास करके वास्तव मे स्वर्ग छोडकर नरक मे ही अपना मन लगा लिया है, और इस कारण तुमको नरक ही मिलेगा ।

वैसे कबीरदास सदा यही कहते आए हैं कि मैं तो नरक मे भी ब्रह्म के आनन्द रूप का साक्षात्कार कर लूँगा । इस कारण मेरे लिए स्वर्ग-नरक समान हैं । ज्ञानोदय के फलस्वरूप मेरी भेद-बुद्धि समाप्त हो गई है—

अनजाने को नरक सरग है, जाने को कुछ नाहीं ।

जेहि डर को सब लोग डरत हैं, सो डर हमरे नाहीं ।

(111) मुसलमान धर्म के बाह्याचारो का इतना सबल विरोध कबीर जैसे साहसी साधक ही कर सकते हैं । अन्यथा हिन्दुओ की तरह मुसलमानो के धार्मिक विश्वासो के विरुद्ध मुँह खोलना आसान नहीं है ।

(1V) माटी एक ...समाना—एकेश्वरवाद एव अद्वैतवाद का सुन्दर समन्वय है ।

(V) सतरि कावे इक दिल भीतरि—तुलना करे—

हमारें तीरथ कौन करे ?

मन मे गंगा मन मे जमुना भटकत कौन फिरे ? इत्यादि

तथा—

दिल के आइने में है तस्वीरेयार ।

जब जरा गरदन झुकाई देख ली ।

(२५६)

अलह तयो लायें काहे न रहिये,

अह निसि केवल राम नाम कहिये ॥ टेक ॥

गुरमुखि जलमां ग्यांन मुखि छुरी, हुई हलाल पंचू पुरी ॥

मन मसीति मै किनहूँ न जानां, पच पीर मलिम भगवांनां ॥

कहै कबीर मै हरि गुंन गाऊ, हिंदू तुरक दोऊ समझाऊँ ॥

शब्दार्थ—तयो=लौ, तगन। अह=दिन। हलाल=विहित, शरई रीति से पसुवध। कलमा=वह उक्ति जो मुसलमानो के धर्म-विश्वास का मूल मंत्र है—ला इलाह इल्लिल्लाह, मुहम्मद रसूलिल्लाह। मसीत=मस्जिद।

सन्दर्भ—कबीरदास अन्तर्मुखी होने का उपदेश देते हैं।

भावार्थ—हे भाई ! तुम भगवान मे लौ लगाकर क्यो नही रहते हो ? दिन रात केवल राम-नाम कहते रहो। गुरु के मुख से कलमा का उपदेश सुन कर तथा ज्ञान रूपी छुरी से पांचो इन्द्रियो के विषयो रूपी पशुओ का बध करके ईश्वरार्पण कर देना चाहिये। मन रूपी मस्जिद के भीतर भाँक कर किसी ने नही देखा है। वहाँ पर पच पीरो के स्वामी भगवान का स्थायी निवास है। कबीर कहते हैं कि मैं (वाह्याचारो को त्याग कर) भगवान का गुण-गान करता हूँ तथा हिन्दू मुसलमान दोनो को ऐसा ही करने को कहता हूँ।

अलंकार—(i) गूढोक्ति—काहे न कहिए।

(ii) रूपक—ग्यान मुखि छुरी, मनमसीति।

(iii) रूपकातिशयोक्ति—पचूपुरी।

(iv) छेकानुप्रास—पचू पुरी, पचपीर, मन-मसीति।

विशेष—(i) कबीर वाह्याचारो को छोडकर सच्चे मन से भगवान को याद करने का उपदेश बार-बार देन ह और आशा करते है कि हिन्दू-मुसलमान पारस्परिक नैद-भाव को भूल जायेंग।

हिन्दू-तुरक की एक राह है, सतगुरु इहे बताई।

कहत कबीर तुनो, हो नन्तो ! राम न कहूँ सुदाई।

(ii) इस पद म निश्चित रूप से मुस्लिम वाह्याचारो के प्रति विरोध व्यक्त किया है।

(२५७)

रे दिल खोजि दिलहर खोजि, ना परि परेसांनी मांहि ।
 महल माल अजीज औरति, कोई दस्तगीरी क्यूं नांहि ॥टेक॥
 पीरां मुरीदां काजियां, मुलां अरू दरवेस ।
 कहाँ थें तुम्ह किनि कीये, अकलि है सब नेस ॥
 कुराना कतेवां अस पढ़ि पढ़ि, फिकरि था नही जाइ ।
 टुक दम करारी जे करै, हाजिरां सूर खुदाइ ॥
 दरोगां बकि हूहिं खुसियाँ, वे अकलि बकहिं पुमाहि ।
 इक साच खालिक म्यानै, सो कछू सच सूरति मांहि ॥
 अलह पाक तू, नापाक क्यू अब दूसर नाहीं कोइ ।
 कबीर करम करीम का, करनी करै जानै सोइ ॥

शब्दार्थ—दिल हर=प्रियतम । सहर - शहर । माल=धन-दौलत । अजीज
 =अजीज, प्रियजन । दस्तगीरी=हाथ पकडने वाला, सहायक । पीरा=गुरु ।
 मुरीदा=चेला । काजी=मुसलमान न्यायाधीश जो शरा के अनुसार मामलो का
 निर्णय करे, निकाह पढाने वाला मौलवी । मुला=मुल्ला, मस्जिद मे रहने या नमाज
 पढाने वाला, मस्जिद, की रोटियाँ खानेवाला । अकलि है सब नेस (नेस्त ।, नेस्त=
 नष्ट, विवेक शून्यता । दरवेस=दरवेश, फकीर । कतेवाँ=किताबें । टुक =जरा,
 थोडा । दम करारी=दम का धैय, आत्म-नियन्त्रण । सूर=आनद । हाजिरा=
 उपस्थित, साक्षात्कार । दरोग = भूठा । हहि खुसिया = खुशी होते है । वेअकलि=
 मूर्ख । पुमाहि = प्रमत्त, गर्व करते है । सचु=सत्य । साचु=सत्यता । खलक=
 सृष्टि । खालिक=सृष्टि कर्ता । म्यानै = मे, मध्य । सैल =सकल, समस्त । सूरत =
 रूप । पाक=पवित्र । नापाक =अपवित्र । करम=करम दया । करीम =दयालु ।

संदर्भ—कबीरदास मुसलमानो के बाह्याचार का विरोध करते है और
 ब्रह्मवाद का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ - रे हृदय (मन), तू अपने आपको खोज और उसको खोज जो इस
 दिल मे रहता है । अर्थात् तू अपने प्रियतम को खोज । (व्यर्थ की) अन्य परेशानियो
 मे मत पडे । सहर, धन-दौलत, प्रियजन, पत्नी कोई भी तेरा सहायक नही है । हे
 पीरो (धर्म गुरुओ), चेलाओ, काजियो, मस्जिद की रोटियाँ खाने वाले मुल्लाओ
 तथा खुदा के नाम पर दर-दर भीख मांगने वाले फकीरो, तुमको कहाँ से और किसने
 बनाया है ? तुम्हारी सब अकल मारी गई है अर्थात् तुम्हारी सब बातें विवेक शून्य
 हैं । कुरान तथा अन्य धर्म ग्रन्थो को पढ पढ कर तुम्हारी चिन्ताएँ दूर नही हो
 सकती हैं । जो अपने ऊपर थोडा सा नियन्त्रण कर लेते है, उन्हे ईश्वरीय आल्लाद
 का साक्षात्कार हो जाता है । मिथ्या बातो अर्थात् शास्त्र की बातो को बक बक कर
 लोग प्रसन्न होते है । अज्ञानी व्यक्ति ही इस प्रकार की बातें करके गव करते हैं ।
 जिस प्रकार 'सत्य' मे सत्यता निहित होती है, उसी प्रकार सृष्टि समाई हुई है और

वह (गृष्टि कर्ता) गृष्टि के गमस्त रूपो (दृश्यमान जगत) में व्याप्त है। यदि परमात्मा (अल्लाह) पवित्र है, तो तू (जीव) अपवित्र किस प्रकार हुआ ? अब तू समझ ले कि संसार में अल्लाह (परम तत्त्व) के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। कबीरदास कहते हैं कि उस दयालु की जिस पर दया होती है वही उसकी लीला (करनी) के रहस्य को जान सकता है।

अलकार—(i) पुनरुक्ति प्रकाश—खोजि खोजि । पढि पढि । वकि वकि ।

(ii) विशेषोक्ति—कुरानां नहीं जाइ ।

(iii) दृष्टान्त—मचु माहि ।

(iv) सभग पद यमक—पाक नापाक ।

(v) गूढोक्ति—तू नापाक क्यू ।

(vi) अनुप्रास—करम करीम करनी करै ।

विशेष—(i) बाह्याचार का विरोध है ।

(ii) आत्म-बोध का उपदेश है ।

(iii) शांकर अद्वैतवादी ब्रह्मवाद का प्रतिपादन है—सैल सूरति माहि—
सवंम् सत्त्वदरब्रह्म । अब दूसर नाही कोई—एकोऽह द्वितीयो नास्ति । जीवो ब्रह्मैव
ना पर । जलह पाक तू नापाक क्यू—'अह ब्रह्मास्मि' । (ईश्वर अंश जीव
अविनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी) । इसी आधार पर सूफी धर्म ने भी
अनह्नक' की आवाज उठाई थी ।

(iv) कर्म करीम का—जानै सोइ ।

ज्ञानी भक्त की भाँति कबीरदास ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रभु के अनुग्रह पर
अप्रसम्भित ह ।

तुलना ही।ए—

यह गुन साधन ते नहि होई । तुम्हरो कृपा पाउ कोइ कोई ।

सोइ जानहि जेहि बेहु जनार्इ । जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई ।

ए— हँ स्रुति विदित उपाय सकल नुर, केहि केहि दीन पियारे ।

तुनसिदास यहि जीव मोह-रजु, जोई बांधो सोइ धोरै ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

नया— अ-प्रिगत गति जानी न परं ।

×

×

×

पूर पति तरि जाइ छनक में, प्रभु गो नेकु उरै । —सूरदास

(२५८)

साक्षि हरि कहीं बर हाल ।

पजर गति कइत तुनमन, नुरव सरि पैमाल ॥ टेक ॥

निन्त दुसरां बाँगा, इंवर बरात दि बाल ।

पहनांन परदा ईन जातत, जहर जगम जाल ॥

हम रफत रहबरहु समां, मै खुर्दा सुमां विसियार ।
 हम जिमां असमान खालिक, गुंद मुसिकल कार ॥
 असमान म्यांनै लहग दरिया, तहाँ गुसल करदा बूद ।
 करि फिर रह सालक जसम, जहा स तह्यां मौजूद ॥
 हम चु बूंदनि बूद खालिक, गरक हम तुम पेस ।
 कबीर पनह खुदाइ की, रह दिगर दावानेस ॥

शब्दार्थ— खालिक=सृष्टिकर्ता । दर हाल=इसी समय । पच=पाँच तन्मायाएँ (मूल पच महाभूतो का सूक्ष्म रूप) अथवा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ । रजसि=रजिश करके । मुरद=मुर्दा । मिस्त=वहिष्ट=स्वर्ग । दोजगा=दोजख, नरक । दुद=द्वन्द्व=अशांति । ईत=ईति=दुख दुरापद । आतस=आतिश, अग्नि । जंगम=जन्तु । रफत=जाने वाले । खुर्दा=अत्यल्प । विसियार=महान । असमान=आसमान, ब्रह्मरन्ध्र । दरिया=नदी । गुसल=स्नान । बूद=जानो । बूंदनि=जानना बूद=जानना है । गरक=गरक=तन्मय, लीन । पेस=पेश, सामने, समक्ष । पनह=शरण । दिगर=दीगर=दूसरा । दावा=अधिकार । नेस=नेस्त, नहीं है । पैमाल=पामाल, पैरो से कुचलना । दराज=लम्बी । आतस=आतिस, अग्नि, ताप । सुमो=तू । रहबर=मार्ग दर्शक । लहग=चर्बी । बूद अस्तित्व ।

संदर्भ— कबीर भगवान के प्रति अनन्य समर्पण की अभिव्यक्ति करते हैं ।

भावार्थ— सृष्टिकर्ता हर जगह मौजूद है । वह इस समय यहाँ भी है । हड्डियो के इस ढाँचे के अर्थात् इस असार शरीर ने मेरे साथ दुश्मन जैसा व्यवहार किया है और पैरो से कुचल कर मुझ को मुर्दा (मृतकतुल्य) बना दिया है । स्वर्ग और नरक उसी के हैं । यह ससार रूपी लम्बी दीवाल उसी की छाया है । समस्त भेदभाव, दुरापद, ताप, पशुओ के जहर आदि इस ससार रूपी जाल में भरे पडे हैं । हम राहगीर हैं । तू हमारा रहनुमा (मार्गदर्शक) है । मैं अत्यन्त छोटा हूँ, तू अत्यन्त महान है । हम जमीन (नीचे) हैं । सृष्टिकर्ता ऊपर आसमान के समान हैं । दोनों को एक करना बड़ा ही कठिन काम है । आसमान में चरबो की नदी बहती है और उसमें आत्म तत्त्व स्नान करता है अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में होकर अमृत भरता है और आत्मस्वरूप जीव उसका भोग करता है । इस शरीर द्वारा तू उस मालिक की चिन्ता कर और धर्म एव नीति का आचरण कर । उसका साक्षात्कार तुझको हर स्थान पर होगा । स्वयं अपने को जानना तुझ मरजन हार को जान लेना है । हम तुम्हारे सम्मुख तुम्हारे ध्यान में मग्न हैं ।

कबीर कहते हैं कि मैं भगवान की शरण में हूँ यहाँ कोई दूसरा दावेदार नहीं है ।

विशेष— (1) कबीर प्रभु के प्रति पूर्ण समर्पण भाव दिखाते हैं ।

(ii) हम रफत काल—तुलना कीजिए—

राम सो बड़ा है कौन मोसो कौन छोटी ।

राम सो खरो है कौन मोसो कौन खोटो ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(iii) लहग दरिया—ब्रह्माण्ड मे से स्रवित रस धारा को चर्बी का दरिया कहना युक्ति सगत ही है ।

एव— हैं लुति विदित उपाय सकल सुर, केहि केहि दीन निहोरें ।

(२५६)

अलह राम जीऊँ तेरे नाई,

बदे ऊपरि मिहर करौ मेरे साई । टेक ॥

वया ले माटी भुँड सूँ मारै, वया जल देह न्हवायें ।

जोर करै मसकीन सतावै, गुन ही रहै छिपाये ॥

वया तु जू जर मजन कीये, वया मसीति सिर नांयें ।

रोजा करै निमाज गुजारै, वया हज कावै जांयें ॥

ब्राह्मण ग्यारसि करै चौबीसों, काजी महरम जांन ।

ग्यारह मास जुदे वयू कीये, एकहि मांहि समांन ॥

जोर पुदाइ मसीति वसत है, और मुलिक किस केरा ।

तीरथ सूरति राम निवासा, दुहु मै किनहू न हेरा ॥

पूरिव दिसा हरी का वासा, पछिम अलह मुकांमा ।

दिल ही खोजि दिलै दिल भीतरि, इहां राम रहिमांनां ॥

जेती औरति मरवां कहिये, सब मै रूप तुम्हारा ।

कबीर पगुड़ा अलह राम का, हरि गुर पीर हमारा ॥

शब्दार्थ— नाई = नाम पर । बदे = सेवक पर, दास पर । मिहर = मेहर वाली । नाई = स्वामी । मिट्टी = शरीर भुँड सूँ मारै = जमीन पर पटका जाए । जोर करै मज्जम करता है । मसकीन = दीन, दुखी । मजन = मज्जन, शरीर की अंतर्धान शुद्धि के लिए मथ पटते हुए कुशादि से जल छिड़कना । मसीति = मस्जिद । हज = हज, नियत काल पर काबे के दर्शन और प्रदक्षिण करना, मक्के की यात्रा । रोजा = मरते की एक चौकोर आदत जिगती नीव इब्राहीम की रखी हुई माती पानी है । महरम = मुहर्रम मुनवमानो नाल का पहला महीना जिसकी दसवीं शरीरग तो इमायतुमैन शरीर हुए थे । मुलिक = मुल्क, सत्तार । हेरा । पगुड़ा = शन सेवक ।

परका जाए अथवा उसको पानी में डुबा दिया जाए ? इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि उस व्यक्ति के शरीर पर किसी तीर्थ-स्थान की मिट्टी मलने से अथवा उसको तीर्थ-जल से स्नान कराने से क्या लाभ है ? ऐसे पाखण्डी एवं अत्याचारी व्यक्ति को सम्बोधित करते हुए कबीर कहते हैं कि तुम्हारे वजू (जू--नमाज से पहले यथाविधि हाथ-पाँव और मुँह धोना) । जप मार्जन (जल छिड़क कर पवित्र होना), से क्या लाभ है ? तुम मसजिद में जाकर सिर झुकाते हो, इससे क्या लाभ है ? रोजा रखने, नमाज पढ़ने, तथा हज एवं कावे जाने (तीर्थाटन) से क्या लाभ है ? ब्राह्मण वर्ष की चौबीसो एकादशियों को उपवाम रखता है और काजी मोहर्रम के पूरे महीने भर इमामहुसैन की शहादत के लिए शोक मनाता है । पर इनका क्या उपयोग है ? रमजान के महीने को छोड़कर शेष ग्यारह महीनों को अलग क्यों कर दिया ? सभी महीने समान हैं—(सभी में धार्मिक कृत्य करने चाहिए ।) अगर खुदा केवल मस्जिद में ही रहता है, तो शेष समस्त ससार किसका है ? हिन्दुओं के अनुसार तीर्थों में और मूर्तियों में भगवान (राम) का निवास है । परन्तु उसके दर्शन तो दो में से किसी में भी किसी ने नहीं किए हैं । हिन्दुओं के मतानुसार पूर्व दिशा में भगवान का निवास है । मुसलमानों की राय में पश्चिम में अल्लाह का निवास-स्थान है । (इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों ही भगवान को मानो सर्वव्यापी नहीं मानते हैं) हे मानव, तुम अपने हृदय को ही ढूँढो । वही तुमको राम और रहीम (ईश्वर और खुदा) दोनों के दर्शन हो जाएगे । कबीर कहते हैं कि हे प्रभु । ससार के जितने भी नारी-पुरुष (नर-मादा) हैं, उन सबके भीतर तुम्हारा स्वरूप विद्यमान है अथवा वे सब तुम्हारे ही अव्यक्त रूप के व्यक्त रूप हैं । (मैं तो राम ईश्वर और अल्लाह दोनों का ही दास हूँ । भगवान मेरे गुरु और पीर दोनों ही हैं ।

अलकार— (1) गूढोक्ति-क्या ले सम्पूर्ण पद ।

विशेष— (1) वाह्याचार की निरर्थकता एवं राम रहीम का प्रभेद बताकर कबीर ने हिन्दू और मुसलमानों की एकता का प्रतिपादन किया है ।

(11) कबीर भगवान को सर्वव्यापी बताते हैं और इसी आधार पर प्रभु-भक्ति का निर्वाह करना चाहते हैं—

सो अनन्य गति जाकेँ मति न टरे हनुमंत ।

मैं सेवक सचराचर रूप-स्वामि भगवंत ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(111) क्या ले माटी मुँह सूँ मारै—भक्त जन तीर्थ की परिक्रमा 'लेट-लेट' कर भी लगाते हैं—इसको दडौती परिक्रमा कहते हैं । ऐसा करते हुए उनके शरीर में जमीन की मिट्टी चिपक जाना स्वाभाविक है । सम्भवतः कबीर का संकेत इस ओर भी हो सकता है ।

(२६०)

मैं बड़ मैं बड़ मैं बड़ मांटी,

मण दसना जट का दस गांठी ॥ टेक ॥

मैं बाबा का जोध ५ हांऊ, अपनी मारी गींद चलाऊ ।

इनि अहकार घणों घर घाले, नाचत कूदत जमपुरि चाले ॥

कहै कबीर करता की वाजी, एक पलरु मैं राज बिराजी ।

शब्दार्थ— नाटका=नाज - टका । टका=रुपया (बगला प्रयोग) । जोध=योद्धा । गींद—गेद । घणों—बहुत से । घाले—नष्ट किए । वाजी—खेल, लीला । बिराजी—राज्य रहित ।

सदर्थ—कबीर ससार की असारता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—अहकारवश व्यक्ति कहने लगता है कि "मैं बड़ा हूँ, मैं बड़ा हूँ ।" परन्तु यह बड़प्पन मिट्टी (व्यर्थ, अत्यन्त अल्प मूल्य) है । दस मन अनाज एव गाठ में दस रुपए होने के कारण होने वाले बड़प्पन का आधार सर्वथा तुच्छ है । मैं बाबर का योद्धा हूँ अर्थात् गाँव के मुखिया का कृपापात्र हूँ और जो अपनी मनमानी करता हूँ । इस प्रकार के अहकार के फलस्वरूप अनेक घर (परिवार) नष्ट हो गये । ये अहकारी नाचते कूदते मर गए । कबीरदास कहते हैं कि यह सब उस सृष्टिकर्ता की लीला है । एक पल के भीतर वह राजा को बिना राज का कर देता है । इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—जब भगवान की वाजी पडती है, तब वह एक क्षण में ही सब कुछ उलट-पुलट कर देता है ।

अलंकार-- (i) अनुप्रास— प्रथम पक्ति । घणों घर घाले ।

विशेष— (i) निर्वेद नचारी' भाव की व्यञ्जना ।

(ii) मृदावरो का प्रयोग— (i) बड़ माटी (ii) बाबा का जोध । (iii) अपनी मारी गींद चलाना । (iv) घर घालना ।

(२६१)

कहै बीहो मेरे साथी, हूँ हाथी हरि केरा ।

चौरासी लख जाके मुख मैं, सो च्यंत करेगा मेरा ॥ टेक ॥

रुहौ कौन धिये रुहौ कौन गाजे, कहाँ ये पांणी निसरै ।

ऐनी कना जनत हूँ जाके, सो हंस को बयूँ विसरै ॥

जिनि ब्रह्मांड रच्यो बहु रचना, वाच बरन ससि सूरु ।

पाउरु पच पुनमि जाके प्रकटै, सो बयूँ कहिये दूरा ॥

नेन नामिहा जिनि हरि मिरजे दसनवसन विधि काया ।

नापु जन को मो भूँ विमरै, ऐसा है राम राया ॥

हो कान्हू का मरम न जाने, भँ मरनांगति तेरी ।

कहै कबीर रूप राम राया, हरमति रासहु मेरी ॥

शब्दार्थ— (i) लख = लाख । (ii) च्यंत = च्यंत । (iii) बयूँ = बयूँ । (iv) विधि = विधि ।

निसरै—निस्सृत होता है, बरसता पाइक=पावक । बाव=वायु । बरन=वरुण ।
पाइक=पाँच । प्रहमि=पृथ्वी । हुरमति=हुरमत, असमत, इज्जत ।

भावार्थ— कबीर माया-मोह को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि “मेरे साथी, तुम मुझे क्यों सताते हो ? मैं तो भगवान का साथी हूँ । जिसके भीतर चौरासी लाख योनियाँ समाई हुई हैं । अर्थात् जन्म-मरण का सम्पूर्ण नरक जिसके सहारे चल रहा है, वही भगवान मेरी चिन्ता करेगा । कहो, समुद्र में जल कौन भरता है ? बादलो के रूप में गर्जना कौन करता है ? तथा यह वर्षा का जल कहाँ से बरसता है । अर्थात् वही सब कुछ करता है । जिस भगवान की ऐसी विशाल शक्ति है, वह हमको कैसे भूल जाएगा ? जिसने इस ब्रह्मांड में अनेक रचनाएँ की हैं, जिसने वायु, वरुण, चन्द्र और सूर्य को बनाया है, जिससे पाँचों अग्नियाँ और यह पृथ्वी प्रकट हुई हैं, उस भगवान को दूर कैसे कहा जा सकता है ? (क्योंकि वह तो सर्वव्यापी एवं सर्व नियता है ।) जिस भगवान ने आँख, नाक, दाँत आदि अंग, वस्त्र एवं शरीर आदि बनाए हैं, वह भगवान साधु भक्तों को भला कैसे भुला सकता है ? भगवान राजाराम तो बड़े ही उदार हैं । कोई किसी का रहस्य नहीं जानता है । मैं तो भगवान की शरण में हूँ । कबीर कहते हैं कि हे पिता ! राजा राम, माया के इन चक्करो से मेरी इज्जत की रक्षा करो ।

(1) पदमंत्रि—साथी, हाथी । दसन बसन ।

(II) गूढोत्तर—कहो कौन कहिए दूरा ।

(III) वक्रोक्ति—साधुजन विसरै ।

विशेष— (1) हाथी हरि केरा= मैं उनकी सवारी हूँ तथा उनकी प्रेरणा पर चलना हूँ । सत्य ही है । यह स्थूल शरीर ‘आत्म तत्व’ का वाहन है ।

(II) पच अग्नि—प्रकाश, उष्णता गरमी, पित्त एवं जठराग्नि ।

(III) भगवान की शरणागति एवं उनके प्रति पूर्ण समर्पण भाव का चित्रण है ।

(२६२)

राग सोरठि

हरि कौ नांव न लेह गंवारा,

क्या सोचै बारंबारा ॥ टेक ॥

पंच चोर गढ मंझा, गढ लूटें दिवस र सझा ॥

जौ गढपति मुहकम होई, तौ लूटि न सकै कोई ॥

अंधियारै दीपक चाहिये, तब बस्त अगोचर लहिये ॥

जब बस्त अगोचर पाई, तब दीपक रह्या समाई ॥

जौ दरसन देख्या चाहिये, तौ दरपन मंजत रहिये ।

जब दरपन लागै काई, तब दरसन किया न जाई ॥

का पढ़िये का गुनिये, का बेद पुराना सुनिये ॥

पढ़े गुने मति होई, मै सहजे पाया सोई ॥

कहे कबीर मै जांनां, मै जांनां मन पतियानां ॥
पतियानां जौ न पतीजै, तौ अंधै कू का कीजै ॥

शब्दार्थ—गंवारा=अज्ञानी, मूर्ख । पच चोर=पाँच विकार (काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर) । गढ=शरीर रूपी दुर्ग । मुहिकम=दृढ, वस्तु । मति=बुद्धि ।

संदर्भ—कबीरदास कहते हैं कि ज्ञान प्राप्ति के लिए मन की शुद्धि परम आवश्यक है ।

भावार्थ—हे मूर्ख जीव ! भगवान का नाम क्यों नहीं लेता है ? तू इस बारे में बार-बार क्या सोचता है ? अथवा तू यह क्यों बार-बार सोचता है कि सासारिक चिंताओं से मुक्त होने के लिए क्या करना चाहिए । इस शरीर-रूपी दुर्ग में काम, क्रोध, लोभ, मद एवं मत्सर रूपी पाँच चोर हैं । ये इसको दिन-रात लूट रहे हैं । अगर दुर्ग का स्वामी मजबूत हो, तो दुर्ग को कोई नहीं लूट सकता है । अभिप्राय यह है कि ये पच विकार जीव की चेतना एवं स्व-स्वरूप-स्थिति की क्षमता को नष्ट कर रहे हैं । यदि जीव-चेतन्य अपने स्वरूप में दृढता पूर्वक स्थित रहे, तो इसकी क्षमता को हीन नष्ट कर सकता है ? अविद्या रूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए ज्ञान रूपी दीपक चाहिए । उसी के द्वारा अगोचर परम तत्त्व की प्राप्ति होती है । इस परम तत्त्व के साक्षात्कार में यह ज्ञान रूपी दीपक भी इसी परम तत्त्व में समाहित हो जाता है । अगर कोई उस परम तत्त्व का साक्षात्कार करना चाहता है, तो उसे अपने अन्तःकरण रूपी दर्पण को स्वच्छ बनाए रखना चाहिए । जब दर्पण के ऊपर मैल जम जाता है—जब अन्तःकरण मलिन हो जाता है, तब उस परम तत्त्व का साक्षात्कार नहीं होता है । पढ़ने और मनन (स्वाध्याय) करने से क्या होता है ? वेद-पुराण सुनने से क्या होना है ? पढ़ने एवं मनन करने से मतवाद रूपी अहंकार उत्पन्न हो जाता है और तब परम तत्त्व का साक्षात्कार सम्भव नहीं होता है । उसको साक्षात्कार मुझको तो महज भाव से हो गया है । अथवा यह कहिए कि जो ज्ञान आत्मसाध्यत में होता है, वह मुझे महज ही प्राप्त हो गया है । कबीर कहते हैं कि मैंने उन परम तत्त्व को जान लिया है और उन परम तत्त्व में मेरी निष्ठा दृढ़ हो गई है । इस परम तत्त्व का ज्ञान प्राप्त होने पर उनके प्रति जिसके मन में अज्ञान-विषय दृढ़ नहीं होता है उस अज्ञानी का क्या किया जाए ?

(III) मन चित बुद्धि एव अहकार के समुच्चय का नाम अन्त करण है ।

(IV) ज्ञान-दीपक—अह ब्रह्मास्मि की वृत्ति । तुलना कीजिए—

एहि विधि लेसँ दीप तेज रासि विग्यान मय ।

जातहिं जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब ।

सोहस्मि इति वृत्ति अखंडा । दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा ।

आतम अनुभव सुख सु प्रकासा । तब भवभूत भेद भ्रम नासा ।

प्रबल अविद्या कर परिवारा । मोह आदि तम मिटइ अवारा ।

तब सोइ बुद्धि पाइ उँजिधारा उर गूँह बैठि ग्रंथि निरुआरा ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(२६३)

अधे हरि बिन को तेरा,

कवन सूँ कहत मेरी मेरा ॥ टेक ॥

तजि कुलाक्रम अभिमानां, भूठे भरमि कहा भुलांनां ॥

भूठे तन की कहा बड़ाई, जे निमष मांहि जरि जाई ॥

जब लग मनहिं बिकारा, तब लगि नही छूटै ससारा ॥

जब मन निरमल करि जांनां, तब निरमल माहि समानां ॥

ब्रह्म अगनि ब्रह्म सोई, अब हरि बिन और न कोई ॥

जब पाप पुनि भ्रम जारी, तब भयौ प्रकास मुरारी ॥

कहै कबीर हरि ऐसा, जहाँ जैसा तहाँ तैसा ॥

भूलै भरमि परै जिनि कोई, राजा राम करै सो होई ॥

शब्दार्थ—निमष=निमिष, पल ।

सन्दर्भ—कबीरदास ज्ञानी भक्त की भाँति भगवान के प्रति अनन्यता का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—हे मूर्ख ! भगवान को छोड़ कर तेरा कौन है ? इस ससार में तुम किसको अपना कह रहे हो ? उच्च कुल में उत्पन्न होने का अभिमान छोड़ दो । इस कुलीनता के भूठे भ्रम में व्यर्थ ही भूल रहे हो । उस नाशवान शरीर के प्रति आसक्ति क्या करना (यह आसक्ति व्यर्थ है) । जो एक क्षणभर में जल कर नष्ट हो जाता है । जब तक मानव के मन में विकार (काम, क्रोध, लोभ आदि) हैं, तब तक इस ससार (आवागमन एव उससे उत्पन्न कष्ट) से छुटकारा नहीं है । जब व्यक्ति विषय-वासनाओं एव विकारों को त्याग कर अपने मन को निर्मल कर लेता है, तब वह शुद्ध मन शुद्ध तत्व में समा जाता है । जो ब्रह्म का ज्ञान कराने वाली ज्ञानाग्नि है वही वस्तुतः ब्रह्म है । ज्ञान उत्पन्न होने पर ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ रह ही नहीं जाता है । जब पाप-पुण्य (कर्म) का भ्रम नष्ट हो जाता है—अथवा जब व्यक्ति निष्पृह होकर कर्म करने लगता है, तब मात्र भगवान का साक्षात्कार कराने वाली ज्योति रह जाती है । कबीर कहते हैं कि भगवान का

स्वल्प ऐसा है कि जो जैसा है उसको वह वैसा ही दिखाई देता है अर्थात् उसका स्वल्प अनिर्वचनीय है । व्यक्ति अपने चेतना विकास के अनुसार उसकी अनुभूति करता है । किसी को कर्त्तापन के भ्रम में नहीं पडना चाहिए । समझ लेना चाहिए कि राजा राम जैसा करते हैं वैसा ही होता है अर्थात् मानव कुछ नहीं करता है, सब कुछ भगवान का ही किया हुआ होता है ।

अलंकार—(i) वक्रोक्ति अन्वे—मेरा ।

(ii) गूढोक्ति—कहाँ भुजाना ।

(iii) रूपक—ब्रह्म अग्नि ।

विशेष—(i) जानि पाँति का विरोध है ।

(ii) मन की शुद्धि का प्रतिपादन है ।

(iii) अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया गया है—जब मन . . . कोई । साथ ही ब्रह्म की अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन किया गया है—‘जहाँ जैसा तहाँ तैसा । कबीर ने अन्यत्र भी कहा है कि—ऐसा नहीं वैसा वो । मैं किम विधि कहूँ कैसा लो ।’

(iv) इस पद में प्रधानतः ज्ञान और भक्ति का प्रतिपादन है । कतिपय पंक्तियों में सामारिक नैरात्म्यवाद की ओर भी संकेत किया गया है ।

(२६४)

मन रे सरथी न एकौ काजा,

तायै भज्यौ न जगपति राजा ॥ टेक ॥

वेव पुरांन सुमृत गुन पढि, पढ़ि पढ़ि गुनि मरम न पावा ।

संध्या गाइत्री अरु घट करमां, तिन थै दूरि बतवावा ॥

बनखंडि जाई बहुत तप कोन्हां, कद पूल खनि खावा ।

बिर्ह्य गियानी अधिक धियानी, जम के पट लिखावा ॥

रोजा किया निमाज गुजारी, बग दे लोग सुनावा ।

हिरदं कपट मिले वयू साईं, क्या हज कावै जावा ॥

पहरघी काल सकल जग ऊपरि, माहि लिखे सब ग्यानी ।

कहे कबीर ते भये घालसै, राम भगति जिनि जानी ।

रहे तथा उनका मनन करते रहे. परन्तु उस परम तत्व के रहस्य को नहीं समझ सके । तुमने सध्या की, गायत्री मन्त्र का जप किया और शास्त्र विहित ब्राह्मणोचित छत्रो कर्म (अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह) किए । परन्तु यह परम तत्व इनसे भी परे बताया गया है । तुमने घर छोड़ कर वन में जाकर कठोर तपस्या की, वहाँ तुम कदमूल-फल खोद कर खाते रहे । ब्रह्मज्ञानी बन कर तुमने अनेक प्रकार से ध्यान लगाया, परन्तु इन समस्त बाह्याचारों के फलस्वरूप तुम अपने कर्म बन्धन में वृद्धि करते रहे और पाप-पुण्य का हिसाब रखने वाले रामराज के खाते को बढ़ाते रहे । तुमने रोजा रखे नमाज पढ़ी तथा जोर से अजान की आवाज भी लगाकर लोगों को सुनाई । परन्तु इन सबका भी कोई विशेष फल नहीं निकला । ठीक ही है । जब हृदय में कपट भरा हुआ हो, तो भगवान कैसे मिल सकते हैं ? कपट पूर्ण हृदय लेकर कावा और हज जाने से क्या लाभ हो सकता है ? समस्त ससार के ऊपर काल का प्रभाव छाया हुआ है - जगत की सारी भूमि पर यमराज का पट्टा है । उसके अन्तर्गत समस्त ज्ञानी भी सम्मिलित हैं । कबीरदास कहते हैं कि जो राम के भक्त हैं, वे उम पट्टे से मुक्त हैं अर्थात् उनकी व्यवस्था स्वयं भगवान करते हैं, उनकी जमीन पर यमराज का इजारा नहीं है ।

- अलंकार—(1) पुनरुक्ति प्रकाश—पढि पढि,
 (ii) विशेषोक्ति—वेद पुरान न पावा,
 (iii) छेकानुप्रास—खनिखावा जिनि जानी ।
 (iv) पदमैत्री—गियानी धियानी,
 (v) वक्रोक्ति - मिलै क्यूँ जावा ।
 (vi) मानवीकरण—काल का मूर्तीकरण ।
 (vii) रूपक—काल ।

विशेष—(1) हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के बाह्याचारों का विरोध है ।

(ii) कर्मरहित होना ही मोक्ष है ।

(iii) सध्या—प्रातः, दोपहर, या शाम का वह समय जब दिन के भागों का मेल होता है तथा इन समयों पर किये जाने वाले धार्मिक कृत्य ।

(iv) गायत्री—वैदिक स्तोत्र जिसमें आठ आठ वर्णों के तीन चरण होते हैं, इसका उपदेश उपनयन संस्कार के अवसर पर द्विज बालक को दिया जाता है ।

(v) कावा—मक्के की एक चौकोर इमारत जिसकी नींव इब्राहीम की रखी हुई मानी जाती है ।

(vi) हज्ज - नियत काल पर कावे के दर्शन और प्रदक्षिणा करना—मक्के की यात्रा ।

(vii) सब ज्ञानी—ब्रह्म ज्ञानी छोड़ कर अन्य सब प्रकार के ज्ञानियों से तात्पर्य है—बौद्धिक ज्ञानी, ज्ञान के अहकारी इत्यादि ।

(२६५)

मन रे जब ते राम कह्यौ,

पीछै कहिबे कौ कछु न रह्यौ ॥ टेक ॥

का जोग जगि तप दांतां, जौ ते राम नाम नहीं जानां ॥

काम क्रोध दोऊ भारे, ताथै गुरु प्रसादि सब जारे ॥

कहै कबीर भ्रम नासी, राजा राम मिले अविनासी ॥

सन्दर्भ—कबीर राम-नाम की महिमा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—रे मन, जब से तूने राम नाम कहना आरम्भ कर दिया है उसके बाद अन्य कुछ कहने के लिए रह ही नहीं गया है । (उसी में सब कुछ कह दिया है ।) यदि राम के नाम का महत्त्व न जाना, तो योग, जप, तप तथा दान करने से क्या लाभ है ? काम और क्रोध दोनों अत्यन्त प्रबल होते हैं । इसलिए मैंने गुरु की कृपा से उन्हें नष्ट कर दिया है । कबीरदास कहते हैं कि काम क्रोध के समाप्त हो जाने के फलस्वरूप मेरे समस्त भ्रमों का नाश हो गया है और अब मुझे अविनाशी भगवान राम की प्राप्ति हो गई है ।

विशेष—जब तक 'काम' है, तब तक विकार है । जब तक विकार हैं तब तक मोह एव भ्रम का रहना स्वाभाविक ही है । यही माया का प्रपञ्च है । समभाव के लिए देखे—

ध्यायतो विषयान्प्र स सङ्गस्तेषूपजायते ।

सङ्गात्सजायते काम कायात्क्रोधोऽभिजायते ।

क्रोधाद्भवति संमोह समोहात्स्मृतिविभ्रम ।

स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।

(श्रीमद्भगद्गीता—२/६२—६४)

(२६६)

राम राइ सो गति भई हंमारी,

मो पै छूटत नही ससारी ॥ टेक ॥

यू यखी उड़ि जाइ आकासां, आस रही मन मांही ।

छूटी न आस दूट्यौ नही फंधा, उडिबौ लागा कांही ॥

जो सुख करत होत दुख तेई, कहत न कछु बनि आवै ।

कुंजर ज्यूं फसतूरी का मृग, आपै आप बँधावै ॥

कहै कबीर नहीं बस मेरा, सुनिये देव मुरारी ।

इत भैभीत डरौ जम दूतनि, आये सरनि तुम्हारी ॥

शब्दार्थ—लागी काही=क्या लाभ ?

संदर्भ— कवीर दुःख-निवृत्ति हेतु भगवान की शरण को एक मात्र अवलम्बन मानते हैं ।

भावार्थ—रे राजा राम ! मुझसे ससार का मोह छोड़ते नहीं बनता है । मेरी भी हालत उस पक्षी की तरह हो गई है जो आकाश में ऊँचा उड़ तो जाता है परन्तु भोजन-वामना के कारण उमका मन पृथ्वी से बँधा रहता है । मन से वासना जाती नहीं है । इस कारण मोह का बन्धन टूटना नहीं है । तब आकाश में उड़ने से—ज्ञान-ध्यान से क्या लाभ है ? मैं जो काम सुख-प्राप्ति के लिए करता हूँ, वे दुःख के हेतु बन जाते हैं । जैसे हाथी हथिनी के प्रति मोह के कारण अपने आपको बँधा देता है तथा कस्तूरी-मृग सुगन्ध की वासना के वशीभूत होकर इधर-उधर भटकता रहता है, वैसे ही जीव भी मोह एवं वासनाओं के कारण अपने आपको सासारिक प्रपचों में फँसा देता है तथा अपनी वासनाओं के वशीभूत होकर चारों ओर भटकता फिरता है । कवीरदास कहते हैं कि हे मुरारी । मेरी प्रार्थना सुनो । सासारिक वासनाओं पर मेरा कोई बंध नहीं चल रहा है । मैं सासारिक बन्धनों से भयभीत हूँ तथा यम के दूतों से डरा हुआ हूँ । इसलिए तुम्हारी शरण में आया हूँ ।

- अलंकार - (1) उदाहरण—सोगति मनमाही ।
 (II) अन्योन्य—छूटी न आस फदा ।
 (III) गूढोक्ति—लागी काही ।
 (IV) विरोधाभास—जो सुख... दुख तेई ।
 (V) सम्बन्धातिशयोक्ति—कहत न... आवै ।
 (VI) उपमा—कु जर ज्यूँ कस्तूरी का मृग ।

(२६७)

राम राइ तूँ ऐसा अनभूत अनूपम, तेरी अनभै थै निस्तरिये ।
 जे तुम्ह कृपा करौ जगजीवन, तौ कतहू न भूलि न परिये ॥ टेक ॥
 हरि पद दुरलभ अगम अगोचर, कथियां गुर गमि विचारा ।
 जा कारंनि हम हूँढत फिरते, आथि भर्यो संसारा ॥
 प्रगटी जोति कपाट खोलि दिये, दगधे जम दुख द्वारा ।
 प्रगटे विस्वनाथ जगजीवन, मैं पाये करत विचारा ॥
 देख्यत एक अनेक भाव है, लेखत जात अजाती ।
 बिह कौ देव तवि हूँढत फिरते, मंडप पूजा पाती ॥
 कहै कवीर करुणांमय किया, देरी गलियां बहु विस्तारा ।
 राम कै नांव परंम पद पाया, छूटे विघन विकारा ॥

शब्दार्थ—अनभै = अनुभूति । गमि = अनुभूति द्वारा प्राप्ति । आखि = व्याप्त । जात = जन्मा । अजाती = अजन्मा । बिह = उम । तत्र = पहले । गलियां = विभिन्न मत-पथ ।

संदर्भ—कबीरदास मत-पथों की व्यर्थता की ओर संकेत करके राम भक्ति का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—रे मेरे स्वामी राम, आप ऐसे साक्षात् अनुभूतिस्वरूप एव अनुपम हो कि तेरी अनुभूति मात्र से भवसागर पार किया जाता है । हे जगत् के प्राण, यदि तुम कृपा करते रहो तो कहीं भी भूलकर भी जीव माया के बन्धन में नहीं पड़ता है । भगवान का स्वरूप अत्यन्त दुर्लभ दुष्प्राप्य एव इन्द्रियातीत है । गुरु ने अपनी अनुभूति से प्राप्त ज्ञान के आधार पर यह विचार प्रकट किया है । जिस परम तत्त्व को हम ढूँढते फिरते हैं, वह सम्पूर्ण ससार में व्याप्त है । गुरु के उपदेश द्वारा मेरे हृदय में जो ज्ञान ज्योति प्रकट हुई है, उसके द्वारा मेरे अन्तःकरण के किवाड़ खुल गए हैं आन्तरिक चक्षु खुल गए हैं और उसके द्वारा यम के कष्ट-कर्मफल के बन्धन समाप्त हो गए हैं । अब जगत के प्राण विश्वनाथ प्रकट हो गए हैं । मैंने विवेक पूर्वक चिन्तन करते हुए उनको प्राप्त किया है । वही एक परम तत्त्व अनेक भावों (रूपों) में देखा जाता है । वह अजन्मा भी जन्मा हुआ सा वर्णित है । उसी देवता को हम पहले मडप में फूल पत्ती की पूजा के द्वारा प्राप्त करना चाहते थे । कबीर कहते हैं कि हे करुणामय ! तेरे नाम पर जो अनेक मत-पथ प्रचलित हैं, मैं उनमें भटकता रहा और इसी कारण तेरे साक्षात्कार में मुझको इतनी देर हो गई । राम के नाम के द्वारा मैंने परम पद की प्राप्ति कर ली है और मेरे समस्त विघ्न (कचन कामिनी आदि) एव विकार (काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर आदि) दूर हो गए हैं ।

अलंकार— (1) अनुप्रास - अनभूत अनुपम अनभै, अगम अगोचर । दग्धे दुख द्वारा । परम पद पाया ।

(11) रूपकातिशयोक्ति—कपाट ।

(111) विरोधाभास - जात्य अजाती ।

विशेष - (1) वाह्याचार की निरर्थकता की ओर संकेत है । तुलना करें—

तुलसीदास ब्रत दान ग्यान तप, सुद्धिहेतु स्रुतिगावै ।

राम-चरन अनुराग-नीर-बिनु मल अति नास न पावै ।

एव— नाहिन आवत आन भरोसो ।

× × ×

बहुमत सुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ भगरो सो ।

गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहि लागत राजडगरो सो ।

× × ×

राम नाम बोहित भव-सागर चाहै तरन तरसो ।

—गोस्वामी तुलसीदास

(२६८)

राम राइ को ऐसा बैरागी,

हरि भजि मगन रहै विष त्यागी ॥ टेक ॥

ब्रह्मा एक जिनि सिष्टि उपाई, नांव कुलाल धराया ।
 बहु बिधि भांडै उनही घड़िया, प्रभू का अन्त न पावा ॥
 तरवर एक नांनां बिधि फलिया, ताकै मूल न साखा ।
 भौजलि भूलि रह्या रे प्राणीं, सौ फल कदे न चाखा ॥
 कहै कबीर गुर बचन हेत करि, और न दुनियां आथी ।
 माटी का तन मांटी मिलि है, सबद गुरु का साथी ॥

शब्दार्थ—कुलाल=कुम्हार । भांडै=वर्तन । घड़िये=गढ़े, बनाए ।
 भौजलि=भव-जल, ससार-रूपी जल । कदे=कभी । आथी=अस्तित्व वाली ।

संदर्भ—कबीर ससार की निरर्थकता तथा गुरु की महिमा का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—हे राम-ऐसा वैरागी बहुत कठिनाई से मिलता है जो विषयो को छोड़कर भगवान के भजन में मग्न रहे । एक ब्रह्मा हुए जिन्होंने सृष्टि उत्पन्न की और अपने आपको कुम्हार कहलवाया । उन्होंने अनेक शरीर रूपी वर्तनों को बनाया, परन्तु वह भी भगवान के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान सके । ससार-रूपी एक वृक्ष में अनेक प्रकार की विषय-वासनाओं के फल लगे हैं । इस वृक्ष की न जड़ है और न उसके शाखाएँ ही हैं । यह प्राणी ससार के इन फल रूपी विषयो की मृग तृष्णा के जल में अपने वास्तविक स्वरूप एवं वास्तविक लक्ष्य को भूला हुआ है । विषय रूपी ये फल उसको खाने के लिए कभी नहीं प्राप्त होते हैं अर्थात् वह विषयो के द्वारा सच्चे सुख की प्राप्ति कभी नहीं कर पाता है । कबीरदास कहते हैं कि गुरु के वचनों पर विश्वास करो । शेष ससार अस्तित्वहीन (मिथ्या) है । मिट्टी का यह शरीर मिट्टी में ही मिल जाएगा । केवल गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान ही हमारा सच्चा साथी है ।

- अलंकार—(1) वक्रोक्ति—को ऐसा वैरागी ।
 (II) रूपकातिशयोक्ति—कुलाल, भांडे, तरवर ।
 (III) निदर्शना—भौजल . . . चाखा ।
 (IV) विभावना—तरवर एक साखा ।
 (V) रूपक—भौजल ।

विशेष—(1) निर्वेद सचारी भाव की व्यजना है ।

(II) तुलना कीजिए—

जगु देखन तुम पेखन हारे । विधि हरि सभु नचावन बारे ।
 तेउ न जानइ मर्म तुम्हारा । और तुम्हे को जाननि हारा ।

(२६६)

नैक निहारि हो माया बीनती करै,

दीन बचन बोले कर जोरे, फुनि फुनि पाइ परै ॥ टेक ॥

कनक लेहु जेहु जेता मनि भावै, कामनि लेहु मनं हरेनीं ।
 पुत्र लेहु विद्या अधिकारी, राज लेहु सब घरनीं ॥
 अठि सिधि लेहु तुम्ह हरि के जनां, नवै निधि है तुम्ह आगे ।
 सुर नर सकल भवन के भूपति, तेऊ लहै न मांगै ॥
 तै पापणी सबै संघारे, काकौ काज संवारचौ ।
 जिनि जिनि सग कियौ है तेरौ, को येसासि न मारचौ ॥
 दास कबीर राम कै सरनै, छाडी भूठी माया ।
 गुरु प्रसाद साध की संगति, तहां परम पद पाया ॥

शब्दार्थ— फुनि फुनि = पुनः पुनः, बार बार । कनक = स्वर्ण । कामनि = कामिनी स्त्री । ये सासि = विश्वास ।

सन्दर्भ— कबीरदास ज्ञान दशा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ— माया भगवान के भक्तों से प्रार्थना करती है, अत्यन्त दीन वचन बोलती है और बार-बार पैर पड़ती हुई कहती है कि हे हरि भक्तों ! जरा मेरी ओर कृपा की दृष्टि कर दो । जैसा और जितना सुवर्ण चाहिए ले लो, मन-भावनी और मन-हरण करने वाली कामिनी स्त्री ले लो, तुम विद्वान पुत्र लो, सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य ले लो । आठो सिद्धियाँ और नव निधियाँ ले लो । हे हरि के भक्तों जिन वैभवों और सिद्धियों को देवता, मनुष्य एवं सम्पूर्ण पृथ्वी के राजा मागने पर भी प्राप्त नहीं कर पाते हैं, वे सब तुम्हारे समक्ष तुम्हारी सेवा में प्रस्तुत हैं । भक्त जन उत्तर देते हुए कहते हैं कि हे पापिन तूने सबको नष्ट किया है । क्या तूने आज तक किसी का काम बनाया है ? जिन-जिन लोगों ने विश्वास करके तेरा साथ किया है उन सबको तूने विश्वासघात करके मारा ।” भक्त कबीर का कहना है कि वह तो भगवान राम की शरण में है । उन्होंने भूठी माया को त्याग दिया है । गुरु की कृपा और साधु जनो की संगति के द्वारा कबीर ने परम पद प्राप्त कर लिया है ।

अलंकार—(1) गूढोत्तर— पूरा पद ।

(II) पुनरुक्ति प्रकाश— पुनि-पुनि ।

(III) मानवीकरण— माया ।

(IV) पदमैत्री— लेहु जेहु लेहु ।

(V) विशेषोक्ति की व्यजना— लहै न माजै ।

विशेष—(1) प्रश्नोत्तर शैली में माया और भक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध का सुन्दर निरूपण है । इसमें उपनिषद् का प्रभाव स्पष्ट है ।

(II) कबीर बताते हैं कि माया ज्ञान प्राप्ति की अन्तिम अवस्था तक प्रलोभन देकर साधक को पथ भ्रष्ट करना चाहती है । इसी से तो कहते हैं कि सिद्धि के प्रत्येक फूल के पीछे वासना का सर्प छिपा रहता है । वह जाने कब सिर निकाल कर काट ले । इसी कारण साधक को अन्त समय तक सावधान रहने का उपदेश दिया जाता है ।

(iii) माया वीनती करै—समभाव के लिए देखें—

भागती फिरती थी दुनिया जब तलब करते थे हम ।

अब जो नफरत हमने की, वह खुद बखुद आने को है ।

(iv) आठ सिद्धियाँ—योग सिद्धि से मिलने वाली आठ सिद्धियाँ या अलौकिक शक्तियाँ—अणिमा, महिमा, गरिमा, लछिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ।

(v) नौ निधियाँ—कुवेर की नौ निधियाँ—पद्म, महापद्म, शख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील, और खर्व ।

(vi) कबीरदास माया के प्रति सदा सावधान रहने का उपदेश बराबर देते आए हैं । यथा—

सुवटा ! डरपत रहु मेरे भाई ।

× × ×

या मजारी मुग्ध न मानै, सब दुनियाँ डहकायी ।

× × ×

कहत कबीर, सुनहु रे सुवटा ! डवरै हरि-सरनाई ।

कबीर ऐसे स्थलो पर ज्ञानी भक्त के रूप में उभर कर एकदम सामने आ जाते हैं ।

(२७०)

तुम्ह घरि जाहु हंमारी बहनां,

बिष लागै तुम्हारे नैनां ॥ टेक ॥

अंजन छाडि निरंजन राते, नां किसही का देनां ।

बलि जांड ताकी जिनि तुम्ह पठई, एक माइ एक बहनां ॥

राती खांडी देख कबीरा, देखि हमारा सिंगारौ ।

सरग लोक थै हम चलि आई, करन कबीर भरतारौ ॥

सर्ग लोक मै क्या दुख पडिया, तुम्ह आई कलि मांही ।

जाति जुलाहा नाम कबीरा, अजहू पतीजौ नांहीं ॥

तहां जाहु जहां पाट पटबर, अगर चंदन घमि लीनां ।

आइ हमारे कहा करौगी, हम तौ जाति कमीनां ॥

जिनि हम साजे साज्य निवाजे, बांधे काचै धागै ।

जे तुम्ह जतन करौ बहुतेरा, पांणों, आगि न लागै ॥

साहिब मेरा लेखा मांगै, लेखा बयूं करि दीजै ।

जे तुम्ह जतन करौ बहुतेरा, तौ पांहण नीर न भीजै ।

जाकी मै मछी सो मेरा मछा, सो मेरा रखवालू ।

टुक एक तुम्हारे हाथ लगाऊं, तौ राजा राम रिसालू ॥

जाति जुलाहा नाम कबीरा, बनि बनि फिरौ जदासी ।

आपि पासि तुम्ह फिरि फिरि वैसो, एक माड एक मासी ॥

शब्दार्थ— विष=काम वासना का जहर । अजन=माया, विषयासक्ति । राती=प्रेमिका । खाडी=खडी हूँ । अथवा खाडी का अर्थ रमणी । पतीजी विश्वास । पटवर=रेशमी वस्त्र । पाट=रेशमी वस्त्र । रिसालू=अप्रसन्न हो जाएगा ।

सन्दर्भ— कबीर माया को दुत्कारते हैं ।

भावार्थ—कबीर माया को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि, रे बहिन, तुम अपने घर जाओ । तुम्हारे नेत्र मुझे जहर मालूम होते हैं (अर्थात् तुम्हारी ओर देखते हुए मुझे डर लगता है) । मैंने तो सासारिकता का त्याग करके माया से रहित निरजन परमतत्त्व के प्रति अनुराग कर लिया है । अब मुझे किसी से कुछ लेना-देना नहीं है । मैं तो उसकी सूझ-बूझ पर बलिहारी जाता हूँ जिसने तुमको मुझे अपनी ओर आकर्षित करने के लिए भेजा है । तुम तो मेरी माता और बहिन के समान हो । (शरीर को बनाने वाली होने के कारण माया जीव की माता है तथा निर्माता ईश्वर की पुत्री होने के कारण माया जीव की बहिन है ।) माया कबीर को उत्तर देती हुई कहती है कि, 'हे कबीर देखो तो सही ! मैं तुम पर आसक्त नारी की भाँति खडी हूँ । तुम मेरे शृंगार की ओर तो देखो मैं कबीर को पति रूप में वरण करने के लिए स्वर्ग लोक से चलकर यहाँ आई हूँ ।' कबीर कहते हैं "वहाँ स्वर्ग लोक में तुम्हारे ऊपर ऐसी क्या विपत्ति आ पडी जो तुम यहाँ मृत्यु लोक में आ गई हो । मेरे पास क्या रखा है ? मैं जाति का जुलाहा हूँ । मेरा नाम कबीर (बुजुर्ग बड्ढा) है । अब तो तुम्हको मेरी तुच्छता एवं असमर्थता पर विश्वास हो जाना चाहिए । तुम उनके पास जाओ जो रेशमी वस्त्र धारण करते हैं और अगर तथा धिसे हुए चन्दन का लेप करते हैं । हमारे यहाँ आकर तुम क्या करोगी ? हम तो एक बहुत ही निम्न जाति में उत्पन्न जुलाहे हैं । जिन भगवान ने हमको बनाया है और इस सुन्दर स्वरूप द्वारा सजाया है उन्होंने मुझको अपने प्रेम के डोरे में बाध लिया है । तुम कितना भी प्रयत्न करो, परन्तु मेरे मन में तुम्हारे प्रति आसक्ति उत्पन्न नहीं होगी । पानी में आग नहीं लग सकती है ? मेरा स्वामी जब मुझ से मेरे कार्यों का हिसाब-किताब मागेगा, तब मैं उनको क्या हिसाब दे सकूँगा । मुझे आकर्षित करने के लिए कुछ भी करो, परन्तु मैं तुम्हारे प्रति कभी भी आकर्षित नहीं हो सकूँगा, क्योंकि पानी के द्वारा पत्थर कभी भी गीला नहीं हो सकता है । मैं भगवान की मछली हूँ, भगवान ही मुझको पकड़ने वाला मछवा है और वह मेरा रक्षक भी है । अगर मैं रच मात्र भी तुम्हारा स्पर्श कर लूँ तो राजा राम मुझ से अप्रसन्न हो जाएँगे । कबीर कहते हैं कि मैं जाति का जुलाहा हूँ । मेरा नाम कबीर है । मैं ससार से विमुख होकर जगलो में मारा-मारा घूमता हूँ । (अर्थात् जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विषयो से उदासीन होकर घूम रहा हूँ । तुम आस-पास से हटकर दूर बैठो । एक तो तुम मेरी माता (शरीर के नाते) हो और ऊपर में सगी माता के समान होने के कारण मेरी मौसी हो ।

अलंकार—(1) पद मैत्री—अजन निरजन ।

- (ii) रूपकातिशयोक्ति — विष ।
- (iii) पुनरुक्ति प्रकाश—वनि वनि ।
- (iv) निदर्शना—पानी आगि न लागै ।
- (v) दृष्टान्त—जे तुम्ह भीजै ।

विशेष—(1) इस पद पर उपनिषद की प्रश्नोत्तर शैली के द्वारा ज्ञान तत्त्व का प्रतिपादन है ।

(ii) इसमें कबीर के चरित्र की शुद्धि एवं दृढता व्यक्त हैं ।

(iii) ना किसी का देना समभाव देखें—

काहू की बेटी सो बेटा न ब्याहब काहू की जाति त्रिगारों न सोऊ ।

भाँगि कं खँवो मसीत को सोइबौ, लेबे को एक न देव को दोऊ ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(२७१)

ताकूँ रे कहा कीजै भाई,

तजि अमृत विषै सूँ ल्यो लाई ॥ टेक ॥

विष सग्रह कहा सुख पाया,

रचक सुख कौँ जनम गँवाया ॥

मन बरजै चित कह्यौ न करई,

सकति सनेह दीपक मै परई ॥

कहति कबीर मोहि भगति उमाहा,

कृत करणीं जाति भया जुलाहा ॥

शब्दार्थ—सकति = आसक्ति ।

सन्दर्भ—कबीरदास कहते हैं कि आसक्ति के वशीभूत जीव अपना जीवन नष्ट कर देता है ।

भावार्थ—उस व्यक्ति के लिए क्या किया जाए अथवा उसको किस प्रकार समझाया जाए, जो राम-भक्ति रूपी अमृत को छोड़ कर विषयासक्ति रूपी विषय के प्रति आकर्षित रहता है ? जीव को इन्द्रिय भोगों के सग्रह से क्या सुख मिल सकता है ? ऐसा व्यक्ति जरा से क्षणिक सुख के लिए अपने सम्पूर्ण जीवन को नष्ट कर देता है । मन (विवेक बुद्धि) के मना करने पर भी उसका प्रवृत्त्यात्मक चित्त नहीं मानता है और वह आसक्ति के वशीभूत होकर विषयरूपी दीपक में गिर जाता है । कबीर कहते हैं कि मेरे हृदय में भक्ति का उत्साह जाग्रत हो गया है । जाति का जुलाहा मैं अपने कर्मों के द्वारा कृत-कार्य हो गया हूँ । अर्थात्, मैं जुलाहा जैसी निम्न जाति में भले ही उत्पन्न हुआ, परन्तु भक्तिपूर्ण आचरण करके मैंने अपना जीवन सार्थक कर लिया है ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति—ताकूँ भाई, विष पाया ।

(ii) विशेषोक्ति की व्यजना—मन... करई ।

(III) रूपकातिशयोक्ति—तजि अमृत..... लाई ।

(IV) रूपक—सकति सनेह दीपक ।

विशेष—(1) जातिवाद की निरर्थकता का प्रतिपादन है । कबीर बार-बार यही कहते हैं कि—

जागति पाँति पूछै नहि कोई । हरि कहँ भजै सो हरि का होई ।

वह तो अन्यत्र भी कह चुके हैं कि—

गुरु प्रसाद साधु की सगति जग जीतै जाय जुलाइ ।

(II) मन बरजै • करई—इस पद में कबीर ने व्यक्ति के अन्तर में होने वाले संघर्ष की ओर बड़ी ही कुशलता के साथ संकेत किया है । निश्चयात्मकता बुद्धि सन्मार्ग का निर्धारण करती है, परन्तु प्रवृत्त्यात्मक मन उस ओर नहीं जाता है । फलतः हमारे बुद्धि जगत एवं भाव-जगत के मध्य—हमारी कथनी और करनी के मध्य सदैव संघर्ष चलता रहता है । हम सब प्रायः सोचते ठीक हैं, परन्तु अपनी विषयासक्ति के प्रबल होने के कारण तदनुसार आचरण नहीं कर पाते हैं । इसी कारण अपने जीवन और पुण्य-क्षेत्र को क्षीण करते रहते हैं ।

(२७२)

रे सुख इब मोहि बिष भरी लागा,

इनि सुख डहके मोटे मोटे छत्रपति राजा ॥ टेक ॥

उपजै बिनसै जाइ बिलाई, सपति काहू कै सगि न जाई ॥

धन जोवन गरब्यौ ससारा, यहु तन जरि बरि ह्वै है छारा ।

चरन कवल मत राखि ले धीरा, राम रमत सुख कहै कबीरा ॥

शब्दार्थ—इब=अब । डहके=डहके=घोखा खाया । बिनसै=नष्ट होता है । बिलाई=विलीन होता है । कवल=कमल । मोटे=बड़े । मत=मति, बुद्धि ।

संदर्भ—कबीर का साधक जीवात्मा अपने मन को सम्बोधित करके कहता है कि राम भक्ति में ही वास्तविक आनन्द है ।

भावार्थ—रे मन ! सासारिक सुख अब मुझे जहर से भरा हुआ लगता है । इन इन्द्रिय सुखों के द्वारा बड़े-बड़े छत्रपति राजाओं ने घोखा गया है अथवा वे इनके द्वारा ठगे गए हैं । ये सासारिक सुख-सम्पत्ति उत्पन्न होती है, क्षीण होती है और अन्ततः सर्वथा नष्ट हो जाती है । यह सम्पत्ति किसी के साथ नहीं जाती है । धन एवं यौवन के मद में ससार के समस्त प्राणी गवित रहते हैं । उन्हें समझ लेना चाहिए कि यह (पंचभौतिक) शरीर जल-बल कर राख हो जाएगा । कबीरदास कहते हैं कि हे जीव, तू अपनी बुद्धि को स्थिर करके भगवान के चरणारविंद में लगा दे । राम में अनुरक्त होने में ही वास्तविक सुख की प्राप्ति होती है ।

अलंकार—(1) पुनरुक्ति प्रकाश—मोटे-मोटे ।

(II) पदमैत्री—जरि-वरि ।

(III) रूपक—चरन कवल ।

(iv) छेकानुप्रास—राम रमत ।

विशेष—निर्वेद एव वैराग्य की व्यजना है ।

(२७३)

इब न रहं माटी के घर में,

इब मैं जाइ रहू मिलि हरि मैं ॥ टेक ॥

छिनहर घर अरु झिरहर टाटी, घन गरजत कंपे मेरी छाती ॥

दसवै द्वारि लागि गई तारी, दूरि गवन आवन भयौ भारी ॥

चहुँ दिसि बैठे चारि पहरिया, जागत मुसि गये मोर नगरिया ॥

कहै कबीर सुनहु रे लोई, भानड़ घड़ण सवारण सोई ॥

शब्दार्थ पाटी का घर=पंचभौतिक जगत । छिनहर=जीर्ण=टूटा फूटा ।

झिरहर—झिरीवाला, सूराखो वाला । दसवाँ द्वार—ब्रह्मरन्ध्र । घन—बादल, काल । तारी—त्राटिका । गवन—अवन—जीवन-मरण । चारि—अहंकार चतुष्टय, मन, चित्त बुद्धि अहंकार । मुसि गये—नष्ट-भ्रष्ट कर गये । भानण—भजन करने वाला । घड़ण—गठने वाला, बनाने वाला । सवारण—सवारने वाला अर्थात् पालन (रक्षा) करने वाला ।

संदर्भ—कबीरदास सासारिकता की निस्सारता का प्रतिपादन करते हुए प्रभु भक्ति का सकल्प करते हैं ।

भावार्थ— अब मैं इस मिट्टी के घर अर्थात् मृण्मय शरीर के प्रति आसक्त नहीं रहूँगा । अब मैं भगवान में तदाकार हो जाऊँगा । वासनाओं का भंडार यह शरीर रूपी घर अत्यन्त जीर्ण है और इसके ऊपर जो वासनाओं का आवरण है, वह भी छेदो वाला है अर्थात् वापनाएँ भी मेरी रक्षा नहीं कर सकती हैं । काल रूपी बादल जब गरजते हैं अर्थात् जब मुझे मृत्यु का स्मरण आ जाता है, तब मेरा हृदय कांपने लगता है । गुरु की कृपा से माटिका लग गई है । इससे ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा अब प्राण बाहर नहीं जा सकेंगे । इस कारण आवागमन का चक्र समाप्त हो गया है । इस ससार की स्थिति तो यह है कि मन, चित्त, बुद्धि एव अहंकार रूपी चार पहरेदार चारों ओर से इस शरीर की रक्षा करते रहते हैं अर्थात् अन्तःकरण चतुष्टय के वशीभूत मनुष्य किसी प्रकार मरना नहीं चाहता है, परन्तु इन पहरेदारों के सजग रहते हुए भी काल रूपी चोर इस शरीर रूपी नगर को लूट ले जाता है । कबीरदास कहते हैं कि हे लोई ! सुनो मनुष्य सर्वथा विवश है । सबका नाश, सृजन एवं पालन करने वाला केवल वही एक ईश्वर ही है ।

अलंकार—(i) रूपकातिशयोक्ति—माटी का घर,

(ii) घन चारि पहरिया, नगरिया ।

(iii) विरोधाभास—यहु दिसि.....नगरिया ।

विशेष—(i) निर्वेद संचारी भाव की व्यजना है ।

(ii) लोई कबीर की पत्नी का नाम है। कुछ लोग लोई को कबीर की शिष्या मानते हैं। इस प्रकार इस पद में चरितपरक सकेत है।

(iii) समभाव देखिए—

अवलों नसानी, अब न नसंहीं ।

× × ×

मन मधुकर पन कै तुलसी रधुपति-पद-कमल बसंहीं ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(२७४)

कबीर बिगरचा राम दुहाई,

तुम्ह जिनि बिगारौ मेरे भाई ॥ टेक ॥

चन्दन कै ढिग बिरष जु भैल, बिगरि बिगरि सो चन्दन ह्वैला ॥

पारस कौं जे लोह छिवैगा, बिगरि बिगरि सो कचन ह्वैला ॥

गगा मै जे नोर मिलैगा, बिगरि बिगरि गंगोदिक ह्वैला ॥

कहै कबीर जे राम कहैला, बिगरि बिगरि सो रामहि ह्वैला ॥

शब्दार्थ—ह्वैला=हो जाएगा। पारस=वह पत्थर जिसके स्पर्श से लोहा स्वर्ण बन जाता है। छिवैला=छुएगा, स्पर्श करेगा।

संदर्भ—कबीरदास सत्सग की महिमा का वर्णन करते हैं।

भावार्थ—राम की दुहाई देकर सच कहता हूँ कि भगवद् भक्ति करके मैं तो बिगड ही गया हूँ अर्थात् ससार के उपयुक्त नहीं रह गया हूँ। पर मेरे भाइयो! अब तुम मेरी तरह भगवद् भक्ति के मार्ग पर चल कर मत बिगडना। तुम संसार में ही अनुरक्त बने रहो—यही व्यजना है। प्रकृति का नियम ही यह है कि जो वृक्ष चन्दन के वृक्ष के पास होगा, वह चन्दन के सम्पर्क के कारण धीरे-धीरे परिवर्तित होकर चन्दन ही बन जाएगा। जो लोहा पारस का स्पर्श करेगा, वह क्रमशः परिवर्तित होकर स्वर्ण हो जाएगा। जो पानी गगा में मिलेगा, वह गगा जल के रूप में परिवर्तित हो जाएगा। कबीरदास कहते हैं कि जो व्यक्ति राम का नाम लेगा, वह धीरे-धीरे (अज्ञान से मुक्त होकर) राम-रूप ही हो जाएगा।

अलंकार—(i) पुनरुक्ति प्रकाश—बिगरि-बिगरि।

(ii) तद्गुण—चन्दन ह्वैला, पारस ह्वैला, गगा ह्वैला।
रामहि ह्वैला।

विशेष—(i) बिगारि' में लक्षण लक्षणा है तथा ससारी व्यक्तियों के प्रति तीक्ष्ण व्यंग्य है।

(ii) सत्सग की महिमा का वर्णन है—तुलना करें—

(क) सठ सुधरहि सतसंगति पाई। पारस परस कुघात सुहाई।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(ख) हमारे प्रभु ! औगुन चित न धरो ।

× × ×
 इक लोहा पूजा में राखत इक घर बधिक परो ।
 सो सुविधा पारस नहि राखत, कंचन करत खरो ।
 इक नदिया इक नारि कहावत, मैलो नीर भरो ।
 जब मिलिगे तब एक वरन भे, सुरसरि नाम परो ।

(महात्मा सूरदास)

(२७५)

राम राइ भई बिकल मति मोरी,
 कै यहु दुनी दिवानी तेरी ॥ टेक ॥
 जे पूजा हरि नांही भावै सो पूजनहार चढ़ावै ॥
 जिहि पूजा हरि भल मानै, सो पूजनहार न जानै ॥
 भाव प्रेम की पूजा, ताथै भयौ देव थै दूजा ॥
 का कीजै बहुत पसारा, पूजी जै पूजनहारा ॥
 कहै कबीर मै गावा, मै गावा आप लखावा ॥
 जो इहि पद माहि समांता, सो पूजनहार सयांता ॥

शब्दार्थ—विकल = व्याकुल, खराब । दुनी = दुनियाँ । दिवानी = दीवानी, पागल । पूजनहार = पूजने वाले, पुजारी लोग ।

संदर्भ—कबीर का कहना है कि साधक मानव को शुद्ध, आत्म स्वरूप की आराधना करनी चाहिए ।

भावार्थ—हे स्वामी राम, मेरी बुद्धि ही खराब हो गई है अथवा तुम्हारी यह सारी दुनिया ही पागल है । भगवान को जो सेवा-पूजा प्रिय नहीं है, उसी प्रकार की पूजा उसको पूजने वाले करते हैं । जो पूजा भगवान को प्रिय है, उस पूजा को ये पूजने वाले जानते ही नहीं हैं । भावपूर्वक एव प्रेमपूर्वक पूजा करने के लिए ही जीव ब्रह्म से पृथक हुआ है अथवा प्राणी का जन्म हुआ है । बहुत अधिक बातें बनाने से क्या लाभ है । पूजने वाले को अपने शुद्ध स्वरूप—शुद्ध बुद्ध आत्मा की पूजा करनी चाहिए । कबीर कहते हैं कि मैंने इस पूजा के वास्तविक रहस्य को गाकर स्पष्ट कर दिया है । जो लोग इस पद में किए गए वर्णन के अनुसार प्रभु की आराधना करते हैं, वे ही ज्ञानी एव चतुर पूजने वाले हैं ।

अलंकार—(1) सदेह—कै तेरी ।

(II) विषम की व्यञ्जना—जे पूजा ...चढ़ावै ।

(III) रूपक—भाव-प्रेम की पूजा ।

(IV) गूढोक्ति—का कीजै... पसारा ।

विशेष—(1) अद्वैत मत का काव्य मय प्रतिपादन है ।

(II) बाह्याचार का विरोध व्यजित है ।

(III) सच्ची भक्ति-भावना का प्रतिपादन है ।

(IV) सच्चा ईश्वर प्रेम ही जीवन का चरम फल है । यह मीधी-सी बात लोगो की समझ में नहीं आती है । इसी बात को देखकर कबीर हैरान हैं ।

(२०६)

रांम राइ भई विगूचनि भारी,

भले इन ग्यांनियन थै संसारी ॥ टेक ॥

इक तप तीरथ औगांहे, इक मांनि महातम चांहे ॥

इक मै मेरी मै बीभै, इक अहंमेव मै रीभै ।

इक कथि कथि भरम लगांवै, समिता सी वस्त न पावै ॥

कहै कबीर का कीजै, हरि सूभै सो अंजन दीजै ॥

शब्दार्थ—विगूचनि=उलझन, कठिनाई, असमंजस, औगांहे=अवगाहन (स्नान) करते हैं । मांनि=मान, सम्मान । बीभै=बीधे, बघते हैं । अहंमेव="मैं ही हूँ"—मिथ्याभिमान । कथि कथि=विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना । समिता=समाप्त अथवा सवित् आत्मबोध । वस्त=वस्तु । अंजन=काजल, लक्षण से ज्ञान, आँखों की दृष्टि को शुद्ध करे ।

संदर्भ—कबीर के विचार से 'विवेक' ही भगवद् प्राप्ति का उचित सोपान है ।

भावार्थ—हे भगवान, मेरे सामने तो बड़ी भारी कठिनाई उपस्थित हो गई है । इन तथाकथित ज्ञानियों (ढोगी एव पाखण्डी लोगो) की अपेक्षा तो ये ससारी लोग (गृहस्थ लोग) ही अच्छे हैं । इन ज्ञानियों में कोई तो तप करते हैं, कोई तीर्थों में स्नान करते हैं, कोई मान चाहते हैं और कोई अपने आपको (भगत जी आदि) कहलाकर) बड़ा दिखाना चाहते हैं । इनमें बहुत से 'मैं मेरा' के मोह-बन्धन में फँसे हुए हैं और किन्हीं को अपनी शेखी बघारने की लत पड गई है । इनमें कुछ लोग विभिन्न धार्मिक सिद्धान्तों का वर्णन करते हुए अपने आपको भ्रम में फँसाए हुए हैं । परन्तु इनमें कोई भी ऐसा नहीं है जिसको आत्म-बोध अथवा समभाव जैसी वस्तु की प्राप्ति हो गई हो । कबीरदास कहते हैं कि तथाकथित ज्ञान और ज्ञानियों से छुटकारा कैसे हो ? यथार्थ बात तो यह है कि उस ज्ञान की प्राप्ति की जानी चाहिए जिससे भगवान का दर्शन प्राप्त हो सके ।

अलंकार—(1) पुनरुक्ति प्रकाश—कथि कथि ।

विशेष—(1) 'अंजन' ज्ञान का प्रतीक है ।

(II) अहंकारी एव ढोगी ज्ञानी की अपेक्षा वह गृहस्थ कहीं अधिक अच्छा है जो निष्ठा पूर्वक अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करता है । सच्चे गृहस्थ की प्रशंसा एव ढोगी ज्ञानी की भर्त्सना है ।

(III) इसमें तत्कालीन सामाजिक जीवन की भी एक झलक प्राप्त हो जाती है ।

(२७७)

काया मजसि कौन गुना,

घट भीतरि है मलनां ॥ टैक ॥

जौ तू हिरदै सुध मन ग्यानीं, तौ कहा बिरोलै पानी ।

तू बी अठसठि तीरथ न्हाई, कडुवापन तऊ न जाई ॥

कहै कबीर बिचारी, भवसागर तारि मुरारी ॥

शब्दार्थ—मजसि=मज्जसि, धोता है । कौन गुना=किस उपयोग के लिए बिलोलै=बिलोडित करता है, मथना अर्थात् पानी मे से किसी वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न करना । तूबी=तु बी, कडवी लौकी ।

संदर्भ—कबीर वाह्याचार की निरर्थकता का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—पूजा-पाठ आदि वाह्याचारो मे लिप्त व्यक्तियो को सम्बोधित करते हुए कबीरदास कहते हैं कि “तुम्हारे शरीर के भीतर तो मैला भरा हुआ है । तब फिर तुम शरीर को बाहर से क्यो धोते हो ? अभिप्राय यह है कि जब हृदय के भीतर विषय-वासना रूपी मैल भरा हुआ है, तब तीर्थो मे मल मल कर स्नान करने से कोई लाभ नहीं है । यदि तुम हृदय से शुद्ध और विवेक पूर्ण मन वाले हो, तब फिर तुम इन तीर्थो के जल को मथ कर क्या प्राप्त करना चाहते हो ? अभिप्रेत यह है कि जल को मथने पर कुछ भी हाथ नहीं लगता है । जल-मथन तो वही करता है जो एक दम मूर्ख होता है । अत जो तीर्थो मे स्नान करके मोक्ष की आशा करते है, वे निरे अज्ञानी है । विवेकी ऐसा मूर्खतापूर्ण व्यवहार कदापि नहीं करेगा ।

जल मे स्नान करके मोक्ष की आशा करने वालो को लोक-व्यवहार का दृष्टांत देकर कवि समझता है कि कडुवी लौकी जल मे तैरती हुई इधर-उधर अनेक तीर्थो मे भले ही स्नान करले, परन्तु उसका कडुवापन नहीं जा पाता है । इसी प्रकार तीर्थ-स्नान से मानव मन की वासनाओ का मैल समाप्त नहीं हो पाता हैं । कबीर कहते हैं कि इन्ही सब बातो का विचार करके मैं भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि हे मुरारि, तुम मुझको इस ससार रूपी सागर से पार उतार दो अर्थात् आवागमन के चक्र से मेरा उद्धार कर दो ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति—काया “ गुना, जौत पानी ।

(II) दृष्टांत—तूबी . जाई ।

(III) विशेषोक्ति—तऊ न जाई ।

(IV) रूपक—भवसागर ।

(VI) परिकराकुर—मुरारि ।

विशेष—(1) लक्षण—बिरोलै पानी ।

(II) वाह्याचार का विरोध है ।

(III) पाठान्तर—हिरदै कपट मुख ग्यानी । भूठै कहा बिलोवसी पानी ।

(२७८)

कैसे तू हरि को दास कहायौ,

करि बहु भेषर जनम गवायौ ॥ टेक ॥

सुध बुध होइ भज्यौ नहि साई, काछ्यौ डच'भ उदर कै ताई ॥

हिरदै कपट सू नही साचौ, कहा भयौ जे अनहद नाच्यौ ॥

भूठे फोकट कलू संझारा, राम कहैं ते दास नियारा ॥

भगति नारदी मगन सरीरा, इहि बिधि भव तिरि कहै कबीरा ॥

शब्दार्थ - काछ्यौ = वेष धारण किया । डचभ = दंभ, पाखण्ड । उदर के ताई = उदरपूर्ति के लिए । अनहद = अनाहत नाद के नाम पर अथवा वेहद । कलू = कलियुग । नियारा = न्यारे, अनोखे ।

संदर्भ—कबीरदास नारद द्वारा प्रतिपादित प्रेमा भक्ति का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—रे साधु का वेष धारण करके अपने आपको भक्त कहने वाले प्राणी ! तुम अपने आपको भगवान का भक्त क्योकर कहलाते हो ? तुमने तो तरह-तरह के अनेक वेष धारण करके अपना सम्पूर्ण जीवन नष्ट किया है । तुमने कभी भी शुद्ध बुद्धि द्वारा भगवान का भजन नहीं किया । तुम तो उदर पूर्ति के निमित्त केवल पाखण्ड करके अनेक वेष धारण करते रहे हो । तेरे हृदय में कपट है और तुमने भगवान से कभी सच्चा प्रेम नहीं किया है । यदि तू केवल दिखाने के लिए हृदय में उठने वाले संगीत का नाम लेकर तरह तरह से नाचता रहा है, तो इससे क्या लाभ है ? इस भूठे एव निस्मार कलियुग में राम का नाम लेने वाले सच्चे भक्त और ही होते हैं अर्थात् सच्चे भक्तों के लक्षण न्यारे ही होते हैं । कबीर कहते हैं कि अपने शरीर को नारद द्वारा कथित प्रेमा भक्ति में तन्मय करो और इस प्रकार इस ससार-सागर के पार हो जाओ ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति—कैसे... .. कहायौ ।

(II) पदमैत्री—सुध बुध ।

(III) वक्रोक्ति—कहा भयौ .. नाच्यौ ।

(IV) भेदकातिशयोक्ति—दास नियारा ।

(VI) रूपक—भव ।

विशेष—(1) अनहद—देखें टिप्पणी पद सं० १५७ ।

(II) वाह्याचार का स्पष्ट विरोध है ।

(III) इस पद में कबीर “नारदी भक्ति” की चर्चा करते हुए वैष्णव भक्तों के एक दम निकट आ जाते हैं । कतिपय आलोचकों के मतानुसार ‘भगति नारदी’ से कबीर का तात्पर्य ‘नारद-भक्ति-सूत्र’ में वर्णित भक्ति के प्रकार से नहीं है । परन्तु हमारे मतानुसार कबीर का तात्पर्य ‘नारद भक्ति सूत्र’ में वर्णित भक्ति-पद्धति से ही

है । कबीर की विचार-धारा (मगन-सरीरा आदि) हमें तो एक दम उसी के अनुकूल दिखाई देती है—

तदपिता खिला चारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ।

सा तत्रस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृत स्वरूपा च ।

(२७६)

राम राइ इहि सेवा भल मानै,

जै कोई राम नाम तत जानै ॥ टेक ॥

रे नर कहा पषालै काया, सो तन चीन्हि जहां थं आया ॥

कहा दिभूति जटा पट बांधे, काजल पंस हुतासन साधे ॥

र राम मां दोई अखिर सारा, कहै कबीर तिहू लोक पियारा ॥

शब्दार्थ—तत=तत्त्व, रहस्य । पषालै=प्रक्षालित करता है, धोता है ।

पट=वस्त्र । हुतासन=अग्नि, हवन करना अथवा पचाग्नि की साधना ।

सुन्दर—कबीरदास राम नाम की महिमा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—जिसको राम-नाम के तत्त्व का ज्ञान है, उसी की सेवा (भक्ति) को भगवान राम अच्छा समझते हैं । रे मानव ! तू इस शरीर को क्यों धो रहा है ? उस परम तत्त्व को जानने का प्रयत्न कर जो तेरा उद्गम कारण है अर्थात् जहाँ से तेरा जन्म हुआ है । भस्म रमाने, जटा रखने तथा विशेष प्रकार के वस्त्र धारण करने से क्या होता है ? तीर्थों के जल में स्नान करने से अथवा पचाग्नि में तपने से किंवा हवन करने का भी कोई उपयोग नहीं है । 'रकार' और 'मकार' अर्थात् 'राम' ये दो अक्षर ही सार पदार्थ हैं । कबीर कहते हैं कि तीनों लोकों में ये दो अक्षर ही प्रिय वस्तु है—ये ही सुन्दर एवं मंगलकारी हैं ।

अलंकार—(1) गोढोक्ति—रे नर आया ।

(II) वक्रोक्ति—कहा पषालै साधे ।

(III) पदमैत्री—बांधे साधे ।

विशेष—(1) वाह्याचार का विरोध है ।

(II) ज्ञान-लक्षण भक्ति ही श्रेष्ठ है ।

(III) 'राम-राम' के स्मरण में ही जीवन की सार्थकता है । तुलना कीजिए—

आखर मधुर मनोहर दोऊ । वरन बिलोचन जन जिय जोऊ ।

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू । लोक लाहु परलोक निवाहू ।

× × ×

एकु छत्रु एकु मुकुटमनि सब वरननि पर जोउ ।

तुलसी रघुवर नाम के वरन विराजत दोउ ।

× × ×

राम नाम मनिदीप घरु जीह देहरी द्वार ।

तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजियार । -- गोस्वामी तुलसीदास

(२८०)

इहि विधि राम सू ल्यौ लाइ ।
 चरन पाषे निरति करि, जिभ्या बिनां गुंण गाइ ॥टेक॥
 जहाँ स्वांति बूँद न सीप साइर, सहजि मोती होइ ।
 उन मोतियन मै नीर पोयौ, पवन अम्बर धोइ ॥
 जहाँ धरनि बग्घे गगन भीजै, चन्द सूरज मेल ।
 दोइ मिलि तहाँ जुड़न लागे, करत हंसा केलि ॥
 एक विरष भीतरि नदी चाली, कनक कलस समाइ ।
 पंच सुवटा आइ बैठे, उदै भई बनराइ ॥
 जहाँ विछट्यौ तहाँ लाग्यौ, गगन बैठो जाइ ।
 जन कबीर बटाऊवा जिनि मारग लियौ चाइ ॥

शब्दार्थ—ल्यौलाइ = लौ लगा । साइर = सागरा । नीर = पानी, काति ।
 हसा = बुद्ध बुद्ध जीवात्मा । विरप = वृक्ष । नदी = सुपुम्ना । कनक-कलश = सोने
 का कलशा, सहस्रार । पच सुवटा = पाच तोते (पच प्राण—प्राण, अपान, उदान,
 समान तथा व्यान) । बनराइ = बनराजी, विभिन्न सद्वृत्तियाँ । जन = भक्त ।
 बटाऊवा = पार्थक । चाइ = चाव पूर्वक । मारग लीयौ = मार्ग अपना लिया है ।

सन्दर्भ—कबीरदास कायायोग की साधना का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—रे साधक ! तू भगवान राम मे इस प्रकार लौ लगा । उनके
 चरण-कमलो के समीप नृत्य कर । जीभ के बिना उनका गुण-गान कर अर्थात् मन मे
 उनके गुणो का स्मरण कर । जहाँ न स्वाति नक्षत्र के जल की बूँद गिरती है, न
 सीपी है और न सागर है, वही मोक्ष रूपी मोती सहज रूप से प्राप्त होता है ।
 अभिप्राय यह है कि आत्म समर्पण करने पर कार्य-कारण सम्बन्धो से प्रतीत सहज
 अनुभूति रूप मोती प्राप्त होगा । उस मोती मे परमानन्द रूप काति समायी हुई है
 और प्राण रूप पवन एव ज्ञान-रूप आकाश उसे निर्मल रखते हैं । अभिप्राय यह है
 कि प्राण-साधना एव ज्ञानानुभूति के द्वारा उसको सम्पूर्ण विकारो से रहित बना
 दिया गया है ।

इस अवस्था मे कुण्डलिनी रूपी पृथ्वी से अमृत भरता है और ब्रह्मरन्ध्र रूप
 गगन उस अमृत का पान करता है । अभिप्राय यह है कि कुण्डली-शक्ति के जाग्रत
 होने पर शून्य-गगन-मडल अमृत की वर्षा से अभिसिंचित हो जाता है । इस अवस्था
 मे चन्द्र और सूर्य (इडा-पिंगला) नाडियाँ मिलकर तदाकार होने लगती हैं तथा ज्ञानी
 जीवात्मा आनन्दमग्न हो जाता है । इस शरीर रूपी वृक्ष मे सुपुम्ना रूपी नाडी
 प्रवाहित होती है और सहस्रार रूपी स्वर्ण कलश आध्यात्मिक आनन्द द्वारा आपूरित
 हो जाता है ।

इस अवस्था मे पचप्राण यहाँ केन्द्रित हो जाते हैं और अन्त करण मे
 सद्वृत्तियो का उदय हो जाता है, मानो बनस्थली हरी-भरी हो उठी हो । (कतिपय

आलोचक 'पंच सुवटा' का अर्थ "पाच ज्ञानेन्द्रियाँ" करते हैं। तब भी इसके मूल भावार्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। तब इसका अर्थ इस प्रकार होगा कि पाँचो इन्द्रियाँ रूपी तोते यहाँ आकर बैठ जाते हैं, अर्थात् इन्द्रियाँ बाह्य विषयो से विमुख होकर इस आनन्दानुभूति का भोग करने लगती हैं।) कबीर कहते हैं कि मेरी चेतना की अवस्थिति शून्य में हो गई है अर्थात् आत्म चेतना का पर्यवसान विश्व-चेतना में हो गया है। मैं जहाँ से बिछुड़ा था, वही आकर बैठ गया हूँ अर्थात् मैं अब तक भगवान (परमात्मा) से वियुक्त था, अब उसी में समाहित (तन्मय) हो गया हूँ। यह भक्त कबीर परमपद के मार्ग का पाथिक है। उसको अपना अभीप्सित मार्ग मिल गया है और उसने उसको पूरे उत्साह के साथ अपना लिया है।

अलंकार—(1) विभावना—जिम्या ' गाइ, जहाँ '... होइ, पवन अबर
घोइ ।

- (II) श्लेष पुष्ट रूपक—मोती ।
- (III) रूपकातिशयोक्ति—पवन, अम्बर, हसा, सुवटा ।
- (IV) विरोधाभास—घरनि बरसै भीजै, चद सूरज मेलि,
- (V) जहाँ बिछड़यो '... लाग्यौ ।

विशेष—(1) रूपको तथा प्रतीको का प्रयोग है ।

(II) कुण्डलिनी शक्ति पृथ्वी से उद्भूत होती है। इसी से उसको 'घरती' कहते हैं ।

(III) इस पद में 'उलटवासी' की पद्धति अपनाई गई है ।

(IV) काया योग की सिद्धियों का वर्णन है ।

(V) जहाँ '... लाग्यौ — अद्वैतावस्था की ओर सकेत है ।

(VI) निर्विकल्प समाधि का वर्णन है। इसी को भूमा का सुख भी कहा गया है ।

(VII) कनक कलस—विश्व-चेतना की अवस्था की अनुभूति को ही अरविन्द ने 'स्वर्ण-वर्षा' कहा है ।

(VIII) पंच सुवटा आईं बैठे—इन्द्रियो का अन्तर्मुखी होना ज्ञान-प्राप्ति दशा का महत्त्वपूर्ण लक्षण है—

हैं अपनापौ तब खानिहों, जब मन फिरि परि है ।

तथा— सन्मुख होइ जीव मोहिं जबही । जन्म कोटि अध नासहि तवहीं ।

—गोस्वामी तुलसीदास

- (IX) कुण्डलिनी—देखें टिप्पणी पद २१६ ।
- (X) विश्ववृक्ष—देखें टिप्पणी पद ११, १६४ ।
- (XI) जहाँ बिछड़यो—देखें टिप्पणी पद २६ ।
- (XII) शून्य—देखें टिप्पणी पद १६४ ।

(२८१)

ताथै मोहि नाचिबौ न आवै,

ऊभर था ते सूभर भरिया, त्रिष्णां गागरि फूटी ।
 हरि चिंतन मेरौ मदला भीनौ, भरम भोयन गयो छूटी ॥
 ब्रह्म अग्नि मै जरी जु ममिता, पाषड अरु अभिमानां ।
 काम चोलनां भया पुराना मोपे होइ न आना ॥
 जे बहु रूप किये ते कीये, अब बहु रूप न होई ।
 थाकी सौज संग के बिछुरे राम नाम मसि धोई ॥
 जे थे सचल अचल ह्वै थाके, करते बाद बिबादं ।
 कहै कबीर मै पूरा पाया, भया राम परसादं ।

शब्दार्थ—ऊभर=खाली । सूभर=शुभ्र । मदला=मन रूपी बाजा ।
 भोपन=वह आटा जो ध्वनि मे ठनक उत्पन्न करने के लिए मदल पर लगाया जाता
 है । सौज = साज, सज्जा, भोग-सामग्री । संग=विषय विकार रूपी साथी । मसि=
 पापकालिमा । परसाद = कृपा ।

संदर्भ—कबीरदास ज्ञान-दशा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि मुझ पर भगवान की कृपा हो गई है । इससे
 अब मुझ से संसार के भाँति-भाँति के नाच नहीं नाचे जाते हैं । मेरा जो चित्त रूपी
 घडा भक्ति के जल से शून्य था वह अब भक्ति के शुभ्र जल से भर गया है और मेरी
 तृष्णा-रूपी गगरी फूट गई है । हरि के चिन्तन के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले आनंद
 जल से मेरा मन रूपी मदला बाजा भीग गया है और वह मन्द पड गया है । भ्रम-
 रूपी भोयन (आटा) से मेरे मन रूपी मदला की मुक्ति हो गई है । ज्ञान की अग्नि
 से ममता, पाषण्ड और अभिमान जल गए हैं । कामवासना रूपी मेरा वस्त्र पुराना
 पड गया है । अब मेरे पास अन्य कोई वस्त्र नहीं है—अर्थात् मैं अब काम-वासना
 रहित हो गया हूँ । अब तक मैंने इच्छाओं के वशीभूत होकर जो अनेक जन्म धारण
 कर लिए सो कर लिए परन्तु अब वे रूप मैं धारण नहीं करूँगा । कर्म-भोग रूपी
 मेरी समस्त सामग्री समाप्त हो गई है और विषय-विकार रूपी साथियों से मेरा
 छुटकारा हो गया है तथा राम-नाम ने मेरे समस्त पूर्व कलुषों को धो दिया है । जो
 वासनाएँ अब तक चचल थी और आपस में झगडती रहती थी अर्थात् जिनके कारण
 मेरा मन चचल बना रहता था, वे अब उदात्तीकृत हो गई है और निष्क्रिय हो गई
 हैं । कबीरदास कहते हैं कि मुझ पर राम की कृपा हो गई है और मुझे पूर्ण परम
 तत्त्व का साक्षात्कार प्राप्त हो गया है ।

अलंकार—(1) सभग पद यमक—ऊभर सूभर । सचल अचल ।

(II) रूपक—त्रिष्णा गागर, भरम भायन ।

(III) ब्रह्म अग्नि, काम चोलना ।

(IV) रूपकातिशयोक्ति—मदला, सौज ।

(v) अनुप्रास—भरम, भोयन भीनौ ।

(vi) श्लेष पुष्ट रूपक—मसि ।

(vii) विरोधाभास—अचल है याके ।

विशेष—(i) ज्ञान दशा का मार्मिक वर्णन है ।

(ii) ताथै भरिया—समभाव देखै—

अध जल गगरी छलकत जाए ।

(iii) मन का मर्दल न बजाना और ताल न देना विविध जागतिक कार्यों के लिए उसका सहयोग न देना है । चित्त के घट का भरना सतोष से पूरित होना है । मन के मर्दल के भीगने का तात्पर्य उसका शिथिल होना है । सग के लोग विषय विकार हैं अथवा ससार के सम्बन्धी भी हो सकते हैं ।

(iv) ज्ञान और भक्ति का समन्वय ही जीवन की सार्थकता है । यही कबीर का दर्शन है । कबीर जीवन के सामान्य क्रिया बलापो के प्रति नवीन दृष्टि उत्पन्न करना ही ज्ञान-प्राप्ति का लक्षण मानते हैं ।

(v) तुलना कीजिए—

अबलों नासानी, अब न नसैहों ।

राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे पुनि न डसैहों ।

पायो नाम चारु चिंतामनि, उर करते न खसैहों ।

स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहि कसैहों ।

परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहों ।

मन मधुकर पत कैं तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहों ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

तथा —

अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल ।

काम-क्रोध को पहिरि चोलना, कण्ठ विषय की माल ।

×

×

×

सूरदास को सबे अविद्या, दूर करौ नन्दलाल ।

(२८२)

अब क्या कीजै ग्यांन बिचारा,

निज निरखत गत ब्यौहारा ॥टेक॥

जाचिग दाता इक पाया, धन दिया जाइ न खाया ।

कोई ले भरि सकै न भूका, औरनि पै जाना चूका ॥

तिस बाझ न जीव्या जाई, वो मिलै त घालै खाई ।

वो जीवन भला कहाई, बिन म् वां जीवन नाहीं ॥

घसि घदन बनखडि बारा, बिन नैननि रूप निहारा ।

तिहि पूत बाप इक जाया, बिन ठाहर नगर बसाया ॥

कहै कबीर सो पाया, प्रभु भेटत आप गंवाया ॥

शब्दार्थ—निज निरखत=आत्म ज्ञान । गत=समाप्त । मूका=मुट्ठी (मुक्का) । बाभ=बिना ।

सन्दर्भ—कबीरदास ज्ञान-बोध की चर्चा करते हैं ।

भावार्थ—अब विवेक-विचार आदि की क्या आवश्यकता है ? आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार हो जाने पर सम्पूर्ण सासारिक व्यवहार (विधि-निषेध) समाप्त हो गए हैं । इस साधक रूपी पाचक जीव को परमात्मा रूपी एक ऐसा दाता मिल गया है जिसका दिया हुआ ज्ञान-भक्ति रूपी धन भोग करने पर भी समाप्त नहीं होता है । उस धन को कोई अपनी मुट्ठी में भी नहीं भर सकता है अर्थात् उसके ऊपर एकाधिकार भी नहीं कर सकता है तथा उस धन को प्राप्त करने के पश्चात् किसी अन्य के पास याचना करने के लिए जाने की आवश्यकता भी नहीं रह जाती है । अर्थात् अन्य साधनाओं को अपनाने की आवश्यकता नहीं रह जाती है । उस धन के बिना जीवित नहीं रहा जाता है । यदि वह धन मिल जाता है तो हमारे सासारिक अस्तित्व (अहम् भाव) को मार कर समाप्त कर देता है । भक्ति पूर्ण यह जीवन ही अच्छा कहलाता है और बिना मरे इस जीवन की प्राप्ति नहीं होती है अर्थात् जब तक व्यक्ति का अहभाव (सासारिकता के प्रति आसक्ति) नहीं मर जाता है, तब तक वह भक्ति के आनंद पूर्ण जीवन का अधिकारी नहीं बन पाता है । जब व्यक्ति भक्ति के चन्दन को विसर कर ज्ञान और वैराग्य की अग्नि प्रकट करता है और उससे विषय विकारों के जगल को जला डालता है, तब उसको साधना रूपी नेत्रों के बिना ही सहज भाव से हृदय में भगवान का साक्षात्कार हो जाता है । वह भक्त एक उस पुत्र के समान है जो परमात्मज्ञान रूपी पिता को जन्म देता है तथा स्थान के बिना ही नगर बसा देता है अर्थात् सासारिकता में लिप्त हुए बिना ही ससार के व्यवहार चलाता रहता है । जो जीवित रहते हुए मरना जानता है अर्थात् शरीर को रखते हुए सासारिकता (आसक्ति) का परित्याग करके ससार के लिए मृत हो जाता है, वही साधक पाँचों प्राणों द्वारा प्राप्त सामूहिक सुख का वास्तविक आनंद प्राप्त करता है । कबीरदास कहते हैं कि भगवान की खोज में मैंने अपने ससारी रूप को नष्ट करके उस परम तत्त्व को प्राप्त किया है ।

अलंकार—(i) वक्रोक्ति—अब.... विचारा ।

(ii) विशेषोक्ति—धन खाया ।

(iii) सम्बन्धातिशयोक्ति—कोई . . . मूका ।

(iv) विरोधाभास—तिरुवाभ . . . खाई, बिन मूवा नाही, घसि . वारा, तिहि जाया, जीवत . . . जानै तथा प्रभु भेटत . . . गवाया ।

(v) विभावना—बिन . . . निहारा, बिन ठाहर.....वमाया ।

विशेष—(i) यह पद उलटवासी का है ।

(ii) प्राप्त किया हुआ धन आत्मा, भूति का है । दाता आत्मा है । इस प्रकार इस पद में विभिन्न प्रतीको का सुन्दर प्रयोग है ।

(iii) भक्ति किसी सिद्धि का साधन नहीं है । इसी से लिखा है कि धन दिया जाहूँ न खाया तथा "औरनि पै जाना चू का ।"

(iv) चदन को घिस डालने तथा वन खड को जला डालने का आशय उपासना के बाह्य उपकरणों को समाप्त करना भी हो सकता है ।

(v) पच शैल — पच प्राण, प्राण, अपान, उदान समान और ध्यान ।

(vi) इस पद में कबीरदास ने ईश्वर और जीव का तथा ज्ञान और भक्ति का अभेद व्यक्त किया है । यह भी बताया है कि भक्ति से ज्ञान-बोध का जन्म होता है ।

(vii) समभाव देखिए—

जग जाँचिये कोऊ न जाँचिए जो जिय जाँचिये जानकी जानहि रे ।

जेहि जाँचत जाचकता जरि जाइ जो जारति जोरि जहा नहि रे ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(२८३)

अब मैं पायौ राजा राम सनेही,

जा बिनु दुख पावै मेरी देही ॥टेक॥

वेद पुरान कहत जाकी साखी, तीरथि व्रति न छूटै जम की पासो ॥

जाथै जनम कहत नर आगै, पाप पुनि दोऊ भ्रम लागै ॥

कहै कबीर सोई तत जागा, मन भया मगन प्रेम सर लागा ॥

शब्दार्थ—साक्षी=साक्ष, बन्धन । जन्म=दिव्य जन्म ।

सदर्भ—कबीर भगवत् प्रेम की प्राप्ति का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—अब मुझे मेरे प्रेमी भगवान राम की प्राप्ति हो गई है । उनके बिना मेरा जीवन दुखी रहता था । वेद, पुराण इस बात के साक्षी हैं कि तीर्थ-व्रत आदि के द्वारा काल-चक्र का बन्धन नहीं छूट पाता है । भाव-प्रेम के द्वारा मनुष्य को दिव्य योनि प्राप्त होती है अर्थात् मुक्तावस्था प्राप्त होती है । इसके उदय हो जाने पर पाप-पुण्य दोनों ही भ्रम प्रतीत होने लगने हैं क्योंकि ये दोनों ही बन्धन कारक हैं । कबीर कहते हैं कि मेरे मन में तत्त्व ज्ञान जाग गया है । भगवत्प्रेम रूपी वाण मेरे हृदय में समा गया है और मेरा मन उसी में तन्मय हो गया है ।

अलंकार—रूपक—प्रेम सर ।

विशेष—(1) सच्चे भगवत्प्रेम की महिमा का वर्णन है ।

(ii) बाह्याचार की निरर्थकता के प्रति सकेत है । समभाव के लिए देखे—

जौं लो मन-कामना न छूटै ।

तौ कहा जोग-जग्य-व्रत कीन्हे, बिनु कन भुस को कूटै ।

कहा स्नान किये तीरथ के, अग भसम जट-जूटै ।

कहा पुरान जु पढ़े अठारह, उरध धूम के घूटे ।
 जग सोभा की सकल बड़ाई, इन ते कछु न खूटे ।
 करनी और कहनी कछु औरै, मन दसहूँ दिसि दूटे ।
 काम क्रोध मद लोभ सत्र हैं, जो इतननि सों छूटे ।
 सूरदास तव ही तम नासै, ग्यान-अगिनि-भर फूटे ।

—महात्मा सूरदास

(२८४)

विरहिनी फिरै है नाथ अधीरा,
 उपजि बिनां कछु समझि न परई, बांझ न जानै पीरा ॥टेक॥
 या बड़ बिथा सोई भल जानै, राम विरह सर मारी ।
 कैंसो जानै जिनि यहु लाई, कै जिनि चोट सहारी ॥
 संग की बिछुरी मिलन न पावै सोच करै अरु काहै ।
 जतन करै अरु जुगति बिचारै, रटै राम कूं चाहै ॥
 दीन भई बूझै सखियन कौं, कोई मोहि राम मिलावै ।
 दास कबीर मीन ज्यूं तलपै, मिलै भलै सचुपावै ॥

शब्दार्थ—उपजि=विरह जन्य अधीरता की उत्पत्ति । बड़=बड़ी । सहारी
 =सहन की । काहै=कराहती है ।

सन्दर्भ—कबीरदास की आत्मा रूपी पत्नी अपने पति राम के वियोग में
 व्याकुल है ।

भावार्थ—हे नाथ ! यह विरहिणी आपके वियोग में अधीर हुई मारी-मारी
 घूम रही है । जिसके हृदय में विरह की यह पीड़ा उत्पन्न नहीं हुई है वह मेरी इस
 व्यथा को नहीं समझ सकता है । ठीक ही है, बांझ नारी प्रसव की पीड़ा को नहीं
 जान सकती है । इस बड़ी व्यथा को वही अच्छी तरह समझ सकती है, जिसको
 राम के विरह का वाण लगा है । प्रेम की पीड़ा की अनुभूति या तो उसे होती है
 जिसने यह प्रेम-पीड़ा को उत्पन्न किया है अथवा वह जिसने इसकी चोट को सहन
 किया है । हे भगवान, आपकी साथिन यह जीवात्मा आपसे बिछुड गई है और आपसे
 मिल नहीं पा रही है । इसी कारण वह चिन्तित है और कराह रही है । वह आपसे
 मिलने के लिए उपाय सोचती है और तरह-तरह की तरकीबों पर विचार करती है ।
 वह निरन्तर प्रियतम राम को ही रटती रहती है और उन्हीं में पूर्णतः अनुरक्त है ।
 यह अत्यन्त दीन बनी हुई अन्य भवत आत्माओं रूपी सखियों से मिलन का उपाय
 पूछती रहती है और अनुनय करती है कि मुझे कोई भी राम से मिला दे । भक्त
 कबीरदास कहते हैं कि यह जीवात्मा राम के वियोग में जल से वियुक्त मछली की
 तरह तड़पती है । उनसे मिलने पर ही इसको सच्चे सुख की प्राप्ति होगी ।

अलंकार—(1) निदर्शना—बांझ न जानै पीरा ।

(11) रूपक—विरहसर

(III) उपमा— मीन ज्यू तल्पे ।

विशेष—इस पद में रहस्य भावना एवं भक्ति भावना का सुन्दर समन्वय है । इसमें समन्वित प्रेमानुभूति का विप्रलम्भ रूप है । समभाव के लिए देखिए—

मैं हरि बिन क्यो जिऊँ री माई ।

पिव कारन वौरी भई, ज्यों घुन काठहि खाइ ।

×

×

×

मीराँ के प्रभु लाल गिरधर । मिलि गये सुख दाइ । —मीराबाई

(२८५)

जातनि बेद न जानैगा जन सोई,

सारा भरम न जानै राम कोई ॥टेक॥

चषि बिन दिवस जिसी है सज्ञा, व्यावन पीर न जानै बज्ञा ।

सूभँ करक न लागै कारी, बैद बिधाता करि मोहि सारी ॥

कहै कबीर यहु दुख कासनि कहिये, अपने तन की आप ही सहिये ॥

शब्दार्थ—करक=पीडा ।

सन्दर्भ—कबीर की विरहिणी आत्मा भगवत्दर्शन के लिए व्याकुल है ।

भावार्थ—जिसके हृदय में विरह की पीडा है वही भगवत्प्रेमी उसको समझ सकता है । शेष समार को भ्र . मान है । राम के प्रेम की अनुभूति तो किसी किसी को होती है । नेत्रहीन के लिए तो जैसा दिन है वैसी ही सध्या है अर्थात् अन्वे के लिए तो दिन-रात समान हैं । बन्ध्या नारी प्रसव की पीडा नहीं समझ सकती है । विरहिणी को अपनी पीडा भर दिखाई देती है और वह उसको बुरी भी नहीं लगती है । विरहिणी जीवात्मा कहती है कि हे भगवान रूपी वैद्य, मेरी व्यथा को ठीक कर दो तुम वैद्य बन कर आओ और दर्शन रूपी औषधि द्वारा मुझे स्वस्थ कर दो । कबीर कहते हैं कि इस प्रेम पीडा को किससे कहूँ । अपनी व्यथा स्वय ही सहनी पडती है ।

अलकार—दृष्टान्त—चषि बज्ञा ।

विशेष—(I) समभाव देखिए—

घायल की गति घायल जानै और न जानै कोय ।

तथा—घायल-सी घूमत फिरूँ, दरद न जाणे कोइ ।

धान न भावै, नौद न आवै विरह सतावै मोइ ।

—मीराबाई

(II) अपने तन को आपन सहिये । ठीक ही है—

रहिमन मन की बिथा मन में राखी गोइ ।

लोग हँसाई सब करै वांटे न लेहै कोई ।

—रहीम

(२८६)

जन की पीर हो,

राजा राम भल जानै, कहूँ काहि को मानै ॥टेक॥

नैन का दुख बैन जानै, बैन का दुख श्रवनां ।
 प्यंड का दुख प्रांन जानै, प्रांन का दुख मरनां ॥
 आस का दुख प्यासा जानै, प्यास का दुख नीर ।
 भगति का दुख रांम जानै, कहै दास कबीर ॥

सन्दर्भ—कबीरदास की विरह-व्यथा वर्णनातीत है ।

भावार्थ—भक्त के हृदय की पीडा को भगवान राम अच्छी तरह जानते हैं । उसको किससे कहूँ और उस पर कौन विश्वास करेगा ? प्रियतम को न देखने के कारण जो दुःख होता है, उसका वर्णन वाणी द्वारा किया जाता है । वाणी द्वारा वर्णित दुःख को सुनकर कानों को दुःख होता है अर्थात् दुःख का वर्णन सुनने वाला दुःखी होता है । शरीर के कष्ट को प्राण समझते हैं और प्राणों की व्यथा का ज्ञान मरने पर हो पाता है । आशा में कितनी व्यथा समाई रहती है, इसका अनुभव पानी की आशा में जीवित रहने वाला प्यासा व्यक्ति जानता है । प्यासे व्यक्ति की व्यथा को जल समझता है । कबीरदास कहते हैं कि भक्ति के कारण उत्पन्न होने वाली व्यथा का ज्ञान राम को ही है । भाव यह है कि जल ही यह जानता है कि उसके बिना उसके प्यासे को कितना कष्ट होता है । इसी प्रकार भगवान राम यह जानते हैं कि उनके प्रेमी भक्त को उनके दर्शन के अभाव में कितनी व्यथा होती है ।

अलंकार—(1) निदर्शना—नैन का दुख • राम जानै ।

(ii) वक्रोक्ति—कहूँ काहि को मानै ।

विशेष—(1) लाक्षणिक शैली का प्रयोग है ।

(ii) रहस्य भावना की अभिव्यक्ति है ।

(iii) मार्मिक व्यथा की मार्मिक व्यंजना हैं ।

(iv) शब्द विधान में प्रवाह एवं सगीतात्मकता है ।

(२८७)

तुम्ह बिन रांम कवन सौँ कहिये,

लागी चोट बहुत दुख सहिये ॥टेक॥

बेध्यों जीव बिरह कै भालै, राति दिवस मेरे उर सालै ॥

को जानै मेरे तन की पीरा, सतगुर सबद बहि गयो सरीरा ॥

तुम्ह से बैद न हमसे रोगी, उपजी बिथा कैसे जीवै बियोगी ॥

निस वासुरि मोहि चितवत जाई, अजहूँ न आइ मिले रांमराई ॥

कहत कबीर हमकोँ दुख भारी, बिन दरसन वयूँ जीवहि मुरारी ॥

संदर्भ—कबीरदास की जीवात्मा पत्नी की विरह-व्यथा का वर्णन है ।

भावार्थ—हे राम ! तुम्हारे अतिरिक्त मैं अपने मन की व्यथा किससे कहूँ ?

विरह-व्यथा की चोट मुझे गहरी लगी है और उसके कारण मुझे बहुत दुःख सहन करना पड रहा है । विरह रूपी भाले ने मेरे जीवात्मा को वेध दिया है और यह व्यथा रात-दिन मेरे हृदय में कसकती रहती है । मेरे अन्तःकरण में जो विरह-व्यथा

है, उसको कोई नहीं जानता है। सद्गुरु का सदुपदेश रूपी वाण मेरे हृदय में समा गया है। (उसी से प्रेम की यह पीड़ा उत्पन्न हुई है)। हे भगवान, तुम्हारे समान कोई प्रेम का उपचार करने वाला वैध नहीं है और मेरे समान कोई अन्य प्रेम से व्यथित रोगी नहीं है। मेरे मनमें उत्कट प्रेम-व्यथा उत्पन्न हो गई है। अब मैं आपके वियोग में किस प्रकार जीवित रह सकती हूँ? रात-दिन मुझे आप की राह देखते हुए व्यतीत होते हैं। हे राजा राम, आप अभी भी आकर मुझसे नहीं मिले हैं। कबीर कहते हैं कि इस विरह के कारण हमको बहुत भारी दुःख है। हे मुरारी! आपके दर्शनों के बिना मैं किस प्रकार जीवित रह सकूँगा?

अलंकार—(1) रूपक—विरह कै भालै ।

(II) वक्रोक्ति—को जानें पीरा, बिन मुरारी ।

(III) अनन्वय—तुमसेरोगी ।

(IV) गठोक्ति—उपजी वियोगी ।

(V) परिकराकुर—मुरारी ।

विशेष—(1) रहस्य भावना की व्यजना है ।

(II) भक्ति के विप्रलम्भ-पक्ष का मार्मिक वर्णन है ।

(III) “विरह कै भालै”—सदृश कथन पर फारसी की ऊहात्मक शैली का स्पष्ट प्रभाव है ।

(२८८)

तेरा हरि नामें जुलाहा,

मेरे राम रमण का लाहा ॥टेक॥

दस सै सूत्र की पुरिया पूरी, चद सूर दोइ साखी ।

अनत नांव गिनिं लई मजूरी, हिरदा कवल मै राखी ॥

सुरति सुमृति दोइ खू टी कीन्ही, आरंभ कीया बसेकी ।

ग्यान तत की नली भराई, बुनित आतमां पेषी ॥

अविनासी धन लई मजूरी, पूरी थापनि पाई ।

रस बन सोधि सोधि सब आये निकटै दिया बताई ॥

मन सूधा कौ कूच कियौ है, ग्यान बिथरनी पाई ।

जीव की गांठि गुठी सब भागी, जहां की तहां ल्यौ लाई ॥

बेठि बेगारि बुराई थाकी अनभै पद परकासा ।

दास कबीर बुनत सच पाया, दुख ससार सब नासा ॥

शब्दार्थ—राम-रमण=आत्मा में रमना । चद सूर=इड़ा पिगडा ।

सन्दर्भ—कबीरदास आत्म-दर्शन का वर्णन करते हैं ।

हे भगवान! मैं तेरे नामरूपी वस्त्र के बुनने वाला जुलाहा हूँ। इस व्यवसाय में मुझको यह लाभ है कि मुझे राम में रमण करने का (आत्म-साक्षात्कार) का अवसर प्राप्त होता है। मैंने हजार सूत्रों की पुटरी भरली है अर्थात् अन्तःकरण की

सहस्रो भावनाएँ ही इस नाम स्मरण द्वारा आपूरित हो गई हैं। वे ही इस वस्त्र की उपादान बन गई हैं। सूत को उलझने से बचाने के लिए इडा और पिंगला नामक दोनो नाडियो को दो डडो (गोडो) का रूप दिया गया है। इस वस्त्र को बुनने के परिश्रमिक के रूप में मैंने अनंत नाम-स्मरण के रूप में प्राप्त किया है, अर्थात् तुम्हारे अनंत नामो को गिन कर उन्हें मैंने अपनी मजदूरी के रूप में लिया है। इस अमूल्य निधि को मैंने अपने हृदय में ही रखा है। हरि-स्मरण रूपी इस वस्त्र के लिए मैंने सुरति और स्मृति की दो खूटियाँ बना ली हैं। इस प्रकार विवेक-रूपी वस्त्र बुनना आरम्भ कर दिया है। मैंने ज्ञान तत्व से नली भरली है और इस प्रकार इस वस्त्र को बुनते हुए मैंने आत्मसाक्षात्कार किया है। इस बुनाई की मजदूरी में मुझे अविनाशी भगवान की प्राप्ति रूपी धन प्राप्त हुआ है और मैं पूर्ण रूपेण आत्मस्थित हो गया हूँ। अन्य साधक इस आत्म तत्व को इधर-उधर सब जगह अनेक साधनाओ-रूपी अरण्यो और-वनो में खोजते रहो मैंने इस तत्व को निकट ही बता दिया अर्थात् मैंने उन साधको के स्वरूप में ही इस तत्व का सहन रूप से निर्देश कर दिया। मैंने शुद्ध मन की कूची बनाई है और ज्ञान की बिथरनी (सूत को अलग सलग रखने वाला यन्त्र) पाई है और इस प्रकार जीव के मन की गाँठो और ममता की घुडियाँ समाप्त हो गई हैं और जहाँ की तहाँ लय लग गई है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेम की कूची से मैंने विषय वासनाओ एव वाह्याडम्बर के ऊपरी मैल को साफ किया है, तथा विवेक के द्वारा मन में किसी प्रकार की द्विविधा उत्पन्न नहीं होने दी है। इस प्रकार अहंकार की गाँठो और ममता के बन्धनो से मुक्त होकर जीव की ली आत्मस्वरूप में लग गई है। माया के फेर में जो बैठे-ठाले के व्यर्थ के काम थे, वे भी समाप्त हो गए हैं और इस प्रकार आत्मा में अभय पद प्रकाशित हो गया है। कबीरदास कहते हैं कि इस हरि-स्मरण रूपी वस्त्र को बुनते हुए मुझे परम सुख (परम सत्य के साक्षात्कार) की प्राप्ति हुई है और दुख-रूप ससार का नाश हो गया है।

अलंकार— (1) रूपकातिशयोक्ति— सम्पूर्ण पद।

(II) साग रूपक— दस = पाई।

(III) विरोधाभास— अनंत नाउ गिनि लई।

विशेष— (1) साधना के प्रतीको का प्रयोग है।

(II) नाम स्मरण की महिमा का निर्देश है। इसमें ज्ञान और योग दोनो का योग है। साधक कबीर का आत्म-विश्राम दृष्टव्य है।

(२८६)

भाई रे सकहु न तनि बुनि लेहु रे,

पीछै रांमहि दोस न देहुरे ॥टेक॥

करगहि एक बिनांती ता भीतरि पंच परांती ॥

तामै एक उदासी, तिहि तणि बुणि सबै बिनासी ॥

जे तूँ चौसठि बरियां धावा, नही होइ पच सूं मिलांवा ॥
 जे तै पांसै छसै तांणी, तौ तूँ सुख सूं रहै परांणी ।
 पहली तणियां ताणां पीछै बुणिया बांणां ॥
 तणि बुणि मुरतब कीन्हां, तब रांम राइ पूरा दीन्हां ॥
 राछ भरत भई सजा, तारुणी त्रिया मन बधा ॥
 कहै कबीर बिचारी, अब छोछी नली हंमारी ॥

शब्दार्थ— तनि=तानकर । करगहि=शरीर रूपी करघा । विनानी=विज्ञानी एव विवेकी । उदासी=उदासीन (प्रतिविम्बित चैतन्य से तात्पर्य है । आत्मा छसै ताणी=छ चक्रों में प्राण-संचार करोगे । मुरतब=मुरत्तब, तैयार । राछ=ताने का तराव उठाने गिराने का जुलाहो का औजार । सभा=सन्ध्या । तरुणी त्रिया=युवती पत्नी । छोछी=छूँछी, खाली ।

सन्दर्भ—कबीरदास कायायोग के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—कबीरदास ससारी जीवों को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि रे भाई, यदि कर सको तो हरि-स्मरण रूपी ताना-बाना (वस्त्र) बुन लो । बाद में भगवान् (भाग्य) को दोष मत देना इस वस्त्र को बुनने के लिए तुम्हारे पास मानव-शरीर रूपी करछा है जो विज्ञानमय एव विवेकी है । इस करछे में पाँच प्राण (प्राण, अपान, उदान, समान एव व्यान) रूपी पाँच प्राणी हैं । इसमें एक आत्मा (प्रतिविम्बित चैतन्य) भी है, जो साक्षी स्वरूप उदासीन है । ससारी जीव ने अपने प्रकार के विषय-विकारों में फस कर उसको नष्ट कर दिया है । अगर तुम चौसठ बार (६४ घड़ी) अर्थात् दिन रात भी प्राणायाम करोगे, तब भी उन पाँच प्राणों से तुम्हारा संयोग नहीं हो पाएगा । अगर तुम षट्चक्रों में प्राण-संचार रूप बाना बुनोगे तो हे प्राणी ! तुम्हें परम आनन्द की प्राप्ति होगी । (अगर तुम पाँचों प्राणों को उसी साधना की ओर उन्मुख करने रूप ताना तानोगे बाद में मन रहित बुनोगे, तो तुम्हें परम आनन्द की प्राप्ति होगी) । यही क्रम है कि पहले ताना तनना चाहिए, बाद में बाना । अर्थात् पहले इन्द्रियों के विषयों को वश में करना चाहिए । बाद में वृत्तियों को ईश्वरोन्मुख । इस प्रकार के ताने-बाने से हरि-स्मरण रूप वस्त्र बुनने पर स्वयं राम ही पूर्ण तत्व के दर्शन रूप पारिश्रमिक देंगे । सामान्य जीवों की दशा यह है कि राछ भरते-भरते ही सायकाल हो जाता है अर्थात् बुनाई से सम्बन्धित औजारों को भरने में ही समस्त दिन व्यतीत कर देते हैं । तात्पर्य यह है कि वे पूजा-पाठ आदिक बाह्याचार में ही पूरी आयु व्यतीत कर देते हैं । उसके बाद सायकाल होते ही उन्हें अपनी युवती पत्नी का मोह सताने लगता है, और वे सोने की तैयारी करने लगते हैं । तात्पर्य यह है कि जीवन की सध्या आजाने के पश्चात् वे मृत्यु की गोद में सो जाते हैं । कबीरदास विचार पूर्वक कहते हैं कि हमने तो ठीक तरह से बुनकर वस्त्र पूरा कर दिया है और अब हमारी नली एक दम खाली है अर्थात् हमारे समस्त कर्म निश्चेष्ट हो गए हैं और हमारा पुनर्जन्म नहीं होगा ।

अलंकार—(1) रूपक—करघा रूपी शरीर ।

(II) व्यतिरेक—करगहि एक विनानी ।

(III) पदमैत्री—तणि बुणि, तणिया ताणा बुणियाँ बाणा ।

(IV) विशेषोक्ति की व्यजना—जेतूँमिलावा ।

विशेष—(1) जुलाहे के व्यापार को लेकर साधना का रूपक बाँधा है ।
अपने प्रति प्रेम एव अपने धर्म के प्रति आस्था भगवत्प्राप्ति का मूल मन्त्र है ।
कबीर ने जुलाहा का काम करते हुए मोक्ष पद की प्राप्ति की । ठीक ही है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।

(श्रीमद्भगवद्गीता, ३/३५)

कागभुसु डि जी ने भी तो यही कहा था—

यातें यह तन मोहि प्रिय भयउ राम पद नेह ।

निज प्रभु नैनन देखेउँ, गयेउ सकल संदेह ।

(रामचरितमानस)

(II) राद्य भरत वधा—तुलना कीजिए—

मोहि मूढ मन बहुत विगोयो ।

याके लिए सुनहु करुनामय, मै जग जनमि जनमि दुख रोयो

× × ×

डासत ही गई बीति निसा सब, कइहँ न नाथ नौद भरि सोयो ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(२६०)

वै क्यूँ कासी तजै मुरारी,

तेरी सेवा चोर भये बनवारी ॥टेक॥

जोगी जती तपी सन्यासी, मठ देवल बसि परसै कासी ॥

तीन बार जे नित प्रति न्हावै, काया भीतरि खबरि न पावै ॥

देवल देवल फेरी देहीं नांव निरंजन कबहुँ न लेहीं ॥

चरन विरद कासी कौन दैहँ, कहै कबीर भल नरकहि जैहू ॥

शब्दार्थ—देवल=देवालय । अरसं=स्पर्श, उपयोग । विरद=यश ।

सन्दर्भ—कबीरदास बाह्याचारी दभियो की निंदा करते हैं ।

भावार्थ—हे मुरारी, जिन लोगो ने भगवान की सेवा मे चोरी की है वे काशी को क्यों छोड़ने लगे ? तात्पर्य यह है कि जिन्होंने भगवान का नाम नहीं लिया है, वे काशीवास द्वारा ही अपने उद्धार की आशा कर सकते हैं । योगी, यती, तपस्वी, सन्यासी ये सब मठो और देवालियो मे रहते हुए काशी-वास का उपभोग करते हैं । वे नित्य प्रति तीन बार स्नान (गंगा स्नान) करते हैं, परन्तु अन्तःकरण मे विराजमान परम तत्व की ओर ध्यान नहीं देते है । वे मंदिर-मंदिर घूमते फिरते

हैं, परन्तु निराकार निगुण ब्रह्म का नाम कभी नहीं लेते हैं। कबीर कहते हैं कि (मोक्ष की प्राप्ति तो भगवान के चरणों की कृपा से सम्भव है) भगवान के चरणों का यह यश मैं काशी को कभी नहीं दूँगा, चाहे मुझे नरक में ही क्यों न जाना पड़े।

अलंकार—(1) पुनरुक्ति प्रकाश— देवल देवल ।

विशेष—(1) मुक्ति का श्रेय भगवान को ही है, काशी को नहीं। अनन्य भक्त की भाँति कबीरदास अपने इष्टदेव की महिमा को अक्षुण्ण मानते हैं। वह तो अन्यत्र भी कह चुके हैं कि 'जो कासी तन तजै कबीरा, रामहि कहा निहोरा ?'

(II) काशी में मृत्यु होने पर मुक्ति हो जाती है। इस रूढिबद्ध धारणा का खण न है।

(III) इस पद में मगहर के पूर्व काशी-त्याग का उनका सकल्प व्यक्त हुआ है, क्योंकि काशी-वास से मुक्ति-लाभ में इनका विश्वास विल्कुल नहीं था।

(२६१)

तब काहे भूलौ बनजारे,

अब आयौ चाहै सगि हमारे ॥टेक॥

जब हंम बनजी लौंग सुपारी, तब तुम्ह काहे बनजी खारी ।

जब हम बनजी परमल कस्तूरी, तब तुम्ह काहे बनजी कूरी ॥

अमृत छाड़ि हलाहल खाया, लाभ लाभ करि मूल गँवाया ॥

कहै कबीर हम बनज्या सोई, जाथे आवागमन न होई ॥

शब्दार्थ—बनजारे=व्यापार करने वाला ।

संदर्भ—कबीरदास अज्ञानी साधक को एक नादान व्यापारी के रूप में सम्बोधित करते हैं।

भावार्थ - रे साधक रूपी व्यापारी, उस समय तो तू इधर-उधर की साधनाओं में भटकता रहा और अब (जीवन को सन्ध्या समय) तू मेरा अनुयायी बनना चाहता है ? जब हम यम-नियम (भक्ति) रूप लौंग सुपारी का व्यापार करते थे, उस समय तुम विषय वासना रूप नमक के व्यापार में उलझे रहे। जब हम ज्ञान और भक्ति रूप कस्तूरी एवं अन्य सुगन्धित वस्तुओं का व्यापार करते थे, तब तुम व्यर्थ की साधनाओं रूप कारी जैसी घास के व्यापार में फँसे रहे। तुमने भक्ति-रूपी अमृत छोड़कर विषय-वासना रूप विष का पान किया है। तुमने अत्यधिक मुनाफे के चक्कर में गाँठ की पूँजी भी गँवादी है अर्थात् तुमने सासारिक लाभ के लोभ में अपने शुद्ध स्वरूप रूप मूल धन को भी खो दिया है। कबीरदास कहते हैं कि हमने तो भगवत्प्रेम रूपी उसी व्यापार को किया जिससे ससार में आवागमन नहीं होता है अर्थात् जिससे फिर ससार में जन्म नहीं लेना पड़ता है।

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति—लौंग सुपारी, खारी, अमल कस्तूरी, कूरी, अमृत, हलाहल मूल ।

(II) गूढोक्ति—अबहमारे ।

(III) पुनरुक्ति प्रकाश—लाभ लाभ ।

विशेष—(1) कबीरदास विषयासक्त व्यक्तियों को सावधान करते हैं ।

(II) कबीर की यथार्थवादी दृष्टि दृष्टव्य है ।

(२६२)

परम गुरु देखो रिदै विचारो,

कछु करौ सहाइ हंमारी ॥टेक॥

लवानालि तंति एक समि करि, जत्र एक भल साजा ।

सति असति कछु नही जानूँ, जसै बजावा तसै बाजा ॥

चोर तुम्हारा तुम्हारी आग्या, मुसियत नगर तुम्हारा ।

इनके गुनह हमह का पकरौ, का अपराध हमारा ॥

सेई तुम्ह सेई हम एकै कहियत, जब आपा पर नहीं जाना ।

ज्यू जल मै जल पैसि न निकसै, कहै कबीर मन माना ॥

शब्दार्थ—रिदै=हृदय । सहाइ=सहायता । लवा=लौकी के तू बा ।

नालि=नली, डडा । तत=तांत, अनेक शिराएँ । एक समि=एकत्र । सत असत=

सही गलत । चोर=काम क्रोधादि । मुसियत=लूटते हैं । सेई=वही ।

सन्दर्भ—कबीरदास परमात्मा को सम्बोधित करके कहते हैं कि “जो कुछ है सब तोर ।”

भावार्थ—हे परम गुरु परमात्मा, आप अपने हृदय पर हाथ रख कर विचार करो कि मेरी क्या गलती है । और मेरी कुछ सहायता करो । आपने अनेक अंग रूपी तुम्बा, मेरु दण्ड रूपी नालि तथा विभिन्न शिराएँ रूपी तात एकत्र करके यह शरीर रूपी सुन्दर बाजा तैयार किया । इस शरीर रूपी बाजे से निकलने वाली ध्वनि भली है अथवा बुरी, यह मैं कुछ नहीं जानता हूँ । आप इसको जिस प्रकार बजाते हैं, उस प्रकार यह बजता रहता है । कहने का तात्पर्य यह है कि मैं प्रत्येक कार्य आपकी प्रेरणा से करता रहता हूँ । औचित्यानौचित्य का विचार मैं नहीं करता हूँ । इस शरीर में काम क्रोधादि विकार रूप जो चोर रहते हैं, वे भी तुम्हारी ही प्रेरणा स्वरूप रहते हैं । वे तुम्हारे ही नगर रूपी इस शरीर को लूटते रहते हैं । इन चोरो के अपराध के लिए आप मुझको क्यों दण्डित करना चाहते हैं ? यदि ये चोर आपकी प्रेरणा से इस नगर को नष्ट कर रहे हैं, तो इसमें मेरा क्या दोष है ? जो आप हैं, वही मैं हूँ । मैं तो अपने और पराएँ का भेद जानता ही नहीं हूँ । कबीर कहते हैं कि जिस प्रकार जल में प्रवेश करने वाला जल उसी के साथ एकाकार हो जाता है और फिर उससे पृथक नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार मैं भी आपके साथ तदाकार हो गया हूँ ।

अलंकार—(1) साग रूपक—लवानालि बाजा ।

(II) सभग पद यमक—सत असति ।

(iii) असगति की व्यजना—इनकेहमारा ।

(iv) उदाहरण—ज्यूँ .. माना ।

विशेष—(1) यन्त्र शरीर है चोर पच विकार हैं । नगर शरीर या मन है ।

(ii) कबीर के हृदय मे तो यह विश्वास सुदृढ जम गया है कि जो कुछ भगवान और गुरु हैं, वही हक हैं । जीवात्मा और परमात्मा अभिन्न है । जीवात्मा उस परम तत्त्व से कभी पृथक् नहीं हो सकता । कबीर कहते हैं कि हमारा जीवात्मा परम तत्त्व से पूर्णत तदाकार हो गया है । अद्वैतवाद का सुन्दर प्रतिपादन है ।

(iii) जीव के निर्लिप्त भाव, अकर्तापन, समर्पण एव परम तत्त्व के विलय का सुन्दर एव भावपूर्ण चित्रण है ।

(२६३)

मन रे आइर कहां गयौ.

ताथै मोहि बैराग भयौ ॥टेक॥

पंच तत ले काया कीन्हीं, तत कहा ले कीन्हां ।

करमों के बसि जीव कहत है, जीव करम किनि दीन्हां ॥

आकास गगन पाताल गगन, दसौं दिसा गगन रहाई ले ॥

आनंद मूल सदा परसोतम, घट बिनसै गगन न जाई ले ॥

हरि में तन है तन मै हरि है, है सुनि नाही सोई ॥

कहै कबीर हरि नाम न छांड़ूँ, सहजै होइ सो होई ॥

शब्दार्थ—गगन=शून्य अथवा चैतन्य ।

संदर्भ—कबीर परम तत्त्व की सर्वव्यापकता पर विचार करते हैं ।

भावार्थ—रे मन ! तुम आकर कहाँ चले गये ? अर्थात् ईश्वरोन्मुख मन स्थिति कहाँ चली गई ? यह सोचकर कि मन अस्थिर एव चंचल वस्तु है, मुझे इस मन के प्रति वैराग्य हो गया है । पंच तत्वों (पृथ्वी, जल, वायु, तेज तथा आकाश) के द्वारा इस शरीर का निर्माण हुआ है । परन्तु विचारणीय यह है कि उन पंच तत्वों को कहाँ से निर्मित किया गया है ? उनका मूलभूत कारण क्या है ? कहा जाता है कि जीव कर्मों के वशीभूत रहता है । परन्तु जीव को कर्मों के वशीभूत किसने किया ? आकाश के मूल मे गगन है, पाताल के मूल मे गगन है । तथा दशो दिशाओ मे भी वही गगन विराजमान है । इस प्रकार पुरुषोत्तम भगवान ही शाश्वत अनन्द के मूल स्थान है । शरीर नष्ट होता है परन्तु उसका गगन तत्व नष्ट नहीं होता है । शरीर भगवान मे है, एव शरीर मे भगवान व्याप्त है । शरीर है भी और नहीं भी है (शरीर वास्तव मे नहीं है ।) कबीर कहते है कि मैं भगवान का नाम स्मरण नहीं छोडूँगा । उससे जो जैसा होगा वैसा अपने आप हो जाएगा । अर्थात् जो तत्व जैसा है वह तत्व सहज रूप मे वैसा ही है । उसका निरूपण करने मे वाणी असमर्थ है । वह सहज भाव से ही प्राप्य है ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति—पंच तत्व दीन्हां ।

(11) अनुप्रास—गगन की पुनरावृत्ति ।

विशेष—परम तत्व की अनिवर्चनीयता का सुन्दर वर्णन है । और ठीक ही है—

जो समझ में आगया वह लाइन्तहा कैसे हुआ ?

जो जहन मे आ गया, वह खुदा कैसे हुआ ?

(२६४)

हमारै कौन सहै सिरि भारा,

सिर की सोभा सिरजनहारा ॥टेक ॥

टेही पाग बड जूरा, जरि भए भस्म कौ कूरा ॥

अनहद कीं गुरी बाजी, तब काल द्रिष्टि भै भागी ॥

कहै कबीर राम राया, हरि कै रंग मूंड मुडाया ॥

शब्दार्थ—सिरि भारा=सिर पर बोझा । जूटा=जूडा, केश-विन्यास की पद्धति विशेष । पुरी=तन्त्री, बाजा । कालद्रिष्टि=मृत्यु । मूंड मुडाया=बलिदान होने की तैयारी अथवा विरक्त होना ।

सन्दर्भ—कबीर वाह्याचार का विरोध और भगवत्प्रेम का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ - मैं सिर पर पगडी आदि का बोझा क्यों सहूँ, जब मेरे सिर की शोभा वह सृष्टिकर्ता है । भाव यह है कि पगडी इत्यादि धारण करके शिर को सजाना व्यथ है । शिर की शोभा तो इसी में है कि वह भगवान के सामने झुकता रहे । सँवार कर लगाई गई तिरछी पगडी और सँवार कर बनाया हुआ बालों का जूडा, सब जल कर भस्म का ढेर हो जाते हैं । जब अनहद नाद का बाजा बजता है, तभी मृत्यु भय भागता है । कबीर कहते हैं कि मैंने तो भगवान राम के प्रेम में अनुरक्त होकर सब कुछ त्याग दिया है ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति—हमारे " भारा ।

(11) अनुप्रास—सिर सोभा सिरजन हारा ।

विशेष—(1) लक्षणा—सिरि भार, मूंड मुडाया ।

(11) निर्वेद की व्यजना ।

(111) अनहद—देखें टिप्पणी पद सख्या १५७ ।

(1V) वाह्याचार दम्भ के लक्षण है । आन्तरिक अनुभूति ही काम्य है ।

(२६५)

कारनि कौन संवारै देहा,

यहु तनि जरि बरि ह्वै है षेहा ॥टेक॥

चोवा चंदन चरचत अंगा, सो तन जरत काठ के संगी ॥

बहुत जतन करि देह मुट्याई, अगिन दहै कै जंबुक खाई ॥

जा सिरि रचि रचि बांधत पागा, ता सिरि चंच सँवारत कागा ॥

कहि कबीर तब भूठा भाई, केवल राम रह्यो ल्यो लाई ॥

शब्दार्थ—खोहा = धूल । चोवा = सुगन्धित द्रव कई गध द्रव्यो को मिलाकर बनाया जाने वाला एक सुगन्धित द्रव्य । मुख्याई = पुष्ट की । जम्बुक = गीदड । चच = चोच ।

संदर्भ—कबीर ससार की असारता का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—इस शरीर का साज-शृंगार किस लिए किया जाए ? यह शरीर जल भुनकर राख की ढेरी हो जाएगा । जिस शरीर पर सुगन्धित द्रव्यो और चन्दन का लेप किया जाता है, वही शरीर चिता में लकड़ियो के साथ जल जाता है । जिस शरीर को अनेक यत्न करके पुष्ट किया जाता है, वह शरीर अग्नि में जल जाता है अथवा उसको गीदड खाते हैं । जिस सिर पर सजा-सजा कर पगडी बाधी जाती है, उस सिर पर कौए अपनी चोच सँवारते है (मारते हैं) । कबीर कहते हैं कि हे भाई ! तब यह शरीर नाशवान और मिथ्या है । हमें केवल राम के प्रति ही अपनी ली (अपना ध्यान) लगाना चाहिए ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति—कारन देहा ।

(II) अनुप्रास—चोवा चन्दन चरचत ।

(III) पुनरुक्ति प्रकाश—रचि रचि ।

विशेष—'निर्वेद' एव वैराग्य-भाव की मार्मिक व्यजना है ।

(२६६)

धन धंधा ब्यौहार सब, माया मिथ्यावाद ।

पांणी नीर हलूर ज्युं, हरि नांव बिना अपवाद ॥टेक॥
 इक राम नाम निज साचा, चित चेति चतुर घट काचा ॥
 इस भरमि न भूलसि भोली, बिधना की गति है औली ॥
 जीवते कू मारन धावै, मरते कौं बेगि जिलावै ॥
 जाकै हुहि जस से बेरी, सो ब्यू सोवै नीद घनेरी ॥
 जिहि जागत नीद उपावै, तिहि सोवत क्यूं न जगावै ॥
 जलजत न देखिसि प्राणी, सब दीसै भूठ निदानी ॥
 तन देवल ज्युं धज थाछै, पड़िया पछितावै पाछै ॥
 जीवत ही कछू कीजै, हरि राम रसाइन पीजै ॥
 राम नाम निज सार है, माया लागि न खोई ॥
 अति कालि सिरि पोटली, ले जात न देख्या कोई ॥
 कोई ले जात न देख्या, बलि विक्रम भोज ग्रस्टा ॥
 काहू कै सगि न राखी, दीसै बीसल की साखी ॥
 जब हस पवन ल्यौ खेलै पसरचौ हाटिक जब मेलै ॥
 मानिख जनम अवतारा, नां ह्वै है वारवारा ॥
 कबहू ह्वै किसा बिहाना, तर पखी जेम उडानां ॥
 सब आप आप कू जाई, को काहू मिलै न भाई ॥

सूरखि मनिखा जनम गवाया, बर कौडी ज्यूं डहकाया ॥
 जिहि तन धन जगत भुलाना, जग राख्यौ परहरि माया ॥
 जल अजुरी जीवन जैसा, ताका है किसा भरोसा ॥
 कहै कबीर जग धधा, काहे न चेतहु अधा ॥

शब्दार्थ—व्यौहार सब = समस्त क्रिया कलाप । मिथ्यावाद = नाशवान ।
 हबूर = हिलोर, लहर । अपवाद = निंदा । घट = शरीर । काचा = कच्चा । भोली
 = मूर्ख जीवात्मा । औली = विचित्र, अनोखी । घनेरी = गहरी । जल जन्तु = जल
 जन्तु, जल के जीव । रेवल = देवायत, मन्दिर । धज = ध्वज । हाटिक = स्वर्ण ।
 मानिख = मनुष्य । बिहाना = छोड़कर । डहकाया = खो देता है । अजुरी = अजलि ।
 ताका = उसका । गरिहठ = सम्मानित ।

सन्दर्भ—कबीर जीवन और जगत की निस्सारता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—धन, ससार के धन्वे तथा समस्त क्रिया कलाप मायारूप और
 नाशवान है । ये सब पानी में उठने वाली लहर के समान क्षणिक हैं । भगवान के
 नाम के बिना ये समस्त पदार्थ निंदा के हेतु हैं । केवल राम नाम ही मूलत
 सत्य है । रे चतुर, तू अपने में विचार करके देखले । यह शरीर कच्चे घड़े के समान
 है । रे भोली जीवात्मा ! तू इस शरीर को सब कुछ समझने की भूल मत कर । यह
 भ्रम है । भगवान की लीला बड़ी ही विचित्र है । यह जीवित को मारने के लिए
 उद्यत रहती है । अथवा मार देती है तथा मरते हुए को जीवन-दान कर देती है ।
 जिस जीव का यमराज के समान शत्रु हो अर्थात् जिसके सिर पर मृत्यु सदैव नाचती
 रहे, वह किस प्रकार निश्चिन्त होकर सो सकता है । जो जागते हुए भी नींद
 उत्पन्न करता है अर्थात् ज्ञान स्वरूप होते हुए भी अज्ञान द्वारा ग्रस्त रहता है, उसको
 सोते हुए से क्यों न जगाया जाए ? अर्थात् अज्ञान द्वारा ग्रस्त प्राणियों को ज्ञान
 अवश्य दिया जाना चाहिए । गुरुज्ञान के द्वारा मोह निद्रा में ग्रस्त व्यक्ति ज्ञान और
 भक्ति की ओर अग्रसर हो सकते हैं । प्राणी जल में छिपे हुए जल-जन्तुओं को नहीं
 देख पाता है और वे जन्तु इस को खा जाते हैं । उसी प्रकार सासारिक व्यवहार
 के पीछे छिपे हुए नाश को प्राणी नहीं देख पाता है, और अन्तत नाश होने पर
 ससार का मिथ्यात्व प्राणी की समझ में आता है । यह शरीर देवालय की भाँति
 अपने अहकार रूप ध्वजा को फहराता रहता है । शरीर के पडने पर अर्थात् मृत्यु
 के समय केवल पश्चाताप मात्र ही शेष रह जाता है । अतएव व्यक्ति को चाहिए
 कि वह अपने जीवन काल में ही ज्ञान-भक्ति का कुछ आचरण करे । उसे राम रूपी
 रमायन का पान करना चाहिए । राम-नाम का स्मरण ही वास्तव में सार तत्व
 है । माया में फँस कर मनुष्य को अपना जीवन नहीं खोना चाहिए । सासारिक
 वैभव एकत्र करने वालों को हमने अन्तकाल में उम गठरी को अपने सिर पर ले
 जाने हुए नहीं देखा है । (सबको खाली हाथ ही जाते देखा है) । बलि, विक्रमादित्य
 भोज जैसे सम्मानित राजाओं में से भी किसी को इस वैभव को साथ ले जाते हुए

नही देखा । इस धन-दीनत ने किमी का भी साथ नहीं दिया । राजा भी इसकी साक्षी (गवाही) हैं । जत्र जीवात्मा प्राणायाम के द्वारा शून्य तत्व में लौ लगा कर क्रीडा करता है, तब उसको सर्वत्र व्याप्त आनन्द रूप सुवर्ण की प्राप्ति होती है । मनुष्य का जन्म बार-बार नहीं मिलता है । ये जीवन क्षण भगुर है । ये प्राण किसी समय शरीर को छोड़कर ऐसे चले जाएँगे जैसे वृक्ष को छोड़कर पक्षी उड़ जाता है । ससार का प्रत्येक प्राणी अपने-अपने रास्ता अकेला ही जाना है । परलोक-गमन के मार्ग में कोई किसी से नहीं मिलता है । मूर्ख जीव मनुष्य का जन्म (विषय भोग में) व्यर्थ ही गँवा देता है और कौड़ी के मूल में ही उसको खो देता है । जिस शरीर और धन के कारण ससार के लोग अपने आप को भूले हुए हैं और जगत जिसकी रक्षा में लीन है, उसी माया का परित्याग करो । यह जीवन हाथ की अजलि में भरे हुए पानी के समान क्षण-स्थायी है । इसका क्या भरोसा ? कबीर कहते हैं कि यह ससार व्यर्थ का प्रपच है । रे अज्ञानी जीव, तू क्यों नहीं चेतता है—होश में आता है ?

अलंकार—(1) छेकानुप्रास—धन धधा, माया मिथ्यावाद ।

(II) कछु कीजै, राय रसायन, जगत जग । जल जीवन । मूरख मनिषा ।

(III) उपमा—हलूर ज्यू । जम से । देवल जूँ । पखी जेम । कौडी ज्यूँ । जाल अजुरी जैसा ।

(IV) वृत्यानुप्रास—चित चैति चतुर, भरमि भूलसि भोली । पडिया पछतावै पाछै ।

(V) श्लेषपुष्ट रूपक—घट ।

(VI) वक्रोक्ति—क्यूँ घनेरी । तिहिं जगावै ।

(VII) विरोधाभास—जगत नीद उपावै ।

(IX) दृष्टान्त - जलजत • निदानी ।

(X) रूपकातिशयोक्ति की व्यजना—घज । हाटिक ।

(XI) रूपक—राम रसाइन ।

(XII) गूढोक्ति—ताका भरोस ।

(XIII) पदमैत्री—राम नाम, धधा अधा ।

विशेष—(1) जीवन और जगत की असारता का प्रतिपादन है ।

(II) 'निर्वेद' की मार्मिक व्यजना है ।

(III) जीवन की क्षणिकता को व्यक्त करने के लिए 'जल अजुरी जीवन जैसा' बड़ी ही सार्थक उपमा का प्रयोग किया गया है ।

(V) हस, पवन, हारिक - नाथ सप्रदाय के प्रतीकों का प्रयोग है ।

(IV) मानेख जनम बारवारा—तुलना करें—

बडे भाग मानुष तन पावा । सुरदुरलभ सद् ग्रन्थन गावा ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(vi) वर कौड़ी... उहकाया—समभाव देखे—

रात गँवाई सोय कर, दिवस गँवायो खाय ।

हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय ।

(vii) बलि—यह एक पीराणिक पात्र है । यह एक प्रसिद्ध प्रतापी दानी राजा थे । विष्णु ने वामन अवतार धारण करके इनसे तीन पग पृथ्वी दान माँगी थी । दो पगो मे विष्णु ने समस्त पृथ्वी नाप ली थी और तीसरा पग इनके सिर पर रखा और बलि को पाताल भेज दिया । इस प्रकार इनकी दानशीलता की ओट मे विष्णु ने बलि को छला था । बलि विरोचन के पुत्र और प्रह्लाद के पौत्र कहे जाते है ।

(viii) राजा विक्रमादित्य, राजा भोज तथा राजा वीसलदेव ऐतिहासिक पात्र हैं ।

विक्रम—यह एक बडे प्रतापी और प्रसिद्ध राजा हुए हैं । महाकवि कालिदास इन्ही के दरबार के नवरत्नो मे एक थे—ऐसा कहा जाता है । विक्रम सवत् के प्रस्थापक आप ही थे । आपके विषय मे 'सिंहासन बत्तीसी' और अनेक दन्तकथायें प्रचलित है ।

भोज—यह उज्जैन के राजा थे जिन्होने अपनी राजधानी धारा बनाई थी । इनका पालन-पोषण इनके चाचा राजा मुज द्वारा हुआ था । राजा भोज एक सुयोग्य शासक थे । वह स्वयं बहुत बडे विद्वान थे और विद्वानो का आदर करते थे । उनकी राजसभा के पण्डितो की भी बहुत सी कथाएँ प्रचलित हैं ।

वीसलदेव—वीसलदेव अजमेर के चौहान राजा थे । इनका नाम विग्रहराज चतुर्थ भी है । इनका समय सवत् १२२० के आसपास है ।

यह बडे ही प्रतापी और वीर राजा थे । इन्होने मुसलमानो के विरुद्ध कई चढाइयाँ की थी और कई प्रदेशो को खाली कराया था । इनके वीरचरित का बहुत कुछ वर्णन इनके राजकवि सोमदेव-रचित 'ललित विग्रहराज' नाटक मे है । जिसका कुछ अश बडी-बडी शिलाओ पर खुदा मिलता है । नरपति नाल्ह ने इन्ही के चरित को लक्ष्य करके 'वीसलदेव रासो' की रचना की थी ।

(२६७)

रे चित चेति च्यंति लै ताही,

जा च्यतत आपा पर नाहीं ॥टेक॥

हरि हिरदै एक ग्यांन उपाया, ताथै छूटि गई सब माया ॥

जहां नाद न व्यंद दिवस नाही राती, नही नरनारि नहीं कुल जाती ।

कहै कवीर सरब सुख दाता, अविगत अलख अभद विधाता ॥

शब्दार्थ — च्यति = ध्यान कर, चिन्तन कर । ताही = उसी का । आपा पर

= अपना-पराया ।

सन्दर्भ—कवीरदास परम तत्त्व के साक्षात्कार का वर्णन करते है ।

भावार्थ—रे चित्त तुम सावधान होकर उस परम तत्त्व का ध्यान करो जिसके चिन्तन से अपने-पराए का भेद नष्ट हो जाता है । मेरे हृदय में भगवान ने वह ज्ञान उत्पन्न कर दिया है जिससे सम्पूर्ण माया-मोह का बन्धन नष्ट हो गया है । उस परम तत्त्व के साक्षात्कार की अवस्था में न नाद है, और न बिन्दु (शरीर) है । उस अवस्था में नर, नारी, कुल एव जाति किसी प्रकार का भी भेद नहीं है । (वह सम अवस्था है ।) कबीर कहते हैं कि उस परम तत्त्व का साक्षात्कार सब सुखों का देने वाला है । उस परम तत्त्व को ज्ञानेन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता है, उसको स्थूल दृष्टि द्वारा देखा नहीं जा सकता है, सामान्य बुद्धि द्वारा उसका निरूपण नहीं किया जा सकता है क्योंकि वह पूर्ण एकत्व (अभेद को प्राप्त है, और वही सबका सिरज, नहार हैं ।

अलंकार— अनुप्रास—चित्त चेति च्यति, अविगत अलख अभेद ।

विशेष—(1) परम तत्त्व एव उसकी अनुभूति अनिर्वचनीय है ।

(11) 'परा तत्त्व' के साक्षात्कार की अवस्था में नाद और बिन्दु के भी न होने की बात कह कर कबीर ने परम तत्त्व को 'कायायोग' द्वारा प्राप्त अवस्था से भी अतीत बता दिया है ।

(२६८)

सरवर तटि हसणी तिसाई

जुगति बिनां हरि जल पियां न जाई ॥टेक॥

पीया चाहै तौ लै खग सारी, उडि न सकै दोऊ पर भारी ॥

कु भ लीयै ठाढी पनिहारी, गुन बिन नीर भरै कैसे नारी ॥

कहै कबीर गुर एक बुधि बताई, सहज सुभाइ मिलै रांम राई ॥

शब्दार्थ—तिसाई=तृषिता, प्यासी । खग=पक्षी । ससिनी=आत्मा ।

जुगति युक्ति, साधना, भक्ति । पीया=पीना । सारी=गमन करने वाला ।

कु भ=घडा । गुण=नाम स्मरण ।

भावार्थ—आत्मानन्द रूपी तालाब के तट पर बैठी हुई जीवात्मा रूपी हसिनी प्यासी है । इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? साधना रूपी युक्ति के बिना परमानन्द रूपी जल का पान सम्भव नहीं होता है । रे जीवात्मा रूपी हसिनी, यदि तू उस जल को पीना चाहती है, तो तू वहाँ तक गमन कर । परन्तु वस्तु स्थिति यह है द्वैत भाव एव सशय के कारण तेरे दोनों पख उडने में असमर्थ हैं । कुण्डली रूपी पनिहारिन साधना रूपी घडा लिए खडी है, परन्तु भगवान के नाम-स्मरण रूपी रस्सी के अभाव में वह अमृत-जल नहीं भर सकती है । कबीर कहते हैं कि मेरे गुरु ने इस आनन्दामृत पान की भक्ति रूपी एरु युक्ति बता दी है । उसी के द्वारा भगवान राम सहज भाव से प्राप्त हो गए हैं ।

अलंकार— (1) रूपकातिशयोक्ति—सम्पूर्ण पद ।

(11) विरोधाभास—सरवर '....' 'ससाई' ।

विशेष—(1) नाथ पथ के प्रतीको का प्रयोग है ।

(II) कायायोग की साधना की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता एव सुगमता का प्रतिपादन है ।

(III) कुण्डलिनी — देखें टिप्पणी पद सं० २१६ ।

(IV) कायायोग की साधना के लिए देखें टिप्पणी पद संख्या ४ ।

(२६६)

भरथरी भूप भया बैरागी ।

विरह वियोग बनि बनि ढूँढै, वाकी सुरति साहिव सौँ लागी ॥ टेक ॥

हसती घोड़ा गांव गढ़ गूडर, कनड़ा पा इक आगी ।

जोगी हवा जांणि जग जाता, सहर उजीणीं त्यागी ॥

छत्र सिंघासण चवर दुलंता राम रग बहु आगी ।

सेज रमैणी रभा होरी, तासौँ प्रीति न लागी ॥

सूर बीर गाढा पग रोप्या, इह विधि माया त्यागी ।

सब सुख छाडि भज्या इक साहिव, गुरु गोरख ल्यौ लागी ॥

मनसा वाचा हरि हरि भाखै, गंधर्प सुत बड भागी ।

कहै कवीर कुदर भजि करता, अमर भणै अणरागी ॥

शब्दार्थ—भूप = राजा । सुरति = लय, लगन । साहिव = स्वामी, ब्रह्म । हसती = हाथी । गूडर = गढी, छोटा किला । उजीडी = उज्जैन । गाढा - दृढ । रोप्या, लगाया । कुदर = कुदरत, ईश्वरीय शक्ति ।

संदर्भ— कवीरदास राम-भजन की महिमा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ— राजा भर्तृहरि बैरागी हो गया । उसकी लगन ब्रह्म से लग गई थी और वह भगवान के वियोग में विरह-दुःख से पीड़ित होकर अपने प्रभु को वन-वन ढूँढता फिरा । हाथी, घोड़ा, ग्राम, किला, गढी, ऐश्वर्य आदि उपकरण उसके लिए अग्नि स्वरूप थे । समस्त समार जानता है कि वह जोगी हो गए थे और उन्होंने (अपनी राजधानी) उज्जैन नगर का त्याग कर दिया था । उनके पास छात्र, सिंहासन चारों ओर डोलते हुए चँवर आगे होते हुए अनेक प्रकार के राग रग तथा शैल्या पर रम्भा जैसी मुन्दरी रमणियाँ थी । उन सबके प्रति वह राजा आसक्त नहीं हुआ । उन सबके विरोध में उस वीर शूरमा ने अपने पाँव दृढता पूर्वक जमा दिये अर्थात् उनका आकर्षण उसको टस से मस नहीं कर सका और इस प्रकार उसने माया (समस्त आसक्तियों) का परित्याग कर दिया । उसने समस्त सासारिक सुखों को त्याग कर एक भगवान का भजन किया और गुरु गोरखनाथ में ही अपनी लौ लगा दी । मन और वाणी से उसने भगवान का भजन किया । वह गंधर्प सुत बडा ही भाग्यशाली था कवीर कहते हैं कि वह ईश्वर के प्रति अनुरक्त राजा ईश्वरीय शक्ति का स्मरण करते हुए अमर पद को प्राप्त हुआ ।

अलंकार—(1) अनुप्रास— भरथरी, भूप भया, बिरह वियोग बनि बनि वाकी,
गाँव, गढ, गूडर ।

(II) पुनरुक्ति प्रकाश—बनि बनि, हरि हरि ।

(III) रूपक—रमैणी रभा ।

विशेष—(1) राम भक्ति के प्रति आस्था स्पष्ट है ।

(II) कबीर पौराणिक आख्यानों के महत्व को स्वीकार करते हैं ।

(III) भरथरी — यह उज्जैन के राजा थे जिन्हें अपनी रानी पिंगला का चरित्र देखकर वैराग्य उत्पन्न हो गया था । अतएव यह अपना सब राज-पाट अपने भाई विक्रमादित्य को देकर योगी हो गए थे । यह बड़े ही विद्वान थे । इनके द्वारा लिखे हुए तीन शतक-शृंगार शतक, नीति शतक एवं वैराग्य शतक—बहुत प्रसिद्ध हैं ।

(IV) गोरखनाथ—यह नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक एवं नौ नाथों में सर्वप्रथम माने जाते हैं । कबीर ने अनेक स्थलों पर इनको सद्गुरु के रूप में इनका उल्लेख किया है । कहते हैं कि इन्होंने अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का उद्धार किया था । कहा भी जाता है—“जाग मच्छेन्द्र गोरख आया ।”

गोरखनाथ के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है । उनका समय विक्रम की १० वीं और १३ वीं शताब्दी के बीच माना जाता है ।

राग केदारी

(३००)

सार सुख पाइये रे,

रगि रमहु आत्माराम ॥ टेक ॥

बनह बसे का कीजिये, जे मन नही तजै बिकार ।

घर बन तत समि जिनि किया, ते बिरला ससार ॥

का जटा भसम लेपन किये, कहा गुप्त मै बास ।

मन जीत्यां जग जीतिये, जौ विषया रहै उदास ॥

सहज भाइ जे उपजै, ताक किसा मान अभिमान ।

आपा पर समि चीनियै, तब मिलै आत्माराम ॥

कहै कबीर कृपा भई, गुर ग्यांन कहा समझाइ ।

हिरदै श्री हरि भेटियै, जे मन अनतै नहीं जाइ ॥

शब्दार्थ—सार - सच्चा । तत = इसलिए । समि = समाना विषया = विषयो के प्रति ।

सदर्थ - कबीरदास अतः साधना का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—रे जीव, अपने आत्माराम के प्रेम में रग कर उसी में रम जाओ और इस प्रकार वास्तविक सुख की प्राप्ति करो । अगर मन के विकार (काम, क्रोध, लोभ मोह एवं मत्सर) नहीं छूटते हैं, तो सन्यासी बन कर वन में जाकर रहने से

क्या लाभ हो सकता है ? ऐसे व्यक्ति ससार में बहुत थोड़े ही हैं जिन्होंने सच्ची साधना की दृष्टि से घर को ही वन के समान कर लिया है। जटा रखने, भस्म रमाने अथवा गुफा में वास करने से कोई लाभ नहीं होता है। यदि विषयो के प्रति उदास रह कर मन को जीत लिया जाए, तो ससार को जीत लिया जाता है। जिसके हृदय में भगवान के प्रति स्वाभाविक प्रेमानुभूति उत्पन्न हो जाती है अथवा सहज की अनुभूति जाग जाती है, वे मानापमान के परे हो जाते हैं—उनको न किसी प्रकार का अहंकार रह जाता है और न उन्हें किसी प्रकार के मान-मर्यादा की इच्छा शेष रह जाती है। जब व्यक्ति अपने और पराए को समान समझने लगता है, तभी उसे आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार होता है—अर्थात् समबुद्धि के द्वारा ही आत्मदर्शन सम्भव है। कबीर कहते हैं कि हमारे ऊपर तो गुरु की कृपा हो गई है। उन्होंने हमें आत्म-ज्ञान समझा दिया है। अगर मन इधर-उधर न भटके तो हृदय में ही भगवान के दर्शन हो जाते हैं।

अलंकार—(1) वक्रोक्ति—का..... वास।

(11) अनुप्रास—जीत्या जग जीतिये।

(111) सभग पद यमक—भाव अभिमान।

विशेष—औपनिषदिक ज्ञान का प्रभाव स्पष्ट है। उपनिषद् और गीता में अनेक स्थानों पर समबुद्धि का प्रतिपादन किया गया है तथा मानापमान रहित होना सफल साधक का लक्षण बताया गया है। यथा— देखें श्रीमद्भगवद्गीता के ये वचन—

दुःखेदवनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृह ।

वीतराग भयक्रोध स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।

(७/५६)

तथा— निर्मको निरहंकार स शान्तिमधिगच्छति ।

(२/७१)

तथा— “आत्मवत् सर्वभूतेषु य पश्यति स पश्यति ।”

—श्रीमद्भगवद्गीता

(३०१)

है हरि भजन कौ प्रवांन ।

नींच पांवै ऊच पदवी, वाजते नींसान ॥ टेक ॥

भजन कौ प्रताप ऐसो, तिरे जल पाषान ।

अधम भील अजाति गनिका, चढ़े जात बिवांन ।

नव लख तारा चलै मंडल, चलै ससिहर भांन ।

दास धूकौ अटल पदवी, रांम को दीवांन ॥

निगम जाकी साखि बोलै, कहै संत सुजांन ।

जन कबीर तेरी सरनि आयौ राखि लेहु भगवांन ॥

शब्दार्थ—प्रवान=प्रमाण। नींसान=निशान, डंका। पाषान=पत्थर
धू=ध्रुव। दीवान=शाहीदरवार, प्रधानमंत्री।

संदर्भ— कबीरदास भगवद्भजन के प्रभाव का वर्णन करते हैं।

भावार्थ—यह हरि के भजन के कल्याणकारी प्रभाव का प्रमाण है कि नीच व्यक्ति भी डके की चोट उच्च गद को प्राप्त हो जाता है। भगवान के भजन का ऐसा प्रभाव है कि पत्थर भी पानी में तैरने लगते हैं। अधम भील (गुह निपाद, शबरी) एवं निम्न जाति की वेश्या भी विमान पर बैठकर वैकुण्ठ चले गये। नौ लाख तारों का समूह, चन्द्रमा और सूर्य सब निरन्तर गतिशील बने हुए हैं, पर भक्त ध्रुव की पदवी अटल है—ध्रुवतारा अपने स्थान पर स्थिर बना रहता है, उसको अन्यान्य ग्रह नक्षत्रों की भाँति भ्रमित नहीं होना पड़ता है। वह भगवान राम के दरवार में उच्च आसन पर प्रतिष्ठित है। उसकी भक्ति की साक्षी वेद देते हैं तथा सत एव ज्ञानी सब उसका गुणगान करते हैं। कबीर कहते हैं कि हे भगवान, यह दास आपकी शरण में आया है। उसको अपने चरणों में स्थान दे दीजिए।

अलकार—विरोधाभास—नीच पदवी।

विशेष—(1) भील—केवट, गुह और निपाद एक ही व्यक्ति हैं। यह जाति का भील था। वनवास के समय इसने राम की बहुत सेवा की थी। उसके प्रेमपूर्ण व्यवहार से प्रभावित होकर राम उसे भाई के समान मानने लगे थे।

(111) गणिका—यह पिंगला नाम की वेश्या थी। एक बार वह शृंगार किए हुए आधी रात तक अपने प्रेमी की प्रतीक्षा करती रही, परन्तु वह नहीं आया। इससे उसके ऊपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। उसको बड़ी आत्मग्लानि हुई। उसने वेश्यावृत्ति छोड़ दी, और वह भगवान का भजन करने लगी। कहते हैं कि एक बार तोते को 'राम' पढाते हुए उसको भगवान ने स्वर्ग भेज दिया था।

अजाति—अनेक ऐसे भक्त हो गए हैं जिनका जन्म निम्न जाति अथवा मूढ योनि में हुआ था, परन्तु भजन के प्रभाव से वे स्वर्ग के अधिकारी हुए। इनमें कतिपय नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। यथा—कुब 1, जटायु, जामवन्त, वाल्मीकि।

ध्रुव—राजा उत्तानपाद के दो रानियाँ थी—सुनीति और सुरुचि। सुनीति के ध्रुव और सुरुचि से उत्तम नामक पुत्र उत्पन्न हुए। राजा सुरुचि को अधिक प्यार करते थे। इस कारण उनसे उत्तम भी अधिक प्रिय था। एक दिन राजा उत्तानपाद उत्तम को गोद में खिला रहे थे। उसी समय ध्रुव भी वहाँ पहुँच गया और राजा की गोद में चढ़ने का प्रयत्न करने लगा। यह देखकर सुरुचि ने व्यग्र किया कि तप करने पर ही राजा की गोद में बैठने का सौभाग्य प्राप्त होता है। यह कहते हुए उसने ध्रुव को एक ओर धकेल दिया। ध्रुव रोता हुआ अपनी माता के पास पहुँचा और रोते हुए उसने अपने अपमान का हाल अपनी माता को सुनाया। माता ने भी उसको तप करके उच्च आसन प्राप्त करने की सलाह दी। ध्रुव ने कठोर तप करके भगवान के दर्शन किए और अटल पद प्राप्त किया।

तिरे जल पाषाण—नील और नल दोनों वानर भाइयों को यह वरदान था कि उनके द्वारा स्पर्श किया हुआ पत्थर डूबेगा नहीं। इन्हीं दोनों ने लका पर

चढाई के समय सागर पार करने के लिए सेतु बाँधा था । यह राम की कृपा द्वारा ही सम्भव हो सका था ।

(iii) यह पद ज्यो का त्यो सूरसागर मे भी मिलता है । अन्तर केवल 'कबीर' और 'सूर' का है । कबीर ने लिखा है कि 'जन कबीर तेरी सरनि आयो', और सूर लिखते हैं कि, "सूर हरि को सरन आयो ।" देखिए—

हे हरि भजन को परवान ।

नीच पावै ऊँच पदवी बाजते निशान ।

भजन को परताप ऐसे जन तरै पाषान ।

अजामिल और भील गणिका चढ़े जात विमान ।

चलत तारे सकल मण्डल चलत शशि अरु भान ।

भक्त ध्रुव को अटल पदवी राम के दीवान ।

निगम जाको सुयश गावत सुनत सत सुजान ।

सूर हरि को शरण आयो राखि ले भगवान ।

(सूरसगतिसार — पद ८०)

(३८२)

चलौ सखी जाइये तहां,

जहां गय पांइयै परमांनद । टेक ॥

यहु मन आमन धूमनां, मेरो तन छोजत नित जाइ ।

च्यतामणि चित चोरियो, ताथे कछु न सुहाइ ॥

सु नि सखी सुपनै की गति ऐसी, हरि आए हम पास ।

सोवत ही जगाइया, जागत भए उदास ॥

चलु सखी विलम न कीजिये, जब लग सास सरीर ।

मिलि रइये जगनाथ सू, यूँ कहै दास कबीर ।

शब्दार्थ—आमन=आने=जाने । धूमना=धूमने वाला । छोजै=क्षीण होता है ।

सन्दर्भ—कबीरदास मन को भगवद् प्रेम के लिए प्रेरित करते हैं ।

भावार्थ—हे जीवात्मा (सखि) । इस ससार को छोडकर वहाँ चलो जहाँ परमानन्द की प्राप्ति होती है । यह मेरा मन तो अत्यन्त चंचल है — यह निरतन्त्र आने जाने वाला और धूमने वाला है (कभी अनुकूल रहता है और कभी प्रतिकूल हो जाता है) । और यह शरीर निरन्तर क्षीण होता जाता है । चितामणि स्वरूप भगवान ने मेरा मन चुरा लिया है । इस कारण मुझको ससार की कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती है । रे सखि ! सुन, स्वप्न मे कुछ ऐसा हुआ कि भगवान मेरे पास आए और उन्होंने मुझको सोते से जगा लिया । परन्तु जगते ही मेरा मन उदास हो गया । रे सखि, जब तक इस ससार मे प्राण हैं, तब तक जल्दी से यह काम कर

लो । देर मत करो । भगवान से मिलने के लिए चल पडो । कबीर कहते हैं कि प्राण रहते हुए जल्दी ही भगवान के साथ तदाकार होने का प्रयत्न करना चाहिए ।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति • सखि, च्यतामणि ।

विशेष—(1) सोवत • उदास—इस स्वप्नवत् जगत मे अचानक भगवत्प्रेम जाग गया और ऐसा प्रतीत हुआ कि पति रूप भगवान मेरे समीप ही आ गए थे । भगवान के इस प्रकार आगमन से अज्ञान की निद्रा समाप्त हो गई । यह बोध हुआ कि मैं भगवान से विछुड कर व्यर्थ ही इतने दिनों से भटक रही थी । इस आत्मग्लानि के कारण मन का उदास हो जाना स्वाभाविक ही है । अथवा यह कहिए कि आत्मबोध के फलस्वरूप मेरा मन ससार के प्रति उदासीन हो गया ।

(II) स्वप्न और जागरण के रूपक से कवि ने लौकिक स्तर के दाम्पत्य प्रेम के विम्बो द्वारा अलौकिक एव रहस्यवादी प्रेम तथा ज्ञान एव भक्ति की समन्वित हृदय स्पर्शा एव सशक्त व्यजना की है ।

(III) समभाव देखे—

चकई री ! चलि चरन-सरोवर जहाँ नहि प्रेम वियोग ।

निसि दिन राम नाम को भक्ती भय रुज नहि दुख सोग ।

तथा — सुवा चलिवा वन को रस पीजै ।

जा वन राम नाम अमृत रस श्रवण पाय भरि लीजै । (सूरदास)

(IV) सोवत • उदास— इसी कोटि के लौकिक दाम्पत्य प्रेम की अभिव्यक्ति देखिए—

हौं सपनें गई देखन कौं, कहूं नाचत नद-जलमति को नट ।

वा मुसकाय कै भाव बताय कैं, मेरोई खं चि खरो पकरो पट ।

तौ लगि गाइ बगाइ उठी, कहि देव, बधूनि, मथ्यौ दधि को मट ।

जागि परी तौन कान्ह कहूं, न कवब, न कुज, न कालिन्दी को तट । (देव)

(३०३)

मेरे तन मन लागी चोट सठौरी ॥

बिसरे ग्यान बुधि सब नाठी, भई बिकल मति बौरी ॥ टेक ॥

देह बदेह गलित गुन तीनूं, अचत अचल भइ ठौरी ।

इत उत जित कित द्वादस चितवत, यहु भई गुपत २ गौरी ॥

सोई पै जानै पीर हमारी, जिहि सरीर यहु व्यौरी ।

जन कबीर ठग ठग्यौ है बापुरौ, सुनि समानी त्यौरी ॥

शब्दार्थ—सठौरी=सही स्थान, मर्म । ज्ञान=सामान्य ज्ञान । नाठी=नष्ट हो गई । ठगौरी=जादू । व्यौरी=विवृत, व्यक्त । सुनि=शून्य । त्यौरी=त्रिकुटी ।

सन्दर्भ—कबीरदास ज्ञान दशा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—मेरे शरीर और मन पर (गुरु उपदेश एव प्रभु की) चोट ठीक

स्थान (मर्म) पर लगी है। इससे मेरी समस्त लौकिक ज्ञान, एव विवेक नष्ट हो गए हैं और मेरे बुद्धि प्रभु के विरह में व्याकुल होकर पागल हो गई है। मेरी देह विदेह हो गई है अर्थात् इस शरीर एव उसके सुखों के प्रति मेरी आसक्ति समाप्त हो गई है और तीनों गुण समाप्त हो गए हैं। जो अवयव चल रहे थे, वे जहाँ के तहाँ स्थिर हो गए हैं अर्थात् मेरे शरीरांगों ने कार्य करना बन्द कर दिया है। शरीर के बारह अंगों की क्रियाएँ अस्त-व्यस्त हो गई हैं। इस गुप्त मार्मिक चोट ने जादू का काम किया है। हमारी व्यथा को वही समझ सकता है जिसके शरीर में यह पीड़ा व्यक्त हुई हो अर्थात् जिसको यह व्यथा भोगनी पड़ी हो। कबीरदास कहते हैं कि मैं भक्त तो प्रभु प्रेम के जादू रूपी ठग द्वारा ठग लिया गया हूँ और मेरी त्रिकुटी शून्य में लग गई है, अर्थात् मेरी समस्त चित्तवृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो गई हैं।

अलंकार—(1) सभग पद यमक—देह वदेह।

(II) विरोधाभास—चलत अचल भई।

(III) पदमैत्री इत उत जित कित।

(IV) रूपक—ठग।

विशेष—(1) बारह अंग पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन एव बुद्धि।

(II) तीन गुण—सत्त्व गुण, रजोगुण तथा तमोगुण।

(III) त्रिकुटी—देखें टिप्पणी पद स० ३, ४, ७।

(IV) शून्य—देखें टिप्पणी पद स० १६४।

(V) सोई वै—व्योरी “जागे लगे सोई जाने विथा” अथवा दरद न जान जाके फटी विवाई ना।

(VI) सोई व्योरी ईश्वर प्रेम एव ज्ञान की दशा में अवधूत व्यक्ति की सासारिक विषयों के प्रति आसक्ति नहीं रह जाती है। इससे वह ससार के व्यवहार में पटु न रहकर पागल एव मूर्ख प्रतीत होते हैं।

(३०४)

मेरी अंखिया जान सुजान भई।

देवर भरम सुसर संग तजि करि हरि पीव तहां गई ॥ टेक ॥

बालपने के करम हमारे, काटे जानि दई।

वांह पकरि करि कृपा कीन्हों, आप समीप लई ॥

पानों की बूँद थें जिनि प्यड साज्या, ता सगि अधिक करई।

दास कबीर पल प्रेम न घटई, दिन दिन प्रीति नई ॥

शब्दार्थ—जानि=जानबूझ कर। दई=भगवान। प्यड=शरीर।

साजा=वनाया।

सन्दर्भ—कबीर ज्ञान दशा का वर्णन करते हैं।

भावायं—भगवान के प्रेम में अनुरक्त जीवात्मा कहती है कि प्रभु-दर्शन

के प्रभाव से मेरी दृष्टि अब विवेक पूर्ण एव सुविज्ञ हो गई है । अर्थात् अब मैं अपने-पराए को पहिचानने लगी हूँ । मैं भ्रम रूपी देवर और अज्ञान रूपी श्वसुर का साथ छोड़कर अपने पति भगवान के पास पहुँच गई हूँ । बाल्यावस्था में अथवा अज्ञानावस्था में किए हुए मेरे कर्मों के दोषों को भगवान ने जानबूझ कर समाप्त कर दिया है । उन्होंने मेरे ऊपर कृपा की और मेरी बाँह पकड़ कर अपने पास स्थान दे दिया है । जिस भगवान ने पानी की एक बूँद (वीर्य) द्वारा मेरे इस शरीर का निर्माण किया, उन्हीं भगवान के साथ मैं अब रमण करने लगी हूँ । दास कबीर कहते हैं कि भगवान के प्रति मेरा प्रेम एक क्षण के लिए भी कम नहीं होता है । उसके प्रति मेरी प्रीति दिन प्रतिदिन नवीन ही बनी हुई है । अर्थात् उसमें मुझको नित्य नए आनन्द की प्राप्ति होती है ।

अलंकार— (1) रूपक—देवर भ्रम ।

(II) पुनरुक्ति प्रकाश—दिन दिन ।

विशेष (1) रहस्यवादी शैली पर दाम्पत्य प्रेम का सुन्दर चित्रण है ।

(II) प्रेम भक्ति एव ज्ञान दशा का मार्मिक वर्णन है ।

(III) नाथ सम्प्रदाय के प्रतीको का प्रयोग है ।

(IV) भगवान की कृपा का उल्लेख 'पुष्टि भक्ति' के प्रभाव का व्यञ्जक है ।

(३०५)

हो बलिया कब देखोगी तोहि ।

अह निस आतुर दरसन कारनि, ऐसी व्यापै मोहि ॥ टेक ॥

नैन हमारे तुम्ह कूँ चाहैं, रती न माने हारि ।

बिरह अगिन तन अधिक जरावै ऐसी लेहु बिचारि ॥

सुनहु हमारी दादि गुसाई,, अब जिन करहु बधीर ।

तुम्ह धीरज मै आतुर स्वामीं काचै भाडै नीर ॥

बहुत दिनन कै बिछुरे माधौ, मन नही बांधै धीर ।

देह छतां तुम्ह मिलहु कृपा करि आरतिवत कबीर ॥

शब्दार्थ—दादि=दाद, विनती । बधीर=बधिरता, अनसुनी । भाडै=

वर्तन । छता=अछत, रहते हुए । आरतिवत=दुःखी ।

सन्दर्भ—कबीर की जीवात्मा प्रभु-दर्शन के लिए अपनी आतुरता व्यक्त करती है ।

भावार्थ—हे भगवान ! मैं आपकी बलिहारी जाती हूँ । मैं आपके दर्शन कब कर सकूंगी ? आपकी विरह में वियोग व्यथा मुझे इतना सता रही है कि तुम्हारे दर्शनों के लिए मैं दिन-रात व्याकुल रहती हूँ । मेरे नेत्र केवल तुम्हें ही देखना चाहते हैं और इसमें वे रती भर भी पीछे हटने को तैयार नहीं हैं । विरहाग्नि मेरे शरीर को बहुत जलाती है । इस बात पर आप विचार कर लें (कहीं ऐसा न हो कि मैं इसके कारण जल कर मर जाऊँ और आपको दर्शन न देने का पछतावा

हो) । हे स्वामी, हमारी विनती सुन लीजिए तथा अब अधिक अनसुनी मत कीजिए । हे भगवान ! आप तो धैर्य-स्वरूप हैं परन्तु मैं आतुर हूँ—दर्शन करने के लिए उतावली हो रही हूँ । मेरे प्राण इस शरीर के बाहर चाहे जब निकल सकते हैं जिस प्रकार कच्चा घड़ा चाहे जब फूट सकता है और उसमें भरा हुआ पानी बाहर निकल सकता है । हे माधव, तुम मुझसे बहुत दिनों के विछुड़े हुए हो, अर्थात् मैं तुमसे अनेक जन्मों पूर्व विछुड़ी थी । अब मेरा मन अधिक धैर्य धारण नहीं कर सकता है । कबीरदास की जीवात्मा कहती है कि मैं बहुत ही दुःखी हूँ । आप शरीर में प्राण रहते हुए मुझसे मिलने की कृपा करें—अर्थात् इस जीवन में ही मेरा उद्धार करने की कृपा करें ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति हो तोहि ।

(II) रूपक—विरह अग्नि ।

(III) उपमा काचै भाडै नीर ।

विशेष—(1) भगवत्प्रेम का बिम्ब-विधायक एवं मर्म स्पर्शी वर्णन है ।

(II) इसमें सूफी शैली की दाम्पत्य प्रेम परक विरह-व्यथा की तीव्रता की सफल अभिव्यक्ति हुई है ।

(III) मिलन की आतुरता कबीर ने कई स्थानों पर व्यजित की है । 'कबीर' शरीर रहते ही भगवान के दर्शन की इच्छा करते हैं । इसका अर्थ है कि वह मोक्ष की इच्छा न करके जीवन मुक्त होना चाहते हैं । यह आकाक्षा सगुण भक्तों जैसी है ।

(३०६)

वै दिन कब आवेगे माइ ।

जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबो अंगि लगाइ ॥ टेक ॥

हौं जानूँ जे हिल मिलि खेलूँ, तन मन प्रांन समाइ ।

या कामनां करौ परपूरन, समरथ हौ रांम राइ ॥

मांहि उदासी माधौ चाहै, चिपवत रैंनि बिहाइ ।

सेज हमारी स्यध भई है, जब सोऊ तब खाइ ॥

यहु अरदास दास की सुंनिये, तन की तपनि बुझाइ ।

कहै कबीर मिलै जे सांई मिलि करि मगल गाइ ॥

शब्दार्थ—स्यध = सिंह, बाध । अरदासि = अर्जी, प्रार्थना ।

सन्दर्भ—कबीर की प्रभु-मिलन की आतुरता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—री सखि ! वह दिन कब आएगा जब मैं इस शरीर धारण करने के उद्देश्य को पूरा कर सकूँगी ? जिस भगवान की प्राप्ति के लिए यह मानव शरीर मिला है, उससे अग से अग मिलाकर कब मिलना हो सकेगा ? मेरे मन की यह तीव्र आकाक्षा है कि मैं अपने पति भगवान के साथ हिल-मिल कर खेलूँ और अपने तन, मन प्राण को पति रूप परमेश्वर में समाहित कर दूँ । हे स्वामी राम ! आप सब तरह समर्थ हो । मेरी मनोकामना को पूर्ण कर दो । मैं इतने दिनों तक

आपसे न मिल सकने के कारण मेरा मन एक दम गिर गया है । इस उदासी को दूर करने के लिए मैं अपने पति माधव का सान्निध्य चाहती हूँ । उनकी बाट देखते हुए मैं सारी रात व्यतीत हो जाती है । मेरी शय्या तो बाघ की तरह प्रतीत होती है । जब भी उस पर लेटना चाहती हूँ, तब ही वह मुझको काट लेने को दौडती है । हे भगवान, इस दासी की प्रार्थना सुन लीजिए और विरहाग्नि से उत्पन्न इस शरीर की जलन को शांत कर दीजिए । कबीर कहते हैं कि अगर मुझे स्वामी राम मिल जाएँ, तो मैं उनके साथ मिनकर मंगल के गीत गाऊँ ।

अलंकार—(1) पदमैत्री—हिल मिल । तन मन प्रान ।

(II) रूपक—स्यध भई है ।

विशेष—(1) प्रभु के प्रति दाम्पत्य प्रेम परक विरह-व्यथा का मार्मिक वर्णन है ।

(II) सूफियो की शैली पर जीवात्मा के विरह की व्यजना है ।

(III) इस पद मे भक्त कवियों की पद्धति पर 'मनोराज्य' की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है । यथा—

मैं हरि बिन क्यों जिऊँ रो माइ ।

× × × ×

पिय ढूँढन बन-बन गयो, कहूँ सुरली धुनि आइ ।

मीराँ के प्रभु लाल गिरधर । मिलि गये सुखदाइ ।

तथा— नन्हों नन्हों बूँदन मेहा बरसै, शीतल पवन सुहावन की ।

मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, आनन्द-मंगल गावन की । (मीराबाई)

(IV) जीवात्मा का ब्रह्म से तदाकार हो जाना ज्ञानमार्गियों के निकट परम पुरुषार्थ है । परन्तु भक्त और रहस्यवादी का दृष्टिकोण थोडा सा भिन्नता के लिए रहता है । वह ब्रह्म के साक्षात्कार से उत्पन्न रागात्मक अनुभूति मे तन्मय होना चाहता है । कबीर के इस पद मे ज्ञान, भक्ति और रहस्य भावना तीनों का समन्वय दिखाई देता है । इस त्रिवेणी का सस्पर्श ही ज्ञानी भक्त कबीर का सर्वस्व है । दाम्पत्य भाव का रूपक इस अनुभूति को व्यक्त करने का सबसे अधिक सफल एवं सशक्त माध्यम है । कबीर ने इसी पद्धति का अवलम्बन किया है ।

(V) प्राण समाई—पति परमेश्वर के विभिन्न गुणो मे तन्मय होकर रसा-स्वादन करने की व्यजना है ।

(VI) रैन विहाई—'रैन' का अर्थ यदि मोह-निद्रा हो, तो इसके द्वारा अज्ञान मय जीवन की सुन्दर व्यजना हुई है । कही अज्ञान निद्रा फिर से सताने लगे—इसी कारण कबीर ने 'चितवत् रैन विहाइ'— वाली बात कही है । यथा—

मैं बिरहिणी बँठी जागूँ जागत सब सोवै रो आली ।

× × × ×

तारा गिण-गिण रैन बिहागी सुख की घडो कब आवै ।

मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, मिलि कै विद्युणि न जावे ।

(मीराबाई)

(VII) सेज तब खाई—यह लौकिक विम्ब-विधान दृष्टव्य है । शय्या माया रूप है ।

(VIII) या ... राम राई—लौकिक प्रेम के प्रतीको के माध्यम से आध्यात्मिक विप्रलम्भ का वर्णन है ।

(३०७)

बालम आव हमारे गेह रे,

तुम्ह बिन दुखिया देह रे ॥ टेक ॥

सब को कह तुम्हारी नारी, मोको इहै अदेह रे ।

एकमेक ह्वै सेज न सोवै तब लग कैसा नेह रे ॥

आन न भावै नीद न आवै, ग्रिह बन अरै न धीर रे ।

ज्यूं कामीं कौं काम पियारा, ज्यूं प्यासे कूं नीर रे ॥

है कोई ऐसा परउपगारी, हरि सूं कहै सुनाइ रे ।

ऐसे हाल कबीर भये है, बिन देखे जीव जाइ रे ॥

शब्दार्थ—अदेह=अदेशा, दुख, अथवा सदेह । आन=अन्न ।

सदर्भ—कबीरदास प्रेमी भक्त की विरह व्यथा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—जीवात्मा वियोगिनी पत्नी के रूप में अपने पति भगवान को बुलाती हुई कहती है कि, हे प्राण वल्लभ, तुम हमारे घर आओ । तुम्हारे वियोग में यह शरीर अत्यन्त दुखी है । सब लोग मुझे तुम्हारी पत्नी कहते हैं और आप मुझे दर्शन तक नहीं देते हैं । मुझे इसी बात का बहुत दुख है । अथवा मुझको इनके इस कथन पर विश्वास नहीं होता है, क्योंकि जब तक मैं तुम्हारे साथ आलिंगन में आवद्ध होकर एक ही चारपाई पर न सोऊँ, तब तक कैसे विश्वास किया जाए कि हमारे बीच में दाम्पत्य-सम्बन्ध है अथवा आप मुझको पत्नी के रूप में प्रेम करते हैं ? न तो मुझे भोजन अच्छा लगता है और न मुझको नीद ही आती है । घर में अथवा वन में कहीं भी मेरे मन को धैर्य (चैन) धारण करते नहीं बनता है । जैसे कामी पुरुष को अपनी वासना की तृप्ति का माध्यम प्रिय होता है तथा जल के प्रति प्यासे व्यक्ति की आसक्ति होती है, उसी प्रकार मुझे अपने प्रियतम के प्रति अदम्य आसक्ति सताती है । क्या कोई ऐसा उपकारी है जो मेरी यह विरह-व्यथा भगवान को सुना दे । कबीर कहते हैं कि भगवान को साक्षात्कार के बिना मेरी दशा बहुत ही दयनीय हो गई है । पति-परमेश्वर के दर्शन के बिना मैं मरणासन्न हो रहा हूँ—मेरे प्राण चाहे जब निकल सकते हैं ।

अलंकार—उदाहरण—ज्यूं नीर रे ।

विशेष—(1) प्रतीक विधान द्वारा आत्मा-परमात्मा के दाम्पत्य प्रेम की सुन्दर अभिव्यक्ति है । बालम, गेह, नारी, सेज इत्यादि प्रतीक हैं ।

(ii) आन न भावै—कुछ आलोचको ने 'आन' का अर्थ 'अन्य' करके इस वाक्यांश का अर्थ इस प्रकार किया है—मुझे अन्य किसी की उपासना अभीप्सित नहीं है। हमारे विचार से "नीद न आवै" के साथ "आन न भावै" का अर्थ 'अन्य अच्छा नहीं लगता है,' ही अर्थ उपयुक्त होना चाहिए। समभाव की अभिव्यक्ति अन्यत्र देखिए—

धान न भावै नीद न आवै, विरह सतावै मोड़।

खायल-सी घूमत फिरुँ दरद न जाणे कोइ। (मीराबाई)

(iii) ज्यू कामी कौं वाम पियारा—तुलनात्मक दृष्टि से देखिए—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।

तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(iv) है कोउ..... सुनाइ रे—तुलना करे—

प्रीतम कूँ पतियाँ लिखूँ रे कउवा ! तू ले जाइ।

जाइ प्रीतम सूँ येँ कहैँ रे, विरहणि धान न खाइ।

×

×

×

वेगि मिलौ प्रभु अतर जामो, तुम बिन रह्यौ न जाइ। (मीराबाई)

(३०८)

माधौ कब करिहौ दया।

काम क्रोध अहंकार व्यापै, नां छूटे माया ॥ टेक ॥

उतपति ब्यंद भयौ जा दिन थे, कबहुं सच नहीं पायौ।

पच चोर सगि लाइ दिए हैं, इन सगि जनम गंवायौ ॥

तन मन डस्यौ भुजग भामिनी, लहरी वार न पायौ।

सो गारडू मिल्यौ नहो कबहुं, पसर्यौ विष विकराला ॥

कहै कबीर यहु कासूँ कहिये, यह दुख कोइ न जानै।

देहु दीदार बिकार दूरि करि तब मेरा मन मानै ॥

शब्दार्थ—साँच=सुख। भुजग=सर्प। भामिनी=सुन्दरी। गारडू=सर्प का अहर उतारने वाला। विकराला=विकराल, भयकर। दीदार=साक्षात्कार-दर्शन।

सन्दर्भ—कबीर एक भक्त की तरह भगवान की तरह से दर्शन देने की प्रार्थना करते हैं।

भावार्थ—हे भगवान ! आप मेरे ऊपर दया करके मुझको कब दर्शन देंगे ? काम क्रोध और अहंकार ने मुझको घेर रखा है और माया मुझसे छोडते नहीं बनती है। जिस दिन से बिन्दु (पिता के वीर्य) से मेरा जन्म हुआ है, उस दिन से मुझे कभी भी सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं हुई है। पाँच चोर (काम, क्रोध, लोभ, मोह एव मत्सर) जन्म से मेरे साथ लगे हुए हैं। इनके साथ मैंने अपना सम्पूर्ण

जीवन व्यर्थ ही व्यतीत कर दिया है। सुन्दरी नारी रूपी साँप ने मेरे शरीर और मन को डस लिया है और काम रूपी विष की लहर ऐसी फैल रही है कि उसका कोई आदि अन्त (ओर छोर) नहीं है। उप विष को दूर करने वाला कोई भी गुरु रूप गारुडी अब तक नहीं मिल सका है। यह भयानक विष मेरे शरीर में फैल गया है। कवीर कहते हैं कि मैं दुख का वर्णन किससे करूँ। मेरे इस दुख को कोई नहीं जानता है। हे भगवान ! मेरे तमस्त अवगुणों को दूर करके मुझे आने दर्शन दीजिए। तभी मेरा मन सुख-शांति का अनुभव कर सकेगा।

अलंकार—(1) रूपक - भुजग भामिनी, गुर गारुड ।

(II) छेकानुप्रास—काम क्रोध ।

(III) रूपकातिशयोक्ति—चोर, लहरी, विष ।

विशेष—(1) इसे हम विनय का पद कह सकते हैं ।

तुलना करे—

नाचत ही निस दिवस मरयो ।

तब ही तें न भयो हरि । थिर जब तें जिव नाम धर्यो ।

× × ×

जेहि गुन तें बस होहु रीझि कोई, सो मोहि सब बिसरयो ।

तुलसिदास निज भवन-द्वार प्रभु, दीजें रहन पर्यो ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(३०६)

मैं जनभूला तूँ समझाइ

चित्त चंचल रहै न अटक्यौ, विषे बन कूं जाइ ॥ टेक ॥

ससार सागर मांहि भूल्यौ, थक्यौ करत उपाइ ।

मोहनी माया बाधनी थै, राखि लै राम राइ ॥

गोपाल सुनि एक बिनती, सुमति तन ठहराइ ,

कहै कवीर सुनि यहु काम रिप है, मारै सबकूं ढाइ ॥

शब्दार्थ—बाधनी=शेरनी । राखि लै=रक्षा करो ।

संदर्भ—कवीर भगवान से रक्षा की प्रार्थना करते हैं ।

भावार्थ—हे भगवान ! मैं तेरा यह सेवक माया-मोह में पडकर अपने स्वरूप को भूल गया हूँ। तुम मुझे विवेक-बुद्धि दो। यह मेरा चंचल चित्त तुझसे अटकता नहीं है अर्थात् तेरे प्रति अनुरक्त नहीं होता है और वह बार-बार विषय-रूपी वन की ओर भाग कर जाता है। मैं इस ससार रूपी सागर में भटक गया हूँ। उद्धार की चेष्टा करते करते थक गया हूँ। हे राजा राम ! मोहिनी माया रूपी बाधिन से मेरी रक्षा कीजिए। हे गोपाल, मेरी एक बिनती सुन लीजिए। मेरे मन में बुद्धि को स्थिर कर दो अथवा मुझको स्थिर बुद्धि प्रदान कर दो। कवीर कहते हैं

कि यह काम रूपी शत्रु हम सबको पछाड कर नष्ट कर रहा है । (इसी से वचाने की आवश्यकता है ।)

अलंकार—(1) रूपक—विषै वन, ससार सागर, माया वाघिनी । काम रिपु ।

(11) परिकराकुर—गोपाल ।

(11) छेकानुप्रास—चित्त चचल, ससार सागर, मोहिनी माया, राम राइ ।

विशेष—यह विनय भक्ति का पद है ।

(३१०)

भगति बिन भौजलि डूबत है रे ।

बोहिथ छःडि बैसि करि डूँडे, बहुतक दुख सहै रे ॥ टेक ॥

बार बार जम पे ढहकावै, हरि को ह्वैन रहै रे ।

चोरी के बालक की नाई, कासू बात कहै रे ॥

नलिनी के सुवटा की नाई, जग सूं राचि रहै रे ।

बंसा अगनि बस कुल निकसै, आपहि आप दहै रे ॥

खेवट बिना कवन भौ तारे, कैसे पार गहै रे ।

दास कबीर कहै समझावै, हरि की कथा जीवै रे ॥

राम की नांव अधिक रस मीठौं, बारबार पीवै रे ॥

शब्दार्थ— भौजलि भवजल, -ससार सागर । बोहिथ=बोहित, जहाज । डूँडे=डूँड पर, ठूँठ पर, लकड़ी के लठ्ठे पर । डहकावै=धोखा खाता है, ठगा जाता है । राचि=आसक्त । वसा अगनि=वासो की रगड उत्पन्न होकर वन में लगने वाली अग्नि ।

सदर्थ—कबीरदास राम की भक्ति का पतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—रे जीव ! तू भगवान की भक्ति के बिना इस ससार सागर में डूब रहा है । तूने भक्ति रूपी जहाज को छोड़कर अन्य साधन रूपी काठ के लठ्ठों पर बैठकर इस भवसागर को पार करने का विफल प्रयत्न किया । इसी कारण तुझको अनेक दुख सहने पड़े हैं । तू बार-बार यमराज के द्वारा ठगा जाता है अर्थात् बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में पड़ता है, परन्तु भगवान का भक्त होकर नहीं रहता है । दासी पुत्र की भाँति तू किसी को भी अपना पिता नहीं कह सकता है अर्थात् विभिन्न साधनाओं में भटकने वाला व्यक्ति किसी एक साधन के प्रति निष्ठावान नहीं रह पाता है । यदि 'बाप' के स्थान पर बात पाठ हो, तो इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार होगा । तूने भगवान की भक्ति से जी चुराया है । तेरी हालत उस बालक की भाँति है जो चोरी करता है और लज्जा के कारण किसी के सामने मुँह नहीं खोल पाता है । हे जीव ! काठ की नली पर क्रीडा करने वाले तोते की भाँति तू इस माया मय जगत के प्रति आसक्त बना हुआ है । जैसे बटवाग्नि वासो की ही रगड से प्रकट

होती है और उन्ही को भस्म कर देती है, उसी प्रकार कामग्नि प्राणी में ही उत्पन्न होती है और उसी को नष्ट कर देती है। भगवान् रूपी केवट के बिना इस ससार रूपी सागर से कोई पार नहीं कर सकता है। बिना भगवान् के तू किस प्रकार पार जा सकेगा ? कबीरदास समझाकर कहते हैं कि भगवान् के गुण-गान के सहारे ही सुख-पूर्वक जं वन व्यतीत किया जा सकता है। राम के नाम-स्मरण द्वारा प्राप्त होने वाला रस बड़ा ही मीठा होता है, उसको बारम्बार पीना चाहिए अर्थात् भगवान् का नाम-स्मरण निरन्तर करते रहना चाहिए।

- अलंकार - (1) रूपक—भोजलि, भौ ।
 (II) रूपकातिशयोक्ति—बोहिथ, डू डै, खेवट ।
 (III) पुनरुक्ति प्रकाश—बार-बार ।
 (IV) उपमा—बालक की नाई, सुवटा की नाई ।
 (V) दृष्टान्त—दसा . . . दहै रे ।
 (VI) वक्रोक्ति—कवन . . . गहै रे ।

विशेष—(1) इस पद में कबीर की भक्ति-भावना व्यक्त है।

(II) नलिनी को सुवटा—तोतो को पकडने के लिए शिकारी बाँस की पोनिया लटका देते हैं। जैसे ही तोता पानी पर बैठता है, वैसे ही पानी घूम जाती है और तोते का सिर नीचे और पाँव ऊपर हो जाते हैं। इस पानी को ही नलिनी कहते हैं। तोता पानी को छोड़ता नहीं है और डर के मारे वही लटकता रहता है। इसी प्रकार जीव भी उद्धार की सामर्थ्य होते हुए भी ससार के प्रति आसक्त बना रहता है। अज्ञान वश ससार में आवद्ध जीव को 'नलिनी का सुवटा' कहना कवि-परम्परा है। यथा—

अपनपी आपुन ही बिसर्यो ।

× × ×

मरकट मूँठि छाँडि नहिं दीनी, घर-घर द्वार फिर्यो ।

सूरदास, नलिनी को सुवटा, कहि, कौने पकर्यो । (सूरदास)

(III) कबीर ने अनन्य भक्ति पर जोर दिया है।

(३११)

चलत कत टेढौ टेढौ रे ।

नऊं दुवार नरक घरि सूँदे, तू दुरगंधि को बेढौ रे ॥टेक॥

जे जारें तौ होइ भसम तन, रहित किरम जल खाई ।

सूकर स्वाँन काग कौ भखिन, तामें कहा भलाई ॥

फूटे नैन हिरदे नाही सूँकै, मति एकै नही जानी ।

मया मोह ममिता सूँ बाँध्यौ, बूडि मूत्री विन पांनी ॥

बारू के घरवा में बैठो, चेतत नहीं अयांनां ।

कहै कबीर एक राम भगती विन, बूडे बहुत सयांनां ॥

शब्दार्थ—नरक=मल, मला । मूदे=आपूरित । बैठो=ढेर, थाला ।
किरम=कृमि, कीडे । भिखन=भोजन । मुवो=मर । ये ।

सदर्भ—कवीर शरीर की असारता बताकर राम भक्ति का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—रे मानव, तुम क्यों इतरा रहे हो ? तुम्हारे शरीर की इन्द्रियो रूपी नौ द्वार (दो आँख, दो कान, दो नासा-द्वार, मुख तथा मल मूत्र के द्वार) मैले से भरे हुए हैं और इस प्रकार तू गन्दगी का ढेर अथवा पाला है । मरने पर यदि इस शरीर को जलाया जाएगा, तो यह भस्म का ढेर हो जाएगा और जो शेष बचेगा, उसको जल के कीड़े-मकोड़े खाएँगे । यह शरीर, सुअरो, कुत्तो तथा कौओ का भोजन है । इस पर गर्व करने से क्या लाभ है ? ससार की यह निस्सारता देखने के लिए तुम्हारी आँखें फूट गई हैं, हृदय में तुम्हें इसकी अनुभूति नहीं होती है तथा ज्ञान की वातो से तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है । तू माया मोह और ममता के वशीभूत बना हुआ है और इस प्रकार तुम इस ससार सागर में बिना पानी के ही (अकारण ही) डूब गये हो । रे प्राणी, यह शरीर रेत का महल है । तुम इसमें बैठे हुए अपने आपको सुरक्षित समझते हो । रे मूख, तुम होश में आकर समझते ही नहीं हो कि यह शरीर क्षण-भंगुर है । कवीरदास कहते हैं कि राम भक्ति का अवलम्बन ग्रहण न करने के कारण बहुत से तथा कथित चतुर (पुनियादार) लोग इस भवसागर में डूब गये ।

- अलंकार—(1) गूढोक्ति—चलत रे ।
(II) रूपकातिशयोक्ति—नव द्वारा बारू के घरवा ।
(III) छेकानुप्रास—दुवार, दुरगधि ।
(IV) वक्रोक्ति—तामैं . . . भलाई ।
(V) विभावना—बूडि पानी ।
(VI) विरोधाभास—बूडे सयाना ।

विशेष—(1) बूडे बिन पानी—वस्तुतः यह ससार असत् है । इसमें विषय जल भी परमार्थतः है नहीं । जीव मिथ्या विषयो में ही डूबा रहता है । यही बिना जल के भव-सागर में डूबना है ।

(II) बारू के घरवा में बैठो—समभाव देखें—

मोम को मन्दिर माखन को मुनि बैठो हुतासन आसन दीन्हे । (देव)

(३१२)

अरे परदेसी पीव पिछांनि ।

कहा भयो तोकों समझि न परई, लागी कैंसी वांनि ॥टेक॥

भोमि बिडाणी मैं कहा रातौ, कहा कियो कहि मोहि ।

लाहै कारनि मूल गमावै, समझावत हूँ तोहि ॥

निस दिन तौहि वयूँ नीद परत है, चितवत नांही ताहि ।
जम से बेरी सिर परि ठाढे, पर हथि कहाँ बिकाइ ॥
भूठे परपंच में कहा लागौ, ऊठे नांही चालि ।
कहै कबीर कछु बिलम न कीजै, कौने देखी काल्हि ॥

शब्दार्थ—वानि = आदत । भोमि = भूमि । बिडाणो = विरानी, पराई ।
रातों = अनुरक्त । लाहै = लाभ । काल्हि = कल का दिन ।

सन्दर्भ—कबीर जीवन और जगत की क्षण भंगुरता के प्रति जीव को सावधान करते हैं ।

भावार्थ—रे परदेशी जीवात्मा, तू अपने प्रियतम को पहचान । तुम्हें क्या हो गया है । तुम्हें अकल (विवेक बुद्धि) क्यों नहीं आती है । सासारिक विषयो में लिप्त रहने की तेरी यह क्या आदत पड गई है । तू पराई भूमि में क्यों अनुरक्त हो गये हो । मुझे बताओ तो सही कि इस प्रकार आसक्त होकर तुमको क्या लाभ हुआ है । सासारिक विषयो के सुख रूपी लाभ के लोभ में तुमने अपने मूलधन रूपी सहज शुद्ध बुद्ध स्वरूप को भी नष्ट कर दिया है । यह बात मैं तुमको समझाकर कहता हूँ । तुम्हें रात दिन नीद क्यों आती है अर्थात् तुम सदैव अज्ञान के वशीभूत हुए परम तत्त्व को क्यों भूले रहते हो ? तुम उस परम तत्त्व को जानने का प्रयत्न क्यों नहीं करते हो ? तेरे सिर पर यमराज सदृश प्रबल शत्रु खडा हुआ है और तू अपने वास्तविक स्वरूप को भूल कर माया के हाथों क्यों विक गया है । हे जीव ! तुम ससार के इस भूठे प्रपंच में क्यों फँसे हुए हो ? संसार से विमुख होकर भगवान की भक्ति करने के लिए क्यों नहीं चल पडते हो ? कबीर कहते हैं कि ईश्वर भक्ति में देर मत करो । इस कार्य को अभी और यही करो । कल किसने देखा है अर्थात् कल का क्या भरोसा है ?

अलंकार—गूढोक्ति—सम्पूर्ण पद ।

विशेष—(1) प्रतीको का प्रयोग है—परदेशी, पीव, भोमि बिडाणी, भूल ।

(ii) ससार की क्षण भंगुरता का प्रतिपादन है ।

(iii) शात रस की व्यजना है ।

(iv) परदेशी—मूल स्थान ब्रह्म से विच्छुड कर जगत में आने वाली जीवात्मा परदेशी है ।

(v) पराई—जीवात्मा का निवास स्थान तो ब्रह्म है । ससार तो माया का निवासस्थल है । इसी कारण वह जीवात्मा के लिए पराई भूमि है ।

(vi) कहा कियो कहि मोहि— इस कथन में जीवात्मा की भारी भूल अभिव्यंजित है ।

(vii) जम से बेरी—समभाव देखें—

जम करि गृह नरहरि पर्यौ, महि घरि हरि चित लाउ ।

विषय वृषा अजहूँ तज्यौ नरहरि के गुन गाउ । (विहारी)

(viii) ऊठे नाही चालि—अन्तर्मुखी होने की ओर सचेत है । यथा—
होँ अपनायो तब जानिहोँ जब मन फिरि परिहै ।

तथा—सन्मुख होहि जीव मोहि जब ही । जन्म कोटि अध नासहि तब ही ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(1) कौने देखी काल्हि । इस भाव को व्यक्त करने वाले अनेक कथन लोक में प्रचलित है । यथा—

(क) जिसके बीच मे रात । उसकी क्या बात ?

(ख) सामान सौ बरस का, पल की खबर नहीं ।

(ग) करना है सो आज कर, आज करे सो अब ।

पल में प्रलय होयगी, बहुर करेगा कब ? (कबीर)

(३१३)

भयौ रे मन पाहुनडौ दिन चारि ।

आजिक काल्हिक माँहि चलैगो, ले किन हाथ सँवारि ॥टेक॥

सौँज पराई जिनि अपणावं, ऐसी सुणि किन लेह ।

यहु ससार इसौ रे प्राणी, जैसी धूँवरि मेह ॥

तन धन जोवन अँजुरी कौ पानी, जात न लागे बार ।

सँबल के फूलन परि फूल्यौ, गरब्यो कहा गबार ॥

खोटी खाट खरा न लीया, कछु न जानी साटि ।

कहै कबीर कछु बनिजन की गौ, आयौ थौ इहि हाटि ॥

शब्दार्थ—पाहुँनडौ = पाहुना, मेहमान । सौन = सम्पत्ति । धूँवरि = धुआँ ।

खाट = सग्रह किया । साटि = विनिमय । बनिज = व्यापार । हाटि = बाजार ।

सन्दर्भ - कबीरदास जीवन की निस्सारता का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—रे जीव, तुम इस ससार में चार दिन के मेहमान हो । आत-कल में ही तुमको इस ससार से चला जाना है । फिर तुम अपने हाथों को बुरे कामों से क्यों नहीं हटा लेते हो ? तुम पराई वस्तुओं के प्रति आसक्त होने की चेष्टा मत करो (यह ससार तुम्हारा घर नहीं है । और तब इसकी वस्तुएँ तुम्हारी क्यों कर हो सकती हैं ?) । तू मेरी इस सनाह को क्यों नहीं सुनता है ? रे प्राणी यह ससार तो धुँए के समूह द्वारा निर्मित बाल के समान है, जो न जल देता है, न शीतलता । वह तो केवल धोखा ही है । शरीर, सम्पत्ति और धौवन अजलि में भरे हुए जल के समान है, जो धीरे-धीरे रिसकर स्वयमेव शीघ्र ही समाप्त हो जाता है । इस ससार का वैभव सैमर के फूल की तरह है जिसका बाह्य तो बहुत आकर्षक है, परन्तु जिसमें सारतत्त्व बिल्कुल नहीं है । इस मिथ्या एवं सारहीन सासारिक वैभव के ऊपर हे अज्ञानी ! तू क्यों गर्व करता है ? तूने विषय वासना रूपी खोटी वस्तुओं का तो सग्रह किया और ज्ञान-मुक्ति रूपी, खरी वस्तुओं को ग्रहण नहीं किया । तुम्हें जीवन में विनिमय करना नहीं आया अर्थात् तुम्हें यह ज्ञान नहीं हुआ

कि क्या खरीदना चाहिए और क्या नहीं खरीदना चाहिए । कबीरदास कहते हैं कि तुम इस ससार रूपी बाजार मे आकर तुमने लाभ का कुछ भी व्यापार नहीं किया अर्थात् तुम शुभ कर्मों को अर्जन बिल्कुल नहीं कर सकते ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति—ले . . . सवारि ।

(II) उपमा—जैसी धूँवरि मेह, अजुरी कौ पानी ।

(III) रूपकातिशयोक्ति—सेवल के फूलन ।

(IV) अनुप्रास—खोटी खाट खरा

(V) रूपक—हाटि ।

विशेष—(1) प्रतीको का प्रयोग है—खोटी, खरा, बनिज ।

(II) ससार की असारता का वर्णन है ।

(III) विषय—लिप्त जीव की भर्त्सना की गई है ।

(IV) धूँवरि मेह । समभाव की अभिव्यक्ति देखे—

जग नभ-वाटिका रही है फलि फूलि रे ।

धुवां कैसे धौरहर देखि तू न भूलि रे ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(V) सेंबर के फूलन । समभाव के लिए देखें—

सेमर सुअना सेइया मुइ ढेंढी की आस ।

ढेंढी फूट चटाक दै सुअना चला निरास ।

(कबीर)

(३१४)

मन रे राम नामहि जानि ।

थरहरी थूनी परयो मदर सूतौ खूटी तांनि ॥टेक॥

सैन तेरी कोई न समझै, जीभ पकरी आंनि ।

पाँच गज दोवटी मांगी, चून लीयौ सांनि ॥

बसदर पाषर हाँडी, चलयौ लादि पलांनि ।

भाई बध बोलाई बहु रे, काज कीनों आंनि ॥

कहै कबीर या मै भूठ नाहीं, छाडि जिय की घांनि ।

राम नाम निसंक भजि रे, न करि कुल की कांनि ॥

शब्दार्थ—थरहरी=हिलती हुई । थूनी=खम्भा । सूतौ=सोता है । खूटी तांनि=वेफिक्री के साथ । सैन=इशारा । बसदर=अग्नि । पलांनि=पलायन ।

सन्दर्भ—कबीर ससार की निस्सारता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—रे मन, तू राम-नाम से अपना नाता जोड । इस शरीर रूपी मन्दिर का प्राण-रूपी आधार स्तम्भ हिलने लगा है । यह शरीर रूपी मन्दिर गिरने ही वाला है और तू निश्चिन्त होकर सो रहे हो अर्थात् तुम्हें मौत का ध्यान ही नहीं है । अन्त समय का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं कि तेरी जीभ को यमदूतो ने आकर पकड लिया है अर्थात् तेरा बोल बन्द हो गया है तू अपना मन्तव्य प्रकट करने

के लिए शोर करता है, परन्तु उन इशारों को कोई नहीं समझता है। तुम्हारी शव-यात्रा की तैयारी हो रही है। पाँच गज कफन मगाया जा चुका है। पिण्ड-दान के लिए आटा सान लिया गया है। खानी हाँडी में अग्नि रख ली गई है और लोग तुम्हको लाद कर शमशान की ओर चल दिए हैं। बहुत से भाई-बन्धुओं को बुलाकर तेरी अन्त्येष्टि क्रिया सम्बन्धी समस्त कार्य सम्पन्न कर दिए हैं। कबीरदास कहते हैं कि मेरे इस कथन में कुछ भी झूठ नहीं है। तू विषय-वासना में लिप्त बने रहने की अपनी आदत को छोड़ दे। और निश्चिन्त होकर भगवान राम का भजन कर। कुल की मिथ्या-मान-मर्यादा के अहकार में मत फँस।

अलंकार—(1) रूपक—थूँनी, मन्दिर।

(II) अनुप्रास—करि कुल की कानि।

विशेष—(1) वैराग्य भावना का प्रतिपादन है।

(II) शात रस की व्यञ्जना है।

(III) विम्ब-विधान द्वारा अन्त समय का सजीव चित्रण है।

(IV) मृत के साथ शमशान तक जानेवाले उपकरणों का वर्णन यह घोषित करता है कि कबीर लोक-व्यवहार से पूर्णतः परिचित थे। यह उनके गृहस्थ होने का भी प्रमाण है।

(V) जिस भाँति वल्लभाचार्य ने भक्ति के मार्ग में 'कुलकानि' परित्याग की बात कही, उसे हम कबीर में भी पाते हैं। मीराबाई ने तो सचमुच कुल की कानि छोड़ ही दी थी—

छाँड़ि दयो कुल की कानि कहा करिहै कोई ।

सतन ढिग बैठि-बैठि, लोक-लाज खोई ।

इसी बात को गोस्वामी जी ने थोड़े से फेर के साथ कहा है—

जो पै रहनि राम सो नाहीं ।

×

×

×

कीरति, कुल करतूति, भूति भलि सील सरूप अलोने ।

तुलसी प्रभु-अनुराग-रहित जस सालन साग सलोने ।

(३१५)

प्राणीं लाल औसर चलयौ रे बजाइ ।

भुठी एक मठिया मुठि एक कठिया, सग काहू कै जाइ ॥टेक॥

देहली लग तेरी मिहरी सगी रे, फलसा लग सगी माइ ।

मड़हट लूँ सब लोग कुटबी, हस अकेली जाइ ॥

कहाँ वै लोग कहां पुर पटण, बहुरि न मिलबौ आइ ।

कहै कबीर जगनाथ भजहुरे, जन्म अकारथ जाइ ॥

शब्दार्थ—लाल=सुन्दर। औसर=दाव। पहण=बाजार। बजाइ=

खेलकर।

संदर्भ कबीर जीवन की नश्वरता एवं सगे-सम्बन्धियों के साहचर्य की क्षणिकता की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए जीव को भगवत्भजन की प्रेरणा देने है।

भावार्थ—यह सुन्दर प्राणी अपना जीवन-दाव खेलकर अब जा रहा है। उसकी एक मुट्ठी में आटे का पिण्ड है और एक हाथ उसकी काठी (जनाजे) पर रख दिया गया है। परन्तु यह आटे का पिण्ड भी किसी के साथ नहीं जाता है। घर की देहरी तक पत्नी सगी रहती है अर्थात् देहरी तक रोती हुई पत्नी जाती है और दरवाजे तक माता सगी रहती है। सब कुटुम्बी लोग श्मशान तक जाते हैं, परन्तु आगे की यात्रा में यह जीव अकेला ही जाता है। ये सब सगे-सम्बन्धी, नगर, बाजार कहाँ साथ जाते हैं? वे सब यही रह जाते हैं। इन सबसे फिर मिलना नहीं होता है। कबीर कहते हैं कि इन सब बातों पर विचार करके जगत के स्वामी भगवान का भजन करो। भजन के बिना यह जन्म व्यर्थ ही जा रहा है।

अलंकार - (1) अनुप्रास—मुठी मठि मठिया।

(II) पदमैत्री—मठिया कठिया।

(III) गूढोक्ति - (1) कहाँ वे ...परण।

विशेष—शात रस की व्यजना है। 'निर्वेद' भाव का परिपाक दृष्टव्य है।

(II) फलशा का पाठान्तर 'दुआरै' है। इसीसे इसका अर्थ 'द्वार' कर दिया है।

(III) प्राणी लाल औसर चलयौ रे वजाय। डा० माताप्रसाद गुप्त ने इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है। औसर-अवसर-नृत्य-सगीतादि की सभा है। 'लाल' है ललक-रवपूर्ण। रे प्राणी, तू रवपूर्ण अवसर (संगीत का कार्यक्रम) बजाकर अब वापिस चल पडा है। उनके द्वारा इस अर्थ की कल्पना का आधार यह पाठान्तर है—चारि दिन अपनी नउवति चले वजाइ।”

हम तो 'लाल' का अर्थ महाशय करते हैं। हे प्राणी लाल अथवा प्राणी महाशय। कह कर तीव्र सम्बोधन की व्यजना की गई है। वजाई का अर्थ है—'अजाम देकर'। अर्थ होगा—तुमको जो मानव जन्म देकर एक श्रेष्ठ अवसर प्रदान किया गया था, उसको पूरा करके हे प्राणी महाशय चल दिए और तुमने इस जन्म को व्यर्थ गँवा दिया। जो समय बचा है, उसीमें भगवान का नाम लेलो। इसी भाव को अभिप्रेत मानकर हमने उपर्युक्त अर्थ किया है। हमारे विचार से उपर्युक्त अर्थ ही युक्तियुक्त है। डा० गुप्त द्वारा किए गए अर्थ में हमको खीचतान अधिक दिखाई देती है। नीचेत बजाने वाली कबीर की यह माखी इस प्रकार है—

कविरा नौबत आपनी दिन दस लेहु वजाय।

ये पुर पहन ये गली वहरि न देखी आय।

(३१६)

राम गति पार न पावै कोई।

दयतामणि प्रभु निर टि छाड़ि करि, भ्रमि भ्रमि मति बुधि खोई ॥टेक॥

तीर्थ बरत जपै तप करि करि, बहुत भाति हरि सोधे ।
 सकति सुहाग कहौ क्यूं पावै, अछता कत विरोधे ॥
 नारी परिष बसै इरु सगा, दिन दिन जाइ अवोलै ।
 तजि अभिमान मिलै नही पीव कूं, ढूढ़त बन बन डोलै ॥
 कहै कबीर हरि अकथ कथा है, बिरला कोई जानै ।
 प्रेम प्रीति बेधी अंतर गति, कहूँ काहि को मानै ॥

शब्दार्थ - सोधै = खोजे । गति = मद्दिमा । सुहाग = सोभाग्य ।

संदर्भ—कबीर ज्ञान-दशा का वर्ण करते है ।

भावार्थ—राम की महिमा का रहस्य कोई नहीं पाता है । लोग अपने स्वरूप से अभिन्न प्रभु रूपी चिन्तामणि (मनचाही वस्तुएँ देने वाणी मणि) को छोड़ कर इधर-उधर विभिन्न साधनाओं एवं सिद्धियों में भटकते रहते है और इस प्रकार अपनी विवेक-बुद्धि भी खो देते हैं । तीर्थ, व्रत, जप-तप आदि करते हुए लोगो ने भगवान को बहुत प्रकार से खोजा, (परन्तु उन्हे भगवान की प्राप्ति नहीं हुई) । कोई नारी अपने पति का विरोध करते हुए भला पति-मिलन सोभाग्य-सुख क्यों कर प्राप्त कर सकती है ? जो स्त्री और पुरुष साथ-साथ रहते हुए आपस में विन बोले ही समय व्यतीत करते हैं, उनके जीवन में आनन्द कहाँ से आसकता है ? व्यजना यह है कि जो जीवात्मा अपने पति परमात्मा के साथ निरन्तर रहते हुए भी उससे विमुख रहती है, उस आत्मा सुन्दरी को प्रेमानन्द और परमानन्द की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है ? यह जीवात्मा उस नारी के समान है जो मान वश प्रियतम से विमुख रहती है और प्रेमानन्द की प्राप्ति के लिए इधर-उधर चारो ओर मारी-मारी फिरती है । यह जीवात्मा अपने पृथक्त्व के भाव को त्याग कर परमात्मा में अपने अस्तित्व को तो मिलती नहीं है और आत्मानन्द की प्राप्ति के लिए जगलो में जाकर तपस्या आदि करती है । कबीर कहते हैं कि भगवान के प्रेम की महिमा वर्णनातीत है । इसके महत्व को कोई बिरला ही जान पाता है । मेरा अन्त करण उस प्रेम-प्रीति द्वारा विद्ध हो गया है । इस अनुभूति का वर्णन मैं किससे करूँ और कौन इस पर विश्वास करेगा ।

अलंकार - (I) सम्बन्धातिशयोक्ति—राम ... कोई ।

(II) रूपक—च्यतामणि प्रभु ।

(III) पुनरुक्ति प्रकाश—अ मि अं मि, करि करि, दिन दिन, बन बन ।

(IV) वक्रोक्ति—सकति • विरोधै । को मानै ।

(V) निदर्शना—सकतिडोलै ।

(VI) विरोधाभास—अकथ कथा ।

(VII) गूढोक्ति—कहूँ काहि ।

(VIII) रूपकातिशयोक्ति—नारी, पुरुष ।

विशेष—(i) वाह्याचार का विरोध व्यक्त है

(ii) जीवात्मा और परमात्मा का अभिन्नत्व प्रतिपादित है । पृथक्त्व भाव भ्रम है । इसकी निवृत्ति द्वारा ही जीव का कल्याण सम्भव है । सूफी कवि कहते आए हैं—“इशरते कतरा है दरिया मे फना हो जाना ।”

(iii) च्यातमणि—खोई । समभाव देखे—

कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग हूँ बन माँहि ।

ऐसे घट घट राम हैं दुनियाँ देखे नाँहि ।

(iv) विरला कोई जाने । तुलना करें—

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी । कोउ एक होइ धर्म ब्रतधारी ।

धर्म सील कोटिक महँ कोई । विषय विमुख बिराग रत होई ।

कोटि विरक्त मध्य स्तुति कहई । सम्यक ज्ञान सकृत कोउ लहई ।

ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ । जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ ।

तिन्ह सहस्र महँ सब सुख सानी । दुर्लभ ब्रह्म लीन बिग्यानी ।

इत्यादि—गोस्वामी तुलसीदास

(३१७)

राम बिनां संसार धंध कुहेरा,

सिरि प्रगट्या जाम का पेरा ॥ टेक ॥

देव पूजि पूजि हिंदू भूये, तुरक भूये हज जाई ।

जटा बांधि बांधि योगी भूये, इनमै किनहूँ न पाई ॥

कवि कवीनै कविता भूये, कापड़ी के दारौं जाई ।

केस लूँचि लूँचि भूये बरतिया, इनमै किनहूँ न पाई ॥

धन सचते राजा भूये, अरु ले कंचन भारी ।

वेद पढे पढि पंडित भूये, रूप भूले मूर्ख नारी ॥

जे नर जोग जुगति करि जानै खोजै आप सरीरा ।

तिनकू मुक्ति का ससा नाहीं, कहत जुलाह कबीरा ॥

शब्दार्थ—धध=धु ध, धु ए का आवरण । कुहेरा=कुहासा, कुहारा । जाम=जम । पेरा=पेरने (दवाव डाल कर रस निचोडने) वाला यन्त्र, लक्षण से आरा अथवा फादा । हज=मक्के की यात्रा । कापड़ी=कार्यटिक, तीर्थयात्री । लूँचि-लूँचि=नोच-नोच कर । बरतिया=व्रत करने वाले, जैन साधु ।

संदर्भ—कबीर आत्म-साक्षात्कार का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—भगवान राम की भक्ति के बिना यह संसार धु ध और कोहरे के समान निस्मार है । भावार्थ यह है कि राम भक्ति के अतिरिक्त अन्य समस्त साधनाएँ अज्ञान मशय एव दिग्भ्रम में डालने वाली हैं । मानव को समझ लेना चाहिए कि यमराज का आरा उमके मिर के ऊपर निरन्तर लटकता रहता है । देवता पूज-पूज कर हिन्दू मर गये हैं, मुसलमान मक्का की यात्रा कर करके मर गये तथा योगी

जटा-जूट बाँध बाध कर मर गये, परन्तु किसी को भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हुई । कविगण कविता करके मर गये, तीर्थ यात्री केदारनाथ में जाकर मर गये, जैन मतावलम्बी व्रती साधुओं ने बाख नोच नोच कर प्राण दे दिए, परन्तु इनमें से भी किसी को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हुई । धन एकत्र करते हुए और बहुत सा स्वर्ण बटोरते हुए राजे मर गये, वेदों का अध्ययन करते हुए पंडित मर गये, रूप के अहंकार में नारियाँ मर गईं, परन्तु उद्धार किसी का नहीं हुआ । जो व्यक्ति भगवान से मिलने की युक्ति जानना चाहते हैं, वे अपने शरीर के भीतर ही भगवान (परम-तत्व) को खोजते हैं । जुलाहा कबीर कहता है कि जो व्यक्ति अपने घर के भीतर भगवान को खोजते हैं उन्हें निश्चित रूप से मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

अलंकार—(1) रूपक—ससार धध कुहेरा ।

(II) पुनरुक्ति प्रकाश = पूजि पूजि, बोधि बोधि, लू चि लू चि ।

(III) वृत्त्यानुप्रास—कवि कवीनै कविता कापडी, ।

विशेष—(1) धध कुहेरा—“असत् एव अचित्” अभिप्रेत है ।

(II) बाह्याचार की निरर्थकता प्रतिपादित है ।

(III) अह-भावना एवं आ-क्ति के प्रति तीव्र विरोध व्यक्त है ।

(IV) जुलाहा—जात्याभिमानियों के प्रति व्यंग्य है ।

(३१८)

कहू रे जे कहिबे की होइ ।

नां को जानै नां को मानै, ताथै अचिरज मोहि ॥ टेक ॥

अपनें अपनें रंग के राजा, मानत नांही कोई ।

अति अभिमान लोभ के घाले, चले अपन पौ खोइ ॥

मै मेरी करि यहू तन खोयो, समझत नहीं गवार ।

भौजलि अधफर थाकि रहे हैं, बुड़े बहुत अपार ॥

मोहि आग्या दई दयाल दया करि काहू कू समझा ।

कहै कबीर मै कहि हार्यौ, अब मोहि दोस न लाइ ॥

शब्दार्थ—घाले = मारे हुए, वशीभूत । भौजल = भव जल, भवसागर ।

अधफर = फर = युद्ध-लक्षण से मार्ग ।

संदर्भ—कबीरदास ससार के व्यक्तियों के अज्ञान के प्रति अपना क्षोभ प्रकट करते हैं ।

भावार्थ—मैं तो वे ही बातें कहता हूँ जो कहने योग्य होती हैं । परन्तु उनको न तो कोई समझता है और न उन पर कोई विश्वास ही करता है । इसी से मुझे आश्चर्य होता है । सभी लोग अपने अपने रंग में मस्त हैं । इसी लिए कोई मेरी बात को मानता नहीं है । वे अत्यन्त अभिमान और लोभ के वशीभूत हैं । उन्होंने अपनत्व को खो दिया है अर्थात् वे अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप को भूल गये हैं । ये मूर्ख वास्तविकता तो समझते नहीं हैं । इन्होंने “मैं और मेरी” के फेर में ही

अपना समस्त जीवन नष्ट कर दिया है। ये लोग भव-सागर में आवे रास्ते पर पहुँच कर थक गये हैं और इनमें बहुत से तो इस भव-सागर में डूब चुके हैं। कबीर कहते हैं कि दयालु भगवान ने कृपापूर्वक मुझको आज्ञा दी है कि मैं भव-सागर में डूबते हुए इन व्यक्तियों से कुछ को तो विवेक-बुद्धि दे दूँ। मैं कह-कह कर थक गया हूँ। मेरी बात कोई नहीं सुनता है। अतः अब मुझको कोई दोष न दे (कि मैंने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया)।

अलंकार—(1) पदमैत्री—ना जानै, ना मानै, घाले चले।

(ii) पुनरुक्ति प्रकाश—अपने अपने।

(iii) वृत्यानुप्रास—दर्ई, दयाल, दया, करि काहूँ कूँ।

(v) छेकानुप्रास—अति अभिमान।

(vi) रूपरु—भौ जलि।

(vii) पुनरुक्तिवदाभास—बहुत। अपार।

विशेष—(1) रग के राजा—मुहावरा है—तुलना करे—

मारग सोइ जाकहँ जो भावा। पडित सोइ जो गाल बजावा।

(गोस्वामी तुलसीदास)

यह लोकोक्ति भी प्रचलित है—“अपनी अपनी ढफली और अपना अपना राग।”

(ii) विभिन्न साधनाओं में पड़े हुए मानव अपने जीवन को नष्ट करते रहते हैं—यही इस पद का अभिप्रेत अर्थ है। यही बात गोस्वामी तुलसीदास ने कही है—

श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ सजुत बिरित बिवेक।

जे परिहरहि विमोह बस कल्पाहि पथ अनेक।

(iii) कबीर को ज्ञानोपदेश की प्रेरणा भगवान की मंगल-विधायिनी शक्ति से प्राप्त हुई थी। इस कथन में कबीर का आत्म-विश्वास भी व्यक्त है, साथ ही उनकी गर्वोक्ति की छाया भी है। ये दोनों तत्व कबीर के व्यक्तित्व पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। कबीर पूरे आत्म विश्वास के साथ यह मानते थे कि उन्हें आत्म-साक्षात्कार हो गया था तथा वह परमात्मा के सदेश-वाहक थे।

(iv) कबीर ने उन लोगों पर गहरा व्यंग्य किया है जो प्रभु के स्वरूप को जाने बिना ही उसके विषय में तरह-तरह की बातें कहते रहते हैं।

(३१६)

एक कोस वन मिलांन न मेला

बहुतक भाँति करै फुरमाइस, है असत्रार अकेला ॥ टेक ॥

जोरत कटक जुघेरत सब गढ़ करतव भेली भेला ।

जोटि कटक गढ़ तोरि पातिसाह, खेलि चल्थो एक खेला ॥

कूच मुकाम जोग के घर में, कछू एक दिवस खटांनां ।
 आसन राखि विभूति साखि दे, फुनि ले मटी उडांनां ॥
 या जोगी की जुगति जु जानै, सो सतगुर का चेला ।
 कहै कबीर उन गुर की कृपा थै, तिति सब भरम पछेला ॥

शब्दार्थ—मिलान = मिलाने की क्रिया । असवार = जीवात्मा रूपी सवार ।
 फुरमायस = अनुनय-विनय, प्रार्थना । करक = सेना, विकारो की सेना । गढ = शरीर
 रूपी किला । भेली भेला = भेलना । वादशाह = साधक जीव । कूच = यात्रा ।
 मुकाम = गन्तव्य स्थान, परम पद । खटाना = कस के काम किया । फुनि = फिर ।
 पछेला = पीछे छोड़ दिया । मटी = मटिया, समाधिस्थ चेतना ।

संदर्भ—कबीर परमपद की प्राप्ति का निरूपण करते हैं ।

भावार्थ—(माया-मोह में फँसा हुआ) यह जीवन एक कोश का वीहड जगल
 है । इसमें न तो कोई परमात्मा से मिलने की क्रिया ही बताता है और न कोई
 उससे मिल ही पाता है । जीवात्मा-रूपी यह घुडसवार अपनी जीवन-यात्रा में अकेला
 ही है । वह ससार रूपी जगल को पार करने के लिए अनेक साधनाओं में भटकता
 है । (काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं मत्सर) विकार पूरी सेना एकत्र करके जीव को
 शरीर-रूपी गढ में ही घेर लेते हैं । गढ में आवद्ध जीव का धर्म ही अनेक कण्टो को
 भेलना है । परन्तु साधक जीव रूप राजा अपनी साधना रूपी सेना का सचय करके
 उस शरीर रूपी किले के घेरे को तोड़कर बाहर आ जाता है अर्थात् देहाव्यास एवं
 विषयासक्ति को छोड़ देता है । इस प्रकार वह जीवन के इस सघर्ष को खेल के रूप
 खेलकर अपने गन्तव्य परमपद की ओर प्रस्थान कर देता है । इस यात्रा में वह
 कायायोग में निवास करता है और कायायोग की साधना में उसको कुछ समय तक
 कठिन श्रम करना पड़ता है । उसके बाद अपने आसन पर शरीर की मिट्टी को
 साक्षी रूप छोड़कर वह अपनी समाधिस्थ चेतना को लेकर चला जाता है । जो इस
 प्रकार के योग करने वाले साधक की साधना को समझता है, वही सद्गुरु का सच्चा
 शिष्य है अर्थात् सद्गुरु की कृपा प्राप्त करके ही यह साधना की जा सकती है ।
 कबीर कहते हैं कि उसी गुरु की कृपा से योगी साधक सम्पूर्ण भ्रमों को पीछे छोड़
 कर परम पद को प्राप्त करता है ।

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति—पूरा पद ।

(11) छेकानुप्रास—मिलाननि मेला, असवार अकेला, भेली भेला,
 खेलि खेला । जोगी, जुगति ।

विशेष—(1) जीवन-सग्राम का सुन्दर रूपक है । इस पद में पारमार्थिक
 जीवन क्रम का उल्लेख है ।

(11) कायायोग साधना न होकर साधन मात्र ही है ।

(111) गुरु की महिमा व्यजित है ।

(iv) ले मठी उडाना—समाधिस्थ चेतना द्वारा वह ब्रह्मलीन हो जाता है—
 भूल उठी भोली जली खपरा फूटिम फूटि ।
 जोगी था सो रमि गया, आसन रही विभूति ।

राग झारू

(३२०)

मन रे राम सुमिरि, राम सुमिरि, राम सुमिरि भाई ।
 राम नाम सुमिरन बिनां, बूड़त है अधिकाई ॥ टेक ॥
 दारा सुत गेह नेह, सपति अधिकाई ।
 यामै कछू नांहि तेरौ, काल अवधि आई ॥
 अजामेल गज गनिका, पतित करम कीन्हां ।
 तेऊ उतरि पारि गये, राम नाम लीन्हां ॥
 स्वांन सूकर काग कीन्हौ, तऊ लाज न आई ।
 राम नाम अमृत छाड़ि, काहे विष खाई ॥
 तजि भरम करम विधि नखेद, राम नाम लेही ।
 जन कबीर गुरु प्रसादि, राम करि सनेही ॥

शब्दार्थ—नखेद=निषेध । दारा=स्त्री । करम=कर्म-काण्ड ।

सदर्थ—कबीर राम-नाम की महिमा का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—रे मेरे भाई मन, राम का स्मरण करो, राम का स्मरण करो, राम का स्मरण करो । राम नाम के स्मरण के बिना इस भव सागर में और अधिक डूब जाओगे अर्थात् माया मोह में अधिकाधिक लिप्त होते जाओगे । स्त्री, पुत्र, धर एष इनके प्रति स्नेह तथा अतुल सम्पत्ति इनमें तेरा कुछ भी नहीं है । अपना समय आने पर ये सब नष्ट हो जाएँगे । अथवा तेरे जीवन की अवधि समाप्ति के निकट आ रही है और ये सब तुझ से छूट जाएँगे । अजामिल, हाथी और पिंगला वेष्या ने नीच कर्म किए । परन्तु राम का नाम लेने से वे भी ससार-सागर के पार हो गए । अर्थात् उनका भी उद्धार हो गया । रे जीव, तुम कुत्ता, सूअर, कौआ आदि जैसी निम्न योनियों में भटक चुके हो, परन्तु तुमको तब भी पाप कर्म करते हुए शर्म नहीं आती है । तुम राम भक्ति रूपी अमृत को छोड़कर विषयासक्ति रूपी विष का सेवन करते हो । तुम अन्य साधनाओं के द्वारा उद्धार की सम्भावना के भ्रम तथा कर्म काण्ड के विधि-निषेध को छोड़कर राम के नाम का स्मरण करो । भक्त कबीरदास कहते हैं कि तुम गुरु की कृपा-प्राप्त करो और भगवान राम के प्रति अनुरक्त हो जाओ ।

अलंकार—(i) पुनरुक्ति प्रकाश—राम सुमिरि की आवृत्ति ।

(ii) गूढोक्ति—तेऊ पार—लीन्हा ।

(iii) रूपक—राम नाम अमृत ।

(iv) रूपकातिशयोक्ति - विष ।

(v) पदमैत्री—भरम करम ।

विशेष—(1) कवीर ज्ञानी भक्त के रूप में प्रकट हैं ।

(ii) तजि करम विधि निषेद - कवीर शास्त्र विहित कर्मकाण्ड के प्रति विरोध प्रकट करते हैं ।

(iii) पौराणिक आरकानों की परम्परा का प्रयोग है । यहाँ कवीर वैष्णव भक्तों की परम्परा में दिखाई देते हैं—

मैं हरि पतित पावन सुनै ।

× × ×
 व्याध गनिका गज अजामिल साखि निगमन भने ।
 और अवम अनेक तारे जात कापै गने ।
 जानि नाम अजानि लीन्हे नरक जमपुर मने ।
 दास तुलसी सरन आयो, राखिये अपने ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(iv) प्रयुक्त पौराणिक आख्यान इस प्रकार हैं—

अजामेल (अजामिल)—अजामिल एक ब्राह्मण था । वह बड़ा पापी था । उसके पुत्र का नाम 'नारायण' था । मृत्यु के समय उसने अपने पुत्र 'नारायण' को नाम लेकर पुकारा । 'नारायण' की पुकार सुनते ही भगवान के दून वहाँ आगए और यमदूतों से उसको छुड़ाकर भगवान के घाम को ले गये । इस प्रकार भगवन्नाम स्मरण मात्र से अजामिल का उद्धार हो गया ।

(ख) गज (गजेन्द्र या गजराज)—हाथियों का एक अत्यन्त बलवान राजा था । उसे अपने बल का बड़ा घमण्ड था । एक वार जब वह नदी में पानी पी रहा था, तब एक मगर ने उसका पैर पकड़ लिया । हाथी ने पूरा जोर लगाया, परन्तु मगर ने उसका पैर नहीं छोड़ा । उलटे वह हाथी को जल के भीतर खींच ले गया । जब हाथी की सूँड का ऊपरी भाग ही पानी के ऊपर रह गया, तब आर्त स्वर से उसने भगवान को पुकारा । उसकी पुकार सुन कर भगवान उसके रक्षार्थ भागे और उन्होंने सुदर्शन चक्र द्वारा मगर का वध करके गजराज का उद्धार किया ।

(ग) गनिका—यह पिगला नाम की वेश्या थी । एक वार अपने व्यवसाय से निराश होकर उसने भगवान के भजन का सकल्प कर लिया था और इसका उद्धार हो गया ।

इसकी कथा एक अन्य प्रकार भी है । यह वेश्या अपने तोते को राम-राम पढा रही थी । बस, इसी राम-नाम उच्चारण से उसका उद्धार हो गया था—सुवा-पढ़ावत गणिका तारी । तारी मीराबाई । इत्यादि ।

(३२१)

रांम नांम हिरदै धरि, निरमोलिक हीरा ।
 सोभा तिहूं लोक, तिमर जाय त्रिवधि पीरा ॥ टेक ॥
 भिसनां ने लोभ लहरि, कांम क्रोध नीरा ।
 मद मछर कछ मछ, हरषि सोक तीरा ॥
 कांमनी अरु कनक भवर, बोये बहु बीरा ।
 जन कबीर नवका हरि, खेवट गुरु कीरा ॥

शब्दार्थ—निरमोलिक—अमूल्य, बहुमूल्य, । तिमर=तिमिर, अन्धकार, अज्ञान । बोये=डुबोये । कीरा=कीट=शुकदेव । यदि पाट कोरा है, तो अर्थ 'केवल' होगा ।

संदर्भ—कबीरदास गुरुप्रसाद और हरि कृपा द्वारा भव सागर पार करने का उपदेश देते हैं ।

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि रे जीव, तुम हृदय मे राम नाम रूपी बहुमूल्य हीरे को अपने हृदय मे धारण करो । इससे तीनो लोकों मे तेरी शोभा (इज्जत) होगी तथा तेरा अज्ञानान्धकार एवं तेरे तीनो प्रकार (दैहिक, दैविक, भौतिक) कष्ट नष्ट हो जाए गे । (भव सरिता मे) काम और क्रोध रूपी जल भरा हुआ है, इसमे लोभ और तृष्णा की लहरें उठती रहती हैं, इसमे मद और मत्सररूपी मछलियां और कछुए हैं, सुख और दुःख इसके किनारे हैं तथा इसमे कामिनी और कचन रूपी भँवरें पड रही हैं । इस भव नदी मे अनेक वीर डूब चुके हैं । भगवान के भक्त कबीरदास कहते हैं कि भव-नाम की नाव तथा गुरु शुकदेव रूपी केवट के सहारे ही इसको पार किया जा सकता है । अथवा यह कहिए कि इसको पार करने के लिए भगवन्नाम ही नाव है और केवल गुरु ही इस नौका का केवट है ।

अलंकार—(1) साग रूपक—पूरा पद ।

(II) व्यतिरेक की व्यंजना—निरमोलक हीरा ।

(III) छेकानुप्रास—तिमिर, त्रिविध । लोभ लहरि, काम क्रोध, मद मछर ।

(IV) पदमैत्री—कछ मछ ।

(V) वृत्यानुप्रास—बोये बहु बीरा ।

(VI) श्लेष पुष्ट रूपक—तिमर

विशेष—(1) त्रिविध पीर—दैहिक=शारीरिक । दैविक=देवकृष्ण । भौतिक=अत सम्बन्धी ।

(II) त्रिपत्ता—तृष्णा भोग की इच्छा, अप्राप्त वस्तु को पाने की तीव्र इच्छा । बुद्ध ने इन्ही को 'तनहा' कहा है । इसी के वशीभूत होकर जीवात्मा जन्म धारण करने को प्रेरित होता है ।

(111) हरषि सोक तीरा—प्रत्येक कार्य की परिप्रगति इष्ट की प्राप्ति (सुख) अथवा इष्ट के वियोग एव अनिष्ट की प्राप्ति (दुख) में होती है ।

(111) वीर काम क्रोधादि पर विजय प्राप्त करने के लिए साधना करने वाला ही 'वीर' है । जैन धर्म के 'जिन' का अर्थ 'वीर' ही है । गोस्वामी तुलसीदास ने भी लिखा है कि—

महा अजय संसार रिपु जीति सकय सो वीर ।

(रामचरितमानस)

(३२२)

चलि-मेरी सखी हो, वो लगन राम राया ।

जब तब काल बिनासै काया ॥ टेक ॥

जब लग लोभ मोह की दासी, तीरथ व्रत न छूटै जम की पासी ।

आवैगे जम के घालैगे बांटी, यहु तन जरि बरि होइगा माटी ॥

कहै कबीर जे जनहरि रगिराता, पायौ राजा राम परम पद दाता ।

शब्दार्थ—लगन=प्रेम । बांटी=कुचल कर ।

सदर्थ—कबीरदास भगवद् भक्ति का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—रे मेरी जीवात्मा सखी ! तू राजा राम के प्रेम में मग्न हो जाओ ।

यह काल किसी भी क्षण इस शरीर को नष्ट कर सकता है । तुम जब तक लोभ और मोह की दासी हो तथा वीर-व्रत आदि के फेर में पड़ी हुई हो, तब तक यम के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकोगी । यम दूत आएँगे और तुमको कुचल कर (पीस-पास कर) मार डालेंगे । तुम्हारा यह शरीर जल-जल कर मिट्टी हो जाएगा । कबीरदास कहते हैं कि जो लोग राम के प्रेम में अनुरक्त हैं, वे उन राजा राम को प्राप्त करते हैं जो परम पद को देने वाले हैं ।

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति सखी ।

(11) जरि बरि, जब तब, बांटी माटी ।

(111) विशेषोक्ति की व्यजना तीरथ पासी ।

(1V) वृत्यानुप्रास—पायौ, परम पद ।

विशेष—(1) बाह्याचार का विरोध है ।

(11) राम-भक्ति की महिमा का प्रतिपादन है ।

(111) 'सखी' शब्द जीवात्मा अथवा अन्तःकरण की वृत्ति के लिए उपलक्षण है ।

(३२३)

तू पाक परमानंदे ।

पीर पैकंबर पनह तुम्हारी, मै गरीब क्या गदे ॥ टेक ॥

तुम्ह दरिया सबही दिल भीतरि, परमानंद पियारे ।

नैक नजरि हम ऊपरि नांही, क्या कमिबखत हमारे ॥

हिमकति करे हलाल बिचारै, आप कहांवै मोटे ।
चाकरी चोर निवालै हाजिर, साईं सेती खोटे ॥
दाइम दूवा कम्द बजावै, मैं क्या करूं भिखारी ।
कहै कबीर मैं बंदा तेरा, खालिक पनह तुम्हारी ॥

शब्दार्थ—पीर=मुसलमानो के धर्म गुरु, धर्मगुरु । पैकंवर=पैगबर — पैगामबर, ईश्वर का दूत (मुहम्मद साहब) । गदे=गदा (फारसी), भिखारी, रक निर्धन । दरिया=नदी । कमिबखत=दुर्भाग्य । हिकमति=चिकित्सा, युक्तियाँ । हलाल=पशु हिंसा । मोटे=बड़े । निवालै=भोजन के समय । साईं=स्वामी । सेती=से, प्रति । खोटे=बुराई करने वाले । दाइम=दामन (अरबी शब्द), सदैव, उम्रभर । दूवा=छुरी, चाकू । दूवा=दुआ । बदा=सेवक । खालिक=सृष्टिकर्ता ।

सन्दर्भ—कबीरदास भगवान से शरणागति की प्रार्थना करते हैं ।

भावार्थ—हे भगवान तू पवित्र और परमानन्द स्वरूप हो । धर्मगुरु और मोहम्मद साहब जैसे तेरे सदेश-वाहक भी जब तेरी शरण में रहते हैं, तब मुझ गरीब भिखारी की तो गिनती ही क्या है ? हे प्यारे परमानन्द, तुम दया की नदी स्वरूप होकर सबके हृदय में निवास करते हो । यह मेरा कैसा दुर्भाग्य है कि मेरे ऊपर आपको जरा भी दया दृष्टि नहीं है । लोग दूसरों को उद्धार की युक्तियाँ बताते हैं और स्वयं हृदय में हिंसा धारण करते हैं । ऐसे ही व्यक्ति बड़े कहे जाते हैं । व्यक्ति भगवान की सेवा से जी चुराते हैं, अर्थात् कर्तव्य का पालन ठीक तरह से नहीं करते हैं परन्तु भोजन के समय सदैव प्रस्तुत दिखाई देते हैं और इस प्रकार स्वामी के प्रति सदोप व्यवहार करते हैं । ये लोग उम्र भर दुआ मागते हैं और छुरी चलाते हैं (हिंसा करते हैं । इन्हीं का सम्मान होता है) । इन लोगों पर मुझ भिखारी का क्या वश चल सकता है ? कबीरदास कहते हैं कि मैं तो सेवक हूँ । हे सृजन हार, मैं तुम्हारी शरण में हूँ—मेरे ऊपर अनुग्रह कर दीजिए ।

अलंकार—(1) अनुप्रास—पीक पैकवर पनह ।

(II) छेकानुप्रास—पाक परमानन्दे, दरिया दिल, चाकरी चोर साईं सेती, दाइम दूवा, हिकमति हलाल ।

(III) वक्रोक्ति—मैं . . . गदे ?

(V) श्लेष पुष्ट रूपक . . . दरिया ।

(IV) गूढोक्ति—क्या . . . हमारे ।

(VI) विपम—चाकरी . उजावै ।

विशेष—(1) धर्म के ठेकेदारों के प्रति करारा व्यंग्य है ।

(ii) इस पद में कबीर ने काजी-मुल्लाओं के मास भक्षण के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त किया है ।

(iii) फारसी-अरबी के शब्दों के प्रयोग ने भावाभिव्यक्ति को सर्वथा स्वाभाविक बना दिया है ।

(३२४)

अब हम जगत गौहन तै भागे,

जग की देखि गति रांमहि ढूरि लागे ॥ टेक ॥

अयांन पनै थैं बहु बौरानें, संमझि परी तब फिरि पछितानें ।

लोग कहौ जाकै जो मनि भावै, लहै भुवगम कौन डसावै ॥

कबीर बिचारि इहै डर डरिये, कहै का हो इहां नै मरिये ।

शब्दार्थ - गौहन = गोहन, सग साथ । ढूरि लागे = ढुलक गये, भुक गये ।

अयांन = अज्ञान । भुवगम = सर्प, मोह भ्रम ।

सन्दर्भ—कबीरदास ज्ञान-दशा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—अब मैं जगत के प्रति आसक्ति को त्याग रहा हूँ । ससार का जो दुःख दायी ढग है, उसको देखकर अब मैं भगवान की ओर भुक गया हूँ । अज्ञान के कारण मैंने माया मोह के वशीभूत होकर अनेक पागलपन के काम किये । परन्तु अब ज्ञान हो जाने पर मैं अपने किए हुए कर्मों पर पश्चाताप कर रहा हूँ । मेरे बारे में लोग जो चाहें सो कहे । परन्तु मैं अब भगवद्प्रेम के मार्ग को नहीं छोड़ूँगा । ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भ्रम एव मोह रूपी सर्प कोई क्योकर डसावेगा ? कबीर खूब सोच-समझ कर कहते हैं कि विषय-वासना रूपी सर्प के डर से डरते रहना चाहिए । किसी के कहने से क्या होता है ? विषयासक्ति में फँस कर अपना जीवन नष्ट नहीं करना चाहिए ।

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति—भुवगम ।

(11) वक्रोक्ति पुष्ट निदर्शना लहै ' डसावै ।

(111) गूढोक्ति—कहै का हो ।

विशेष—ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् विषयासक्ति का सर्प सदृश भयावह प्रतीत होना सर्वथा स्वाभाविक है । विषयासक्ति और ज्ञानावस्था परस्पर विरोधी हैं । समभाव की अभिव्यक्ति देखे—

मैं अब नाच्यो बहुत गुपाल ।

काम क्रोध को पहिरि चोलना कण्ठ विषय की माल । (सूरदास)

तथा— अबलों नसानी, अब न नसैहों ।

×

×

×

मन मधुकर पन कै तुलसी, रघुपति-पद-कमल बसैहों ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(३२५)

राग भैरु

ऐसा ध्यान धरौ नरहरी,

सबद अनाहद च्यतन करी ॥ टेक ॥

पहली खोजौ पंचे बाइ, बाइ व्यंद ले गगन समाइ ॥

गगन जोति तहां त्रिकुटी सधि, रवि ससि पवनां मेलौ बधि ॥

मन थिर होइत कवल प्रकासै कवला मांहि निरंजन बासै ॥
 सतगुरु सपट खोलि दिखावै, निगुरा होइ तो कहां बतावै ॥
 सहज लछिन ले तजो उपाधि, आसण दिह निद्रा पुनि साधि ॥
 पुहुप पत्र जहां हीरा मणीं, कहै कबीर तहां त्रिभुवन धणीं ॥

शब्दार्थ—बाइ = पच प्राण । व्यद = बिंदु, शरीर । गगन = शून्य, ब्रह्मरन्ध्र
 रवि ससि = सूर्य और चन्द्र नाडिया, इडा पिंगला । कवल = कमल, सहस्रार
 कमल । प्रकाश = खिलता है । निरंजन = निर्गुण निराकार ब्रह्म । सपट = सपुट,
 पुष्प कोष, डब्बा । निगुरा = बिना गुरु का जिसने गुरु से दीक्षा न ली हो ।
 उपाधि = जगत के धर्म । निद्रा = समाधि । पुहुप पत्र = सहस्रदल कमल । हीरा
 मणि आत्मानन्द रूप द्वबहु मूल्य पदार्थ ।

संदर्भ—कबीरदास कायायोग का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—रे जीव, भगवान नरहरि का गम्भीर रूप से ध्यान करो और
 अनहद शब्द का चिन्तन करो । पहले पच प्राणों के स्वरूप का अनुसन्धान करो और
 शरीर की प्राणवायु लेकर ब्रह्मरन्ध्र में समाहित करो । त्रिपुटी की सन्धि में ही
 गगन ज्योति (दिव्य ज्योति) के दर्शन होते हैं । सुषुम्ना में ऊपर की ओर चढ़ने
 वाली प्राणवायु इडा और पिंगला नाडियों के मध्य समन्वय स्थापित कर देती है ।
 इससे मन स्थिर होता है और सहस्रार कमल प्रकाशित होता है । उसी कमल में
 निराकार निरंजन का निवास है । सतगुरु इस कमल का संपुट होकर साधक शिष्य
 को निरंजन के दर्शन करा देता है । परन्तु जिसने गुरु से दीक्षा नहीं ली है, उसको
 इस विषय में कभी बताया जाए अर्थात् गुरु के बिना निरंजन का दर्शन ही ही नहीं
 सकता है । अतः गुरु से दीक्षा लेकर सहज स्वरूप का साक्षात्कार करो और सासा-
 रिक उपाधियों (स्थूल जगत के धर्मों) को छोड़ दो । आसन जमा कर बैठ जाओ
 और समाधिस्थ होने का प्रयत्न करो (अज्ञान रूपी निद्रा पर अधिकार करने की
 साधन करो) । कबीर कहते हैं कि सहस्रार कमल के पत्तों के मध्य में ही आनन्द
 रूप हीरा-मणि है और वही पर त्रिभुवन पति का निवास है (उसी परम तत्त्व में
 ध्यान लगाओ और उसी का चिन्तन करो) ।

अलंकार—(1) वक्रोक्ति—निगुराबतावै ।

विशेष—(1) नाथ सम्प्रदाय के प्रतीको का सुन्दर प्रयोग है ।

(II) कायायोग की साधना का सुन्दर वर्णन ।

(III) कायायोग साधन मात्र है ।

(IV) पचवायु—पच प्राण । यथा-प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान ।

(३२६)

इहि विधि सेविये धी नरहरी,

मन की दुविध्या मन परहरी ॥ टैंक ॥

जहां नहीं जहां नहीं तहां कछू जांणि, जहां नहीं तहां लेहु पछांणि ॥

नाहीं देखि न जइये भागि, तहां नही तहां रहिये लागि ॥
 मन मजन करि दसवै द्वारि, गंगा जमुना सधि विचारि ॥
 नादहि ब्यंद कि ब्यदहि नाद, नादहि ब्यद मिलै गोब्यंद ॥
 गुणातीत जस निरगुन आप, भ्रम जेवडी जग कीयौ साप ॥
 तन नाहीं कब्र जब मन नांहि, मन परतीत ब्रह्म मन मांहि ॥
 परहरि बकुला ग्रहि गुन डार, निरखि देख निधि वार न पार ॥
 कहै कबीर गुर परम गियांन, सुनि मंडल मै धरौ धियांन ॥
 प्यड परें जीव जैसे जहां, जीवन ही ले राखौ तहां ॥

शब्दार्थ—दसवें द्वारि=ब्रह्मरन्ध्र । जेवडी=रस्सी । बकुला=बल्कल,
 त्रिगुणात्मक आवरण । ग्रहि=पकडो । गुनडार=तात्त्विक गुण ।

सदर्थ—कबीरदास कायायोग की साधना का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—भगवान नरहरि की सेवा इस प्रकार करनी चाहिए कि मन की
 दुविधाओ का मन त्याग कर दे । जहाँ पर तुमको कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता है,
 वहाँ भी उस तत्त्व वस्तु को पहचानो । उसी अगोचर तत्त्व मे जगत् है । उसको
 पहचानने का प्रयत्न करो । जहाँ तुमको कुछ भी न दिखाई दे, वहाँ से भागो मत ।
 जहाँ गोचर तत्त्व न हो, वहाँ उसकी अनुभूति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील बने
 रहना चाहिए । (शून्य में विराजमान परमतत्त्व मे अपना मन रमाओ) । मन को
 आसक्ति रहित करके पवित्र करो और उसको ब्रह्मरन्ध्र मे पहुँचा दो । इडा और
 पिंगला के मिलन-स्थल (त्रिपुटी) पर ध्यान एकाग्र करो । इस प्रकार ध्यान करो
 कि नाद-रूप परमतत्त्व ही सृष्टि-तत्त्व रूप बिन्दु है अथवा बिन्दु ही नाद है । इनमे
 से कौन सा तत्त्व-नाद अथवा बिन्दु-यथार्थ एव मूल तत्त्व है । यह भी ध्यान करो कि
 ये नाद और बिन्दु दोनों गोविन्द (परम प्रभू) मे ही समाहित हैं । इस स्थिति की
 प्राप्ति होने पर न देवी-देवता रह जाते हैं और न पूजा एव जप रह जाते हैं, न भाई-
 बन्धु रह जाते हैं और न माता-पिता ही रह जाते हैं । स्वयं साधक गुणातीत होकर
 निर्गुण ब्रह्म के समान हो जाता है । यह जगत तो केवल रस्सी मे भ्रम से आरोपित
 सर्प सदृश ही प्रतीत होने लगता है । जब सकल्प-विकल्पात्मक मन का लय हो जाता
 है, तब शरीर भी नहीं रह जाता है । (उसका पुनर्जन्म नहीं होता है) । आत्मस्वरूप
 के प्रति निष्ठा जागने पर ब्रह्म-साक्षात्कार होने लगता है । त्रिगुणात्मक उपाधियों
 को छोडकर तात्त्विक गुण की डाल को पकड लो और फिर उस अनन्त परमतत्त्व के
 दर्शन करो । कबीर कहते हैं कि परम ज्ञानी गुरु का उपदेश है कि शून्यमण्डल मे
 अपना ध्यान एकाग्र करो । इस शरीर को छोडने पर जीव जिस अवस्था को प्राप्त
 होता है, उस अवस्था की प्राप्ति इस शरीर द्वारा ही कर लो । भाव यह है कि
 उपाधि के समाप्त होने पर व्यष्टि चैतन्य जिस परम चैतन्य मे लवलीन हो जाता है,
 शरीर धारण किए हुए ही जीव-चैतन्य की उसी परम चैतन्य मे प्रतिष्ठा बनाए
 रखने की साधना ही काम्य है ।

- अलंकार—(1) विरोधाभास—मन की.....परहरी । व्यजतहाँ ।
 (ii) विभावना की व्यजना—जहाँ ...पछाणि । जहाँ ...लागि ।
 (iii) सदेह की व्यजना—नादहि ... नाद ।
 (iv) सभग पद यमक—व्यद गो व्यद । नादहि नाद ।
 (v) उपमा—गुणातीत जस आप ।
 (vi) रूपक—भ्रमजेवणीसाप । परिहरि..... डाटि ।
 (vii) अतिशयोक्ति—वार न पार ।
 (viii) पदमैत्री—निरखि देखि, वार न पार ।

विशेष—(1) नाथ सम्प्रदाय के प्रतीको का वर्णन है ।

(ii) कायायोग की प्रक्रिया का वर्णन है उसके माध्यम से ज्ञान, उपासना एवं भक्ति का समन्वय प्रस्तुत किया है ।

(iii) नाद सूक्ष्म जीव तत्व है और बिन्दु सूक्ष्म शरीर तत्व है ।

(iv) व्यष्टि की चेतना का विश्व चेतना में पर्यवसान ही साध्य है । इसी का प्रतिपादन है ।

(३२७)

अलह अलख निरंजन देव,

किहि मिधि करौ तुम्हारी सेव ॥टेक॥

बिहन सोई जाको विस्तार, सोई कृस्न जिनि कीयौ ससार ।

गोब्यद ते ब्रह्मंडहि गहै, सोई राम जे जुगि जुगि रहै ॥

अलह सोई जिनि उमति उपाई, दस दर खोलै सोई खुदाई ।

लख चौरासी रव परवरै, सोई करोम जे एती करै ॥

गोरख सोई ग्यांन गमि गहै, महादेव सोई मन की लहै ।

सिध सोई जो साधै इती, नाथ सोई जो त्रिभुवन जती ॥

सिध साधू पैकंवर हूवा, जपै सु एक भेष है जूवा ।

अपरंपार का नांउ अनत, कहै कबीर सोई भगवत ॥

शब्दार्थ—अलह=अल्लाह, अलम्य । 'अलख' एवं 'निरंजन' के संदर्भ में 'अलम्य' ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । अलख=अलक्ष्य । निरंजन=माया रहित । उमति=उम्मत=सम्प्रदाय । रव=परमेश्वर, पालन पोषण करने वाला ।

संदर्भ—कबीरदास नामो की विभिन्नता बताते हुए ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—हे अलम्य, अलक्ष्य तथा मायारहित भगवान ! मैं आपकी सेवा किस प्रकार करूँ ? विष्णु वही है जो सर्वत्र व्याप्त है, कृष्ण वही है जिसने सारे ससार की सृष्टि की है, गोविन्द वही है जो ज्ञान से ब्रह्माण्ड को ग्रहण करता है, राम वही है जो युग युगान्तर तक व्याप्त है । अल्लाह वही है जिसने पैगंबर के नाम पर सम्प्रदाय उत्पन्न किया । जो इस शरीर के दस द्वारों (अथवा दसम् द्वार ब्रह्मरन्ध्र)

को खोलकर ज्ञान प्रदान करता है, वही 'खुदा' है। जो चौरासीलाख योनियो का पालन-पोषण करता है, वही वास्तव में 'रब' (ईश्वर) है। इतनी उदारता दिखाने वाला ही वास्तव में करीम (दया करने वाला) है। गोरख वही है जो ज्ञान द्वारा प्राप्त तत्व का साक्षात्कार कर लेता है। जो मन की बात को अन्तर्यामी होकर ग्रहण करता है, वही महादेव है। सिद्ध पुरुष वही है जो साधना द्वारा इतने तत्वों को जानता है। 'नाथ' वही है जो त्रिभुवन (सर्वज्ञ) यती (सयतेन्द्रिय) बन कर रहता है। सिद्ध, साधु, पैगम्बर आदि जो भी हुए हैं, वे सब एक ही तत्व का जप करते हैं। उसके भेष तो भिन्न-भिन्न रहे हैं अर्थात् ये भेद तो बाहरी आडम्बर मात्र हैं। वह तत्व अपार है और उसके अगणित काम हैं। कबीर कहते हैं कि अनेक कामों द्वारा अभिव्यक्त वह एक परम तत्व ही भगवान है।

अलकार—(1) छेकानुप्रास—अलह, अलख, विष्णु विस्तार दस दर।

(II) पुनरुक्तिप्रकाश—जुगि श्रुगि।

(III) वृत्यानुप्रास—सिध साई साधै।

(IV) एक ही तत्व के अनेक नाम।

(V) परिकरांकुर—कई नाम साभिप्राय है, जैसे अलह, अलख, करीम।

विशेष—(1) विष्णु आदि विभिन्न भगवान न होकर विभिन्न तत्व हैं। यह है कबीर की वैज्ञानिक बुद्धिवादी दृष्टि।

(II) परमात्मा मायारहित है। जीवन की क्रियाएँ माया द्वारा आवद्ध या ससीम है। इसी से परमात्मा की सेवा सम्भव नहीं है। उसका तो ध्यान मात्र ही किया जा सकता है।

जो जहन में आगया, वह खुदा कैसे हुआ ?

(III) उस एक परम तत्व के ही विभिन्न कार्यों के कारण विभिन्न नाम हैं। एक ही व्यक्ति पिता, पुत्र, पति, चाचा भाई आदि कहा जाता है।

(IV) अद्वैतवाद का सुन्दर प्रतिपादन है।

(V) इस पद में कबीर ने विभिन्न सम्प्रदायों में भगवान के लिए प्रयुक्त होने वाले विभिन्न कामों के मूल में रहने वाली भावना का उद्घाटन किया है। वे भगवान के विभिन्न गुणों के बोधक शब्द हैं। जो जिस गुण का साक्षात्कार कर लेता है, वह उसी के आधार पर भगवान का नामकरण कर लेता है। इस प्रकार वे विभिन्न नाम इन गुणों की उपाधि से उमी एक तत्व के व्यञ्जक हैं। प्रत्येक नाम के द्वारा उसी एक ही तत्व की उपासना ही वास्तव में सच्ची उपासना है। शेष केवल साम्प्रदायिक आडम्बर मात्र हैं। इस प्रकार कबीर ने बौद्धिक दृष्टि से एव दार्शनिक आधार पर समस्त सम्प्रदाय के उपास्य एव उपासना में तात्त्विक अभेद स्थापित किया है।

(३२८)

तहां जौ राम नाम ल्यौ लागै,

तौ जुरा मरण छूटै भ्रम भागै ॥टेक॥

अगम निगम गढ़ रचि ले अबास, तहुवां जोति करै परकास ।
 चमकै बिजुरी तार अनत, तहां प्रभू बैठे कवलाकंत ॥
 अखड मंडिल मंडित मड, त्रि स्नान करै त्रीखड ।
 अगम अगोचर अभिअतरा, ताकौ पार न पावै धरणींधरा ॥
 अरध उरध विचि लाइ ले अकास, तहुवां जोति करै परकास ।
 टारचौ टरै न आवै जाइ, सहज सुनि मैं रह्यौ समाइ ॥
 अबरन बरन स्यांम नहीं पीत, हाहू जाइ न गावै गीत ।
 अनहद सबद उठै झणकार, तहां प्रभू बैठे समरथ सार ॥
 कदली पुहुप दीप परकास, रिदा पंकज मै लिया निवास ।
 द्वादस दल अभिअंतरि म्यत, तहां प्रभू पाइसि करिलै च्यत ॥
 अमिलन मलिन घांम नही छांहां, दिवस न राति नहीं है तहां ।
 तहां न ऊगे सूर न चद, आदि निरंजन करै अनंद ॥
 ब्रह्मंडे सो प्यंडे जांनि, मानसरोवर करि असनांन ।
 सोहं हसा ताकौ जाप, ताहि न लिपै पुन्य न पाप ॥
 काया मांहे जानै सोई जो बोलै सो आपै होई ।
 जोति मांहि जे मन थिर करै, कहै कबीर सो प्रांणी तिरै ॥

शब्दार्थ—गढ़=कपाल, शून्य, ब्रह्मरन्ध्र । बिजुरी=बिजली । कुण्डलिनी
 त्रिखण्ड=तीनो लोक, तीनों गुण । त्रिअस्नान=तीनो कालो मे (सदैव) स्नान करते
 हैं । धरणींधरा=शेषनाग । रिदा=हृदय ।

संदर्भ—कबीरदास प्रतीको के माध्यम से परम तत्त्व की अनुभूति-दशा की
 व्यंजना करते हैं ।

भावार्थ—सहस्रार कमल मे विराजमान राम मे यदि ध्यान लगजाता है, तो
 जरा-मरण का बन्धन छूट जाता है और समस्त अज्ञान जन्य भ्रम समाप्त हो जाता
 है । ब्रह्मरन्ध्र रूपी किले मे एक आवास बना हुआ है । वहाँ तक चेतना का पहुँचना
 अत्यंत कठिन है और वहाँ पहुँचने पर समस्त गति समाप्त हो जाती है । (अर्थात्
 वहाँ पहुँच जाने पर पुनरावर्तन नहीं होता है) । वही पर ब्रह्म-ज्योति का प्रकाश
 होता है । वहाँ पर कुण्डलिनी रूपी बिजली चमकती है और अनन्त तारागण भी
 खिले हुए हैं । वही पर भगवान कमलाकांत विराजमान हैं । वही पर प्रकाश के
 अखण्ड मण्डलो से मंडित परम ब्रह्म की ज्योति के दर्शन होते हैं । इस ज्योति मे
 तीनो कालों मे (सदैव) इसके त्रिगुण रूप निमज्जित रहते हैं । यह अगम्य और
 अगोचर प्रकाश आभ्यन्तर तत्त्व है (गुहानिहित है) । शेषनाग भी इसका पार नहीं
 पा सके हैं । पिण्ड और ब्रह्माण्ड के मध्य मे व्याप्त गगन-तत्त्व का ध्यान करो । वही

पर ज्योति का प्रकाश भी है । सहज रूप से शून्य में प्रतिष्ठित रहने वाला यह चैतन्य-स्वरूप तत्व टस से मरा नहीं होता है और न उसका आवागमन ही होता है । न तो उसे वर्णहीन कहा जा सकता है और न उसका कोई वर्ण (रंग) ही बताया जा सकता है अर्थात् वह वर्णनातीत है । वह न काला है, न पीला है । वहाँ पर न हा-हू (शोरगुल) है और न गीत नाच ही है । अर्थात् वहाँ पर लौकिक शब्द नहीं होता है । वहाँ पर अनाहद नाद की मधुर झकार होती है । वही पर समर्थ एव सारभूत तत्व भगवान विराजमान हैं । कदली पुष्प के समान हृदय-कमल में उस दीपक स्वरूप ज्योति का प्रकाश है । हृदय-कमल में स्थित अनाहद चक्र के बारह पखड़ी वाले कमल के भीतरी भाग पर ध्यान केन्द्रित करो और उसी का चिन्तन करो । वही तुमको प्रभु का साक्षात्कार होगा । वहाँ न अपवित्रता है और न पवित्रता, न घूप है, न छाँह है, न दिन है न रात है, वहाँ न सूर्य का उदय होता है और न चन्द्रमा ही उदित होता है । ऐसे स्थल पर वह आदि निरजन पुरुष आनन्द पूर्वक निवास करता है । जो कुछ ब्रह्माण्ड में है उसको पिण्ड में जान लो । इस अभेद-ज्ञान रूप मुक्तावस्था को प्राप्त करके जो आत्म-स्वरूप रूपी मानसरोवर में स्नान करते हैं, निमग्न हो जाते हैं और ज्ञान स्वरूप होकर सोऽह (जीव-ईश्वर के अभेद द्वारा व्यजित चैतन्य) का शाश्वत ध्यान करते हैं, वे पाप-पुण्य से लिप्त नहीं होते हैं अर्थात् वे कर्म-बन्धन से परे हो जाते हैं । शरीर में उस परम तत्व को विराजमान जानकर, जो राम का नाम बोलता है वह आत्म-स्वरूप हो जाता है । कबीर कहते हैं कि जो व्यक्ति उस परम ज्योति में मन को दृढतापूर्वक लगा देते हैं अथवा जिनका मन अविचल भाव से इस परम ज्योति में लग जाता है, वे इस भवसागर से पार हो जाते हैं ।

अलकार—(i) रूपकातिशयोक्ति—प्रायः सम्पूर्ण पद में नाथ पथ के प्रतीको का प्रयोग हुआ है ।

(ii) सभग पद यमक—अवरन वरन, अमलिन मलिन,

(iii) पदमैत्री—अवास परकास, अगम निगम, अरध उरध ।
म्यत च्यंत ।

(iv) वृत्यानुप्रास—अगम अगोचर अभिअतरा, सहज सुनि समाइ,
गाहन गावै गीत,

(v) सम्बन्धातिशयोक्ति—पार न-धरणीधरा ।

(vi) विशेषोक्ति—टार्यो टरै न ।

(vii) छेकानुप्रास—टार्यो टरै । समरथ सार,

(viii) रूपक—रिदा पकज । मानसरोवर ।

विशेष—(i) परम तत्व को इन्द्रयातीत एव वर्णनातीत बताया है । वह लौकिक वाणी के प्रतीत है ।

(ii) तार अनंत—प्रतीयमान विरोधो का वहाँ सामजस्य है ।

(iii) 'हउ'—गीत—वह शब्द लोक-वाणी के परे है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने 'हउ' का अर्थ 'हाहू -- एक गधर्व विशेष लिखा है और इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है— "जहाँ पर न हाहू (गधर्व-विशेष) जाता है और न वह गीत गाता है।"

(iv) तहाँ न - ससार की इन सब वस्तुओं, प्रमेयों और बच्चो से परे का वह तत्व है।"

(v) जरा मरण छूटै तथा तहाँ न ऊँ सूर—इत्यादि। समभाव के लिए देखें—

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।

(श्रीमद्भगवद्गीता—१५/६)

(vi) नाथपथी प्रतीको का प्रयोग है।

(३२६)

एक अचंभा ऐसा भया,

करणीं थै कारण मिटि गया ॥टेक॥

करणी किया करम का नास, पावक माँहि पुहुप प्रकास ॥

पुहुप माँहि पावक प्रजरै, पाप पुंन दोऊ भ्रम टरै ॥

प्रगटी बास वासना धोइ, कुल प्रगट्यौ कुल घाल्यौ खोइ ॥

उपजो च्यत च्यत मिटि गई, भौ भ्रम भागा ऐसी भई ॥

उलटी गंग मेर कूँ चली, धरती उलटि अकासहि मिली ॥

दास कबीर तत ऐसा कहै, ससिहर उलटि राह कौ गहै ॥

शब्दार्थ—करणी=कार्य, साधना। कारण=(1) अज्ञान, (11) जन्म-मरण का मूलभूत कारण। पावक=(1) अग्नि, ज्ञान की अग्नि, (11) मूलाधार चक्र की चण्डाग्नि। पुष्प=(1) अनासक्ति का आनंद (11) सहस्रार कमल। पावक=(1) ज्ञानाग्नि, (11) निरजन रूपी परमतत्व। वास-वासना=(1) वासना-रूप दुर्गंध, (11) कमल से निकलने वाली सुगंध। कुल प्रगट्यौ=साधको के कुल का ज्ञान प्रकट हो गया है। कुल घाल्यौ=अज्ञान के कुल का नाश हो गया है। च्यत=ज्ञान। च्यत=सासारिक चिन्ताएँ। धरती=(1) जड माया, (11) मूलाधार चक्र। आकाश=(1) ब्रह्म, (11) शून्य चक्र, ब्रह्मरन्ध्र। ससिहर=चन्द्रमा (1) चैतन्य सहस्रार से निस्सृत अमृत। राहु=(1) अज्ञान, (11) विषयो का विष।

सन्दर्भ—इस पद में कबीर आत्म-स्वरूप प्राप्ति की साधना का वर्णन करते हैं। इस साधना के दो पक्ष हैं—(1) ज्ञान एवं भक्ति तथा (11) काया योग। इस पद का अर्थ दोनों ही पक्षों में पूर्णतः घटित हो जाता है। यथा—

ज्ञान एवं भक्ति परफ अर्थ—एक ऐसे आश्चर्य की बात होगई कि कार्य के द्वारा कारण समाप्त हो गया अर्थात् साधना के द्वारा अज्ञान का नाश होगया। साधना ने कर्तव्य के अभिमान एवं कर्मों के प्रति फलासक्ति को समाप्त कर दिया

और ज्ञान रूपी साधना की अग्नि में अनासक्ति का आनन्द रूपी पुष्प विकसित हो गया । अनासक्ति के इस पुष्प के मध्य ज्ञान की अग्नि जलती है । इससे पाप-पुण्य दोनों ही प्रकार की फलासक्ति भ्रमरूप होकर समाप्त होगई है । उस कमल की सुगन्ध के प्रकट होने से समस्त विषय-वासना समाप्त होगई है और कुल सासारिक बन्धनों को समाप्त करके पूर्ण ज्ञान का उदय हो गया है । चिन्तामणि स्वरूप भगवान का बोध जाग गया है और सासारिक चिन्ताएँ समाप्त होगई हैं । इससे कुछ ऐसी अनोखी बात होगई है कि सासारिक भ्रम दूर हो गया है । इन्द्रियो के प्रवाह (विषयासक्ति) की गंगा उल्टी होकर (विषयो से पराङ्मुख होकर) हिमालय पर्वत (उद्गम स्थल) की ओर चल दी है, अर्थात् इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होकर अपने मूलभूत कारण शुद्ध चैतन्य की ओर अभिमुख होगई हैं । जड माया (सासारिक विषय-वासनाओं की प्रवृत्ति) जो अभी तक बहिर्मुख थी, अब अन्तर्मुख होकर ज्ञान और भक्ति में समाहित होगई है । भक्त कबीर उस रहस्य का उद्घाटन करते हुए इस प्रकार कहते हैं कि इस स्थिति के प्राप्त होने पर चन्द्रमा उलट कर राहु को ही ग्रस लेता है अर्थात् चैतन्य अपने आपको आवृत्त करने वाले अज्ञान को खा जाता है ।

काया योग परक अर्थ — एक ऐसा आश्चर्य घटित होगया है कि योग की साधना से जन्म-मरण का मूलभूत कारण समाप्त हो गया । इससे कर्म के बन्धन भी समाप्त होगये । मूलाधार चक्र की चण्डाग्नि द्वारा विभिन्न चक्र विकसित होगये उनमें स्फूर्ति आगई । चक्र तेज युक्त हो गये और इससे पाप एवं पुण्य का भ्रम समाप्त हो गया । इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि— मूलाधार चक्र की चण्डाग्नि से सहस्रार कमल विकसित हो गया । इस कमल के निरजन रूपी परमतत्त्व अग्निवत् प्रज्वलित हो गया है और पाप-पुण्य का भ्रम समाप्त हो गया है ।

इस कमल में निकली हुई सुगन्ध ने सासारिक वासनाओं का कटमष घो डाला है । अथवा समस्त वासनाओं को समाप्त करके इन विभिन्न कमल-चक्रों की सुगन्ध प्रकट हुई है । अब पूर्ण तत्त्व का प्रकाश हो गया है तथा ससार मिट गया है । साधना से प्राप्त ज्ञान-रूपी चिन्तामणि के प्राप्त होने पर साँसारिक चिन्ताओं से मुक्ति मिल गई है और सबसे विचित्र बात यह हुई कि सासारिक सशय भी समाप्त हो गये हैं । कुण्डलिनी मूलाधार चक्र से उत्थित होकर सहस्रार की ओर चल दी है तथा कुण्डलिनी रूपी पृथ्वी की शक्ति शून्य-गगन तत्त्व में समाहित हो गई है । सहस्रार-कमल में उदित चन्द्रमा का अमृत विषयो के विपरूप राहु को आत्मसात् कर रहा है अर्थात् अमृतत्व पूर्ण आत्मानुभव मोह को नष्ट कर रहा है । कबीरदास ने ऐसे ही कायायोग के रहस्य को स्पष्ट किया है ।

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति—प्राय समस्त पद—करणी, कारण, पावक पुहुप इत्यादि ।

- (ii) विरोधाभास— करणी तें कारण का मिटना, करणी तें कारण का नास । उपजी च्यत—गई । ससिहर—गहै ।
- (iii) विषय—पावक माहिं पुहुप प्रकास, पुहुप माहि पावक प्रज रै ।
- (iv) वृत्यानुप्रास— करणी क्रिया करम, पावक पुहुप प्रकास । पुहुप पावक प्रजरै पाप पुन्य, भौ भ्रम, भागा ।
- (v) रूपक—वास—वासना, भौ भ्रम ।
- (vi) श्लेष—आद्यन्त
- (vii) यमक—कुल कुल, च्यत च्यत
- (viii) भेदकातिशयोक्ति की व्यजना—ऐसी भई ।

विशेष— (1) इस पद मे उलट बासी शैली की प्रतीकात्मकता दर्शनीय है ।

(ii) प्रतीको के माध्यम से परम तत्व की अनुभूति दशा की सुन्दर व्यजना है ।

(iii) इस पद मे कायायोग की साधना का सुन्दर वर्णन है ।

(iv) चक्र—देखे टिप्पणी पद सख्या ४, २१०

विकास देखे टिप्पणी पद सख्या ४ ।

उलट बासी—देखे टिप्पणी पद स ८०

शून्य गगन तथा निरजन—देखे टिप्पणी पद स १६४ ।

चितामणि—देखें पद स० १२३ । समभाव के लिए यह पद दृष्टव्य है—
अबलों नसानी, अब न नसैंहों ।

राम कृपा भव-निसा सिरानी, जागे पुनि न डसैंहों ।

पायो नाम चारुचितामनि, उर कर तें न खसैंहों ।

स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, त्रित कंचनहि कसैंहों ।

परबस जानि हँस्यौ इन इन्द्रिन, निज बस ह्वै न हँसैंहों ।

मन मधुकर पन कै तुलसी, रघुपति-पद-कमल बसैंहों ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(v) इस पद की कई पक्तियों के श्लिष्ट प्रयोग से ज्ञानयोग और कायायोग दोनों का अर्थ निकलता है । परन्तु विशेषता यह है कि दोनों का प्राप्य भ्रम नाश, ज्ञान तथा ईश्वर प्रेम है ।

(३३०)

है हजूरि क्या दूरि बतावै,

दुंदर वाँधे सुन्दर पावै ॥टेक॥

सो मुलनां जो मन सूँ लरै, अह निसि काल चक्र सूँ भिरै ॥

काल चक्र का मरदें मान, तां मुलनां कूँ सदा सलांम ॥

फाजी सो जो काया विचारै, अहनिसि ब्रह्म अगनि प्रजारै ॥

सुप्पनै बिद न देई झरनां, ता काजी कूं जुरा न मरणां ॥
 सो सुलितांन जुद्धै सुर तांनै, बाहरि जाता भीतरि आनै ॥
 गगन मंडल मै लसकर करै, सो सुलितांन छत्र सिरि धरै ॥
 जोगी गोरख गोरख करै, हिंदू राम नाम उच्चरै ॥
 मुसलमान कहै एक खुदाइ कबीरा कौ स्वांभी घटि घटि रह्यौ समाइ ॥

शब्दार्थ - हजूरि=समीप । दु दर=द्वन्द्व, भेदभाव । बाध=वश मे करले, अपने नियन्त्रण मे करले । मुलना=मुल्ला, मसजिद मे नमाज पढाने वाला । बिद न देई भरना=काम के वशीभूत न होना । जुटा=जटा, वृद्धावस्था । सुलतान=बादशाह । लसकर=लशकर, सेना ।

सन्दर्भ—कबीर पैगम्बरी मुसलमानो को उनकी सकुचित वृत्ति के प्रति सावधान करते हैं ।

भावार्थ—रे मुल्ला, वह भगवान तो तेरे पास है । तुम उसको दूर (सातवें आसमान पर) क्यों बताते हो ? जो अहंकार जन्य भेद-भावना पर नियंत्रण कर लेता है अर्थात् सम्प्रदाय-भावना के परे हो जाता है वही उस सुन्दर परम तत्त्व का साक्षात्कार करता है । असली मुल्ला वही है जो अपने मन के विकारो से सघर्ष करता है और रात-दिन काल चक्र से लडता है अर्थात् मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है । जो काल चक्र का मान नष्ट कर देता है अर्थात् मृत्यु (मृत्यु के भय) को जीत लेता है, वह मुल्ला सदैव वदनीय है । वास्तविक काजी वही है जो अपने शरीर मे विद्यमान चैतन्य-तत्त्व का चिन्तन करता है और इस प्रकार रात-दिन ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करता रहता है । जो काजी स्वप्न मे भी वीर्यपात नहीं होने देता अर्थात् कभी भी काम के वशीभूत नहीं होता है, उसको न वृद्धावस्था सताती है और न मृत्यु ही उसको व्यापती है । वास्तविक बादशाह वही है जो अपने श्वास प्रश्वास रूपी दो स्वरो को नियंत्रित रखता है और बाहर जाते हुए प्राणो को पूरक एव कुम्भक द्वारा भीतर ले जाता है, इस प्रकार नाव को ऊर्ध्व गति देते हुए युद्ध करता है । वही सुलतान सिर पर छत्र धारण करता है, अर्थात् राज्य का अधिकारी बनता है, जो शून्य मण्डल मे जाकर अपना डेरा डाल देता है अर्थात् अपनी चेतना को ब्रह्मरन्ध्र मे स्थित कर देता है । गोरखपथी योगी 'गोरख' जपता है, हिन्दू राम-नाम का उच्चारण करता है, मुसलमान कहते हैं कि उनका खुदा ही एक मात्र परमात्मा है, परन्तु कबीरदास कहते हैं कि उनका स्वामी (भगवान) प्रत्येक घट मे समाया हुआ है अर्थात् वह सर्वव्यापी है ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति—है—बतावै ।

(II) पदमैत्री—दु दर सुन्दर,

(III) रूपकातिशयोक्ति—द्वसुर, लसकर

(IV) यमक—गोरख गोरख,

(V) पुनर्क्ति=घट घट

विशेष—(1) इस पद मे साम्प्रदायिक भावना के ऊपर करारी चोट है।

(ii) कबीर का कहना है कि सभी सम्प्रदायो मे भेद-बुद्धि है। अतः ये अपने ईश्वर को एक विशेष रूप मे सीमित करके देखते हैं।

(iii) विभिन्न शब्दों के व्युत्पत्तिपरक अर्थ देकर मूल धर्म-भावना के उद्बोधन का प्रयास है।

(३३१)

आऊँगा न जाऊँगा, मरूँगा न जीऊँगा ।

गुरु के सबद मै रमि रमि रहूँगा ॥टेक॥

आप कटोरा आपै थारी, आपै पुरिखा आपै नारी ॥

आप सदाफल आपै नीबू, आपै मुसलमान आपै हिंदू ॥

आपै मछ कछ आपै जाल, आपै झीवर आपै काल ॥

कहै कबीर हम नांही रे नांही, नां हम जीवत न भुवले मांही ॥

शब्दार्थ—मुवले=मरे हुए। सदाफल=नारियल।

सन्दर्भ—कबीरदास जीवन के मिथ्यात्व द्वारा एक परम तत्त्व की सत्ता का प्रतिपादन करते हैं।

भावार्थ—शुद्ध चैतन्य का प्रतिनिधित्व करते हुए कबीर कहते हैं कि मैं, न जन्म लूँगा, न मरूँगा और न यह सामान्य जीवन ही व्यतीत करूँगा। मैं गुरु के उपदेश द्वारा प्रतिपादित परम तत्त्व (राय) मे ही रमता रहूँगा। आत्मा तत्त्व को सब कुछ बताते हुए वह कहते हैं कि वही थाली है और वही कटोरा है। वह स्वय ही पुरुष है, और वही नारी है। वही सदैव फलने वाला नारियल है, वही नीबू है, वही मुसलमान है और वही हिन्दू है। वही मछली है, वही कछुआ है। वही उनको फँसाने वाला जाल है, वही उस जाल को फँसाने वाला मछुआ है तथा वही उनको मारने वाला काल है। कबीरदास कहते हैं कि हमारा कोई किसी प्रकार का अस्तित्व नहीं है। हम न जीवित कहे जा सकते हैं और न मरे हुए ही कहे जा सकते हैं।

अलंकार—(1) पद मंत्री—आइँगा—जीऊँगा। मछ कछ।

(ii) पुनरुक्तिवदाभास—जाऊँगा मरूँगा।

(iii) उल्लेख—एक ही तत्त्व का विभिन्न रूपों मे वर्णन होने के कारण।

(iv) पुनरुक्ति प्रकाश—नाही रे नाही,

विशेष—(1) समस्त दृश्यमान जगत (रूपात्मक जगत) के मूल मे एक ही तत्त्व की सत्ता बताकर 'अद्वैत वाद' का प्रतिपादन है।

(ii) आऊँगा—रहूँगा—शुद्ध चैतन्य सर्वव्यापी एव सदा रहने वाला तत्त्व है। अतः उसका न आने का प्रश्न है और न जाने का, न जन्म का और न मरण का। जड माया चैतन्य मे विना गतिशील नहीं हो सकती है। जड मे गति, और

जन्म मृत्यु आदि की धारणा ही कथोकर की जाए ? अतः जन्मादिक, लोक-परलोक मे जाना आदि प्रतीति मात्र है ।

(111) कहै कबीर माँही । जीव की पृथक् सत्ता केवल मिथ्या प्रतीति मात्र है । पर वह माया के ससर्ग से पृथक् लगना है । शुद्ध आत्मतत्त्व के लिए जन्म-मरण शब्दों का व्यवहार व्यर्थ एव अनुपयुक्त है । प्राण तथा इन्द्रिय-व्यापार से असंपृक्त होने के कारण साधक जीव सामान्य व्यवहार मे जीवित नहीं है । परन्तु ससार का व्यवहार करते हुए प्रतीत होने के कारण मरे हुए भी नहीं कहे जा सकते हैं । इसी से न हम जीवित हैं और न मरे हुए मे ही हैं ।

(३३२)

हम सब माँहि सकल हम माँही,

हम थे और दूसरा नहीं ॥टेक॥

तीनि लोक मै हमारा पसारा, आवागमन सब खेल हमारा ॥

खट दरसन कहियत हम भेखा, हमही अतीत रूप नहीं रेखा ॥

हमही आप कबीर कहावा, हमही अपना आप लखावा ॥

सदर्थ—कबीर उसे अवस्था का वर्णन करते हैं जब अश-अशी, भक्त भगवान, आत्मा-परमात्मा मे कोई अन्तर नहीं रह जाता है ।

भावार्थ—हम सभी मे है और सब हम मे हैं । हम से भिन्न और कोई नहीं है । तीनों लोको मे हमारा ही प्रसार है तथा यह जन्म मृत्यु मेरी लीला मात्र है । छ दर्शन हमारे ही वेष कहे जाते हैं अर्थात् छ हो दर्शनो मे हमारे (शुद्ध चैतन्य) के ही विभिन्न रूपों का वर्णन है । हम अर्थात् चैतन्य सबमे परे का तत्त्व है । हमारा न कोई रूप है और न कोई आकार है । हम स्वय ही कबीर कहे जाते हैं और हमी ने अपना आत्म तत्त्व विभिन्न रूपों मे दिखाया है ।

शब्दार्थ—अलंकार—यमक— आप-आप

विशेष—(1) तीन लोक—आकाश, पृथ्वी, पाताल

(II) षट्दर्शन— साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदात ।

(111) उस स्थिति का वर्णन करता है जब साधक 'अह' ब्रह्मास्मि का उद्घोष कर उठता है ।

(IV) अद्वैतवाद का सुन्दर प्रतिपादन है ।

(V) वह परमतत्त्व सर्वथा वर्णनातीत है । इसी से विभिन्न प्रकार से उसका वर्णन करके वाणी की असमर्थता प्रकट की गई है ।

(३३३)

सो धन मेरे हरि का नाँउ,

गाँठि न बाँध्यौ बेचि न खाँउ ॥टेक॥

नाँउ मेरे खेती नाँउ मेरे बारी, भगति करौं मै सरन तुम्हारी ॥

नाँउ मेरे सेवा नाँउ मेरे पूजा, तुम्ह बिन और न जानौं दूजा ॥

नाँउ मेरे बंधव नाँव मेरे भाई, अत विरियाँ नाँव सहाई ॥
नाँउ मेरे निरधन ज्यूं निधि पाई, कहै कबीर जैसे रंक मिठाई ॥

शब्दार्थ—वारी=वाटिका । बंधन=बान्धव ।

संदर्भ—कबीरदास प्रभु-नाम की महिमा का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ मेरे पास हरि का नाम रूपी वह धन है जिसे मैं न गाँठ में बाँधता हूँ और न बेचकर खाता हूँ । यह नाम ही मेरी खेती है और यही मेरी वारी है । मैं तुम्हारी ही भक्ति करता हूँ और तुम्हारी शरण में हूँ । आपका नाम ही मेरी सेवा है, नाम ही पूजा है । मैं आपके अतिरिक्त अन्य किसी देवता को नहीं जानता हूँ । भगवान का नाम ही मेरे लिए बान्धव है और भगवन्नाम ही मेरा भाई है । अन्त समय में मुझको आपके नाम का ही सहारा है । भगवान का नाम मेरे लिए निरधन को प्राप्त हो जाने वाले खजाने के समान है । कबीर कहते हैं कि (गुरु के द्वारा प्राप्त) भगवन्नाम मेरे लिए ऐसे ही है जैसे किसी भिखारी को मिठाई मिल गई हो ।

अलंकार—(1) रूपक—हरि को नाँउ धन ।

(II) व्यतिरेक—गाँठ—खाऊँ ।

(III) उल्लेख—नाम का विभिन्न रूपों में वर्णन है ।

(IV) उपमा—नाँउ ... मिठाई ।

विशेष—(1) गाँठ न बाँध्यौ बेचि न खाऊँ तथा नाम मेरे सेवा आदि कथन के द्वारा कवि यह कहना चाहता है कि हरि का नाम साधन न होकर साध्य ही है । सामान्य धन की भाँति न तो वह उसका सग्रह (Hoardings) ही करते हैं और न उसके बदले वह किसी अन्य उपयोगी वस्तु को प्राप्त करने की आशा ही करते हैं । हरिनाम के द्वारा कबीर भुक्ति-मुक्ति कुछ भी प्राप्त नहीं करना चाहते हैं ।

(II) खेती-वारी सासारिक वैभव से तात्पर्य है ।

(III) इस पद में अनन्यता की अभिव्यक्ति है तथा भक्ति को साधन एवं साध्य दोनों ही बताया गया है । गोस्वामी तुलसीदास भी भक्ति का सबसे बड़ा फल भक्ति ही मानते हैं । यथा—

जो जगदीस तो अति भलौ जो महीस बड़ भाग ।

तुलसी चाहत जनम भर राम-चरन अनुराग ।

वस्तुतः भक्त के सहजशील का सजीव चित्रण है—

धर्म न अर्थ न काम रुचि गति न चहों निर्वान ।

जनम-जनम रति राम पद यह वरदान न आन ।

(३३४)

अब हरि हूँ अपनों करि लीनों,,

प्रेम भगति मेरी मन भीनों ॥टेक॥

जरे सरीर अग नहि मोरों, प्राण जाइ तौ नेह न तौरों ॥

च्यंतामणि क्यू पाइए ठोली, मन दे रांम लियौ निरमोली ॥
ब्रह्मा खोजत जनम गँवायौ, सोइ रांम घट भीतरि पायौ ॥
कहै कबीर छूटी सब आसा, मिल्यौ राम उपज्यौ बिसवासा ॥

शब्दार्थ—भीनों=भीग गया है, युक्त हो गया है। मोरी=मोड़ूंगा।
ठोली=योही बिना परिश्रम के। निरमोली=अमूल्य। आसा=सासारिक आशाएँ
अथवा अन्य प्रकार की साधनाओ से मुक्ति प्राप्त होने की आशा।

संदर्भ—कबीर प्रभु-भक्ति के प्रति अपनी दृढ़ निष्ठा व्यक्त करते हैं।

भावार्थ—अब भगवान ने मुझको अपना बना लिया है और मेरा मन उनके
प्रेम एव उनकी भक्ति के रस में पूरी तरह निमग्न (भीग) गया है। प्रेम-भक्ति के
मार्ग पर चलते हुए मेरा शरीर जल भी जाए, तब भी मैं इससे अपने अंगो को नहीं
मोड़ूंगा—इस मार्ग को नहीं छोड़ूंगा। यदि प्रभु की भक्ति में मुझे अपने प्राण देने
पड़े, तब भी मैं भगवान के प्रति प्रेम को समाप्त नहीं करूँगा। हरि-रूपी चिन्ता-
मणि ऐसे ही बिना परिश्रम के क्या कभी प्राप्त होती है? मैंने अमूल्य राम-नाम को
अपना मन देकर प्राप्त किया है। मैंने जिस भगवान को इधर-उधर विभिन्न साधनाओ
में खोजते हुए अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर दिया। उसी भगवान को मैंने अपने
हृदय के भीतर प्राप्त कर लिया है। कबीरदास कहते हैं कि अब मेरी समस्त सासारिक
आशाएँ समाप्त हो गई हैं। राम का साक्षात्कार हो जाने से अब मेरे मन में यह
विश्वास उत्पन्न हो गया है कि मेरा उद्धार हो जाएगा।

अलंकार—(1) विशेषोक्ति की व्यजना—जरै तोरी।

(II) रूपकातिशयोक्ति—च्यंतामणि।

(III) वक्रोक्ति—क्यू पाइए ठोली।

विशेष—भक्ति के उदय की आनन्दावस्था का वर्णन है।

(३३५)

लोग कहै गोवरधनधारी,

ताकौ मोहिं अचभौ भारी ॥टेक॥

अष्ठ कुली परबत जाके पग की रैनां, सातौं सायर अजन नैनां ॥

ऐ उपमां हरि कित्ती एक औपै, अनेक मेर नख ऊपरि रोपै ॥

धरनि अकास अधर जिनि राखी, ताकी मुगधा कहै न साखी ॥

सिब बिरंचि नारद जस गावै, कहैं कबीर वाको पार न पावै ॥

शब्दार्थ—रैना=रेणु-धूलि। सायर=सागर। औपै=शोभित। मेर=
सुमेरु। रोपै=गाडना, जमाना। अधर=बिना किसी आधार के। मुगधा=मूर्ख।
साखी=साक्ष्य, साक्षात्कार।

सन्दर्भ—कबीर भगवान को वाणी के परे बताते हैं।

भावार्थ—लोग भगवान को गोवर्धन पर्वत को धारण करने वाला कह कर
उसकी शक्ति का वर्णन करते हैं। उनकी इस बुद्धि पर मुझे बहुत आश्चर्य होता है।

सम्पूर्ण अष्ट कुल के पर्वत उस परमात्मा के पैर की धूल मात्र हैं और सातो समुद्र उसके नेत्रों के अजन मात्र हैं। उन भगवान ने अनेक सुमेरु पर्वत अपने नाखून के ऊपर टिका रखे हैं। ऐसे शक्तिशाली भगवान के लिए गोवर्धन धारी की उपमा कहाँ तक उपयुक्त हो सकती है ? जिसने पृथ्वी और आकाश को विना किसी आधार के (निरावलंब) टिका रखा है, उन भगवान के साक्षात्कार का वर्णन अज्ञानी मूर्ख कदापि नहीं कर सकते हैं, अर्थात् मूर्ख उनके स्वरूप की क्या साखी देंगे ? कबीरदास कहते हैं कि शिव, ब्रह्मा और नारद उस परमब्रह्म के यश का निरन्तर गान करते हैं परन्तु उसकी शक्ति का पार वे भी नहीं पा सकते हैं।

- अलंकार—(1) परिकराकुर—गोवर्धन धारी ।
 (II) अतिशयोक्ति—अष्ट कुली ...नैना ।
 (III) वक्रोक्ति—किती एक ओपै ।
 (IV) व्यतिरेक—अनेक मेर.....रोपै ।
 (V) विभावना की व्यजना—धरनि.....राखी ।
 (VI) सम्बन्धातिशयोक्ति—पार न पावै ।

विशेष—(1) असीम ब्रह्म को ससीम मानने की धारणा का प्रत्याख्यान किया गया है। इस प्रकार सगुण भक्ति का विरोध है।

(11) असीम तत्त्व का ससीम एव सगुण बिम्बों से प्रतिपादन है।

(३३६)

राम निरंजन न्यारा रे,

अंजन सकल पसारा रे ॥टेक॥

अजन उत्पति वो उंकार, अंजन मांड्या सब बिस्तार ॥

अंजन ब्रह्मा सकर इंद, अजन गोपी संगि गोव्यद ॥

अंजन बाणीं, अंजन बेद, अजन कीया नांनं भेद ॥

अंजन विद्या पाठ पुरांन, अंजन फोकट कथहि गियांन ॥

अजन पाती अंजन देव, अंजन की करै अजन सेव ॥

अंजन नाघै अंजन गावै, अंजन भेष अनंत दिखावै ॥

अंजन कहौ कहाँ लग केता, दांन पुनि तप तीरथ जेता ॥

कहै कबीर कोइ विरला जागै, अंजन छाड़ि निरंजन लागै ॥

शब्दार्थ—निरजन=माया रहित तत्त्व । अजन=माया ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि यह समस्त ससार माया का ही पसारा है।

भावार्थ—माया रहित राम समस्त जगत से परे एव भिन्न है। यह समस्त जगत केवल माया का प्रसार है। ओंकार की उत्पत्ति माया से है, माया ने ही इन विभिन्न नाम-रूपों में विस्तार किया है। ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र तथा गोपियों के साथ रहने वाला कृष्ण सभी कुछ माया ही हैं। वाणी और वेद माया ही हैं। माया ने ही ये विभिन्न रूपात्मक भेद किए हैं अथवा माया के प्रश्रय से ही यह रूपात्मक जगत

ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होता है । माया ही विद्या, पाठ और पुराण है । यह व्यर्थ का वाचिक ज्ञान भी माया ही है । पूजा करने के साधन पत्रादिक तथा पूज्य देव-माया ही हैं । माया रूप पुजारी माया रूप देवता की सेवा करता है । माया ही नाचती है और माया ही गाती है । माया ही अनन्त भेषो मे अपने आपको प्रदर्शित करती है । माया के बारे मे कहाँ तक कहूँ और उसके कितने रूपों का वर्णन करूँ ? दान, पुण्य, तप, तीर्थ आदि जितने जो कुछ हैं, सब माया ही हैं । कबीर कहते हैं कि किसी विरले को ही माया सम्बन्धी यह बोध होता है । और वही माया का परित्याग करके माया रहित तत्त्व (निरजन) मे लीन होता है (उसके प्रति अनुरक्त होता है) ।

अलंकार—उल्लेख माया का विभिन्न रूपो मे वर्णन है ।

विशेष—प्रकारान्तर से शाकर अद्वैत के मायावाद का प्रतिपादन है । जो कुछ भी अभिधेय है, वह सब माया है । उससे अतीत एव केवल अनुभूति गम्य ही निरंजन तत्त्व है ।

(३३७)

अंजन अल्प निरजन सार,

यहै चीन्हि नर करहु विचार ॥टेक ॥

अंजन उत्पति बरतनि लोई, बिना निरंजन मुक्ति न होई ॥

अंजन आवै अंजनि जाइ निरजन सब घट रह्यो समाइ ॥

जोग ध्यांन तप सबै विकार, कहै कबीर मेरे राम आधार ॥

शब्दार्थ—अजन = माया, दृश्यमान जगत । बरतनि = बरतना, व्यवहार करना ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि माया रूप जगत मिथ्या है । केवल माया रहित तत्त्व ही सार तत्त्व है ।

भावार्थ—माया अथवा माया जनित जगत अल्प एव मिथ्या है । निरजन (ब्रह्म) भूमा एव सार तत्त्व है । रे मानव, यह समझकर चिन्तन करो अथवा इस प्रकार विवेक पूर्वक ब्रह्म को जानने के लिए चिन्तन करो । लोग माया के द्वारा ही उत्पन्न होते है और माया-जनित ससार मे ही व्यवहार करते हैं । निरजन के प्रति अनुरक्त हुए बिना मुक्ति नही होती है अथवा निरजन अवस्था मे अवस्थित हुए बिना मोक्ष नही होती है । माया ही जन्म लेती है और माया ही मरती है अर्थात् यह आवागमन तो माया का ही है । यह माया रहित निरजन ही समस्त अन्त करणो मे कूटस्थ रूप से अवस्थित है । जोग, ध्यान, तप आदि सब माया के ही विकार है । कबीर कहते हैं कि माया रहित राम ही मेरे आधार है अर्थात् उस परम तत्त्व की अनुभूति ही मेरा एक मात्र साधन और साध्य है ।

अलंकार—अनुप्रास—‘अ’ की आवृत्ति होने के कारण ।

विशेष—(1) शाकर अद्वैत का प्रतिपादन है । ‘ब्रह्म-सत्य जगन्मिथ्या’ का सरल शैली मे प्रतिपादन है ।

(11) समभाव के लिए देखें—

मै अरु मोर तोर तैं माया । जेहि बस कीन्हे जीव निकाया ।
गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो सब माया जानेहु भाई ।
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ । विद्या अपर अविद्या दोऊ ।
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा । जा बस जीव परा भव कूपा ।
एक रचइ जग गुन बस जाकें । प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें ।
ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं । देखत ब्रह्म समान सब माहीं ।

×

×

×

माया ईस न कहूँ जान-कहिअ सो जीव ।
बध मोच्छ प्रद सर्व पर माया प्रेरक सीव ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(३३८)

एक निरंजन अलह मेरा,

हिंदू तुरक दहूँ नही मेरा ॥टेक॥

राखूं ब्रत न महरम जानां, तिसही सुमिरू जो रहै निदाना ।

पूजा करूं न निमाज गुजाहूं, एक निराकार हिरदै नमसकारूं ॥

नां हज जाऊं न तीरथ पूजां, एक पिछाण्या तौ का दूजा ॥

कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरंजन सूं मन लागा ॥

शब्दार्थ—निदान=अत मे । पिछाण्या=पहचान लिया । नेरा=पास ।

सन्दर्भ—कबीर परम तत्व निरजन के प्रति अनुरक्त होने का उपदेश देते हैं ।

भावार्थ—मेरी निष्ठा तो एकमात्र मायारहित अल्लाह (परमात्मा) मे है । हिन्दू और मुसलमान दोनों मे कोई भी उसके निकट नहीं पहुँच पाए हैं । अथवा इसका अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि मुझे हिन्दू अथवा मुसलमान किसी भी सम्प्रदाय से कोई वास्ता नहीं है । मे न ब्रत रखता हूँ और न मे मुहर्रम मे विश्वास रखता हूँ । मैं तो केवल उसका स्मरण करता हूँ जो एकमात्र सत्य होने से अन्ततः अवशिष्ट रह जाता है । अर्थात् जो माया एव उसके सम्पूर्ण प्रपच के लुप्त हो जाने के पश्चात् अवशिष्ट रह जाता है । मे न किसी देवता की पूजा करता हूँ और न मसजिद मे जाकर नमाज ही पढता हूँ । मैं तो एक मात्र निराकार परमात्मा को हृदय मे धारण करके नमस्कार करता हूँ । न मैं हज (मक्का) जाता हूँ और न तीर्थों मे जाकर पूजा ही करता हूँ । अब मैंने तो एक परम तत्व को पहचान लिया है, तब फिर अन्य किसी देवता अथवा किसी साधना की क्या आवश्यकता है ? कबीरदास कहते हैं कि मेरे समस्त भ्रम नष्ट हो गये हैं और एक मात्र तत्व निरजन मे मेरा हृदय रम गया है ।

अलकार—वक्रोक्ति—एक” “क्या दूजा ?

विशेष -- (1) बाह्याचार का विरोध है। हिन्दू और मुसलमान दोनों के धार्मिक लोकाचार की निरर्थकता का प्रतिपादन है।

(II) राम अल्लाह आदि शब्दों के द्वारा व्यग्र्य भगवान के स्वरूप के प्रति कबीर की निष्ठा है। यही इस पद का प्रतिपाद्य है।

(III) निर्गुण निराकार ब्रह्म के प्रति कबीर की अनन्य निष्ठा किसी भी सगुणोपासक भक्त की अनन्यता से किसी प्रकार कम नहीं है। यथा—

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई । (मीराबाई)

(३३६)

तहां मुझ गरीब की को गुदरावै,

मजलसि दूरि महल को पावै ॥टेक॥

सतरि सहस सलार हैं जाकै, असी लाख पैकंबर ताकै ॥

सेख जु कहिय सहस अठ्यासी, छपन कोड़ि खेलिबे खासी ॥

कोड़ि तेतीसूँ अरू ह्यिलखांनां, चौरासी लख फिरै दिवांनां ॥

बाबा आदम पै नजरि दिलाई, नबी भिस्त घनेरी पाई ॥

तुम्ह साहिब हम कहा भिखारी, देत जवाब होत बजगारी ॥

जन कबीर तेरी पनह समांनां, भिस्त नजीक राखि रहिमांनां ॥

शब्दार्थ— गुदरावै=निवेदन करना, सेवा में पहुंचाना। मजलिस—सभा।

सलार=सरदार। भिस्त—वहिष्ट, स्वर्ग। खवास=मुसाहिब। नबी=पैगम्बर।

संदर्भ—कबीर अपनी दीनता की दुहाई देकर भगवान से शरणागति की प्रार्थना करते हैं।

भावार्थ—वहाँ भगवान तक मुझ गरीब की प्रार्थना को कौन पहुंचाएगा। उसकी सभा बहुत दूर है। फिर उसके महल तक किसी की पहुंच किस प्रकार हो सकती है? अथवा उसमें कोई कैसे स्थान प्राप्त कर सकता है? उस परमात्मा के सत्तर हजार सैनिक सरदार हैं, अस्सी लाख पैगम्बर हैं, अठ्ठासी हजार शेख हैं एवं छप्पन करोड़ मनोरजन करने वाले मुसाहिब हैं। इनके अतिरिक्त तैंतीस करोड़ अन्य प्रजाजन हैं। उसके चौरासी लाख मन्त्री हैं। इन सबमें से बाबा आदम पर खुदा की जरा सी नजर पडी और उस पैगम्बर को बहुत बड़ा स्वर्ग प्राप्त हो गया। हे भगवान तुम मालिक हो, और मैं भिखारी मात्र, आपको उत्तर देते हुए बदकारी (बुराई) होती है। कबीर कहते हैं कि यह सेवक आपकी शरण में आया है। हे कृपालु! आप इसको स्वर्ग के पास अर्थात् अपने निकट स्थान देने की कृपा करें।

अलंकार—(1) वक्रोक्ति—तहां गुदरावै।

(II) गूढोक्ति—मजलिस पावै। तुम...भिखारी।

(III) अनुप्रास—सतरि सहस सलार।

विशेष—(1) सगुणोपासक भक्तों के समान सालोक्य मुक्ति की कामना अभिव्यक्त है।

(11) ईश्वर के असीम वैभव और अपनी अल्पता का मार्मिक उल्लेख है। इस उल्लेख के द्वारा साधक भगवान से कृपा की प्रार्थना करता है कि वह उसे अपने निकट रखले।

(३४०)

जौ जाचौ तो केवल राम,

आन देव सूं नांहीं काम ॥टेक॥

जाकै सूरिज कोटि करं परकास, कोटि महादेव गिरि कविलास ॥
 ब्रह्मा कोटि वेद ऊचरै, दुर्गा कोटि जाकं मरदन करै ॥
 कोटि चद्रमां गहै चिराक, सुर तेतीसूं जीमै पाक ॥
 नौग्रह कोटि ठाढे दरबार, धरमराइ पौली प्रतिहार ॥
 कोटि कुबेर जाकै भरै भंडार, लक्ष्मी कोटि करै सिंगार ॥
 कोटि पाप पुनि ब्यौहरै, इन्द्र कोटि जाकी सेवा करै ॥
 जगि कोटि जाकै दरबार, गध्रप कोटि करै जैकार ॥
 विद्या कोटि सबै गुण कहै, पारब्रह्म कौ पार न लहै ॥
 बासिग कोटि सेज बिसतरै, पवन कोटि चौबारै फिरै ॥
 कोटि समुद्र जाकै पणिहारा, रोमावली अठारह भारा ॥
 असखि कोटि जाक जमावली, रांवण सेन्यो जाथै कली ॥
 सहसबांह के हरे पराण, जरजोधन घाल्यौ खै मान ॥
 बावन कोटि जाके कुटवाल, नगरी नगरी खेत्रपाल ॥
 लट छूटी खेलै बिकराल, अनत कला नटवर गोपाल ॥
 कंद्रप कोटि जाकै लावन करै, घट घट भीतरि मनसा हरै ॥
 दास कबीर भजि सारगपान, देहु अभै पद मांगौं दांन ॥

शब्दार्थ—जाचौ=मांगता हूँ। चिराक=चिराग, दीपक। खैमान=क्षय-मान। कन्दर्प=कामदेव। लावण्य, प्रसाधन शार्ङ्गपाणि=धनुष धारण करने वाले, राम।

सन्दर्भ—कबीर अनन्त सामर्थ्यवान् भगवान की प्रार्थना करते हैं।

भावार्थ—यदि मैं याचना करता हूँ, तो केवल राम से ही करता हूँ। अन्य देवताओं से मुझे कुछ भी लेना-देना नहीं है। उन राम के यहाँ करोड़ों सूर्य प्रकाश करते हैं, करोड़ों महादेव जिनके कैलास पर्वत पर रहते हैं, कोटि ब्रह्मा जिसके यहाँ वेद-पाठ करते हैं, जिनकी आज्ञा से करोड़ों दुर्गा दुष्टों का दमन करती हैं, जिनके समक्ष करोड़ों चन्द्रमा दीपक लिये रहते हैं, तैंतीस करोड़ देवता जिनकी कृपा का प्रसाद प्राप्त करते हैं, करोड़ों नवग्रह जिनके दरवार में खड़े रहते हैं, जिनके दरवाजे पर धर्मराज प्रतिहारी का काम करते हैं, करोड़ों कुबेर जिनका भण्डार भरते हैं, जिनको प्रसन्न करने के लिए करोड़ों लक्ष्मी शृंगार करती हैं, करोड़ों पाप-पुण्य जिनके सक्रेत पर होते रहते हैं, करोड़ों इन्द्र जिनकी सेवा में रहते

हैं, जिनके दरबार में करोड़ों यज्ञ होते रहते हैं तथा करोड़ों गन्धर्व जिनका जय-जय-कार करते हैं। करोड़ों विधाता जिनका गुणगान करते रहते हैं, उस परम ब्रह्म का किसी ने भी पार नहीं पाया है। उनके लिए करोड़ों शेष नागों ने सेज बिछा रखी है। और करोड़ों पवन उनके महल में हवा करते हैं करोड़ों समुद्र उनके यहाँ पानी भरने वाले हैं, अठारह वनराजी जिनकी रोमावली हैं, जिसके असंख्य करोड़ यमों की सेना है, जिनसे रावण की सेना भी पराजित हुई है, जिसने सहस्रबाहु के प्राणों का हरण किया था, और दुर्योधन, को जिसने क्षयमान करके नष्ट कर डाला था, बावन करोड़ों जिसके कोटपाल हैं और नगरी-नगरी में जिसके क्षेत्रपाल हैं जिनकी विकराल लट्टें (मेघों के रूप में) भयकर नृत्य करती हैं। वह राम अनन्त कला से युक्त नटवर गोपाल हैं, करोड़ कामदेव उनका सौन्दर्य प्रसाधन करते हैं और उसी से घट-घट में रहने वाली इच्छाओं को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। कबीरदास उन्हीं धनुषधारी राम का भजन करते हैं और उनसे अभय पद के दान की याचना करते हैं।

अलंकार—(1) व्यक्तिरेक एव आतिशयोक्ति—पूरा पद।

विशेष—यह सगुण भक्तों की सी प्रार्थना है। इसमें प्रभु के विराट-दर्शन जैसी भाँकी-प्राप्त होती है।

(11) समभाव के लिए देखें—

रुद्रादित्या वसवोयेच साध्या ।
विश्वेऽश्विनो मरुतञ्चोहम पाश्च ।
गन्धर्व यक्षासुर सिद्ध संघा ।
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताञ्चैव सर्वे । (श्रीमद्भगवद्गीता)

उदर माभ सुनु अंडज राया । देखेउँ बहु ब्रह्माड निकाया ।
अति बिचित्र तहँ लोक अनेका । रचना अधिक एकते एका ।
कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा । अगनित उडगन रवि रजनीसा ।
अगनित लोकपाल जम काला । अगनित मूधर राम विसाला ।
सागर सरि सर विपिन अपारा । नाना भाँति सृष्टि विस्तारा ।

इत्यादि (रामचरितमानस)

जाके विलोकत लोकप होत विलोक, लहँ सुर-लोग सु-ठीरहि ।
सो कमला तजि चंचलता करि कोटि कला, रिभवं सुर मौरहि ।
ता को कहाय, कहै तुलसी, तू लजाहि न मांगत कूकुर-कौरहि ।
जानकी जीवन को जन है जरि जाऊ सो जीह, जो जाँचत औरहि ।

तथा—जग जाचिए कोउ न जाँचिये जो जिय जाँचिए जानकी जानहि रे ।

जेहि जाँचत जाचकता जरि जाहि जेहि भारत जोरि जहाँ नहिरे ।

(कवितावली—गोरवामी तुलसीदास)

(३४१)

मन न डिगै ताथै तन न डराई,

केवल रांस रहे ल्यौ लाई । टेक ।

अति अथाह जल गहर गभीर, बांधि जंजीर जलि बोरे है कबीर ॥

जल की तरंग उठि कटि हैं जजीर, हरि सुमिरन बैठे हैं कबीर ॥

कहै कबीर मेरे संग न साथ, जल थल मैं राखै जगनाथ ॥

शब्दार्थ—दिगै—विचलित होता है । ल्यौ—लगन, ली ।

सन्दर्भ—कबीर सिद्धावस्था का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—मेरा मन अब विषय-वासनाओ के कारण विचलित नहीं होता है अर्थात् मैं अब सासारिक सुखों के प्रति आसक्त नहीं रहा हूँ । इसी कारण मुझ को अब अपने शरीर की ओर से भी भय नहीं है अर्थात् मुझको इस बात की जरा भी आशंका नहीं है कि मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ मुझ को विषयो के प्रति प्रवृत्त हो जाएँगी । मैंने केवल भगवान राम के प्रति अपनी लगन लगा रखी है । यह ससार रूपी जल अत्यन्त गहरा और गम्भीर था । कर्मों की शृंखला ने कबीर को बांध कर इसमें डुबो दिया था । इस ससार रूपी जल में ही ईश्वर भक्ति की लहर उठी और कर्म-बन्धन की वह जजीर टूट गई । कबीर संसार-सागर से निकलकर हरि-स्मरण रूपी तट पर जाकर बैठ गये हैं । कबीर कहते हैं कि मेरा कोई संगी-साथी नहीं है अर्थात् ससार के किसी भी व्यक्ति के प्रति मैं अनुरक्त नहीं हूँ । जल-थल में सर्वत्र मेरी रक्षा करने वाले तो एक मात्र जगत के स्वामी भगवान ही हैं ।

अलंकार—(i) पदमैत्री—मन न—डराई ।

(ii) रूपक — हरि सुमिरन तट ।

(iii) रूपकातिशयोक्ति की व्यंजना—जल जजीर ।

(iv) विभावना की व्यंजना—जल की तरंग—जंजीर ।

विशेष—(1) मन पर नियन्त्रण आवश्यक है । मन पर नियन्त्रण होते ही इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं ।

(ii) भक्ति के लिए संसार त्याग की आवश्यकता नहीं है । भक्ति तो मन की दशा विशेष है । जल की तरंग उठि में यही व्यंजना है ।

(iii) जल की तरंग कटि हैं जंजीर । मन के अन्तमुखी होते ही समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है । यथा—

सम्मुख होइ जीव मोहि जब हों । जन्म कोटि अध नासहि तवहीं ।

(iv) तट बैठे हैं कबीर—तट पर बैठने का अभिप्रेत है—तटस्थ दृष्टि हो जाने । व्यक्ति ससार में लिप्त नहीं रहता है । वह समस्त घटनाओं का दृष्टापात्र हो जाता है । कबीर का कहना है कि राम-भजन के प्रभाव से वह राग द्वेष से मुक्त हो गये हैं ।

(रामचरितमानस)

(३४२)

भलै नीदौ भलै नीदौ भलै नीदौ लोग,
तन मन रांम पियारे जोग ॥टेक॥

मैं बौरी मेरे रांम भरतार, ता कारनि रचि करौं स्थगार ॥
जैसे धुबिया रज मल धौवै, हर तप रत सब निंदक खोवै ॥
न्यंदक मेरे भाई बाप, जन्म जन्म के काटे पाप ॥
न्यंदक मेरे प्रांन आधार, बिन वेगारि चलावै भार ॥
कहै कबीर न्यदक बलिहारी, आप रहै जन पार उतारी ॥

शब्दार्थ—नीदौ=निंदा करो । बौरी=पागल । रज=मिट्टी । हरत-
परत=विभिन्न प्रयत्नो द्वारा । वेगारि = मजदूरी ।

सन्दर्भ—कबीरदास निंदक को साधक का उपकारी बताते हैं ।

भावार्थ—ईश्वर के प्रति दाम्पत्य भाव में तन्मय आत्मा सुन्दरी कह रही है कि भले ही मेरी निंदा करो, भले ही मेरी निंदा करो, लोगो भले ही मेरी निंदा करो । मेरे तन और मन प्यारे राम के सयोग में अनुरक्त रहते हैं । राम मेरे पति हैं और मैं उनके पीछे पागल हूँ उनको रिझाने के लिए मैं अच्छी तरह रुचि पूर्वक शृंगार करती हूँ । जिस प्रकार घोड़ी कपडों के मैल मिट्टी को घोसा है, उसी प्रकार निंदा करने वाला व्यक्ति विविध प्रकार से निंदा करके भगवान की तपस्या में लगे हुए साधक के समस्त अवगुणों को दूर कर देता है । निंदक को मैं माता-पिता की भाँति अपना हितैषी मानता हूँ क्योंकि वह जन्म जन्मान्तर के पाप दूर कर देता है । निंदक मुझे प्राणों के समान प्रिय है क्योंकि वह बिना किसी प्रकार का पारिश्रमिक लिए ही मुझे अवज्ञा का भार सहन करने योग्य बना देता है । कबीरदास कहते हैं कि मैं निन्दक पर बलिहारी जाता हूँ । वह स्वयं तो भवसागर में रह जाता है और भक्त जन को भवसागर के पार उतार देता है ।

अलंकार—(1) पुनरुक्ति प्रकाश—प्रथम पंक्ति । जनम जनम ।

(II) उदाहरण—जैसे—खोवै ।

(III) उल्लेख—निंदक का विभिन्न रूपों में वर्णन ।

(IV) विभावना की व्यजना—बिन वेगारि—भार ।

(V) व्याज स्तुति—सम्पूर्ण पद ।

विशेष—(1) इस पद में व्याज स्तुति द्वारा दिखाया है कि निंदा पाप कर्म है एव बन्धन का हेतु है ।

(II) निंदा के प्रति सहिष्णु व्यक्ति अपने दोषों के प्रति जागरूक हो जाता है और अपने अवगुणों को क्रमशः दूर करता रहता है । रहीम ने भी इसी प्रकार का कथन किया है ।

निंदक नियरे राखिए आगत कुटी छवाइ ।

बिन पानी साबुन बिना निरमल करै सुभाइ ।

(iii) मैं बौरी राम भरतार । इसमे सूफियों की पद्धति पर दाम्पत्य-प्रेम की व्यजना है । समभाव देखें—

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई ।
जाके सिर मोर-मुकुट, मेरो पति सोई ।
छांड़ि दई कुल की कानि, कहा करि है कोई ।
तथा— मैं हरि बिन क्यों जिऊँरो माइ ।
पिव कारन बौरी भई, ज्यों घुन काठहि खाइ । (मीराबाई)

(३४३)

जौ मैं बौरा तौ राम तोरा,

लोग मरम का जानै मोरा ॥टेक॥

माला तिलक पहरि मनमानां, लोगनि राम खिलौनां जाना ॥

थोरी भगति बहुत अहकारा, ऐसे भगता मिले अपारा ॥

लोग कहै कबीर बौराना, कबीरा कौ मरम राम भल जानां ॥

शब्दार्थ—का = क्या ।

सन्दर्भ—कबीर का कहना है कि बाह्याडम्बर वाले उपासक की अपेक्षा सच्चे भक्त राम के अधिक निकट रहते हैं ।

भावार्थ—हे राम मैं जो पागल हो रहा हूँ, वह तो तुम्हारे ही प्रेम में पागल हूँ । ससार के लोग मेरे इस पागलपन का रहस्य क्या समझें ? (वे मुझ को सामान्य पागल समझते हैं और मेरे ज्ञान-भक्ति की बात नहीं जानते हैं ।) मनमाने ढंग से माला-तिलक धारण करने वाले लोग राम को खिलौना समझ कर तरह-तरह से सजाते हैं अर्थात् यह काहिए कि औपचारिक पूजा के नाम पर लोग राम की प्रतिभा को खिलौना समझ कर माला-तिलक से सजाते हैं । ऐसे दिखावटी लोगो में सच्ची भक्ति तो बहुत कम होती है और इनमें अहकार की माया बहुत होती है । ऐसे अहकारी भक्त बहुत मिलते हैं । लोग कहते हैं कि कबीर पागल हो गया है, परन्तु कबीर के इस पागलपन के रहस्य को (वास्तविक कारण को) भगवान राम अच्छी तरह जानते हैं ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति—का जानै ।

(ii) रूपक की व्यजना—राम खिलौना जाना ।

विशेष—(1) बाह्याचार का विरोध है ।

(ii) भगवान का भक्त सासारिक व्यवहार में चतुर नहीं रह जाता है, वह पागल सा दिखाई देता है ।

(iii) माला . . . खिलौना—खिलौना जैसे व्यक्ति की विभिन्न वासनाओं की तृप्ति का साधन होना है, उसी प्रकार बाह्य पूजा करने वाला भक्त भगवान की भूति को अपनी कतिपय वासनाओं की तृप्ति का साधन मान बैठता है ।

(३४४)

हरिजन हस दसा लिये डोलै,

निर्मल नांव चवै जस बोलै ॥टेक॥

मान सरोवर तट के बासी, राम चरन चित आंन उदासी ॥

मुक्ताहल बिन चंच न लावै, सौंनि गहै कै हरि गुन गावै ॥

कऊवा कुबधि निकट नही आवै, सो हस निज दरसन पावै ॥

कहै कबीर सोई जन तेरा, खीर नीर का करै नबेरा ॥

शब्दार्थ—हँस=ज्ञानी, शुद्ध विवेकी । आन=अन्य वस्तुएँ । चवै=चुवै, निस्सृत होता है ।

संदर्भ—कबीर सच्चे भक्त का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—भगवान के भक्त हस की भाँति संसार में विचरण करते हैं अर्थात् वे जीवन में विवेकपूर्ण आचरण करते हैं । उनके मुख से भगवान का निर्मल नाम सहज रूप से सदैव निकलता रहता है । वे सदैव भगवान का गुणगान करते हैं । वे मानसरोवर के किनारे रहते हैं । उनका हृदय राम के चरणों में ही लगा रहता है तथा जगत की अन्य सभी वस्तुओं के प्रति वे उदासीन रहते हैं । ये हस ज्ञान एवं भक्ति रूपी मोती के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का स्पर्श भी नहीं करते हैं । वे या तो मौन रहते हैं, सबका भगवान का गुणगान करते हैं (उनके मुँह से राम-गुण-चर्चा के अतिरिक्त अन्य कोई बात निकलती ही नहीं है ।) कुबुद्धि रूपी कौआ इन मुक्तात्मा रूपी हसों के पास तक नहीं फटकता है । ऐसे ही विवेकी सतों को आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार हो पाता है । कबीरदास कहते हैं कि जो भक्त नीर-क्षीर का विवेक कर पाता है अर्थात् जो सत्यासत्य का निर्णय करने में समर्थ होता है, वही तेरा सच्चा भक्त है ।

अलंकार—साग रूपक—सम्पूर्ण पद ।

विशेष—(1) हस सोऽहम् का अपभ्रंश रूप है । तात्पर्य आत्मज्ञानी है ।

(11) मानसरोवर - कायायोग में मानसरोवर का अर्थ शून्य-शिखर—ब्रह्मरन्ध्र है । राजयोग में इसका अर्थ 'बुद्धि मनस' होता है । जो सदैव हृदय रूपी सरोवर में आत्म-दर्शन करते रहते हैं और इस प्रकार अपने दोषों का प्रक्षालन करते रहते हैं ।

(111) खीर नीर का निवेरा—हस के विषय में यह प्रवाद प्रचलित है कि वह दूध में से दूध तत्त्व को ग्रहण कर लेता है और पानी तत्त्व को छोड़ देता है । इस प्रवाद को लेकर ज्ञानी एवं विवेकी जन का निरूपण करने की एक मान्य परम्परा है—

जड़ चेतन गुण दोषमय विश्व कीन्ह करतार ।

सत-हस पय-गुन गर्हहि परिहरि वारि-विकार ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(३४५)

सति राम सतगुरु की सेवा,

पूजहु राम निरजन देवा ॥टेक॥

जल कै मंजन्य जो गति होई, मीनां नित ही म्हावै ॥
 जैसा मीनां तैसा नरा, फिरि फिरि जोनीं आवै ।
 मन मै मैला तीर्थ न्हांवै, तिनि बैकुण्ठ न जानां ।
 पाखड करि करि जगत भुलांनां, नांहिन राम अयांनां ॥
 हिरदै कठौर मरै बनारसि, नरक न बच्या जाई ।
 हरि कौ दास मरै जे मगहरि, सेन्यां सकल तिराई ॥
 पाठ पुरांन वेद नही सुमृत, तहां बसै निरकारा ।
 कहै कबीर एक ही ध्यावो, बावलिया संसारा ॥

शब्दार्थ—सति = सत्य, सार रूप । मजनि = स्नान । जोनी आवै = जन्म लेता है । अयाना = अज्ञानी । बनारसि = वाराणसी । बच्या = बचाया । सेन्या = सेना । पाठ = स्तोत्र—पाठ । बावलिया = पागल ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि अन्य समस्त साधनाओ को छोड़कर केवल राम और सद्गुरु की सेवा करो ।

भावार्थ—राम और सद्गुरु की सेवा ही सत्य एव सार है । हे साधक, तुम मायारहित देवता राम की पूजा करो । भला यदि जल में स्नान मात्र से मुक्ति की प्राप्ति हो जाए तो मछली नित्य ही पानी में स्नान के कारण मुक्त हो गई होती । वार-वार स्नान से जिन प्रकार मछली मोक्ष को प्राप्त नहीं होती है, उसी प्रकार वारम्बार मज्जन-मार्जन करके मनुष्य भी मुक्त नहीं होता है और उसको वार-वार जन्म लेना पड़ता है । जिनके मन में पाप विचार हैं और वे तीर्थ में स्नान करते हैं, उनको बैकुण्ठ की हवा भी नहीं लगती है । जगत के जीव (तीर्थ व्रत, सेवा पूजा आदि) । विभिन्न पाखण्डों में फँसे हुए व्यर्थ की बातों में भ्रमित बने हुए हैं । परन्तु राम ऐसे अज्ञानी नहीं हैं, जो इन लोगों के पाखण्डपूर्ण व्यवहार को समझते न हो । जो लोग मन से निर्दयी हैं और काशी में रहते हैं, वे लोग नरक से नहीं बच सकते । भगवान का सच्चा भक्त अगर मगहर में भी मरते हैं तब भी उनकी पूरी सेना भी (उनके सब साथी भी) भवसागर के पार हो जाते हैं । स्तोत्र-पाठ, पुराण-वाचन, वेदाध्ययन और स्मृति-परायण, इनमें से कोई भी उस निराकार तत्व (परब्रह्म) का साक्षात्कार कराने में समर्थ नहीं है । कबीरदास कहते हैं कि यह मसार तो विभिन्न देवताओं के आराधन एव अनेक साधनाओ के साधन में पागल हैं । (कल्याण के इच्छुक साधको को) उस एक (मायारहित) परम तत्व का ही ध्यान करना चाहिए ।

अलंकार—(i) गूढोक्ति—मग के . . नहाव ।

(ii) उदाहरण—जैसा मीना . . आवै ।

(III) पुनरुक्ति प्रकाश—फिरि फिरि, करि करि ।

(IV) पर्यायोक्ति—नार्हिन राम अयाना ।

(V) विरोधाभास—हरि को दास .. तिराई ।

(VI) सवधातिशयोक्ति—पाठ . सुमृत ।

विशेष — (1) बाह्याचार का विरोध स्पष्ट है ।

(II) जल के मजन्हे ... नहाव समभाव देखे ।

पडित ! बाद वदै सो भूँठा ।

राम कहयां दुनियां गति पावै, (तौ) खाँड कहयां मुख मीठा ।

बिनु देखे बिनु अरस-परस बिन, नाम लिए का होई ? (कबीरदास)

(III) हिरदै कठोर—इसका अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—जो हृदय कठोर करके काशी-करवट लेते हैं । इसका पाठांतर भी इस प्रकार मिलता है—
'काशी करोत' लेते है ।)

(IV) मरै जे मगहरि—'मगहर' आदि स्थानों को पौराणिक परम्परानुसार अशुभ स्थल माना जाता है । यह प्रवाद प्रचलित है कि जो कोई मगहर में मृत्यु को प्राप्त होता है, वह नरक का भोग करता है । कबीर इस मान्यता को अन्ध विश्वास मानते थे और इसी कारण उन्होंने इसके विरुद्ध आवाज उठाई थी । प्रस्तुत पद में वह मगहर में शरीर त्याग से स्वर्ग-लाभ की बात करते हैं । स्पष्टतः यह एक अंध विश्वास को एक अन्य अन्ध विश्वास के द्वारा मिटाने का प्रयत्न है । यदि मगहर में मरने पर नरक नहीं मिल सकता है, तो वहाँ मरने पर स्वर्ग की प्राप्ति क्यों कर सम्भव होगी ? सुधारक गण अन्ध विश्वास को हटाने के प्रयत्न में स्वयं अन्ध विश्वासी के शिकार बन जाते हैं । ऐसे व्यक्तियों के विषय में यह उक्ति सर्वथा सगत है कि "जिन लोगों ने कूड़ा साफ करना चाहा था, उनके नाम के कई घूरे और बढ गए हैं ।"

बात यह है कि शकराचार्य ने जब बौद्धों को आर्यावर्त से खदेडा, तो उन्होंने अपने अड्डे विहार में स्थापित कर लिए और वहाँ उन्होंने वामाचार फैलाया इसी कारण वैदिक मतानुयायी महानुभाव मगध (बिहार) प्रदेश को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे थे । यथा—

लागाहि कुमुख बचन सुम कैसे । मगहँ गयादिक तीरथ जैसे

(रामचरितमानस, गोस्वामी तुलसीदास)

(V) मरै बनारसि—सामान्यतः यह विश्वास है कि काशी (बनारस, वाराणसी) शिवजी के त्रिशूल के ऊपर बसी हुई है । वहाँ मरने पर स्वर्ग की प्राप्ति होती है । अतः बहुत से व्यक्ति अन्त समय में काशी-वास करने के इच्छुक रहते हैं ।

सम्भवतः इस पद में 'काशी-करवट' की ओर संकेत है । काशी के एक कुएँ में एक आरा लगा हुआ था । अंध विश्वासी जनता उस कुएँ में गिरकर अपने

आपको इस आरे के नीचे कटवा देती थी क्योंकि उन्हें विश्वास था कि इस प्रकार वे स्वर्ग प्राप्ति के अधिकारी बनते थे। यह 'काशी करवट' कहलाती थी।

आरा चलाने के कार्य नीचे ही नीचे गुप्त रूप से इस प्रकार होता था कि वह स्वचालित सा लगता था। इसका रहस्य खुलने पर अंग्रेजों ने इसको बन्द करा दिया।

(३४६)

क्या ह्यै तेरे न्हाई धोई ,

आत्म राम न चीन्हां सोई ॥टेक॥

क्या घट ऊपरि मंजन कीयै, भीतरी मैलि अपारा ।

राम नाम बिन नरक न छूटै, जे धौवै सौ बारा ॥

का नट भेष भगवां बस्तर, भस्म लगावै लोई ॥

ज्यू दादुर सुरसरी जल भीतरि, हरि बिन मुक्ति न होई ॥

परहरि काम राम कहि बौरे सुनि सिख बंधू मोरी ।

हरि कौ नाँव अभै पद दाता, कहै कबीरा कोरी ॥

शब्दार्थ—सोई=उसी। चीन्हा=पहचाना। नट=तमाशा करने वाला, नाटक का पात्र। भगवा बस्तर=गेरुआ वस्त्र। सिख=सीख, शिक्षा। कोरी=कोली, जुलाहा। अभै = अभय।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि वाह्याचार का त्याग करके राम के नाम का स्मरण करना चाहिए।

भावार्थ—हे साधक, यदि तूने आत्माराम (आत्म-स्वरूप) को नहीं पहचाना है, तो तुम्हारे नहाने-धोने आदि वाह्याचार से क्या लाभ है? जब अन्तःकरण में विषय वासनाओं का अपार मैल भरा हुआ है, तब ऊपर ऊपर से शरीर को स्नान कराने (धोकर साफ करने) से क्या लाभ हो सकता है? भले ही कोई व्यक्ति सौ बार स्नान करके शरीर को धो डाले, परन्तु राम-नाम के विना नरक (पाप कर्म के फल) से छुटकारा नहीं हो सकता है। लोग गेरुआ वस्त्र धारण करते हैं और भस्म लगाते हैं, परन्तु इस प्रकार नाटक के पात्र की तरह विभिन्न वेश धारण करने से क्या लाभ हो सकता है? जैसे मेढक सदैव गंगा जल के भीतर रहता है, परन्तु केवल गंगा जल में ही रहने के कारण उसकी मोक्ष [नहीं हो जाती है, इसी प्रकार केवल गंगा स्नान करते हुए ही प्रभु के नाम स्मरण विना मनुष्य की मुक्ति सम्भव नहीं है। हे भाई! तुम मेरी शिक्षा मान लो, हे पागल! तू विषय वासना का त्याग करके राम-नाम कहो। जुलाहा कबीर का निश्चित मत है कि हरि का नाम-स्मरण अभय पद-परम पद-का देने वाला है।

अलंकार—(i) वक्रोक्ति—क्या है—पारा।

(ii) निदर्शना की व्यजना—राम नाम लोई।

(iii) उपमा—ज्यू दादुर ' होई।

विशेष—(1) बाह्याचार का विरोध व्यक्त है ।

(11) 'कोरी' शब्द मे व्यजना है । जुलाहो को तुच्छ समझने वाले सवर्ण वर्ग से कबीर कहते हैं कि जिस समुदाय को तुम तुच्छ समझते हो, उसी 'कोली' वर्ग मे उत्पन्न कबीर तुम्हारे सम्मुख एक महान् सत्य को प्रकट कर रहा है ।

(३४७)

पांणी थै प्रगट भई चतुराई,

गुर प्रसादि परम निधि पाई ॥टेक॥

इक पांणी पाणी कूँ धोवै, इक पांणी पांणी कूँ मोहै ॥

पांणी ऊंचा पांणी नोचा, ता पाणी का लीजै सीचा ॥

इक पांणीं थै प्यंड उपाया, दास कबीर राम गुण गाया ॥

शब्दार्थ—पाणी=जल, लक्षण से प्रभु, भगवान को नारायण कहते हैं (नार=जल) । चतुराई=ज्ञान । प्यंड=शरीर । उपाया=उत्पन्न किया ।

संदर्भ—कबीरदास प्रभु की महिमा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—प्रभु रूप जल से ही ससार का समस्त ज्ञान उत्पन्न हुआ है । इस परम ज्ञान रूपी खजाने को मैंने गुरु की कृपा से प्राप्त किया है । भक्ति रूपी जल विषय-वासना रूपी जल के मैल को नष्ट कर देता है, माया रूपी जल जीवात्मा रूपी जल को मोहित करता है । जल ही ऊपर है, जल ही नीचे है । अथवा ज्ञान रूप होकर जल ही व्यक्ति को उच्च पद प्रदान करता है और माया रूप होकर वही जल व्यक्ति को पतन के गर्त में गिरा देता है । इसी सर्वव्यापी परम तत्व रूपी जल के द्वारा अपने अन्तःकरण को अभिसिंचित करना चाहिए । पानी (वीर्य) की एक बूद मात्र से इस शरीर की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार जल की महिमा को सन्मत्त करके कबीर जल रूप प्रभु का गुणगान करता है ।

अलकार—यमक—एक ही शब्द 'पाणी' को विभिन्न प्रतीकार्थ होने के कारण ।

(३४८)

भजि गोब्यद भूलि जिनि जाहु,

मनिसा जनम कौ एही लाहु ॥टेक॥

गुर सेवा करि भगति कमाई, जौ तै मनिषा देही पाई ॥

या देही कूँ लौचै देवा, सो देही करि हरि की सेवा ॥

जब लग जुरा रोग नही आया, तब लग काल ग्रसै नहि काया ॥

जब लग हीण पड़ै नही बांणी, तब लग भजि मन सारगपांणी ॥

अब नहि भजसि भजसि कब भाई, आवैगा अत भज्यौ नही जाई ॥

जे कछू करौ सोई तत सार, फिरि पछितावोगे वार न पार ॥

सेवग सो जो लागै सेवा, तिनहीं पाया निरजन देवा ॥
 गुर मिलि जिनि के खुले कपाट, बहुरि न आवै जोनीं बाट ॥
 यहु तेरा औसर यहु तेरी वार, घट ही भीतरि सोचि बिचारि ॥
 कहै कबीर जीति भावै हारि, बहु विधि कह्यौ पुकारि पुकारि ॥

शब्दार्थ—मनिखा=मनुष्य । लाहु=लाभ । लौचौ - ललकते है, चाहते है ।
 जुरा=वृद्धावस्था । हीण=हीन, दुर्बल, क्षीण । सारग पाणी = हाथ मे घनुष धारण
 करने वाला, श्री राम । जोनी बाट=जन्म के रास्ते ।

सन्दर्भ—कबीरदास भगवद् भक्ति करने के लिए पुकार-पुकार कर कहते हैं ।

रे मानव, तुम भगवान का भजन करो । इस बात को भूल मत जाओ ।
 मनुष्य जन्म का यही लाभ है । जब तुम्हे मानव शरीर प्राप्त हो गया है, तो इससे
 गुरु की सेवा करो और प्रभु-भक्ति का उपार्जन करो । जिस मानव शरीर के देवता
 भी अभिलाषी है, वह तुम्हे प्राप्त है । इस मानव-शरीर के द्वारा भगवान की सेवा
 करो । जब तक तुमको वृद्धावस्था सम्बन्धी रोग नहीं घेरते हैं, इस शरीर को काल
 नहीं ग्रसता है और तुम्हारी वाक् शक्ति क्षीण नहीं होती है, उससे पहले मन को
 भगवान राम के भजन मे लगा दो । यदि तुम अब (शरीर के स्वस्थ रहते हुए)
 भगवान का भजन नहीं करोगे तब फिर हे भाई ! तुम उनका भजन कब करोगे ?
 अतकाल आने पर तुमसे भगवान का भजन नहीं किया जा सकेगा । इस समय जो
 कुछ कर लोगे, वही सार है—वही तुम्हारी सच्ची कमाई है । इस समय भजन
 करने पर तुमको बाद मे ऐसा घोर पश्चाताप होगा जिसकी कोई सीमा नहीं होगी ।
 सच्चा भक्त वही है जो भट भक्ति मे लग जाए । जो अविलम्ब (अभी और कही)
 प्रभु-भक्ति मे लग जाते है, उन्ही को माया रहित प्रभु (निरजन) की प्राप्ति होती
 है । सद्गुरु के साक्षात्कार (गुरु के उपदेश) द्वारा जिनके ज्ञान-कपाट खुल गए हैं,
 जिन्हे ज्ञान की प्राप्ति हो गई है, वे फिर इस जन्म-मरण के चक्कर मे नहीं पडते
 हैं । हे मनुष्य ! तुम्हे स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ है । मोक्ष-साधन के लिए यही तेरी
 वारी है—चौरासी लाख योनियाँ भोगने के बाद 'साधन-घाम मोक्ष कर द्वार' मानव
 शरीर मे आने को तुम्हारी वारी आई है । इस बात को तुम अपने मन मे अच्छी
 तरह सोच-समझ लो । कबीर कहते हैं कि राम भजन के द्वारा मोक्ष प्राप्त करके
 चाहे तो तुम अपनी इस वारी (दाँव) को जीत लो अथवा भजन की उपेक्षा करके
 और मोक्ष को गँवाकर इस दाँव को हार जाओ । कबीर कहते हैं कि मैने तो वार-
 वार पुकार कर तुम्हे चेतावनी देकर अपना कर्तव्य पूरा कर दिया है ।

अलंकार - (i) गूढोक्ति--भजसि कब भाई ।

(ii) पदमैत्री—सार वार पार ।

(iii) रूपकातिशयोक्ति—कपाट ।

(iv) रूपक--जोनी बाट ।

(v) पुनरुक्ति प्रकाश—पुकारि पुकारि ।

विशेष—समभाव के लिए गोस्वामी तुलसीदास का यह कथन देखिए—
बड़े भाग मानुष तन पावा । सुर नर मुनि सद्ग्रन्थन गावा ।

× × ×

नर तन सम नाहि कवनिउ देही । जीव चराचर जाचत तेही
नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी । ग्यान विराग भगति सुभ देनी ।
सो तनु धरि हरि भर्जहि न जे नर । होहि विषय रत मद मंद तर ।
काच किरिच बदलें ते लेहीं । कर ते डारि परस मनि देहीं ।

(रामचरितमानस)

तथा—हरि, तुम बहुत अनुग्रह कीन्हो ।

साधन-धाम बिबुध-दुरलभ तनु, मोहि कृपा कर दीन्हो । (विनयपत्रिका)

(३४६)

ऐसा ग्यांन बिचारि रे मनां,

हरि किन सुमिरे दुख भंजनां ॥टेक॥

जब लग मैं मै मेरी करै, तब लग काज एक नही सरै ॥

जब यहु मैं मेरी मिटि जाइ, तब हरि काज सवारै आइ ॥

जब लग स्यध रहै बन मांहि, तब लग यहु बन फूलै नांहि ॥

उलटि स्याल स्यंघ कूँ खाइ, तब यहु फूलै सब बनराइ ॥

जीत्या डूबै हाग्या तिरै, गुर प्रसाद जीवत ही मरै ।

दास कबीर कहै समझाइ, केवल राम रहौ ल्यौ लाइ ॥

शब्दार्थ - भजना = नष्ट करने वाला । सरै = सिद्ध हो गया । स्यध = शेर
अहकार । फूलै = भक्ति-भावना का उदय । स्याल = चेतन । मरै = जीवनमुक्त ।

सन्दर्भ—कबीरदास अहकार का त्याग करके राम भक्ति का उपदेश
देते हैं ।

भावार्थ - रे मन, तू मन मे ऐसा विवेक धारण करता है । जिससे दु खो
का नाश करने वाले प्रभु का भजन होने लगे ? जब तक 'मैं' और मेरी (अहभाव)
मे लिप्त रहोगे, तब तक तुम्हारा एक भी कार्य सिद्ध नहीं होगा । जब यह 'मैं' और
'मेरी' की भावना समाप्त हो जाएगी, तब भगवान स्वय आकर तुम्हारे समस्त कार्य
पूरे कर देगे । जब तक अन्त करण रूपी वन मे अहकार रूपी शेर का निवास रहता
है, तब तक इस अन्त करण रूपी वन मे भक्ति-भावना के फूल विकसित नहीं हो
सकेगे । जब शुद्ध बुद्ध चैतन्य इस अह रूपी सिंह को समाप्त कर देगा, तभी यह
अन्त करण रूपी वन ज्ञान और भक्ति को फूलो से युक्त हो जाएगा । इस दशा की
प्राप्ति होने पर परिस्थिति एक दम बदल जाएगी । आज तक जिस अहकार ने
चैतन्य को दबा रखा था, वह अब सदा-सर्वदा के लिए नष्ट हो जाएगा और जो चैतन्य
अहकार द्वारा पराभूत था, वह अब सदा-सर्वदा के लिए मुक्त हो जाएगा । इस
समय साधक गुरु की कृपा प्राप्त करके जीवन्मुक्त हो जाता है । कबीरदास समझा

कर कहते हैं कि इसीलिए हे जीव, तुम भगवान मे निरन्तर अपनी लौ लगाए रहो ।
(यही कल्याण का मार्ग है)

अलंकार—(i) रूपकातिशयोक्ति—स्यध, वन, स्याल ।

(ii) गूढोक्ति—किन सुमिरै ।

(iii) विरोधाभास—उलटि स्याल 'खाइ; जीत्या, तिरै; जीवत ही मरै ।

विशेष—(1) नाथ पथी प्रतीको का प्रयोग है ।

(ii) यह पद उलटवाँसी की शैली पर रचित है ।

(iii) 'अहकार' के रहते हुए प्रभु कैसे आ सकते है ? प्रेम-गली अत्यन्त सकरी है । इसमे 'मैं' और 'तू' मे एक ही रह सकता है ।

प्रेम गली अति साँकरी तामें दो न समाँय ।

रहिमन भरी सराइ लखि लौट मुसाफिर जाय ।

(३५०)

जागि रे जीव जागि रे ।

चोरन कौ डर बहुत कहत है, उठि उठि पहरै लागि रे ॥टेका॥

ररा करि टोप ममां करि बखतर, ग्यान रत्न करि षाग रे ।

ऐसै जौ अजराइल मारै, मस्तकि आवै भाग रे ॥

ऐसी जागणीं जे को जागै, ता हरि देइ सुहाग रे ।

कहै कबीर जाग्या ही चाहिये, क्या गृह क्या बैराग रे ॥

शब्दार्थ—बखतर = कवच । वाग = खड्ग, तलवार । अजराइल = अजरा-इल = मृत्यु का देवदूत ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि व्यक्ति को सदैव विवेकपूर्ण आचरण करना चाहिए ।

भावार्थ—रे जीव, जागो, जाग जाओ । इस जीवन मे (काम क्रोध, लोभ, मोह मत्सर) रूपी चोरो का डर बहुत कहा जाता है । इसलिए तू उठ और उठकर पहरा लगा जिससे बोध वृत्ति रूपी धन की रक्षा होती रहे ।) इसके लिए तू राम के नाम का इस प्रकार सहारा ले—रकार का शिरस्त्राण बना तथा मकार का कवच बना । ज्ञान रूपी रत्न की तलवार बनाले । इससे अज्ञान रूपी मृत्यु के देव दूत पर तुम ऐसा वार करो कि अहकार-रूपी उसका मस्तक पर तुम्हारा अधिकार हो जाए । ऐसी जाग मे जो कोई जागता है अर्थात् जाग कर जो कोई इस प्रकार सावधान रहता है, उन पर भगवान अपने सौभाग्य की कृपा करते हैं । तात्पर्य यह है कि जो आत्मा-सुन्दरी इस प्रकार की ज्ञानावस्था को प्राप्त करती है, उसको भगवान पति रूप मे प्राप्त होने हैं अर्थात् आत्मा का परमात्मा मे, सान का अनन्त मे तय हो जाता है । कबीर कहते हैं कि चाहे व्यक्ति गृहस्थ हो अथवा विरक्त, उसको सदैव विकार रूपी चोरो के प्रति सावधान रहना ही चाहिए ।

- अलंकार—(i) पुनरुक्ति प्रकाश—प्रथम पक्ति । उठि उठि ।
 (ii) रूपकातिशयोक्ति चोट ।
 (iii) रूपक—ररा पाग रे ।
 (iv) गूढोक्ति—क्या गृह रे ।

विशेष—(i) ररा रे—राम-नाम की महिमा का प्रतिपादन है ।

(ii) अजरार्इल मारै—इस्लामी सस्कारो का प्रभाव है ।

(iii) देह सुहाग रे - रहस्यवाद का प्रभाव है ।

(iv) समभाव के लिए देखे—

(क) जतन विनु मिरगनि खेत उजारे ।

× ×

अपने अपने रस के लोभी, करतब न्यारे-न्यारे ।

× ×

बुधि मेरी किरषी, गुरु मेरी बिभुका अक्खर दोइ रखवारे ।

एवं तोरी गठरी मे लागे चोर, बटोहिवा कारे सोवै ।

पांच-पचीस तीन हैं चोखा, यह सब कीन्हा सोर । —कबीरदास

(ख) शकराचार्य ने भी इन मानवीय दुष्प्रवृत्तियों को डाकू कहा है, जो ज्ञान रूपी रत्न को लूटती रहती हैं—

काम क्रोधश्च लोभश्च, देहे तिष्ठान्ति तस्करा .

ज्ञान रत्नापहाराय तस्याज्जागृत, जागृत ।

(ग) मैं केहि कहौं विपति अति भारी । श्री रघुबीर धीर हितकारी ।

मम हृदय भवन प्रभु तोरा । तहँ बसे आइ बहु चोरा ।

× ×

तम, मोह, लोभ, अहकारा । मद, क्रोध बोध-रिपु मारा ।

अति करहि उपद्रव नाथा । मरदाहि मोहि जानि अनाथा ।

मैं एक अमिट बटपारा । कोऊ सुनै न मोर पुकारा ।

× × ×

कह तुलसीदास सुनु रामा । लूटाहि तसकर तब धामा ।

(गोस्वामी तुलसीदास विनयपत्रिका)

(३५१)

जागहु रे नर सोवहु कहा,

जम बटपारै रू धै पहा ॥टेक॥

जागि चेति कछु करौ उपाइ, मोटा बैरी है जमराइ ॥

सेत काग आये बन मांहि, अजहू रे नर चेतै नांहि ॥

कहै कबीर तबै नर जागै, जम का डड़ मू ड मै लागै ॥

शब्दार्थ— बटपारै = बटमार, लुटेरे । पहा = पथ । मोटा = बडा । सत = श्वेत । डड = डडा ।

संदर्भ — कबीर जीव को मोह निद्रा का त्याग करने को कहते हैं ।

भावार्थ—रे मानव, तुम जाग जाओ, इस अज्ञान-निद्रा मे क्यो सो रहे हो ? यमरूपी लुटेरे ने तुम्हारे जीवन-पथ को रोक रखा है । (वह चाहे जब तुम्हे लूट लेगा) । जाग कर तथा सचेष्ट होकर अपने जीवन के सरक्षण का कुछ उपाय करो । यमराज तुम्हारा बहुत बडा शत्रु है । तुम्हारे इस जीवन रूपी वन मे श्वेत वाल रूपी श्वेत काग आगए हैं, जो तुम्हारे नाश के सूचक है । हे मानव ! तुम अब भी सावधान क्यो नही होते हो ? कबीर कहते हैं कि मानव तब होश मे आता है जब यमराज का डडा सिर पर बजने लगता है ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति—सोवहु कहा ।

(II) रूपक—जम बटपारै ।

(III) रूपकातिशयोक्ति—सेत काग, वन ।

विशेष—(i) डड मू ड मै लागै— लोकोक्ति का प्रयोग ।

(II) वन मे श्वेत कौओ का आना अत्यन्त अशुभ माना जाता है । वह नाश-सूचक होता है ।

(३५२)

जाग्या रे नर नीद नसाई,

चित चेत्यौ च्यंतामणि पाई ॥टेक॥

सोवत सोवत बहुत दिन बीते, जन जाग्यां तसकर गये रीते ।

जन जागे का ऐसहि नाण, विष से लागै वेद पुराण ॥

कहै कबीर अब सोवौं नांहि, राम रत्न पाया घट मांहि ॥

शब्दार्थ—नसाई = नष्ट करके । च्यतामणि = रामनाम रूपी चिंतामणि । तसकर = चोर, लुटेरे । रीते = खाली हाथ । नाण = लक्षण ।

संदर्भ—पूर्व पद के समान ।

भावार्थ—रे मानव, अज्ञान की नीद समाप्त करके अब जाग जाओ । मन मे विवेक धारण करो । तुमको भगवन्नाम रूपी चिन्तामणि की प्राप्ति होगी । तुम्हे इस अज्ञान-निद्रा मे सोते हुए बहुत समय व्यतीत होगया है । मानव के जगते ही काम-क्रोधादि रूपी चोर खाली हाथ ही भाग जाते हैं । जागे हुए (ज्ञानी) मनुष्य का यही लक्षण है कि उसे वेद-पुराण भी विष के समान (व्यर्थ) प्रतीत होने लगते हैं । कबीर कहते हैं कि मुझे तो अपने अन्त करण मे राम-नाम रूपी रत्न की प्राप्ति होगई है । अब मैं तो अज्ञान के वशीभूत होकर नहीं सोऊँगा ।

अलंकार—(1) अनुप्रास—नट नीद नसाई । चित चेत्यौ च्यतामणि ।

(II) रूपकातिशयोक्ति—च्यंतामणि ।

(III) पुनरुक्ति प्रकाश—सोवत सोवत ।

(iv) चपलातिशयोक्ति की व्यजना - जन जाग्या रीते ।

(v) उपमा—विष से . . पुराण ।

(vi) रूपक—राम रतन ।

विशेष—(1) विष पुराण—वेद-पुराण इत्यादि ज्ञान प्राप्ति के साधन मात्र हैं । सिद्धावस्था में उनकी निरर्थकता स्वयं सिद्ध है । इस कथन के ऊपर अविद्यावत् विषयाणि सर्वशास्त्राणि का प्रभाव स्पष्ट है ।

(ii) अन्तिम पक्ति में 'सोवों' का पाठान्तर "सोबी" है । अर्थ होगा—अब सोना नहीं है अर्थात् अब तुम मत सोओ । यह अर्थ भी सगत एव प्रसगानुकूल है ।

(iii) समभाव के लिए देखें—

अब लौं नसानी, अब न नसैहों ।

×

×

पायौ नाम चारु चितामनि, डट कर ते न खसैहों ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(३५३)

सतनि एक अहेरा लाधा,

मिर्गनि खेत सबनि का खाधा ॥टेक॥

या जगल मैं पांचौ मृगा, एई खेत सबनि का चरिगा ॥

पारधीपनों जे साधै कोई, अध खाधा सा राखै सोई ॥

कहै कबीर जो पचौं मारै, आप तिरै और कू तारै ॥

शब्दार्थ—अहेरा = शिकार । लाधा = प्राप्त किया । मिर्गनि = मृगो ने

खाधा = खा डाला । पारधीपना = शिकारीपना ।

सन्दर्भ—कबीर का कहना है कि इन्द्रियो को वश में करने वाला भवसागर के पार जा सकता है ।

भावार्थ—सतो को एक शिकार प्राप्त होगई है । मृगो (काम-क्रोधादि अथवा पाँचो इन्द्रियो के विषयो) ने सब लोगो के जीवन-रूपी खेत चर डाले है । इस ससार रूपी जगल में पाँच मृग (उपर्युक्त अनुसार) हैं । इन्होंने ही समस्त प्राणियो के जीवन-रूपी खेतो को चर लिया है । जो कोई व्यक्ति इन मृगो को मारने के लिए शिकारीपना धारण करते है, वह इन मृगो के आवे खाए हुए जीवन-रूप खेत की रक्षा कर लेता है । कबीर कहते हैं कि जो पाँचो विकारो एव पाँचो इन्द्रियो के विषयो को समाप्त कर देता है, वह स्वयं ही भवसागर के पार हो जाता है और अन्य लोगो को भी पार करा देता है ।

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति—मृग खेत ।

(ii) सागरूपक—खेत और जीवन के रूपक का निर्वाह है ।

विशेष—(1) पारधीपनों जे साधे—विषयासक्ति पर नियन्त्रण के अनुपात में ही साधक का कल्याण होता है ।

(11) समभाव के लिए देखे—

जतन बिनु मिरगनि खेत उजारे ।

टारे टरत नही निसि-वासुरि, बिडरत नही बिडारे ।

अपने-अपने रस के लोभी, करतव न्यारे-न्यारे ।

×

×

बुधि मेरी किरषी, गुरु मेरो बिभुका अक्खर दोइ रखबारे ।

(कबीरदास)

(३५४)

हरि कौ बिलौवनौ बिलोइ भेरी माई,

एसैं बिलोइ जैसैं तत न जाई ॥टेक ॥

तन करि मटकी मनहि बिलोइ, ता मटकी मै पवन समोइ ॥

इला प्यगुला सुषमन नारी, बेगि बिलोइ ढाढी छछिहारी ॥

कहै कबीर गुजरी बौरांनीं, मटकी फूटीं जोति समांनीं ॥

शब्दार्थ—विलोवना=विलोने की वस्तु । छछिहारी=छाछ लेने वाली नारियाँ । गुजरी=गूजरी ।

सन्दर्भ—कबीर आत्मा को सम्बोधित करके ज्ञान प्राप्ति की बात करते हैं ।

भावार्थ—हे सखि, तुम इस जीवन-रूपी विलोवने को भगवान का समझ कर उन्हीं के लिए बिलाओ । परन्तु इस प्रकार बिलोओ कि सारवस्तु (मक्खन रूपी तत्त्व) नष्ट न हो जाए । इस शरीर रूपी मटकी में मन रूपी दही को बिलोओ । उस मटकी में प्राणायाम रूप जल समो दो । इसको जल्दी-जल्दी बिलोओ । छाछ लेने वाली इडा, पिंगला और सुषुम्ना रूपी नारियाँ खड़ी हुई प्रतीक्षा कर रही हैं । कबीर कहते हैं कि जीवात्मा रूपी गूजरी इस बिलोने की क्रिया में आत्मविस्मृत हो गई । फलस्वरूप यह मटकी फूट गई—शरीर के बन्धन समाप्त होगये और उसकी आत्म चेतना रूपी ज्योति उस महान ज्योति के साथ एकाकार होगई । सात का अनन्त में लय होगया ।

अलंकार—सागरूपक—जीवन से भक्तिरस प्राप्त करने और दही बिलोने के रूपक का निर्वाह है ।

(11) रूपकातिशयोक्ति—विलोवनो ।

विशेष—(1) हरि को बिलौवनो—ईश्वरार्पण बुद्धि से जीवन-यापन करो ।

(11) तत—ज्ञान और भक्ति रूपी महारस ।

(111) पवन समोइ—जैसे दही में मिलाया हुआ जल घी को दही से अलग कर देता है, वैसे ही प्राणायाम के प्रभाव से मन की वासनाओं का खट्टापन दूर हो जाता है, और उसमें भगवद प्रेम की स्निग्धता प्रमुख हो जाती है ।

(114) छछिहारी—इडा पिंगला एवं सुषुम्ना की चर्चा कायायोग के अन्तर्गत

की जाती है। इन्हे छिछिहारी कहने का कारण यह है कि कायायोग में तत्त्वरूप महारस की प्राप्ति नहीं हो पाती है। वह चैतन्य के साक्षात्कार का विषय है, परन्तु इतना रस तो मिल ही जाता है, जितनी स्निग्धता मठे में होती है। अभिप्रेत यह है कि इस महारस के स्पर्श से तीनों नाडियाँ स्निग्ध एवं पातिल साधना रस से आप्लावित अवश्य हो जाती हैं।

(v) इस पद में ज्ञान एवं भक्ति के महारस की प्राप्ति का वर्णन है। इस महारस की साधना में कायायोग की सिद्धि तथा तृप्ति भी स्वयमेव हो ही जाती है। इसके साथ ही भक्ति का पर्यवसान अद्वैतावस्था अभेद बुद्धि में होता है। यह मटकी फूटी ज्योति समानी कथन द्वारा प्रकट है।

(vi) इसमें ज्ञान और भक्ति की अभिन्नता प्रकट है।

(vii) कबीर ने आत्मा को गूजरी इसलिए कहा है कि अहीर और गूजर जाति का मुख्य व्यवसाय गाय-भैंस पालकर दूध-घी का व्यापार करना है।

(३५५)

आसन पवन कियै दिढ रहु रे,

मन का मैल छाडि दै बौरै ॥टेक॥

क्या सोगी मुद्रा चमकाये, क्या विभूति सब अगि लगायें ॥

सो हिंदू सो मुसलमान, जिसका दुरस रहै ईमान ॥

सो ब्रह्मा जो कथै ब्रह्म गियांन, काजी सो जानै रहिमान ॥

कहै कबीर कछु आंन न कीजै राम नाम जपि लाहा लीजै ॥

शब्दार्थ—आसन=योग के अष्टांग साधनों में एक। पवन=प्राणायाम दिढ=दृढ। बौरै=वावले। सोगी=श्रुगी, योगियों द्वारा धारण किया जाने वाला उपकरण विशेष। मुद्रा=योगियों का एक आभूषण। दुरपद=दुरुस्त, ठीक, दृढ। काजी=मुसलमान न्यायाधीश जो शरा के अनुसार मामलों का निर्णय करे। रहिमान=दयालु प्रभु। आन=अन्य साधना। लाहा=लाभ, जीवन का लाभ।

सदर्भ—कबीर राम नाम की महिमा का प्रतिपादन करते हैं।

भावार्थ—हे पागल जीव, पवन रूपी आसन पर दृढतापूर्वक स्थित रहो अर्थात् तू समाधिस्थ होकर प्राणायाम की दृढ साधना करो और मन का कलुष दूर करलो। सोगी, मुद्रा आदि बाहरी उपकरणों के सजाने से तथा अगो (शरीर) पर भस्म लगाने से क्या होता है? सच्चा हिन्दू और सच्चा मुसलमान वही है, जिसका ईमान ठीक ठिकाने बना रहता है अर्थात् जो प्रलोभनों द्वारा विचलित नहीं होता है। वही ब्राह्मण है जो ब्रह्मज्ञान की बात करता है। वही काजी (धर्म और न्याय का ज्ञाता) वही है जो भगवान के दयालु स्वरूप को पहचानता है अर्थात् जो प्रत्येक मामले पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करता है। कबीर कहते हैं कि और कुछ भी मत करो, केवल राम नाम की जप करके जीवन का लाभ प्राप्त करो अर्थात् जीवन को सार्थक बनाओ।

अलंकार—रूपक—आसण पवन ।

(11) वक्रोक्ति—क्या सीगी..... 'लगायें' ।

विशेष (1) धार्मिक वाह्याचार, विधि-विधान आदि केवल आडम्बर हैं । ये व्यर्थ हैं ।

(11) कबीर का कहना है कि अपने प्राणों पर नियन्त्रण रख कर स्व-स्वरूप का साक्षात्कार करना चाहिए । इस प्रकार ज्ञान और भक्ति में, शुद्ध चैतन्य स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना चाहिए । ऐसी स्थिति में अपने सहज धर्म में प्रतिष्ठित रहने पर पूजा और साधना के बाहरी उपचारों की आवश्यकता नहीं रहती है ।

(३५६)

ताथे कहिये लोकाचार,

वेद कतेवक थै ब्यौहार ॥टेक॥

जारि वारि करि आवै देहा, मूवाँ पीछै प्रीति सनेहा ॥

जीवत पित्रहि मारहि डंगा, मूवाँ पित्र ले घाले गगा ॥

जीवत पित्र कुं अन न खवाँवै, मूवाँ पाछै प्यड भराँवै ॥

जीवत पित्र कुं बोलै अपराध, मुवाँ पीछै देहि सराध ॥

कहि कबीर मोहि अचिरज आवै, कऊवा खाइ पित्र क्यू पावै ॥

शब्दार्थ—कतेव=कुरान, धर्म ग्रन्थ । मूवाँ=मरे । डगा=डडा । घाले=फेकते हैं ।

सन्दर्भ—कबीरदास कहते हैं कि वाह्याचार केवल दम्भ प्रेरित होते हैं ।

भावार्थ—वेद और कुरान लौकिक आचरण का वर्णन करते हैं । इस कारण उनकी बातों को मात्र लोकाचार कहा जाना चाहिए । व्यक्ति अपने सम्बन्धियों के मृत शरीर को जलाकर उसका चिन्ह तक मिटा देते हैं और फिर उसके बाद रो-पीट कर उसके प्रति अपनी प्रीति प्रकट करते हैं । पुत्र जीवित पिता को लट्ट से मारता है और मरने पर उसकी अस्थियों को गंगा के जल में डालने के लिए पहुँचता है । वह जीवित पिता को तो भोजन भी नहीं देता है और मरने पर उसकी वृभुक्षा की शांति करने के लिए पिण्डदान का दिखावा करता है । जीते जी पिता को अनेक दोष देता है (और उसके प्रति कटु शब्द कहता है) और मरने पर श्राद्ध के नाम पर श्रद्धा की अभिव्यक्ति का स्वाग करता है । कबीरदास कहते हैं कि इन समस्त वाह्याचारों को देख कर मुझको आश्चर्य होता है । कौए श्राद्ध के जिस अन्न को खाते हैं, उसे पितृ-गण क्यों कर प्राप्त कर सकते हैं ?

अलंकार—(1) पदमैत्री—जारि वारि ।

(11) वक्रोक्ति—कऊवा 'पावै' ।

विशेष—(1) सच्ची भावना से रहित कर्म काण्ड का खडन है ।

(11) कबीर ने यह नहीं विचार किया कि जो पुत्र जीवित पिता की पूरी श्रद्धा-भक्ति से सेवा करता है, वह यदि उसके मरने पर श्राद्ध आदि करता है, तो

वह सर्वथा उपयुक्त एवं सगत है । कबीर वस्तुतः ऐसे कुल में उत्पन्न हुए थे जहाँ वेदाध्ययन कोसो नहीं दिखाई देता है । इसी कारण वह वेदों द्वारा प्रतिपादित धर्म-तत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर पाए । वह स्थूल रूप के परे पदार्थ के सूक्ष्मरूप का चिन्तन करने का अवसर ही न पा सके थे ।

(11) जीवन • गंगा—कबीर के इस कथन पर सम्भवतः इस प्रकार की लोकोक्तियों का प्रभाव है—

“मरे बबा की बड़ी-बड़ी अखियाँ” अथवा ‘जियत बाप से लट्ठमलट्ठा । मरे बाप की सिट्टम सिट्टा ।’

(३५७)

बाप राम सुनि बीनती मेरी,

तुम्ह सँ प्रगट लोगनि सँ चोरी ॥टेक॥

पहले काम मुगध मति कीया, ता भै कपै मेरा जीया ॥

राम राइ मेरा कह्या सुनीजै, पहले बकसि अब लेखा लीजै ॥

कहै कबीर बाप राम राया, अबहू सरनि तुम्हारी आया ॥

शब्दार्थ—मुगध मति=मोहित बुद्धि । बकस=क्षमा । लेखा=ब्यौरा, हिसाब ।

संदर्भ—कबीर भगवान से अपने कृत्यों के लिए क्षमा याचना करते हैं ।

भावार्थ—हे पिता राम, मेरी प्रार्थना सुन लीजिए । मैं अन्य लोगों से तो अपने अपराधों को छिपाता हूँ, परन्तु तुम्हारे सम्मुख वे प्रकट हैं । पहले काम ने मेरी बुद्धि को मोहित कर रखा था, और मैंने मूर्खता के कार्य किए । इसी कारण आपके सामने आते हुए मेरा हृदय कापता है (मुझे डर लगता है) । हे राजा राम आप मेरी विनती सुन लीजिए । पहले आप मेरे अपराधों को क्षमा कर दें और उसके बाद मेरे द्वारा किए गए कर्मों का हिसाब-किताब लगाइए । अब तो आपकी शरण में आ गया हूँ ।

अलंकार—श्लेष—काम मुगधमति ।

विशेष—(1) दैन्य की मार्मिक व्यंजना है ।

(ii) प्रपत्ति एवं शरणागति की सहज भाव से अभिव्यक्ति है ।

(iii) ‘बाद’ में ग्राम्यत्व बोध है ।

(३५८)

अजहं बीच कैसे दरसन तोरा,

बिन दरसन मन मानै क्यूं मोरा ॥टेक॥

हमहि कुसेवग क्या तुम्हहि अजांनां, दुह मैं दौस कहौ किन रामां ॥

तुम्ह कहियत त्रिभवन पति राजा, मन बछित सब पुरवन काजा ॥

कहै कबीर हरि दरस दिखावौ, हमहि बुलावौ कै तुम्ह चलि आवौ ॥

शब्दार्थ— बीच = अन्तर, भेद बुद्धि । अजाना = अपरिचित । पुरवन = पूरा करने वाले ।

सन्दर्भ— कबीर भगवान से भक्ति की याचना करते हुए कहते हैं ।

भावार्थ— हे प्रभु ! मेरे और आपके बीच में अभी भी अन्तर है । अर्थात् मैं और आप एकाकार नहीं हो पाए हैं । तब आपका दर्शन किस प्रकार हो ? परन्तु आपके दर्शनो के बिना भी मेरा हृदय व्याकुल है । मैं भी कुसेवक हूँ अथवा आप भी अज्ञ हैं— मेरी आन्तरिक भावनाओं से परिचित नहीं हैं ? दोनो ही में दोष है, हे राम, यह क्यों नहीं कहते हो ? तुम्हे तीनों लोको का स्वामी कहा जाता है और तुम मन की समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने में समर्थ हो । कबीरदास कहते हैं कि हे भगवान, आप मुझे अपने दर्शन दें । या तो मुझे अपने पास बुला लें अथवा आप स्वयं ही मेरे पास चले आएं ।

अलंकार—(1) गूढोक्ति— कैसे... तोरा ।

(II) सदेह— कुसेवक क्या तुम्हहि अजाना ।

विशेष— आप या तो मुझमें अद्वैत-भावना जगाकर अपने आप में मुझे लवलीन करले अथवा ऐसी कृपा करे कि मुझे जीवन और जगत में सर्वत्र आपकी व्यक्त प्रवृत्ति का सरस आभास प्राप्त होने लगे । प्रकारांतर से भक्ति की याचना है ।

(३५६)

क्यूं लीजै गढ़ बका भाई,

दोवर कोट अरु तेवर खाई ॥

कांम किवाड़ दुख सुख दरवांनों, पाप पुंनि दरवाजा ।

क्रोध प्रधान लोभ बड़ दूंदर, मन मैं वासी राजा ॥

स्वाद सनाह टोप ममिता का कुबधि कमाण चढ़ाई ।

त्रिसना तीर रहे तन भीतरि, सुबधि हांथि नहीं आई ॥

प्रेम पलीता सुरति नालि करि, गोला ग्यांन चलाया ।

ब्रह्म अग्नि ले दिया पलीता, एकै चोट ढहाया ॥

सत संतोष ले लरने लागे, तोरे दस दरवाजा ।

साध संगति अरु गुर की कृपा थै, पकरयौ गढ़ कौ राजा ॥

भगवत भीर सकति सुमिरण की, काटि काल की पासी ।

दास कबीर चढ़े गढ़ ऊपरि, राज दियो अविनासी ॥

शब्दार्थ— क्यूं = किस प्रकार । गढ़ = किला, शरीर । बका = टेढा, दुर्गम कठिन । लीजै = विजय प्राप्त की जाए । दोवर = दोहरा अथवा द्वैत भाव । काठ = परकोटा, दीवाल । दोवर कोट = अन्नमय एव प्राणमय कोष । तेवर = तिहरी । तेवर खाई = तीन खाइयाँ— मनोमय, विज्ञानमय एव आनन्दमय कोष अथवा तीन गुण । दरवाजी = पहरेदारी । दूंदर = द्वन्द्व । मैंवासी = नायक, किलेदार । सनाह = सनाह = कवच । टोप = शिरस्त्राण । भगवत = भागवत कर्म । पासी = पाश ।

सन्दर्भ—कवीर हठयोगी साधना का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—रे भाई, इस कठिन शरीर रूपी किले पर किस प्रकार विजय प्राप्त की जाए ? इसको दो दीवालें तीन खाइयाँ घेरे हुए है । दो दीवाल और तीन खाई का अर्थ पंच कोष भी हो सकता है और “द्वैत भाव एव तीन गुण भी” हो सकता है । इस प्रकार यह पाँच आवरण वाला किला है । इसके काम रूपी किवाड़ हैं, सुख-दुख ही पहरेदार हैं तथा पाप और पुण्य इसके दरवाजे हैं । क्रोध यहा का प्रधान है और लोभ अपनी तृप्ति के लिए बहुत सघर्ष करता रहता है । मन रूपी नायक ही इस शरीर-रूपी दुर्ग का राजा है । इन्द्रिय-स्वाद ही इस किले के राजा का कवच है । इसने ममता का शिरस्त्राण पहन रखा है । मन-रूपी राजा ने कुबुद्धि का धनुष चढा रखा है । इसके शरीर रूपी तरकश में तृष्णा के तीर भर रहे हैं और इस किले में ढूढने पर भी सुबुद्धि नहीं मिलती है । इस दुर्ग को जीतने का उपाय यह है कि सुरति रूपी तोप की नाल में ईश्वर प्रेम का पलीता से ज्ञानाग्नि लगाकर मैंने आत्म-बोध का गोला चलाया और इस प्रकार ‘ब्रह्माग्नि लेकर मैंने इस किले में पलीता लगाया और एक ही प्रहार से इस किले को ढा दिया (गिरा दिया) सत्य-निष्ठा एव सतोष की सेना को लेकर जब मैं लडने लगा, तब मैंने किले के दसो द्वार (नवद्वार शरीर के तथा ब्रह्मरन्ध्र) तोड डाले अर्थात् शारीरिक सीमाएँ समाप्त होकर आत्म-चेतना का विश्व चेतना में लय हो गया । साधु-सगति और गुरु की कृपा के सहारे मैंने अहकारी दुर्गपति मन को अपने वश में कर लिया । भागवत कर्मों की भीड तथा नाम स्मरण की शक्ति के द्वारा मैंने काल का बन्धन भी तोड दिया । भगवान के दास कवीर ने इस शरीर-रूपी गढ पर आक्रमण किया और अविनाशी भगवान ने उसको इसका राज्य दे दिया अर्थात् अमर पद प्रदान कर दिया ।

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति—गढ ।

(II) सागरूपक—सम्पूर्ण पद । शरीर और गढ के रूपक की निर्वाह है ।

(III) छेकानुप्रास की छटा—काम किवाड़, पाप पुनि, मर मँवासी, स्वाद सनाह, कुबुद्धि कमाण । त्रिसिना तीर । प्रेम पलीता, गोला ग्यान, सत सतोष, दस दरवाजा, साध सगति, भगवत भीर, सकति सुभिरण, कटि काल ।

विशेष—(1) विषयी जीवन और ज्ञान एव भक्ति साधना का जीवन—दोनों का एक साथ वर्णन किया गया है ।

(II) काम-किवाड़—इस शरीर की वृत्तियों एव विषयों के प्रति आकर्षण दोनों ही इच्छा द्वारा नियंत्रित होते हैं । इसी से ‘काम’ को किवाड़ कहा है ।

(III) दुख-सुख दरबानी—वृत्तियाँ सुखात्मक एव दुखात्मक होती हैं । सुख-दुख के आदेश से ही वृत्तियों के आने-जाने की कल्पना की गई है ।

(iv) पाप-पुनि दरवाजे—वृत्तियाँ पाप-पुण्य रूप हैं, अतः उनके ये दो दरवाजे हैं ।

(v) क्रोध-प्रधान—“कामात् सजायते क्रोध,” के अनुसार इच्छा की आपूर्ति क्रोध का हेतु है । अधिकांश इच्छाएँ पूरी नहीं हो पाती हैं । इसी से क्रोध की प्रधानता कही है ।

(vi) स्वाद सनाह—जीव इन्द्रियों के स्वाद द्वारा सदैव वशीभूत बना रहता है । फलस्वरूप आत्म-हित की बातों का उम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है । उपदेश के तीर स्वाद के कवच को पार नहीं कर पाते हैं ।

(vii) रोप-ममता—मानव का अह राग-द्वेष से इतना घिर जाता है कि उसके मस्तिष्क में विवेक की बात प्रवेश ही नहीं कर पाती है । ‘अह’ व्यक्ति का शिरो भाग है । इसकी रक्षा ‘ममत्व’ करता है । इसी से ‘ममता’ रूपी शिरस्त्राण कहा है ।

(viii) एकं चोढ ढहाया—स्वरूप-स्थिति के कारण देहाध्यास छूट जाता है । यह अध्यास ही शरीर की जड़ है । अध्यास का नष्ट होना ही शरीर रूपी किले का ढह जाना है ।

(ix) ‘नालिकर’ के स्थान पर ‘हवाई’ पाठान्तर है । डा० माताप्रसाद गुप्त ने ‘हवाई’ को ही ठीक माना है । उनका कहना है कि, नाले कबीर के मरणान्तर बाबर के साथ आई थी । ‘हवाई’ गोलो को फेंकने का एक यन्त्र होता था, जिसका उल्लेख इतिहास में नालो के प्रचलन के पूर्व पयाप्त मात्रा में मिलता है ।”

सुरति—देखें टिप्पणी पद सं० १६२ ।

(३६०)

रैनि गई मति दिन भी जाइ,

भवर उड़े बग बैठे आइ ॥टेक ॥

कांचै करवै रहै न पानी, हंस उड़्या काया कुमिलानों ॥

थरहर थरहर कपै जीव, नां जानू का करिहै पीव ॥

कऊआ उड़ावत मेरी बहियां सिरांनीं, कहै कबीर मेरी कथा सिरांनीं ॥

शब्दार्थ—रैनि=रात्रि, युवावस्था । दिन=वृद्धावस्था । बग=बगुला । करवै=मिट्टी का छोटा वर्तन, कऊआ । हंस=बोध । सिरानी=समाप्त हुई ।

सदर्थ—कबीरदास जीवात्मा रूपी पत्नी की परमात्मा रूपी पति से मिलन से पूर्व की मन स्थिति का वर्णन कर रहे हैं । उमका वर्णन एक ऐसी नवोढ़ा के रूप में किया गया है जो प्रथम समागम भय के कारण प्रिय-मिलन में सकोच करती है ।

भावार्थ—यौवन रूपी रात्रि तो पति के वास्तविक स्वरूप के अज्ञान में व्यतीत हो गई । अब परिपक्वावस्था रूपी बुढ़ापा भी कहीं इसी प्रकार व्यतीत न हो जाए । युवावस्था रूपी रात्रि के प्रतीक काले बालों तथा भौरे तो उड़ गए हैं और वृद्धावस्था रूपी दिन के आगमन की सूचना देने वाले पर्वत केश रूपी बगुले

आ गए हैं। यह शरीर कच्ची मिट्टी के वर्तन (करए) के समान है। इसमें जीवन रूपी पानी अधिक समय तक नहीं टिक पाता है। बोध रूप हस के निकल जाने पर यह शरीर रूपी कमल कुम्हला कर नष्ट हो जाता है जीवात्मा यह सब कुछ समझती हुई कहती है कि प्रिय समागम में सम्भाव्य कष्ट की कल्पना करके मेरा मन भय के कारण थर-थर काँपता है कि मिलने पर प्रियतम न मालूम मेरी क्या दुर्दशा करेगा ? परन्तु इतने पर भी मेरा मन प्रियतम के दर्शनो के लिए उत्सुक है। उनके आगमन की प्रतीक्षा में कौए उडाते-उडाते मेरी वाँहो में दर्द होने लगा है। परन्तु प्रियतम अभी तक नहीं आए हैं)। कबीरदास कहते हैं कि इस प्रकार जीवात्मा की कथा समाप्त होती है कि वह परमात्मा से मिलना तो चाहती है, परन्तु मिलन के लिए साधना करना चाहती है।

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति—रैनि, दिन, भवर, वग, कवै, हस।

(II) पुनरुक्ति प्रकाश—थर थर।

(III) श्लेष पुष्प रूपक—पानी।

विशेष—(1) 'करूवा उडावत'—यह एक लोक प्रचलित परम्परा है कि नारियाँ कौआ उडा कर अपने प्रियजन के आगमन के शकुन का विचार करती हैं।

(II) रहस्यवाद की मार्मिक व्यंजना है।

(III) सरल रूपको द्वारा हृदय स्पर्शी भाव-व्यजना की गई है। ऐसे पद कबीर के उत्कृष्ट के प्रमाण हैं,

(IV) कामासक्ति के इस भक्ति-पद में भक्ति-भावना एवं लौकिक प्रेम दोनों की रसावस्था की अनुभूति है।

(V) इस पद में मान्य साधक जीवन के क्रमिक विकास तथा उसके पारस्परिक समन्वय की सुन्दर व्यंजना है। इसमें साधना के जीवन का पूरा लोका-खोखा भी है। अभिप्रेत यह है कि साधक प्रायः पूरी निष्ठा एवं तत्परता के साथ साधना में रत नहीं होते हैं। वे 'कौवा' ही उडाते रहते हैं और उनका जीवन समाप्त हो जाता है। यदि अतिम पक्ति का यह अर्थ किया जाए कि हे प्रभु ! आपकी प्रतीक्षा करते-करते मैं तो थक गई हूँ। अब मैं मरणासन्न हूँ, शीघ्र ही दर्शन दे दो, तब यह कथन एक भक्त का कथन हो जाएगा और इसमें सूफी पद्धति की विरह-व्यंजना मानी जाएगी। इस प्रकार इस पद में हमको ज्ञान, भक्ति और रहस्यवाद तीनों का सुन्दर समन्वय दिखाई देता है।

(३६१)

काहे कू भीति बनाऊ टाटी,

का जानूँ कहा परिहै माटी ॥टेक॥

काहे कू मदिर महल चिणाऊँ, मूवा पीछे घड़ी एक रहण न पाऊ ॥

काहे कू छाऊँ ऊँच उंचेरा, साढ़े तीनि हाथ घर मेरा ॥

कहै कबीर नर गरब न कीजै, जेता तन तेती भुइ लीजै ॥

शब्दार्थ—भीत=दीवाल । टाटी=परदा । इंचेरा=ऊँचहरा=ऊँचा घर, छते ।

संदर्भ—कबीर जीवन की क्षणिकता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—मैं दीवार अथवा परदा (ओट) किस लिए बनवाऊँ ? पता नहीं इस शरीर की मिट्टी कहा गिरेगी ? मैं मन्दिर और महल किस लिए बनवाऊँ ? मरने के बाद तो यह शरीर उनमें एक क्षण भी नहीं रहने पाएगा । ऊँची-ऊँची छते भी मैं किस लिए डालूँ । मेरा यह शरीर तो केवल साढ़े तीन हाथ लम्बा है । कबीरदास कहते हैं कि मनुष्य को इस शरीर के प्रति अभिमान एवं ममता करके व्यर्थ बहुत स्थान घेरने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, गुजर भर के लिए जितना स्थान पर्याप्त हो, बस उतनी ही जगह लेना चाहिए । (मरने पर तो केवल कब्र में ही सोना है ।)

अलंकार—(1) गूढोक्ति—काहे “ माटी ।

विशेष—(1) 'निर्वेद' की व्यजना है ।

(II) जीवन की क्षणभंगुरता की चर्चा द्वारा अपरिग्रह का उपदेश है ।

(III) समभाव देखिए—

कहा चिणावै मेडिया, लॉबी भीति उसारि ।

घर तो साडे तीन हाथ, घना त पौनि चारि । (कबीरदास)

[राग विलावल]

(३६२)

बार बार हरि का गुण गावै,

गुर गमि भेद सहर का पावै ॥टेक॥

आदित करै भगति आरंभ, काया मंदिर मनसा थभ ॥

अखंड अहनिंसि सुरष्या जाइ, अनहद बेन सहज में पाइ ॥

सोमवार ससि अमृत झरै, चाखत बेगि तप निसतरै ।

बाणों रोक्यां रहै दुवार, मन मतिवाला पीवनहार ॥

मगलवार ल्यों माहीत, पंच लोक की छाड़ौ रीत ।

घर छाड़ै जिनि बाहरि जाइ, नही तर खरौ रिसावै राइ ॥

बुववार करै बुधि प्रकास, हिरदा कवल नै हरि का वास ।

गुर गमि दोऊ एक समि करै, ऊरध पकज थै सूधा धरै ॥

त्रिसपति बिपिया देइ वहाइ, तीनि देव एकै सगि लाइ ।

तीनि नदी तहाँ त्रिकुटी साहि, कुसमल धोवै अह निसि न्हाहि ॥

सुक्र सुधा ले इहि व्रत चढ़े, अह निसि आप आप सूँ लड़े ।

नुरपी पच राखिये सवै, तौ दूजी द्विष्टि न पैसे कवै ॥

थावर थिर करि घट मै सोइ, जोति दीवटी भेलहै जोइ ।

बाहरि भीतरि भया प्रकास तहाँ भया सकल करम का नास ॥

जब लग घट मै दूजी आंण, तब लग महलिन पावै जांण ।

रमित रांम सूं लागै रग, कहै कबीर ते निर्मल अग ॥

शब्दार्थ—गमि=अगम्य अथवा द्वारा । सहर=पाठान्तर सुहरि, अथवा सहचर=आत्माराम । आदित=आदित्यवार, सूर्यवार-इतवार । मनसा=सकल, प्रेम रूपी सकल्प । थभ=स्तम्भ । अहनिस्ति=दिन रात । रख्या=रखा जाए । बाइ=वायु । माहीत=लगाओ । पच लोक=पाँच विकार (काम, क्रोध लोभ, मोह मत्सर) । पकज=सहस्रार । कुसमल=कल्मष । सुरषी=सुरक्षित, नियंत्रित । थवर=स्थावर । थिर=स्थिर । दीवाटि=दीप यष्टि, दीयाधार ।

सदर्भ—कबीर योग-साधना विधि का वर्णन करते हैं । सप्ताह भर के व्रतो का नवीन साधना-परक एव अव्यात्मिक अर्थ दिया गया है ।

भावार्थ—कबीर कहते हैं कि प्रत्येक वार को हरि का गुणगान करना चाहिए । तब गुरु के द्वारा आत्माराम का कठिन रहस्य जाना जा सकता है । रविवार के दिन इस भक्ति-साधना को आरम्भ करो । इसके लिए शरीर रूपी मंदिर को भगवद्प्रेम के सकल्प रूपी खम्भे का आधार प्रदान करो । इससे अखण्ड नाम कीर्तन की मधुर स्वरी दिन रात हृदय में प्रवेश करेगी तथा अनहद नाद की वीणा भी सहज में ही सुनाई देगी । सोमवार के दिन सहस्रार के चन्द्रमा से अमृत भरता है । उसके चखने मात्र से शरीर की तपन (कष्ट) से शीघ्र ही मुक्ति मिल जाती है । जीभ उलट कर अमृत के इस द्वार को रोक लेती है और इस रस में मग्न मन इसको पीता रहता है । मंगलवार को उस परम तत्व में मन की लौ लगा दो तथा पाँचों विकारों की रीति छोड़ दो अर्थात् काम क्रोधादि पच विकारों के वशीभूत होना छोड़ दो । घर छोड़ कर बाहर मत जाओ (गृहस्थ के कर्तव्यो एव धर्म से विमुख मत बनो) अन्यथा राजा राम बहुत रुष्ट हो जाएँगे ।

बुधवार के दिन बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश करो । हृदय कमल में भगवान का निवास है । गुरु के द्वारा प्राप्त ज्ञान के द्वारा ज्ञान एव प्रेम को समान भाव से ग्रहण करना चाहिए अथवा इडा-पिंगला को सम करे तथा सहस्रार कमल को उलटे से सीधा कर दे—अधोमुखी ऊर्ध्वमुखी कर देना चाहिए । वृहस्पतिवार को समस्त विषयो को फेंकदे और तीनों देवताओं (त्रिगुण) को एक स्थान पर लगादे—ब्रह्म में लीन कर दे । त्रिकुटी स्थान की इडा, पिंगला और सुपुम्ना तीन नदियों में रात दिन अपने कल्मषो तथा विषय-राग को धोता रहे । शुक्रवार को साधना का अमृत लेकर यह व्रत धारण कर कि मैं रात-दिन अपने मन की कुवासनाओं से जूझता रहूँगा । इसके साथ पाँचों ज्ञानेन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण रखे । तब दूसरी दृष्टि (द्वैत भावना अथवा अन्य साधना के प्रति आसक्ति) व्यक्ति के मन-मानस में घुसेंगे ही नहीं । शनिवार को अपना हृदय स्थिर करे तथा अन्तःकरण में उसी परम ज्योति को प्रेम एव ज्ञानवृत्तियों के दीयाधार में रखकर प्रकाशित कर दे । इस ज्योति के द्वारा बाहर-भीतर दोनों ही स्थानों पर प्रकाश होगा और समस्त कर्मफल समाप्त

हो जाएंगे। जब तक अन्तःकरण में द्वैत की भावना है, भेद-बुद्धि है, तब तक शरीर स्थित मन्दिर, जिसमें प्रभु का वास है, का रहस्य प्राप्त नहीं किया जा सकता है। कबीरदास कहते हैं कि राम में रमण करते हुए मन पर राम के अनुराग का रंग चढ़ जाता है और अन्तःकरण निर्मल हो जाता है।

अलंकार—(1) पुनरुक्ति प्रकाश—बार बार।

(II) रूपक—काया—थभ। अनहद बेन। हिरदा कवल।

(III) छेकानुप्रास—गुण गावै, गुरगमि; अखंड अहनिसि; सोमवार ससि। मन मतिवाला।

(IV) वृत्यानुप्रास—रमिता राम रंग।

(VI) रूपकातिशयोक्ति—ससि, डुवार, दोऊ। महलि।

(VII) चपलातिशयोक्ति—चाखत... निसतर।

विशेष—(1) ये समस्त मान्यताएँ योगियों में प्रचलित हैं जो अद्यतन किसी न किसी रूप में कबीर पथियों में भी मानी जाती हैं।

(II) जिनि बाहिर जाइ—कबीर संसार छोड़ने की बात नहीं कहते हैं। उनका तो निश्चित मत था कि अपने कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए ही सच्ची भक्ति हो सकती है। वह स्वयं जुलाहे का व्यवसाय करते थे।

(III) अनहद बेन—देखें टिप्पणी पद संख्या १५७।

(IV) ससि—देखें टिप्पणी पद सं० ४, ७, २१०।

(V) त्रिकुटी—देखें टिप्पणी पद सं० ३, ४।

(VI) त्रिकुटी संगम—देखें टिप्पणी पद सं० ७।

(VII) सहज—देखें टिप्पणी पद सं० १५५।

(VIII) बाहर भीतर—प्रकाश... बाह्य दृष्टि द्वारा सत्यासत्य का विवेक होता है तथा अन्तःदृष्टि द्वारा सत्य की अनुभूति होती है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी लिखा है कि—

राम नाम मणि दीप घरि जोह देहरी द्वार।

तुलसी भीतर बाहिरेहु जो चाहसि उजियार।

(३६३)

राम भजै सो जानिये, जाके आतुर नाहीं।

सत संतोष लीये रहै, धीरज मन मांहीं ॥

जन कौं काम क्रोध व्यापै नही, त्रिष्णां न जरावै।

प्रफुलित आनंद मै, गोव्यंद गुण गावै ॥

जन कौं पर निद्या भावै नहीं, अरु असति न भाषै।

काल कल्पनां मेटि करि, चरनूं चित राखै ॥

जन सम द्रिष्टी सीतल सदा, दुविधा नही आनै।

कहै कबीर ता दास सूं मेरा मन मानै ॥

शब्दार्थ—आतुर=व्याकुलता । जन=भक्त ।

सन्दर्भ—कबीरदास भक्त के लक्षणों का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—राम का भजन करने वाला वही सच्चा भक्त माना जाता है जिसके मन में प्रभु कृपा के लिए व्याकुलता नहीं होती है । वह सदैव सत्य और सतोष धारण किए रहता है और वह मन में धैर्य धारण करता है अर्थात् विपत्ति के समय विचलित नहीं होता है । भक्त को काम और क्रोध नहीं सताते हैं और उसको तृष्णा (भोगेच्छा) जलाती (उद्धेलित) नहीं करती है । वह सदैव आनन्द मग्न रह कर प्रफुल्लित दिखाई देता है और गोविंद का गुणगान करता रहता है । भक्त को कभी किसी की निंदा करना अच्छा नहीं लगता है और वह कभी असत्य भाषण नहीं करता है (कभी झूठ नहीं बोलता है) । वह काल की कल्पना मिटाकर अनन्त में निवास करता है और भगवान के चरणविन्द में चित्त लगाये रहता है । वह सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय आदि के प्रति समान भाव रखता है और अपने मन को सदैव शांत रखता है । उसके मन में किसी प्रकार का सदेह नहीं रहता है—वह आश्वस्त रहता है कि प्रभु भक्ति के पथ पर चल कर ही उसका कल्याण सम्भव है । कबीरदास कहते हैं कि इतने लक्षणों से युक्त भक्त के प्रति मेरे हृदय में प्रेम और श्रद्धा का भाव रहता है ।

अलंकार—(1) छेकानुप्रास—सत सतोष, अरु असति चरन् चित ।

(II) वृत्यानुप्रास—व्यद गुन गावै । मेरा मन मानै ।

(III) परिकराकुर की व्यजना—गोव्यद ।

विशेष—(1) काल कल्पना—भूत, और भविष्य की चर्चा काल कल्पना है । सदैव वर्तमान में निवास करना ही काल-कल्पना को मिटाना है । वर्तमान को क्षुरस्य धारा है । इसमें स्थिर रहना ही काल पर विजय करना है ।

(II) तुलनात्मक अध्ययन के लिए देखें—

(क) दैवी सपदा प्राप्त पुरुष के लक्षण देखें—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिं जनि योग व्यवस्थित ।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।

अहिंसा सत्यम क्रोधस्त्याग शातिरपैशुनम् ।

दया मृतेष्व लोलुप्त्वं मारवं हरि खापलम् ।

इत्यादि (श्रीमद्भगवद्गीता—१६।१-४)

तथा—देखें भक्त के लक्षण—

कबहुँक हों यहि रहनि रहौंगो ।

श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो ।

जथा लाभ सतोष सदा, काहू सो कछु न चहौंगो ।

परहित-निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निवहौंगो ।

परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न बहौंगो ।

बिगत मान, सम सतिल मन, पर गुन नहि दोष कहोंगो ।
परिहरि देह-जनित चिंता, दुख-सुख समबुद्धि सहोंगो ।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अविचल हरि भक्ति लहोंगो ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(३६४)

माधौ सो न मिलै जासौ मिलि रहिये,

ता कारनि वर कहु दुख सहिये ॥टेक॥

छत्रधार देखत ढहि जाइ, अधिक गरब थै खाक मिलाइ ॥
अगम अगोचर लखीं न जाइ, जहाँ का सहज फिरतहाँ समाइ ॥
कहै कबीर भूठे अभिमान सो हम सो तुम्ह एक समान ॥

शब्दार्थ—सो=सः, आत्मा अथवा परमतत्त्व । छत्रधार=छत्रधारण करने वाला राजा । ढरि जाइ=नष्ट हो जाता है ।

सन्दर्भ—कबीरदास जीवन की नश्वरता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—हे माधव, वह परम तत्व प्राप्त नहीं होता है जिससे तदाकार होकर रहना चाहिए, भले ही उसको प्राप्त करने के लिए साधक को बहुत से दुःख सहने पड़े । छत्र धारण करने वाले राजा देखते ही देखते नष्ट हो जाते हैं । अधिक अभिमान के कारण व्यक्ति मिट्टी में मिल जाते हैं । उस परम तत्व को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, वह इन्द्रिय गम्य नहीं है तथा उसको इन स्थूल नेत्रों द्वारा देखा भी नहीं जा सकता है । उसमें आत्मा का सहज स्वरूप जहाँ का तहाँ समाहित हो जाता है । कबीर कहते हैं कि बड़प्पन का अभिमान सर्वथा मिथ्या है । हम और तुम सब एक ही तत्व हैं और परस्पर समान हैं ।

विशेष—(1) ससार की नश्वरता का वर्णन है ।

(ii) निर्वेद संचारी की व्यजना है ।

(iii) एकत्व का प्रतिपादन है । व्यक्ति व्यक्ति की समानता तथा जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन है ।

(३६५)

अहो मेरे गोब्यंद तुम्हारा जोर,

काजी बकिवा हस्ती तोर ॥टक॥

वांधि भुजा भले करि डारचौ, हस्ती कोपि मूंड मै मारचौ ॥
भाग्यौ हस्ती चीसां मारी, वा मूरति की मै बलिहारी ॥
महावत तोकूँ मारौ साटी, इसहि मरांऊं घालौं काटी ॥
हस्ती न तोरें धरें धियांन, वाकं हिरदै वसै भगवांन ॥
कहा अपराध संत ही कोन्हां, वांधि पोट कुंजर फूँ दीन्हां ॥
कुंजर पोट बहु वदन करे, अजहूँ न सूभै काजी अंधरै ॥

तीनि बेर पतियारा लीन्हां, मन कठोर अजहूँ न पतीनां ॥

कहै कबीर हमारै गोब्यंद, चौथे पद ले जन का ज्यद ॥

शब्दार्थ—जोर=शक्ति । हस्तौ=हाथी । साटी=डंडा, कोडा । घालौं=डालता हूँ । पोट=पोटला, गठरी । कुजर=हाथी । पतीना=विश्वास किया । जिंद=जीव । चौथे पद=सायुज्य मुक्ति ।

संदर्भ—कबीरदास प्रभु की महिमा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—अहो मेरे गोविंद भगवान, शक्ति की महिमा अपार है । काजी ने वकवास कि इसे हाथी से मरवा दो । मेरे हाथो को अच्छी तरह बाँध कर हाथी के सामने डाल दिया गया । हाथी ने क्रोध करके सिर पर प्रहार किया । वह चीख मारकर स्वयं ही भागा । मैं भगवान के उस स्वरूप की बलिहारी जाता हूँ जिसने हाथी को ऐसी प्रेरणा प्रदान की । काजी ने कहा, रे महावस, मैं तूम्को कोडे लगवा दूँगा और इस हाथी को मरवा दूँगा तथा कटवा डालूँगा । परन्तु हाथी ने मुझको नहीं मारा । वह भगवान का ध्यान धारण किए हुए था । उसके हृदय में तो भगवान बसे हुए थे ।” कबीर बोलते हैं कि सत कबीर ने क्या अपराध किया था, उसकी पोटली बनाकर उसे हाथी के समक्ष डाल दिया गया । भगवान ने हाथी को ज्ञान प्रदान किया । वह उठ गठरी (शरीर के बंधे हुए शरीर) को बार-बार प्रणाम करने लगा, परन्तु उस मूर्ख काजी की समझ में अभी भी नहीं आया । उसने इसी प्रकार तीन बार हाथी को आज माया, परन्तु उस निष्ठुर हृदय (जड हृदय) वाले काजी के मम में फिर भी भगवान के प्रति विश्वास जाग्रत नहीं हुआ । कबीर कहते हैं कि हे मेरे गोविंद स्वामी इस भक्त जीव को चौथे पद (सायुज्य मुक्ति) कर लीजिए ।

विशेष—इस पद द्वारा उस जनश्रुति की पुष्टि होती है जिसके अनुसार लोदी ने कबीर को हाथी में पैर के नीचे डलवा दिया था ।

इस पद में कबीर ने प्रभु की महिमा का वर्णन सगुण भक्तों की पद्धति पर किया है । यथा—

अब कै राखि लेउ भगवान ।

हौं अनाथ बँठ्यो ब्रुम-डटियाँ, पारधि साधेवान ।

ताके डट में भाज्यौ चाहत, ऊपर दुख्यो समान ।

दुहँ भाँति दुख भयो आवि यह, कौन उवारै प्रान ?

सुमिरत ही अहि डस्यो पारधी, कर छुट्यो संधान ।

सूरदास, सर लग्यो सचानहि, जय-जय कृपानिधान ।

(सूरदास)

(३६६)

कुसल खेम कर सत्सामति, ए दोह काकोँ दीन्हां रे ।

आवत जांत दुहँधा लूटे, सर्व तत हरि लीन्हां रे ॥ टेक ॥

माया मोह मद में पीया, मुग्ध कहै यहु मेरी रे ।
 दिवस चारि भले मन रजै, यहु नाही किस केरी रे ॥
 सुर नर मुनि जन पीर अवलिया, मीरां पैदा कींन्हां रे ।
 कोटिक भये कहां लूं बरनूं सबनि पयानां दींन्हां रे ॥
 धरती पवन अकास जाइगा, चद जाइगा सूरार रे ।
 हम नांहीं तुम्ह नांहीं रे भाई, रहे राम भरपूरा रे ॥
 कुसलहि कुसल करत जग खीना, पड़े काल भौ पासी ।
 कहै कबीर सबै जग बिनस्या, रहे राम अविनासी ॥

शब्दार्थ—खेम=क्षेम । सही सलामत=पूर्ण सुख-सुविधा । दहू धा=दोनों समय । सुब=सब । मुग्ध=मूर्ख । अवलिया=औलिया, पहुँचा हुआ मुसलमान फकीर, सिद्ध पुरुष । पीर=मुसलमानों का धर्म गुरु । मीरा=श्रेष्ठजन । पयाना=प्रयाण । खीना=क्षीण हुआ है । पासी=फाँसी । बिनस्या=नष्ट हो गया ।

सन्दर्भ—कबीर संसार की निस्सारता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—कुशल-क्षेत्र और पूर्ण सुख-सुविधापूर्वक रहना ये दोनों बातें एक साथ संसार में किसी को प्राप्त नहीं होती हैं अर्थात् इस संसार में आते समय और जाते समय दोनों ही अवसरों पर हम लूटे जाते हैं और यहाँ हमारा समस्त तत्व हरण कर लिया जाता है अर्थात् इस जीवन में हम अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप को सर्वथा भूल जाते हैं । यह जीव माया-मोह की शराब पिये रहता है और फिर वह मूर्ख यह कहता है कि यह सब सम्पत्ति मेरी है । मानव चार दिन के लिये भले ही अपना मन बहला ले, किन्तु यह माया (सांसारिक सम्पत्ति) किसी की नहीं है । देवता, मनुष्य, मुनि, भक्त, धर्मगुरु, सिद्ध महात्मा, श्रेष्ठजन आदि अनेक प्रकार के व्यक्ति भगवान ने उत्पन्न किए हैं । इस प्रकार के करोड़ों पैदा हुए, उनका वर्णन कहाँ तक करूँ ? परन्तु सब के सब इस संसार से प्रस्थान कर गये । पृथ्वी, वायु, आकाश, सूर्य और चन्द्र सभी नष्ट हो जाएँगे सभी नश्वर हैं । न हम रहेगे न तुम रहोगे और न हमारे भाई-बन्धु रहेगे । केवल एक राम ही रहेगे, वे ही सर्वत्र व्याप्त हैं । कुशलता का उपक्रम करता ही करता यह संसार नष्ट होता है और मृत्यु के बन्धन में पड़ता है । कबीर कहते हैं कि सारा जगत बिनष्ट हो जाता है । (नाशवान है) केवल अविनाशी राम ही रह जाते हैं (केवल राम ही अविनाशी हैं) ।

- अलंकार—(i) वक्रोक्ति—ए दोइ .. रे ।
 (ii) वृत्यानुप्रास—माया मोह मद मुग्ध ।
 (iii) रूपक—माया मोह मद, काल पासी ।
 (iv) सभग पद यमक—कुसलहि कुसल ।

विशेष—(i) संसार की असारता के वर्णन द्वारा वैराग्य का प्रतिपादन है ।
 (ii) 'निर्वेद' संचारी की व्यंजना है ।

(III) कुशल.....दीन्हा रे । वैभव लेकर भी व्यक्ति कुशल-पूर्वक बना रहे—यह नहीं होने का । देखिए—

दुइ कि होइ एक समय भुआला । हँसब ठठाइ फुलाइब गाला ।
दानि कहाइब अरु कृपनाई । होइ कि खेम कुशल रौताई ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(IV) दिवसरेकहावत प्रचलित है—“चार दिनां की चाँदनी फेरि अघेरी रात ।”

(V) सबहि पयानां कीन्हा रे—समभाव की अभिव्यक्ति देखे—

हाय दर्ई ! यह काल के ख्याल में फूल से भूलि सब कुम्हलाने ।
देव-अदेव कली- बलहीन चले गये मोहि की हँस हिलाने ।
यो जग बीव बचे नहि मीच पै, जे उपजे ते मही में मिलाने ।
रूप-कुरूप-गुनी-निगुनी जे जहाँ जनमे ते तहाँ ही बिलाने । (देव)

(३६७)

मन बनजारा जागि न सोई,

लाहे कारनि मूल न खोई ॥टेक॥

लाहा देखि कहा गरबांना, गरब न कीज मूरिख अयांनां ॥

जिन धन सच्या सो पछितांनां, साथी चलि गये हम भी जांनां ॥

निसि अधियारी जागहु बदे, छिटकन लागे सबही संघे ॥

किसका बंधू किसकी जोई, चल्या अकेला सगि न कोई ॥

ढरि गए मंदिर दूटे बंसा, सूके सरवर उड़ि गये हंसा ॥

पंच पदारथ भरिहै खेहा, जरि बरि जायगी कंचन देहा ॥

कहत कबीर सुनहु रे लोई, रांमनांम बिन और न कोई ॥

शब्दार्थ—बनजारा=व्यापार करने वाला, बनज, व्यापारी । लाहे=लाभ
छिटकन=बिछुडना । सवे=सगी साथी । जोई=योगिता, स्त्री वसा=वंश ।
पंच पदारथ=पंच महाभूत । खेहा=मिट्टी । लोई=लोगो अथवा कबीर की शिष्या
पत्नी ।

संदर्भ—कबीरदास ससार की निस्सारता का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—रे मन रूपी व्यापारी, तू जग जा । सो मत । लाभ के फेर मे
तू अपनी गाँठ की पूँजी मत गँवावे । अभिप्रेत यह है कि तुम अज्ञान वश सासारिक
सुख-सुविधा को प्राप्त करने मे तगे हुए हो । ये सुख तो मिथ्या हैं और इनके
चक्कर मे तुम अपने आत्मा के मूल तत्व आनन्द-स्वरूप को व्यर्थ ही नष्ट कर रहे
हो । तुम वस्तु स्थिति को समझ कर इस चक्कर से निकल आओ । सांसारिक
सुखो को प्राप्त करके तुम्हे क्यों अभिमान हो गया है ? हे अज्ञानी मूर्ख तू इन
सासारिक सुखो पर अभिमान मत करो । जिन लोगो ने धन का सचय किया, वे
सब पछताए । हमारे सब साथी मृत्यु के ग्रास होकर इस ससार से चले गये हैं ।

हमको भी एक दिन जाना ही है । हे मानव ! यह जीवन अंधेरी रात्रि के समान है । तू जग जा । तेरी समस्त सगी साथी तुभसे बिछुडने लगे हैं । इस जगत मे कौन किसका भाई है और कौन किसकी स्त्री है ? जीव को अकेले ही जाना पडता है । कोई किसी के साथ नहीं जाता है । सारे महल गिर कर नष्ट हो गये, इनमे रहने वाले परिवार समाप्त हो गये, तालाब सूख गये और उन पर रहने वाले हस भी उड गये सासारिक वैभव का प्रतीक पच महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और प्रकाश) से निर्मित यह शरीर मिट्टी मे मिल जाता है और सोने की भी देह जल कर भस्म हो जाती है । कबीर कहते हैं कि रे लोगो, सुनलो । राम-नाम के अतिरिक्त यहाँ अन्य कोई सहारा नहीं है ।

अलंकार— (1) रूपक—मन बनजारा ।

(II) गूढोक्ति—कहा गरबाना ।

(III) निदर्शना की व्यजना—निसि सधे ।

(IV) वक्रोक्ति—किसका.....जोई ।

विशेष—(1) लक्षणा—पच पदारथ ।

(II) जीवन और जगत की असारता का प्रतिपादन है ।

(III) 'निर्वेद' संचारी की व्यजन है ।

(३६८)

मन पतंग चेतें नहीं जल अंजुरी समांन ।

बिषिया लागि विगूचिये, दाझिये निदान ॥टेका॥

काहे नैन अनदियै, सूझत नहीं आगि ।

जनम अमोलिक खोइयै, सांपनि संगि लागि ॥

कहै कबीर चित चंचला, गुर गांन कह्यौ समझाइ ।

भगति हीन न जरई जरै, भावै तहां जाइ ॥

शब्दार्थ—अंजुरी=अजुली । विगूचिक=बर्बाद करता है । दाझिये=जल जाएगा । निदान=अन्ततः ।

संदर्भ—कबीर माया ग्रस्त जीव को सावधान करते हैं ।

भावार्थ—यह मन—रूपी पतंगा चेतता नहीं है और माया-रूपी दीपक पर प्राण देता है । वह इस बात को नहीं समझता है कि जीवन अंजलि-वद्ध जल के समान क्षणिक अस्तित्व वाला है । यह मन विषयो मे आसक्त होकर नष्ट हो रहा है । अन्तत इसको जलना ही है । तू संसार की चीजो को नेत्रो से देख कर क्यो आनन्दित होता है ? तुमको वासनाग्नि (देखने की आसक्ति मे निहित सताप)—क्यो नहीं दिखाई देती है ? वासना-रूपी सापिन के साथ लगा कर तूने अपने बहु-मृत्यु जीवन को व्यर्थ ही बर्बाद कर दिया । कबीर कहते हैं कि यह चित्त तो बिजली के समान चंचल है । यह बात मुभको गुरु ने समझाकर बतवाई है । भक्तिहीन तो निश्चय ही संसार मे विषयाग्नि मे जलता है, क्योकि वह विना सोचे विचारे विषयो

के वशीभूत होकर चाहे जहाँ चला जाता है वह गम्य अगम्य प्रत्येक स्थल पर चला जाता है ।

- अलंकार— (I) रूपक—मन पतंग, चित्त चचला ।
 (II) उपमा—जल अजुरी समान,
 (III) रूपकातिशयोक्ति—आगि, सापनि ।

विशेष—‘निर्वेद’ सचारी की व्यजना ।

(३६६)

स्वादि पतंग जरै जर जाइ,

अनहद सौं मेरौ चित्त न रहाइ ॥टेक ॥

माया कै मदि चेति न देख्या, दुबिध्या मांहि एक नहीं पेख्यां ॥

भेष अनेक किया बहु कीन्हां, अकल पुरिष एक नहीं चीन्हां ॥

केते एक मूये मरहिगे केते, केतेक मुगध अजहू नहीं चेतै ॥

तंत मंत सब औषद माया, केवल राम कबीर दिढाया ॥

शब्दार्थ—मदि=मद, नशा । पेख्या=देखा । अकल=अखण्डित । मुगध=मूख । दिढाया=हठ किया ।

सन्दर्भ—कबीर का कहना है कि अज्ञान के वशीभूत जीव विषयासक्ति में नष्ट हो रहे हैं ।

भावार्थ—विषयासक्त मेरा मन रूपी पतंग अनवरत रूप से विषयाग्नि में जलता है । अनहद नाद में मेरा चित्त नहीं लगता है—अर्थात् मेरा मन विषयो से पराङ्मुख होकर अन्तर्मुखी नहीं होता है । माया के मद से झुटकारा पाकर मैंने असली तत्त्व को नहीं समझ पाया है । ज्ञान जनित द्विविधा एव द्वैत-भावना में पड कर मैं सर्वव्यापी एक (परम) तत्त्व का साक्षात्कार नहीं कर पाया । मैंने विषयासक्ति के वशीभूत होने के फलस्वरूप अनेकानेक जन्म धारण किए, परन्तु मैं उस एक अखण्ड अविनाशी परमपुरुष परमात्मा को नहीं देख पाया । इस ससार चक्र में कितने ही मर गये और न मालूम कितने और मरेंगे, इतना सब कुछ देख कर भी कितने ही मूर्ख अब भी होश में नहीं आ रहे हैं । तत्र-मन्त्र औषधि आदि सभी माया (घोखा अथवा नश्वर) हैं । इसी से मैंने अपने उद्धार के लिए अपना मत केवल राम की भक्ति में हठता पूर्वक लगा दिया है ।

- अलंकार—(I) रूपक—स्वादि पतंग ।
 (II) वृत्यानुप्रास—जरै जरि जाइ, ।
 (III) गूढोक्ति—मरहिगे केते ।

विशेष—(II) अनहद' ...देखें टिप्पणी पद सं० १६४।

(II) विषयों से विरक्त होने से ही कल्याण सम्भव है ।

(३७०)

एक सुहागनि जगत पियारी,

सकल जीव जंत की नारी ॥टेक॥

खसम मरै वा नारि न रोवै, उस रखवाला औरै होवै ॥

रखवाले का होइ विनास, उतहि नरक इक भोग विलास ॥

सुहागनि गलि सोहै हार, सतनि विख बिलसै संसार ॥

पीछै लागी फिरै पचिहारी, संत की ठठकी फिरै बिचारी ॥

संत भजै वा पाछी पड़ै, गुर के सबदं मारयो डरै ॥

साषत कै यहु प्यंड परांइनि, हमारी द्रिष्टि परै जैसें डांइनि ॥

अब हम इसका पाया भेद, होइ कृपाल मिले गुरदेव ॥

कहै कबीर इब बाहरि परी, ससारी कै अचल टिरी ॥

शब्दार्थ—सुहागनि नारी=माया रूपी सुन्दरी नारी । खसम=पति ।

बिलसै=भोगता है । पचिहारी=पक जाता है । ठिठकी=डरी हुई । साषत=शाक्त । प्यंड परांइनि=शरीर द्वारा वह इसके परायण है, वह नारी है जिसके द्वारा शाक्त वामाचार की साधना करता है ।

सन्दर्भ—कबीरदास माया के सर्वव्यापी अहितकारी प्रभाव का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—माया रूपी एक सुन्दरी नारी है, जो जगत की प्यारी है । वह सम्पूर्ण जीव-जन्तुओं की प्रेयसी है । जब उसका पति मर जाता है तो वह उसके लिए रोती नहीं है । उसका रखवाला कोई दूसरा बन जाता है । इसके रखवाले का नाश हो जाता है । उसे इस लोक में जाकर नरक भोगना पड़ता है, चाहे यहाँ वह भोग-विलास ही करता हो । इस सुहागिन के गले में सुन्दर एवं आकर्षक वासना-रूपी हार सुशोभित होता है । यह सतों के लिए विष-तुल्य है, परन्तु ससार के प्राणी इसको भोगते हैं । यह सतों के पीछे लगी फिरती है, परन्तु उनको मोहित करने के प्रयत्न में यह हार जाती है । यह बेचारी माया सतों के डर से ठिठकी हुई उधर-इधर भागती फिरती है । सत लोग इससे दूर भागते हैं और यह उनके पीछे पड़ी रहती है । गुरु के उपदेश द्वारा माटी हुई यह माया संतों से डरती है । शाक्त को यह अत्यन्त प्रिय होती है, (शाक्त के लिए तो माया वह नारी है जिसके माध्यम से वह वामाचार की साधना करता है । इसी से कबीर कहते हैं कि शाक्त के यहाँ इसका परायण होने वाला पिंड है ।) परन्तु भक्तों की दृष्टि में वह पूर्ण चुड़ैल है । जब कृपालु गुरुदेव से भोग साक्षात्कार हुआ तब इस माया सुन्दरी का रहस्य मेरी समझ में आया । कबीर कहते हैं कि यह माया मुझसे तो बाहर दूर पड़ी हुई है अर्थात् मुझे तो यह स्पर्श भी नहीं कर सकती है । यह विषयी व्यक्तियों के साथ इसका स्थायी सम्बन्ध रहता है अथवा विषयी व्यक्ति के पास से दूले नहीं दलती है ।

अलंकार—(1) साग रूपक' • पूरा पद ।

(ii) रूपकातिशयोक्ति—सुहागिन ।

(iii) उपमा—विष (के समान) । जैसे डाइनि ।

(iv) विशेषोक्ति की व्यजना—खसम मरै वा नारि न रोवै ।

विशेष—(1) शाक्त के प्रति विरोध प्रकट है ।

(ii) बाहिर टरी—पिटी । ठीक ही है—

भागती फिरती थी दुनियाँ जब तलब करते थे हम ।

अब जो नफरत हमने की, वह खुद-बखुद आने को है ।

(३७१)

परोसनि मांगै कंत हमारा,

पीव क्यू बौरी मिलहि उधारा ॥टेक॥

मासा मांगै रती न देऊ, घटे मेरा प्रेम तौ कासनि लेऊं ॥

राखि परोसनि लरिका मोरा, जे कछु पाऊं सु आधा तोरा ॥

बन बन दूढौं नैन भरि जोऊं, पीव मिलै तौ विलखि करि रोऊं ॥

कहै कबीर यहु सहज हमारा, बिरली सुहागनि कंत पियारा ॥

शब्दार्थ—परोसनि=अन्य सासारिक आत्मा, माया । कत=पति, परमात्मा । बौरी=पागल । कासनि=किससे । पुत्र=विवेक ।

सन्दर्भ—कबीर का कहना है कि राम के प्रति सच्चा अनुराग किसी किसी को ही होता है । वह भक्त ज्ञानी एव साधक जीवात्मा के रूप में अपनी सहजानुभूति को व्यक्त करते हैं ।

भावार्थ—माया रूपी हे पडौसनि, तुम मुझसे मेरा परमात्मा रूपी पति मांग रही हो ? पर, हे पागली, पति कही उधार मिलता है ? (परमात्मा की प्राप्ति सत्य साधना करने पर होती है । सिद्धि उधार अथवा किराए पर मिलने वाली वस्तु नहीं है ।) तुम माशा भर मांगो, मैं रती भर भी नहीं दूंगी । यदि उधार देने के कारण अथवा यो ही दे देने के कारण, परमात्मा के प्रति मेरे प्रेम में भी कमी आ गई है, तो फिर उसकी पूर्ति मैं कहाँ से करूँगी ? हे मेरी आत्मा रूपी पडौसनि, तू मेरे कर्म-बन्धन रूप पुत्र की रखवाली कर । ऐसा करने पर परमेश्वर रूपी पति से मुझे जो आनन्द-भक्ति की प्राप्ति होगी, उसमें से आधा तुझको दे दूँगी । मैं बन-बन अर्थात् विभिन्न साधनाओं में अपने पति को ढूँढ रही हूँ और नेत्रों की शक्ति भर उसको चारों ओर देखती फिरती हूँ और प्रियतम के दर्शन होने पर प्रेमातिरेक के कारण फूट फूट कर रोती हूँ । कबीर कहते हैं कि अपने परमात्मा रूपी पति से प्रेम करना जीवात्मा रूपी पत्नी का सहज स्वभाव है । परन्तु फिर भी बिरली आत्मा रूपी सौभाग्यवती तारी को अपने परमात्मा रूपी पति से वास्तविक प्रेम होता है ।

अलंकार—(1) साग रूपक.....सौभाग्यवती नारी एवं जीवात्मा के रूपक का निर्वाह है ।

(II) वक्रोक्ति—पीव.....उधारा ।

(III) गूढोक्ति—कासनि लेऊं ।

(IV) पुनरुक्ति प्रकाश—बन बन ।

(V) विरोधाभास की व्यंजना—पीव मिलै.....रोऊं ।

विशेष—(1) प्रतीको का प्रयोग है—परौसनि, कंत, लरिका, सुहागिन ।

(II) सूफी शैली के दाम्पत्य प्रेम का वर्णन है ।

(III) इस पद मे कबीर भक्ति-क्षेत्र का अतिक्रमण करके प्रेम के क्षेत्र मे चले जाते हैं । अतएव रहस्यवाद की मार्मिक व्यंजना दिखाई देती है । प्रेमी प्रिय पर एकाधिकार चाहता है । प्रेम का क्षेत्र एकान्त होता है । कबीर की जीवात्मा भी यही चाहती है कि प्रिय के ऊपर मेरा एकाधिकार रहे । प्रिय पर पूर्ण स्वत्व स्थापित करने की मन स्थिति का मार्मिक शब्दो मे उद्घाटन किया गया है ।

(IV) पीव क्यूं—उधारा । लौकिक दृष्टि से अर्थ करने पर यह कथन, उन लोगो पर एक प्रकार का व्यग्य करता है, जो दान दक्षिणा लेकर दूसरो के नाम भजन-पूजन, मंत्र-जाप आदि करते है । ठीक ही है—बिना मरे, स्वर्ग के दर्शन नही होते हैं ।”

(V) माशा—१ तोले का १२ वा भाग ।

(VI) रत्ती—१ माशे का ८ वां भाग ।

(VII) माशा माँगना और रत्ती न देना—लोकोक्ति है । यहाँ अर्थ इस प्रकार होगा—माया का यह प्रयत्न करना कि जीवात्मा परमात्मा से बहुत दूर तक पृथक रहे तथा जीवात्मा का यह सकल्प कि वह क्षण भर के लिए भी उनसे विलग नही होगी ।

पडौसिन—माया के साथ जीव का साहचर्य है, परन्तु माया पराई है—जीव की नही । जीव के साथ माया का सम्बन्ध केवल अज्ञान के कारण है—वह सम्बन्ध पारमार्थिक एव सच्चा सम्बन्ध नही है । इसी से वह पडौसिन है ।

(IX) लरिका—कर्म जीवात्मा के प्रयास से उत्पन्न होता है । इसी से वह जीवात्मा का लडका है । भक्ति के परिपाक के लिए सासारिक कर्म का त्याग आवश्यक है । वह माया ही को सोपे जा सकते हैं ।

(X) जे कछु... तोरा—चैतन्य स्वरूप आत्मा और माया का सम्बन्ध मुघा होते हुए भी शाश्वत हैं । भक्ति के उल्लास आदि वृत्यात्मक अनुभूति का सम्बन्ध अन्तःकरण (माया) और चैतन्य (आत्मा) दोनो के साथ रहता है । इसी से आधा तोरा' (माया का) कहा गया है ।

(३७२)

राम चरन जाकै रिदै वसत है, ता जन कौ मन क्यूं डोलै ॥
मानौ आठ सिध्य नव निधि ताकै, हरषि हरषि जस बोलै ॥टेक॥

जहाँ जहाँ जाइ तहाँ सच पावै, माया ताहि न झोलै ।
बारंबार बरजि विषिया तै, लै नर जौ मन तौलै ॥
ऐसी जे उपजै या जीय कै, कुटिल गांठि सब खोलै ।
कहै कबीर जब मन परचौ भयौ, रहै राम कै बोलै ॥

शब्दार्थ—डोलै = विचलित हो । सच = सुख । झोलै = जलाती है । सताती है । तौलै = सयमित करता है । रहै = आचरण करता है । बोलै = आदेशानुसार ।

सन्दर्भ— कबीर कहते हैं कि सच्चा भक्त वही है जो राम के आदेशानुसार आचरण करे ।

भावार्थ—जिसका हृदय भगवान के चरणों में लगा हुआ है, उसका मन चंचल नहीं होता है । उसे तो आठो सिद्धियाँ और नवो निधियाँ सहज ही प्राप्त हो जाती हैं और वह व्यक्ति हर्षित हो-हो कर प्रभु का गुणगान करता है । वह जहाँ भी जाता है । वहाँ अमित सुख-शांति का लाभ प्राप्त करता है । माया उसको सता नहीं पाती है । जिस व्यक्ति के हृदय में ऐसी श्रद्धा-भक्ति उत्पन्न हो जाती है कि वह विषयों से अपने मन को बारम्बार विमुक्त करके जो अपने मन को नियंत्रित करके प्रभु भक्ति में लगा देता है, वह माया जन्य समस्त जटिल गुत्थियों को सहज ही सुलझाने में समर्थ होता है । कबीर कहते हैं कि जब इस प्रभु-प्रेम से मन का परिचय हो जाता है, तब वह राम के आदेशानुसार ही आचरण करता है ।

अलंकार—(1) पुनरुक्ति प्रकाश—जहाँ जहाँ ।

(11) अनुप्रास—बारंबार बरजि विषया ।

विशेष—(1) ससार से विमुक्त होकर प्रभु के नाम पर समस्त कार्य करना, स्वार्थ त्याग कर पारमार्थिक व्यवहार करना ही राम के आदेशानुसार आचरण करना है । गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'विनय पत्रिका' में कहा है कि—

तुम अपनायो तब जानिहो जब मन फिरि परिहै ।

जेहि स्वभाव विषयनि लग्यो तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करि है ।

(ii) आठ सिद्धि, नव निधि—देखें टिप्पणी पद सं० १२३ ।

(iii) जब भक्त का मन पूर्णतः सयमित हो जाता है तभी भक्ति एवं प्रेम दृढ होते हैं । सच्चे भक्त का यही लक्षण है ।

(iv) कबीर के राम दशरथ सगुण राम नहीं है । निराकार निर्गुण ब्रह्म हैं । वह पुकार कर कह चुके हैं—

दशरथ सुत तिहूँ लोक बखाना । राम-नाम का मरम न जाना ।

(३७३)

जंगल में का सोवनां, औघट है घाटा ॥

स्यंघ बाघ गज प्रजलै, अरु लबी बाटा ॥टेक॥

निस बासुरि पेड़ा पड़ै, जमदांती लूटै ।

सूर धीर साधं मतै, सोई जन छूटै ॥

चालि चालि मन माहरा, पुर पटण गहिये ।
मिलिये त्रिभुवन नाथ सू, निरभै होइ रहिये ॥
अमर नहीं संसार मै, बिनसै नर देही ।
कहै कबीर बेसास सू, भजि रांम सनेही ॥

शब्दार्थ—औघट=अवघट, दुर्गम । प्रजलै=सताते हैं । पेडा पडै=डकैती पडती है । जमदानी=यमराज की सेना । माहरा=कुशल । बेसास=विश्वास ।

सन्दर्भ—कबीरदास कहते हैं कि जीवन रूपी जंगल को पार करने के लिए राम-नाम ही एकमात्र अवलम्बन है ।

भावार्थ—साधनाहीन जीवन व्यतीत करना इतना ही कठिन एवं भयप्रद है जितना किसी बीहड़ स्थान पर रात्रि व्यतीत करना अथवा किसी दुर्गम घाट पर किसी नदी में स्नान करना । इस जीवन के जंगल में हिंसा, विषय-लोलुपता एवं अहंकार रूपी सिंह, बाघ और हाथी घूमते रहते हैं । साथ ही यह जीवन मार्ग बहुत लम्बा भी है । इस जीवन के जंगल में कामादिक द्वारा रात दिन डकैती पडती रहती है (विषय विकार प्रतिक्षण हमारे चैतन्य स्वरूप को तिरोहित करते रहते हैं । यहाँ यमराज की सेना हमारी आयु-रूपी सम्पत्ति को सदैव क्षीण करती रहती है । जो शूरवीर धैर्यवान एवं सत्यनिष्ठ हैं, वे ही इस लूट मार से बच पाते हैं । अतः हे कुशल मन, तू साधना के मार्ग पर निरन्तर अग्रसर होता रहे और ज्ञान-भक्ति के नगर में पहुँच जा । वहाँ त्रिभुवन नाथ से मिलेंगे और संसार के भयो से मुक्त होकर रहेगे । इस संसार में कोई भी सदैव नहीं बना रहा है—संसार का प्रत्येक प्राणी एवं पदार्थ नश्वर है । यह मानव शरीर नष्ट होता ही है । कबीर कहते हैं कि इस कारण विश्वास पूर्वक सबसे प्रेम करने वाले राम का भजन करते रहो ।

अलंकार—(1) साग रूपक—जीवन माया और जंगल की माया का रूपक बांधा है ।

(11) पुनरुक्ति प्रकाश... चालि चालि ।

विशेष—(1) प्रतीको का सफल प्रयोग है । जंगल, सिंह, बाघ, गज

(11) संसार के प्रति विरक्ति का प्रतिपादन है ।

राग ललित

(३७४)

राम ऐसो ही जानि जपौ नरहरी,

माधव मदसूदन बनवारी ॥टेक॥

अनदिन ग्यान कथे घरियार, धूवां धौलह रहै संसार ॥
जैसे नदी नाव करि संग, ऐसै ही मात पिता सुत अग ॥
सवहि नल दुल मलफ लकीर, जल बुदबुदा ऐसो आहि सरीर ॥
जिम्हा रांम नाम अभ्यास, कहौ कबीर तजि गरभ वास ॥

शब्दार्थ—जानि=जानकर । घड़ियाल=बडा घटा । धौलहर=महल ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि आवागमन से मुक्ति के लिए राम-नाम का भजन करो ।

भावार्थ—नृसिंह, माधव, मधुसूदन, वनवारी आदि राम ही है, ऐसा समझ कर तुम राम का भजन करो । (विभिन्न अवतार उस एक परम तत्त्व के ही अभिव्यक्त रूप हैं ।) बजने वाला घटा अर्थात् प्रति पल व्यतीत होता हुआ समय प्रतिदिन यही ज्ञान देता है कि यह ससार घुँए के महल के समान मिथ्या एवं नश्वर है । जैसे नदी नाव का संयोग क्षणिक होता है, उसी प्रकार माता, पिता एवं पुत्र का संयोग आकस्मिक एवं क्षणिक है । ये सारे सम्बन्ध उसी प्रकार मिथ्या, नीरस एवं भ्रम हैं जिस प्रकार तोते के लिए सेमर का फल । यह ससार जल के बुलबुले के समान क्षणिक एवं नश्वर है । कबीरदास कहते हैं कि जीभ से राम-नाम कहने का अभ्यास बनाए रखो जिससे गर्भ-वास (पुनर्जन्म) से मुक्ति प्राप्त हो सके ।

अलंकार—(1) उल्लेख एक ही तत्त्व का विभिन्न नामों का वर्णन है ।

(ii) उपमा—घुवा जल बुदबुदा ऐसी ।

(iii) रूपक घुवा ससार ।

(iv) उदाहरण—जैसे अग ।

विशेष—(1) ससार की नश्वरता एवं निस्सारता का प्रतिपादन है ।

(ii) निर्वेद सचारी की व्यजना है ।

(iii) ग्यान कथै गरिघार—लक्षण और मानवीकरण है ।

(iv) सम्पूर्ण देवताओं में वही एक परमतत्त्व व्याप्त है । यह अभेद बुद्धि ही भारतीय दृष्टि की विशेषता है । कबीर ने उपासना के क्षेत्र में इसी भारतीय पद्धति को अपनाया है ।

विभिन्न पौराणिक अवतारों के नामों का वर्णन यह प्रकट करता है कि कबीर के ऊपर जन-मानस को मान्य पौराणिक सस्कृति का व्यापक प्रभाव था ।

(vi) घुवा धौलह है ससार—समभाव के लिए देखें—

राम जपु, राम जपु, राम जपु, वावरे ।

जग नभ वाटिका रही है फलि फूलि रे ।

घुवाँ कैसे धौरहर देखि तू न भूलि रे ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(vii) नल दुल मलफ लकीर—पाठ अस्पष्ट है । हमने इस पक्ति का अर्थ डा० माताप्रसाद गुप्त तथा डा० भगवतस्वरूप मिश्र द्वारा किए अर्थों के आधार पर लिख दिया है ।

(३७५)

रसनां राम गुन रमि रस पीजै,

गुन अतीत निरमोलिक लीजै ॥ टेक ॥

निरगुण ब्रह्मकथौ रे भाई, जा सुमरित सुधि बुधि मति पाई ॥
बिष तजि रांम न जपसि अभागे, का बूड़े लालच के लागे ॥
ते सब तिरे राम रस स्वादी, कहै कबीर मेड़े बकवादी ॥

शब्दार्थ—निरमोलिक=अमूल्य । बकवादी=ज्ञान वधारने वाले ।

सन्दर्भ—कबीर निर्गुण राम की भक्ति का उपदेश देते हैं ।

भावार्थ—हे जिह्वा ! तू राम के गुणो मे तन्मय होकर भक्ति के आनन्द को प्राप्त करो । रे भाई, निर्गुण ब्रह्म का गुणगान करो जिसका स्मरण करने से सदबुद्धि, ज्ञान तथा विवेक की प्राप्ति होती है । रे अभागे जीव, तू विषयो के प्रति आसक्ति का त्याग करके राम नाम का भजन क्यों नहीं करता है ? विषय-सुख के लोभ मे पढकर तू भव-सागर मे क्यों डूबता है ? कबीर कहते हैं कि जो व्यर्थ ज्ञान का बखान करते है, वे भवसागर मे डूब जाते हैं ओर जो भगवान राम की भक्ति करके आनन्द मग्न होते हैं, वे सब भवसागर के पार हो जाते है (मोक्ष को प्राप्त होते है ।)

अलंकार—(1) अनुप्रास—रसना राम रमि रस ।

(11) पदमैत्री—सुधि बुधि ।

(111) गूढोक्ति— न जपसि अभागे, का' लागे ।

विशेष—(1) कबीर सच्ची भक्ति का प्रतिपादन करते हैं । व्यर्थ की शास्त्र-चर्चा को व्यर्थ बताते हैं । वे तो बार बार कहते हैं कि “पडित वाद वदै सो भूँठा ।”

कबीर कथनी को त्याग कर करनी के द्वारा ही उद्धार की कल्पना करते हैं ।

(11) कबीर के राम निरगुण निराकार परमब्रह्म हैं, दाशरथि अवतारी राम नहीं ।

(३७६)

निबरक सुत ल्यों कोरा,

रांम मोहि मारि कलि विष बोरा ॥टेक॥

उन देस जाइवो रे बाबू, देखिवो रे लोग किन किन खैबू लो ॥

उड़ि कागा रे उन देस जाइवा, जासूँ मेरा मन चित लागालो ॥

हाट डूँढ़ि ले, पटनपुर, दु ढि ले, नही गांव कै गोरा लो ॥

जलविन हंस निसह विन रबू कबीर कौ स्वांमी पाइ परिकं मनैबूलो ॥

शब्दार्थ—निबरक=निर्वल । कोरा=गोद । बाबू=भद्र पुरुषो । खैबूलो=खाते है, रहन-सहन से तात्पर्य है । हाट=वाजार । पटनपुर=नगर । गोरा=गोला-किनारे की सडक । रबू=रवि=सूर्य । मनैबूलो=मना लेना ।

संदर्भ—कबीर की जीवात्मा परमात्मा की प्राप्ति के लिए अपनी आतुरता व्यक्त करती है ।

भावार्थ—हे राम, निर्बल बालक की भाँति मुझे गोंद में लेने की कृपा करें अर्थात् मुझको अपना संरक्षण प्रदान करें। कलिकाँल ने मुझको मार कर (शुद्ध चैतन्य स्वरूप से वचित करके) विषय-वासनाओं में डुबा दिया है। हे भद्र महाशयो, तुम्हें प्रभु के देश में जाना है और देखना है कि वहाँ के निवासी किस प्रकार रहते हैं— उनकी रहन-सहन कैसी है। हे काग, तुझे उड़ कर उनके देश को जाना है, जिनसे मेरा मन लगा हुआ है। बाजार ढूँढना और नगर को ढूँढ लेना। गाँव के किनारे ही ढूँढ कर मत चले आना। प्रियतम के बिना मेरी वही दशा है जो जल के बिना हंस की तथा सूर्य के बिना रात्रि की होती है। कबीर कहते हैं कि मेरी जीवात्मा अपने पति परमात्मा को पैरो पडकर मना लूँगा अपने अनुकूल कर लूँगा।

अलंकार—(1) पुनरुक्ति प्रकाश - किन किन।

(II) उपमा—निदरक सुत।

(III) रूपक—विष।

विशेष—(1) सूफी प्रेम-पद्धति के दाम्पत्य-प्रेम का प्रभाव स्पष्ट है। जायसी ने भी लिखा है—

पिय सो कहेउ सदेसड़ा हे भँवरा हे काग।

सो घनि विरहै जरि मुई जेहि के धुवाँ हम लागि।

(II) सिद्धों और सन्तों के साहित्य में 'काग' अज्ञानी चित्त का प्रतीक है। परन्तु यहाँ कबीर ने अज्ञानी चित्त के साथ प्रेम-सदेश ले जाने की वृत्ति को सन्नि-विष्ट कर दिया है। यह लोक-परम्परा का प्रभाव है। प्रियतम के सदेश और कौए का निकट सम्बन्ध माना जाता है। इसमें समस्त बन्धुजीवाओं को परिलोकिक चिन्तन की प्रेरणा प्रदान की गई है।

राग बसंत

(३७७)

सो जोगी जाकै सहज भाइ,

अकल प्रीति की भीख खाइ ॥ टेक ॥

सबद अनाहद सीगी नाद, काम क्रोध बिषिया न बाद ॥

मन मुद्रा जाकै गुर कौ ग्यांन, त्रिकुट कोट में घरत ध्यान ॥

मनहीं करन कौ सनांन, गुर कौ सबद ले ले घरै धियांन ॥

काया कासी खोजै बास, तहां जोति सरूप भयो परकास ॥

ग्यांन मेखली सहज भाइ, बक नालि कौ रस खाइ ॥

जोग मूल कौ देह बद, कहि कबीर थिर होइ कंद ॥

शब्दार्थ—भाव=प्रेम भाव। अकल=अखंडित। वाद=वाद-विवाद।

मुद्रा=योगियों का उपकरण विशेष। मेखली=करवनी, कटिसूत्र। बक नालि=

सुषुम्ना। कद=मिश्री।

संदर्भ—कबीर सच्चे योगी के लक्षणों का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—वही सच्चा योगी है जो सहज भाव में स्थित है अथवा जिसके मन में प्रभु के प्रति स्वाभाविक प्रेम है तथा जो भगवान की प्रीति की ही याचना करता है । जो अनाहद नाद का ही श्रुती नाद सुनता है और जो काम-क्रोधादिक विषयों एवं शास्त्रार्थ में नहीं फँसता है । गुरु के द्वारा दिया गया ज्ञान ही उसके मन को स्थिर करने वाली मुद्रा है । वह अपनी त्रिकुटी में परम तत्त्व का ध्यान करता है । वह मन को पवित्र करने वाली ज्ञान-चर्चा रूपी जल में स्नान करता है और गुरु के ज्ञान को प्राप्त करके उसी पर ध्यान लगाये रहता है । वह अपनी काया-रूपी काशी में निवास करता है । वही पर उसके लिए परम-ज्योति स्वरूप भगवान प्रकाशित होते हैं । वह ज्ञान रूपी मेखला को धारण करके सहज भाव में स्थित रहता है । वह सुषुम्ना के ऊपरी भाग में स्थित एक नाल से भरने वाले अमृत रस का पान करता है । इसके लिए वह मूलाधार को बाँध देता है (योगी प्राणों की अग्नि से कुण्डलिनी को सीधा करके उसे सुषुम्ना में प्रविष्ट करा देता है और मूल बध लगा देता है । यह अमृत का क्षण रोकने के लिए किया जाता है, क्योंकि कुण्डलिनी के सोते रहने पर भी अमृत क्षरित होता रहता) कबीर कहते हैं कि इससे क्षरणशील मधुर एवं तरल अमृत मिश्री की तरह सघन होकर स्थिर हो जाता है और योगी को अमरत्व प्रदान कर देता है ।

अलंकार—(1) रूपक—प्रीति की भीख । सबद नाद । मन ध्यान । काया काशी—ग्यान मेखली ।

(II) पुनरुक्ति प्रकाश—लेते ।

(III) पदमैत्री नाद वाद । ग्यान ध्यान । वास परकास । भाइ खाइ । बन्द कन्द ।

विशेष—(1) इस पद में काया योग का वर्णन है । इसके लिए देखें टिप्पणी पद सं० ४ ।

(II) त्रिकुटी देखें टिप्पणी पद सं० ३, ४ ७ ।

(III) सहज - देखें टिप्पणी पद सं० ७, १५५ ।

(IV) अनाहदनाद—देखें टिप्पणी पद सं० १५७ ।

(V) शरीर में ही समस्त तीर्थों को मान कर कबीर ने वाह्याचार का विरोध किया है । साथ ही उन पर तान्त्रिक साधना का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है ।

(VI) मन मुद्रा जाके गुरु को ध्यान—इस कथन के द्वारा तान्त्रिक साधना के वाह्याचार के प्रति विरोध प्रकट है । तात्पर्य यह है कि कबीर सब प्रकार की वाह्य साधना को व्यर्थ समझते हैं । वह तो उसी को सच्चा योगी मानते हैं जो आत्मन्तर साधना का प्रथम ग्रहण करता है ।

(VII) काया-काशी यहाँ भी काशीवास को लक्ष्य करके कबीर ने दम्भ का

विरोध किया है। अभिप्रेत यह है कि सच्चा योगी अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति बना कर अपनी काया के भीतर (अन्तःकरण) में स्थित शिव तत्व की उपासना करता है।

(३७८)

मेरौ हार हिरांनों में लजाऊ,

सास दुरासनि पीव डराऊं ॥ टेक ॥

हार गुह्यौ मेरौ राम ताग, बिचि मान्यक एक लाग ॥

रतन प्रवालै परम जोति, ता अंतरि अंतरि लागे मोति ॥

पंच सखी मिलिहै सुजांन, चलहु तजई थे त्रिवेणी न्हांन ॥

न्हाइ धोइ कै तिलक दीन्ह, नां जानूं हार किन्हूं लीन्ह ॥

हार हिरांनों जन विमल कीन्ह, मेरौ आहिपरोसनि हार लीन्ह ॥

तीनि लोक की जानै पीर, सब देव सिरोमनि कहै कबीर ॥

शब्दार्थ—हार=शुद्ध चित्तवृत्ति से तात्पर्य है। पुरासनि=कठोर, क्रुद्ध होने वाली। सास=बोध वृत्ति। ताग=डोरा। मान्यक=माणिक। विमल=दुखी।

संदर्भ—कबीर की आत्मा सुन्दरी प्रभु के वियोग में दुखी होकर कहती है।

भावार्थ—ईश्वरोन्मुखी वृत्ति रूपी मेरा हार खो गया है। इससे मैं लज्जित हो रही हूँ। मुझे बोध वृत्ति रूपी कठोर और परमात्मा रूपी पति का डर लग रहा है। वृत्ति वृत्ति रूपी मेरा वह हार हरि-नाम रूपी तागे में पिरोया हुआ था। इसके बीच-बीच में प्रीति और समर्पण के मणि माणिक लगे हुए थे। उसमें भक्ति की परमज्योति रूपी अनेक मूंगे तथा अन्य रत्न लगे हुए थे। उसमें थोड़े-थोड़े अन्तर पर मुक्ति रूपी मोती लगे हुए थे। मेरी पांचो इन्द्रियो एव उनकी आसक्ति रूपी सखियों ने मुझ से कहा था कि चलो त्रिगुण-रूपी त्रिवेणी में स्नान कर आएँ (इन्द्रियो से प्रेरित मैं त्रिगुणात्मक ससार में लिप्त होने चली गई)। विषय-सुख भोग कर जब मैंने शृंगार का तिलक किया—अर्थात् काम भाव को जीवन का सार समझा, तो उस समय मुझे मालूम हुआ कि बोध वृत्ति रूपी मेरा हार किसी ने ले लिया है। हार खो जाने से हम सबका मन दुखी हो गया। माया (वासना) रूपी मेरी पड़ोसिन ने ही मेरा हार ले लिया है। कबीर कहते हैं कि सब देवताओं के शिरोमणि भगवान राम तीनों लोको के प्राणियों की व्यथा को समझते हैं। (वह शुद्ध अन्तःकरण का बोध-वृत्ति रूपी हार मुझे वापिस दिला कर मेरी व्यथा दूर करेंगे ऐसा मेरा विश्वास है।)

अलंकार—(i) सागरूपक-सम्पूर्ण पद में। हार और बोध-वृत्ति के रूपक का आद्यन्त निर्वाह है।

(ii) पुनरुक्ति प्रकाश—विचि विचि, अतरि अतरि।

(iii) अनुप्रास—७ वी पक्ति, हार हिरानो, हार।

विशेष—(i) साधना के प्रतीको का प्रयोग है ।

(ii) जीव की शोभा ईश्वर-प्रेम है । इससे उसे हार कहते हैं । इस वर्णन पद्धति पर सूफियो की पीर और उनके दाम्पत्य प्रेम का गहरा प्रभाव है । यथा—

सखी एक तेइ खेल न जाना । मै अचेत मनि-हार गँवाँना ।
कवँल डार गहि में बेकरारा । कासो पुकारौँ आपन हारा ।

× × ×

घर पँठत पूँछव यह हारू । कौन उतर पाइव पैसारू

× × ×

न जानौँ कौन पौन लेइ आवा । पुन्य दसा में, पाय गँवावा ।
ततखन हार बेगि उतिराना । पावा सखिन्ह चंद विहँसाना ।

(मानसरोदक खण्ड, पद्मावत, मलिक मुहम्मद जायसी ।)

यहाँ चंद शब्द पद्मिनी के लिए प्रयुक्त है, जो बुद्धि या शुद्ध चित्तवृत्ति की प्रतीक है ।

(iii) कबीर ने यहाँ यह वर्णन सामान्य भारतीय वधू की मन-स्थिति की दृष्टि से किया है । एक कुल-वधू का आभूषण खो जाने पर उसे सास और पति का डर सताने लगता है । इस प्रकार कबीर द्वारा इस मनोदशा का वर्णन बहुत ही मार्मिक एवं स्वाभाविक बन गया है ।

(iv) हार गुह्यौ राम ताग—राम-प्रेम ही इस हार का मुलाधार है । इसी से उसको 'तागा' कहते हैं । यथा—

जुगुति बेध पुनि पोहिय राम चरित बर तागा ।

पहिरै सज्जन विमल उर जिनके अति अनुरागा ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(v) लागै मोति—मुक्ति को मुक्ता कहते हैं । इसमें श्लेष के चमत्कार के साथ साधर्म्य की भावना भी मुखरित रहती है—

मुक्ति-मुक्ता कौ मोल-मालही कहा है,

जब मोहन लला पै मन-मानिक ही वार चुकीं ।

(जगन्नाथदास रत्नाकर)

(vi) संवाद शैली का सुन्दर प्रयोग है ।

(vii) पच सखी—लीन्ह । विपयासक्ति के वशीभूत होकर ही जीव इस त्रिगुणात्मक जगत में लिप्त होता है । यही उसका माया के वशीभूत होकर शुद्ध चित्त-वृत्ति का खो जाना है । यह माया ही पड़ोसिन है ।

पड़ोसिन के लिए देखें टिप्पणी पद सख्या ३७ ।

(३७६)

नहीं छार्डी वाया राम नाम,

मोहि और पढन सूँ फौन काम ॥ टेक ॥

प्रह्लाद पधारे पढ़न साल, सग सखा लीवै बहुत बाल ॥
 मोहि कहा पढ़ावै आल जाल, मेरी पाटी मै लिखि दे श्री गोपाल ॥
 तब सनां मुरकां कह्यौ जाइ, प्रहिलाद बधानौ बेगि आइ ॥
 तू राम कहन की छाड़ि बांनि बेगि छुड़ाऊ मेरौ कह्यौ मांनि ॥
 मोहि कहा डरावै बार बार, जिनि जल थल गिर कौ कियौ प्रहार ॥
 बांधि मारि भावै देह जाइ, जे हू राम छाडौ तौ मेरे गुरहि गारि ॥
 तब काढ़ि खड़ग कोप्यो रिसाइ, तोहि राखनहारौ मोहि बताइ ॥
 खभा मै प्रगट्यौ गिलारि, हरनाकस मारयो नख बिदारि ॥
 महापुरुष देवाधिदेव, नरस्यंघ प्रकट कियौ भगति भेव ।
 कहै कबीर कोई लहै न पार, प्रहिलाद ऊबार्यौ अनेक बार ॥

शब्दार्थ—साल=चटसाल, पाठशाला । आल-बाल = इधर उधर की बातें ।

पाटी=पट्टी । सडा मुरका = सब लडको । गिलारि = मुरारि ।

सन्दर्भ—कबीर भगवान की भक्त-वत्सलता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—मैं राम नाम छोड़ूँगा । मुझे को राम-नाम के अतिरिक्त और और कुछ पढ़ने से क्या काम है ? प्रह्लाद अनेक बाल-सखाओ के साथ पाठशाला में पढ़ने के लिए गये । उन्होंने अपने अध्यापक से कहा कि मुझे इधर-उधर की व्यर्थ की बातें क्यों पढ़ाते हो ? मेरी तख्ती पर तो आप केवल 'श्रीगोपाल' लिख दें । इसके बाद सब लडको ने जाकर प्रह्लाद के पिता से शिकायत की । वह तुरन्त ही आकर प्रह्लाद को बाँधकर ले गये । उन्होंने प्रह्लाद से कहा कि तू राम-नाम कहने की आदत छोड़ दे । तू मेरा कहना मान जा । मैं तुझे को अभी हाल बन्धन मुक्त कर दूँगा । प्रह्लाद ने उत्तर दिया, "आप मुझे बारबार क्या डरा रहे हैं ? आप चाहे तो मेरे ऊपर जल थल पर्वत कहीं भी ले जाकर प्रहार करें । मुझे बाँध कर मार दें, अथवा मेरी देह को जला दें । अगर मैं राम-नाम को छोड़ दूँगा तो मेरे गुरुदेव (अन्त करण की शुद्ध-चैतन्यवृत्ति) का अपमान होगा । तब पिता ने क्रोध पूर्वक तलवार निकाल कर कहा, "अब मुझे बता, तेरा रक्षक कहाँ है ।" उसी समय खम्भे में भगवान मुरारि प्रकट हुए और उन्होंने हरिण्यकशिपु को नाखूनो से फाड़ कर मार डाला । भक्ति भाव ने महापुरुष एवं सम्पूर्ण देवताओ के स्वामी नृसिंह भगवान को प्रकट किया था । कबीर कहते हैं कि उनकी शक्ति का पार कोई नहीं पा सकता है । उन्होंने अनेक बार प्रह्लाद सदृश भक्तों का उद्धार किया है ।

अलंकार—(1) वक्रोक्ति—मोहि" काम ।

(II) दृष्टान्त—प्रह्लाद " बाल ।

(III) पदमैत्री—आल जाल । कानि, मानि । जल थल ।

(IV) पुनरुक्ति प्रकाश—बार-बार ।

(V) सम्बन्धातिशयोक्ति—कोई लहै न पार ।

विशेष— (1) संडा मुरका का पाठान्तर सठै भरकै भी है। तब अर्थ होगा—छडी मारकर गुरु ने जाकर शिकायत की।

(11) इस पद में कबीर की भक्ति-पद्धति सर्वथा सगुण भक्तों जैसी दिखाई देती है। इस आख्यान का आश्रय लेने से वह परम्परावादी अर्थ में गृहीत अवतारवाद में विश्वास रखने वाले प्रतीत होते हैं। परन्तु उनके मूल जीवन-दर्शन को ध्यान रखते हुए उनको सगुणोपासक मानना भूल होगी। बात यह है कि कबीर जनता को भगवान के प्रति आश्वस्त करना चाहते थे। इसके लिए भगवान की अमोघ शक्ति एवं शरणागतवत्सलता की चर्चा आवश्यक थी। इन पदों में उसी की व्यंजना समझना चाहिए।

पारमार्थिक दृष्टि से निर्गुण भक्त कबीर और तुलसी प्रभृति भक्तों में कोई अन्तर नहीं ठहरता है। दोनों के ही राम परमार्थतः निर्गुण निराकार राम हैं। विवेचन के स्तर पर दोनों ही पद्धतियाँ भिन्न हैं। परन्तु व्यवहार के क्षेत्र में वे फिर एक दूसरे के बहुत कुछ निकट आ जाते हैं। और ऐसा क्यों न होता? गोस्वामी तुलसीदास ने स्पष्ट लिखा है कि—

अन्तरजामिहूँ ते बड़ बाहर जामी हैं प्रभु नाम लिये तें।

पैजि परै प्रह्लादहूँ को प्रकटे प्रभु पाहन तें न हिए तें।

(३८०)

हरि कौ नाउं तत त्रिलोक सार,

लै लीन भये जे उतरे पार ॥ टेक ॥

इक जंगम इक जटाधार, इक अंगि बिभूति करै अपार ॥

इक मुनियर इक मनहूँ लीन, ऐसै होत होत जग जात खीन ॥

इक आराध सकति सीव, इक पड़दा दे दे बधै जीव ॥

इक कुलदेव्यां कौ जपहि जाप, त्रिभवनपति भूले त्रिविध ताप ॥

अनहि छाड़ि इक पीवहि दूध, हरि न मिलै बिन हिरदै सूध ॥

कहै कबीर ऐसै विचार, राम बिना को उतरे पार ॥

शब्दार्थ—लै लीन = लवलीन। सकति = शक्ति। सीव = शिव। पड़दा =

परदा।

संदर्भ—कबीरदास राम भक्ति की महिमा का वर्णन करते हैं।

भावार्थ—भगवान का नाम ही तीनों लोकों में एक मात्र सारतत्व है। जो इसमें लवलीन हुए वे भवसागर के पार उतर गये। साधुओं ने अनेक सम्प्रदाय बना रखे हैं। एक जंगम है, दूसरा जटाधारी है। एक अपने शरीर में अनाप-शनाप राख मल लेता है, तो एक मौन व्रत धारण करके अपने आप में ही लीन बना रहता है। इस प्रकार होते-होते ससार में भगवद-निष्ठा क्षीण होती जा रही है। एक शक्ति की उपासना करता है, तो कोई शिव को पूजता है, तो दूसरा परदे की ओट में जीव की हत्या करता है। एक कुल देवियों का जप करता है और इस प्रकार लोग

विविध ताप मे भगवान त्रिभुवन पति भगवान को भूलते हैं। (वाह्याचारो के कारण लोभ दु ख हर्ता भगवान को विस्मृत कर बैठते हैं।) कुछ अन्न छोड कर केवल दूध पीकर रहते हैं। परन्तु भगवान तब तक नही मिलते हैं जब तक व्यक्ति का हृदय साफ न हो—उसकी कथनी-करनी समान न हो। कबीरदास कहते हैं कि व्यक्ति को एक निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि राम की भक्ति के बिना कोई भी भवसागर पार नहीं कर सकता है।

अलंकार - (1) पुनरुक्ति प्रकाश . दे दे।

(II) अनुप्रास—त्रिभुवन पति त्रिविधि ताप।

(III) वक्रोक्ति—राम...पार।

विशेष—(1) वाह्याचार का विरोध व्यक्त है। विभिन्न सम्प्रदाय बन जाने के कारण प्रभु-भक्ति क्षीण हो गई है।

(II) हरि न मिलै बिन हिरदै सूध। समभाव देखें—

सूधे मन सूधे बचन सूधी सब करतूति।

तुलसी सूधी सकल बिधि रघुबर प्रेम प्रसूति।

तथा— निरमल मन जन सो मोहि भावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।

(III) त्रिविध ताप—दैहिक, दैविक एव भौतिक।

(३८१)

हरि बोलि सूवा बार बार,

तेरी ढिग मीनां कछू करि पुकार ॥ टेक ॥

अंजन मंजन तजि बिकार, सतगुरु समझायौ तत सार ॥

साध सगति मिलि करि बसंत, भौ बदन छूटै जुग जुगंत ॥

कहै कबीर मन भया अनद, अनंत कला भेटे गोब्यद ॥

शब्दार्थ—सुवा=तोता। जीव से तात्पर्य है। मीना=मीनी (पाठान्तर), मृत्यु का प्रतीक, वैसे मीना राजपूताने की एक युद्ध प्रिय जाति है। अंजन=लेप, चन्दनादि का लेप। मंजन=मार्जन, स्नानादि। बसंत=आनन्द। जुग-जुगत=युग युगांतर। अनंत कला=अनंत कलाओ वाले।

संदर्भ—कबीर कहते हैं कि साधु-सगति द्वारा ही भवसागर के पार हो सकते हैं।

भावार्थ—रे जीव रूपी तोते, बार बार भगवान का नाम-स्मरण कर। तुम्हारे पास ही मृत्यु रूपी बिल्ली कुछ कह रही है। (बिल्ली म्याऊँ-म्याऊँ करती है। मृत्यु भी मानो यह कहती रहती है—मैं आऊँ, मैं आऊँ।) चन्दनादि का लेप तथा तीर्थादि मे स्नान आदि विकारो को छोड दो। मुझे सतगुरु ने ही यही सार तत्व सिखाया है। साधु-सगति मे बस कर बसन्तोत्सव (आनन्द) मनाओ अन्यथा तुम्हारे भव-बधन युगयुगांतर (जन्म जन्मांतर) तक नही छूटेंगे। कबीर कहते हैं कि

इससे अनंत कला वाले भगवान से तुम्हारा साक्षात्कार होगा और तुम्हारे मन को आत्मानन्द की प्राप्ति होगी ।

- अलंकार (1) रूपकातिशयोक्ति—सुवा, मीना । वसंत ।
 (ii) पुनरुक्ति प्रकाश—बार बार ।
 (iii) रूपक—अंजन मंजन विकार; भीबन्ध ।
 (iv) पदमैत्री—अजन भंजन ।
 (vi) सभग पद यमक—जुग जुगत ।

विशेष—(1) बाह्याचार का विरोध है ।

(ii) सत्सग एवं गुरु की महिमा का प्रतिपादन है ।

(iii) वसंत—वसन्तोत्सव वसंत पंचमी से होली की पूर्णिमा तक (४० दिन तक) मनाया जाता है ।

(३८२)

वनमाली जानें वन की आदि,

राम नाम बिन जनम बादि ॥ टेक ॥

फूल जु फूले रुति वसंत, जामै मोहि रहे सब जीव जंत ॥

फूलनि मैं जैसे रहै तबास, यूं घटि घटि गोविंद है निवास ॥

कहै कबीर मनि भया अनंद, जगजीवन मिलिबौ परमानंद ॥

शब्दार्थ—आदि=आरम्भ, उत्पत्ति । बादि=व्यर्थ । रुचि वसंत । आसक्ति का ससार । फूल=भोग-विलास ।

सन्दर्भ—कबीर दास प्रभु-साक्षात्कार के आनन्द का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—वनमाला धारण करने वाले प्रभु रूपी वनमाली इस जगत रूपी वन के आदि (उत्पत्ति) को जानते हैं । राम-नाम के बिना यह जीवन व्यर्थ है । ऋतुवसंत रूपी आसक्ति के ससार में विभिन्न आकर्षक भोगों के रूप में जो फूल फूले हुए हैं, उनके द्वारा जगत के ममस्त जीव-जन्तु मोहित हो रहे हैं—अपने कर्तव्य को भूले हुए हैं । जिस प्रकार फूल में सुगंध रहती है, उसी प्रकार सबके अन्त करणी में भगवान् व्याप्त हो रहे हैं । कबीरदास कहते हैं कि जब परमानंद रूप जगजीवन (ईश्वर) का साक्षात्कार हुआ, लौ मन 'आनंदित हो गया ।

- अलंकार (1) रूपकातिशयोक्ति—सम्पूर्ण पद । वन, फूल, वसंत ।
 (ii) साग रूपक—जीवन और वन का रूपक ।
 (iii) परिकराकुर—वनमाली ।
 (iv) उदाहरण—फूलनि "निवास ।
 (vi) पुनरुक्ति प्रकाश—घटि घटि ।
 (vii) रूपक—जगजीवन परमानंद ।

विशेष—(1) वन की आदि—ससार का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ, यह अगम्य प्रश्न है । इसी से इसको भगवान ही जानते हैं ।

(11) जीवन के प्रति वैराग्य, भगवान के सर्वव्यापकत्व एव भगवन्नाम-स्मरण का प्रतिपादन है ।

(111) फूलनि मे..... निवास ।—समभाव देखिए—

ज्यो तिल माही तेल है, ज्यो चकमक में आग ।

तेरा साईं तुज्झ में जाग सकें तो जाग ।

तेरा साईं तुज्झ में, ज्यूँ, पुहुपन में वास ।

कस्तूरी के मिरग ज्यूँ, फिरि-फिरि सूँघे घास ।

(३८३)

मेरे जैसे बनिज सौं कवन काज,

मूल घटै सिरि बधै ब्याज ॥ टेक ॥

नाइक एक बनिजारे पांच, बैल पचीस कौ संग साथ ॥

नव बहियां दस गौनि आहि, कसनि बहतरि लागे ताहि ॥

सात सूत मिलि बनिज कीन्ह, कर्म पयादौ सग लीन्ह ॥

तीन जगाती करत रारि चलयौ है बनिज वा बनज झारि ॥

बनिज खुटानों पू जि दूटि, षाडू दह दिसि गयौ फूटि ॥

कहै कबीर यहु जन्म बाद, सहजि समांनु रही लादि ॥

शब्दार्थ— बनिज=व्यापार अथवा व्यापारी । बनजारे=टाँडा लादकर चलने वाले व्यापारी । कसनि=कसनियाँ । गवनि=गूनें, बोरियाँ । सात सूत=सात धातु । जगाती=कर लेने वाले । खटानों=समाप्त हो गई । टाडो=सामान ।

संदर्भ—कबीरदास वासनामय जीवन की निरर्थकता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—मेरे द्वारा किए जाने वाले व्यापार से क्या लाभ हो सकता है, जिसमे मूल धन (आत्म तत्त्व) घटता जाता है और बधन के हेतु कर्म-रूपी व्याज की वृद्धि होनी जाती है । नायक एक है और पाँच बनजारे (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) हैं । (जो विषय भोगो को खरीदते हैं ।) शरीर के २५ प्रकृति रूपी पच्चीस बैल विषयो का बोझ ढोते हैं । इन बैलो पर नापने के नौ हाथ (चार अन्त करण एव पच प्राण) तथा दस इन्द्रियो (उनके विषय) रूपी दस बोरियाँ लदी हुई हैं । इनको शरीर की बहतर नाडियो रूपी रस्सियो से बाँधा गया है । सात धातुओ ने मिलकर शरीर के इस व्यापार को मालूम किया था और भाग्य रूपी प्यादे (पैदल चलने वाला सैनिक) को अपने साथ ले लिया था (वही मार्गदर्शक एव रक्षक है ।) सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण रूपी ये तीन कर (टैक्स) उगाहने वाले भगडा कर रहे हैं । इन्होंने कर के लिए इतना भगडा किया अथवा भगडा करके इन्होंने इतना कर वसूल कर लिया कि इस जीवन रूपी व्यापारी को सम्पूर्ण जीवन रूपी वाणिज्य की सामग्री इन तीनों गुणो को समर्पित कर देनी पडी और जीव रूपी व्यापारी यहाँ से हाथ भाडकर चल दिया । अब तो व्यापार समाप्त हो गया (उसमे टोटा आ गया है), पूँजी कम पड गई है और यह चैतन्य रूपी टाँडा दस इन्द्रियो रूपी दसो

दिशाओं में फूट कर वह निकला है । कबीर कहते हैं कि यह जन्म व्यर्थ जा रहा है । अब तो मैं केवल सामान को लादने का काम करता हूँ और मैं अपने सहज स्वरूप को प्राप्त हो गया हूँ ।

अलंकार—(1) सागरूपक—जीवन को आद्यन्त एक व्यापार के रूप में प्रस्तुत किया है ।

वक्रोक्ति—कवन का ज ।

(III) रूपक—कर्म पयादी ।

विशेष—प्रतीको का प्रयोग है ।

(क) नायक—जीव ।

(ख) वनजारे पाँच—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ।

(ग) बैल पच्चीस—पच्चीस प्रकृतियाँ ।

आकाश की—काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय ।

वायु की—चलन, बलन, धावन, प्रसारण, संकोचन ।

अग्नि की—सुधा, तृषा, आलस्य, निद्रा, मैथुन ।

जल की—लार, रक्त, पसीना, मूत्र, वीर्य ।

पृथ्वी—अस्थि, चर्म, मांस, नाडी, रोम ।

नौ बहियाँ—शरीर के नवद्वार, अथवा नौ हाथ (जिनसे नापते हैं)—चार

अन्तःकरण—मन चित्त बुद्धि एव अहंकार । तथा पंच प्राण—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान) सात सूत—सप्त धातु—रस, रक्त, मांस, वसा, मज्जा, अस्थि और शुक्र ।

तीन जगाती—त्रिगुणात्मक प्रकृति—सत, रज, तम ।

दस गूर्ने—दस इन्द्रियो के अतिरिक्त इनका अर्थ दस वायु भी हो सकती हैं—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कर्म, कूकरत देवदत्त तथा धनंजय ।

वहत्तर कसनियाँ—वहत्तर नाडियाँ ।

(३८४)

माधौ दारन दुख सह्यौ न जाइ,

मेरी चपल बुधि तातै कहा वसाइ ॥ टेक ॥

तन मन भीतरि बसै मदन चोर, जिनि ज्ञान रतन हरि लीन्ह मोर ।

मैं अनाथ प्रभू कहूं काहि, अनेक बिगूचे मैं को आहि ॥

सनक सनंदन सिव सुकादि, आपण कवलापति भये ब्रह्मादि ।

जोगी जगम जती जटाघार, अपने औसर सब गये हैं हारि ॥

कहै कबीर रहु संग साथ, अभिअतरि हरि सू कहौ बात ।

मन ग्यान जानि कै करि विचार, राम रमत भौ तिरिबौ पार ॥

शब्दार्थ—दारन=दारुण, कठोर । चपल=चंचल । वसाइ=वश नहीं है । बिगूचा=दोचा, उलझन में डाल दिया ।

सन्दर्भ— कबीरदास काम के व्यापक प्रभाव का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—हे माधव ! काम के द्वारा दी जाने वाली दारुण व्यथा मेरे लिए असह्य हो उठी है । मेरी चंचल बुद्धि मुझे काम (विषय) की ओर आकृष्ट करती है उस पर मेरा कोई वश नहीं चलता है । मेरे शरीर और मन के भीतर कामदेव रूपी चोर रहता है । उसने मेरे आत्म-बोध रूपी रत्न का अपहरण करलिया है । हे प्रभु, मैं अनाथ हूँ । मैं अपनी व्यथा किससे निवेदन करूँ ? इस काम ने अनेक बड़े-बड़ों को दबोच डाला है । मेरी तो चलाई ही क्या है ? सनक, सनदन, शिव, शुकदेव, स्वयं विष्णु ब्रह्मादि जैसे देवता, जोगी जगम, जटाधारी, आदि साधु-सभी अपना समय आने पर (अथवा इससे पाला पडने पर) इसके सम्मुख हार गये हैं । कबीर कहते हैं कि साधुओं की सगति में रहो तथा अपने अन्तःकरण में विराजमान प्रभु से अपनी व्यथा निवेदित करो । मन में यह बात अच्छी तरह सोच-विचार कर समझ लेनी चाहिए कि भगवान (राम) में रमण करते हुए ही भवसागर को पार किया जा सकता है ।

अलंकार— (1) वक्रोक्ति—मेरी • ... वसाइ ।

(II) रूपक—मदन चोर, ज्ञान रत्न,

(III) पर्यायोक्ति—मैं को आहि ।

(IV) अनुप्रास—सनक सनदन, शिव सुकादि सब; जोगी जगम जती जटाधर ।

(VI) अत्युक्ति—सनक • हारि ।

(३८५)

तू करी डर क्यूं न करै गुहारि,

तू बिन पंचाननि श्री मुरारि ॥ टेक ॥

तन भीतरि बसै मदन चोर, तिनि सरबस लीनों छोर मोर ॥

मांगै देइ न बिनै मान, तकि मारै रिदा मै काम बांन ॥

मै किहि गुहरांऊ आप लागि, तू करी डर बड़े बडे गये हैं भागि ॥

ब्रह्मा विष्णु अरु सुर मयक, किहि किहि नहीं लावा कलक ॥

जप तप सजम सुंचि ध्यान, बंदि परे सब सहित ग्यांन ॥

कहि कबीर उबरे द्वै तीनि, जा परि गोविंद कृपा कोन्ह ॥

शब्दार्थ—करी=हाथी । पंचाननि=सिंह । श्रवण=सर्वस्व । बिना बिनै=विनय । गुहारि=पुकारना । मयंक=चन्द्रमा । सु चि=शुचि, पवित्रता ।

सन्दर्भ—कबीरदास काम के व्यापक प्रभाव का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—हे मेरी जीवात्मा, तू काम रूपी हाथी से डर कर सहायतार्थ क्यों नहीं पुकारती है ? तुम पूछो कि मैं किसको पुकारूँ, तो इसका उत्तर यह है कि मुरारी रूपी सिंह के अतिरिक्त तुम किसको पुकारोगी ? अर्थात् कामरूपी हाथी से रक्षा के लिए तुमको मुरारि सिंह से ही पुकार करनी चाहिए । मेरे शरीर के भीतर कामदेव

रूपी चोर रहता है । उसने मेरे सम्पूर्ण चैतन्य का हरण कर लिया है । मांगने पर वह मेरे चैतन्य रूप को देता नहीं है और अनुनय विनय भी नहीं मानता है । इतना ही नहीं, वह कामदेव मेरे हृदय में तान-तान कर बाण मारता है । हे कामदेव, मैं अपनी रक्षा के लिए किसको पुकारूँ ? तुम्हारे डर के मारे बड़े-बड़े भाग खड़े हुए हैं । ब्रह्मा, विष्णु और चन्द्रदेव तुमने किस-किसको कलकित नहीं किया है ? जप, तप, सयम, पवित्रता ध्यान और ज्ञान सभी व्यक्ति इसके समक्ष पराजित हो गये हैं । कबीर कहते हैं कि इसके प्रभाव से केवल वे ही दो-तीन व्यक्ति बच पाए हैं जिन पर भगवान ने अनुग्रह किया है ।

अलकार—(1) गूढोक्ति—प्रथम पक्ति, किहि गुहराऊँ ।

(II) रूपक—मदन चोर, काम वान ।

(III) विशेषोक्ति की व्यजना—मागे देह.....मान ।

(IV) पुनरुक्ति प्रकाश—किहि किहि ।

(V) वक्रोक्ति—किहि.....कलक ।

(VI) सहोक्ति—सब सहित ग्यान ।

विशेष—(1) काम के सर्वव्यापी एवं सर्वग्रासी प्रभाव की ओर संकेत है ।

(II) जा परि—कीन्ह । पुष्टि मार्गीय भक्त की भाँति कबीरदास उद्धार के लिए प्रभु-कृपा पर अवलम्बित दिखाई देते हैं ।

(III) कामदेव के वान—५ हैं—मोहन, उन्मादन, संतपन, शोषण और निश्चेष्टीकरण ।

(३८६)

ऐसौ देखि चरित मन मोह्यौ मोर,

ताथै निस वासुरि गुन रसौ तोर ॥ टेक ॥

इक पर्दाह पाठ इक भ्रम उदास, इक नगन निरंतर रहैं निवास ॥

इक जोग जुगुति तन हूहि खीन, ऐसै राम नाम सगि रहैं न लीन ॥

इक हूहि दीन एक देहि दांन, एक करे कलापी सुरा पांन ॥

इक तत मंत ओषध वांन, इक सकल सिध राखै अपांन ॥

इक तीर्थ व्रत करि काया जीति, ऐसै राम नाम सूँ करै न प्रीति ॥

इक धोम धोटि तन हूहि स्यांम, यूँ मुकति नहीं विन राम नाम ॥

सत गुर तत कह्यौ विचार, मूल गह्यौ अनभै विसतार ॥

जुरा मरण ये भये धीर, राम कृपा भई कहि कबीर ॥

शब्दार्थ—खनी=क्षीण । कलापी=कलाप=करघनी, लक्षण से कोपीन, अतः कलापी का अर्थ कोपीनघारी हुआ । अयान=अपान वायु, भीतर को खीची जाने वाली सास-तात्पर्य 'प्राणायाम' से है । धोम=धुँआ । मूल=परम तत्व । जुरा=जरा, वृद्धा-स्था । धीर=निश्चल, अविचल । अनभै=निर्भय अवस्था ।

संदर्भ—कबीरदास बाह्याचार के कारण उत्पन्न ससार की दुर्दशा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—हे प्रभु ससार के लोगो के आचरण (ससार की दुर्दशा) देखकर ही मेरा मन आपकी ओर आकृष्ट हुआ है । इससे मैं दिन रात आपके गुणो मे रमा हुआ हूँ (आपकी भक्ति मे तल्लीन हो गया हूँ) । कोई वेद पाठ मे भूला हुआ है, कोई ससार के प्रति उदासीन होकर धूमता है, कोई निरन्तर नग्न बना हुआ रहता है, और कोई योग की युक्तियो से (हठयोग की साधना द्वारा) अपने शरीर को ही सुखाता है । ऐसे व्यक्ति राम-नाम मे लवलीन नही रहते हैं । कोई भिखारी बन जाता है और कोई दानी बना हुआ दिखाई देता है । कुछ ऐसे साधु हैं जो कोपीन तो धारण किए हुए हैं, परन्तु (वामाचार का अवलम्बन करते हुए) शराब पीते हैं । कोई तत्र-मत्र एव जडी-बूटियो की साधना करता है और कोई प्राणायाम की साधना करता है और कोई प्राणायाम की साधना करके पूर्ण सिद्ध होने का दम्भ करता है । कोई तीर्थ-व्रत करके अपने शरीर पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करता है । बाह्याचारो मे विश्वास करने वाले ये व्यक्ति राम-नाम से प्रेम नही करते हैं । कोई घुए मे घुट-घुट कर अपना शरीर काला कर देता है । परन्तु राम नाम के बिना इस प्रकार की साधनाएँ करने से मुक्ति की प्राप्ति नही होती है । सत्गुरु ने विचार करके तत्व की बात बताई है । हृदय मे निर्भय अवस्था का विस्तार करने वाले परम तत्व को ग्रहण करो । कबीर कहते हैं कि (गुरु के उपदेशानुसार आचरण करके) अब मैं वृद्धावस्था और मृत्यु के प्रति निश्चल हो गया हूँ अर्थात् इनके भय से मुक्त हो गया हूँ । अब मेरे ऊपर राम की कृपा हो गई है ।

अलंकार—(1) अनुप्रास—मन मोह्यौ मोर । नगिन निरतर निवास ।

(II) विरोधाभास—कलापी सुरापान ।

(III) पदमैत्री—तत मत ।

(IV) तद्गुण की व्यजना—धोम धोटि तन हूहि स्याम ।

विशेष—(1) बाह्याचारो का विरोध है । राम-नाम के महत्व का प्रति-पादन है ।

(II) 'वैराग्य' की व्यजना है ।

(३८७)

सब मदिमाते कोई न जागा,

ताथे सग ही चोर घर मुसन लाग ॥ टेक ॥

पंडित माते पढि पुरांन, जोगी माते धरि धियान ॥

सन्यासी माते अहमेव, तपा जु माते तप कं भेव ॥

जागे सुक उधव अकूर, हणवत जागे लै लगूर ॥

सकर जागे चरन सेव, कलि जागे नामा जैदेव ॥

ए अभिमान सब मन के कांम, ए अभिमान नहीं रहों ठाम ॥

आतमां राम कौ मन विश्राम, कहि कबीर भजि राम नाम ॥

शब्दार्थ—मद=उन्माद, गर्व । माते=मस्त, बेसुध । मुसन लाऊ=लूट रहे है ।

सन्दर्भ—कबीरदास ससारी व्यक्तियों की अज्ञान-दशा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—समस्त ससार मन्दान्ध (उन्माद एव गर्व मे अन्धा, होकर अज्ञान की निद्रा मे मदहोश होकर सो रहा है । कोई भी ज्ञान लाभ कर सचेत नहीं होता है । इसी से साथ मे लगे हुए कामादिक चोर जीव के शरीर को (जीवन को) लूट रहे हैं । (विवेक को नष्ट तथा विशुद्ध चैतन को तिरोहित कर रहे हैं ।) पंडित पुराण पढकर मदमस्त है, योगी ध्यान-योग के अहकार मे मदहोश हैं ।- सन्यासी 'अहमेव' की भावना के अहकार मे तथा तपस्वी तप के भ्रम मे अपने आपको भूले हुए हैं । शुकदेव, उद्धव, अक्रूर, और जामवत सहित हनुमान ईश्वर-प्रेम मे अनुरक्त होकर ही इस अज्ञान-निद्रा से जागे थे । शंकर को भी भगवान के चरणों की सेवा से ही बोध हुआ था । कलियुग मे नामदेव और जयदेव को भी (इसी प्रकार) ज्ञान हुआ । (ज्ञान तप आदि के) उपर्युक्त समस्त अभिमान केवल मन मे उत्पन्न होते हैं । इन अभिमानों के कारण साधक का मन सदैव चंचल बना रहता है । इसी से कबीर कहते हैं कि आत्मारामों के मन के विश्राम राम-नाम का भजन करना चाहिए— अर्थात् मन का वास्तविक विश्राम आत्माराम है । वहाँ पर मन अपनी सम्पूर्ण चंचलता सहित शुद्ध चैतन्य मे विलीन हो जाता है । यह ज्ञान और प्रेम द्वारा ही सम्भव है । इसी से कबीर कहते हैं कि, हे जीव, राम-नाम का स्मरण करो ।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति - चोर, घर

विशेष—(1) दम्भ उत्पन्न करने वाले वाह्याचारों का विरोध है । साथ ही सच्ची भक्ति-भावना का प्रतिपादन है ।

(ii) पुराण एव इतिहास प्रसिद्ध भक्तों की चर्चा द्वारा तीन बातें प्रकट होती हैं—(क) कबीर का विरोध केवल दम्भ से था । जहाँ भी सचाई थी, वहाँ कबीर का मन रम जाता था । (ख) भारत मे पौराणिक संस्कृति का व्यापक प्रभाव था । जनता के मन को प्रभावित करने के लिए पौराणिक पात्रों का उल्लेख आवश्यक था । तथा (ग) कबीर के ऊपर हिन्दू संस्कारों का गहरा प्रभाव था ।

(३८८)

चलि चलि रे भवरा कवल पास,

भवरी बोलै अति उदास ॥ टेक ॥

तैं अनेक पुहप कौ लियो भोग, सुख न भयो तव बढ्यौ है रोग ॥

हौं ज कहत तोसुं बार बार, मैं सब बन सोध्यौ डार डार ॥

दिनां चारि के सुरंग फूल, तिनहि देखि कहा रह्यौ हे भूल ॥

या बनासपती में लागी आगि, तव तू जैहौ कहां भागि ॥

पहुप पुराने भए सूक, तब भवरहि लागी अधिक भूख ॥
उड़यो न जाइ बल गयो है छूटि, तब भवरी रूनी सीस कूटि ॥
दह दिसि जोवै मधुप राइ, तब भवरी ले चली सिर चढ़ाइ ॥
कहै कवीर मन कौ सुभाव, राम भगति बिन जम कौ डाय ॥

शब्दार्थ—भ्रमर=मन । भ्रमरी=विवेक-बुद्धि । सुरंग=सुन्दर रग ।
वनस्पति वन । रूनी=रोई । डाय=भय ।

सन्दर्भ—कवीर का कहना है कि अन्तत राम भक्ति ही जीवन की सार्थकता है ।

भावार्थ—विवेक-बुद्धि रूपी भ्रमरी ससार की विषय-वामनाओ से दुखी एवं उदास होकर कहती है कि रे मन-रूपी भ्रमर, तुम भगवान के चरण कमलो के प्रति अनुरक्त बनो । तुमने अनेक विषय रूपी पुरुषो का रस भोगा है । उससे तुमको कुछ भी सुख प्राप्त नहीं हुआ, अपितु मोह-रूप रोग की वृद्धि हुई है । यह बात तुमसे बार-बार कह चुकी हूँ । इस ससार रूपी वन की डाल-डाल पर मैंने आनन्द की खोज की, (लेकिन सब व्यर्थ) । ये विषय रूपी सुन्दर रग के फूल केवल चार दिन के ही हैं । इन्हे देखकर तू क्यों मोहित हो रहा है ? इस ससार रूपी जगल में आग लग जाएगी । तब तुम अपने प्राणों के रक्षार्थ कहाँ भाग कर जाओगे ? (तब भी तुम्हें भगवान की शरण में ही जाना पड़ेगा ।) परन्तु भ्रमर ने भ्रमरी की बात नहीं मानी । कुछ दिनों पश्चात् फूल पुराने पड़ कर सूख गये (विषय की सामर्थ्य क्षीण हो गई), तब भ्रमर रूपी मन को ईश्वर-प्रेम की भूख जोर के साथ लगी । परन्तु इस समय उसका शरीर इतना हीनवीर्य हो गया था कि उससे उडा ही नहीं जाता था । उसकी यह दशा देख कर बुद्धि रूपी भ्रमरी सिर पीट-पीट कर रोने लगी । मन रूपी भ्रमर भी अपने किए पर पश्चात्ताप करता हुआ दसों दिशाओं में घूम घूम कर रोने लगा । तब भ्रमरी उसको अपने सिर पर चढ़ाकर भगवान के चरणारविन्द के पास ले गई । कवीर कहते हैं कि मन रूपी भ्रमर का यह सहज स्वभाव है कि जब तक उसको भगवान के चरण-कमलों का सान्निध्य प्राप्त नहीं होता है, तब तक मृत्यु भय से उसकी मुक्ति नहीं होती है ।

अलंकार—(1) रूपकातिशयोक्ति—भवरा, भवरी, पहुप, वन ।

(II) साग रूपक—सम्पूर्ण पद ।

(III) वीप्सा—चलि चलि रे ।

(IV) विशेषोक्ति—तै सुख न भयो ।

(V) विरोधाभास—भयो तब रोग, पहुप पराने भूख ।

(VI) पुनरुक्ति प्रकाश—वार वार, डार-डार ।

(VII) गूढोक्ति—कहा भूल ।

विशेष—(1) इस पद में बुद्धि-मनस और काम मनस के द्वन्द्व का सुन्दर वर्णन है । अन्तत बुद्धि मनस की विजय होती है और काम मनस का बुद्धि मनस में

पर्यवसान हो जाता है। यही बुद्धिरूपी भ्रमरी का मन रूपी भ्रमर को अपने सिर पर चढ़ाना है।

सद्प्रवृत्तियो एव दुष्प्रवृत्तियो का यह मानसिक शाश्वत है। इसी प्रकार देवासुर-संग्राम, पाण्डव-कौरवों का महाभारत, राम-रावण का युद्ध आदि कहा गया है। बुद्धि मनस विश्व-चेतना की वाहिका है। वही विश्व-चेतना स्वरूप भगवद् चरणों के प्रति उन्मुख वृत्ति है।

विवेक एव भक्ति के प्रति वासनात्मक मन का समर्पण जीव का स्वभाव एव जीवन की सार्थकता है। इसी का वर्णन इस पद में किया गया है।

(11) विविध रस-लोलुप होने के कारण मन भ्रमर है। भ्रमर को तृप्ति केवल कमल प्रदान कर पाता है और वह उसी के कोश में आवद्ध हो जाता है। इसी से भगवान के चरणों को कमल कहते हैं। चरण कमलों का स्मरण करते-करते वासनात्मक बुद्धि का अद्वैत बुद्धि में पर्यावसान ज्ञानी भक्तों का प्रतिवाद्य रहा है। भ्रमर गीत की परम्परा का साहित्य इसका ज्वलत उदाहरण है।

(३८६)

आवध राम सबै करम करिहू,

सहज समाधि न जमथे डरिहूं ॥ टेक ॥

कुभरा ह्वै करि बासन घरिहू, धोबी ह्वै मल धोऊं ।

चमरा ह्वै करि रगौ अधौरी, जाति पांति कुल खोऊ ॥

तेली ह्वै तन कोल्हू करिहौ, पाप पुनि दोऊ पीरौं ।

पच बैल जब सूध चलाऊं, राम जेवरिया जोरु ॥

ज्ञत्री ह्वै करि खड़ग सँभालूँ, जोग जुगति दोउ साधूँ ।

नऊवा ह्वै करि मन कूँ मूड़ूँ, बाढ़ी ह्वै कर्म बाढ़ूँ ॥

अवधू ह्वै करि यहु तन धूतौँ बधिक ह्वै मन मारु ।

बनिजारा ह्वै तन कूँ बनिजूँ, जूवारी ह्वै जम हारु ॥

तन करि नवका मन करि खेवट, रसना करऊ बाडारु ।

कहि कबीर भौसागर तरिहूँ, आप तिरु बप तारु ॥

शब्दार्थ—आवध=अवधि पति। कुभरा=कुम्हार। घरिहूँ=बना दूँगा। अधौरी=घनीनी वस्तुएँ। पीरौं=पे लूँगा। अवधू=अवधूत, जोगी। करऊँ=वाडारु=डा० माताप्रमाद गुप्त ने इसका अर्थ करउवा=डालू करके 'पतवार डालूँगा' लिखा है। डा० भगवत्स्वरूप मिश्र ने इसका अर्थ "करऊँ-वाडारु" करके रस्ता बना दूँगा लिखा है। केवट के सदृश में 'पतवार' अधिक सगत है। इसी से हमने इसका अर्थ 'पतवार' ही किया है। बप=बाप, पूर्वज।

सन्दर्भ—कबीरदास कर्म की कुशलता द्वारा उद्धार की कामना करते हैं।

भावार्थ—हे अवधपति राम, मैं सब कर्म कहूँगा और सहज समाधि को

प्राप्त करूँगा और मैं इस प्रकार कर्मों को ज्ञान की साधना में परिणत करता हुआ मृत्यु का आलिंगन करने को सदैव तैयार रहूँगा ।

कुम्हार होकर मैं सुन्दर वर्तन बना दूँगा । घोड़ी होकर मैं कपडों का मैल अच्छी तरह धो दूँगा । चमार होकर मैं चमड़ा जैसी धिनीनी वस्तु को अच्छी तरह रँगूँगा और इस प्रकार जाति-पाँति और कुल के कारण उत्पन्न हीनत्व भावना को समाप्त कर दूँगा । तैली होने पर मैं अपने शरीर को कोलू बनाकर उसमें पाप-पुण्यों को पेरूँगा तथा भक्ति रूपी तैल निकालूँगा । अपनी पाँचों इन्द्रियों को कोलू का वैल बना दूँगा और राम-प्रेम की रस्सी से नाथ कर उसे (पञ्चइन्द्रिय रूपी वैल) को भक्ति के सीधे मार्ग पर चलाऊँगा । क्षत्रिय होने पर मैं विवेक की तलवार चला दूँगा तथा योग एवं ज्ञान दोनों को सिद्ध करूँगा । (विवेक पूर्वक दुष्टों को दण्ड दूँगा तथा दण्ड निर्धारित करते समय तटस्थ की भाँति व्यवहार करूँगा । यही ज्ञान एवं योग की साधना है ।) नाई होने पर अपने मन की समस्त वासनाओं को मूड दूँगा । बढई होकर मैं कर्मों के बधन को काटूँगा । अवधूत होने पर मैं इस शरीर के मल को धोकर साफ करूँगा और बधिक के रूप में इस वासनामय मन को ही मार डालूँगा । व्यापारी बनने पर मैं परम तत्त्व का व्यापार करूँगा । जुवारी होने पर मैं मृत्यु भय को ही दाव पर लगाकर हार जाऊँगा (मैं अपने शरीर की नौका और मन का केवट एवं जिह्वा की पतवार बनाकर भव-सागर के पार जाऊँगा । कवीर कहते हैं कि इस प्रकार मैं स्वयं तिरूँगा और अपने पूर्वजों (अन्य व्यक्तियों) का भी उद्धार कर दूँगा ।

अलंकार—(1) रूपक-तन कोलू, राम जेवरिया । पंच वैल तन करि " डारू ।

(II) भी सागर ।

(III) अनुप्रास—तरिहै, तिरूँ, तारूँ ।

विशेष—(1) कर्म की महिमा का प्रतिपादन है । निष्ठापूर्वक कार्य ही मोक्ष का साधन बनता है । "योग की कर्मसु कौशलम् (गीता)

(II) कवीर की यह मान्यता प्रकट है कि सभी जातियों के व्यक्ति अपने व्यावसायिक कर्मों को आध्यात्मिक रूप प्रदान करके परम पद के अधिकारी बन सकते हैं । यही समन्वय एवं तत्त्व दृष्टि है । वह स्वयं जुलाहे थे और अपने कर्म को निष्ठापूर्वक करते हुए परमपद के अधिकारी बने थे ।

(III) इस पद में सभी जातियों के कर्मों का साधना-परक अर्थ किया गया है । व्यक्ति चाहे जिस सामाजिक स्थिति में हो उसे ईश्वर-भक्ति का पूर्ण अधिकार एवं अवसर प्राप्त है । यह मान्यता भारतीय दृष्टिकोण के अनुरूप है । तुलना करें—

(क) श्रेयान्स्वधर्मो विगुण परधर्मोऽस्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मो निधन श्रेय परधर्मो भयावहः ।

(ख) मम माया संभव संसारा । जीव चराचर विविध प्रकारा ।

× × ×
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाही । मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं ।

× × ×
भगतिवंत अति नीचउ पुरानी । मोहि प्रानप्रिय अस मम बानी ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(iv) तन कर'...डाहूँ । कबीर को यह कामना बहुत कुछ इस प्रकार की है—जेहि जोनि जन्मौ कर्म बस तहाँ राम पद अनुरागऊँ ।

राग मालीगौड़ी

(३६०)

पंडिता मन रजिता, भगति हेत ल्यौ लाइ रे ।
प्रेम प्रीति गोपाल भजि नर और कारण जाइ रे ॥ टेक ॥
दांम छै पणि कांम नांही, ग्यांन छै पणि धंध रे ।
श्रवण छै पणि सुरति नांहीं, नैन छै पणि अंध रे ॥
जाकै नाभि पदम सु उदित ब्रह्मा, चरन गग तरग रे ।
कहै कबीर हरि भगति बांछूँ, जगत गुर गोब्यद रे ॥

शब्दार्थ—रजिता = अनुरक्त । कारण = उपाय । जाइरे = जाने दो । दाम = घन । छै = है । पणि = पर । नाभि = टु डी । बांछूँ = वांछा करता हूँ ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि भगवान की भक्ति ही काम्य होनी चाहिए ।

भावार्थ—रे विषयो मे अनुरक्त मन वाले पंडित तुम भगवान की भक्ति मे अपना मन लगाओ । प्रेम और प्रीति (श्रद्धा) पूर्वक भगवान का भजन करो तथा अन्य सब बातों को (व्यर्थ समझ कर) जाने दो । तुम्हारे पास घन है परन्तु उसके सदुपयोग के लिए काम नहीं करते हो । तुमको बौद्धिक ज्ञान प्राप्त है, परन्तु तुम ससार के धन्धों में फँसे हुए हो । तुम्हें श्रवणशक्ति प्राप्त है, परन्तु भगवद् चर्चा सुनकर तुम्हारे भीतर भगवान की स्मृति नहीं जागती है । तुम नेत्रों के होते हुए भी भगवान का साक्षात्कार न कर सकने के कारण अंधे ही कहे जाओगे । कबीर कहते हैं कि जिन भगवान के नाभि-कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है तथा जिनके चरणों से गंगा की धारा प्रकट होकर बही है, मैं उन्हीं भगवान की भक्ति की कामना करता हूँ । वे गोविन्द ही जगत को ज्ञान प्रदान करने वाले गुरु हैं ।

अलंकार—(i) पदमैत्री—पंडिता मन रजिता । गंग तरग ।

(ii) विशेषोक्ति की व्यंजना—दाम—नाही, श्रवण—नाही ।

(iii) विरोधाभास—ग्यान—वध रे । नैन अधरे ।

(iv) परिकराकुर—गोविन्द ।

विशेष—(i) इस पद में कबीर के राम विष्णु के अवतार रूप में हमारे सामने आते हैं और वह सगुण भक्त ऋषियों की पत्ति में खड़े हुए दिखाई देते हैं ।

(II) कवीर के ऐसे कथनों को अर्थवादी ही मानना चाहिए। इस पद में वर्णित घटनाओं को कवीर ने सत्य माना हो—यह आवश्यक नहीं है। भगवान की शक्ति करुणा आदि गुणों की व्यंजना ही उन्हें अभिप्रेत है। कवीर की भगवान की दयालुता, भक्त वत्सलता आदि में आस्था थी इसमें कोई सदेह नहीं है। उन्हें हम सगुणोपासक मान सकते हैं, परन्तु तुलसी सूर प्रभृति भक्त कवियों की भाँति साकारोपासक नहीं मान सकते हैं। और फिर बात वही है। भारतीय मन-मानस को प्रभावित करने के लिए पौराणिक आख्यानों की चर्चा के बिना काम नहीं चल सकता है।

(३६१)

विष्णु ध्यान सनान करि रे, बाहरि अंग न धोइ रे ।
साच बिन सीझसि नहीं, काँई ग्यान दृष्टै जोइ रे ॥ टंक ॥
जजाल माँहें जीव राखै, सुधि नही सरीर रे ॥
अभिअतरि भेदै नही, काँई बाहरि न्हावे नीर रे ।
निहकर्म नदी ग्यान जल, सुनि मडल माँहि रे ॥
औधूत जोगी आतमां, काँई पेणै सजमि न्हाहि रे ।
इला प्यगुला सुषमनां, पछिम गगा बालि रे ॥
कहै कवीर कुसमल झड़ै, काँई माँहि लौ अग पषालि रे ।

शब्दार्थ—अभिअन्तरि=आभ्यन्तर, हृदय, मन। सीझसि=सिद्धि है। जोइ=दिखाई देता है। औधूत=अवधूत साधक, हठयोगी साधक। सजाम=सयम। कुसमल=पाप। झड़ै=धुल जाएँगे। पषालि=घोले। बालि=सुषुम्ना। पछिम=सुषुम्ना। गगा=इडा।

सन्दर्भ—कुछ साधक बाह्य साधनों एवं साधनाओं में व्यर्थ समझ एवं शक्ति खोते रहते हैं और अन्नरात्मा को निर्मल नहीं बनाते हैं। कवीरदास इन्हीं को सावधान करते हैं।

भावार्थ—कवीरदासजी शरीर को मल-मल कर स्नान करने वाले साधकों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि विष्णु-ध्यान का स्नान करो बाहर से अंगों को मत धोते रहो। भाव यह है कि पानी से शरीर के बाह्यांगों को धोने से कोई लाभ नहीं होगा भगवान् का ध्यान करके अपने मन को निर्मल बनाना ही मुख्य काम है। सत्य के बिना सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती है अतः ज्ञान दृष्टि से देखने का प्रयत्न क्यों नहीं करते हो? तूने अपने जी को जगत् के जजाल में डाल रखा है और तुझको अपने शरीर का भी होश नहीं है। भाव यह है कि तू विषय के मोहवश अपने शरीर के स्वास्थ्य के प्रति भी असावधान हो गया है। अपने अन्दर प्रवेश नहीं करते हो अर्थात् आत्म-चिन्तन से विमुख हो। ऐसी स्थिति में बाहर जल से क्या स्नान करते हो—बाहरी टीमटाम से कोई लाभ नहीं है। शून्य मण्डल में निष्काम कर्म की नदी बहती है उसमें ज्ञान का जल है। जो योगी सयम के द्वारा उस नदी में स्नान करता

है, वह सर्वथा शुद्धात्मा बन जाता है। इडा, पिंगला और सुषुम्ना, जिन्हें गंगा, वंकनाल एव अवधूती भी कहते हैं—के सगम में अपने-अपने अंगों को धो लो। इसमें तेरे समस्त पाप धुल जायेंगे।

अलंकार—रूपक— ग्यान दृष्टि, निहकर्म जल,

विशेष—बाह्य कर्म-काण्ड को व्यर्थ बताकर योग-साधन की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। कबीरदास के ऊपर नाथ-सम्प्रदाय की साधना का स्पष्टतः गहरा प्रभाव दिखाई देता है।

(२) इडा को गंगा कहा है। सुषुम्ना को बकनाल या पश्चिम दिशा भी कहते हैं। सुषुम्ना को अवधूती या बालरडा तपस्विनी भी कहा गया है। ६ वीं पक्ति कबीरदास का अभिप्राय इडा पिंगला और सुषुम्ना के सगम से है। कथन में कुछ दुष्कर्मत्व दोष आगया है।

(३६२)

भजि नारदादि सुकादि बंदित, चरन पंक्रज भांसिनी ।
भजि भजिसि भूषन पिया मनोहर, देव देव सिरोवनीं ॥टेक॥
बुधि नाभि चदन चरचिता, तन रिदा मंदिर भीतरा ।
राम राजसि नन बानी, सुजात सुदर सुंदरा ॥
बहु पाप परबत छेदनां, भौ ताप दुरिति निवारणां ।
कहै कबीर गोब्यद भजि, परमानंद बंदित कारणां ॥

शब्दार्थ—भामिनी = सुन्दर स्त्री (जीवात्मा); छेदनां = नष्ट करने वाले।
दुरित = सकट। निवारणा = दूर करने वाले। कारणा = कारणभूत, उत्पत्ति के कारण। भूषन पिया = लक्ष्मी।

सन्दर्भ—कबीर भगवद भजन का उपदेश देते हैं।

भावार्थ—री आत्मा सुन्दरी, नारद इत्यादि मुनि तथा शुकदेव इत्यादि ऋषियों के द्वारा वन्दित भगवान के चरण-कमलों का भजन कर। लक्ष्मी के हृदय के आभूषण एव अत्यन्त मनोहर तथा सम्पूर्ण देवताओं के सिर पर मणि के समान शोभा देने वाले इन चरणों का भजन कर। चन्दन से चर्चित बुद्धि-रूपी नाभि तथा शरीर एव हृदय-रूपी मन्दिर में विराजमान आत्मारूपी राम सुशोभित हो रहे हैं। राम अत्यन्त ज्ञानी हैं। वह अपने सुन्दर नेत्रों एव वाणी से सुशोभित हैं तथा सुन्दरों में भी सुन्दर है अथवा सुन्दरों की सुन्दरता है। वह सम्पूर्ण पापों के पहाड़ों को नष्ट करने वाले हैं तथा ससार के कष्टों एव संकटों को दूर करने वाले हैं। कबीर कहते हैं, तू उन गोविंद का भजन कर जो परमानंद स्वरूप हैं तथा सृष्टि के उत्पत्ति कारणों (मृष्टि के उत्पादक तत्वों) द्वारा वन्दित हैं।

अलंकार—(१) रूपक-चरण पंक्रज, बुधि-नाभि तन रिदा मन्दिर।

(२) यमक—भजि भजिसि ।

(३) यमक—देव देव ।

(iv) अनुप्रास—सुजान सु दर सुयश ।

(v) अतिशयोक्ति—सु दर सुन्दरा ।

विशेष—(1) भूषण पिया का अर्थ सीता भी हो सकता है । कबीर ने कही कही राम को परब्रह्म और विष्णु दोनों ही रूपों में स्वीकार किया है ।

(ii) कबीर राम के गुणों की वन्दना बार-बार करते हैं, यद्यपि उन्हें निराकार एव निगुण ही मानते हैं । इस विरोधाभास के कारण ही कबीर सामान्य पाठक को कबीर की वाणी, अट पटी प्रतीत होने लगती है ।

(iii) सुन्दर सुन्दरा—तुलना करें—

सुन्दरता कहँ सुन्दर करई । छविगृह दीपसिखा मनु बरई ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

राग कल्याण

(३६३)

ऐसै मन लाइ लै राम रसनां,

कपट भगति कीजै कौन गुणां ॥टेक॥

ज्यूं मृग नाद बेध्यों जाइ, प्यड परै वाकौ ध्यान न जाइ ॥

ज्यूं जल मीन हेत करि जांनि, प्रांन तजै बिसरै नहीं बानि ॥

भ्रिगी कीट रहै ल्यौ लाइ, ह्वै लै लीन भ्रिग ह्वै जाइ ॥

राम नाम निज अमृत सार, सुमिरि सुमिरि जन उतरे पार ॥

कहै कबीर दासनि को दास, अब नही छाड़ौ हरि के चरन निवास ॥

शब्दार्थ—कौन गुणां=क्या लाभ । प्यड शरीर ।

सन्दर्भ—कबीर राम के प्रति अनन्य प्रेम का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—हे जीव, इस दिखावटी और बनावटी भक्ति का क्या उपयोग है ?

इससे कुछ भी लाभ नहीं होना है । भगवान राम की भक्ति के रसास्वादन में मन लगा कर तू ऐसा तन्मय होजा, जैसे हिरण मधुर ध्वनि में अनुरक्त होकर वाणों से विद्ध होता रहता है एव उसका शरीर भी गिर जाता है (वह मर जाता है । परन्तु नाद से उसका ध्यान नहीं हटता है, मछली जल से प्रेम के कारण उससे वियुक्त होने पर अपने प्राण भले ही त्याग देती है परन्तु जल से प्रेम करने का अपना स्वभाव नहीं छोडती है, तथा कवि भ्रमर में ध्यान लगाए रहता है और उसी में लीन होकर भृग ही बन जाता है—(परन्तु व्यक्तित्व का मोह करके भ्रमर को नहीं छोडता है) राम नाम ही वास्तव में आत्म स्वरूप, अमृत स्वरूप एव सार तत्व है । उसी की बार-बार स्मरण करके अनेक भक्त जन भवसागर के पार उतर गये हैं । कबीर कहते हैं कि मैं तो भक्तों का भी भक्त हूँ (दासानुदास) हूँ । अब मेरा मन रूपी भ्रमर भगवान के चरणारविन्द में निवास करना (अनुरक्त रहना) नहीं छोडेगा ।

अलंकार—(1) उदाहरण—ज्यूंहै जाइ ।

- (ii) वक्रोक्ति— कौन गुणा ।
- (iii) उल्लेख—निज अमृत सार ।
- (iv) पुनरुक्ति प्रकाश—सुमिर सुमिर ।
- (v) सभंग पद यमक— दासनि दास ।

विशेष— (1) अनन्य भक्ति का प्रतिपादन है ।

(ii) मृग, मीन, भृंगी परम्परागत प्रेम-प्रतीक हैं ।

राग सारंग

(३६४)

यहु ठग ठगत सकल जग डोलै,

गवन करै तब मुषह न बोलै ॥टेक॥

तू मेरौ पुरिषा हौं तेरी नारी, तुम्ह चलतै पाथर थै भारी ॥

बालपनां के मीत हमारे, हमहि लाड़ि कत चले हो निनारे ॥

हम सुं प्रीति न करि री बौरी, तुम्ह से केते लागे ढौरी ॥

हम काहू संगि गये न आये, तुम्ह से गढ़ हम बहुत बसाये ॥

माटी की देही पवन सरीरा, ता ठग सूं जन डरै कबीरा ॥

शब्दार्थ—ठग=जीव । नारी=देह से तात्पर्य है । पाथर=पत्थर ।

थै भारी=से भी अधिक कठोर । निनारे=न्यारे, अलग । ढौरी=लगन । गढ़
=अड्डा ।

सन्दर्भ—कबीर जीवन की निस्सारता का निरूपण करते हैं ।

भावार्थ—यह जीव रूपी ठग समस्त ससार को ठगता हुआ घूमता है । यह शरीर का आश्रय लेकर ससार के सुखो को भोगता है और फिर शरीर को छोड़ कर चला जाता है । (जाते समय यह शरीर के प्रति निर्मोही हो जाता है) और शरीर से मुह से भी नहीं बोलता है । इस समय यह काया उससे कहती है कि तुम मेरे पुरुष (पति) हो और मैं तुम्हारी आश्रिता पत्नी हूँ । तुम इस पत्थर से भी अधिक कठोर बन कर चले जा रहे हो ? तुम तो हमारे बालकपन के मित्र हो । तुम हमसे अलग होकर कहाँ जा रहे हो ? जीव उत्तर देता है कि, “हे पगली हमसे प्रीति मत करे । तुम्हारी जैसी न मालूम कितनी नारियो से हमने लगन लगाई है । हम किसी भी शरीर के साथ न तो आए हैं और न किसी शरीर के साथ जाते ही हैं । हमने तुम्हारे जैसे काया रूपी अनेक अड्डे बसाए हैं (हम तो अड्डे पर टिकते हैं और चले जाते हैं । जिस ठग रूपी जीव की काया स्थूल मिट्टी की भाँति नष्ट्वर है तथा जिसका प्रेरक तत्त्व हवा की तरह अस्थिर है, उससे भगवान का भक्त कबीर बहुत डरता है, अर्थात्-उसके प्रति कबीर विल्कुल आसक्त नहीं हैं ।

अलंकार—(i) सभग पद यमक—ठग ठगत ।

(ii) व्यतिरेक—पाथर थै भारी ।

(iii) रूपक—माटी" सरीरा ।

(iv) रूपकातिशयोक्ति—ठग ।

विशेष—(1) देह की नश्वरता, जीव का अनेक योनियो मे भटकना तथा शरीर की आसक्ति का विपरीत लक्षणा द्वारा अच्छा वर्णन किया गया है ।

(ii) जीव न मालूम कब शरीर को छोड दे इससे भगवान का भजन ही सार है । यह व्यजना है ।

(३६५)

धनि सो घरी महरत्य दिनां,

जब ग्रिह आये हरि के जनां ।।टेक।।

दरसन देखत यहु फल भया, नैनां पटल दूरि है गया ॥

सब्द, सुनत संसा सब छूटा, श्रवन कपाट बजर था तूटा ॥

परसत घाट फेरि करि घड़या, काया कर्म सकल झड़ि पड़या ॥

कहै कबीर संत भल भाया, सकल सिरोमनि घट में पाया ॥

शब्दार्थ—मुहुर्त्त = समय (काल), पटल = पर्दा । कपाट = किवाड । बजर = बज्र । घाट = शरीर । फेरि करि = दुवारा । घड़या = निर्माण कर दिया । सकल सिरोमनि = भगवान । काया-कर्म = इन्द्रियासक्ति ।

सदर्भ—कबीरदास सत्संग की महिमा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—वह घडी, वह समय तथा वह दिन धन्य था जब घर पर भगवान के भक्त पधारे । उनके दर्शन करते ही यह प्राप्त हो गया कि आखो के सामने से अज्ञान का पर्दा हट गया । उनके उपदेशामृत को सुनते ही समस्त संशय दूर हो गये तथा कानो पर लगे हुए बज्र के किवाड भी टूट गये । उनके स्पर्श मात्र से यह काया दूसरी ही होगई अथवा उनके सत्संग द्वारा मुझे एक नवीन जीवन ही प्राप्त हो गया तथा विषय-भोगो के प्रति समस्त आसक्ति समाप्त हो गई । कबीर कहते हैं कि मुझको सत बहुत ही अच्छे लगे, क्योंकि उनकी सगति के प्रभाव से मुझको अपने हृदय मे सम्पूर्ण विश्व के शिरोमणि भगवान का साक्षात्कार हो गया ।

अलंकार—(1) चपलातिशयोक्ति की व्यजना—दरसन.....पड़या ।

(ii) रूपकातिशयोक्ति—पटल ।

विशेष—समभाव के लिए देखें—

जा दिन संत पाहुने आवत ।

तोरथ कोटि स्नान करे फल, जंसो दरसन पावत ।

× × ×

बंधन-करम कठिन जे पहले, सोऊ कारि कहावत ।

सगति रहै साधु की अनुदिन, भव-दुख दूरि नसावत ।

सूरदास, या जनम-मरन तें, तुरत परम-गति पावत ।

(सूरदास)

राग मलार

(३६६)

जतन बिन मृगनि खेत उजारे ।

टारे टरत नहीं निस बासुरि, बिडरत नहीं बिडारे ॥टेक॥
 अपने अपने रस के लोभी, करतब न्यारे न्यारे ।
 अति अभिमान बढत नहीं काहू, बहुत लोग पचि हारे ॥
 बुधि मेरी किरषी, गर मेरौ बिभुका, अखिर दोइ रखवारे
 कहै कबीर अब खान न देहू, बरियां भली सभारे ॥

शब्दार्थ—जतन=यत्न, साधना । मृगनि=पशुओ, पाशविक वृत्तियाँ-काम क्रोधादि । बिडरत=बिडारना, भगाना । किरषी=कृषि । बिभुका=विजूका, खेत मे जन्तुओ को डराने के लिए खडा किया हुआ पुतला इत्यादि ।

सन्दर्भ—कबीरदास विषयासक्ति का वर्णन करते है ।

भावार्थ—साधना के अभाव मे काम क्रोधादिक विकारो (अथवा इन्द्रियासक्ति) रूपी पशुओ ने मेरे जीवन रूपी खेत को नष्ट कर दिया है । ये रात दिन घेरे रहते हैं, हटाने से हटते नहीं हैं और भगाने से भगते नहीं है । तात्पर्य यह है कि मन को कितना भी समझाओ और विषयो से हटाने का प्रयत्न करो, परन्तु वह मानता ही नहीं है । पाशविक वृत्तियो रूपी ये पशु अपने अपने विषय-स्वाद के लोभी हैं और अलग-अलग ढंग से विषय की ओर प्रवृत्त होते हैं और उसका भोग करते हैं (जिस प्रकार प्रत्येक पशु) अपनी भिन्न रुचि के अनुसार खेत मे उत्पन्न होने वाली वस्तु को खाता है । प्रत्येक पशु का खेत मे घुसने और उसको उजाडने का तरीका भी भिन्न होता है ।) इन सबको अपनी सामर्थ्य का बहुत ही घमड है और ये अपने आगे किसी साधक को कुछ भी नहीं समझते हैं । इनके ऊपर नियन्त्रण करने के प्रयास मे बहुत से साधक थक कर बैठ गये अर्थात् असफल हो गये । कबीर कहते हैं कि अब मैंने ठीक समय पर समस्त स्थिति को समझ लिया है । अपनी बुद्धि रूपी कृपी की रखवाली के लिए मुझे गुरु का उपदेश रूपी विजूका मिल गया तथा 'रा' और 'म' ये दो अक्षर उस खेती की रखवाली करने वाले मिल गये हैं । अब मैं इन मृगो को जीवन-रूपी खेत नष्ट नहीं करने दूँगा ।

अलकार—(i) सांगरूपक—सम्पूर्ण पद खेत और जीवन का रूपक है ।

(ii) रूपकातिशयोक्ति—मृगनि ।

(iii) पुनरुक्ति प्रकाश—न्यारे-न्यारे ।

(iv) विशेषोक्ति—हारे . . बिडारे ।

विशेष—(i) व्यजना यह है कि सद्गुरु की कृपा और प्रभु की भक्ति के द्वारा ही विषयासक्ति को वश मे किया जा सकता है, अन्यथा नहीं ।

(ii) 'वरियाँ' का अर्थ 'वाड' भी हो सकता है । तब इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार होगा—'मैंने अपने खेत की समय एव सात्त्विक बुद्धि रूपी वाड ठीक कर

ली है। 'वरियाँ' का अर्थ 'वेला' करने पर इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार किया जाता है, 'अवसर रहते ही मैंने खेत को सम्हाल लिया है।' परन्तु हमको जो अर्थ सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ हमने ऊपर वही लिख दिया है।

(iii) तुलसी की भाँति कवीर भी 'राम' नाम की महिमा गाते हुए थकते नहीं हैं।

(३६७)

हरि गुन सुमरि रे नर प्रांणी ।

जतन करत पतन ह्वै जैहै, भावै जांमण जांणी ॥टेक॥

छीलर नीर रहै धूँ कसै, को सुपिनै सच पावै ॥

सूकित पान परत तरवर थै, उलटि न तरवरि आवै ॥

जल थल जीव डहके इन माया, कोई जन उवर न पावै ।

राम अधार कहत हैं जुगि जुगि, दाप कबीरा गावै ॥

शब्दार्थ—भावै=मन को अच्छा लगे। जाणम जाणी=जानने योग्य बात को जान ले। छीलर=छिछला पोखर। पान=पत्ता। डहके=घोखा दिया। उवर पावै=उद्धार हो पाया।

सन्दर्भ—कवीर माया के सर्वव्यापी प्रभाव का वर्णन करते हैं।

भावार्थ—रे प्राणी, तुम भगवान के गुणों का स्मरण करो। इस प्रकार के प्रयत्न (वाह्याचार) करते हुए तेरा शरीर नष्ट हो जाएगा। तुम चाहो, तो इस जानने योग्य तथ्य को जान लो। छिछले पोखर में पानी कब तक रह सकता है? वह तो सूखेगा ही। (अल्पशक्ति वाला शरीर तो नष्ट होगा ही)। स्वप्न में प्राप्त होने वाले सुख से कौन सुखी हो सकता है? जो पत्ता पेड़ से गिर गया है, वह उलट कर वापिस उस वृक्ष में नहीं लगता है। जल-थल के सम्पूर्ण जीव इस माया के घोखे में पड़े हुए हैं। भगवान का कोई भक्त ही इससे छुटकारा पा सकता है। कवीरदास कहते हैं कि एक मात्र राम-नाम ही युग युगांतर से इस माया से बचने का आधार रहता आया है।

अलंकार—(1) विशेषयोक्ति—जतन .. जैहै ।

(ii) अनुप्रास—जतन जैहै जाणम जाणी ।

(iii) वक्रोक्ति—छीलर पावै ।

(iv) निदर्शना—छीलर आवै ।

(v) पुनरुक्ति प्रकाश—जुगि जुगि ।

विशेष—(1) वाह्य साधनों का विरोध है।

(ii) मन की पवित्रता का प्रतिपादन है।

(iii) राम-नाम की महिमा अपार है।

(iv) समभाव देखें—

मनिखा जनम दुर्लभ है देह न वारम्बार ।

तर-वर से फल भाड़ि पडया, वहरि न लागै डार ।

पात झड़ता यूँ कहै, सुनि तर-वर वन-राइ ।
अब के बिछुड़े ना मिलै, दूरि पड़ेगे जाइ । (कबीरदास)

राग धनाश्री

(३६८)

जपि जपि रे जीयरा गोब्यंदो, हित चित परमानंदो रे ।
विरही जन कौ बाल हौ, सब सुख आनंदकदो रे ॥टेक॥
धन धन झीखत धन गयो, सो धन मिल्यौ न आये रे ।
ज्यूँ बन फूली मालती, जन्म अबिरथा जाये रे ॥
प्रांणी प्रीति न कीजिये, इहि भूठे संसारो रे ।
धूँबां केरा धौलहर, जात न लागै बारो रे ॥
माटी केरा पूतला काहे गरब कराये रे ।
दिवस चारि कौ पेखनौ, फिरि माटी मिलि जाये रे ॥
कांमों राम न भावई, भावै विषै विकारो रे ।
लोह नाव पाहन भरी, बूड़त नाहीं बारो रे ॥
नां मन भूधा न मरि सक्या, नां हरि भजि उतर्या पारो रे ।
कबीरा कंचन गहि रह्यौ, कांच गहै संसारो रे ॥

शब्दार्थ — बालहौ=वल्लभ, प्रिय । धौलहर=महल । जात=नष्ट होते हुए । देखनौ=देखना भर ।

सन्दर्भ—कबीरदास जीवन की निस्सारता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—रे जीव, तुम सदैव गोविन्द का भजन करते रहो । उन परमानंद स्वरूप प्रभु मे ही अपनी प्रीति और चित्त लगाओ । भगवान विरही भक्तजनों को प्रिय तथा सब प्रकार का सुख एवं आनन्द देने वाले हैं । सासारिक सुख-सम्पत्ति के लिए परेशान होते हुए यह जीवन-रूपी धन नष्ट हो गया और वह भी तुम्हें प्राप्त न हो सका । जिस प्रकार निर्जन वन मे फूलने वाली मालती का जन्म व्यर्थ जाता है—वह अपनी सुगन्ध द्वारा किसी को भी उल्लसित नहीं कर पाती है, उसी प्रकार सेवा रहित प्राणी का जन्म व्यर्थ ही चला जाता है । इन सासारिक प्राणियों के मोह मे मत फँसो । यह समस्त ससारी मिथ्या हैं । ये घुएँ के महल के समान हैं । इनको नष्ट होते देर नहीं लगती है । यह शरीर मिट्टी का खिलौना है । यह सहज ही नष्ट हो जाता है । इस पर क्या गर्व करना ? यह शरीर तो चार दिन तक देखने भर की शोभा मात्र है । यह तो फिर मिट्टी मे ही मिल जाएगा । विषयासक्त व्यक्ति को राम भक्ति अच्छी नहीं लगती है, उसको तो विषय रूपी विकार ही अच्छे लगते हैं । विषयी मानव का जन्म पत्थरो से भरी हुए लोहे की नाव के समान है, जिसको डूबते हुए देर नहीं लगती है । वासनात्मक मन न कभी मरा और न कभी मर सकेगा । विषयी व्यक्ति हरि का भजन करके कभी पार भी नहीं उतर सके हैं । कबीरदास कहते हैं कि मैंने तो हरि भक्ति रूपी सुवर्ण का आश्रय ले लिया है । इन

विषयो-प्राणियो ने विषयासनि रूपी काच के टुकड़े को पकड रखा है । (ये कितने मूर्ख हैं ।)

- अलंकार—(1) पुनरुक्तिप्रकाश—जपि जपि । धन धन ।
 (II) अनुप्रास—जपि जपि जीयरा । मन मूवा मरि ।
 (III) पदमन्त्री—हित चित्त ।
 (IV) यमक—धन धन ।
 (VI) उपमा—ज्यू बन फूली मालती ।
 (VII) दृष्टान्त—धु वा केरा वारो रे ।
 (VIII) गूढोक्ति—काहे गरव कराये रे ।
 (IX) रूपक—विषय-विकार ।
 (X) विशेषोक्ति—ना हरि भजि उतर्या पारो रे ।
 (XI) रूपकातिशयोक्ति—कचन, काच ।

विशेष—(1) ससार की निस्सारता एव क्षण भंगुरता का काव्यात्मक वर्णन है ।

- (II) निर्वेद सचारी की व्यजना है ।
 (III) ज्यू बन जाये रे—समभाव की अभिव्यक्ति देखें—
 सो अनन्य गति जाके मति न टरइ हनुमत ।
 मै सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवत ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

- (IV) धु वा केरा घोलहर ** वारो रे ।—तुलना कीजिए—
 जग-नभ-वाटिका रही है फलि फूलि रे ।
 धुवां कैसे घोरहर देखि तू न भूलि रे ।

(विनय पत्रिका, तुलसी)

(३६६)

न कछु रे न कछू रांम बिनां ।
 शरीर धरें की रहै परंमगति, साध सगति रहनां ॥टेक॥
 मदिर रचत मास दस लागे, बिनसत एक छिनां ।
 भूठे सुख के कारनि प्रांनीं, परपच करत घनां ॥
 तात मात सुत लोग कुटव मै, फूल्यो फिरत मनां ।
 कहै कबीर रांम भजि बौरे, छांड़ि सकल भ्रमनां ॥

शब्दार्थ—घना=बहुत । प्रपच=फैलाव ।

सन्दर्भ—कबीर संसार की असारता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—भगवान की भक्ति के बिना कुछ भी नहीं है, कुछ भी नहीं है (जीवन निस्सार है) शरीर धारण करने की सार्थकता साधुओं की सगति में रहना है । इस शरीर रूपी मन्दिर को बतने में दस गहीने लगते हैं, परन्तु यह एक क्षण

मे ही नष्ट हो जाता है। यह जीव ससार के मिथ्या सुखों की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार का फैलाव (प्रपञ्च) रचता है। यह जीव पिता, माता, पुत्र तथा कुटुम्ब के लोगों में मन से (व्यर्थ ही) फूला हुआ फिरता है। कबीरदास कहते हैं कि हे पागल जीव, तुम सम्पूर्ण भ्रमों को छोड़कर भगवान का भजन करो।

अलंकार—(1) पुनरुक्ति प्रकाश—न कछुरे न कछुरे ।

(II) अनुप्रास—सरीर साधु सगति ।

(III) रूपकातिशयोक्ति—मदिर ।

विशेष—(1) ससार की निस्सारता का वर्णन है ।

(II) सत्संग की महिमा का प्रतिपादन है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है कि—

बिनु सत्संग विवेक न होई । राम कृपा बिनु सुलभ कि सोई ।

(४००)

कहा नर गरवसि थोरी बात ।

मन दस नाज, टका दल गंठिया, टेढ़ी टेढ़ी जात ॥ टेक ॥

कहा लै आयो यहु धन कोऊ, कहा कोऊ लै जात ।

दिवस चारि की है पतिसाही ज्यूं बनि हरियल पात ॥

राजा भयो गाँव सौ पाये, टका लाख दस ब्रात ॥

रावन होत लंक कौ छत्रपति, पल मै गई बिहात ।

माता पिता लोक सुत बनिता, अंति न चले संगत ।

कहै कबीर राम भजि बौरे, जनम अकारथ जात ॥

शब्दार्थ—गरवसि-गर्व करते हो। गंठिया=गाँठ। हरियल=हरे। ब्रात=वरात, समूह। वनिता=स्त्री। बिहात=नष्ट हो गई।

सन्दर्भ—कबीर ससार की असारता का प्रतिपादन करते हैं।

भावार्थ—रे मानव, थोड़े से ऐश्वर्य को प्राप्त करके क्यों घमण्ड करता है ?

तुम्हारे पास दस मन नाज है और तुम्हारी गाँठ में पाँच आने पैसे (अत्यल्प सम्पत्ति) है। वस, इसी को पाकर तुम टेढ़े-टेढ़े चलने (इतराने) लगे हो। इस सासारिक वैभव को क्या कोई साथ लेकर आता है, और क्या कोई इसे अपने साथ ले जाता है ? यह सब वादशाही वन के हरे पत्ते की तरह चार दिन (अत्यल्प समय) की है। जैसे वन के पत्ते चार दिन बाद सूख जाते हैं, उसी प्रकार ससार का समस्त धन वैभव शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। तुम राजा बन गये, तुम्हें सौ गाँव प्राप्त हो गये, दस लाख रुपये मिल गये तथा दस लोगों का समूह भी तुम्हारे साथ हो गया। पर इस सबसे क्या होता है ? रावण तो सोने की लका का राजा था। परन्तु एक क्षण भर में उसका समस्त वैभव नष्ट (ऐश्वर्य) नष्ट हो गया। माता, पिता, परिजन, पुत्र, स्त्री—इसमें से कोई भी अन्ततः साथ नहीं जाता है। कबीर कहते हैं कि, “हे सासारिक सुख-वैभव के पीछे पागल बने हुए मनुष्य इस प्रकार तुम्हारा

जन्म व्यर्थ ही व्यतीत हुआ जा रहा है । तू राम का भजन कर (जिससे तेरा कल्याण हो ।)

- अलंकार—(1) गूढोक्ति—कहा.... वात ।
 (II) वक्रोक्ति—कहा लै आयो . जात ।
 (III) उपमा—ज्यूँ बनि हरियल पात ।
 (IV) दृष्टान्त—रावण विहात ।

विशेष—(1) ससार और उसके सम्बन्धों की असारता का प्रतिपादन है ।
 (II) जीवन की क्षण भंगुरता की व्यजना है ।
 (III) 'निर्वेद' एव वैराग्य की अभिव्यक्ति है ।

(४०१)

नर पछिताहुगे अधा ।

चेति देखि नर जमपुरी जैहै, क्यूँ बिसरौ गोब्यंदा ॥ टेक ॥

गरम कुंडिल जब तू बसता, उरध ध्यान ल्यौ लाया ।

उरध ध्यान मृत मडलि आया, नरहरि नांव भुलाया ॥

बाल विनोद छहूँ रस भीनां, छित छिन मोह बियापे ।

बिष अंसृत पहिचानन लागौ पांच भांति रस चाखे ॥

तरन तेज पर त्रिय मुख जोवै, सर अपसर नहीं जानै ।

अति उदमादि महामद मातौ, पाप पुनि न पिछानै ॥

प्यंडर केस कुसुम भये धौला, सेत पलटि गई वांती ।

गया क्रोध मन भया जु पावस, काम पिघास मदानौ ॥

तूटी गांठि दया धरम उपज्या, काया कवल कुमिलांनां ।

मरती बेर बिसूरन लागौ, फिरि पीछे पछितांनां ॥

कहै कबीर सुनहुँ रे संतौ, धन माया कछू संगि न गया ।

आई तलब गोपाल राइ की, धरती सैन भया ॥

शब्दार्थ—उरध ध्यान=ऊपर को ध्यान, भगवान में ध्यान । मृतमडलि=मृत्यु-लोक । तरण=तारुण्य, जवानी । सर अदसर=अवसर कुअवसर । प्यंडर=पांडुर=भूरा । पावस=आदि, दया धर्म की बात करने लगा । गांठ=अहंकार की गांठ । बिसूरन=वेदना से दुःखी । मदानौ=मद पड गई ।

सन्दर्भ—पूर्व पद के समान ।

भावार्थ—अरे अंधे मनुष्य, अपने इन कर्मों के फल स्वरूप तुम्हको अन्त में पछताना पड़ेगा । तू सचेत होकर देख । तुम्हको यमपुरी जाना है । तुम गोविन्द को क्यों भूल गये हो ? जब तुम गर्म कुण्ड में थे तब तुमने (उसके कण्ठों से त्राण पाने के लिए) भगवान में ध्यान लगाया । फल स्वरूप तुम उससे निकलकर इस मृत्यु लोक में आ गए । यहाँ आकर तुमने हे मानव फिर हरि का नाम (अथवा नृसिंह भगवान को) भुला दिया है । बाल्यावस्था में क्रीडाएँ करते हुए तुमने छत्रों रसों के

भोजन का स्वाद लिया । धीरे धीरे करके तुम मोह में फँसते गये । जब तुम बड़े हुए तो तुमको कटु और मधुर की पहचान होने लगी । इस समय तुम पाँचों इन्द्रियों के विषय रस का भोग करने लगे । जवानी की तेजी प्राप्त होने पर तुम स्त्री के मुख की ओर टकटकी लगाए रहे और उसका भोग करते समय तुमने अवसर कुअवसर का ध्यान नहीं रखा । उस समय तुम अत्यन्त उच्छृंखल (विवेक शून्य) होकर आपे के बाहर हो गये तथा तुम्हें पाप-पुण्य का विवेक नहीं रहा । केश भूरे होकर पुष्पो की भाँति एक दम सफेद हो गये । और वाणी में भी फर्क आ गया । वात पीछे आने वाला क्रोध समाप्त होगया और हृदय दया रूपी पावस ऋतु से गीला रहने लगा (दैन्य आगया) काम की प्यास भी मंद पड़ गई । अहंकार की गाँठें समाप्त हो गई और स्वयं के प्रति दया एवं करुणा के भाव जाग्रत होने लगे । (इम वृद्धावस्था में) कायारूपी कमल मुरझा जाता है । मरते समय पश्चाताप की वेदना से दुःखी होता है, अपने अतीत पर पछताने लगता है । परन्तु इस समय पछताने से क्या होता है ? कबीरदास कहते हैं कि हे सतो । सुनो, धन, सम्पत्ति (आसक्ति के विषय) कुछ भी तुम्हारे साथ नहीं जा सकेगा । जब राजा गोपाल का आदेश आता है, तब प्राणी को उसी समय घरती पर सो जाना पड़ता है ।

अलंकार—(i) पुनरुक्ति प्रकाश . . . छिन छिन ।

(ii) अनुप्रास—तरण तेज विष, पाप पु नि पिछानै ।

(iii) भग पद यमक—सर अवसर ।

(iv) उपमा—कुसुम भये धौला ।

(v) रूपक—काया कवल ।

विशेष—(i) पावस—लाक्षणिक प्रयोग है ।

(ii) ससार की असारता, निस्सारता एवं नश्वरता का प्रतिपादन है ।

(iii) 'निर्वेद' की व्यजना है ।

(iv) छः रस मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त ।

(४०२)

लोका मति के भोरा रे ।

जौ कासी तन तजै कबीरा, तौ रांमहि कहा निहोरा रे ॥ टेक ॥

तव हम वैसे अब हम ऐसे, इहै जनम का लाहा ।

ज्यूं जल मै जल पैसि न निकसै, यूं दुरि मिल्या जुलाहा ॥

रांम भगति परि जाकौ हित चित, ताकौ अचिरज काहा ।

गुर प्रसाद साध की संगति, जग जीतें जाइ जुलाहा ॥

कहै कबीर सुनहु रे संतो, भ्रमि परे जिनि कोई ।

जस कासी तस मगहर ऊसर, हिरदै रांम सति होई ॥

शब्दार्थ— लोका = सगार के लोग । निहोरा = अनुरोध, प्रार्थना ।

सन्दर्भ— कबीरदास अंध विश्वामो का खण्डन करते हुए कहते हैं ।

भावार्थ—लोगो की बुद्धि भोली है—वे सहज ही हरेक बात पर विश्वास कर लेते हैं। कबीर कहते हैं कि यदि काशी में शरीर छोड़ने पर मोक्ष की प्राप्ति हो जाए, तो फिर मोक्ष के लिए राम से कोई प्रार्थना क्यों करे। पहले हम भी अंधविश्वासों में फँसे हुए थे, परन्तु अब उनसे मुक्त होकर इस प्रकार की विवेक पूर्ण बातें करने लगे हैं। अन्ध विश्वास से मुक्त होकर सच्ची ईश्वर-भक्ति के प्रति उन्मुख हो जाना ही इस मानव-जीवन की सार्थकता है। जैसे जब एक बार जल में प्रविष्ट हो जाने पर फिर बाहर अलग नहीं निकाला जा सकता है—वह उसके साथ एक रस हो जाता है, उसी प्रकार यह जुलाहा कबीर भक्ति से द्रवित होकर ब्रह्म के साथ एकाकार हो गया। राम भक्ति में जिसका प्रेम है और राम-चरणों में जिसका चित्त लगा हुआ है, उसके लिए इस प्रकार की अद्वैतावस्था की प्राप्ति कोई आश्चर्य की बात नहीं है। गुरु की कृपा और साधु सगति के प्रभाव से निम्न जाति जुलाहा में उत्पन्न यह कबीर जीवन-मुक्त हो रहा है। कबीर कहते हैं कि हे सतो, सुनो। कोई भी किसी प्रकार के भ्रम में न रहे। अगर भगवान के प्रति सत्य निष्ठा है, तो अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होगी। फिर चाहे काशी में शरीरात् हो, चाहे मगहर में।

अलंकार—(1) पर्यायोक्ति—जो कासी...निहोरा।

(II) उदाहरण—ज्यूँ जुलाहा।

(III) वक्रोक्ति—ताकौ अचिरज काहा ?

(IV) अनुप्रास—जग जीतै जाइ जुलाहा।

(VI) व्यतिरेक की व्यजना—जग जीतै जाइ जुलाहा।

विशेष—(1) अंध विश्वास का खण्डन है।

(II) कबीर के 'मगहर' वास वाली बात की पुष्टि होती है।

(III) 'जुलाहा' शब्द में सवर्ण जाति पर कटाक्ष है। नीच जाति में जन्म लेकर भी कबीर ने मोक्ष प्राप्त करली और बड़े-बड़े धर्म ध्वज रह गये। ठीक कही है—

जाति पांति पूछै ना कोई । हरि कौ भजै सो हरि कौ होई ।

तथा —

भगतिवंत अति नीचउ प्रानी । मोह प्रानप्रिय असि मम वानी ।

(४०३)

ऐसी आरती त्रिभुवन तारै,

तेज पुंज तहाँ प्रांन उतारै ॥ टेक ॥

पाती पंच पहुप करि पूजा, देव निरजन और न दूजा ।

तनमन सोस समरपन कीन्हां, प्रगट जोति तहा आतम लीनां ॥

दीपक ग्यांन सबद धुनि घटा, पर पुरिख तहां देव अनंता ।

परम प्रकास सकल उजियारा, कहै कबीर मै दास तुम्हारा ॥

शब्दार्थ—पाती पच=पच ज्ञानेन्द्रियाँ रूपी पत्ती । पहुप=मनरूपी फूल ।
सबद=अनहदनाद ।

सन्दर्भ—इस पद मे कबीरदास एक ऐसी आरती का वर्णन करते हैं जिसके प्रकाश मे परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं ।

भावार्थ—कबीरदास कहते हैं कि साधक को अपने इस देव की आरती इस प्रकार मेरे द्वारा निर्दिष्ट ढंग से उतारनी चाहिए जो तीनों लोको को तारने वाली है । इस आरती को प्राण वहाँ उतारता है जहाँ तेज-पुंज हरि का निवास है । पाँचो ज्ञानेन्द्रियो को पाँच बत्तियों के रूप मे लेकर एक मात्र निरजन देव की पूजा करनी चाहिए । इसके बाद नैवेद्य के स्थान पर अपना तन, मन और शरीर समर्पित कर दे और फिर सहस्रार मे प्रकट होने वाली ज्योति मे अपनी आत्मा को पूरी तरह लीन कर देना चाहिए । इसके बाद ज्ञान का दीपक लेकर अनहदनाद रूपी घंटे का शब्द करते हुए उस अनन्त परमपुरुष का पूजन करना चाहिए । वास्तव मे उसी परमपुरुष के प्रकाश से यह समस्त ससार प्रकाशित हो रहा है । कबीरदास कहते हैं कि उस ज्योति के सम्मुख साधक को कहना चाहिए कि हे प्रभु ! मैं आपका सेवक हूँ । (कबीरदास जो अपने आपको इसी परम ज्योति स्वरूप पुरुष का दास कहते हैं ।)

अनहदनाद—देखें टिप्पणी पद स० १६४ ।

अलंकार—(1) अनुप्रास—पाती पत्र पहुप पूजा ।

(II) रूपक पाती पच पहुप । दीपक ज्ञान, सबद धुनि घंटा ।

(III) पदमैत्री—तन मन समरपन ।

(IV) सागरूपक—सम्पूर्ण पद मे । आरती के बाह्य उपकरणो के आध्यात्मिक अर्थो की कल्पना से सम्पूर्ण आरती ही आध्यात्मिक साधना एवं भक्ति मे परिणत हो गई है ।

विशेष—प्राय समस्त सम्प्रदायो मे पूजा के अन्त मे भगवान की आरती उतारी जाती है । कबीरदास ने भी पदावली के अन्त मे अपने इष्ट देव की आरती उतारी है । यह बात दूसरी है कि इस आरती का स्वरूप लौकिक की अपेक्षा आध्यात्मिक अधिक है । उनके मतानुसार प्रभु के प्रति सर्वस्व समर्पण ही वस्तुतः उनकी सच्ची आरती उतारना है ।

रमैणी

दृष्टव्य—रमैनी को रामणी अथवा 'रामायण' का विगडा रूप माना गया है। रमैणियों की रचना दोहा-चौपाइयो में की गई है। कबीर की रमैनी के वर्ण्य विषय हैं—स्तुति-वर्णन, उपदेश-वर्णन अथवा लोकोपकार का निरूपण आदि।

राग सूहौ

तू सकल गहगरा, सफ सफा दिलदार दीदार ॥
तेरी कुदरति किनहूँ न जानीं, पीर मुरीद काजी मुसलमानी ।
देवी देव सुर नर गण गंधप, ब्रह्मा देव महेशुर ॥
तेरी कुदरति तिनहूँ न जानी ॥ टेक ॥

शब्दार्थ—गहगरा=गहगहा, प्रफुल्ल, आनन्द से युक्त। सफ सफा=स्वच्छ एवं उज्ज्वल। दीदार=साक्षात्कार स्वरूप। कुदरति=माया अथवा सृष्टि। पीर=धर्मगुरु। मुरीद=चेला। काजी=मौलवी। मुसलमानी=मुसलमान सम्बन्धी।

सन्दर्भ—कबीर भगवान की महिमा का वर्णन करते हैं।

भावार्थ—हे भगवान तुम तुम्हारा दर्शनपूर्ण आनन्द स्वरूप, स्वच्छ एवं उज्ज्वल तथा प्रेमास्पद है। किसी में भी तुम्हारी लीला (सृष्टि के रहस्य) को नहीं जाना है। मुसलमानों में सिद्ध या धर्मगुरु (पीर), चेले, न्यायकर्ता विचारक (काजी) कहे जाने वाले, तथा देवी देवता, सुर, नर, गंधर्व, ब्रह्मा, महेश्वर आदि कोई तेरी लीला को नहीं समझ पाए हैं।

अलंकार—सम्बोधितशयोक्ति—सम्पूर्ण छन्द।

[१] एकपदी रमैणी

(१)

काजी सो जो काया बिचारै, तेल दीप में बाती जारै ॥
तेल दीप में बाती रहै, जोति चीह्लि जे काजी कहै ॥
सुलनां बंग देइ सुर जानी, आप सुसला बंठा तांती ॥
आपुन मैं जे करै निवाजा, सो सुलना सरबत्तरि गाजा ॥
सेष सहज मैं महल उठावा, चद सूर बिचि तारी लावा ॥
अर्ध उर्ध बिचि आनि उतारा, सोई सेष तिहूँ लोक पियारा ॥

जगम जोग बिचारै जहू वां जीव सीव करि एकै ठऊवां ॥
 चित चेतनि करि पूजा लावा, तेतौ जंगम नांउं कहावा ॥
 जोगी भसम करै भौ भारी, सहज गहै बिचार बिचारी ॥
 अनभै घट परचा सू बोलै, सो जोगी निहचल कदे न डोलै ॥
 जैन जीव का करहु उबारा, कौण जीव का करहु उधारा ॥
 कहां बसै चौरासी का देव, लहौ मुक्ति जे जानौ भेव ॥
 भगता तिरण मतै संसारी, तिरण तत ते लेहु बिचारी ॥
 प्रीति जानि राम जे कहै, दास नांउ सो भगता लहै ॥
 पंडित चारि बेद गुंण गावा, आदि अंति करि पूत कहावा ॥
 उतपति परुलै कहौ बिचारी, संसा घालौ सबै निवारी ॥
 अरधक उरधक ये सन्यासी, ते सब लागि रहै अबिनासी ॥
 अजरावर कौं डिठ करि गहै, सो संन्यासी उन्मन रहै ॥

जिहि धर चाल रची ब्रह्मंडा, पृथमीं मारि करी नव खडा ॥

अबिगत पुरिस की गति लखी न जाइ, दास कबीर अगह रहे ल्यो लाई ।

शब्दार्थ—काया=शरीर मे स्थित चैतन्य । काजी=विचारक । मुसल्ला= वह दरी जिस पर नमाज पढी जाती है । सरवत्तरि=सर्वत्र । सेष = शेख = मुसलमानों की एक श्रेष्ठ जाति । आनी उतरा=अपने आप को अवस्थित कर देता है । सीव= शिवत्व । अनभै=अभय । आदि-अत = ब्रह्मा । अरधक-उरधक=नीच ऊँच । अजरावर अजर-अमर । उन्मन=समाधि की अवस्था । अगह=अगम्य ।

सन्दर्भ—कबीरदास समस्त धर्मावलम्बियों को, विशेषकर मुसलमानों को, बाहरी पाखण्ड छोड़कर परम तत्व मे प्रतिष्ठित होने का उपदेश देते हैं ।

भावाथ—काजी (विचारक) वही है जो शरीर मे स्थित चैतन्य का चिन्तन करता है । वह ईश्वर के प्रेम रूपी तैल मे ज्ञान की बत्ती जलाता है । जो प्राण रहते हुए परम-ज्योति को पहचान लेता है, वही सच्चा काजी है । मुल्ला खुदा की आवाज के नाम पर वाग देता है और मुसल्ला फैलाकर नमाज पढने बैठ जाता है । परन्तु जो अपने शरीर के भीतर नमाज पढता है अर्थात् शरीर मे व्याप्त परम ज्योति की अराधना करता है वही मुल्ला सर्वत्र गरजता है अर्थात् हृदय मे भगवान की आवाज सुनकर निर्भय बना हुआ घूमता है । शेख वही है जो सहज अवस्था को प्राप्त करता है, चन्द्र और सूर्य (इडा, पिंगला) नाड़ियों को समन्वित करके सुषुम्ना मे समाहित करा देता है तथा प्राण वायु को रोक लेता है । वह अधोवर्ती और ऊर्ध्ववर्ती कमलों के बीच स्थित अनाहत (हृदय) चक्र मे स्थित भगवान् के समीप अपने आप को अवस्थित करता है । ऐसा ही शेख वास्तव मे तीनों लोकों का प्रिय बनता है । जगम साधु वही है जो योग का चिन्तन करता है । उस स्थान पर ध्यान केन्द्रित करता है जहाँ पर जीव और ब्रह्म का भेद समाप्त हो जाता है । जो चित्त को परम चैतन्य में अवस्थित करके पूजा करते हैं, वे ही वास्तव मे जंगम नाम के

अधिकारी है। सच्चा योगी वही है जो समार के प्रति आभक्ति को भस्म कर लेता है तथा चिन्तनपूर्वक सहज तत्व को ग्रहण करता है। वह अपने अन्तःकरण में ही अभय तत्व से परिचय प्राप्त करके बात करता है। उसी का मनन और निदिध्यासन करता है। ऐसे योगी का निश्चय कभी डिगता नहीं है। हे जैनी, तुम अहिंसा द्वारा जीव की रक्षा करने का दम्भ भरते हो, पर यह तो विचार करो कि तुम किस जीव का उद्धार कर रहे हो? (जीव का स्वरूप पहिचान कर) यह जानने का प्रयत्न करो कि चौरासी लाख योनियों का स्वामी कहाँ रहता है? इस रहस्य को समझने पर ही तुमको मुक्ति की प्राप्ति हो सकेगी। भक्त इस ससार से तिरने (पार होने) का सकल्प करता है, पर वह पहले यह तो समझ ले कि तात्त्विक रूप से तिरना है क्या? प्रेम का स्वरूप समझ कर जो राम का स्मरण करता है, वही भक्त भगवान का दास कहला सकता है। पण्डित चारों वेदों का गुणगान करता है और विश्व के आदि और अन्त स्वरूप ब्रह्म का पुत्र कहलाता है। पर हे पण्डित उत्पत्ति (आदि) एवं प्रलय (अन्त) के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करके उसका वर्णन करो। इस पर विचार करके सम्पूर्ण भ्रम और सशय को समाप्त करो। नीची और ऊँची सभी स्थितियों के सन्यासी वास्तव में उस एक अविनाशी तत्व में ही अनुरक्त रहते हैं। जो सन्यासी उस अजर, अमर तत्व को दृढतापूर्वक (पूर्ण निष्ठा के साथ) ग्रहण कर लेता है, वह समाधि को प्राप्त करता है, और परमतत्व में प्रतिष्ठित हो जाता है। जिसने पृथ्वी को गति प्रदान की, ब्रह्माण्ड की सृष्टि की और पृथ्वी को नवखण्डों में विभाजित कर दिया, उस अविगत पुरुष की माया किसी के द्वारा भी नहीं जानी गई है। भक्त कबीर उस अगम्य तत्व में अपनी ली लगाए हुए हैं।

अलंकार—(1) रूपक—तेल “जारै” ।

(II) भ्रान्तिमान—मुलना जानी ।

(III) पदमैत्री—अर्ध उर्ध । अरधक उरधक ।

(IV) अनुप्रास—जगम जागे जहू वा, जीव । तिरण तत ते ।

(V) वक्रोक्ति—कौन उधारा ।

(VI) सम्बन्धातिशयोक्ति—अविगत जाइ ।

विशेष—धार्मिक कृत्यों तथा कायायोग की अपेक्षा ज्ञान एवं भक्ति भी श्रेष्ठता का प्रतिपादन है ।

[२] सतपदी रमैणी

(२)

कहन सुनन कौ जिहि जग कीन्हा, जग भुलांन सो किनहू न चीन्हा ॥
सत रज तम थै कीन्ही माया, आपण मांभै आप छिपाया ॥
ते तौ आहि अनद सरूपा, गुन पल्लव बिस्तार अनूपा ॥
साखा तत थै कुसम गियांनां, फल सो आछा राम का नांमां ॥

सदा अचेत चेत जीव पंखी, हरि तरवर करि बास ।
भूठे जगि जिनि भूलसि जियरे, कहन सुनन की आस ॥

शब्दार्थ—कुसम=फूल ।

सदर्भ—कबीर जगत के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—कहने-सुनने के लिए ही (केवल लौकिक दृष्टि से ही जिस जग की रचना हुई है, उसके वास्तविक स्वरूप को किसी ने नहीं जाना है और ससार के सम्पूर्ण जीव उसमें भ्रमित हैं । सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के द्वारा इस माया-मोह की सृष्टि हुई है । इस चैतन्य तत्व ने अपने आपको अपनी ही माया के द्वारा आवृत्त कर लिया है । वह तत्व स्वयं तो आनन्द स्वरूप है । ये तीनों गुण इस जगत् रूपी वृक्ष के पत्ते हैं । उसकी शाखाओं में ग्यान के फूल लगे हैं और रामनाम उस का फल है । रे निरंतर अज्ञान में अचेत रहने वाले जीव रूपी पक्षी जागो और हरि रूपी इस वृक्ष की शरण में चले जाओ । रे जीव, इस मिथ्या ससार के मोह में अपने आपको मत भूलो । इस जगत की समस्त आशाएँ केवल कहने-सुनने भर के लिए हैं—उनका परमार्थत कोई अस्तित्व नहीं है ।

अलंकार—(i) सवधातिशयोक्ति—किनहूँ न चीन्हा ।

(ii) साग रूपक - गुन पल्लव " जामा ।

(iii) सभग पद यमक अचेत चेत ।

(iv) रूपक - जीव पंखी, हरि तरवर ।

विशेष—(i) ज्ञान और भक्ति का समन्वित संदेश है ।

(ii) ससार को 'कहन सुनन' की आस कहकर उसके क्षणभंगुर स्वरूप का कथन किया गया है ।

(iii) कहन-सुनन में लक्षण का चमत्कार दृष्टव्य है ।

(iv) उन्मनि—देखें टिप्पणी पद स १४४ ।

(v) गुन पल्लव नामा - तुलना करें -

अव्यक्त मूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने ।

पट कध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने ।

फल जुगल विधि कटु मधुर बेलि अकेजि जेहि आश्रित रहे ।

पल्लव फूलत नवल नित संसार विटप नमामहे ।

(गोस्वामी तुलसीदास, रामचरितमानस)

(३)

सूक विरख यहु जगत उपाया, समझि न परै विषम तेरी माया ॥

साखा तीनि पत्र जुग चारी फल दोइ पाप पुंनि अधिकारी ।

स्वाद अनेक बथ्या नहीं जाहीं, क्रिया सद्विच सो इन में नाहीं ॥

तोती आहि निनार निरंजना, आदि अनादि न आंतां ।

कहन सुनन को कोन्ह जग आपे आप भुलानां ॥

शब्दार्थ—सूक=सूखा हुआ, निष्तत्व एव नीरस । निनार=भिन्न ।

सन्दर्भ—पूर्व पद के समान । विषम=दुर्बोध ।

भावार्थ- हे भगवान, आपने निष्तत्व एव नीरस जगतरूप वृक्ष को उत्पन्न किया है । हे प्रभु आपकी यह माया बड़ी ही दुर्बोध है, समझ में नहीं आती है । त्रिगुणरूपी इसकी तीन शाखायें हैं चार युग ही इसके पत्ते हैं और पाप-पुण्य ही इसके दो फल हैं । इन फलो के विषय भोगरूप अनेक स्वाद हैं जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता है । जिसने इन सबको बनाया है, वह इनमें लिप्त नहीं है—वह इनसे पृथक् एव निरजन माया-रहित तत्व है । आदि और अनादि नाम से जिसे अभिहित किया जाता है, वह यही निरजन तत्व है, कोई दूसरा नहीं । उसने केवल कहने सुनने के लिए जगत की सृष्टि की है—अर्थात् जगत एव जगत की सृष्टि करना यह सब कोई पारमार्थिक सत्य नहीं है, केवल कथन मात्र है । सृष्टि कुछ हुई ही नहीं, वह तो विपत्ति मात्र है । ब्रह्म स्वयं अपनी माया में ही भूले हुए हैं । हम सब स्वयं अपने बाह्य रूप में लिप्त होकर अपने वास्तविक आत्म्यतर स्वरूप को भूले हुए हैं । यही जगत है ।

अलंकार—(1) विरोधाभास—सूक उपाया ।

(11) साग रूपक - सम्पूर्ण पद ।

विशेष—(1) देखें टिप्पणियाँ पूर्व रमैणी ।

(11) इसमें अद्वैतवाद एव मायावाद के अनुसार जगत का निरूपण है ।

(111) यहाँ जगत की सृष्टि की ज्ञान परख एव भक्ति परख दोनों प्रकार की व्याख्यायें हैं । जीव दोनों की समन्वित दृष्टि से ससार को देखे-यही उपदेश है । भक्त के लिए जगत आनन्द रूप तथा ज्ञानी के लिए विवर्त रूप है ।

(४)

जिनि नटवै नटसरी साजी, जो खेलै सो दीसै बाजी ।

मो बपरा थै जोगति ढाठी, सिव विरचि नारद नहीं दीठी ॥

आदि अति जो लीन भये है, सहजे जानि सतोखि रहे हैं ।

सहजे राम नाम ल्यौ लाई, राम नाम कहि भगति दिढाई ॥

राम नाम जाका मन मांनं, तिन तौ निज सरूप पहिचांनं ।

निज सरूप निरजनां, निराकार अपरपार अपार ।

राम नाम ल्यौ लाइस जियरे, जिनि भूलै बिस्तार ॥

शब्दार्थ—नरसरी=नाट्यशाला सृष्टि । नटवै=नट, सृजक । दीसै=दृष्टिगत होता है । बाजी=किसी किसी को । दिढाई=दृढ करना । बपरा=बेचारा ।

सन्दर्भ—कवीर जगत की अनिवर्चनीयता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—जिस सर्जन कर्ता ने इस जगतरूपी नाट्यशाला की रचना की है और इसमें वह जो लीला करता है वह किसी किसी को ही दृष्टिगत होती है ।

मैं वेचारा तो किनमे हूँ । मैं तो इन्ही आँखो से इस जगत को देखता हूँ । शिव, ब्रह्मा तथा नारद सरीखे ज्ञान-दृष्टि वाले भी इसको नहीं जान पाए हैं । वे तो सम्पूर्ण भूतो के आदि एव अत रूप भगवान मे लीन रहते हैं तथा भगवान के सहज रूप का ज्ञान करके उसमे सतोष का अनुभव करते है । वे सहज ही राम नाम मे अपना ध्यान लगा लेते हैं और निरन्तर राम के नाम स्मरण से अपनी भक्ति को दृढ करते रहते हैं । जिनका मन राम-नाम मे तन्मय हो जाता है, उन्हे आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है । कबीर कहते हैं कि भगवान का स्वरूप तो निरंजन माया रहित है । वह निराकार, अजेय और असीम है । अत. हे जीव, तुम राम-नाम मे अपनी ली लगाओ और इस जगत के पसारे मे भ्रमित मत हो ओ ।

अलंकार—(1) संबन्धातिशयोक्ति—सिव..... .. दीठी ।

(11) रूपकातिशयोक्ति—नटवै नटसारी ।

विशेष—(1) जगत की अनिवर्चनीयता की ओर सकेत है ।

(11) प्रेमा भक्ति के द्वारा ही प्रभु की लीला समझ मे आ सकती है ।

(५)

करि बिसतार जग धंधे लाया, अंध काया थै पुरिष उपाया ॥
जिहि जैसी मनसा तिहि तैसा भावा, ताकूँ तैसा कीन्ह उपावा ।
तेतौ माया मोह भुलांनां, खसम राम सो किनहूँ न जानां ॥
जिनि जान्यां ते निरमल अंगा, नहीं जान्यां ते भये भुजगा ।
ता मुखि बिष आवै बिष जाई, ते बिष ही बिष सै रहा समाई ॥
माता जगत भूत सुधि नांही, भ्रमि भूले नर आवै जाहीं ।
जानि बूझि चैते नही अधा, करम जठर करम के फंधा ॥

करम का बाध्या जीयरा, अह निसि आवै जाइ ।

मनसा देही पाइ करि हरि बिसरै तौ फिर पीछै पछिताइ ॥

शब्दार्थ—वंधे लाया = कर्म जाल मे फसा दिया । भुजगा = सर्प = विष से पूर्ण अर्थात् विषयी । जठर = पेट ।

सन्दर्भ—कबीर जगत के प्रपचो मे फँसे हुए जीव का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—भगवान ने यह माया का विस्तार करके जगत के लोगो को अनेकानेक घन्धो (कर्म-जाल) मे फँसा दिया है । इस जड़ शरीर से जीव की उत्पत्ति की है । जिस जीव की जैसी वासना होती है, उसको वैसी ही वस्तुएँ रुचिकर होती हैं । उनके लिए भगवान ने वैसे ही साधन जुटा दिए हैं । उन्ही साधनों के अनुरूप वे जीव माया-मोह मे भ्रमित होते रहते हैं । कोई भी जीवात्मा अपने पति रूप राम को नहीं जान पाती है । जिन जीवात्माओ ने उन प्रभु को जान लिया अर्थात् जिन जीवो के मन मे भगवान का प्रेम उत्पन्न हो जाता है, उनका अन्तःकरण पूर्णतः निर्मल हो जाता है । जो उसे नहीं जान पाता है, वे सदैव विषपूर्ण सर्प की तरह विषयी ही बने रहते हैं—उनके अंगो से निरन्तर वासना

रूपी विष ही निस्सृत होता रहता है, और जो कुछ उनके मुख में जाता है, वह भी विष ही बन जाता है। (उनकी समस्त आकाशाएँ वासना से विषैली होती हैं और उनके सम्पूर्ण भोग एवं कार्य वासना के विष में परिणत होते हैं।) यह सारा जगत वासना के विष से ग्रस्त होकर उन्मत्त हो रहा है और इन प्राणियों को अपना होश नहीं है। मनुष्य भ्रम से अपने स्वरूप को भूला हुआ आवागमन के चक्र में पड़ा हुआ है। यह अज्ञानग्रस्त प्राणी जान बूझ कर मोह निद्रा में फँस गया है और चेतता नहीं है, और इसी से वह कर्म की जठराग्नि में जलता है और कर्म के फंदों में फँसा हुआ है। कर्म के बन्धनों में बंधा हुआ यह जीव रात-दिन (निरन्तर) आवागमन के चक्कर में घूमता है। वह अपनी अभीप्सित मानव योनि प्राप्त करके भी भगवान को भूल जाता है और अन्त में पछताता है।

अलंकार—(1) रूपक—जग धधै, करम जठर, करम के फंदा।

(II) विरोधाभास—अध . . . उपाया।

(III) सवधातिशयोक्ति—किनहूँ न जाना।

(IV) रूपकातिशयोक्ति—भुजगा।

(V) श्लेष—विष।

(VI) अनुप्रास—भूत, भ्रमि, भूले।

विशेष—(1) माया-मोह ग्रस्त जीव का सजीव चित्रण है।

(II) विषयी जीव के लिए भुजग शब्द का प्रयोग बड़ा ही अर्थ गभित है यह 'विषयी' का परम्परागत गृहीत प्रतीक है।

(III) साँप को दूध पिलाने से विष में वृद्धि होती है। विषयी की विषय-भोग के द्वारा विषयाग्नि में वृद्धि होती है।

(६)

तौ करि त्राहि चेति जा अंधा, तार परकीरति भजि चरन गोब्यवा ॥

उदर कूप तजौ ग्रभ बासा, रे जीव राम नाम अभ्यासा ।

जगि जीवन जैसे लहरि तरगा, खिन सुख कूं भूलसि बहु संगी ॥

भगति कौ हीन जीवन कछू नाहीं, उतपति परलै बहुरि समाहीं ।

भगति हीन अस जीवनां, जन्म मरन बहु काल ।

आश्रम अनेक करसि रे जियरा, राम बिना कोई न करै प्रतिपाल ॥

शब्दार्थ—त्राहि=दैन्यपूर्वक रक्षा की प्रार्थना। परकीरति=अन्य व्यक्तियों की खुशामद। कूप=कुआँ। अन्धा=धुन्वा, अस्पष्ट दृष्टि वाला।

सन्दर्भ—कवीरदासजी कहते हैं कि राम-भक्ति ही उद्धार का एकमात्र उपाय है।

भावार्थ—हे अस्पष्ट दृष्टि वाले जीव, चेतना और दीनतापूर्वक भगवान से रक्षा की प्रार्थना कर। अन्य व्यक्तियों की खुशामद तथा अन्य देवताओं की आराधना छोड़कर भगवान गोविंद के चरणों का ध्यान करो। उदररूपी कूप (गर्भ) में तुमको

बार-बार आना पड़ता है। उससे मुक्ति प्राप्त करने के लिए हे जीव ! तू भगवन्नाम का अभ्यास कर। यह संसार का जीवन तो जल की तरङ्ग के समान क्षणिक है। इसके क्षणिक सुख के पीछे तू अनेक साधु-सतो की सङ्गति में उपलब्ध ज्ञान-वर्चा की उपेक्षा क्यों करते हो ? भक्ति से रहित जीव का जीवन वास्तव में कुछ नहीं है। वह तो उत्पन्न होता है और फिर नष्ट हो जाता है। (वह अनेक बार जन्म लेता है और मरता है—बस इसी क्रम में फँसा रहता है।) हे जीव, तू भले ही अनेक आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास) का पालन करो, परन्तु भगवान राम की भक्ति के बिना तुम्हारी कोई रक्षा नहीं करेगा।

अलंकार—(1) रूपक—उदर-कूप।

(II) उपमा—जैसे लहर तरङ्गा।

(III) विशेषोक्ति की व्यजना—आश्रम 'कोई न करे प्रतिपाल।

विशेष—(1) निर्वेद सचारी की व्यजना है।

(II) ज्ञान-भक्ति के प्रकाश को न देख सकने वाले प्राणी को 'चु घा' कहकर कबीर ने अज्ञानी के स्वरूप को मूर्तिमत्ता प्रदान कर दी है।

(७)

सोई उपाव करि यहु दुख जाई, ए सब परहरि बिसै सगाई ॥

माया मोह जरै जग आगी, ता सगि जरसि कवन रस लागी ।

त्राहि त्राहि करि हरी पुकारा, साध सगति मिलि करहु विचारा ॥

रे रे जीवन नहीं विश्रामां, सब दुख खंडन राम को नामां ।

राम नाम संसार मै सारा, राम नाम भौ तारन हारा ॥

सुम्रित वेद सब सुनै, नहीं आवै कृत काज ।

नहीं जैसे कु डिल बनित सुख मुख सोभित बिन राज ॥

शब्दार्थ—सगाई=सम्बन्ध। भौ=संसार। सुम्रित=स्मृति, धर्मशास्त्र।

सन्दर्भ—पूर्व रमैणी के समान।

भावार्थ—रे जीव, तुमको वही उपाय करना चाहिए जिससे यह संसार का (आवागमन का) दुख दूर हो। इन समस्त विषयों (भोगेच्छाओं) तथा सासारिक सम्बन्धों को त्याग दो। यह सारा संसार माया-मोह की आग में जल रहा है। तू किस आनंद के लोभ में फँसकर इस विषयाग्नि के साथ जलना चाहते हो ? हे जीव, दीनतापूर्वक भगवान से रक्षा की पुकार करो तथा साधुओं की सङ्गति में बैठकर उस परम तत्व का चिंतन करो। हे जीव, तुम्हें कहीं अन्यत्र सुख-शांति नहीं मिलेगी। भगवान राम का नाम ही समस्त दुखों को मेटने वाला है। राम नाम ही संसार में सार वस्तु है और यही भवसागर से पार करने का साधन है। धर्मशास्त्र, वेद आदि सब सुन लो, परन्तु इनमें कोई भी पृण्य-कार्य नहीं होता है अर्थात् ये सब (राम-भक्ति के अभाव में) व्यर्थ ही रहते हैं, जैसे कुण्डल आदि आभूषणों से युक्त नारी का मुख सोभाग्य-चिन्ह के अभाव में सुशोभित नहीं होता है।

- अलंकार—(1) मानवीकरण—साधनाओं का ।
 (II) उदाहरण—नहीं जैसे बिन राज ।
 (III) गूढोक्ति—जरसि कवन आगी ?
 (IV) रूपक की व्यञ्जना - भौ ।
 (V) सवधातिशयोक्ति—सुम्रित काज ।

विशेष (1) वाह्याचार की व्यर्थता एव भगवद्भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन है ।

(II) रामभक्ति को सौभाग्यसूचक चिन्ह कहना बड़ा ही सार्थक प्रयोग है ।

(III) कबीर के राम दाशरथि राम न होकर निर्गुण निराकार राम हैं । कबीर राम के साकार रूप की आराधना का प्रतिपादन न करके उनके गुणों के अनुसरण का उपदेश देते हैं ।

(८)

अब गहि राम नाम अविनासी, हरि तजि जिनि कतहूं कै जासी ।
 जहां जाइ तहां तहां पतगा, अब जिनि जरसि समझि विष सगा ॥
 चोखा राम नाम मनि लीन्हें भिग्री कीट भ्यन नहीं कीन्हें ।
 भौसागर अति वार न पारा, ता तिरबे का करहु बिचारा ॥
 मनि भावै अति लहरि विकारा, नहीं गमि सूझै वार न पारा ।

भौसागर अथाह जल, तामे बोहित राम अधार ।

कहै कबीर हम हरि सरन, नव गोपद खुर बिस्तार ॥

शब्दार्थ—कै=किधर, कहाँ । बोहित=जहाज, नौका । गोपद=गाय का पैर ।

सन्दर्भ—पूर्व रमैणी के अनुसार ।

भावार्थ—हे जीव । अब तुम अविनाशी (सत्य स्वरूप) भगवान के नाम स्मरण की शरण ग्रहण करो । हरि का आश्रय मत छोड़ो । उसे छोड़कर तुम अन्यत्र जाओगे भी कहाँ ? जहाँ भी तुम जाओगे, वहाँ-वहाँ तुमको वासना रूपी अग्नि में पतगा बन कर जलना पड़ेगा । अब विषयासक्ति के वास्तविक रूप को समझ लो और विषय की अग्नि में अपने जीवन को नष्ट मत करो । जो प्राणी राम-नाम रूपी श्रेष्ठ मणि का आश्रय ग्रहण कर लेते हैं उनको भगवान भृगु कीट न्याय से अपने आपसे भिन्न नहीं करते हैं । इस भवसागर की कोई सीमा नहीं है । इसके पार होने के उपाय पर विचार करना चाहिए । जिनके मन विषय-विकार रूपी लहर के प्रति आकर्षित होते हैं, उन्हें भवसागर की न सीमा दिखाई देती है और न उसके पार जाने का कोई उपाय ही सूझता है । इस ससार रूपी सागर में विषयों का अथाह जल है तथा इसको पार करने का एक मात्र साधन राम-भक्ति रूपी नाव है । कबीर दास कहते हैं कि हमने तो भगवान की शरण ले ली है । इससे हमें तो यह भव का विस्तार केवल गाय के खुर के समान ही प्रतीत होने लगा है ।

अलंकार—(1) वक्रोक्ति—कतहूँ कै जासी ।

(II) रूपक—राम नाम मनि । भौसागर । लहरि विकारा ।

(III) साग रूपक—भौसागर विस्तार ।

विशेष—भृ गी कीट न्याय—भृ ग से चिपक जाने पर कीडा भृ ग रूप हो जाता है (आत्मसात कर लिया जाता है) यह वेदान्तियो का प्रभाव है ।

[३] बड़ी अष्टपदी रमैणी

(६)

एक विनांनीं रच्या विनांन, सब अयांन जो आपै जांन ॥

सत रज तम थै कीन्हों माया, चारि खानि विस्तार उपाया ॥

पंच तत ले कीन्ह बंधान, पाप पुनि मांन अभिमानं ॥

अहकार कीन्हे माया मोह, संपति विपति दीन्हों सब काहू ॥

भले रे पोच अकुल कुलवंता, गुणी निरगुणीं धन नीधनवंता ॥

भूख पियास अनहित हित कीन्हां, हेत मोर तोर करि लीन्हां ॥

पच स्वाद ले कीन्हां बंधू, बंधे करम जो आहि अबधू ॥

अवर जीव जत जे आहीं, संकुट सोच बियापै ताहीं ॥

निंदा अस्तुति मांन अभिमांन, इनि भूठै जीव हत्या गियांन ॥

वहु विधि करि ससार भुलावा, भूठै दोजगि साच लुकावा ॥

माया मोह धन जोबनां, इनि बंधे सब लोइ ।

झूठ बियापिया कबीर, अलख न लखई कोइ ॥

शब्दार्थ—विनानी=विज्ञानी, वैज्ञानिक । विनान=विज्ञानमय । खानि=और अथवा चार प्रकार की सृष्टि ।

सन्दर्भ—कबीर अज्ञानमय ससार का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—एक विज्ञानधन भगवान ने इस विज्ञानमय जगत की रचना की है । जो जीव केवल अपने आपको जानता है, वह अज्ञानी है । भगवान ने सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से इस सृष्टि की रचना की है और इसको चार प्रकार की योनियो में विभाजित करके चारों ओर फैला दिया गया है । इसको पाच तत्वों में बाध दिया है । अर्थात् प्रत्येक पदार्थ की रचना केवल पाच महाभूतों के आधार पर कर दी गई है । पाप-पुण्य, मान-अभिमान, अहकार, माया-मोह आदि सभी इन पाचो तत्वों तथा उनकी प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं । भगवान ने सबको कर्मानुसार सम्पत्ति और विपत्ति प्रदान कर दी है । भले-बुरे, कुलीन-अकुलीन, गुणी-अगुणी, बनी-निर्वन, भूख, -प्यास, हित-अहित, स्नेह के आधार पर मेरा-तेरा आदि के युग्मों की सृष्टि भगवान ने की । पांच इन्द्रियों के स्वादों को बधन का हेतु बनाया और उस बन्धन में शाश्वत बन्धन रहित जीव स्वयं ही बध गया । जितने भी निम्न कोटि के जीव हैं उन सबको संकट और चिन्ता व्याप्त कर लेते हैं । निन्दा-स्तुति, मान, अहकार ये सब यद्यपि भूठे हैं, तथापि इन्होंने जीव के ज्ञान-स्वरूप को नष्ट कर दिया है ।

यह जीव माया जनित अनेकानेक सासारिक प्रपचो मे अपने को भूल गया है । ये सासारिक बन्धन भूठे हैं, पर इन्होंने सत्य स्वरूप को आवृत्त कर लिया है । माया-मोह और धन-यौवन ने सब लोगो को बाँध रखा है । जीव को भूठ ही भूठ ने व्याप्त कर रखा है । कबीर कहते हैं कि इस कारण वह अलस्य सत्य स्वरूप भगवान के दर्शन नहीं कर पाता है ।

अलकार— (1) विरोधाभास—सब जान । बधे करम अबधू ।

(11) रूपक—माया मोह लोह ।

विशेष—(1) चार प्रकार की सृष्टि—अण्डज, स्वेदज, उद्भिज और जरायुज ।

(11) पच तत्व—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ।

“हस-देह” के धैर्य शील, विचार, दया और सत्य से क्रमशः आकाशादि पाच तत्व उत्पन्न हुए । ये बन्धन के हेतु बन गये । जीव मे इनसे अहकार जाग गया । कबीर पंथ मे ब्रह्म सच्चिदानन्द तक को बन्धन मे माना गया है । इसी सिद्धांत का ऊपर संकेत है ।

(111) विज्ञानमय जगत—कारण-कार्य को नियम द्वारा संचालित होने के कारण यह जगत विज्ञानमय है । तटस्थ रूप से नियम लागू करने के कारण ही परमात्मा विज्ञानी है । तभी तो कहा है—

चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुण कर्म विभागरा ।

तस्य कर्त्तारमपि मा विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् । (श्रीमद्भगवद्गीता)

(1V) सब अयान जो आप जान—इस संसार मे तीन भ्रम सबको व्याप्त कर रहे हैं—देश, काल एव पृथक्त्व । समस्त जीवन एक है अर्थात् सबको एक ही चेतन तत्व व्याप्त किए हुए हैं । परन्तु हम अपने को पृथक् समझते हैं तथा जगत् को मैं और मैं—नहीं (तू) की दो भिन्न परिधियो मे रख कर देखते हैं । यह अज्ञान अथवा भ्रम है जो केवल अपने को ही जानता है तथा सम्पूर्ण विश्व एव उसके रचयिता को नहीं जानता, वह अज्ञानी है । अपने आपको शेष सृष्टि से पृथक् करके देखने वाला निश्चय ही अज्ञानी है ।

(१०)

भूठनि भूठ साच करि जानां, भूठनि मैं सब साच लुकानां ॥

धंध बध कीन्ह बहुतेरा, क्रम विवर्जित रहै न मेरा ॥

षट दरसन आश्रम षट कीन्हां, षट रस खाटि काम रस लीन्हां ॥

चारि बेद छह सास्त्र बखानै, बिद्या अनंत कथै को जानै ॥

तप तीरथ कीन्हें व्रत पूजा, धरम नेम दानं पुंन्य दूजा ॥

और अगम कीन्है ब्यौहारा, नहीं गमि सूझै वार न पारा ॥

लीला करि करि भेख फिरावा, ओट बहुत कछु कहत न आवा ॥

गहन ब्यंद कछु नहीं सूझै, आपन गोप भयो आगम बूझै ॥

भूलि पर्यो जीव अधिक डराई, रजनी अंध कूप ह्वे आई ॥
 माया मोह उनवै भरपूरी, दादुर दांमिनि पवनां पुरी ॥
 तरिपै बरिषै अखंड धारा, रेनि भांमनी भया अंधियारा ॥
 तिहि वियोग तजि भए अनाथा परे निकुज न पावै पथा ॥
 वेद न आहि कहू को मान, जानि बूझि मै भया अयान ॥
 नट बहु रूप खेलै सब जानै, कला केर गुन ठाकुर मानै ॥
 ओ खेल सब ही घट मांहीं, दूसर कै लेखै कछु नाहीं ॥
 जाके गुन सोई पै जानै ओर को जानै पार अयानै ॥
 भले रे पांच औसर जब आवा, करि सनमान पूरि जम पावा ॥
 दान पुन्य हम दिहू निरासा, कब लग रहूं नटारंभ काछा ॥
 फिरत फिरत सब चरन तुरानै, हरि चरित अगम कथै को जानै ॥
 गण गध्रप मुनि अंत न पावा, रह्यो अलख जग धंधै लावा ॥
 इहि बाजी सिव बिरचि भुलांनां, और बपुरा को वयंचित जानां ॥
 त्राहि त्राहि इम कीन्ह पुकारा, राखि साईं इहिवारा ॥
 कोटि ब्रह्मंड गहि दीन्ह फिराई, फल कर कीट जनम बहुताई ॥
 ईस्वर जोग खरा जब लीन्हां, टर्यो ध्यान तप खंड न कीन्हां ॥
 सिध साधिक उनथै कहू कोइ, मन चित अस्थिर कहूँ कैसे होई ॥
 लीला अगम कथै को पारा, बसहु समीप कि रहौ निनारा ॥

खग खोज पीछै नहीं, तूं तत अपरपार ।

बिन परचै का जानियै, सब भूठे अहकार ॥

शब्दार्थ—लुकाना=छिप गया, आवृत्त हो गया । बध=बन्धन । विवर्जित= परे, वचित । खग=पक्षी रूपी जीव । पीछै नहीं=पीछे मत रह । परिचै=साक्षात्कार ।

सन्दर्भ—कबीर का कहना है कि भगवान का साक्षात्कार वाह्याचार के द्वारा सम्भव नहीं है । वह साधना का विषय है ।

भावार्थ—जीव ने भूठ के भी भूठ (पूर्ण रूपेण मिथ्या) इस जगत को सत्य समझ लिया है । इस भूठे स्वरूप में वह सत्य तत्त्व छिप गया है । जीव ने अपने ऊपर अनेक प्रकार के कर्मों के बधन डाल रखे हैं । इस कारण कर्मों से रहित वह परम तत्त्व इस कर्म-बन्धन वाले जीव के समीप नहीं रहता है । छ दर्शनी तथा छः आश्रमों की रचना की गई है, परन्तु जीव तो छ - सो के स्वाद में तथा काम में रस लेता रहा है । चारों वेदों तथा छः शास्त्रों ने उस परम तत्त्व का दर्शन किया है, उन्होंने अनन्त विद्याओं ने भी उसका वर्णन किया है । परन्तु उस परम तत्त्व को कौन जान पाया है ? जीव ने तप, तीर्थ, व्रत, पूजा, धर्म, नियम, पुण्य तथा अन्य कितनी ही साधनायें कीं । वह शास्त्रानुसार आचरण करता रहा, पर इनसे उस परम तत्त्व तक उसकी पहुंच नहीं हो सकी । भगवान अपनी लीला से जीव को अनेकानेक

योनियो मे घुमाते है । यह लीला माया के गहरे पर्दे मे छिपी हुई है, अतः इसके विषय मे कुछ भी नही कहा जा सकता है । बिन्दु तत्त्व अत्यन्त गहन है । वह तनिक भी नही दिखाई देता है । यह जीव तत्त्व स्वय ही अपने अज्ञान के कारण आवृत्त रहता है और शास्त्रो के द्वारा (विद्याध्ययन के द्वारा) उसको जाना नही जा सकता है । अज्ञान मे भूला हुआ जीव द्वैत भावना के कारण अत्यधिक भयभीत है । अज्ञान की रात अध कुए के रूप मे गहन से गहनतर होती जा रही है । माया-मोह की घटायें उमड आई है । सशयो के मेढको की टर्-टर्, विषयासक्ति की चपलता की चमक एव वासना के अधड की आवाज से जीवन का सम्पूर्ण वातावरण भरा हुआ है । इसमे भय की गर्जना एव विपत्तियो की अखण्ड वर्षा हो रही है । मोह रूपी रात्रि अत्यन्त भयानक हो गई है और चारो ओर अज्ञान का गहरा अधकार छाया हुआ है । भगवान से वियुक्त होकर जीव अनाथ हो गया है । वह इस ससार रूपी जगल मे भटक गया है और उसको इसके पार जाने का मार्ग नही मिल रहा है । जीव को स्वय तो ज्ञान नही है और वह किसी की कहना भी नही मानता है । इस प्रकार वह जान-बूझ कर अज्ञानी बन कर दु ख उठा रहा है । नट अनेक प्रकार के खेल करता है और उनके विषय मे सब कुछ जानता है । कलाकार के गुणो का उसका सहृदय स्वामी ही उसका सम्मान कर पाता है । नट की तरह भगवान भी सबके शरीर के भीतर क्रीडा कर रहे हैं, परन्तु दूसरे उसको कुछ नही समझते है । गुण की पहिचान गुणी ही कर सकता है—जिसकी बात होती है, वही उसको समझ पाता है, अन्य अज्ञानी उसको नही समझ पाता है । चाहे भला हो चाहे बुरा हो, अवसर आने पर यमराज के द्वारा सब पूरा सम्मान पाते है । दान-पुण्य भी हमारी निराशा के हेतु बनते हैं (क्योकि इनके कारण हमे फल भोगने के लिए जन्म लेना पडता है) पता नही, कब तक जीवन की इस नट-विद्या का खेल-खेलना पडेगा । जीवन के जगल मे मारे-मारे फिरते हुए हमारे पैर टूट गये हैं । भगवान का चरित्र अगम्य है, उसका वर्णन कौन कर सकता है ? देवता, गन्धर्व, मुनि आदि भी भगवान की माया का पार नही पा सके हैं । भगवान अलक्ष्य बने रहकर सबको दुनियाँ के धन्धो मे लगाये रखते हैं । भगवान की लीला मे तो शिव और ब्रह्मा भी भूते हुए है और कोई बेचारा अन्य जीव तो उन्हे किंचित मात्र भी नही जान सकता है । सब जीव दैन्य भाव से पुकार करते है कि, हे स्वामी रक्षा करो, रक्षा करो । आपने मुझे करोडो ब्रह्माण्डो मे घुमा दिया है । अनेक जन्मो तक आपने मुझे गूलर के कीडे की भाँति माया मे बन्द रखा है । अब मैंने ईश्वर की उपासना का योग धारण कर लिया है । इसमे न मेरा ध्यान टूटा है और न तप खण्डित हुआ है । सिद्ध साधको ने जो कुछ बताया है, उससे मन और चित्त स्थिर नही हो पाता है । आपकी लीला तो अगम्य है । उसका वर्णन करके कौन पार पा सकता है—श्रयति उसका पूर्णतया वर्णन कोई नही कर सकता है । कबीर कहते है कि हे जीव रूपी पक्षी भगवान की खोज मे पीछे मत रहे । भगवान तुम अपार हो । जब तक उनका साक्षात्कार नही हो जाता है, तब तक

उनके बारे में कोई कुछ नहीं कह सकता है। उसके बारे में जो लोग भी बात करते हैं, वे सब झूठे और अहकारी हैं।

- अलंकार—(1) सभग पद यमक—झूठनि झूठ ।
 (II) विरोधाभास—झूठनि-साच 'जाना ।
 (III) पदमैत्री—बंध बंध ।
 (V) वक्रोक्ति—को जानै । और को जानै । कथै को जानै ।
 (VI) विशेषोक्ति—तप तीरथ " " नहीं सूझै । कयंचित आना ।
 (VII) पुनरुक्ति प्रकाश—करि करि । फिरत फिरत ।
 (VIII) उपमा—रजनी अधकूप ह्वै । फल कर कीट ।
 (IX) सागरूपक—वर्षा का रूपक—दादुर " " अधियारा ।
 (X) वीप्सा—याहि याहि, राखि राखि ।
 (XI) सबधातिशयोक्ति—गण " "न पावा ।
 (XII) रूपकातिशयोक्ति—खग ।

विशेष—(1) षट् दर्शन न्याय, साख्य, योग पूर्व मीमांसा उत्तर मीमांसा और वैशेषिक ।

(II) आश्रम षट्—आश्रमों की संख्या चार ही मानी जाती है। षट् आश्रम से क्या तात्पर्य है—कह नहीं सकते ।

(III) षट् रस—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त ।

(IV) चार वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ।

(V) छः शास्त्र—धर्म, दर्शन, साहित्य, विज्ञान, व्याकरण तथा कला सम्बन्धी ग्रंथ ।

(VI) भगवान का विवेचन—कथन-श्रवण-मनन का विषय नहीं है। वह सर्वथा अनुभूति गम्य है ।

(VII) हरि चरित—इस कथन के द्वारा ऐसा लगता है कि कबीर विष्णु को परब्रह्म मानते हैं। आगे चल कर वह इहि वाजी सिव विरचि भुलाना कहते हैं। यहां भी विष्णु का उल्लेख नहीं होता है। सम्भवतः कबीर राम को विष्णु का अवतार मानते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने भी लिखा है कि—

तासु तेज समांन प्रभु आनन । हरपे देखि संभु चतुरानन ।

विष्णु रूप राम उपस्थित हैं। इसी से गोस्वामीजी केवल शिव और विरच के हर्षित होने की बात कहते हैं। हमारा विचार है कि कबीर वैष्णव तो नहीं थे, परंतु उनके ऊपर वैष्णव मत का व्यापक प्रभाव अवश्य था ।

(११)

अलख निरजन लखै न जोई, निरभं निराकार है सोई ।
 सुनि असयून रूप नहीं रेखा, द्विष्टि अद्विष्टि छिप्यौ नहीं पेखा ॥
 बरन अवरन कथ्यौ नहीं जाई, सकल अतीत घट रह्यौ समाई ।

आदि अंति ताहि नहीं मधे, कथ्यौ न जाई आहि अकथे ॥

अपरंपार उपजै नही बिनसै, जुगति न जांनियै कथिये कैसे ।

जस कथिये तस होत नही, जस है तैसा सोइ ।

कहत सुनत सुख उपजै, अरु परमारथ होइ ॥

शब्दार्थ—निरजन=माया रहित ।

संदर्भ—कवीर परमतत्व की अनिवर्चनीयता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—प्रभु अलक्ष्य एव माया रहित है । उनको कोई देख नहीं सकता है । अभय एव निराकार तत्त्व वही हैं । वह न शून्य हैं, न स्थूल हैं । न उनका कोई रूप है और न रेखा ही । वह न दृष्ट है और न अदृष्ट है, वह न प्रकट है और न छिपा हुआ ही है । उसका कोई रग नहीं है, परन्तु उसको रग रहित भी नहीं कहा जा सकता है । सबसे अतीत होते हुए भी वह घट-वट में समाया हुआ है । उसके आदि, मध्य, अन्त भी नहीं है, क्योंकि वह देश-काल के परे है । उस तत्त्व का वाणी के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता है, वह वाणी से अतीत है—अकथ्य है । वह अपरम्पार है । न उनकी उत्पत्ति होती है और न उसका विनाश ही होता है । वह किसी भी युक्ति या प्रमाण का विषय नहीं है । अतः शब्दों के द्वारा जैसा भी कहो, वह वैसा नहीं है । वह तो जैसा है तैसा ही है । उसके विषय में कहने-सुनने (चर्चा करने) से आनन्द की अनुभूति होती है तथा उसके गुण-वर्णन से परमार्थ की सिद्धि होती है ।

अलंकार—(1) अनुप्रास—निरजन, न निरभै निराकार ।

(II) विरोधाभास—सुनि समाई ।

(III) सभगपद यमक—दिष्टि अदिष्टि, वरन अवरन ।

(IV) सबधातिशयोक्ति—कथ्यौ न जाई ।

(V) गूढोक्ति—कथिये कैसे ।

विशेष—(1) इस रमैणी में 'नेतिनेति' सदृश भावाभिव्यक्ति है ।

(II) परम 'तत्त्व' के पारमार्थिक स्वरूप की स्वानुभूति को जगाने का प्रयास है ।

(१२)

जांसि नहीं कस कथसि अयांनां, हम निरगुन तुम्ह सरगुन जांनां ॥

मति करि हींन कवन गुन आंही, लालचि लागि आसिरै रहाई ।

गुंन अरु ग्यांन दोऊ हम हींनां, जैसी कुछ बुधि बिचार तस कीन्हां ॥

हम मसकीन कछू जुगति न आवै, ते तुम्ह दरवौ तौ पूरि जन पावै ।

तुम्हारे चरन कवल मन राता, गुन निरगुन के तुम्ह निज दाता ॥

जहुवां प्रगटि बजावहु जैसा, जस अनभै कथिया तिनि तैसा ।

बाजं तंत्र नाद, धुनि होई, जे बजावै सो ओरै कोई ॥

बाजी नाचै कौतिग देखा, जो नचावै सो किन्हू पेखा ॥

आप आप थ जानियै, है पर नाही सोइ ।

कबीर सुपिनै केर धन ज्यूं, जागत हाथि न होइ ॥

शब्दार्थ—मति करि हीन=विवेक शून्य । बधि=बुद्धि । दरवौ=द्रवी, कृपा करदो । बाजी=बाजीगर, नट । कौतिग=तमाशा ।

सदर्भ—पूर्व रमैणी के समान ।

भावार्थ रे अज्ञानी, तुम इस परम तत्व के स्वरूप को जानते तो हो नहीं, फिर उसका वर्णन किस प्रकार करते हो ? मैंने उसको निर्गुण समझा है और तुमने उसको सगुण के रूप में जाना है । तुम तो विवेकहीन हो । तुममें ऐसा कौनसा गुण है जिससे तुम उस परमतत्व के वास्तविक स्वरूप को जान सके हो ? तुम तो माया-मोह और लोभ-लालच के आश्रित हो । हम भी परमतत्व के साक्षात्कार के उपयुक्त गुणों (विवेक वैराग्य, षट् सम्पत्ति इत्यादि) से तथा बोध से रहित हैं । फिर भी हमको सद्गुण की कृपा से जैसी जो कुछ (थोड़ी बहुत) बुद्धि प्राप्त हुई है, उसी के आधार पर हमने परमतत्व के स्वरूप पर विचार किया है । हम जीव मात्र मतिहीन हैं । हमें भगवान के स्वरूप को समझने की युक्ति नहीं आती है । ईश्वर से अनुग्रह की प्रार्थना करते हुए कबीर कहते हैं कि हे प्रभु, जब आप इस जन पर द्रवीभूत होगे, तभी वह आपके पूर्ण स्वरूप को प्राप्त हो सकेगा (मेरा मन आपके चरण-कमलो में ही अनुरक्त है ।) तुम चाहे सगुण हो चाहे निर्गुण तुम्हीं मुझको ज्ञान देने वाले हो । तुम जहाँ भी जिस प्रकार प्रकट होकर अपने आपको अभिव्यक्त कर देते हो, उसी के अनुसार जो जिस रूप में ही आपके साक्षात्कार के अनुभव को व्यक्त कर देता है, उसके लिए तुम वैसे ही हो । हृदय की तन्त्री बजती है । उसमें नाद उत्पन्न होता है, परन्तु इस तन्त्री को बजाने वाला कोई दूसरा ही है । जादूगर (नट) नाचता है और दुनियाँ उसका तमाशा देखती है, परन्तु जो नाचने वाले को नचाता है उसे कोई नहीं देख पाता है । हर व्यक्ति उसे अपनी वासना के अनुसार समझता और देखता है, परन्तु वह वास्तव में वैसा नहीं है । कबीर कहते हैं कि व्यक्ति की वासना से समझे जाने वाले भगवान का स्वरूप तो स्वप्न के धन के समान है जो जागने पर हाथ नहीं लगता है ।”

अलंकार—(1) रूपक—चरन कमल ।

(11) उपमा—सुपिनै केरि धन ज्यू ।

विशेष—(1) तत्तया के सिद्धान्त के आवरण में भगवान के अनिवर्चनीय स्वरूप (अवाङ्मनसगोचर) का प्रतिपादन है ।

(11) मुन निरगुन - दाता कबीर एक सच्चे भक्त के रूप में हमारे सामने आते हैं—

जो जगदीश तो अति भली जो महोश बड़ भाग ।

तुलसी चाहत जनमि भरि रामचरन अमुराग ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(iii) जस अनभै कथिता तिनि तैसा । तुलना करें—

जाकी रही भावना जैसी । प्रभु मूरत देखी तिन तंसी ।

तथा— अमित रूप प्रगटे तेहि काला । जथाजोग मिले सर्वाह कृपाला ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(iv) सगुण भक्तो जैसे दैन्य की मार्मिक अभिव्यक्ति है ।

(१३)

जिनि यहु सुपिनां फुर करि जांनां, और सबै दुखयादि न आंनां ।
 ग्यांन होन चेतै नहीं सूता, मै जाग्या विष हर भै भूता ॥
 पारधी बांन रहै सर सांधें, विषम बांन मारै विष बांधें ॥
 काल अहेड़ी संझ सकारा, सावाज ससा सकल ससारा ॥
 दावानल अति जरें बिकारा, माया मोह रोकि ले जारा ॥
 पवन सहाइ लोभ अति भइया, जम चरचा चहुँदिसि फिरि गइया ॥
 जमके चर चहुँ दिसि फिरि लागे, हंस पखेरुवा अब कहां जाइबे ॥
 केस गहैं कर निस दिन रहई, जब धरि ऐंचे तब धरि चहई ॥
 कठिन पासि कछू चलै न उपाई जम दुबारि सीभे सब जाई ॥
 सोई त्रास सुनि रांस न गावें, मृगत्रिष्णां भूठी दिन धावै ॥
 मृत काल किनहूँ नही देखा, दुख कौं सुख करि सबही लेखा ॥
 सुख करि मूल न चीन्हसि अभागी, चीन्है बिनां रहै दुख लागी ॥
 नींब काट रस नींब पियारा, यूं विष कूं अमृत कहै ससारा ॥
 विष अमृत एकै करि सांनां, जिनि चीन्ह्यां तिनही सुख मांनां ॥
 अछित राज दिन दिनहि सिराई, अमृत परहरि करि विष खाई ॥
 जांनि अजांनि जिन्है विष खावा, परे लहरि पुकारै धावा ॥
 विष् के खांयें का गुंन होई, जा बेद न जानै परि सोई ॥
 मुरछि मुरछि जीव जरिहै आसा, कांजी अल्प बहु खीर बिनासा ॥
 तिल सुख कारनि दुख अस मेरु चौरासी लख लीया फेरु ॥
 अल्प सुख दुख आहि अनता, मन मैगल भूल्यौ मैमता ॥
 दीपक जोति रहै इक सगा, नैन नेह मांनू परे पतगा ॥
 सुख विश्राम किनहूँ नही पावा, परहरि काल दिन आइ तुरावा ॥
 लालच लागे जनन सिरावा, अंति काल दिन आइ तुरावा ॥
 जब लग है यहु निज तन सोई, तब लग चेति न देखै कोई ॥
 जब निज चलि करि किया पयांनां, भयौ अकाज तब फिरि पछितांनां ॥

मृगत्रिष्णां दिन दिन ऐसी, अबमोहि कछू न सौहाइ ।

अनेक जतन करिये, टारिये, करम पासि नहीं जाइ ॥

शब्दार्थ—फुर=सत्य । विपहर=विपधर । भूता=भयभीत होकर भाग जाते हैं । सकारा =सवेरे । सावज=मृगयायोग्य पशु । पारधी=शिकारी । ससा=

शशक, खरगोश । दावानल = बन में लगने वाली अग्नि । पाश = फंदा । काट = कीट, कीड़ा ।

सदर्भ—कबीर विषयासक्त जीव की दुर्दशा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—जो इस स्वप्नवत् संसार को सत्य समझते हैं, उन्हें इससे उत्पन्न होने वाले दुःखों का ध्यान नहीं रहता है । वे विवेकहीन जीव, तुम जागते नहीं हो । अज्ञान की निद्रा में सो रहे हो । पर मैं तो विषय भोग रूपी विषधर सर्प से भयभीत होकर जाग गया हूँ । इस संसार में मोह रूपी शिकारी वासनारूपी विष में बुझे हुए भी बाण मार रहा है । मृगया का पूरा रूपक बाँधते हुए कबीरदास कहते हैं कि काल रूपी शिकारी शाम-सवेरे (हर समय) तैयार खड़ा है । संसार के समस्त प्राणी उसके मृगया योग्य खरगोश हैं । यहाँ विषय विकार रूपी दावानल सुलग रहा है । माया-मोह ने इन विकारों को एकत्र करके प्रज्वलित कर दिया है । विषयों के प्रति लोभ (आसक्ति) की भावना पवन रूप होकर इस अग्नि को और भी अधिक प्रज्वलित करने में सहायक हो रही है । इस संसार रूपी जंगल में यम के शिकार की चर्चा सर्वत्र व्याप्त है । इन जीव-रूपी पशु-पक्षियों को घेरने के लिए त्रयताप रूपी यम के दूत चारों ओर फिर रहे हैं । जीव रूपी पक्षी अब बचकर कहाँ जाएँगे । यम के दूत दिन रात जीव के वालों को पकड़े रहते हैं । जब अपन दबोचना चाहेगे, तभी उसको खींच कर पकड़ लेंगे । यम का फंदा अत्यन्त कठोर है । उसके समक्ष किसी का बश नहीं चलता है । हरेक प्राणी को यम के द्वार पर पहुँचकर यातना भोगनी पड़ती है । इन दुःखों की बात सुनकर भी जीव राम का गुणगान नहीं करता है और मृगतृष्णा रूप मिथ्या विषयों की ओर भागता फिरता है । मृत्यु की ओर किसी का ध्यान नहीं रहता है । वह सासारिक विषयों को जो मूलतः दुःख रूप हैं, सुख रूप माने रहता है । कबीर चेतावनी देते हुए कहते हैं कि वे अभागों, तुम सम्पूर्ण सुखों के मूल भगवान को तो पहचानते नहीं हो । उनको पहचाने बिना तुमको दुःख घेरे ही रहेंगे । जिस प्रकार नीम के कीड़े को नीम को कड़ुआ रस ही प्रिय लगता है, उसी प्रकार विषयी जन विषरूप विषयों को अमृत रूप कहते हैं । मोह ग्रस्त ससारी जीवों के लिए विष और अमृत को समान समझ लिया है । जिन विवेकी जन ने भगवान के आनन्द स्वरूप (प्रेम) को विषयों से पृथक् करके समझ लिया है, वे ही वस्तुतः सुख के भागी बनते हैं । विषयों का राज्य (महत्व) आयु के साथ दिनोदिन क्षीण होता जाता है, परन्तु फिर भी जीव ईश्वर-प्रेम के अमृत को छोड़कर स्वभाववश विषयों के विष का सेवन करता है । जो जीव जान-बूझकर अथवा बोझों से विषयों के विष को खाते हैं, वे भवसागर की लहरों में पड़े हुए पुकारते रहते हैं । विषयों के सेवन में क्या गुण है (यह मेरी समझ में तो आता नहीं है) जो ज्ञान शून्य हैं, वे ही इन विषयों में लिप्त होते हैं । कुम्हला कुम्हला कर जीव धीरे धीरे विषयों की आशा (आसक्ति) में भुल गया रहता है । वासना रूपी काजी यद्यपि बहुत ही स्वरूप है, तथापि वह जीव के आनन्द स्वरूप रूपी दूध को फाड़ देती है अर्थात् उसके आनन्द को मिटा

देती है। वह तिल के समान थोड़े से विषयानंद के पीछे सुमेरु पर्वत के समान वृहद् दुखो को अपना लेता है और इस प्रकार वह चौरासी लाख योनियो में भटकना स्वीकार करता है। इस ससार में सुख थोड़ा है और दुख बहुत है, परन्तु फिर भी मन रूपी हाथी इन विषयो में मस्त बना हुआ फूल रहा है। वासना के दीपक की लौ जीव के साथ लगी हुई है। उसके नेम (इन्द्रियो के उपलक्षण) उसके प्रति आसक्ति-वश आकृष्ट होकर उसमें पतंगों की तरह गिरकर भस्म होते रहते हैं। जो जन ईश्वर प्रेम रूप सत्य को छोड़कर विषयासक्ति रूप भ्रूठ की ओर दौड़ते हैं, उनको सुख-शान्ति की प्राप्ति कभी भी नहीं होती है। विषयो के लालच में लोग अपना सारा जीवन नष्ट कर देते हैं। अतः काल आने पर वे घबड़ा कर भागना चाहते हैं। जब तक यह जीव इस शरीर के सुखोपभोग में अपने आपको भूला रहता है, तब तक वह जग कर विषय-वासनाओं के इस दुःखात्मक रूप को नहीं देख पाता है। जब वह शरीर को छोड़कर प्रयाण करता, तब उसकी समझ में यह बात आती है कि उसने अनुचित काम ही किया और फिर वह पश्चात्ताप करने लगता है। विषय वासनाओं की मृगतृष्णा दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। मुझे अब इस जीवन में कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है। मैंने कर्म-बन्धन को समाप्त करने के लिए अनेक प्रयत्न किये, परन्तु कर्म के बन्धन समाप्त होने में नहीं आ रहे हैं।

अलंकार—विरोधाभास—सुपना जाना, दुख • • • लेखा,

- (ii) रूपकातिशयोक्ति - विषहर, पारधी, लहरि ।
- (iii) रूपक—विष वान, मन मंगल, नैन पतगा ।
- (iv) साग रूपक—काल जाइवे ।
- (v) उदाहरण—नीव ••• ससारा ।
- (vi) सभंग पद यमक—दिन दिनहि, जानि अजानि ।
- (vii) पुनरुक्ति प्रकाश—मुरछि मुरछि, दिन दिन ।
- (viii) विभावना—काजी ••• विनासा ।
- (ix) विशेषोक्ति—अनेक जतन ••• नहीं जाइ ।

विशेष—(1) ईश्वर-प्रेम से रहित समस्त साधनाएँ व्यर्थ हैं ।

- (ii) कस गहे ••• चहई—समभाव के लिए देखें—
कविरा गर्व न कीजिए, काल गहे कर केस ।
ना जाने कित मारिहै, क्या घर क्या परदेस ।

(१४)

रे रे मन बुधिवंत भंडारा, आप आप ही करहु विचारा ॥
कवन सयांन कौन बौराई, किहि दुख पाइये किहि दुख खाई ॥
कवन सार को आहि असारा, को अनहित को आहि पियारा ॥
कवन साच कवन है भूठा, कवन करूं को लागै मोठा ॥
किहि जरियै किहि करिये अनदा, कवन मुकति को मल के फंदा ॥

रे रे मन मोहि ब्यौरि कहि, हौं तत पूछौं तोहि ।
संसै सुल सबै भई, समझाई कहि मोहि ॥

शब्दार्थ—बुधिवत=बुद्धिमान । सयान=चतुर । वीराई=पागल, मूर्ख ।
ब्यौरि=ब्यौरा । करूँ=कडुआ ।

संदर्भ—कबीरदास आत्मालोचन द्वारा विवेकपूर्ण पथ निर्धारित करते हैं ।

भावार्थ—हे मन तुम बुद्धिमान हो, तथा ज्ञान के भण्डार हो । तुम स्वयं अपने आप ही विचार करो । जीवो मे कौन चतुर है और कौन पागल अथवा मूर्ख है—वह जो विषयो मे अनुरक्त है अथवा वह जो ईश्वराभिमुख है । कौन से कर्म दुःख के हेतु है और किन कर्मों से दुःख की निवृत्ति होती है ? किस मे हर्ष है, किसमे विषाद है ? किसे अहित समझे और किसे हित माने ? कौन वस्तु सार है और कौन निस्सार है ? कौन प्रेम शून्य है और कौन प्रेम करने वाला है ? क्या सत्य है और क्या मिथ्या है । जीवन की कौन सी अनुभूति कडुवी है और कौन सी अनुभूति मधुर है ? कौन वस्तुतः दुःखो से जल रहा है और कौन सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है ? कौन से कर्म मुक्ति के हेतु बनते है और किन कर्मों के करने से गले मे फदा पडता है ? जीवन के मूल तत्व एव प्रयोजन के इन प्रश्नों पर तुम स्वयं विचार करके मुझे बताओ । रे मन, मैं तुमसे तत्त्व की बात पूछ रहा हूँ । संशय मेरे लिए शून्य हो गये हैं । तुम मुझ को समझाकर ब्यौरेवार बताओ ।

अलंकार—(1) वीप्सा—रे रे ।

(II) मभंग पद यमक—अनहित हित ।

(१५)

सुनि हसा मै कहूँ विचारी, त्रिजुग जोनि सबै अधियारी ॥
मनिषा जन्म उत्तिम जौ पावा, जानू राम तौ सयांन कहावा ॥
नहीं चेतै तौ जनम गंमावा, पर्यौ बिहांन जन फिरि पछतावा ॥
सुख करि मूल भगति जौ जानै, और सबै दुख या दिन आंनै ॥
अमृत केवल राम पियारा, और सबै विष के भडारा ॥
हरिख आहि जो रमिये राम, और सुबै विसमा के कांसां ॥
सार आहि सगति निरवांसां, और सबै असार करि जाना ॥
अनहित आहि सकल संसारा, हित करि जानिये राम पियारा ॥
साच सोई जे थिरह रहाई, उपजे विनसै भूठ ह्वै जाई ॥
मोठा सो जो सहजे पावा, अति कलेस थै करू कहावा ॥
नां जरिये नां कोजे मैं मेरा, तहाँ अनंद जहां राम निहोरा ॥
मुक्ति सोज आपा पर जानै, सो पद कहां जु भरमि भुलानै ॥

प्रांननाय जग जीवनां, दुरलभ राम पियार ।

सुत सरीर धन प्रग्रह कबीर, जीयेरे तवरं पंख बसियार ॥

शब्दार्थ—हसा=शुद्ध चैतन्य । त्रिजुग=तिर्यक योनि, पशु पक्षी आदि प्राणी । प्रग्रह=परिग्रह, धन का सचय । निहोरा=शरणागति ।

सन्दर्भ—कबीरदास के गुरु (बुद्धि मनस) रमैणी सख्या १४ में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देते हुए सार वस्तुओं को बताते हैं ।

भावार्थ—हे जीव, आत्म स्वरूप में स्थित होकर सुनो, मैं विचार करके तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर देता हूँ । पशु-पक्षी आदि प्राणियों की समस्त योनियाँ हैं—अज्ञान की हेतु हैं । यदि किसी को मिल सके, तो पाने योग्य केवल मनुष्य जन्म ही उत्तम है । अगर मैं परम तत्व राम को जान सकूँ तो बुद्धिमान समझा जाऊँगा । जीव यदि चेतकर भ्रम एवं अज्ञान को नहीं त्यागता है, तो वह अपना जन्म व्यर्थ ही गँवा देता है । ज्ञानोदय रूपी प्रभात काल को यदि वह छोड़ देता है, तो फिर अन्त में उसको पछताना पड़ता है । जो भक्ति को समस्त सुखों का मूल समझता है वह भक्ति से रहित अन्य समस्त वस्तुओं को दुःख के रूप में मानता है । राम का प्रिय होना ही केवल अमृत रूप है, तथा विषय-वासना विष के भण्डार हैं । राम में रमना ही केवल हर्ष का हेतु है, शेष तो विषाद हेतुक कार्य हैं । निवृत्ति परायण की सगति ही सार वस्तु है । शेष सब की सगति व्यर्थ है । समस्त ससार अमंगलकारी है, केवल प्रिय राम ही मंगलकारी है । सत्य वही है जो स्थिर रहता है । जो उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, वह तो मिथ्या और भ्रूँठ है । मधुर वही है जो सहज भाव से प्राप्त होता है और जिसकी प्राप्ति में कलेश भोगने पड़ते हैं, वही कड़ुआ है । जिसमें मैं और मेरी की भावना नहीं है, उसको जलना नहीं पड़ता है । जहाँ राम की शरणागति है, वही आनन्द है । मुक्ति वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति अपने स्वरूप को तथा परम स्वरूप को पहचानता है । निर्वाण पद वह अवस्था है जहाँ समस्त भ्रम दूर हो जाते हैं । प्राणनाथ राम ही ससार के जीवनाधार हैं तथा राम का प्रेम अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है । पुत्र, शरीर, धन, परिग्रह तथा परिजनो के लिए जीना तो केवल पक्षा का वृक्ष पर थोड़ी देर का बसेरा मात्र है । अभिप्राय यह है कि राम भक्ति जीवन को स्थिरता प्रदान करती है । शेष जीवन एवं सम्बन्ध क्षणिक हैं एवं महान उद्देश्य से हीन हैं ।

अलंकार—सभग पद यमक—मार असार, अनहित हित ।

विशेष—(1) सत्यासत्य का सुन्दर निरूपण है ।

(11) सो पद • भुलाने—कबीर पन्थ में 'ब्रह्मपद' आदि अवस्थाओं को ही परम प्राप्तव्य मान लेने को भ्रम कहा गया है । अतः इस पद को भी भ्रम में भुलाने वाला कहा गया है । अतः इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—जो भ्रम में भुलाने वाला है उसे 'पद' की सज्ञा कैसे दी जा सकती है ?

(111) ना जरिये... मेरा—अहंकार, ममता एवं रागद्वेष ही वस्तुतः ताप के हेतु हैं ।

(iv) मनिषा जनम' ... पावा—समभाव देखे—“बड़े भाग मानुष तन पावा” क्योंकि यह ‘साधन धाम मोक्ष कर द्वारा’ है ।

तथा— हरि, तुम बहुत अनुग्रह कीन्हो ।

साधन-धाम विबुध-दुरलभ तनु, मोहि कृपा करि दीन्हों ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(१६)

रे रे जीय अपनां दुख न सभारा, जिहि दुख व्याप्या सब ससारा ॥

माया मोह भूले सब लोई, क्यचित लाभ मानिक दीयौ खोई ॥

मैं मेरी करि बहुत बिगूता, जननी उदर जन्म का सूता ॥

बहुतै रूप भेष बहु कीन्हां, जुरा मरन क्रोध तन खीनां ॥

उपजै बिनसै जोनि फिराई, सुख कर मूल न पावै चाही ॥

दुख संताप कलेस बहु पावै, सो न मिलै जे जरत बुझावै ॥

जिहि हित जीव राखिहै भाई, सो अनहित ह्वै जाइ बिलाई ॥

मोर तोर करि जरे अपारा, मृग त्रिष्णां भूठी संसारा ॥

माया मोह भूठ रह्यौ लागी, का भयौ इहां का ह्वै है आगी ॥

कछु कछु चैति देखि जीव अबही, मनिषा जनम न पावै कबही ॥

सार आहि जे सग पियारा, जब चैतै तब ही उजियारा ॥

त्रिजुग जोनि जे आहि अचेता, मनिषा जनम भयौ चित चैता ॥

आतमां मुरछि मुरछि जरि जाई, पिछले दुख कहता न सिराई ॥

सोई त्रास जे जानै हंसा, तौ अजहू न जीव करै संतोसा ॥

भौसागर अति चार न पारा, ता तिरिबे का करहु बिचारा ॥

जा जल की आदि अति नहीं जानिये, ताकौ डर काहे न मानिये ॥

को बोहिथ को खेवट आही, जिहि तरिये सो लीजै चाही ॥

समझि विचारि जीव जब देखा, यहु ससार सुपन करि लेखा ॥

भई बुधि कछु ग्यांन निहारा, आप आप ही किया बिचारा ॥

आपण मैं जे रह्यौ समाई, नेडै दूरि कथ्यौ नहीं जाई ॥

ताके चीन्हें परचौ पावा, भई समझि तासूं मन लावा ॥

भाव भगति हित बोहिथा, सतगुर खेवनहार ।

अल्प उदिक तव जांणिये, जब गोपदखुर विस्तार ॥

शब्दार्थ—सभारा=ध्यान दिया । मानिक=माणिक, चैतन्य स्वरूप रूपी मणि । विगूता=बर्बाद किया । त्रिजुग=तियंकर, पशु पक्षी आदि की योनि । अल्प=अल्प, थोडा सा जो दुर्लभ न हो ।

सन्दर्भ—कबीर जीव के अज्ञान का वर्णन करते हुए कहते हैं ।

भावार्थ—अरे जीव, तुमने अपने दुख के कारण पर ध्यान नहीं दिया । वासनाजन्य इस दुःख से नमस्त संसार ग्रसित है । सब जीव माया मोह में भूले हुए

हैं। विषय-सुख के थोड़े से लाभ के लिए तुमने स्व-स्वरूप प्रतिष्ठा (चैतन्य स्वरूप) रूपी माणिक को गवाँ दिया है। मैं और 'मेरी' करते हुए तुमने अपने आपको बहुत वर्वाद किया है। माता के गर्भ में सोते हुए तेरा जन्म व्यतीत हो गया अर्थात् विभिन्न जन्म धारण करते समय तुमको अनेक बार गर्भ-वास करना पडा और इस प्रकार माता के उदर में सोते हुए तुम्हारे जन्म का अधिकांश भाग व्यतीत हो गया। विभिन्न योनियों में तुमने बहुत से वेप और रूप धारण किए। वृद्धावस्था, मृत्यु तथा क्रोध तेरे शरीरों को क्षीण करते रहे। तुम जन्म लेते हो, मरते हो तथा अनेक योनियों में भटकते फिरते हो परन्तु आनन्द के मूल स्रोत अपने शुद्ध स्वरूप अथवा ईश्वर प्रेम की ओर उन्मुख नहीं होते हो। यह जीव अनेक दुखों एवं सतापों को भोगता है, परन्तु इसको उस परम तत्त्व का साक्षात्कार नहीं हुआ है, जो इसके समस्त दुखों को दूर कर देगा।

रे भाई, यह जीव जिन विषयों को मंगलकारी समझ कर उनसे प्रेम करता रहा है, जिनके लिये, यह जिया है, वे इसका अमंगल करके नष्ट होते रहे हैं। अपने और 'पराये' के राग द्वेष में फस कर यह जीव अपार सतापों में जलता रहा है और मृगतृष्णा रूपी भूठे संसार के पीछे भटकता ही रहा है। यह भूठे माया-मोह में ही फसा रहा है। यहाँ इस लोक में क्या हुआ और आगे (परलोक में) क्या होगा, इसकी इसको बिल्कुल चिन्ता नहीं है। रे जीव! अब भी चेत जा और आँखें खोल कर वास्तविकता को देख। तुमको यह मनुष्य शरीर फिर नहीं मिलेगा। जीवन का सार यही है कि राम-प्रेम की अनुभूति बनी रहे। इसके लिए कोई विशिष्ट अवसर नहीं चाहिए। जब चेत जाओ, तब ही ज्ञान का प्रकाश हो जाएगा। जब ही प्रभु-साक्षात्कार की आकाक्षा जाग्रत हो जाए तब ही अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है। पशु-पक्षियों की विभिन्न योनियों में यह जीव अज्ञान में अचेत पड़ा हुआ घूमता रहा। मानव योनि में अपने पर उसको कुछ बोध हुआ। विषयासक्ति के फलस्वरूप आत्म-स्वरूप धीरे-धीरे नष्ट होता रहता है। पिछले जन्म के दुखों को भी शांत नहीं कर पाता है। अगर जीव उन्हीं दुखों के प्रति सजग हो जाय, तो वह अपनी वर्तमान परिस्थितियों में सतोष न करे और उस मूलतत्त्व को प्राप्त करने के लिए आतुर हो जाय। यह भवसागर जसीम है—इसका पार नहीं है। इसको पार करने के उपाय पर विचार करो। जिस भव-जल का आदि और अन्त जानना सम्भव नहीं है, उससे भयभीत क्यों नहीं होना चाहिए? इसको पार ले जाने वाला कौन सा साधन नौका स्वरूप है और कौन सा सद्गुरु इनके लिए केवट स्वरूप है, इसका विचार करके उन्हीं का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। यह जीव ने जब सोच विचार करके देखा, तब उसे यह संसार स्वप्नवत् ही प्रतीत हुआ, कुछ बुद्धि तथा विचार जाग्रत हुआ और उसने स्वयं ही आत्म स्वरूप का चिन्तन किया तब उसको प्रतिभासित हुआ कि जो तत्त्व उसमें समाहित हो रहा है उसको दूर अथवा पास कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। उस

तत्व को पहचानने पर ही जीव का आत्म-बोध जागा, विवेक हुआ और फिर उसी में उसका मन लग गया । इस भव सागर को पार करने के लिए भावभक्ति अथवा ईश्वर-प्रेम ही नौका है तथा सद्गुरु ही इस नौका को खेने वाले केवट हैं । जब ईश्वर की कृपा होने पर यह भवसागर गोपद-खुर के समान प्रतीत होने लगे तब समझ लेना चाहिए कि यह भवसागर अल्प (ससीम) है और तब यह दुर्लभ्य नहीं रहे जाता है ।

अलंकार—(1) वीप्सा—रे रे ।

(ii) रूपकातिशयोक्ति—मानिक ।

(iii) विरोधाभास - जेहि हित ...बिलाई ।

(iv) सभग पद यमक—हित अनहित ।

(v) रूपक—मृगतृष्णा...ससारा । भौ सागर ।

(vi) पुनरुक्ति प्रकाश—कछु कछु । मुरछि मुरछि ।

(vii) विशेषोक्ति की व्यजना—पिछले... सिराई ।

(viii) वक्रोक्ति—काहे न मानियै ।

(ix) उपमा—सताप सुपन करि ।

(x) यमक—आप आप ।

(xi) सवधातिशयोक्ति—कथ्यौ नहि जाई ।

(xii) साग रूपक—भाव भगति...विस्तार ।

विशेष—इस रमैणी की भाव—व्यजना पर वेदान्तियों के कथन 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिरया' का गहरा प्रभाव है ।

[४] दुपदी रमैणी

(१७)

भया दयाल विषहर जरि जागा, गहगहान प्रेम बहु लागा ।
 भया अनद जीव भये उल्हासा, मिले राम मनि पूगी आसा ॥
 मास असाढ़ रवि धरनि जरावै, जरत जरत जल आइ बुझावै ।
 रुति सुभाइ जिमों सब जागी, अमृत धार होइ झर लागी ॥
 जिमों मांहि उठी हरियाई, विरहनि पीव मिले जन जाई ।
 मनिकां मनि कै भये उद्याहा, कारनि कौन विसारी नाहा ॥
 खेल तुम्हारा मरन भया मोरा, चौरासी लख कीन्हां फेरा ।
 सेवग सुत जे होइ अनिआई, गुन औगुन सब तुम्हि समाई ॥
 अपने औगुन कहू न पारा, इहै अभाग जे तुम्ह न संभारा ।
 बरबो नहीं कांइ तुम्ह नाहा, तुम्ह विछुरे मै बहु दुख चाहा ॥
 मेघ न बरिखें जांहि उदासा, तऊ न सारंग सागर आसा ।
 जलहद भर्यौ ताहि नहीं भावै, कै मरि जाइ कै उहै पियावै ॥
 मिलहु राम मनि पुरवहु आसा, तुम्ह विद्युर्यां मैं सकल निरासा ।

मैं रनिरासी जब निध्य पाई, राम नाम जीव जाग्या जाई ॥
 नलिनीं कै ज्यू नीर अधारा, खिन बिछुर्यां थै रवि प्रजारा ।
 राम बिना जीव बहुत दुख पावै, मन पतग जगि अधिक जरावै ॥
 माघ मास रुति कवलि तुसारा, भयौ बसत तब बाग सभारा ।
 अपनै रगि सब कोह राता, मधुकर बास लेहि मैमंता ॥
 बन कोकिला नाद गहगहांना, रुति बसंत सब कै मनि मानां ।
 बिरहन्य रजनी जुग प्रति भइया, बिन पीव मिले कनप टलि गइया ॥
 आतमां चेति समझि जीव जाई, बाजी भूठ राम निधि पाई ।
 भया दयाल निति बाजी बाजा, सहजै राम नाम मन राजा ॥

जरत जरत जल पाइया, सुख सागर कर मूल ।

गुर प्रसादि कबीर कहि, भागी संसै सूल ॥

शब्दार्थ—गहगहान=गहन, घना । पूगी—पूर्ण हुई । घदासा=उदासा, उदासीन । जलहर=जलाशय । रनिरासो=निराश रक । पतग=सूर्य । मैमता=मस्त । बाजी=सृष्टि का खेल ।

सन्दर्भ—कबीर सिद्धावस्था का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—भगवान की कृपा हो गई, फलस्वरूप विषय रूपी जहरीला सर्प भस्म होगया और जीव जग गया, और वह गहन ईश्वर प्रेम से पूर्ण होगया । आनंद छा गया और जीव उसमे मग्न हो गया । राम का साक्षात्कार हो गया और उसके मन की आकाक्षा पूर्ण हो गई । ज्ञान-विरह के आषाढ मास मे मिलन की तीव्र आकाक्षा के सूर्य ने जीव के चैतन्य रूपी धरा को अत्यधिक सतप्त कर दिया था । वह निरन्तर जल रहा था । भगवान की कृपा के जल ने बरस कर उसको शांत कर दिया । प्रेम की सुन्दर वर्षा ऋतु मे सम्पूर्ण पृथ्वी (सृष्टि) प्रेमोल्लास मे जाग उठी और उस समय चारो ओर अमृत वी धारा की झडी लग गई (जीव को एक दम नवीन दृष्टि प्राप्त हो गई—उसकी ऋतु बदल गई । पृथ्वी मे हरियाली प्रकट हो गई अर्थात् जीव को सम्पूर्ण सृष्टि आनन्दमय दिखाई देने लगी । विरहिणी जीवात्मा को मानों उसके प्रियतम भगवान मिल गये हैं । मन ही मन मे उत्सव होने लगा । जीवात्मा ने परमात्मा से कहा कि हे नाथ । आपने मुझको किस कारण वश भुला दिया था । तुम्हारे लिए तो यह विरह और मिलन (जन्म और मृत्यु) खेल (लीला) है, परन्तु मैं तो इसमे परेशान होकर मर ली । तुम्हारी इस लीला के कारण मुझे तो चौरासी लाख योनियो मे भटकना पडा । सेवक और पुत्र से जो भी अनुचित कृत्य हो जाता है, उसके गुण और अवगुण सब कुछ आपकी ही सामर्थ्य के फलस्वरूप हैं अथवा सब आपके ही हैं । उनका यश-अपयश सब आपका ही है । हे स्वामी, मैं अपने अवगुणो का वर्णन नहीं कर सकती हू । मेरा सबसे बडा दुर्भाग्य यही है कि आपने मेरी सभाल नहीं की अर्थात् मुझको भुला दिया । हे स्वामी, तुम मेरे ऊपर द्वेषित क्यों नहीं होते हो, आपसे विछुड कर मैंने बहुत दुःख पाए हैं । आपके प्रेम के

वादल मुझ कर बरभते नहीं हैं और मेरे प्रति उदासीन रहते हुए चले जाते हैं । परन्तु मेरा चित्त रूपी चातक ससार के विषय रूपी समुद्र के जल द्वारा अपनी प्यास बुझाने की आशा नहीं करता है । विषय सुखो से भरा हुआ यह ससार-समुद्र उसको अच्छा नहीं लगता है । वह प्यास के कारण भले ही मर जाए, परन्तु पिएगा तभी जब आप प्रेम की स्वाँति बूँद पिलाएँगे । हे प्रियतम, आप मिलें और मेरा मनोरथ पूरा कर दें । तुम्हारे वियोग में अत्यन्त निराश हो गया हूँ । मैं निराश रंक तभी अमित सम्पत्ति की प्राप्ति समझूँगा जब आप में मेरा मन पूर्ण रूपेण रम जायेगा । जिस प्रकार कमलिनी का एकमात्र अवलम्ब जल होता है, उससे पल भर भी वियुक्त हो जाने पर सूर्य का ताप उसे जला देता है, वैसे ही जीवात्मा अपने प्राणाधार राम के प्रेम से वचित होकर अत्यधिक दुख का अनुभव करती है । वासनात्मक मन रूपी सूर्य अधिक तीक्ष्ण होकर जीवात्मा रूपी कमलिनी को जलाने लगता है । मोह रूपी माघ मास की जडता ने जीवात्मा रूपी कमलिनी पर तुषारापात किया परन्तु ईश्वर प्रेम रूपी वसंत की उष्णता ने (जाग्रत होकर) जीवन-वन की रक्षा कर ली । अन्तःकरण की सद्वृत्तियाँ अपने-अपने अनुरूप उस प्रेम में अनुरक्त हो गईं । मन रूपी मधुकर प्रेम-परिमल में मस्त हो गया । उस चैतन्य रूपी विकसित वन में चित वृत्ति रूपी कोकिल का गहन मधुर सगीत गुंजारित होने लगा । इस प्रकार प्रेम की इस वसत ऋतु शरीर की सम्पूर्ण वृत्तियों को रुचिकर हुई—इसने समस्त वृत्तियों को उल्लसित कर दिया । जीवात्मा रूपी विरहिणी की एक-एक रात युगों के समान हो गई थी । उसको प्रियतम से विना मिले हुए अनेक कल्प बीत गये थे । अब आत्मा को बोध हुआ है—जीव ने रहस्य को समझ लिया है । उसने इस जगत के खेल को मिथ्या समझ लिया है और उसको भगवान राम के प्रेम की अमूल्य निधि प्राप्त हो गई है । अब भगवान की कृपा हो गई है और चारों ओर प्रेम-संगीत सुनाई दे रहा है—आनन्द ही आनन्द है । (हृदय में अनहदनाद का मधुर सगीत सुनाई दे रहा है) भगवान राम सहज रूप से उसके हृदय के राजा हो गये हैं अर्थात् भगवान के प्रति उसके मन में सहज स्वाभाविक भक्ति उत्पन्न हो गई है । विषय-वासनाओं अथवा प्रभु विरह में जलती रहने वाली जीवात्मा को सम्पूर्ण सुखो के मूल प्रेम-जल की प्राप्ति हो गई है । कबीरदास कहते हैं कि यह सब गुरु की कृपा का फल है । अब मेरे मोह एवं अज्ञान जनित सशय और कष्ट समाप्त हो गये हैं ।

अलंकार—(i) रूपकातिशयोक्ति—विपहर ।

(ii) विरोधाभास की व्यंजना—जरि जाग, खेल' "मोरा ।

(iii) साग रूपक—मास "जाई, मेघ " पियावै, माघ" "माना ।

(iv) सभग पद यमक—गुन औगुन ।

(v) अतिशयोक्ति—अपने " " पारा ।

(vi) उदाहरण—नलिनी " " प्रजारा ।

(vii) रूपक—मन पतग, जल" " " मूल ।

(viii) पुनरुक्ति प्रकाश जरत जरत ।

विशेष—(i) खेल तुम्हारा मोरा—किसी की जान गई और आपकी अदा ठहरी ।

(ii) मेघ न वरसै ...पियावै—समभाव के लिए तुलनात्मक अध्ययन करें—

जौं धन वरषै समय सिर जौं भरि जनम उदास ।

तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस ।

जीव चरावर जहँ लगे हैं सबको हित मेह ।

तुलसी चातक मन वस्यो घन सो सहज सनेह ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(iii) भया दयाल... आस—तुलना करे ।

सुनि हो मैं हरि आवन की आवाज ।

महल चटे-चटि जोऊं सजनी, कव आवै महाराज ।

दादुर मोर पपीहा बोलै, कोमल मधुरे साज ।

उमग्या इन्द्र चहुँ दिसि वरसै, दामण छोड़ी लाज ।

घरती रूप नवा-नवा धरिया, इन्द्र मिलण कै काज ।

मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, बेगि मिलौ महाराज । (मीराँबाई)

(iv) अपने औगुन—पारा तुलना करें ।

जो अपने सब औगुन कहहू । वाढहि कथा पार न लहहूँ ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(v) मैं रनिरासो—जाई . समभाव के लिए देखें ।

तुम अपनायौ तब जानिहौं, जब मन फिरि परिहै ।

तथा—जेहि सुभाव विषयानि लग्यो, तेहि सहज नाथ सौं नेह छाडि छल करिहै ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(१८)

राम नाम निज पाया सारा, अबिरथा भूठ सजल संसारा ।

हरि उतग मै जाति पतगा, जबकु केहरि कै ज्यूं संगी ॥

क्यचिति ह्वै सुपनै निधि पाई, नही सोभा कौं धरो लुकाई ।

हिरदै न समाइ जांनिगै नहीं पारा, लागै लोभ न और हकारा ॥

सुमिरत हूँ अपने उनमानां, क्यचिति जोग राम में जानां ।

मुखां साध का जानिये असाधा, क्यचिति जोग राम में लाधा ॥

कुबिज होइ अमृत फल बंछ्या, पहुँचा तब मन पूगी इछ्यां ।

नियर थै दूरि दूरि थै नियरा, रामचरित न जानिये जियरा ॥

सीत थै अगिन फुनि होई, रवि थै ससि थै रवि सोई ।

सीत थै अगिन परजरई, जल थै निधि निधि थै थल करई ॥

बज्र थै तिण खिण भीतरि होई, तिण थै कुलिस करै फुनि सोई ।

गिरवर छार छार गिरि होई, अविगति गति जानै नहीं कोई ॥

शब्दार्थ—उतग=ऊँचा । पतगा=कीडा—निम्न कोटि का प्राणी ।
जंबुक=गीदड, सियार । अपने उपमाना=अपनी सामर्थ्य के अनुसार । हकारना=
पुकारना । मुखाँ साध=मुख से साधना करता हूँ । कुविज=कुबड़ा ।

सन्दर्भ—कबीर राम की माया का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—मैंने अपने सारतत्व रामनाम को प्राप्त कर लिया है । मुझ को यह भी ज्ञान हो गया है कि यह समस्त संसार मिथ्या और निष्प्रयोजन है । भगवान् अत्यन्त उच्च हैं और मैं निम्न कोटि का प्राणी हूँ । मेरा और भगवान् का साथ वैसा ही है जैसा गीदड और सिंह का साथ हो । मुझ को राम नाम की निधि ऐसे ही मिल गई है जैसे किसी अत्यन्त दरिद्र को स्वप्न में निधि मिल जाती है । इस अपार शोभा वाली निधि को मैं छिपाकर नहीं रखूँगा । भक्ति का आनन्द मेरे हृदय में समा नहीं रहा है और इसकी कोई सीमा नहीं है । इस आनन्द के प्रति मुझे ऐसा लालच हो गया है कि मैं इसके आनन्द में भागीदार होने के लिए अन्य किसी को पुकारता भी नहीं हूँ । मैं अपने हिसाब से (सामर्थ्य के अनुसार) राम नाम का स्मरण करता हूँ । इससे मुझ को राम के प्रेम-योग का कुछ थोड़ा बहुत ज्ञान हो गया है । मैं मुख से राम-नाम की साधना करता हूँ, परन्तु उस असाध्य भगवान् को प्राप्त करना मैं क्या जानूँ ? मुझे तो केवल राम-नाम की किंचित उपलब्धि हुई है । मैं कुबड़ा हूँ मैंने ऊँचे पर लगने वाले अमृत फल की इच्छा की, मैं जब इस फल तक पहुँच गया, तब मेरी मनोकामना पूरी हुई अर्थात् जब तक मुझे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो गई, तब तक मैं अपने सीमित साधनों के द्वारा निरन्तर प्रयत्नशील बना रहा । वह परम तत्व अपना ही स्वरूप है । अत्यन्त समीप होते हुए भी अपने से भिन्न एवं दूर प्रतीत होता है । राम के चरित्र को मेरा मन नहीं जानता है—वह अगम्य एवं शब्दातीत है । इसकी माया अनिर्वचनीय है जो शीत से अग्नि, सूर्य से चन्द्रमा तथा चन्द्रमा से सूर्य कर देती है । शीत से अग्नि प्रज्वलित हो जाती है । जल की एक बूँद भी जलनिधि में परिणत हो जाती है और फिर वही जलराशि पृथ्वी के रूप में ठोस हो जाती है । एक क्षण में ही यह तत्व वज्र से तिनका बन जाता है और फिर दूसरे ही क्षण वह पुनः कठोर वज्र में परिणत हो जाता है । वह पहाड से रेणु और रेणु से पहाड बन जाता है । उस अविगत की माया (लीला) को कोई भी नहीं जान सका है ।

अलंकार—(1) उदाहरण—हरि ... सगा ।

(II) अतिशयोक्ति—हिरदै पाई ।

(III) विरोधाभास—नियरि तै नियरा, सोत फुनि होई ।

(IV) सर्वधातिशयोक्ति—गति जानै नहि कोई ।

विशेष—(1) पतगा में उपलक्षणा है ।

(II) कुविज' ... वद्धया—समभाव देखें— ।

करन चहउँ रघुपति गुन गाहा । लघु मति मोरि चरित अवगाहा ।

×

×

×

मति अति नीच ऊँचि रुचि पाछी । चहिअ अमिय जग जुरइ न छाछी ।

इत्यादि ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(१६)

जिहि दुरमति डोल्याँ संसारा, परे असूझि वार नही पारा ॥

बिख अमृत एकै करि लीन्हां, जिनि चीन्हां सुख तिहकू हरि दीन्हां ॥

सुख दुख जिनि चीन्हां नही जानां, ग्रासे काल सोग रुति मांतां ॥

होइ पतग दीपक मै परई, भूठे स्वादि लागि जीव जरई ॥

कर गहि दीपक परहि जु कूपा, यहु अचिरज हम देखि अनूपा ॥

ग्यांनहीन ओछी मति बाधा, भुखा साध करतूति असाधा ॥

दरसन समि कछू साध न होई, गुर समांन पूजिये सिध सोई ॥

भेष कहा जे बुधि बिसूधा, बिन परचै जग बूड़नि बूड़ा ॥

जदपि रवि कहिये सुर आही, भूठे रवि लीन्हा सुर चाही ॥

कबहुँ हुतासन होइ जराबै, कबहुँ अखड धार वरिषावै ॥

कबहुँ सीत काल करि राखा, तिहू प्रकार दुख देखा ॥

ताकूँ सेवि मूढ़ सुख पावै, दौरै लाभ कूँ मूल गवावै ॥

अछित राज दिने दिन होई, दिवस सिराइ जनम गये खोई ॥

मृत काल किन्हूँ नही देखा, माया मोह धन अगम अलेखा ॥

भूठे भूठ रह्यौ उरझाई, साचा अलख जग लख्या न जाई ॥

साचै नियरै भूठे दूरी, विष कूँ कहै संजीवन मूरी ॥

शब्दार्थ—दुरमति=कुबुद्धिवाले, दुर्बुद्ध लोग । डोल्याँ=भटकते फिरते हैं ।

रुति=रुचि, अनुरक्ति । बाधा=आवद्ध । साध=साधु । असाधा=असाधु, दुष्ट ।

विसूधा=विकृत हो जाए । सजीवनी=जीवन देने वाली ।

सन्दर्भ—कवीर मोह-भ्रम गुप्त अज्ञानी जन का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—जो दुर्बुद्धि वाले व्यक्ति इस ससार के माया जाल में भटकते रहते हैं, उनके लिए इस भवसागर का आर-पार नहीं है । ऐसे व्यक्ति विषयासक्ति रूपी विष और ईश्वर प्रेम रूपी अमृत में कोई भेद नहीं समझते हैं । जो इस भेद को जान लेते हैं, उनको भगवान आनन्द प्रदान करते हैं । जो ईश्वर-प्रेम के सुख तथा विषयो के दुख के अन्तर को नहीं समझ पाए हैं, वे काल से ग्रसित रहे तथा उन्होंने शोक को स्वीकार किया । ऐसे व्यक्ति मिथ्या विषय भोग के आनन्द के पीछे पतंगों की भाँति विषय-वासना के दीपक में पडते हैं और नष्ट होते हैं । हमने यह एक अनोखा आश्चर्य देखा है कि व्यक्ति अपने हाथ में ज्ञान का दीपक होने पर भी विषयो के कुएँ में गिरते हैं । ऐसे ज्ञानहीन व्यक्ति ओछी बुद्धि (कुबुद्धि) द्वारा आवद्ध रहते हैं । वे चेहरे से (देखने में) साधु लगते हैं, परन्तु कर्मों से असाधु

(दुष्ट) होते हैं। तत्त्व-दर्शन के समान कुछ भी साध्य (प्राप्तव्य) नहीं है। गुरु के समान जिसकी पूजा होने लगती है, वही वास्तव में सिद्ध पुरुष है। इस वेष का क्या लाभ है जिसमें बुद्धि मोह ग्रस्त एवं मलीन हो जाय ? परम तत्त्व से परिचय के अभाव में यह जगत मोह में डूबा हुआ है। यद्यपि यह कहा जाता है कि सूर्य देवता परम तत्त्व हैं। पर वह तो झूठा देवता है। व्यक्ति इस झूठे देवता से सुख चाहता है। वह सूर्य कभी तो आग बन कर जलाता है और कभी अखण्ड वर्षा की धारा बहाता है। और कभी अत्यन्त ठंडक (शीतकाल) का समय कर देता है। इन तीनों स्थितियों (गर्मी, वर्षा, जाड़ा) में बहुत दुःख है। ऐसे दुःखदायी एवं झूठे देवता की आराधना करना। मूर्ख क्या कभी सुख प्राप्त कर सकता है ? वे लाभ के लिए दौड़ते हैं, और अपनी गाठ की पूँजी (अपना सहज आनन्द स्वरूप) भी गवाँ बैठते हैं। विषयो का यह राज्य दिनो-दिन क्षीण हो रहा है। दिन बीतते जा रहे हैं और जन्म व्यर्थ जा रहा है। मृत्यु की ओर किसी का ध्यान नहीं है। माया, मोह, धन (सासारिक आकर्षण) का कोई हिसाब नहीं है—वे अगम्य एवं अनिर्वचनीय हैं—उनकी कोई सीमा नहीं है। जीव मिथ्या वासनाओं वाले इस मिथ्या ससार में ही उलझा हुआ है। सत्य एवं अलक्ष परम तत्त्व को जगत के लोग देखने का प्रयत्न ही नहीं करते हैं। ईश्वर के प्रति सच्ची निष्ठा वाले जीव के लिए वह परम हैं। ईश्वर के प्रति सच्ची निष्ठा वाले जीव के लिए वह परम तत्त्व, अत्यन्त निकट है और जो मिथ्या वासनाओं से ग्रस्त है, उसके लिए वह परम तत्त्व दूर है। परन्तु (दुर्भाग्य तो यह है कि) यह मोह ग्रस्त जीव वासनाओं के विष को ही सजीवनी बूटी मान बैठता है।

अलकार—(i) विरोधाभास—कर गहि ... कूपा ।

(ii) रूपकातिशयोक्ति—दीपक कूपा ।

(iii) ऐकानुप्रास—अचरज अनूपा ।

(iv) विपम—मुखा ... असाधा ।

(v) अनन्वय की व्यजना—दरसन ... होई ।

(vi) वृत्यानुप्रास—समि साध समान सिध सोई ।

(vii) गूढोक्ति—भेष कहा ... विसूधा ।

(viii) विरोधाभास—विष कू ... मूरी ।

विशेष—उपलक्षणा पद्धति पर बाह्याचार का विरोध है।

(२०)

कथ्यो न जाइ नियरै अरु दूरी, सकल अतीत रह्या घट पूरी ॥
जहा देखीं तहां राम समानां, तुम्ह वित ठौर और नहीं आनां ॥
जदपि रह्या सकल घट पूरी, भाव विनां अभि अतरि दूरी ॥
लोभ पाप दोऊ जरं निरासा, झूठे झूठे झूठि लागि रही आसा ॥
जहुवां ह्वं निज प्रगट बजावा, सुख सतोष तहां हम पावा ॥

नित उठि जस कीन्ह परकासा, पावक रहै जैसे काष्ठ निवासा ॥
 बिना जुगति कैसे मथिया जाई, काष्ठै पावक रह्या समाई ॥
 कष्टै कष्ट अग्नि पर जरई, जारै दार अग्नि समि करई ॥
 ज्युं राम कहे ते रामै होई, दुख क्लेश घालै सब खोई ॥
 जन्म के कलि विष जांहि विलाई, भरम करम का कछु न बसाई ॥
 भरम करम दोऊ बरतै लोई इनका चरित न जानै कोई ॥

शब्दार्थ—आना=अन्य । जहुंवा=जिस अवस्था । कष्टै कष्ट=काठ से काठ को । कलिविष=कल्मष, पाप ।

संदर्भ—पूर्व रमैणी के समान ।

भावार्थ— परमतत्त्व न पास कहा जा सकता है और न दूर । वह सबसे परे होते हुए भी घट-घट में व्याप्त है । मैं जहाँ कहीं भी देखता हूँ, वहाँ राम को ही व्याप्त देखता हूँ । हे भगवन् ! तुम्हारे बिना मैं कोई स्थान नहीं जानता हूँ—अर्थात् कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ तू न हो । यद्यपि वह तत्त्व समस्त हृदयों में व्याप्त है तथापि वह आभ्यन्तर में विराजमान् तत्त्व भक्ति-भाव के बिना दूर (अप्राप्य) ही बना रहता है । जीव लोभ और पाप के वशीभूत होकर निराशा की अग्नि में जलते रहते हैं । झूठी वासनाओं में ग्रस्त झूठे व्यक्ति झूठे विषय-भोगों से सुख की आशा करते रहते हैं । जिस अवस्था में पहुँच कर मैं अपने में व्याप्त अनाहत स्वरूप को ध्वनित कर पाया, वही मुझको सुख और सतोष की प्राप्ति हुई । वह परमतत्त्व सदैव अपने आपको सम्पूर्ण विश्व में प्रकाशित करता है जैसे काठ में अग्नि अव्यक्त रूप से निवास करती है । यद्यपि काष्ठ में अग्नि व्याप्त रहती है तथापि प्रयत्न पूर्वक मथन किए बिना उसको प्रकट नहीं किया जा सकता है । (वैसे ही साधना के बिना अन्तःकरण में व्याप्त परम तत्त्व) (अनाहत स्वरूप) का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है । काठ को काठ से रगड़ कर अग्नि प्रकट की जाती है । वह अग्नि प्रज्वलित होकर लकड़ी को भी अग्निमय कर लेती है । उसी प्रकार हृदय से प्रकट किए हुए राम का जप करने से साधक भी राममय हो जाता है । राम के साथ उसकी यह एकाकारता उसके सम्पूर्ण दुखों एवं क्लेशों को नष्ट कर देती है, इससे उसके जन्मजात समस्त पाप विलीन हो जाते हैं । राम मय स्थिति प्राप्त होने पर भ्रम तथा कर्म बन्धनों का कुछ भी बश नहीं चलता है, अर्थात् व्यक्ति अज्ञान जन्य भ्रम तथा कर्म-बन्धन से छुटकारा पा जाता है । ससार के प्राणी भ्रम तथा भ्रम जनित कर्मों में ही व्यवहार करते रहते हैं । इनके स्वरूप को कोई भी नहीं समझ पाता है ।

अलंकार—(1) विरोधाभास—नियरै पूरी । जदपि पूरी ।

(II) सवधातिशयोक्ति—कथ्यो न जाइ, भरम " बसाई ।
 इनका कोई ।

(III) पदमैत्री—ठौर और । होई खोई । भरम करम ।

- (iv) रूपक—निरासा ।
 (v) यमक—भूठै भूठै ।
 (vi) अगुप्रास— भूठे भूठे भूठ ।
 (vii) उदाहरण—नित उठि . . . निवासा, । जारै . . . होई ।
 (viii) वक्रोक्ति—विना जाई ।
 (x) तद्गुण - अग्नि सम करई ।

विशेष - (1) परमतत्व की अनिवर्चनीयता एवं सर्वव्यापकता का निरूपण है ।

(ii) सर्व घट वामी प्रभु को काष्ठ से व्याप्त अग्नि के समान बताकर कबीर ने एक दुर्लभ विषय को सहज ही हृदयगम्य कर दिया है । यहाँ पर इन्होंने 'अद्वैत वादियों की-भाँति' काष्ठवह्नि न्याय द्वारा ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट किया है ।

(गोस्वामी तुलसीदास ने भी लिखा है)

एक दारुगत देखिअ एकू । पावक सम जुग ब्रह्म विवेकू ।

(२१)

इन दोऊ ससार भुलावा, इहके लागे ग्यांन गंवावा ॥
 इनको मरम पै सोई विचारी, सदा आनद लै लीन मुरारी ॥
 ग्यांन दिष्टि निज पेखै जोई, इनका चरित जानै पै सोई ।
 ज्यू रजनी रज देखत अधियारी, उसे भुवंगम बिन उजियारी ॥
 तारे अगिनत गुनहि अपारा, तऊ कछु नहीं होत अधारा ॥
 भूठ देखि जीव अधिक डराई, बिना भुवगम डसी दुनियाई ॥
 भूठै भूठै लागि रही आसा, जेठ मास जैसे कुरंग पियासा ॥
 इक त्रिषावंत दह दिसि फिरि आवै, भूठै लगा नीर न पावै ॥
 इक त्रिषावंत अरु जाइ जराई, भूठी आस लागि मरि जाई ॥
 नीझर नीर जानि परहरिया, करम के बांधे लालच करिया ॥
 कहै मोर कछु आहि न वाही, भरम करम दोऊ मति गवाई ॥
 भरम करम दोऊ मति परहरिया, झूठै नाऊ साच ले धरिया ॥
 रजनी गत भई रवि परकासा, भरम करम धू केर बिनासा ॥
 रवि प्रकास तारे गुन खोनां, आचार व्योहार सब भये मलीना ॥
 विष के दावे विष नहीं भावै, जरत जरत सुखसागर पावै ॥

शब्दार्थ—दोऊ=माया मोह । लागै=इनके कारण । पेख=देखै । रज=ज्योति, प्रकाश । नीझर=निभर=आनन्द का निभर ।

संदर्भ - कबीर कहते हैं कि अज्ञान एवं दुःख ग्रस्त जीव को अन्ततः ज्ञान एवं प्रकाश की प्राप्ति ही मानी है ।

भावार्थ— माया-मोह इन दोनों में फग कर यह अपने आत्म स्वरूप को भुल जाता है । इन दोनों बातों के रक्ष्य पर जो चिन्तन करता है, वह परमतत्व में लीन

होकर सर्वदा आनन्द का ही अनुभव करता है। जो व्यक्ति ज्ञान दृष्टि से अपने स्वरूप का साक्षात्कार करता रहता है, वही भ्रम के रहस्य तथा कर्म की सच्ची प्रक्रिया को समझ पाता है।

जैसे रात्रि में दृष्टि का अन्धकार रहता है और प्रकाश के अभाव में भ्रम जनित सर्प उसको डस लेता है, वैसे ही यह जीवन है। इसमें अज्ञान का अन्धकार है और इसमें मोहरूपी सर्प उसको डस लेता है। असंख्य तारे हैं, उनकी शक्ति भी अपार है, परन्तु फिर भी वे दृष्टि का आधार नहीं बन पाते हैं अर्थात् उनका प्रकाश देखने की सामर्थ्य प्रदान नहीं कर पाता है। इस भ्रम जनित ससार-सर्प को देख कर जगत के लोग भयभीत रहते हैं। विना ही सर्प के यह दुनियाँ दक्षित अनुभव करती है। भ्रम में पड़े हुए जीव को इन झूठे विषयों से आशा बधी हुई है। जैसे जेठ के महीने में (अधिक तेज धूप के समय) प्यास से पीड़ित हरिण मृगतृष्णा में भटकता रहता है, वैसे ही मानव विषयों के प्रति आसक्त होकर दसो दिशाओं में भटकता है। वह मिथ्या मृगतृष्णा में फँसे होने के कारण जल नहीं पाता है। उसी प्रकार विषयासक्त व्यक्ति को भी विषयासक्ति के द्वारा तृप्ति नहीं हो पाती है। एक तो वह प्यास से पीड़ित रहता है और दूसरे वह सूर्य के ताप से जल रहा है। मृगतृष्णा के जल की झूठी आशा में भटकता हुआ वह मृग मर जाता है। यही जीव की अवस्था है। इस जीव रूपी मृग ने जान-बूझकर आत्मज्ञान (ईश्वर प्रेम) के आनन्द निर्भर को छोड़ दिया। अपने कर्मों के बन्धन के वशीभूत होकर मानव वाच्य विषयों के लालच में पड गया। जहाँ कुछ भी नहीं है, जीव-मृग ने उसी में अपनी ममता जमा ली है। इसी प्रकार भ्रम एवं भ्रमजनित कर्म दोनों ने मानव का विवेक नष्ट कर दिया। सत्य वस्तु पर झूठा नाम आरोपित करके उसको अपने पास रखा।

अन्त में अज्ञान की रात्रि समाप्त हुई और ज्ञान का सूर्य प्रकाशित हो गया। भ्रम और कर्म की घुन्ध का भी नाश हो गया। सूर्य रूपी आत्म ज्ञान के प्रकाश में बहु देवोपासना रूपी तारागण क्षीण होगये (मन्द पड गये)। सम्पूर्ण सासारिक आचार-व्यवहार मलीन पड गये। वास्तव में विषयासक्ति के द्वारा सताए हुए को विषय रूपी विष अच्छा नहीं लगता है। विषयों से जलते-जलते अन्त में जीव सुख सागर भगवान् एवं उनके प्रेम को प्राप्त हो जाता है।

अलंकार— (I) रूपकातिशयोक्ति—सम्पूर्ण रमैणी।

(II) साग रूपक—सम्पूर्ण रमैणी।

(III) रूपक—ग्यान दृष्टि।

(IV) उदाहरण—ज्यू उजियारी। झूठे • पियासा।

(V) विशेषोक्ति—तारे अधारा।

(VI) विभावना—विना दुनियाई।

(VII) पुनरुक्ति प्रकाश—जरत जरत।

विशेष—(I) जीव के लिए भविष्य की आशा का संदेश है। कष्ट-सहन करते

हुए जीव अपनी भूलो से सीखता जाता है, क्रमशः विकसित होता जाता है और ज्ञानान्धकार से मुक्त हो जाता है। विषयी जीव स्वयं विषयो से विरक्त हो जाता है और अन्ततः परम तत्त्व को प्राप्त कर लेता है।

विषय-दग्ध जीव की स्थिति दूध से जले हुए उस व्यक्ति के समान हो जाती है जो छाछ को फूक फूक कर पीता है। भ्रम जनित रज्जु सर्प से दक्षित व्यक्ति लोक-व्यवहार में भी रस्सी को सर्प समझने लगता है। जो तुलसीदास सर्प को रस्सी समझकर प्रियतमा की अट्टालिका पर चढ़ गये थे, उन्हीं तुलसी ने प्रत्येक रस्सी को सर्प समझ कर छोड़ दिया था।

(11) झूठ देखि... .. दुनियाई—समभाव के लिए देखे—

केशव कहि न जाइ का कहिये ।

× × ×
 सून्य भीति पर चित्र, रंग नहि तनु बिनु लिखा चितेरे ।
 × × ×
 रविकर-नीर वसै अति दारुन, मकर रूप तेहि माहीं ।
 वदन हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं ।
 कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै ।
 तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(२२)

अनिता झूठ दिन धावै आसा, अध दुरगंध सहै दुख त्रासा ॥
 इक त्रिषावत दुसरै रवि तपई, वह दिसि ज्वाला चहँ दिसि जरई ॥
 करि सनमुखि जब ग्यान विचारी, सनमुखि परिया अगनि मझारी ॥
 गछत गछत जब आगे आवा, विव उनमॉन ढिवुवा इक पावा ॥
 सीतल सरीर तन रह्या समाई, तहां छाड़ि कत दाभै जाई ॥
 यूं मन बारुनि भया हंमारा, दाधा दुख कलेस संसारा ॥
 जरत फिरे चीरासी लेखा, सुख कर मूल किनहूँ नहीं देखा ॥
 जाकेँ छाडें भये अनाथा, भूलि परे नहीं पावै पंथा ॥
 अछेँ अभि अंतरि नियरै दूरी, विन चीन्ह्यां क्यूं पाइये मूरी ॥
 जा विन हंस, बहुत दुख पावा, जरत गुरि रांम मिलावा ॥
 मिल्या रांम रह्या सहजि समाई, खिन विछुर्यां जीव उरभै जाई ॥
 जा मिलियां तें कोजे वघाई, परमानद रेनि दिन गाई ॥
 सखी सहेली लीन्ह वृलाई, रुति परमानद भेटिये जाई ॥
 सखी सहेली करहि अनदू, हित करि भेटे परमानदू ॥
 चली सखी जहुँवां निज रांमा, भये उछाह जाडे सब कामां ॥
 जानूँ कि मोरै सरस बसता, मै बलि जाऊँ तोरि भगवता ॥

भगति हेत गावै लैलीनां, ज्युं बन नाद कोकिला कीन्हां ॥
 बाजै संख सबद धुनि बेनां, तत मन चित हरि गोविंद लीनां ॥
 चल अचल पांइन पगुरनी, मधुकरि ज्युं लेहि अघरनीं ॥
 सावज सीह रहे सब मांची, चद अरु सूर रहे रथ खांची ।
 गण गंध्रप मुनि जोवै देवा, आरति करि करि बिनवै सेवा ॥
 बासि गयद्र ब्रह्मा करै आसा, हम क्युं चित दुर्लभ रांम दासा ॥

शब्दार्थ—अनिल=पवन । अध=अघड, आधी । तृषावत=प्यासा, पानी का इच्छुक । मझारी=मध्य । गछत गछत = चलते-चलते । बिंव=दो, योग्यता एव शक्ति । ढिडवा=गडढा । बारुनि=वारुणि=मदिरा ।

सन्दर्भ—कवीरदास ज्ञानोदय की दशा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—पवन दिन भर झूठी आशा में भटकता रहता है । वह अघड बना हुआ दुर्गन्ध से परिपूर्ण अनेक प्रकार के दुखों एवं कष्टों को सहन करता रहता है । एक तो प्यासा रहता है और दूसरे सूर्य उसको अत्यधिक तप्त करता रहता है । उसको दसों दिशाओं में (सर्वत्र) अग्नि का सामना करना पड़ता है और इस प्रकार वह जहाँ जाता है वहाँ (चारों दिशाओं में) वह जलता ही रहता है । जब अपने दुखों पर विचार करके वह आगे बढ़ा तो सामने ही वह जलती हुई अग्नि में गिर गया चलते-चलते जब वह आगे आया, तो उसको अपनी योग्यता एवं शक्ति के अनुरूप एक छोटा सा-गर्त (शरीर की उपाधि) प्राप्त हो गया । उसमें वायु का शरीर शीतल होकर समा गया, वह उसी में रचपच गया । एक आसक्ति को छोड़कर उसको दूसरे शरीर के प्रति आसक्ति भी खूब प्राप्त हुई । पवन की तरह मेरा भी मन सासारिक सुखों की मदिरा में रचपच गया । इस प्रकार हमको पुनः दुखों एवं सासारिक क्लेशों में दग्ध होना पड़ा । हम चौरासी लाख योनियों में दग्ध होते हुए भटकते फिरते, परन्तु आनन्द के हेतु भगवान् एवं उनके प्रति प्रेम की ओर कभी अथवा किसी ने भी ध्यान नहीं दिया । जिस भगवान् को छोड़ने के कारण हम जीव अनाथ हो गये, उसी को वह सर्वथा भूल गया है और उसके साक्षात्कार के उपयुक्त साधना पर वह अग्रसर नहीं होता है । वह परमतत्त्व जीव के हृदय (अन्तःकरण) में विराजमान रहता है, और (अज्ञान के कारण) वह पास होते हुए भी दूर ही रहता है । उस तत्त्व को पहचाने बिना जीव को आनन्द कद भगवान् किस प्रकार दर्शन दे सकते हैं । जिस परम तत्त्व के अभाव में जीव अत्यन्त दुखी हुआ । सासारिक कथाओं में जलते रहने वाले उस जीव को सद्गुरु ने राम तत्त्व से मिला दिया । राम तत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर जीव सहज स्वरूप में तदाकार हो गया । उस परम तत्त्व से वह क्षण भर को बिछुड़ा और फिर मायाजाल में फस गया । उस प्रियतम को साक्षात्कार होने पर आनन्द के बधाये गाये गये । और परमानन्द प्रभु के साथ दिन रात आनन्द के साथ (गाते हुए) व्यतीत हुए । जीवात्मा अपनी समस्त सखी सहेलियों (अन्तःकरण की प्रेमानुकूल प्रवृत्तियों) को एकत्र कर लिया और वह हर्ष एवं उल्लास

के साथ परमेश्वर से जाकर मिल गईं । सारी ज्ञानेन्द्रियाँ आनंदमय हो गई तथा अत्यधिक प्रेम के साथ भगवान के प्रेम में मग्न हो गई । सखियाँ वहाँ चली जहाँ उनके परमानन्द राम थे अर्थात् समस्त वृत्तियाँ रामोन्मुख हो गई । उनके मन में अत्यन्त उल्लास था और उन्होंने समस्त विषयासक्ति का त्याग कर दिया । आनन्द में उल्लसित जीवात्मा कहती है कि मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मेरे हृदय में वसंत का विकास हो गया है । हे भगवान, मैं आपकी बलिहारी जाती हूँ । मेरा हृदय भक्ति रूपी वसंत में लवलीन होकर उसी प्रकार गा रहा है जैसे वन में कोकिला गूँज रही हो । हृदय में शखो का शब्द होता है और वीणा की ध्वनि हो रही है । जीव का तन मन चित्त भगवान में तन्मय हो गया है । अब तक जो भगवान अचल (कठोर एव निर्जीव) प्रतीत होते थे, अब भक्ति के प्रभाव से द्रवित (सजीव एव कर्णार्द्र) हो गये हैं और जो पंगु थे, उन्हें पैर मिल गये हैं अर्थात् जो भगवान के प्रति उन्मुख होने में असमर्थ थे, वह अब भक्ति-पथ पर अग्रसर हो गये हैं । भक्त लोग भ्रमर की भाँति भगवान के अधर रस का पान कर रहे हैं । शिकार योग्य पशु और शिकारी सिंह वैर-भाव भूल कर भक्ति में तन्मय हो गये हैं । सूर्य और चन्द्रमा भी अपने अपने रथों को खींचकर खड़े हो गये हैं । देवगण, गन्धर्व, मुनि तथा जितने भी देवता हैं, वे सब भगवान की छवि का दर्शन-लाभ करते हैं तथा उनकी आरती करते हैं, प्रार्थना करते हैं तथा सेवा करते हैं । वासुकी, इन्द्र, ब्रह्मा आदि सब भक्ति (ज्ञानोदय) की इस दशा को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं और यह मनोरथ करते हैं कि हमारे चित्त में राम के प्रति दुर्लभ दास्य भक्ति का निवास हो ।

अलकार - (i) मानवीकरण—पवन सम्बन्धी उक्तियाँ । चंद्र अरु सूर्य....
खाची पवन को यदि मन का प्रतीक माना जाए, तो यहाँ अप्रस्तुत विधान का अर्थ मानने से 'उपमा' अलकार भी हो सकता है ।

(ii) यमक—सनमुखि ।

(iii) पुनरुक्ति प्रकाश—गच्छत गच्छत, जरत-जरत, करि-करि ।

(iv) गूढोक्ति—तहाँ छाडिजाई ।

(v) रूपक—मन वाचनि ।

(vi) विरोधाभास—अटै..... ..पूरी ।

(vii) वक्रोक्ति—बिनपूरी ।

(viii) उपमा—ज्यूं..... ..कीन्हा, मधुकर.....अवरनी ।

(ix) सभग पद यमक—चल अचल ।

विशेष—(i) ज्ञानोदय, अथवा भक्ति के उदय दशा का सजीव वर्णन है ।

(ii) निसर्ग के रहस्यवाद की सुन्दर व्यंजना है ।

(iii) मावज..... माची—नमनाव देवें—

कहलाने एकत वसत जहि मयूर मृग वाघ ।

जगत तपोवन हो कियो, दीरघ दाघ निदाघ ।

(बिहारी)

(iv) चद अरु सूर रहे रथ खाँची—समभाव की अभिव्यक्ति देखें—

गुन-गभीर-गोपाल मुरली कर लीन्हों तबहि उठाइ ।

घरि करि वेनु अधर मनमोहन कियो मधुर धुनि गान ।

मोहे सकल जीव जल-थल के सुनि वार्यो तन-प्रान ।

×

×

×

डुलति लता नहि मरुत मद गति सुनि सुन्दर मुख बैन ।

खग मृग मीन अधीन भये सब, कियो जमुन-जल सैन । (सूरदास)

(२३)

भगति हेतु राम गुन गाँवै, सुर नर मुनि दुर्लभ पद पाँवै ॥

पुनिम बिमल ससि मास वसंता, दरसन जोति मिले भगवता ॥

चंदन बिलनी बिरहनि धारा, यूं पूजिये प्रांनपति राम पियारा ॥

भाव भगति पूजा अरु पाती, आत्मराम मिले बहु भांती ॥

राम राम राम रुचि मानै, सदा अनद राम ल्यौ जानै ॥

पाया सुख सागर कर मूला, जो सुख नहीं कहू सम तूला ॥

सुख समाधि सुख भया हमारा, मिल्या न बेगर होइ ।

जिहि लाधा सो जानिहै, राम कबीरा और न जानै कोइ ॥

शब्दार्थ - पुनिम=पूर्णिमा । बिलनी=विल्व, बेल का फल । बेगर=पृथक् ।

लाधा=लाभ प्राप्त किया ।

संदर्भ—कवीरदास सच्चे भक्त का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—भक्त जन भगवान की भक्ति की प्राप्ति के लिए राम के गुणों का स्मरण करते हैं और उस परम पद को प्राप्त करते हैं, जो देवता, सिद्ध जन एवं मुनियों के लिए भी दुर्लभ है । वसंत मास की पूर्णिमा के निर्मल चन्द्रमा के प्रकाश में भगवान की ज्योति के दर्शन होते हैं । बिरहिणी जीवात्मा ने भावनाओं का चन्दन एवं बेल-फल धारण किया और इस प्रकार अपने प्राणपति राम की पूजा की । भाव की पूजा की सामग्री है तथा भक्ति ही फूल-पत्ती हैं । इस प्रकार की पूजा करने पर जीवात्मा को आत्माराम की प्राप्ति हो गई । अब 'राम-नाम' के निरन्तर उच्चारण में ही मन लगता है और सदैव राम में ली लगाकर आनन्द का अनुभव करती है । जीवात्मा को आनन्द सागर के मूल स्रोत भगवान (भगवद् प्रेम) की प्राप्ति हो गई है । उस सुख की समानता में अन्य कोई सुख नहीं कर सकता है । मेरा यह सुख समाधि के सुख के समान है । अब मैं परमात्मा के साथ एकाकार हो गई हूँ और उनसे पृथक् नहीं होऊँगी । कवीरदास कहते हैं कि इस आनन्द को वे ही जान सकते हैं—जिनको इसकी अनुभूति का लाभ हुआ है, अन्य कोई इसको नहीं जान सकता है ।

अलंकार—(1) व्यतिरेक की व्यजना—सुर नर पाँवै ।

(ii) रूपकातिशयोक्ति—ससि, वसता ।

(iii) रूपक—भाव पाती ।

(iv) पुनरुक्ति प्रकाश—राम की आवृत्ति ।

(v) अनन्वय—जो सुख * * * तूला ।

(iv) उपमा—सुख * * * हमारा ।

विशेष—(1) वसन्त एवं ससि सुन्दर प्रतीक हैं । वसन्त है भक्ति के उदय का महोत्सव । चन्द्रमा है प्रेम का प्रतीक ।

(ii) भक्ति की दशा का मार्मिक वर्णन है ।

(iii) रहस्यवाद की व्यजना है ।

(iv) जिहि... जानै कोइ— इस प्रकार की पक्तियों में कबीरदास भक्ति के उदय के महोत्सव का दिव्य सगीत गाते हुए दिखाई देते हैं, उसे मौन आचरण कहिए अथवा गू गे का गुड कहिए । यथा—

अपुनपौ आपुन ही में पायो ।

सवद-ही सवद भयो उजियारो, सतगुरु भेद बतायो ।

× × ×

सूरदास, समुझे की यह गति, मन ही मन मुसकायो ।

कहि न जाइ या सुख की महिमा, ज्यो गूंगे गुर खायो । (सूरदास)

[५] अष्टपदी रमैणी

(२४)

केऊ केऊ तीरथ ब्रत लपटांनां, केऊ केऊ केवल राम निज जांनां ॥

अजरा अमर एक अस्थांनां, ताका मरम काहू बिरलै जांनां ॥

अवरन जोति सकल उजियारा, द्विष्टि समांन दास निस्तारा ॥

जे नहीं उपज्या धरनि सरीरा, ताकै पथिन सींच्या नीरा ॥

जा नहीं लागे सूरजि के बांनां, सो मोहि आंनि देहु को दानां ॥

जब नहीं होते पवन नही पानीं, जब नही होती सिष्टि उपांनी ॥

जब नहीं होते प्यंड न वासा, तब नहीं होते धरनि अकासा ॥

जब नहीं होते गरभ न मूला, तब नहीं होते कली न फूला ॥

जब नही होते सवद न स्वाद, तब नहीं होते विद्यान वादं ॥

जब नही होते गुरु न चेला, गम अगम पंथ अकेला ॥

अवगति की गति क्या कहूँ, जसकर गाँव न नाँव ।

गुन विहूँन का पेखिये काकर धरिये नाँव ॥

शब्दार्थ—लपटाना = लिप्त । वर्ण = रंग, रूप । विन्तारा = कल्याण ।

सन्दर्भ—कबीरदास परम तत्त्व की अनिर्वचनीयता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—कुछ लोग तीर्थ व्रत आदि में ही लिप्त बने रहते हैं । कुछ लोग केवल राम की ही अपना सर्वस्व समझते हैं । वह अजर एवं अमर तत्त्व एक ही स्थान पर है । इसके रहस्य को कोई बिरला ही जानता है । वह रूप रहित ज्योति है जिसका प्रकाश सबत्र फैला हुआ है । उस ज्योति के दृष्टि में समाते ही (उसका

साक्षात्कार होते ही भक्त का कल्याण हो जाता है । वह ज्योति उत्पन्न नहीं हुई और उसने शरीर भी धारण नहीं किया । उसको प्राप्त करने का मार्ग जल से सींचा हुआ नहीं है अर्थात् सरल सुगम नहीं है । वहाँ तक सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता है । उस परम ज्योति को लाकर मुझको कौन प्रदान करेगा ? उस ज्योति के साक्षात्कार की अवस्था में न हवा है न पानी । उस अवस्था में सृष्टि की उत्पत्ति भी नहीं हुई थी । उस समय न शरीर था, न उसका निवासी प्राण ही । उस समय न धरती थी न आकाश ही । उस समय न गर्भ था न उसका मूल कारण ही न उपादान कारण मूल प्रकृति थी और न मित्र कारण पुरुष ही) तब न कली थी और न फूल था अर्थात् अव्यक्त व्यक्त की कल्पना नहीं थी । उस अवस्था में न शब्द था और न उसका भोग ही । तब न ये विधाएँ थी और न उससे सम्बन्धित वाद-विवाद ही । उस अवस्था में गुरु और चेला भी नहीं थे । उस समय गम्य और अगम्य करके विविध मार्ग नहीं थे—केवल सहज प्रेम-साधना का एक ही मार्ग था । उस अविगत के स्वरूप का क्या वर्णन करूँ ? उसका न कोई गाँव (निवास स्थान) है और न कोई नाम । उस गुणातीत को किस प्रकार देखा जा सकता है ? उसका नाम भी क्या रखा जा सकता है ? अभिप्राय यह है कि वह परम तत्त्व स्थान, नाम, गुण आदि से रहित है तथा शब्द और अर्थ के द्वारा जो कुछ अभिधेय है उससे वह परे है ।

अलंकार—(I) पुनरुक्ति प्रकाश—केऊ केऊ ।

(II) विरोधाभास—अवरन ज्योति . . उजियारा ।

(III) वक्रोक्ति—सो मोहि . दाना, गुन विहून . . . नाव ।

(IV) सभग पद यमक—पानी उपानी ।

विशेष—(I) वह परम अनादि, अरूप, अवर्णनीय, अगोचर है ।

(II) सवद—उपलक्षणा पद्धति से तात्पर्य है इन्द्रियासक्ति ।

(III) गम अगम पथ अकेला—वह ज्ञाता और ज्ञेय के भेदों से रहित केवल ज्ञान स्वरूप है ।

(IV) ब्रह्म की अनिवर्चनीयता एवं अद्वैत का प्रतिपादन कवीर पर वेदात दर्शन के प्रभाव को द्योतित करता है ।

(२५)

आदम आदि सुधि नहीं पाई, मां मां हवा कहाँ थे आई ॥

जब नहीं होते राम खुदाई, साखा मूल आदि नहीं भाई ॥

जब नहीं होते तुरक न हिंदू, माका उदर पिया का व्यंदू ॥

जब नहीं होते गाई कसाई, तब विसमला किनि फुरमाई ॥

भूले फिरे दीन हूँ घांवे ता साहिव का पंथ न पावे ॥

संजोगे करि गुण धर्या, विजोगे गुंण जाइ ।

जिभ्या स्वारथि आपणै, कीजै बहुत उपाइ ॥

शब्दार्थ—आदम=आदि मानव । आदि=मूल तत्त्व ।

सन्दर्भ—कबीरदास मानव के अज्ञान का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—आदि मानव को मूल तत्त्व का ज्ञान नहीं हुआ । मानव जाति की माता हौवा कहाँ से आई ? मूल तत्त्व की वह अवस्था थी जहाँ न राम था, न खुदा ही । भाई, उस अवस्था में शाखा, मूल आदि कुछ भी कल्पना नहीं है । वहाँ न मुसलमान है न हिन्दू । न माता का गर्भ है, न पिता का विन्दु ही अर्थात् उस स्थिति में माता-पिता की भी कल्पना नहीं है । उस समय गाय न थी उसको मारने वाला कसाई नहीं था । तब भगवान के नाम पर हलाल करने का हुक्म किसने दिया ? जीव अज्ञान में भूला हुआ उसकी खोज में दीन बना हुआ इधर-उधर भटक रहा है । उसको भगवत्प्राप्ति का मार्ग नहीं मिल रहा है । भक्ति के द्वारा भगवान से तादात्म्य स्थापित करने से जीव में सद्गुणों का विकास होता है और उससे पराङ्मुख (विमुख) होने पर वे समस्त सद्गुण समाप्त हो जाते हैं । परन्तु फिर भी मानव अपनी जिह्वा के स्वाद (इन्द्रिय भोग) के वशीभूत होकर उसकी तृप्ति के लिए अनेक उपाय करता फिरता है ।

अलंकार—(i) सभग पद यमक—आदिम आदि ।

(ii) सम्बन्धातिशयोक्ति—आदम..... पाई ।

(iii) गूढोक्ति—मामा आई ।

(iv) वीप्सा—मा मा ।

(v) वक्रोक्ति—विसमला * * * फुरमाई ।

(vi) विशेषोक्ति—भूले फिरे * * * न पावै ।

(vii) पदमैत्री—व्यदू हिन्दू ।

विशेष—(i) 'एकोब्रह्म द्वितीयो नास्ति' का प्रतिपादन है । मूल तत्त्व साश्लेष-व्यावस्था में रहता है । उसका विश्लेषण नाम-रूप अथवा उपाधि का हेतु बनता है । द्वैत बुद्धि ही समस्त भेद एवं संघर्ष का मूल हेतु है ।

(ii) जिह्वा स्वारथि—उपलक्षणा पद्धति से - इन्द्रियासक्ति ।

(iii) भक्ति भाव का प्रतिपादन है । भगवान की कृपा द्वारा ही जीव को सद्गुण प्राप्त होते हैं । जब भगवान कृष्ण ने अपना वरदहस्त हटा लिया तो अर्जुन के गाण्डीव की प्रत्यक्षा शिथिल हो गई और उसके संरक्षण में जाने वाली गोपियों को साधारण भीलों ने लूट लिया था ।

(२६)

जिनि कलमां कलि मांहि पठावा कुदरति खोजि तिनहूँ नहीं पावा ॥

कर्म करौम भये कर्तूता, वेद कुरान भये दोऊ रीता ॥

कृतम सो जु गरभ अवतरिया, कृतम सो जु नाव जस धरिया ॥

कृतम मुनित्य और जनेऊ, हिंदू तुरक न जानै भेऊ ॥

मन मुसले की जुगति न जानै, मति भूले हूँ दीन बखानै ॥

पाणी पवन संयोग करि, कीया है उत्पाति ।

सुनि मैं सबद समाइगा, तब कासनि कहिये जात ॥

शब्दार्थ—कलमा = वह वाक्य जो मूसजमानो के धर्म-विश्वास का मूल मंत्र है “ला इलाह इल्लल्लाह, मुहम्मद रसूलिल्लाह ।” मा कुदरति = माया । खोजि = पता, रहस्य । रीता = वाह्याचार के ग्रन्थ ।

संदर्भ—कवीरदास धार्मिक वाह्याचार की निरर्थकता बताते हैं ।

भावार्थ—जिसने इस कलियुग में कलमा का उपदेश मानवों तक पहुँचाया, वह भी भगवान की माया का रहस्य नहीं समझ सका । मोह एवं अज्ञान के प्रभाव के कारण श्रेष्ठ कर्म भी निच कर्मों में परिणत हो जाते हैं । वेद और कुरान जैसे धर्म के श्रेष्ठ ग्रन्थ भी अज्ञानी व्यक्तियों के हाथों में पड़ जाने के कारण वाह्याचार के आधार बन गये । जो गर्भ में उत्पन्न होता है, वह कृत्रिम है जो नाम और यश धारण करता है, वह भी कृत्रिम है । सुन्नत करवाना और यज्ञोपवीत धारण करना दोनों ही वाह्याडम्बर मात्र हैं । हिन्दू और मुसलमान दोनों ही परम तत्व के वास्तविक रूप को नहीं जानते हैं । व्यक्ति अपने मन का सुधार करने का उपाय तो जानता नहीं है और मति भ्रष्ट होकर दो भिन्न धर्मों की बात करता है । जल और हवा, विन्दु एवं प्राणी के संयोग से भगवान ने इस शरीर की उत्पत्ति की है । रे मानव जब शब्द शून्य में समा जाएगा अर्थात् जब व्यक्ति व्यापक चैतन्य में विलीन हो जाएगा, तब उस समय जाति-भेद की बात किससे करेगा ?

अलंकार—(1) वृत्यानुप्रास—कलमा कलि कुदरति । करम करीम ।

(II) सवधातिशयोक्ति—कुदरति पावा । हिंदू—मेऊ ।

(III) दृष्टान्त—वेद कुरान रीता ।

(IV) विरोधाभास—कृतम घटिया ।

(V) वक्रोक्ति—तब कासनि जाति ।

विशेष—(1) वाह्याचार का विरोध है ।

(II) कवीर कहते हैं कि धर्म ग्रन्थ भूठे नहीं हैं । अज्ञानियों एवं स्वार्थियों के हाथों में पड़कर वे वाह्याचार के मात्र साधन बन कर रह गये हैं । उनका वास्तविक स्वरूप तिरोहित हो गया है ।

(III) कृतम “ घटिया—व्यजना यह है कि परम तत्व अजन्मा एवं नाम-रूप के परे है ।

(IV) पारमार्थिक अवस्था अभेदात्मक है । पारमाणविक दशा में अभेद की ही कल्पना की जा सकती है ।

(२७)

तुरकी घरम बहुत हम खोजा, बहु बजगार करै ए बोधा ॥

गाफिल गरब करै अधिकाई, स्वारथ अरथि बधै ए गाई ॥

जाकौ दूध धाइ करि पीजै, ता माता कौं वध क्युं कीजै ॥
 लहुरै थकै दुहि पीया खीरो, ताका अहमक भकै सरीरो ॥
 बेअकली अकलि न जानही, भूले फिरै ए लोइ ।
 दिल दरिया दीदार बिन, भिस्त कहाँ थै होइ ॥

शब्दार्थ—तुरकी धर्म = इसलाम धर्म । वजगार = अनुचित कार्य । बोधा =
 जान बूझ कर । गोफिल = गाफिल, अहकार मे मदहोश । अहमक = पागल, मूर्ख ।
 दिल दरिया = विशाल हृदय । दीदार = साक्षात्कार । भिस्त = वहिष्ट, स्वर्ग । लहुरै
 = छोटे बच्चे ।

सन्दर्भ—कवीरदास इसलाम धर्म के बाह्याचार के प्रति विरोध प्रकट करते हैं।

भावार्थ—हमने इसलाम धर्म के सच्चे अनुयायियों की बहुत खोज की । ये
 लोग जान-बूझ कर अनेक अनुचित कार्य करते हैं । ये धर्म के अहकार मे मदहोश
 रहते हैं और स्वार्थ के वशीभूत होकर गाय का वध करते हैं । माता के समान
 जिसके दूध को पिया जाता है, उस (गाय) का वध क्यो किया जाना चाहिए । छोटे
 बच्चे तथा थके हुए (रोगी एव वृद्ध) व्यक्ति जिसका दूध पीते हैं, उसी गाय के
 शरीर को मूर्ख व्यक्ति खाते है । वे मूर्ख लोग ज्ञान की बात को जानते नहीं हैं,
 परन्तु अपने ज्ञान के अहकार मे भूले हुए रहते है । उदार हृदय वाले सबको प्रेम
 करने वाले भगवान के साक्षात्कार के विना व्यक्ति को स्वर्ग की प्राप्ति किस प्रकार
 हो सकती है ? अर्थात् करुणा सागर भगवान के सच्चे स्वरूप दर्शन के अभाव मे
 सुख-शांति की प्राप्ति सम्भव नहीं है ।

अलंकार—(1) शूढोक्ति—ता माता“““कीजै ।

(II) अनुप्रास—दिल दरिया दीदार ।

(III) वक्रोक्ति—भिस्त“““होइ ।

विशेष—(1) मामाहार का विरोध है—विशेष कर गोहत्या का यह वैष्णव
 धर्म का प्रभाव है ।

(II) बाह्याचार का विरोध है, तथा भगवत्प्रेम का प्रतिपादन है । 'दिल
 दरिया' मे विश्व-प्रेम की व्यजना है ।

(२८)

पंडित भूले पढ़ि गुन्य वेदा, आप न पावैं नांनं भेदा ॥
 संघ्या तरपन अह पट करमां, लागि रहे इनके आशरमा ।
 गायत्री जुग चारि पढाई, पूछी जाइ मुकति किनि पाई ॥
 सब मे राम रहै ल्यो सींचा, इन थै और को नीचा ॥
 अति गुन गरव करे अधिकाई, अधिकै गरवि न होइ भलाई ।
 जाकौ ठाकुर गरव प्रहारी, सो क्युं सकई गरव सहारी ॥
 कुल अभिमान विचार तजि, खोजौ पद निरबांन ॥
 अंकुर बीज नसाइगा, तव मिलै विदेही यान ॥

शब्दार्थ—गुनि=गुन कर, मनन करके । आप=आत्म स्वरूप । सहारी=सहन करना । विदेही धान=विदेह पद, जीवन्मुक्त की अवस्था ।

सन्दर्भ—पूर्व पद के समान ।

भावार्थ—पंडित लोग वेदों के अध्ययन एवं मनन में ही भ्रमित हो गये । नाना प्रकार की ऊहा पोहा के चक्कर में उनको आत्म-स्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकी । वे सध्वोपासन, तर्पण एवं ब्रह्मोचित छ कर्मों के विधि-विधान ही में लगे रहते हैं और उन्हीं के आश्रित बने रहते हैं । ये चार युगों से (कल्प के प्रारम्भ से) अद्वैत-तत्त्व (अभेद भाव) का प्रतिपादन करने वाले गायत्री मन्त्र को पढ़ते-पढाते आ रहे हैं । इनसे पूछा जाय कि इसके द्वारा किस-किसने मुक्ति की प्राप्ति की है । सम्पूर्ण प्राणियों में राम व्याप्त है । फिर भी ये लोग कुछ लोगों को पवित्र करने के लिए जल के छीटें देते हैं । इस प्रकार कतिपय व्यक्तियों से अधिक नीच कौन हो सकता है ? ये लोग । अपने आपको अत्यधिक श्रेष्ठ मान कर घमण्ड करते हैं, परन्तु अधिक घमण्ड करने से भलाई नहीं होती है । जिन ब्राह्मणों का भगवान् गर्व को नष्ट करने वाला है, वह ब्राह्मणों के गर्व को ही किस प्रकार सहन कर सकता है ? कवीर कहते हैं कि रे पंडित अपने कुल की उच्चता का अभिमान छोड़ कर निर्वाण (मोक्ष) पद प्राप्त करने के लिए साधना करे । जब अहंकार और भेदभाव का अकुर एवं बीज नष्ट हो जाएगा (इनका समूल नाश हो जाएगा) तब तुमको जीवन्मुक्ति की अवस्था भी प्राप्ति हो सकेगी ।

अलंकार—वक्रोक्ति—पूछो दाईं । इनथें नीचा ।

सो क्यूँ ... सहारी ।

विशेष—(1) वाह्याचार का विरोध है ।

(ii) षट्कर्म—स्नान, सन्ध्या, पूजा, तर्पण, जप और होम । अथवा—अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह ।

(iii) जाकी—सहारी । हिन्दू धर्म ग्रन्थों में इस प्रकार के वाक्यांश प्रायः पढ़ने को मिल सकते हैं कि—“गरव गुपालहि भावत नाही ।” अथवा—

नारद कहेउ सहित अभिमाना । कृपा तुम्हारि सकल भगवाना ।

करुनानिधि मन दीख विचारी । उर अंकरेउ गरव तरु भारी ।

बेगि सो मैं डारिहउ उखारी । पन हमार सेवक हितकारी ।

(रामचरितमानस—गोस्वामी तुलसीदास)

(२६)

खत्री करै खत्रिया धरमो, तिनकू होय सवाया करमो ॥

जीवहि मारि जीव प्रतिपारै, देखत जनम आपनों हारै ॥

पच सुभाव जु मेटै काया, सब तजि करम भजै राम राया ॥

खत्री सो जु कुटुब सू सूभै, पचू मेटि एक कू बूभै ॥

जो आवध गुर ग्यांन लखावा, गहि करवाल धूप धरि घावा ॥

हेला करै निसानै घाऊ, भूझ परै तहां मनमथ राऊ ॥

मनमथ मर न जीवई, जीवण मरण न होइ ।

सुनि सनेही रांम बिन, गये अपनपौ खोइ ।

शब्दार्थ— खत्री=क्षत्री । प्रतिपारै=प्रतिपालन करता है । पंचू=पांच आसक्तियाँ । आवध=आजन्म, जीवन भर । करवात=तलवार । धूप=जोश । रेला करै=हल्ला बोलकर ।

सन्दर्भ— कबीर हिंसा का विरोध करते हैं ।

भावार्थ—क्षत्री क्षात्र धर्म का पालन करते हुए हिंसा करते हैं । फलतः उनके कर्म—बन्धन सवाए हो जाते हैं और भी अधिक बढ जाते हैं । जीवो को मारकर वे अन्य जीव (शरीर) का पालन करते हैं । उससे वे देखते-देखते अपना लोक विगाड लेते हैं । अपने काम-क्रोधादि पाँचो स्वभावो को छोडकर तथा सम्पूर्ण कर्मों का त्याग करके राजा राम का भजन किया जाए—इसी मे जीव का कल्याण है । छत्री वही है जो अपने विकारो के कुटुम्ब से सघर्ष करता है और पच इन्द्रियो की आसक्ति को समाप्त करके अपने अन्तःकरण मे एक परम तत्व का बोध जगाता है, वही वास्तव मे सच्चा क्षत्रिय वीर है । जो गुरु द्वारा प्राप्त ज्ञान पर अपनी दृष्टि जन्म भर जमाए रहता है, हाथ मे ज्ञान की तलवार लेकर जोश के साथ (विकारो पर) आक्रमण करता है तथा हल्ला बोलकर ठीक निशाने पर चोट करता है तथा जिससे युद्ध करते हुए कामदेव नामक राजा की मृत्यु हो जाती है, वही वास्तव मे सच्चा क्षत्रिय वीर है । इसके पश्चात् मरा हुआ कामदेव जीवित नही होता है अर्थात् सच्चे क्षत्रिय वीर को जन्म भर कामदेव नही सताता है और वह जीवन-मरण के चक्र मे नही पडता है—अर्थात् वह मोक्ष को प्राप्त हो जाता है । राम के प्रेम से रहित (शून्य) होकर जो आचरण करते हैं, वे अपने वास्तविक स्वरूप को खो देते हैं—अथवा उन्हे आत्म-बोध नही होता है ।

अलंकार—(i) विरोधाभास=जीवहि प्रतिपारै ।

(ii) रूपकातिशयोक्ति—करवाल ।

विशेष—आध्यात्मिक साधना का प्रतिपादन है । वीर वही है जो अपने विकारो पर विजय प्राप्त करने । वस्तुतः 'मैं और तेरा' की भावना से प्रसूत यह संसार ही तो हमारा वास्तविक शत्रु है । इसी पर विजय प्राप्त करके हम मोक्ष के अधिकारी बन जाते हैं । जैन धर्म मे साधक को 'जिन्' या 'वीर' कहा गया है । इसी से परम साधक वर्द्धमान 'महावीर' कहलाए । हिन्दुओं के देवता हनुमान भी अभिमान रहित होकर 'महावीर' कहे गये । गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है कि—

महा अजय ससार रिपु जीति सकइ सो वीर ।

जाके जस रव होइ सो मुनहु सग्रा मतिधीर ॥

(३०)

अरु भूले षट दरसन भाई, पाखंड भेस रहे लपटाई ॥
 जैन बौध अरु साकत रौनां चारवाक चतुरग बिहूना ॥
 जैन जीवकी सुधि न जाने, पाती तोरि देहुरै आनै ॥
 अरु प्रियमी का रोम उपारै, रेखत जीव कोटि सघारै ॥
 मनमथ करम करै अस रारा, कलपत बिद धसै तिहि द्वारा ॥
 ताकी हत्या होइ अदुभूता, षट दरसन मै जैन बिगूता ॥
 ग्यान अमर पद बाहिरा, नेडा ही ते दूरि ।
 जिनि जान्यां तिनि निरुट है, राम रहा सकल भरपूरि ॥

शब्दार्थ—लपटाई=लिप्त । देहुरा=देवालय । प्रियमी=पृथ्वी । तूला=तुल्य । असरारा=लगातार ।

सन्दर्भ—कबीरदास जैनियों की औपचारिक अहिंसा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—हे भाइयो ! आप लोग छ दशानो (वैशेषिक, सांख्य, न्याय आदि) के द्वारा प्रतिपादित परम तत्व के वास्तविक रूप को तो भूल गये है और उनके नाम पर प्रचारित विभिन्न पाखण्डो एव वाह्याचारो मे लिप्त होकर रह गये हैं । जैन, बौद्ध, शाक्तो की सेना, चावकि चारो मतावलम्बी ज्ञान से शून्य हो गये है । जैनी अहिंसक मानते हुए भी जीव हिंसा का वास्तविक अर्थ नही समझते हैं । ये लोग फूल-पत्ती तोड कर अपने देवालय मे चढाते हैं । दौना मे भर कर मरुआ, चम्पक आदि फूलो को लाते हैं । इन फूलो मे भी जीवो के समतुल करोडो छोटें-मोटे कृमि कीट रहते हैं । देवालय को बनाते समय ये पृथ्वी के रोमो (पेड-पौवे, घास आदि) को उखाडते है और देखते ही देखते करोडो जीवो का सहार कर देते हैं । काम के वशीभूत होकर ये निरन्तर अनेक प्रकार के कर्म करते रहते है और उनसे उत्पन्न क्लेशो को भोगते हुए बिन्दु पात करते है, तथा आवागमन के कारण भूत द्वार मे प्रवेश करते है । जैन मतावलम्बियो की अहिंसा सम्बन्धी धारणा बहुत ही अद्भुत होती है । ये जैन लोग अपने षट्दशानो मे ही ज्ञान-भ्रष्ट हो गये हैं । ये वास्तविक ज्ञान से आरम्भ अमर पद से विमुख हैं । अत जो आत्म तत्व व्यक्ति के सर्वथा निकट है, वह अज्ञान के द्वारा ग्रसित इन लोगो से बहुत दूर हो जाता है । जिन लोगो को ज्ञान एव विवेक प्राप्त है, उनके लिए आत्म-तत्व अत्यन्त निकट रहता है । वह उनका स्वरूप ही है । उन्हें तो सर्वत्र राम (आत्म तत्व) ही व्याप्त दिखाई देता है ।

अलंकार—(1) रूपक—रोम ।

(II) विरोधाभास—नेडा ही ते दूरि ।

विशेष—कबीर का कहना है कि जैन धर्म मतावलम्बी अहिंसा का वास्तविक अर्थ नही समझते हैं । वे अपने मन्दिरों और उनमे होने वाली पूजा के

नाम पर जीव-हत्या करते रहते हैं। इस प्रकार वह प्रकारान्तर मे जैनियो के वाह्याचारो, उनके मठाधीशो आदि के प्रति अपना विरोध प्रकट करते हैं।

(३१)

आपन करता भये कुलाला, बहु बिधि सिष्टि रची दर हाला ॥
विधनां कु भ किये द्वै थांना, प्रतिबिबता मांहि समांनां ॥
बहुत जतन करि बानक बांनां, सौज मिलाय जीव तहां ठांना ।
जठर अगनि दी की परजाली, ता मै आप करे प्रतिपाली ॥
भीतर थे जब बाहिर भावा, सिब सकती द्वै नांव धरावा ॥
भूलै भरमि पर जिनि कोई, हिंदू तुरक भूठ कुल दोई ॥
घर का सुत जे होइ अयांनां, ताके संगि क्यूं जाइ सयांनां ॥
साची बात कहै जे वासूँ, सो फिरि कहै दिबांनां तासूँ ॥
गोप भिन है एकै दूधा, कासू कहिए बांम्हन सूधा ॥

जिनि यहु चित्र बनाइया, सो साचा सुतधार ।

कहै कबीर ते जन भले, जे चित्रवत लेहि विचार ॥५॥

शब्दार्थ—कुलाला=कुम्हार, सृष्टिकर्ता । दरहाला=आजकल, अर्थात् शीघ्र ही । विधना=सृष्टिकर्ता, भगवान । सौज=साधन ।

सन्दर्भ—कबीर कहते है कि यह सृष्टि माया स्वरूप है । मनुष्य को किसी प्रकार भी कर्ता अभिमान नहीं करना चाहिए ।

भावार्थ—भगवान स्वयं कुम्हार बन गये और उन्होंने विविध नाम रूपात्मक इस सृष्टि की रचना तत्काल कर डाली । इस कर्ता ने दो स्थानो पर घडे (प्राणी) तैयार किये अर्थात् द्वैत से सृष्टि की और उन अन्त करण रूपी घडो मे स्वयं प्रतिबिम्ब बन कर समा गये । बहुत यत्न करके अनेक साधनो को जुटाकर तथा पच तत्वो आदि को मिलाकर उसने जीव बनाया । मातृ-उदर मे गर्भस्थ शिशु को जठर-अग्नि जलाये डालती थी किन्तु वहां भी वह दयालु जीव की रक्षा करता था । यही गर्भ जब उदर से बाहर आया, तब उसने अपने दो नाम शिव (पुरुष) और शक्ति (नागी) रख लिये—अर्थात् इस विविध रूपात्मक जगत का मूल स्रोत वह एक (ब्रह्म) ही है । अब कोई इन भ्रम न न रहे कि हिन्दू और मुसलमान उत्पत्ति की दृष्टि मे दो भिन्न कुल के हैं । अगर घर लडका मूर्ख होता है, तो घर के समझदार लोग इनको अपने माय नहीं लगाने हैं । परन्तु अगर मैं सच्ची बात कहता हूँ अगर मैं जीव को माया द्वारा आवृत्त होने की बात कहता हूँ, तो लोग मुझे पागल कहते हैं । सब एक ही परम तत्व रूप दूध से उत्पन्न हुए हैं, केवल ग्वाले (पिता) का ही भेद है । ऐसी स्थिति मे ब्राह्मण और शूद्र किसमे कहे ? जिसने सृष्टि का यह विषय जाना है, वह मन्त्रा भूषधार है । वे व्यक्ति ही वास्तव मे जानी हैं, जो उन मन्त्रों से चित्रवत (मिथ्या) समझते हैं ।

अन्तहार -- (1) निदर्शना -- भूल " नयाना ।

(ii) विरोधाभास—साची . तासू ।

विशेष—(1) इसमें अद्वैतवाद के प्रति विध्वंसवाद का प्रतिपादन है ।

(ii) जगत को चित्रवत् बताकर अद्वैतवाद के मिथ्यावाद का प्रतिपादन है ।

[६] बारहपदी रमैणी

(३२)

पहली मन मैं सुमिरौं सोई, ता सम तुलि अवर नही कोई ॥

कोई न पूजै वांसूँ प्रांनां, आदि अति वो किनहू न जानां ॥

रूप सरूप न आवै बोला, हरू गरू कछु जाइ न तोला ॥

भूख न त्रिषा धूप नही छांहीं, सुख दुख रहित रहै सब मांही ॥

अविगत अपरंपार ब्रह्म, ज्ञान रूप सब ठाम ।

बहु विचार कर देखिया, कोई न सारिख राम ॥

शब्दार्थ—तुलि=तुल्य, समान । अवर=अन्य । हर=हल्का, । गद=भारी । प्रांनां=ज्ञानेन्द्रिय । पूजै=पूरा पड सकना । वासूँ=उससे । सारिख=सरीखा, सहश ।

सन्दर्भ—कबीर परम तत्व को अगम एव अगोचर बताते हैं ।

भावार्थ—सर्वप्रथम मैं उस परमात्मा का स्मरण करता हूँ जिसके समान अन्य कोई नहीं है—अर्थात् मैं अद्वितीय एव महिमा वाले परमात्मा का स्मरण करता हूँ । ज्ञानेन्द्रियो द्वारा उसको प्राप्त नहीं किया जा सकता है । उसका आदि और अंत को कोई नहीं जानता है । उसके रूप, रेखा, वर्ण आदि का विचार हमसे करते नहीं बनता है । हल्का या माटी के रूप में उसको तोला भी नहीं जा सकता है । अर्थात् न उसे भूख लगती है, न प्यास लगती है तथा धूप-छाँह उसको कुछ भी नहीं सताती है । वह तत्व सुख-दुख से निर्लिप्त होकर घट-घट में व्याप्त है । वह अविगत, अपार एव ज्ञान स्वरूप ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है । हमने बहुत विचार करके देख लिया है कि राम के समतुल्य कोई भी दूसरा तत्व नहीं है ।

अलंकार—(1) अनन्वय—ता सम ...कोई, कोई न ...राम ।

(ii) सम्बन्धतिशयोक्ति—कोई तोला ।

विशेष—राम इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, भौतिक गुणों के परे है तथा वर्णनातीत है ।

(iii) वह द्वैत रहित अद्वैत तत्व है ।

(३३)

जो त्रिभवन पति ओहै ऐसा, ताका रूप कहौ धौँ कैसा ॥

सेवत जन सेवा कै ताई, बहुत भांति करि सेवि गुसाई ॥

तैसी सेवा चाहौ लाई, जा सेवा बिन रह्या न जाई ॥

सेव करतां जो दुख भाई, सो दुख सुख वरि गिनहु सवाई ॥

सेव करता सो सुख पावा, तिन्य दूख दोऊ बिसरावा ॥

सेवग सेव भुलानियां, पथ कुपथ न जान ।

सेवक सो सेवा कर, जिहि सेवा भल मान ॥

शब्दार्थ— ताई = लिये । करता = करते हुए । विसरावा = भूल जाता है ।

भल मान = सुख का अनुभव ।

सन्दर्भ—कबीरदास निस्स्वार्थ सेवा का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—जो त्रिभुवन पति ऐसे महान हैं उनका स्वरूप-वर्णन किस प्रकार किया जा सकता है ? भक्त-गण तो केवल इसकी सेवा करने के लिए ही बनाए हैं । वे तो अपने स्वामी की विविध प्रकार से सेवा कर सकते हैं । सेवक को वही सेवा-भक्ति करनी चाहिए जिसके बिना उससे रहा न जाए—अर्थात् प्रभु-भक्ति सदैव अहेतुकी होनी चाहिए । यदि प्रभु-सेवा करते हुए मुझे दुख उठाना पड़े तो इस दुख को सवा गुना सुख मान कर ग्रहण करना चाहिए । जो भक्त प्रभु-सेवा में सुख का अनुभव करता है, उसके लिए सासारिक दुख-सुख दोनों समाप्त हो जाते हैं, अर्थात् वह कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है । कबीर कहते हैं कि आजकल के सेवक प्रभु-सेवा के महत्व का भूल बैठे हैं तथा पथ-कुपथ का विवेक न करते हुए चाहे जिस साधना का अवलम्बन करने लगते हैं । भक्त तो वही है जो प्रभु-सेवा में गौरव एवं सुख का अनुभव करता है ।

अलकार—(1) गूढोक्ति—कहो धौं कैसा ।

(2) अनुप्रास—सेव सो सुख सुख, सेवक सेवा सेवा ।

(3) सभग पद यमक—पथ कुपथ ।

विशेष—सेवा-भाव ही भक्ति का मूल आधार है ।—समभाव देखे—

सो अनन्य गति जाके मति न टरइ हनुमत ।

मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ।

(३४)

जिहि जग की तस की तस के ही, आप आप आथि है एही ।

कोई न लखई वावा भेऊ, भेऊ होइ तौ पावै भेऊ ॥

वावै न दाहिन आगे न पीछू, अरध न उरध रूप नहीं कीछू ॥

माथ न वाप आव नही जावा, नां वहु जण्यां न को वहि जावा ॥

वो है तसा वोही जानै, ओही आहि आहि नही आने ॥

नैनां वेन अगोचरी, श्रवना करनी सार ।

बोलन के सुख कारनै, कहिये सिरजनहार ॥

सन्दर्भ—पूर्व पद के समान ।

भावार्थ—सन्तार की जैसी भी रचना हुई है, वह केवल इसने ही (परमात्मा ने ही) की है । वह स्वयं उनमें आप विनीत हो जाता है । उनके भेद को कोई नहीं जान पाता है । उभाता कुछ भेद हो तब तो कोई उसको प्राप्त करे

अर्थात् उसका कोई भेद है ही नहीं—वह भेदातीत है । इसलिए उसका भेद जानने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है । न उसमें बायाँ है, न दाहिना है, न आगे है और न पीछे, न नीचे है और न ऊपर है । उसका कोई रूप भी नहीं है । उसके न माता है, न पिता है । न उसका जन्म होता है और न उसकी मृत्यु होती है । न उसने किसी को (लौकिक अर्थ में) उत्पन्न ही किया है । वह जैसा है उसको वह स्वयं ही जानता है अर्थात् अपने स्वरूप को वह स्वयं ही जानता है । केवल उसी एक परम तत्व की स्थिति है । उसके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं । वह परम तत्व नेत्र और वाणी से अगोचर है । वह श्रवण और कर्म का सार है अर्थात् उसी के गुणों का श्रवण करना चाहिए । उसी का गुणगान श्रवणीय है । और कर्म भी केवल उसकी भक्ति के लिए ही करना चाहिए । वचन की सुविधा को ध्यान में रखते हुए उसको सृष्टिकर्ता कहा गया है ।

अलंकार—(1) सम्बन्धातिशयोक्ति—कोई न लख है बाका भेऊ । नैन
... पार ।

(II) वक्रोक्ति—भेऊ ...केऊ ।

(III) पदमैत्री—भेऊ केऊ । अरध उरध ।

(IV) विभावना की व्यजना—माई न बाप ।

(V) अनन्वय—वो आनै ।

(VI) काव्यालिंग—बीलन • सिरजन हार ।

विशेष—‘तत्तथा के सिद्धान्त का आश्रय लिया गया है । जगत् के असत् तथा परम तत्व के अवाङ् मन गोचर होने का वर्णन है ।

(३५)

सिरजनहार नांउ धूँ तेरा, भौसागर तिरिबे कूँ भेरा ॥

जे यहु भेरा राम न करता, तौ आपे आप आवटि जग मरता ॥

राम गुसाई मिहर जु कीन्हां, भेरा साजि सत कौं दीन्हां ॥

दुख खडण मही मडणा, भगति मुकुति विश्राम ।

बिधि करि भेरा साजिया, धन्या राम का नाम ॥

शब्दार्थ—भेरा=वेडा, नावो या जहाजो का समूह । आवटि=जल कर ।
मडणा=शोभा का हेतु ।

सन्दर्भ—कबीर राम-नाम की महिमा का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—हे सृष्टि कर्ता (प्रभु) ! आपका नाम ही भवसागर से पार उतरने का जलयान है । यदि राम इस वेडे का निर्माण न करते (यदि आपके नाम का सहारा न होता) तो यह ससार अपनी वासनाओं की अग्नि में स्वयं ही जलकर नष्ट हो जाता । स्वामी राम ने जगत के ऊपर बहुत कृपा की जो नाम-रूपी वेडा बनाकर सत-समाज को दे दिया । नाम दुखो का खण्डन (नाश) करने वाला है और पृथ्वी की शोभा है । यही भक्ति, मुक्ति और परम शांति का हेतु है स्वयं

विधाता ने इस वेडे (ससार-सागर से पार जाने के साधन) को बनाया है और उसका नाम 'राम-नाम' रख दिया है ।

अलंकार—(1) रूपक—भौसागर, भाव भेरा ।

(II) रूपकातिशयोक्ति—भेरा साजि ।

(III) उल्लेख—दु ख.....विश्राम ।

विशेष—(1) राम-नाम की महिमा अपार है । कबीर का तात्पर्य दाशरथि राम से नहीं है, बल्कि उनका तात्पर्य परम ब्रह्म के गुणों से है ।

(II) यह नाम-माहात्म्य-वर्णन सगुण भक्ती जैसा है । यथा —
विश्वास एक राम-नाम को ।

मानत नहिं परितोति अनत ऐसोई सुभाव मन वाम को ।

पढिवो पर्यो न छठी, छ मत रिगु जजुर अथवन साम को ।

+

+

+

सब दिन सब लायक भय गायक रघुनायक गुन-गुरम को ।

बैठे नाम काम-तर-तर-डर कौन छोर घन घाम को ।

को जानै को जैहै जमपुर, को सुरपुर परधाम को ।

तुलसिहि बहुत भलो लागत जग जीवन राम गुलाम को ।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(३६)

जिनि यह भेरा दिढ़ करि गहिया, गये पार तिन्हों सुख लहिया ॥

दुमनां ह्वै जिनि चित्त डुलावा, करि छिटके थै थाह न पावा ॥

इक डूबे अरु रहे उरवारा, ते जगि जरे न राखणहारा ॥

राखन की कछु जुगति न कीन्हों, राखणहार न पाया चीन्ही ॥

जिनि चिन्हां ते निरमल अगा, जे अचीन्ह ते भये पतंगा ॥

राम नाम ल्यौ लाइ करि, चित चेतन ह्वै जागि ।

कहै कबीर ते ऊबरे, जे रहे राम ल्यौ लागि ॥

शब्दार्थ—भेरा=बेडा, राम-नाम का बेडा । दिढ़ करि=दृढतापूर्वक । गहिया=पकड रखा है । दुमना ह्वै=दुविधा में पड कर । करि छिटकै=हाथ छूट गया । उरवारा=इसी पार । राखन=रक्षा ।

सन्दर्भ—पूर्व पद के समान राम-नाम की महिमा का प्रतिपादन है ।

भावार्थ—जिन लोगों ने राम-नाम रूपी नाव को कसकर (दृढनिश्चय पूर्वक) पकड रखा है (विश्वास पूर्वक अवलम्बन ग्रहण कर लिया है) वे भव-सागर के पार हो गये और उन्हें सुख की प्राप्ति हुई । द्विविधा में पड कर जिन्होंने अपना चित्त डाँवाडोल कर दिया, उनका हाथ छूट जाता है (वे बीच में गिर पडते हैं) और उनको इस भवसागर की थाह नहीं मिलती है अर्थात् वे इसमें डूब जाते हैं । ऐसे व्यक्ति एक तो भवसागर में डूब जाते हैं और यही रह जाते हैं तथा सासारिक

विषयाग्नि में जलते हैं और उनको कोई बचाने वाला नहीं होता है। उन्होंने अपने बचाव (अपने उद्धार) का कोई उपाय नहीं किया होता है, क्योंकि वे अपने को बचाने वाले प्रभु को पहचान ही नहीं पाते हैं। जो प्रभु को पहचान लेते हैं। उनका अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। जो प्रभु से अपरिचित बने रहते हैं वे आसक्ति की अग्नि में पतंगों के समान जलकर नष्ट हो जाते हैं। हे जीव, तू रामनाम में अपनी लौ लगाकर चित्त में चेतकर और अपना आत्म-बोध जाग्रत कर। कबीर कहते हैं कि जिनकी लौ राम-नाम में लगी होती है, इन्हीं का उद्धार हो पाता है, अर्थात् वे ही भव-सागर में डूबने से बच जाते हैं।

अलंकार — (1) रूपकातिशयोक्ति—भेरा, जग, राखणहार, पतगा।

(II) सागरूपक—सम्पूर्ण पद।

विशेष—ससार-सागर के पार जाने के लिए एक मात्र अवलम्बन राम-नाम ही है। देखें पद सं० १४६। समभाव के लिए देखें—

बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास।

राम नाम बर बरन जुग सावन भादव मास।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(३७)

अरचित अविगत है निरधारा, जाण्यां जाइ न वार न पारा ॥
लोक वेद थें अछे बियारा, छाड़ि रह्यौ सबही संसारा ॥
जसकर गांउ न ठांउ न खेरा, कैसें गुन बरनू में तेरा ॥
नहीं तहां रूप रेख गुन बांनां, ऐसा साहिब है अकुलांनां ॥
नहीं सो ज्वांन न बिरध नहीं बारा, आपे आप आपनपौ तारा ॥

कहै कबीर बिचारि करि, जिनि को लावै भंग।

सेवौ तन मन लाइ करि राम रह्या सरवंग ॥

शब्दार्थ—खेरा=खेडा, खेत या निवास-स्थान। अकुलाना=जिसका कोई कुल न हो। बिरध=वृद्ध।

सन्दर्भ—कबीरदास परम तत्व की अनिर्वचनीयता का वर्णन करते हैं।

भावार्थ—वह परम तत्व किसी के द्वारा रचा नहीं गया है, उसको कोई जान नहीं सकता है तथा वह किसी अन्य तत्व पर आधारित नहीं है अथवा उसको जानने के लिए कोई साधन उपलब्ध नहीं है। उसका वार-पार आदि-अन्त नहीं है और न उसको जाना ही जा सकता है। वह लोक और वेद से परे है, अर्थात् सामान्य ज्ञान अथवा अन्त ज्ञान किसी के द्वारा उसको नहीं जाना जा सकता है। वह समस्त ससार को छोड़ कर ऊपर उठा हुआ है (निलिप्त है।) उसका न कोई गांव है, न कोई स्थान है और न कोई विशेष निवास-स्थान है। हे प्रभु! ऐसे आपका वर्णन में किस प्रकार कर सकता हूँ? उस तत्व का न कोई रूप है, न रेखा है और न कोई वेष ही है। यह स्वामी ऐसा है कि जिसका कोई कुल (वश) ही

नहीं है। वह न तो युवक है, न वह वृद्ध है और न बालक ही। उस तत्व का अपनत्व अपने आप ही में समाहित है। कबीर विचार पूर्वक कहते हैं कि उस तत्व के स्वरूप को खण्डश मत सोचो। वह तो सर्वव्यापी अखण्ड तत्व है। तन-मन लगा कर उसकी सेवा करो। राम सर्वव्यापी हैं।

अलंकार—(1) सवधातिशयोक्ति—जाण्या जाइ'....' पारा।

(II) वक्रोक्ति कैसेतेरा।

विशेष—(1) 'नेति नेति' निरूपण की पद्धति है।

(II) वह तत्व अवर्णनीय इस कारण है—क्योंकि वह देश-काल द्वारा परिच्छिन्न न होने के कारण वाणी की सीमा में नहीं आता है।

(III) वह स्वगतादि सभी प्रकार के भेदों से शून्य अद्वैत तत्व है। बात ऐसी ही है कि—

केशव कहि न जाहि का कहिए।

×

×

×

तुलसीदास परिहरें तीन भ्रम सो आपन पहिचानै।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(३८)

नहीं सो दूर नहीं सो नियरा, नहीं तात नहीं सो सियरा ॥

पुरिष न नारि करै नहीं क्रीरा, घाम न घाम न व्यापै पीरा ॥

नदी न नाव धरनि नहीं धीरा, नहीं सो काँच नही सो हीरा ॥

कहै कबीर बिचारि करि, तासूँ लावो हेत ।

बरन बिवरजत ह्वै रह्या, नां सो स्यांम न सेत ॥

शब्दार्थ—तात=उष्ण (शत्रु)। सियरा=शीतल (मित्र)। क्रीरा=क्रीडा।

घाम=धूप। घाम=दुख। धीरा=धैर्यवान। विरजत=विवर्जित, परे।

सन्दर्भ—कबीर परम तत्व रूप प्रभु को अनिवर्चनीय बताते हैं।

भावार्थ—वह परम तत्व दूर नहीं है (क्योंकि वह हृदयस्थ है), वह पास भी नहीं है (क्योंकि साधना द्वारा भी दुष्प्राप्य है)। न वह उष्ण (शत्रु) है और न शीतल (मित्र) है। न वह पुरुष है और न नारी रूप ही है। वह इन दोनों में किसी रूप में क्रीडा नहीं करता है। न तो उसको धूप लगती है और किसी प्रकार की व्यथा ही उसको व्यापती है। न वह नदी है, न नाव है और न वह इन सबको धैर्य पूर्वक धारण वाली पृथ्वी ही है। न वह काँच (विषय-वासना स्वरूप) है, और न हीरा (सद्बृत्ति स्वरूप) ही है। कबीरदास विचार कर कहते हैं कि रे जीव, तू उस परम तत्व के प्रति अनुराग कर। वह न श्याम है और न श्वेत है। वह सब प्रकार के रंगों से परे है।

विशेष—निर्गुण निराकार ब्रह्म की अनिवर्चनीयता का प्रतिपादन है। उसको किसी प्रकार के शब्दों में आवद्ध नहीं किया जा सकता है।

(३६)

नां वो वारा व्याह बराता, पीय पितंबर स्यांम न राता ॥
तीरथ व्रत न आवै जाता, मन नहीं मोनि बचन नही बाता ॥
नाद न बिद गरथ नहीं गाथा, पवन न पांणी संग न साथी ॥

कहै कबीर बिचारि करि, ताक हाथि न नाहि ।
सो साहिब किनि सेविये, जाकै धूप न छांह ॥

शब्दार्थ— वारा = बालक । राता = लाल । गरथ = ग्रन्थ ।

सन्दर्भ—कबीरदास परम तत्व को अनिर्वचनीय कहते हैं ।

भावार्थ—वह राम रूपी परम तत्व न बालक है और उसने विवाह-बारात ही किया है । न वह पीताम्बरधारी है और न श्याम अथवा लाल रंग का वस्त्र धारण करने वाला है । वह न तीर्थ-व्रत में है और न कही आता-जाता है । वह मन ही मन में मौन रहने वाला भी नहीं है और न वचनों का वाचाल ही । वह न नाद रूप है और न बिन्दु रूप ही है । वह किसी ग्रन्थ अथवा गाथा का विषय भी नहीं है । वह न जल-रूप है और न प्राण रूप ही । उसने इनका कुछ भी सम्पर्क नहीं किया है । कबीरदास विचार पूर्वक कहते हैं कि इस तत्व रूप राम के हाथ-पैर कुछ भी नहीं हैं । रे जीव, तू ऐसे स्वामी की सेवा क्यों नहीं करता है । जिसके लिए न कही धूप है और न कही छाया ही—अर्थात् जो दुःख-सुख के सर्वथा परे है ।

अलंकार— (1) छेकानुप्रास—बारा व्याह-बराता, गरथ गाथा, पवन पांणी ।

(2) वक्रोक्ति—किनि सेविये ।

विशेष—(1) शैली लाक्षणिक है—धूप-छांह सदृश प्रयोग ।

(2) कबीर के राम परम तत्व हैं—दाशरथि राम नहीं । इसी कारण वह उनके वाणी-बद्ध लौकिक रूप का निषेध करते हैं—“नावा वारा . . . राता ।” इत्यादि । वह यह भी कह देते हैं कि बाह्याचारों द्वारा वह ग्राह्य नहीं है—“तीरथ . . . साथी ।” उन्होंने तो स्पष्ट कहा है कि—

दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना । राम नाम का मरम न जाना ।

(४०)

ता साहिब के लागौ साथी, दुख सुख मेटि रह्यौ अनाथा ॥
नां जसरथ धरि औतरि आवा, नां लका का राव सतावा ॥
देव कूख न औतरि आवा, ना जसवै ले गोद खिलावा ॥
ना वो ग्वालन के संग फिरिया, गोबरधन ले न कर धरिया ॥
बांवन होय नहीं बलि छलिया, धरनी बेद लेन उधरिया ॥
गंडक सालिकरांम न कोला, मछ कछ ह्वै जलहि न डोला ॥
बद्री बैस्य ग्यान नही लावा, परसरांम ह्वै खत्री न संतावा ॥
द्वारामती सरीर न छाड़ा, जगनाथ ले प्यंड न गाड़ा ॥

कहै कबीर विचार करि, ये ऊले व्योहार ।

याही थै जे अगम है, सो बरति रह्या ससारि ॥

शब्दार्थ—अनाथा=अनाथो क । दैवै=देवकी । उधरिया=उद्धार किया ।

सदर्भ—कबीरदास अवतारवाद का खण्डन करते हैं ।

भावार्थ—तुम उस परम प्रभु की शरण में जाओ जो अनाथों के सुख-दुख को मिटाने वाला है—अर्थात् कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त कर देने वाला है । उसने दशरथ के घर में अवतार नहीं लिया है और न उसने लका के राजा (रावण) को ही पीड़ित किया । वह देवकी की कोख से भी अवतरित नहीं हुआ और न यशोदा ने उसको अपनी गोद में ही खिलाया । वह ग्वालो के साथ वन-वन नहीं घूमा और न उसने अपने हाथ पर गोवर्धन ही उठाया । उसने वामन का अवतार लेकर राजा बलि को नहीं छला और न वाराह के रूप में उसने पृथ्वी और वेद का उद्धार ही किया । वह गण्डक नदी में शालिग्राम की पिण्डी भी नहीं बना और न उसने वाराह अवतार ही धारण किया । वह मत्स्य (मछली का अवतार लेकर) तथा कच्छप (कछुए का अवतार लेकर) के रूप में समुद्र-जल में भी नहीं डोलता फिरा । बद्रीका आश्रम में बैठकर उसने कभी भजन भी नहीं किया । परशुराम के रूप में उसने क्षत्रियों का सहार भी नहीं किया । उसने (कृष्ण बनकर) द्वारिकापुरी में अपने शरीर को भी नहीं छोड़ा, और न ही उसने जगन्नाथपुरी की मूर्ति की स्थापना ही की । कबीरदास विचार कर कहते हैं कि अवतारवाद से सम्बन्धित ये समस्त व्यवहार उल्टे एव व्यर्थ हैं । (क्योंकि ये देशकाल से परिच्छिन्न हैं) । इससे यही समझो कि परम तत्व अगम है । वही सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है तथा सम्पूर्ण जगत को संचालित कर रहा है ।

विशेष—अवतारवाद सम्बन्धी समस्त पौराणिक कथाओं की निरर्थकता का प्रतिपादन है । कबीर तो केवल सर्वव्यापी परम तत्व की आराधना का उपदेश देते हैं । लौकिक वाणी एव लौकिक व्यवहार की सीमाओं में बाँधकर हम परमब्रह्म के महत्व को बहुत कुछ कम कर देते हैं, क्योंकि—

जो जहन में आगया वह लाइन्तहा कैसे हुआ ?

जो समझ में आगया वह खुदा कैसे हुआ ?

(४१)

नां तिस सबद न स्वाद न सोहा, नां तिहि मात पिता नहीं मोहा ॥

नां तिहि सास ससुर नहीं सारा, नां तिहि रोज न रोवनहारा ॥

ना तिहि सूतिग पातिग, नां तिहि माइ न देव कथा पिक ॥

नां तिहि ब्रिध बधावा बाजै, नां तिहि गीत नाद नहीं साजै ॥

नां तिहि जाति पांत्य कुल लीका, नां तिहि छोति पवित्र नहीं सौंचा ॥

कहै कबीर विचारि करि, औ है पद निरबांन ।

सति ले मन मै राखिये, जहां न हूजी आंन ॥

शब्दार्थ—सारा=साला, पत्नी का भाई । सूतिग=जन्म का अशौच ।
पातिग=पातक (ब्रह्म हत्या, सुरापान, गुरुतल्पगमन, स्तेय और पातकी का
ससर्ग ।

सन्दर्भ— कबीरदास परम तत्व की अलौकिकता का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—उस परम तत्व का न कोई शब्द है, न कोई स्वाद और न गंध
ही । उसके कोई माता-पिता नहीं है और न उसको किसी प्रकार का मोह ही सताता
है । न उसके सास-श्वसुर है और न साला ही है । न उसके लिए कोई रोता है
और न रोने वाला है । उसके लिए जन्म-मृत्यु के अशौच नहीं हैं । उसके कोई
आराध्या भाई नहीं है और न उसके लिए देव-कथा पीठ है । उसके यहाँ वृद्धि
(कुल-वृद्धि) का कोई अवसर नहीं है और न इस कारण उसके यहाँ कभी मंगल-
गीत ही होते हैं । उसके यहाँ किसी प्रकार के गति-नाद का आयोजन नहीं होता
है । उसकी न कोई जाति-पाँति है और न कोई कुल-परम्परा ही है । और न उसके
यहाँ छुआछूत और पवित्रता की ही बात है । कबीरदास विचार करके कहते हैं कि
जो अतीत वस्तु है, वह तो पद निर्वाण है । हे जीव, तुम सत्य तत्व को अपने हृदय
में धारण करो । वहाँ कोई अन्य तत्व नहीं है । वह द्वैत रहित अद्वैत तत्व है ।

अलंकार—(1) अनुप्रास —सवद स्वाद सोहा । त्रिध, वधावा वाजै ।

(II) पदमैत्री—घूतिग पातिग जातिग ।

विशेष—उस परम तत्व का वर्णन शब्दातीत है, साथ ही लौकिक उपमानों
के द्वारा भी उसका निरूपण सम्भव नहीं है । वह तो वस्तुतः स्वयं सिद्ध अनिर्वच-
नीय तत्व है ।

(४२)

नां सो सावै नां सो जाई, ताक बध पिता नहीं माई ॥

चार बिचार कछु नहीं वाकै, उनमनि लागि रहौ जे ताकै ॥

को है आदि कवन का कहिये, कवन रहनि वाका ह्वै रहिये ॥

कहै कबीर बिचारि करि, जिनि को खोजै दूरि ।

ध्यान धरौ मन सुध करि, राम रह्या भरभूरि ॥

शब्दार्थ—उन्मनि =उस अवस्था का द्योतक है जब मन भावाभाव अवस्था
से विनियुक्त रहता है, उसे अपने ही होने और न होने की चेतना नहीं रहती है ।
यह साधना कबीर के 'सहजयोग' का एक आवश्यक तत्त्व है ।

सन्दर्भ - पूर्व पद के समान ।

भावार्थ—वह परम तत्व न आता है और न जाता है (अर्थात् वह जन्म-
मरण के परे है) । उसके भाई, पिता और माता नहीं हैं । (वह सासारिक सम्बन्धों
के परे है ।) उसको किसी प्रकार के लौकिक आचार-व्यवहार का भी पालन नहीं
करना पड़ता है । वह तो उन्मनि (समाधि) अवस्था में रह कर जगत को साक्षी
रूप से देखता रहता है । आदि तत्व क्या है, इसके सम्बन्ध में कौन क्या कह सकता

है ? अर्थात् कोई कुछ नहीं कह सकता है । कोई यह भी नहीं बता सकता है कि किस प्रकार के आचरण द्वारा जीव परम तत्त्व को प्राप्त कर सकता है । कबीरदास भली प्रकार सोच-विचार कर कहते हैं कि उस परम तत्त्व को कहीं दूर मत खोजो । मन में उसकी स्मृति जगाकर उसका ध्यान करो । वह परम तत्त्व रूप राम सर्वत्र व्याप्त है ।

अलंकार—वक्रोक्ति—को है रहिए ।

विशेष—पूर्व पद के समान ।

(४३)

नाद विद रक्त इक खेला, आपे गुरु आप ही चेला ।
आपे मत्र आपे मत्रेला, आपे पूजे आप पूजेला ।
आपे गावै आप वजावै, अपना किया आप ही पावै ।
आपे धूप दीप आरती, अपनी आप लगावै जाती ॥

कहै कबीर विचारि करि, झूठा लोही चाम ।

जो या देही रहित है, सो है रमिता राम ॥

शब्दार्थ—रक्त=तुच्छ । मत्रेला=मत्र लेने वाला । पूजेता=पूजा प्राप्त करने वाला । जाती=ज्योति ।

सन्दर्भ—कबीरदास द्वैत रहित उस अद्वैत तत्त्व का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—नाद और विन्दु की यह सहज साधना तो वास्तव में एक तुच्छ खेल है । वह स्वयं ही गुरु है और स्वयं ही चेला है । वह स्वयं ही मत्र है और स्वयं मत्र लेने वाला है । स्वयं पूजा है और स्वयं पूजित है । वह स्वयं ही गाता है और स्वयं वजाता है । अर्थात् कर्त्ता और भोक्ता वह तत्त्व ही है । वह आपही धूप दीप और आरती है तथा आप ही उसमें ज्योति-स्वरूप है । कबीरदास विचार करके कहते हैं कि रक्त और चम का विभेद व्यर्थ (झूठा) है । जो तत्त्व देह रहित है, वही वास्तव में राम है और वही सबमें रमा हुआ है ।

अलंकार—(1) पदमैत्री—गावै, वजावै, पावै ।

(II) विरोधाभास—जो राम ।

विशेष—अद्वैतवाद का प्रभाव स्पष्ट है ।

[७] चौपदी रमैणी

(४४)

ऊकार आदि है झूला, राजा परजा एकहि झूला ॥
हम तुम्ह मांहे एकै लोह, एकै प्राण जीवन है मोह ॥
एकही वास रहै दस भासा, सूतम पातग एकै आसा ॥
एकही जदनीं जान्यां ससारा, कौन ध्यान थै भये निनारा ॥

ग्यांन न पायो बाबरे, धरी अविद्या मैड ।

सतगुर मिल्या न मुक्ति फल, तायै खाई बैड ॥

शब्दार्थ—आदि है मूला=उत्पत्ति का मूल कारण । सूला=व्यथा । लोहू=खून, रक्त । वास=गर्भ वास । वैड=वैडा, रुकावट ।

संदर्भ—कवीरदास जीवन की एकता का प्रतिपादन करते हैं ।

भावार्थ—ओकार सृष्टि की उत्पत्ति का मूल कारण है । राजा और प्रजा (सम्पूर्ण समाज) को एक ही व्यथा है । हममे और तुममे एक ही प्रकार का रक्त है, एक ही प्राण है, एक ही जीवन है तथा एक ही प्रकार के मोह ने सब को आवद्ध कर रखा है । हम सब एक ही प्रकार से गर्भ में दस मास तक रहे हैं । जन्म और मृत्यु के अवसर पर हम तुम सबको एक ही स्थान प्राप्त होता है । सारे ससार को एक ही प्रकार से माता जन्म देती है । फिर भेद होकर सबके अलग-अलग होने का क्या आधार है अथवा किस आधार पर भेद-भाव स्थापित किया जाना चाहिए ? रे पागल जीव ! तुम कभी ग्यान प्राप्त नहीं कर सके । तुमने अपने चारों ओर अविद्या की दीवाल बना रखी है (इसी के कारण ज्ञान तुम्हारे मन-मानस में प्रवेश नहीं कर पाता है ।) तुमको सद्गुरु की प्राप्ति नहीं हुई और मोक्ष नहीं मिल सकी । इसी कारण विषयो की खाई का अवरोध बना हुआ है ।

(४५)

बालक ह्वै भग द्वारे आवा, भग भुगतन कूँ पुरिष कहावा ॥

ग्यांन न सुमिर्यो निरगुण सारा, विपथे विरचि न किया विचारा ॥

साध न मिटी जनम की, मरन तुराना आइ ।

मन क्रम बचन न हरि भज्या, अकुर बीज नसाइ ॥

सन्दर्भ—कवीर जीव के अज्ञान का वर्णन करते हैं ।

भावार्थ—बालक रूप धारण करके यह जीव योनि-द्वार से बाहर निकला तथा उसने योनि के भोग को ही अपना पुरुषत्व समझा । उसने सारतत्व निर्गुण भगवान का कभी भी स्मरण नहीं किया । उसने भक्ति-भाव पूर्वक कभी भगवान की आराधना नहीं की । इससे उसकी जीवन की जन्म-मरण-सम्बन्धी बाधायें समाप्त नहीं हुई —जीने की आकांक्षा पूरी नहीं हुई और मृत्यु शीघ्रता पूर्वक आ पहुँची । जीव ने मन, कर्म और वचन से भगवान का स्मरण नहीं किया जिससे ससार-ताप के अकुर तथा कर्म के बीज नष्ट हो जाते ।

(४६)

तिण चरि सुरही उदिक जु पाया, द्वारै दूध बछ कूँ दीया ॥

बछा चूँखत उपजी न दया, बछा बांजि विछोही मया ॥

ताका दूध आप दुहि पीया, ग्यांन विचार कछू नहीं कीया ॥

जे कुछ लोगनि सोई कीया, माला मंत्र बादि ही लीया ॥

पीया दूध रुध्र ह्वै आया, मुई गाइ तब दोष लगाया ॥

बाकस ले चमरां कूँ दीन्हीं, तुचा रंगाइ करौती कीन्ही ॥

ले रुकरौती बैठे संगी, ये देखौ पांडे के रंगा ॥

तिहि रुकरौती पांणी पीया, यह कुछ पांडे अचिरज कीया ॥

अचिरज कीया लोक मै, पीया सुहागल नीर ।

इद्री स्वारथि सब कीया, बध्या भरम सरीर ॥

शब्दार्थ—तिण=घास फूस । सुरही=सुरभी, गाय । उदिक=पानी ।
चू खत=धन चूसते हुए । वाकस=वखिशण, स्वल्प द्रव्य । तुच=त्वचा ।

सन्दर्भ—कबीर कहते हैं कि अत्यधिक स्वार्थपरकता के कारण ही जीव दुख भोगते हैं ।

भावार्थ—गाय घास-फूस खाकर और पानी पीकर द्वार पर अपने बछड़े (बछिया) के लिए दूध देती है । थन चूसते हुए दूध पीते हुए बछड़े पर गाय के स्वामी को दया नहीं आती है । और वह बछड़े को अलग बाँध देते हैं । और वह इस प्रकार माँ-बेटे के बीच विछोह कर देता है । वह बछड़े के भाग का दूध दुह कर स्वयं पी लेता है । ऐसा करते हुए वह किसी प्रकार का सोच विचार नहीं करता है । जैसा सब लोग करते हैं, वैसा ही पंडित जी भी करते हैं । वे माला-मंत्र का जप व्यर्थ ही करते हैं । रक्त से बनने वाले दूध को वे पी जाते हैं (मानो गाय का रुधिर ही पीते हो) । इससे गाय शक्ति हीन होकर मर जाती है । उसकी मृत्यु का कारण कोई रोग बता देते हैं । कुछ थोडा सा द्रव्य लेकर वे मरी हुई गाय को चमार के सुपुर्द कर देते हैं । उसी की खाल को रगवाकर मसक तैयार करा लेते हैं । उस मसक बाजे को लेकर सब पंडितों के साथ बैठ जाते हैं । अब आप ही देखिए कि पवित्रता की दुहाई देने वाले, पंडितजी के क्या ठाठ है ? वे उस मसक का पानी पीते हैं । पंडितजी का यह कार्य आश्चर्य में डालने वाला है । (पवित्रता का ढोंग करने वाले) पंडितजी आश्चर्य में डालने वाला व्यवहार करते हैं । वे चमड़े के बने हुए पुर द्वारा खींचा हुआ ताजी पानी पीते हैं । कबीर कहते हैं कि पंडित जी की भाँति सब लोग इन्द्रियो की विषयासक्ति के वशीभूत होकर इस प्रकार के कार्य करते हैं और इस प्रकार शरीर के माया-मोह में ही बधे रहते हैं ।

अलंकार—अनुप्रास—बछ्या बाँधि विछोही ।

विशेष—(1) गौ-सेवा का दम्भ करने वाले किस प्रकार व्यवहार में गौहत्या के वास्तविक रूप से उत्तरदायी हैं, इसकी सुन्दर भाँकी प्रस्तुत की गई है । पाखण्डी जन पर भी करारा व्यग्र है ।

(४७)

एकै पवन एकही पांणी, करी रसोई न्यारी जानी ॥

माटी सूं माटी ले पोती, लागी कहीं कहां धूं छोती ॥

घरती लीपि पवित्र कीन्ही, छोति उराय लीक बिचि दीन्ही ॥

थाका हम सूं कहीं बिचारा, क्यू भव तिरिहौ इहि आचारा ॥

ए पाखंड जीव के भरमा, मानि अमानि जीव के करमा ॥

करि आचार जु ब्रह्म सतावा, नांव बिनां सतोष न पावा ॥

शालिग्राम सिला करि पूजा, तुलसी तोड़ि भया नर दूजा ॥
 ठाकुर ले पाटे पौढावा, भोग लगाइ अरु आपै खावा ॥
 साच सील का चौका दीजै, भाव भगति की सेवा कीजै ॥
 भाव भगति की सेवा मानै, सतगुर प्रकट कहै नही छानै ॥
 अनभै उपजि न मन ठहराई, परकीरति मिलि मन न रुमाई ॥
 जब लग भाव भगति नही करिहौ, तब लग भवसागर द्यूं तिरिहौ ॥

भाव भगति विसवास बिनु, कटे न ससै मूल ।

कहै कबीर हरि भगति बिन, मूकति नही रे मूल ॥

शब्दार्थ—पाणी = पानी । पाखण्ड = वाह्याचार । मान—अमानि = ऊँच-
 नीच की भावना । नट दूजा = भिन्न व्यक्ति (भक्त)

सन्दर्भ—कबीरदास दम्भ को त्याग कर सत्याचरण का उपदेश देते हैं ।

भावार्थ—एक ही हवा है और एक ही पानी है । उनसे तैयार की हुई
 रसोई को (मिथ्याभिमान के वशीभूत होकर) अलग-अलग समझ लिया । मिट्टी
 लेकर जमीन (चौके का स्थान) पोत लिया । परन्तु यह तो कोई बताव कि उसमें
 छूत कहां लगी हुई थी ? धरती को लीप कर पवित्र बना लिया और छुआछूत की
 अपवित्रता से बचने के लिए बीच में एक लकीर खींच ली । इससे क्या हुआ । इस
 पवित्रता और अपवित्रता का रहस्य हमें कोई समझा दे । ऐसी भेद-बुद्धि पर
 आधारित आचरण करके कोई व्यक्ति भव सागर से किस प्रकार पार हो सकगा ?
 ये समस्त वाह्याचार तो जीव के भ्रम से उत्पन्न हुए हैं । मान-सम्मान, ऊँच-नीच
 का भेद ये सब मनुष्य के ही बनाए हुए हैं । इस प्रकार क आचरण द्वारा जीव
 ईश्वर को ही कष्ट देता है । ईश्वर के नाम स्मरण के बिना जीव को सतोष (सुख)
 की प्राप्ति नहीं हो सकती है । तुमने पत्थर को शालिग्राम मानकर पूजा है । तुलसी
 के पत्ते तोड़ कर पत्थर पर चढाकर व्यक्ति अपने आप को अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा
 भिन्न एवं श्रेष्ठ समझने लगता है । ठाकुर जी को लेकर ये लोग पट्टे पर सुला देते
 हैं तथा उनका भोग लगा कर (मूर्ति को प्रसाद दिखा कर) स्वयं सब कुछ खा
 जाते हैं ।

षाडम्बर की भर्त्सना करते हुए कबीरदास सत्य आचरण का उपदेश देते
 हैं—हे जीव, सत्य और शील का अपने अन्तःकरण में चौका लगाओ । उसका वाद
 भक्ति-भाव पूर्वक भगवान की सेवा करो । ईश्वर भावपूर्ण भक्ति से ही प्राप्त होते
 हैं । सद्गुरु ने इस बात को अप्रत्यक्ष रूप से नहीं, अपितु स्पष्टतः कहा है । जब तक
 अभय की स्थिति नहीं होती है जो भेद-भाव और द्वैत भावना से मुक्त होने पर ही
 सम्भव है तब तक मन की चंचलता नहीं जाती है । और मन स्थिर न हो सकने
 के कारण परोपकार (परम तत्व के प्रेम) में समाहित नहीं हो पाता है । और जब
 तक प्रेम भाव से प्रभु की भक्ति नहीं करोगे, तब तक हे जीव, तुम भवसागर क
 पार किस प्रकार जा सकोगे ? प्रेम सहित प्रभु-भक्ति और प्रभु के प्रति अनन्य

विश्वास के अभाव में सक्षार के भ्रम एवं सशय जनित कष्टों का नाश नहीं होता है। कबीरदास कहते हैं कि मूल सिद्धांत यह है कि भगवान की भक्ति के बिना व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है।

अलंकार—(I) गूढोक्ति—लागी... छोती।

(II) वक्रोक्ति—क्यू...आचार, क्यू तरिहो।

(III) सभग पद यमक—मानि अमानि।

(IV) रूपक—साच सील का चौका, भाव भगति की सेवा, भवसागर, ससै सुल।

विशेष—(I) समाज में प्रचलित बाह्याचारों पर करारी चोट है। द्रुमादृत के नाम पर प्रचलित 'आठ कनीजिया नो चूल्हे' जैसे मिथ्याचारों पर तीखा व्यंग्य है।

(II) नाम—स्मरण की महिमा है।

(III) कबीर प्रभु-भक्ति के लिए प्रेमा भक्ति (श्रद्धा) और विश्वास को मूल अवलम्बन मानते हैं। समभाव देखे—

भवानी शकरी वन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणी।

याभ्या विना न पश्यन्ति सिद्धा स्वान्त स्यमोश्वरम्।

(गोस्वामी तुलसीदास)

(IV) परकीरति मिलि मन न समाई। जीव-सेवा के बिना मन प्रभु-भक्ति में स्थापित हो ही नहीं सकता है—

सो अनन्य गति जाके मति न टरइ हनुमंत।

में सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत। (गोस्वामी तुलसीदास)

(V) सत्य शील—सत्य शील साधना के आधार स्तम्भ है। इन्हीं पर चल कर साधक अपने पथ पर अग्रसर हो सकता है। धर्म रथ का निरूपण करते हुए गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है कि—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य शील दृढ ध्वजा पताका।

(V) कहै कबीर...नही रे मूल। तुलना करें—

वारि मथे वरु होहि घृत, सिकता ते बस तेल।

बिनु हरि भगति न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल।

तथा— नाहिन आवत आन भरोसो।

× × ×

बहु मत सुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ कहाँ भगरो सो।

गुरु कह्यो राम-भजन लीको मोहि लगत राज-डगरो सो।

तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि-फिरि पचि मरै मरो सो।

राम-नाम बोहित भव-सागर चाहै तरन तरो सो।

(गोस्वामी तुलसीदास)

